





# सामाजिक विघटन तथा सुधार (Social Disorganization and Reform)

लेखिका :

श्रीमती सरला दुबे

एम० ए० (समाज-शास्त्र), बी० टी०

ए० पी० आई० कॉलिज, बरेली ।

भूमिका लेखक :

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,

बरेली कॉलिज, बरेली ।

प्रकाशक :

सरस्वती सदन, मसूरी ।



प्रकाशक :  
सरस्वती सदन, मसूरी ।

सर्वाधिकार लेखिका द्वारा सुरक्षित

इस पुस्तक का कोई भी अंश किसी भी उद्देश्य से लेखिका की लिखित  
अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकेगा ।

प्रथम संस्करण, १९६७

मुद्रक :  
प्रभात प्रेस, मेरठ ।



जिनका 'ढेरो स्नेह' और अनन्त आशीर्वाद  
मुझे जीवन के हर पग पर प्रेरणा देता रहा है

और

इस पुस्तक को पाकर जिन्हें सबसे अधिक

गर्व व हर्ष होगा

उन्हें

परम पूजनीय, सरल एवं सौम्य 'भइय्या'

**श्री श्रीनारायण शुक्ल**

(डिप्टी सुपरिन्टेण्डेन्ट ऑफ पुलिस, आगरा)

को

**सादर समर्पित**

—'सरला'



## भूमिका

श्रीमती सरला दुबे द्वारा विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए लिखित पुस्तक 'सामाजिक विघटन तथा सुधार' की पाण्डुलिपि देखने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है और उसे देखकर मुझे यह अनुभव हुआ है कि श्रीमती सरला में लेखिका के रूप में अद्भुत प्रतिभा छिपी हुई है जिसका निखार उनकी कृतियों में उत्तरोत्तर होता ही जा रहा है। लेखिका के रूप में श्रीमती दुबे आज नयी नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनकी पंचम कृति है—प्रथम चार कृतियाँ बी० ए० प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के विद्यार्थियों के लिए उन्होंने लिखी हैं और प्रत्येक पुस्तक में उनकी लेखन शक्ति की अभिनन्दनीय प्रगति स्वतः ही दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत पुस्तक तो उस प्रगति का एक अभिनव मोड़ है और वह इस दृष्टिकोण से कि इस विषय पर आप ही सर्वप्रथम लेखिका हैं जिन्होंने 'व्यक्तिक अध्ययन पद्धति' (Case study method) को अपनाते हुए प्रत्येक अध्याय को प्रारम्भ किया है। यह पद्धति भविष्य के लेखक तथा लेखिकाओं को पुस्तक की लेखन-शैली के क्षेत्र में एक नये मार्ग का सुन्दर सुभाव देगी और उत्कृष्ट पाठ्य-पुस्तकों के लिए अंग्रेजी पुस्तकों पर हमारी निर्भरता को कम करेगी। वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में लिखी पुस्तकें भी स्वयं पूर्ण तथा उच्च-कोटि की हो सकती हैं, श्रीमती दुबे की यह पुस्तक उसी का एक उज्ज्वल उदाहरण है। भाषा की सरलता, सहज-प्रवाह तथा भावों की इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति हमने हिन्दी भाषा में लिखी हुई समाज-शास्त्र की केवल दो-एक पुस्तकों में ही देखी है। पर इससे भी अधिक प्रशंसनीय बात यह है कि भाषा की सरलता व रोचकता ने पुस्तक की सामग्री की प्रामाणिकता व वैज्ञानिक आधार को इतना-सा भी प्रक्षुब्ध या प्रतिहत नहीं किया, वरन् उसे वैषयिक स्तर पर प्रतिष्ठित ही किया है। इसीलिए मुझे विश्वास है कि केवल विद्यार्थियों के लिए नहीं, अध्यापक-वर्ग के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। मैं इस पुस्तक का अपने तथा अपने विद्यार्थियों के लिए हृदय से स्वागत करता हूँ।

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

रामनवमी १९६६

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग  
बरेली कालेज बरेली



## आमुख

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों, विशेषकर आगरा, लखनऊ, गोरखपुर, विक्रम, राजस्थान, सागर विश्वविद्यालयों की बी० ए० तथा एम० ए० कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। उक्त विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के समस्त विषयों को इस पुस्तक में सम्मिलित किया गया है। उन विषयों का जितना विस्तारपूर्वक व क्रमबद्ध विवेचना और विश्लेषण इस पुस्तक में किया गया है, उतना हिन्दी में अब तक प्रकाशित अन्य किसी भी पुस्तक में नहीं मिलता है। पुस्तक के आरम्भ से अन्त तक की सामग्री में भारतीय पृष्ठभूमि को प्रधानता दी गई है और इसी कारण भारतीय उदाहरणों से इस पुस्तक का प्रत्येक अध्याय ओत-प्रोत है। आवश्यकतानुसार सन् १९६६ तक की प्राप्त सूचनाओं और आँकड़ों से इस पुस्तक को समृद्ध करने का भी प्रयास लेखिका ने किया है। इस कारण यह आशा है कि पाठक व अध्यापक-वर्ग इसे अत्यधिक उपयोगी पायेंगे।

इस पुस्तक को लिखने में मैंने एक नवीन पद्धतिशास्त्र (methodology) को अपनाने का सहज साहस किया है और वह है 'वैयक्तिक अध्ययन पद्धति' (Case study method)। इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय का आरम्भ किसी न किसी 'वैयक्तिक अध्ययन' (Case study) से ही किया गया है और उसे अत्यधिक आकर्षक तथा रोचक भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि पाठक वर्ग उसे कहानी तथा उपन्यास की भाँति रुचिपूर्वक पढ़ें और उस अध्याय के सम्बन्ध में एक सामान्य ज्ञान को अनायास ही प्राप्त कर लें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक वैयक्तिक अध्ययन में एक अध्याय विशेष की सम्पूर्ण सामग्री का निचोड़ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अब तक इस विषय पर किसी भी भारतीय लेखक ने अपनी एक भी पुस्तक में इस पद्धतिशास्त्र को नहीं अपनाया है। साथ ही, इस पुस्तक को क्रमशः सामाजिक विघटन, वैयक्तिक विघटन, पारिवारिक विघटन, सामूदायिक विघटन, पुनर्निर्माण तथा सुधार—इन पाँच खण्डों में बाँटने तथा प्रत्येक से सम्बन्धित विषयों को क्रमबद्धरूप में प्रस्तुत करने की जो योजना इस पुस्तक में अपनाई गयी है वह भी अभिनव है। इन दोनों दृष्टिकोण से यह पुस्तक 'क्रान्तिकारी' ही है।

इस पुस्तक की भाषा को सुधारने में, पुस्तक के लिखने में निरन्तर निर्देशक का कार्य करने में, अध्याय १८, २०, २१, २२, २३, २४, तथा २६ में प्रस्तुत किए गए सामग्री को अपनी विभिन्न पुस्तकों से ग्रहण करके पुनर्मुद्रण की अनुमति देने में तथा इस पुस्तक की भूमिका लिखने में मेरे श्रद्धेय गुरुदेव प्रो० रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, बरेली कालेज, बरेली ने जो योगदान



दिया है, उसके लिए मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ । पुस्तक में उल्लिखित कुछ आंकड़ों को एकत्रित करने में मेरे श्रद्धेय भूतपूर्व अध्यापक प्रोफेसर गिरीश चन्द्र कुलश्रेष्ठ ने जो परिश्रम किया है उसके लिए भी मैं कृतज्ञ हूँ । इस सम्बन्ध में भाई श्री महेश चन्द्र सौधी (प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, दयानन्द ब्रजेन्द्र स्वरूप कालेज, कानपुर) का भी नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक की पाण्डुलिपि के अनेक अंशों को आलोचनात्मक दृष्टि से दोहराया तथा उसमें आवश्यक संशोधन किया । इसके लिए मैं हृदय से उनके प्रति भी आभारी हूँ । इस पुस्तक को लिखने में मुझे अन्य जिन सम्बन्धियों तथा सहयोगियों की सहायता प्राप्त हुई है उनमें भाई हरी लाल जी कनौजी तथा सर्व श्री हर महेंद्र लाल, रमेन्दु विकास सेन, निताई चरन मुकर्जी, वेद प्रकाश दुबे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । एतदर्थ मैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ । मेरा सबसे प्रमुख आभार उन विद्वानों के प्रति है जिनकी अमूल्य कृतियों तथा विचारों के आधार पर इस पुस्तक का लिखना सम्भव हुआ है । यथा सम्भव इन समस्त विद्वानों का नाम यथास्थान उल्लेख पृष्ठ-तल टिप्पणियाँ देकर किया है, किन्तु यदि कहीं भूल से किन्हीं विद्वानों का नामोल्लेखन न हो पाया हो, तो वह त्रुटि इच्छाकृत न समझी जाय । इसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ।

अन्त में, सरस्वती सदन के संचालक विश्व जनजी ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में जिस तत्परता, लगन व आग्रह को दर्शाया है उसके लिए भी मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ ।

पाठ्य-पुस्तक के रूप में यह मेरा प्रथम प्रयास है, पर इसमें मुझे कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय तो सहृदय पाठक और विज्ञ-समालोचक ही करेंगे । उनसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करें और पुस्तक के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अपने रचनात्मक सुझावों से मुझे लाभान्वित करें । इसके लिए मैं अनुगृहीत होऊँगी और अगले संस्करण में उनका उपयोग हो सकेगा ।

‘सरला निकुंज’,

सुभाषनगर, बरेली ।

सरला दुबे



# विषय सूची

## प्रथम खण्ड

### सामाजिक विघटन

#### (Social Disorganisation)

#### अध्याय १—सामाजिक संगठन (Social organization)

३

संगठन का अर्थ, सामाजिक संगठन का अर्थ, सामाजिक संगठन की परिभाषा, उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या, सामाजिक संगठन की विशेषताएँ, सामाजिक संगठन के आवश्यक तत्त्व, सामाजिक संगठन और सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रक्रियाएँ तथा सामाजिक संगठन, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक संगठन, सामाजिक नियन्त्रण और सामाजिक संगठन, ऐकमत्य तथा सामाजिक संगठन, आधुनिक सामाजिक संगठन की मौलिक प्रवृत्ति, निष्कर्ष ।

#### अध्याय २—सामाजिक विघटन (Social Disorganisation)

३७

विघटन क्या है ? सामाजिक विघटन क्या है ? सामाजिक विघटन की परिभाषा, उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया के रूप में, सामाजिक संगठन व विघटन में अवधारणात्मक भेद, सामाजिक विघटन के लक्षण, सामाजिक विघटन या असामंजस्य के क्षेत्र, सामाजिक विघटन के सिद्धान्त, सामाजिक विघटन के कारण, सामाजिक संरचना और सामाजिक विघटन, मनोवृत्तियाँ और सामाजिक विघटन, सामाजिक मूल्य और सामाजिक विघटन, सामाजिक संकट और सामाजिक विघटन, युद्ध और सामाजिक विघटन, सामाजिक विघटन के अन्य कारणात्मक कारक, सामाजिक विघटन में परिवार, शिक्षा—सामाजिक विघटन के एक कारक के रूप में, धर्म और सामाजिक विघटन, सामाजिक विघटन में आर्थिक कारकों का महत्व, सामाजिक विघटन में राजनीतिक कारक, कानून और सामाजिक विघटन, सामाजिक विघटन में प्रेस, निष्कर्ष ।

#### अध्याय ३—भारत में सामाजिक विघटन (Social Disorganisation in India)

८०



भारत में सामाजिक विघटन की प्रकृति, जातीय विभेद और जातिवाद, अप्सृश्यता, संयुक्त परिवार का विघटन, निर्धनता, बेरोजगारी, अपराध और बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, भिक्षा वृत्ति, भारत में सामाजिक विघटन के कारण, सामाजिक कारण, आर्थिक कारण, सांस्कृतिक कारण, राजनैतिक कारण, सामाजिक पुनर्संगठन, भारत में सामाजिक पुनर्संगठन के सिद्धान्त ।

**अध्याय ४—सामाजिक परिवर्तन तथा संतुलन (Social change and maladjustment)**

१११

सामाजिक परिवर्तन क्या है ? , सामाजिक परिवर्तन का अर्थ व परिभाषा, उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या, सामाजिक परिवर्तन व सामाजिक असंतुलन या विघटन में सम्बन्ध, संस्थात्मक परिवर्तन और सामाजिक असंतुलन, सांस्कृतिक परिवर्तन और सामाजिक असंतुलन, राजनैतिक परिवर्तन और सामाजिक विघटन, औद्योगिक परिवर्तन और सामाजिक विघटन, निष्कर्ष ।

**अध्याय ५—सांस्कृतिक विघटन (Cultural Disorganisation)**

१३६

सांस्कृतिक विघटन की अवधारणा, सांस्कृतिक विघटन के सिद्धान्त, सामाजिक परिवर्तन व सांस्कृतिक विघटन, निष्कर्ष ।

## द्वितीय खण्ड

### वैयक्तिक विघटन

#### (Personal Disorganisation)

**अध्याय ६—वैयक्तिक विघटन (Personal Disorganisation)**

१५३

वैयक्तिक विघटन की समाजशास्त्री अवधारणा, वैयक्तिक विघटन का अर्थ और परिभाषा, उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या, सामाजिक विघटन और वैयक्तिक विघटन में अन्तर, सामाजिक और वैयक्तिक विघटन में सम्बन्ध, सामाजिक विघटन में व्यक्ति का उत्तरदायित्व, वैयक्तिक विघटन के कारण, वैयक्तिक मनोवृत्तियाँ और सामाजिक मूल्य तथा वैयक्तिक विघटन, सामाजिक संरचना और वैयक्तिक विघटन, संकट और वैयक्तिक विघटन, भारत में वैयक्तिक विघटन के प्रमुख प्रकार, निष्कर्ष ।

**अध्याय ७—अपराध (Crime)**

१८१

अपराध क्या है ? अपराध का वैधानिक पहलू, अपराध की कानूनी परिभाषा, उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या, अपराध की विशेषताएँ,



एक क्रिया कानूनी दृष्टिकोण से कब अपराध है, अपराध का सामाजिक पहलू, उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या, एक क्रिया सामाजिक दृष्टिकोण से कब अपराध है ? अपराध की सापेक्षिका, अपराध और समाज-विरोधी कार्य, अपराधों का वर्गीकरण, अपराधी कौन हैं ? अपराधियों का वर्गीकरण, अपराध और पाप, अपराध और व्यभिचार, अपराध और अनैतिकता, अपराध और वैयक्तिक अधि-कार-अपहरण, अपराध के सिद्धान्त, शास्त्रीय सिद्धान्त, मौलिक सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त, प्ररूपवादी सिद्धान्त, अपराध के कारण, भौगोलिक कारक, प्राणिशास्त्रीय और व्यक्तिगत कारक, वंशानुसंक्रमण अपराध के कारक के रूप में, शारीरिक दोष तथा रोग, मानसिक दुर्बलता या मन्द-बुद्धि के कारक के रूप में, घर और परिवार-अपराध के कारक के रूप में, असन्तुलित परिवार और अपराध, टूटे परिवार और अपराध, अनुशासनहीन परिवार और अपराध, अपराधी परिवार और अपराध, अनैतिक परिवार और अपराध, घर की सामान्य प्रक्रियाएं व अपराध, अपराध के अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारक, युद्ध, समाचारपत्र, चलचित्र, धर्म, भारत में अपराध, भारत में अपराध के कारण, सामाजिक प्रथायें व विश्वास तथा अपराध, धर्म और अपराध, आर्थिक परिस्थितियां और अपराध, अपराध के अन्य कारण, ग्रामीण तथा नागरिक अपराध, ग्रामीण तथा नागरिक अपराध की प्रकृति में अन्तर, ग्रामीण तथा नागरिक अपराध की दरों में भेद ।

#### अध्याय ८—अभिजात अपराधी (White-Collar Criminals)

२७०

अभिजात अपराधी की अवधारणा, अभिजात अपराध की परिभाषा, अभिजात-अपराधियों की विशेषतायें, अभिजात-अपराध के सामान्य स्वरूप, अभिजात अपराध के कारण, व्यापारी वर्ग—अभिजात-अपराधी के रूप में, सरकारी अधिकारी अभिजात-अपराधी के रूप में, अभिजात-अपराधी के रूप में वकील, डाक्टर और अभिजात अपराध, अभिजात अपराध के दुष्परिणाम, भारत में अभिजात अपराध ।

#### अध्याय ९—बाल अपराध (Juvenile Delinquency)

२८८

बाल अपराध का अर्थ, अपराधी और बाल अपराधी में अन्तर, बाल अपराध के कारण, नागरीकरण तथा बाल अपराध, क्या निम्न वर्ग के बच्चे अधिक अपराधी होते हैं ? बाल-अपराध निरोध, बाल-अपराधियों का सुधार, भारतवर्ष में बाल-अपराधियों का सुधार, निष्कर्ष ।



**अध्याय १०—वेश्यावृत्ति (Prostitution)**

३२१

वेश्यावृत्ति का अर्थ तथा परिभाषा, वेश्यावृत्ति का स्वरूप, भारतवर्ष में वेश्यावृत्ति, वेश्याओं का वर्गीकरण, वेश्यावृत्ति के कारण, पुरुषों के वेश्यागमन के कारण, वेश्या गमन के कुप्रभाव, वेश्यावृत्ति के नियन्त्रण के उपाय, भारत में वेश्यावृत्ति पर संविधान ।

**अध्याय ११—आत्महत्या (Suicide)**

३४३

आत्म हत्या क्या है ? आत्म हत्या कौन करते हैं, आत्म हत्या करने की विधियाँ, आत्म-हत्या के सिद्धान्त, कैवर्न का सिद्धान्त, मैनिन्जर का सिद्धान्त, दुर्खीम का आत्म-हत्या का सिद्धान्त, आत्महत्या के कारण, मौसम और आत्महत्या, आत्महत्या और पारिवारिक विघटन, व्यवसाय और आत्महत्या, धर्म और आत्महत्या, नगर और आत्महत्या, अपकर्ष और आत्महत्या, युद्ध और आत्म-हत्या, रोमान्टिक आत्म-हत्या, शारीरिक रोग और आत्म-हत्या, सामाजिक प्रथाएँ और आत्म-हत्या, विविध कारण, निष्कर्ष ।

**अध्याय १२—भिक्षावृत्ति (Beggary)**

३६५

भिक्षावृत्ति क्या है ? भिखारियों का वर्गीकरण, भिक्षावृत्ति के कारण, भीख माँगने के कारण, भीख देने के कारण, भीख माँगने के प्रभाव, भिक्षावृत्ति को दूर करने के उपाय, भिक्षावृत्ति को रोकने से सम्बन्धित अधिनियम ।

**अध्याय १३—मद्यपान तथा मादक द्रव व्यसन (Alcoholism and Drug Addiction)**

३८४

मद्यपान, मद्यपान का सामाजिक वितरण, मद्यपान के कारण, मद्यपान के दुष्परिणाम, मादक द्रव्य-व्यसन या नशा खोरी, भारत में मादक द्रव्य व्यसन, नशा-निषेध, नशा-निषेध क्या है ? नशा खोरी से हानियाँ, नशा-निषेध से लाभ, नशा-निषेध से हानियाँ भारत में नशा-निषेध, आन्दोलन का क्रमिक विकास, वर्तमान भारत में नशा-निषेध, नशा-निषेध जांच कमेटी सन् १९५५, टेक चन्द मद्य-निषेध अध्यायन दल, पंचवर्षीय योजनाओं में नशा निषेध, निष्कर्ष ।

**तृतीय खण्ड****पारिवारिक विघटन****(Family Disorganization)****अध्याय १४—आधुनिक परिवार में परिवर्तन (Changes in modern family) ४१३**

परिवार में आधुनिक परिवर्तन के कारण, आधुनिक युग में परिवार में परिवर्तन, आधुनिक परिवार की समस्याएँ ।



**अध्याय १५—पारिवारिक तनाव (Family Tension)**

४२६

पारिवारिक तनाव क्या है ? प्राथमिक तनाव, संघर्ष में तनाव, जीवन दर्शन, व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिभा, मानसिक विकारयुक्त व्यक्तित्व, व्यावहारिक भूमिकाएँ, द्वैतियक तनाव, आर्थिक तनाव, व्यावसायिक तनाव, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अन्तर, पद, आय का अन्तर, बुरा स्वास्थ्य, माता पिता और सन्तान का सम्बन्ध, सास, ससुर का हस्तक्षेप ।

**अध्याय १६—पारिवारिक विघटन (Family Disorganization)**

४४२

आधुनिक समाज और पारिवारिक विघटन, पारिवारिक विघटन का अर्थ, पारिवारिक विघटन की प्रकृति, पारिवारिक विघटन एक प्रक्रिया के रूप में, पारिवारिक विघटन के कारण, सामाजिक मूल्य और पारिवारिक विघटन, सामाजिक भाषा और पारिवारिक विघटन, पारिवारिक विघटन के सामान्य कारण, आर्थिक कारण, सामाजिक कारण, दार्शनिक और व्यक्तिगत कारण, पारिवारिक विघटन को रोकने के उपाय, परिवार का भविष्य, क्या परिवार टूट रहा है ?

**चतुर्थ खण्ड****सामुदायिक विघटन****(Community Disorganization)****अध्याय १७—युद्ध और क्रान्ति (War and revolution)**

४६१

युद्ध क्या है ? युद्ध के कारण, युद्ध के दुष्परिणाम, युद्ध सामाजिक विघटन का एक विकराल रूप, युद्ध की प्रकृति और सामाजिक विघटन, युद्ध और सामाजिक संरचना का विकृत होना, युद्ध और विघटित अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, युद्ध तथा विघटित मानव सम्बन्ध, युद्ध और आर्थिक विघटन, युद्ध तथा राजनैतिक विघटन, युद्ध तथा पारिवारिक विघटन, युद्ध तथा व्यक्तिगत विघटन, युद्ध और प्रमुख सामाजिक संस्थाओं का विघटन, क्रान्ति, क्रान्ति का अर्थ, क्रान्ति के कारण, क्रान्ति के दुष्परिणाम, क्रान्ति का समाजशास्त्र ।

**अध्याय १८—निर्धनता (Poverty)**

४८८

निर्धनता का अर्थ और परिभाषा, भारत में निर्धनता के कारण, निर्धनता दूर करने के उपाय, निर्धनता दूर करने के लिए सरकारी प्रयत्न ।

**अध्याय १९—बेरोजगारी (Unemployment)**

५०४



बेकारी का अर्थ, बेकारी के कारण, भारत में बेकारी के कारण, बेकारी के परिणाम, बेकारी दूर करने के उपाय, भारत सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न ।

**अध्याय २०—अस्पृश्यता (Untouchability)**

५१२

अस्पृश्य की प्रकृति, भारत में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या, अस्पृश्य जातियों की परिभाषा, अस्पृश्य जातियाँ—ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि, अस्पृश्य जातियों के विभिन्न नाम, अस्पृश्यता की उत्पत्ति, अस्पृश्य जातियों की नियोग्यतायें, नियोग्यताओं का प्रभाव, सुधार आन्दोलन, सुधार आन्दोलन के चार पहलू, स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकारी प्रयत्न, अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन, हरिजन-कल्याण कार्य, विशेष सुविधाएँ तथा कल्याणकारी योजनाएँ, अस्पृश्य जातियों के उत्थान के लिए कुछ सुझाव, निष्कर्ष ।

**अध्याय २१—जातिवाद (Casteism)**

५३८

जातिवाद की परिभाषा और अर्थ, जातिवाद के विकास के कारक, जातिवाद के परिणाम, जातिवाद के निराकरण के उपाय, जातिप्रथा का भविष्य ।

## पंचम खण्ड

### पुनर्निर्माण तथा सुधार

#### (Reconstruction and Reform)

**अध्याय २२—सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनायें (Schemes of Social Reconstruction)**

५५३

सामाजिक पुनर्निर्माण क्या है ? सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त, समाज कल्याण की अवधारणा, समाज कल्याण का अर्थ व परिभाषा, भारत में समाज कल्याण कार्य, केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल की योजनाएँ, निष्कर्ष ।

**अध्याय २३—श्रम कल्याण (Labour-welfare)**

५८६

श्रम कल्याण का अर्थ, परिभाषा और क्षेत्र, श्रम कल्याण के अन्तर्गत किए जाने वाले कार्य, श्रम-कल्याण कार्य—किसका उत्तर दायित्व, भारत में श्रम-कल्याण कार्य का महत्व, भारत में श्रम-कल्याण कार्य, उत्तर प्रदेश में श्रम-कल्याण, तीसरी पंचवर्षीय योजना तथा श्रम-कल्याण व सुरक्षा, निष्कर्ष ।



**अध्याय २४—सामाजिक सुरक्षा (Social security)**

६०१

सामाजिक सुरक्षा की धारणा, सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा, भारत में सामाजिक सुरक्षा का महत्व या आवश्यकतायें, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता, भारत में सामाजिक सुरक्षा, श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, मातृत्व हितलाभ अधिनियम, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८, कोयला खान निर्वाह निधि एवं बोनस योजना अधिनियम १९४८, कर्मचारी निर्वाह निधि अधिनियम १९५२, निष्कर्ष ।

**अध्याय २५—अपराधी का उपचार (Treatment of Criminals)**

६२०

अपराधियों का उपचार व सुधार, अपराधियों का सुधार क्या है ? अपराधियों के उपचार की एक योजना, प्रोबेशन प्रणाली, प्रोबेशन क्या है ? प्रोबेशन का उद्देश्य, प्रोबेशन की शर्तें, प्रोबेशन-अधिकारी के कार्य, प्रोबेशन का सामाजिक लाभ, प्रोबेशन प्रणाली से हानियाँ, भारत में प्रोबेशन, मद्रास प्रोबेशन अधिनियम, उत्तर प्रदेश प्रथम अपराधी प्रोबेशन अधिनियम, १९३८, पैरोल, पैरोल की परिभाषा, पैरोल की शर्तें, पैरोल के सामाजिक लाभ, पैरोल से हानियाँ, प्रोबेशन तथा पैरोल में अन्तर, उत्तर-प्रदेश में पैरोल व्यवस्था, अपराध निरोध, कानूनी सुधार, पुलिस तथा अपराध-निरोध अदालत, और अपराध निरोध, अपराध निरोध के अन्य उपाय, उत्तर संरक्षण सेवायें, पश्चिमी देशों में उत्तर संरक्षण सेवायें, भारत में उत्तर संरक्षण सेवाओं का संगठन ।

**अध्याय २६—दण्ड (Punishment)**

६५८

दण्ड की पृष्ठ भूमि, दण्ड क्या है ? दण्ड का उद्देश्य, दण्ड के सिद्धान्त ।

**अध्याय २७—मृत्यु दण्ड (Capital Punishment)**

६६६

मृत्यु-दण्ड क्या है ? मृत्यु-दण्ड की विधियाँ मृत्यु-दण्ड की उत्पत्ति, भारत में मृत्यु-दण्ड, विदेशों में मृत्यु-दण्ड, मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध में विचार, मृत्यु-दण्ड के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क, मृत्यु-दण्ड प्रतिरोध नहीं करता है, मृत्यु-दण्ड दण्ड की निश्चितता को घटाता है, मृत्यु-दण्ड कम खर्चीला नहीं है, मृत्यु-दण्ड में गलती को सुधारा नहीं जा सकता, मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन से अधिक हत्याएँ नहीं होंगी, मृत्यु-दण्ड का अन्य लोगों पर बुरा प्रभाव पड़ता है, मृत्यु दण्ड तथा चुनाव, मृत्यु-दण्ड अमानुषिक है, मृत्यु-दण्ड समाज के लिए अहितकर है, मृत्यु-दण्ड पारिवारिक विघटन का कारण बनता है, अन्य तर्क, निष्कर्ष ।



**अध्याय २८—दण्ड और जेल-सुधार (Penal and Prison Reform)**

६८४

जेल का अर्थ, जेल के कार्य, जेल प्रणाली में आधुनिक प्रवृत्ति, जेल प्रणाली का इतिहास, भारतीय जेल प्रणाली का विकास, भारतीय जेल प्रणाली के दोष, जेल सुधार के सिद्धान्त, जेल सुधार के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष, जेल सुधार के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार, भारत में दण्ड और जेल सुधार, भारत में दण्ड व जेल सुधार आन्दोलन की नींव, उत्तर प्रदेश में जेल सुधार, आदर्श जेल, लखनऊ, सम्पूर्णानन्द शिविर अथवा प्राचीर विहीन जेल, बन्दी नारी निकेतन, लखनऊ ।

**परिशिष्ट****अध्याय २९—सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology)**

७२१

सामाजिक व्याधिकी का अर्थ, सामाजिक व्याधिकी की परिभाषा, सामाजिक व्याधिकी का क्षेत्र तथा अध्ययन-विषय, सामाजिक व्याधिकी और समाजशास्त्र का अध्ययन, सामाजिक व्याधिकी की व्यावहारिक उपयोगिता, निष्कर्ष ।



**प्रथम खण्ड**  
**सामाजिक विघटन**  
**(Social Disorganization)**



## इस खण्ड के अध्याय

- १—सामाजिक संगठन
- २—सामाजिक विघटन
- ३—भारत में सामाजिक विघटन
- ४—सामाजिक परिवर्तन तथा असन्तुलन
- ५—सांस्कृतिक विघटन



अनोखे मानव की एक अनोखी कहानी है, जिसका कहानीकार मानव स्वयं है और जिसकी कथावस्तु मानव की ही मानवता व दानवता है। यदि मानव से कहीं महान् है उसकी मानवता, तो उससे कहीं दारुण है उसकी दानवता। उसी मानवता व दानवता को लेकर ही बना है मानव जीवन का जीवन-जाल। इस जाल की एक अभिव्यक्ति स्वयं समाज है जो कि मानव के पारस्परिक सम्बन्ध की एक अनूठी व्यवस्था है। इसीलिए समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल कहा गया है। 'जाल' यह इसलिए है कि इसके अन्तर्गत अनेक संगठित करने वाले और अनेक विघटित करने वाले तत्वों, सम्बन्धों और अन्तःक्रियाओं (interactions) का एक जटिल ताना-बाना होता है। इस जाल के सभी धागे समान रूप से गुथे हुए नहीं होते हैं। कोई धागा पूर्ण होता है तो कोई अधूरा, कोई जुड़ा होता है तो कोई टूटा और कोई ढंग का होता है तो कोई बेढंग का। इसी ढंग और बेढंग में, पूर्णता और अपूर्णता में, जोड़ और बेजोड़ में समाज व सामाजिक जीवन का, मानव और मानवता का समस्त रहस्य छिपा हुआ है जिसका रहस्योद्घाटन करने की धृष्टता इस पुस्तक की विषय वस्तु है।

जैसा कि ऊपर ही कहा गया है समाज एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था का तात्पर्य एक संरचना (structure) के अन्तर्गत एकाधिक निर्मायक इकाइयों (constituent units) या तत्वों की वह निश्चित संबद्धता से है जो कि उन इकाइयों को इस ढंग से एक सूत्र में बाँधता है कि उससे समाज के स्थापित उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो। जब यह पूर्ति अधिकतम मात्रा में सम्भव होती है तो उस स्थिति को सामाजिक संगठन कहा जाता है। यह अध्याय उसी सामाजिक संगठन की विवेचना है।

### संगठन का अर्थ

(Meaning of organization)

सामाजिक संगठन के विषय में अध्ययन करने से पूर्व यह अच्छा होगा कि हम पहले केवल संगठन के वास्तविक अर्थ को समझ लें। संगठन किसी अखण्ड वस्तु में नहीं हुआ करता है। एक पत्थर के ढेले में भला क्या संगठन होगा क्योंकि वह स्वयं एक अखण्ड वस्तु है और उसमें अखण्डता के कारण ही संगठन के होने या न होने का कोई प्रश्न नहीं उठता है। संगठन का प्रश्न तो तब उठता है जबकि एक में



अनेक का समावेश हो। यह अनेक उस एक के ही विभिन्न निर्मायक इकाइयाँ (constituent units) या तत्व होते हैं। ये इकाइयाँ जब आपस में एक क्रमबद्ध रूप में व एक सूत्र में व्यवस्थित रहते हैं तो उस व्यवस्था को ही संगठन कहा जाता है। संगठन से तात्पर्य व्यवस्थित संबद्धता से है अर्थात् जब एक संरचना के अन्तर्गत एकाधिक निर्मायक इकाइयाँ एक निश्चित ढंग से परस्पर संबद्ध रहती हैं और उस रूप में एक प्रतिमान (pattern) को उत्पन्न करते हैं तो उसे संगठन कहा जाता है। एक उदाहरण के द्वारा संगठन की अवधारणा को बहुत सरलता से समझाया जा सकता है। यह पुस्तक एक अध्याय की पुस्तक नहीं है। इसमें अनेक अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक उपविभाजन हैं। इन सभी अध्यायों को और उन अध्यायों के अन्तर्गत समस्त उपविषयों को एक क्रम से इस प्रकार सजाया गया है कि प्रत्येक का प्रत्येक से सम्बन्ध बना रहे तथा प्रत्येक विषय का अर्थ सिलसिलेवार से स्पष्ट हो जाये। यह नहीं हो सकता कि पुस्तक की भूमिका सबसे पहले न देकर बीच में दी जाय और अन्त का अध्याय आदि का अध्याय बन जाये। उसी प्रकार सामाजिक संगठन के इस अध्याय में यह नहीं हो सकता कि सामाजिक संगठन के कारणों का पहले उल्लेख करके फिर सामाजिक संगठन को परिभाषित किया जाय। तर्कयुक्त क्रम-बद्धता तो यही है कि पहले संगठन के अर्थ को समझाया जाय और फिर सामाजिक संगठन की व्याख्या की जाय तब कहीं सामाजिक संगठन के कारणों का उल्लेख किया जाये। यदि ऐसा किया गया तो इस अध्याय की निर्मायक इकाइयों में एक निश्चित क्रम-बद्धता होगी और उस क्रम-बद्धता के कारण इस अध्याय को एक निश्चित प्रतिमान प्राप्त होगा। यही संगठन है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि संगठन का तात्पर्य एक संरचना के अन्तर्गत एकाधिक निर्मायक इकाइयों या तत्वों की उस निश्चित प्रतिमानात्मक संबद्धता से है जो कि एक प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध के आधार पर उन इकाइयों को एक सूत्र में बांधता है तथा उन्हें क्रियाशील व गतिशील करता है ताकि संगठन के वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो सके।

संगठन की उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्टतया पता चलता है कि संगठन तभी उत्पन्न होता है जब कि एक संरचना के अन्तर्गत एक से अधिक निर्मायक इकाइयाँ (constituent units) हों, ये इकाइयाँ आपस में एक सूत्र में बँधी हुई हों, इन इकाइयों में परस्पर एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध हो और इस सम्बन्ध के आधार पर वे इस रूप में क्रियाशील हो कि जिस उद्देश्य से संगठन का विकास किया गया है उसकी अधिकतम पूर्ति हो सके। जब विभिन्न इकाइयाँ एक दूसरे से सम्बन्धित रूप में काम करती रहती हैं तो वे सब मिलकर एक निश्चित प्रतिमान या डिजाइन या आकार को उत्पन्न करती हैं। अतः प्रत्येक संगठन में एक निश्चित प्रतिमान संगठन की ही अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार किसी भी संगठन विशेष की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख इस तरह किया जा सकता है :—

(१) संगठन की अवधारणा एक अखण्ड प्रत्यय नहीं है। संगठन तभी



उत्पन्न होता है जब एकाधिक इकाइयाँ हों और ये इकाइयाँ संबद्ध रूप में या सम्मिलित रूप में उस संगठन का निर्माण करती हों।

(२) परन्तु विभिन्न इकाइयों के एक साथ मिल जाने या एकत्रित हो जाने से ही संगठन का निर्माण नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अनेक ईंटों को इकट्ठा कर लेने मात्र से ही मकान नहीं बन जाता है, मकान तो तब बनता है जबकि इन ईंटों को एक क्रम से नियमानुसार सजाया जाय। उसी प्रकार संगठन के अन्तर्गत विभिन्न निर्मायक इकाइयों में नियमितता, क्रमबद्धता या समबद्धता का होना आवश्यक है।

(३) संगठन के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न तत्वों व निर्मायक इकाइयों का यह क्रमबद्ध संयोग इस प्रकार का होना चाहिए कि उससे एक निश्चित प्रतिमान (pattern) का निर्माण हो सके। उदाहरणार्थ एक रेडियो के विभिन्न पुर्जों व भागों में इस प्रकार का पारस्परिक संबन्ध और क्रमबद्धता का होना आवश्यक है जिससे कि उन पुर्जों और भागों से एक निश्चित प्रतिमान बन सके अर्थात् उसे देखकर यह पता लग सके कि वह एक रेडियो है। रेडियो के पुर्जों के संकलन को देखकर अगर वह रेडियो न लग कर एक चूनादानी लगे तो उसे संगठन नहीं कहेंगे। संगठन का अपना एक आकार या प्रकार होता है और उसी आकार या प्रकार के आधार पर एक संगठन को दूसरे संगठन से अलग किया जा सकता है। मेज और कुर्सी दोनों में ही कुछ निर्मायक इकाइयाँ होती हैं और इनके क्रमबद्ध संयोग से ही मेज या कुर्सी बनती है परन्तु दोनों में से प्रत्येक की विभिन्न इकाइयाँ आपस में इस प्रकार एक दूसरे से जुड़ी हुई रहती हैं कि उससे एक निश्चित प्रतिमान उत्पन्न होता है और उसी प्रतिमान के आधार पर हम एक को दूसरे से अलग करते हैं अर्थात् एक को मेज और दूसरे को कुर्सी कहते हैं क्योंकि एक का प्रतिमान दूसरे से अलग है।

(४) संगठन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि संगठन के अन्तर्गत आनेवाली इकाइयों में आपस में एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए मेज को ही लीजिये। मेज की विभिन्न इकाइयाँ हैं—इसके पावें, ऊपर की चौखट, ऊपर का फर्श, दरारें आदि। यह सभी मिल कर मेज का निर्माण करते हैं परन्तु इन सभी इकाइयों में एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है। पावों का कार्य मेज के ऊपरी भाग को साधे रखना है और ऊपरी भाग अपने कार्यों को तभी कर सकता है जब कि पावें उसकी सहायता करें अर्थात् उसे ऊपर की ओर साधे रहें। इस प्रकार पावों में और ऊपरी भाग में एक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध रहता है और एक के बिना दूसरा अर्थहीन बन जाता है।

(५) किसी भी 'एक' संगठन में 'अनेक' का दर्शन होता है अर्थात् एक संगठन के निर्माण में अनेक इकाइयों का योगदान होता है और ये अनेक इकाइयाँ मिलकर 'एक' संगठन को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार एक में अनेक और अनेक से एक का निर्माण, संगठन की एक और उल्लेखनीय विशेषता है।

(६) संगठन कोई स्थिर धारणा नहीं है। संगठन का रूप भी बदल सकता



है और बदलता भी है। उदाहरणार्थ मेज को ही फिर से लिया जा सकता है। कुछ साल पहले मेज का विभिन्न इकाइयों में जो संगठन हमें देखने को मिलता था उसमें आज अनेक परिवर्तन हो गये हैं और यही कारण है कि नित नये नमूनों की मेज हमें आज बाजार में देखने को मिलती है।

### सामाजिक संगठन का अर्थ

(Meaning of Social Organization)

समाज कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं है, यह तो अनेक परिवारों, संस्थाओं, समितियों आदि अनेक खण्डों का एक व्यवस्थित रूप है। और भी स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि समाज के अन्तर्गत परिवार, विवाह, आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थायें, असंख्य समूह, नगर, ग्राम आदि का समावेश होता है। ये सभी समाज की निर्मायक इकाइयों (constituent units) हैं। और इन इकाइयों में पाये जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर ही समाज का निर्माण होता है। जब ये निर्मायक इकाइयाँ सामाजिक संरचना के अन्तर्गत आपस में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर एक निश्चित प्रतिमान को उत्पन्न करती हैं तथा अपने-अपने स्थान पर रहते हुए इस प्रकार से क्रियाशील बने रहते हैं कि सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति सम्भव हो सके, तो उसे हम सामाजिक संगठन कहेंगे।

दूसरे शब्दों में इसे और भी स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझाया जा सकता है कि सामाजिक संगठन वह अवस्था है जिसमें समाज की विभिन्न निर्मायक इकाइयाँ एक दूसरे से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध रखते हुए एक ऐसी सन्तुलित स्थिति को उत्पन्न करती हैं जिसमें समाज के सदस्य अपने सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति कर सकें।

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि समाज में अनेक इकाइयाँ होती हैं जिनको कि मिलाकर समाज की रचना होती है। यह रचना या संरचना जिसमें बनी रहे इस उद्देश्य से समाज की प्रत्येक निर्मायक इकाइयों का सामाजिक संरचना के अन्तर्गत एक निश्चित स्थिति और कुछ निश्चित कार्य निर्धारित कर दिये जाते हैं। जब ये निर्मायक इकाइयाँ अपने-अपने स्थान पर रह कर अपने-अपने निर्धारित कार्यों को करती रहती हैं तो समाज में एक सन्तुलित अवस्था बनी रहती है। सन्तुलित इस अर्थ में कि कोई भी इकाई दूसरे इकाइयों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करती है और अपने निर्धारित कार्यों को इस ढंग से करती रहती है कि एक सन्तुलित सामाजिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है और उसमें निवास करते हुए समाज के सदस्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति बिना किसी विशेष बाधा के कर सकते हैं। यही सामाजिक संगठन है।

सामाजिक संगठन की अवधारणा को एक दूसरे ढंग से भी समझाया जा सकता है। समाज का निर्माण व्यक्ति और समूह की अन्तःक्रियाओं (interactions) द्वारा उत्पन्न सम्बन्धों और संस्थाओं से होता है। यह परस्पर सम्बन्धित सम्बन्ध तथा संस्थायें और साथ ही प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किये गये पदों तथा कार्यों



(statuses and roles) की विशिष्ट क्रमबद्धता (arrangement) को सामाजिक संरचना कहते हैं। इस सामाजिक संरचना के अन्तर्गत जब व्यक्ति और संस्थायें निर्धारित सीमा के अन्दर रहकर अपने-अपने कार्यों को इस प्रकार करती रहती हैं कि दूसरों के पदों तथा कार्यों में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है तो उस स्थिति या अवस्था को सामाजिक संगठन कहते हैं।

### सामाजिक संगठन की परिभाषा

#### (Definition of Social Organization)

सर्व श्री ईलियट और मैरिल (Elliott and Merrill) ने सामाजिक संगठन को इस प्रकार परिभाषित किया है : “सामाजिक संगठन वह दशा या स्थिति है जब कि एक समाज में विभिन्न संस्थायें अपने-अपने पूर्व-निश्चित अथवा मान्य उद्देश्यों के अनुसार कार्य कर रही होती हैं।”<sup>1</sup>

श्री जेनसेन (Jensen) के अनुसार, “सामाजिक संगठन के अन्तर्गत उन समस्त प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया जा सकता है, जो सामूहिक जीवन का निर्माण करती हैं और उसे संकट और संघर्ष की स्थितियों का सामना करने की क्षमता प्रदान करती हैं।”<sup>2</sup>

सर्व श्री ऑर्गवर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, “एक संगठन विभिन्न कार्यों को करने वाले विभिन्न अंगों की एक सक्रिय संबद्धता है। यह किसी कार्य को करवाने का एक प्रभावपूर्ण सामूहिक साधन या तरीका है।”<sup>3</sup>

श्री लोवेल कार (Lowell carr) के अनुसार, ‘किसी अधिकारी के निर्देशन में श्रम विभाजन द्वारा एक सामान्य लक्ष्य की ओर चुने हुए व्यक्तियों के कार्यों को समन्वित करके एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाये गये समिति या संघ के एक स्वरूप को संगठन कहकर परिभाषित किया जा सकता है।’<sup>4</sup>

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक संगठन समाज-व्यवस्था की वह सन्तुलित अवस्था है जिसमें कि समाज के विभिन्न अंग या इकाइयाँ अपने-अपने पूर्व-

1. “Social organization is a state of being, a condition in which the various institutions in a society are functioning in accordance with their recognized or implied purposes.” Elliott and Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros., New York, 1950, p. 4.

2. “Social organization may be considered as comprising all those processes that build up group life and enable it to meet crises and conflict situations.” D. M. Jensen, *An Introduction to Sociology and Social Problems*, p. 191.

3. “An organization is an articulation of different parts with various functions to perform. It is an effective group device for getting something done.” Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul, London, 1960, p. 534.

4. “An organization can be defined as a form of association created to accomplish a specific purpose by coordinating the activities of selected individuals towards a common end through division of labour under authoritative direction.” Lowell Carr, *Analytical Sociology*, p. 197.



निश्चित कार्यों को, बिना संघर्ष या तनाव के, इस प्रकार करते रहें कि समाज के सदस्य अपने सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति कर सकें।

**उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या**

(Explanation of the above definitions)

सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उपरोक्त परिभाषाओं में अन्तर्निहित भाव को अच्छी तरह समझ लें।

(१) सर्व श्री ईलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि इन विद्वानों ने सामाजिक संगठन को सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार एक सामाजिक संरचना का निर्माण उस समाज की विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को मिला कर होता है। इनमें से प्रत्येक संस्था का उस सामाजिक संरचना में एक निश्चित स्थिति या स्थान होता है और उसी के अनुरूप उनमें से प्रत्येक संस्था को कौन-कौन से कार्य करना होगा, यह भी समाज द्वारा पहले से ही निश्चित रहता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये या सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज के अधिकतर सदस्यों में ऐकमत्य (Consensus) होता है और उसी के अनुसार लोग ऐसे साधनों (संस्थाओं) को विकसित करते हैं जिनसे कि उन सामान्य आवश्यकताओं या सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो सके। इस सम्भावना को कोई आघात न कर सके, इस उद्देश्य से समाज की विभिन्न इकाइयों पर सामाजिक नियंत्रण रखा जाता है ताकि इन इकाइयों में तनाव या संघर्ष की स्थिति कम से कम उत्पन्न हो। एक सामाजिक संरचना के अन्तर्गत ऐकमत्य के आधार पर सामाजिक नियंत्रण के साधनों द्वारा नियंत्रित रहते हुए जब समाज की विभिन्न इकाइयाँ अपने-अपने पूर्व निश्चित कार्यों को करती हैं तो उसके फलस्वरूप जो सन्तुलित स्थिति उत्पन्न होती है, उसी को सर्व श्री ईलियट तथा मैरिल ने सामाजिक संगठन की संज्ञा दी है। इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार किसी भी समाज का संगठन उसकी संरचना, उसके सदस्यों के ऐकमत्य तथा सामाजिक नियंत्रण पर निर्भर करती है।

(२) श्री जेनसेन (Jensen) ने सामाजिक संगठन को सामाजिक प्रक्रियाओं (social processes) की एक अभिव्यक्ति के रूप में विवेचना किया है। 'प्रक्रिया' शब्द के द्वारा परिवर्तन की निरन्तरता को दर्शाया जाता है जिसमें वस्तु या घटना-एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर आगे बढ़ती है। सामाजिक प्रक्रियाओं को समाजशास्त्री दो मोटे भागों में विभाजित करते हैं—(क) संगठनात्मक (associative) तथा (ख) विघटनात्मक (dissociative)। श्री जेनसेन के अनुसार सामाजिक संगठन का सम्बन्ध संगठनात्मक प्रक्रियाओं से है। ये संगठनात्मक प्रक्रियाएँ समाज के व्यक्तियों तथा समूहों के प्रयत्नों को इस प्रकार व्यवस्थित करती हैं कि एक सामूहिक या सम्मिलित या सम्बद्ध जीवन का निर्माण होता है। यह व्यवस्थित सामूहिक जीवन उस शक्ति का अधिकारी होता है जिसके बल पर संकटमय व संघर्षपूर्ण परि-



स्थितियों का सामना समाज या समाज के सदस्य व समूह कर सकते हैं। इस प्रकार श्री जेनसेन के अनुसार सामाजिक संगठन उन संगठनात्मक प्रक्रियाओं का द्योतक है जो कि न केवल एक व्यवस्थित सामूहिक जीवन का निर्माण करती है बल्कि उसे यह क्षमता भी प्रदान करता है कि वह समाज को विघटित (disorganized) करने वाली परिस्थितियों का सामना भी कर सके। चूँकि श्री जेनसेन ने सामाजिक संगठन के अन्तर्गत सामाजिक प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया है, इसलिये आपके अनुसार सामाजिक संगठन एक परिवर्तनशील धारणा है। सामाजिक परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ सामाजिक संगठन के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है।

(३) सर्वश्री ऑर्गबर्न तथा निमकॉफ़ (Ogburn and Nimkoff) ने समाज के विभिन्न सक्रिय अंगों की सम्बद्धता (articulation) को सामाजिक संगठन कहा है। समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है—इसमें तो अनेक खण्डों या अंगों का समावेश होता है, बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार की हमारे शरीर की रचना हाथ, पैर, सिर, आँखें, कान, पेट, सीना, आँतें, दिल, फेफड़ा, नसें आदि अनेक अंगों को मिलाकर होती है। स्वाभाविक शरीर में इनमें से कोई भी अंग जड़ के समान निष्क्रिय नहीं होता है। प्रत्येक का कुछ न कुछ काम शरीर के अस्तित्व को बनाये रखने में होता है। और प्रत्येक अंग के कार्यों का प्रभाव दूसरे अंग पर पड़ता है। इस प्रकार ये सब अंग अपने अपने कार्यों के आधार पर एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। ठीक उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग भी समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये कुछ निश्चित कार्यों को करते रहते हैं और उसी आधार पर वे एक दूसरे से सम्बन्धित भी हो जाते हैं। इस पारस्परिक सम्बन्ध के कारण अपने-अपने काम में लगे हुए समाज के विभिन्न अंग जब एक सम्बद्धता या संयुक्त प्रतिमान (unified pattern) को उत्पन्न करते हैं तो उसी को सामाजिक संगठन कहते हैं। समाज के ऐसे अनेक उद्देश्य हैं जिनकी पूर्ति के लिए व्यक्तिगत प्रयत्नों के अलावा सामूहिक प्रयत्नों की भी आवश्यकता होती है। इन्हीं सामूहिक प्रयत्नों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिये या सामाजिक आवश्यकताओं व उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जिन साधनों को समाज ने विकसित किया है उनमें से एक साधन सामाजिक संगठन है। इसीलिये सर्व श्री ऑर्गबर्न तथा निमकॉफ़ ने लिखा है कि संगठन किसी कार्य को करवाने की एक प्रभावपूर्ण सामूहिक साधन या तरीका है।

(४) श्री लोवेल कार (Lowell Carr) ने सामाजिक संगठन की अपनी परिभाषा में उन आवश्यक तत्वों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो कि प्रत्येक संगठन में देखने को मिलता है। वे तत्व हैं—(१) चुने हुए क्रियाशील इकाइयाँ, (२) उन इकाइयों में श्रम विभाजन, (३) उन इकाइयों के कार्यों का एक सामान्य लक्ष्य (end) होना, (४) इस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के लिये इकाइयों को किसी अधिकारी का निर्देशन मिलते रहना, (५) इकाइयों का एक संघ या समिति के रूप में व्यवस्थित रहना तथा (६) निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इस समिति या संघ



क्रियाशील रहना। एक सामान्य लक्ष्य को सामने रखकर उपयुक्त निर्देशन में निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये क्रियाशील व्यक्तियों या सामाजिक इकाइयों के संयुक्त रूप या स्वरूप को ही श्री कार ने संगठन कहा है। आपके द्वारा उल्लेखित सामाजिक संगठन के उपरोक्त तत्त्वों को एक साथ मिलाकर इस प्रकार समझाया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक जीवन का एक लक्ष्य (end) होता है। यह लक्ष्य कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निर्धारित किया जाता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक न उसके लिये प्रयत्न किये जायें। प्रयत्न का तात्पर्य ही क्रिया है। परन्तु यह क्रिया करने की योग्यता, इच्छा या अभिरुचि समाज के सभी व्यक्तियों में नहीं होती है। अतः चुनाव (selection) की आवश्यकता होती है। इन चुने हुए व्यक्तियों में से भी प्रत्येक को यदि प्रत्येक काम करने को कहा जाय तो भी एक गड़बड़ी की स्थिति उत्पन्न होगी। इससे बचने के लिये और प्रयत्नों का कार्यों को एक व्यवस्थित रूप देने के लिये यह आवश्यक है कि इन व्यक्तियों के कार्यों में श्रम विभाजन हो। फिर भी अगर इन व्यक्तियों को मनमाने ढंग से काम करने की छूट दे दी जाय तो फिर विस्थापनता व उच्छृंखलता ही देखने को मिलेगी। इसे रोकने के लिये यह आवश्यक है कि क्रियाशील इकाइयों या व्यक्तियों को किसी अधिकार प्राप्त व्यक्ति के निर्देशन में काम करने दिया जाए। इस श्रम-विभाजन व निर्देशन के फलस्वरूप एक सामान्य लक्ष्य को सामने रखकर निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु क्रियाशील व्यक्ति या सामाजिक इकाइयाँ जिस संघीय या संयुक्त स्वरूप का विकास करेंगे उसी को, श्री कार के अनुसार सामाजिक संगठन कहना चाहिए। श्री कार के विचार में इस सामाजिक संगठन का दर्शन किसी पिकनिक पार्टी की कमेटी से लेकर अमेरिका के संयुक्त राज्यों की सरकार (United States Government) तक में किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि एक सामाजिक संगठन के अन्तर्गत अनेक स्थानीय उपसंगठन होते हैं। इन उप-संगठनों को मिलाकर एक बृहत्तर संगठन का निर्माण होता है। वास्तव में इसी को सामाजिक संगठन कहना चाहिए।

(५) हमने ऊपर उल्लेखित अपनी परिभाषा में इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक संगठन समाज-व्यवस्था की एक सन्तुलित अवस्था है। यह सन्तुलित अवस्था उस स्थिति में उत्पन्न होती है जब कि समाज के विभिन्न अंग या इकाइयाँ एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करते हुए या एक दूसरे के कार्यों में बाधक न बनते हुए अपने-अपने पूर्व-निश्चित या समाज द्वारा मान्य कार्यों को अपनी अपनी स्थिति में रहते हुए करते रहे ताकि प्रत्येक इकाई को हर दूसरे से बल प्राप्त होता रहे और वे एक दूसरे के सहायक और पूरक बने रहे। ऐसा होने पर सभी को अपने-अपने सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति का अधिकतम अवसर मिलता रहेगा। अगर समाज में यह स्थिति है तो वही सामाजिक संगठन की अभिव्यक्ति होगी। इसलिए सामाजिक संगठन को समाज-व्यवस्था की वह सन्तुलित अवस्था कहा गया है जिसमें सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति सम्भव हो।



## सामाजिक संगठन की विशेषताएं (Characteristics of Social Organization)

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम सामाजिक संगठन की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं जो कि निम्नलिखित हैं :—

(१) सामाजिक संगठन की अवधारणा सामाजिक संरचना व व्यवस्था से सम्बन्धित है। जिस प्रकार सामाजिक संरचना व व्यवस्था एक अखण्ड अवधारणा नहीं है उसी प्रकार सामाजिक संगठन में सहयोग देने वाला कोई एक इकाई या अंग नहीं होता है। सामाजिक संरचना का निर्माण अनेक संस्थाओं, समूह आदि को मिलाकर होता है। यह एकाधिक इकाइयाँ जब आपस में मिलजुल कर काम करती हैं तो एक व्यवस्थित या सन्तुलित अवस्था उत्पन्न होती है। इसी व्यवस्थित व सन्तुलित अवस्था को ही सामाजिक संगठन कहते हैं।

(२) सामाजिक संगठन अर्थहीन या उद्देश्यविहीन नहीं होता है। सामाजिक संगठन को बनाये रखने की आवश्यकता इसीलिए अनुभव की जाती है कि इसके अन्तर्गत कुछ सामाजिक उद्देश्यों या आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव होती है क्योंकि सामाजिक संगठन एक ऐसी परिस्थिति को उत्पन्न करता है जिसमें समाज की समस्त इकाइयाँ अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति सरलता से कर सकें।

(३) सामाजिक संगठन सामाजिक व्यवस्था का एक सन्तुलित रूप है। समाज के विभिन्न अंगों या इकाइयों के बीच अन्तःक्रियाओं और पारस्परिक सहयोग के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक व्यवस्था की विभिन्न अभिव्यक्तियों के संगठित या सन्तुलित रूप को ही सामाजिक संगठन कहते हैं। स्मरण रहे कि सामाजिक जीवन में पाये जाने वाले संस्थात्मक संगठित क्रियाएँ ही सामाजिक व्यवस्था की अभिव्यक्तियाँ हैं और सामाजिक व्यवस्था का सन्तुलित रूप सामाजिक संगठन है।

इसलिए श्री लैपियर (Lapier) ने कहा है, “सामाजिक संगठन उच्च कोटि के प्रक्रियात्मक संतुलन की ओर संकेत करता है।”<sup>5</sup>

(४) सामाजिक संरचना या व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न अंगों के योग मात्र को ही सामाजिक संगठन नहीं कहते हैं। सामाजिक संगठन तो उस अवस्था को कहते हैं जबकि इन विभिन्न इकाइयों में आपस में एक स्पष्ट क्रम-बद्धता तथा अन्तःसम्बन्ध स्पष्ट रूप में विद्यमान हो जिसके फलस्वरूप यह अनेक इकाइयाँ मिलकर एक इकाई या प्रतिमान (pattern) को उत्पन्न करें अर्थात् विभिन्न निर्णायक इकाइयों की पारस्परिक क्रमबद्धता (arrangement) व अन्तः-सम्बन्धों के द्वारा एक नवीन एकता की सृष्टि हो जाय। इसी संबद्धता या एकता को सामाजिक संगठन कहते हैं।

5. “Organization is taken to indicate a high degree of functional equilibrium.” R. T. Lapier, *Sociology*, Mc Graw-Hill Book Co., New York, 1946, p. 175.



(५) सामाजिक संगठन के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न इकाइयों में जो एकता पाई जाती है उसका आधार प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक संगठन के विभिन्न इकाइयों में से कोई भी इकाई निष्क्रिय या बिना किसी काम के नहीं होती है प्रत्येक इकाई की एक स्थिति और उस स्थिति से सम्बन्धित कार्य होते हैं और एक का कार्य दूसरे से सम्बन्धित और दूसरे को प्रभावित करने वाला होता है। इस प्रकार अपने-अपने कार्य के आधार पर सभी इकाइयाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाती हैं। इसी को प्रकार्यात्मक सम्बन्ध कहा गया है। वास्तव में समाज की विभिन्न इकाइयाँ या संस्थाएँ इस प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर ही परस्पर एक सूत्र में बंध जाती हैं जिसके फल-स्वरूप एक सम्बद्ध सन्तुलित अवस्था की सृष्टि होती है। इसी को सामाजिक संगठन कहते हैं। इस विशेषता का एक अर्थ यह भी होता है कि सामाजिक संगठन का एक प्रकार्यात्मक पक्ष या पहलू (functional aspect) भी होता है। सामाजिक संगठन कोई जड़ अवस्था नहीं है, वह तो एक क्रियाशील व्यवस्थित अवस्था है और इसी क्रियाशीलता के कारण ही सामाजिक संगठन के अन्तर्गत समूहों या व्यक्तियों के लिए यह सम्भव होता है कि वे अपने-अपने निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें।

(६) सामाजिक संगठन कोई स्थिर अवधारणा नहीं है। इसमें भी परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन अनेक सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक कारकों के कारण हो सकता है और होता भी है। हाँ यह हो सकता है कि किन्हीं समाजों में इस परिवर्तन की गति तेज हो और किन्हीं में कम। श्री मावरर (Mowrer) ने स्पष्ट ही लिखा है कि “सामाजिक संगठन स्वयं कोई स्थिर अवस्था नहीं है जो एक बार स्थापित हो जाने पर कभी परिवर्तित नहीं होती है। एक अर्थ में सामाजिक संगठन एक उपकल्पना या आदर्श रचना है जो प्रत्येक समाज में सदैव विद्यमान संस्कृति के प्रतिमानों के परिवर्तनशील पक्षों के विपरीत अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील पक्षों पर बल देता है।”<sup>6</sup> इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक प्रतिमान के अनेक ऐसे पहलू होते हैं जिनमें कि बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता रहता है, तेजी से परिवर्तित होने वाले इन पहलुओं की तुलना में सामाजिक संगठन कम परिवर्तनशील होता है। कम परिवर्तनशीलता का तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक संगठन में परिवर्तन होता ही नहीं है। सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव सामाजिक संगठन पर स्वतः ही पड़ता है।

(७) सामाजिक संगठन सांस्कृतिक व्यवस्था से भी सम्बन्धित होता है।

6. “Social organization itself is not something, which, once established, will for ever remain without change. In one sense, social organization is a hypothesis, an ideal-construct, emphasizing the relatively unchanging patterns of culture as over against the changing aspects which are always present in every society.” Ernest R. Mowrer, *Disorganization—Personal and Social*, J. B. Lippincott Co, New York, 1942, p. 3.



सांस्कृतिक व्यवस्था उन इकाइयों के स्वरूपों को निर्धारित करती है जो कि संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना का निर्माण करते हैं। ये इकाइयाँ ही सामाजिक संगठन में योगदान करने वाली इकाइयाँ भी होती हैं। विभिन्न सांस्कृतिक व्यवस्था में इन इकाइयों का स्वरूप अलग-अलग होता है, इसलिए विभिन्न सांस्कृतिक व्यवस्था में सामाजिक संगठन का स्वरूप भी पृथक्-पृथक् होता है। यही कारण है कि आदिम समाज का सामाजिक संगठन सभ्य समाज के सामाजिक संगठन से भिन्न है और उसी प्रकार भारतीय समाज का सामाजिक संगठन अमरीकी समाज के सामाजिक संगठन से भिन्न है। इतना ही नहीं सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तन की गति सभी समाजों में चूँकि एक सी नहीं होती है इसलिए यह हो सकता है कि एक समाज की अपेक्षा दूसरे समाज में सामाजिक संगठन अधिक स्थिर हो।

(८) सामाजिक संगठन में अनुकूलन करने का गुण होता है। सामाजिक संगठन की इस विशेषता के दो स्पष्ट पहलू हैं : प्रथम तो यह कि सामाजिक संगठन जड़ और स्थिर नहीं बल्कि गतिशील व्यवस्था है और दूसरा यह कि सामाजिक संगठन को अपने अन्दर विघटित करने वाले तत्वों को भी स्थान देना पड़ता है। आधुनिक गतिशील समाज में मानव की आवश्यकताओं और उद्देश्यों में तेजी से परिवर्तन होता रहता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति सामाजिक संगठन द्वारा प्रस्तुत अवस्थाओं के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकती है। अतः सामाजिक संगठन को, परिवर्तित सामाजिक आवश्यकताओं और उद्देश्यों के साथ अपना अनुकूलन करना पड़ता है, तब कहीं वह उस सन्तुलित अवस्था को प्रस्तुत कर सकता है जिसमें कि सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति सम्भव हो। इसीलिए यह कहा गया है कि सामाजिक संगठन में अनुकूलन करने का गुण होता है। उसी प्रकार किसी भी समाज में यह नहीं हो सकता कि सभी इकाइयाँ सामाजिक संगठन को बनाये रखने के अनुकूल हों, कुछ इकाइयों के कार्य इसके प्रतिकूल भी हो सकते हैं। सामाजिक संगठन को इन विघटित करने वाले तत्वों को भी अपने अन्दर स्थान देना पड़ता है, चाहे उन्हें दबाकर ही क्यों न रखें।

(९) सामाजिक संगठन एक सापेक्षिक (relative) अवधारणा है। ऐसा कोई भी समाज कहीं पर भी नहीं है जो शत-प्रतिशत संगठित हो या पूर्णरूप से विघटित हो। इसका तात्पर्य यही है कि किसी भी ऐसे समाज का नाम नहीं लिया जा सकता जिसकी सभी निर्मायक इकाइयाँ समान रूप से कुशल हों और पूर्ण कुशलता के साथ सभी सदस्य समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आपस में सहयोग करते हुए अपने-अपने कार्यों में लगे हों। इस प्रकार की स्थिति तो स्वप्न में ही सम्भव हो सकती है। वास्तविक अवस्था तो यह है कि प्रत्येक स्वाभाविक समाज में सामाजिक जीवन को संगठित करने और उसे विघटित करने वाले दोनों ही तत्व या इकाइयाँ पाई जाती हैं अन्तर केवल मात्रा (Degree) का होता है। किन्हीं समाजों में संगठित करने वाले तत्व कम होते हैं और विघटित करने वाले अधिक ता किन्हीं में विघटित करने वाले तत्व कम होते हैं और संगठित करने वाले अधिक। मध्ययुग के सभ्य समाज अपेक्षाकृत अधिक संगठित समाज का एक उदाहरण है, और छोटे,



‘सरल’ आदिवासी समाज अपेक्षाकृत संगठित समाज का दूसरा उदाहरण है। आधुनिक काल के समाजों में परिवर्तन की गति बहुत तेज है और साथ ही सामाजिक उद्देश्यों और आवश्यकताओं में भी खूब भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। यही कारण है कि आजकल के समाजों में संगठन की मात्रा अपेक्षाकृत कम ही होती है।

(१०) सामाजिक संगठन समाज के सदस्यों के अपने वातावरण से अनुकूलन का परिणाम है। संसार में प्रत्येक वस्तु गतिशील है। सामाजिक वातावरण या परिस्थितियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यदि हम यह चाहते हैं कि हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो और हम एक अतनावपूर्ण जीवन व्यतीत करें तो हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपना अनुकूलन कर लें। प्रत्येक समाज के विभिन्न परिस्थितियों से गुजरने के कुछ अनुभव होते हैं जिनके आधार पर समाज के विभिन्न अंग या इकाइयाँ यह जान जाती हैं कि सामाजिक वातावरण से अनुकूलन किये बिना सामाजिक जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं है। साथ ही, समाज के सदस्य या विभिन्न समूह जिसमें सामाजिक परिस्थितियों से अपना अनुकूलन सरलता से कर सकें, इस उद्देश्य से प्रत्येक समाज में सामाजिक नियंत्रण के कुछ साधन स्थापित होते हैं। रीति-रिवाज, परम्परा, प्रथा, रूढ़ियाँ, धर्म और कानून आदि सामाजिक नियंत्रण के ही साधन हैं, इनके कारण व्यक्ति या समाज मनमाने ढंग से काम नहीं कर पाता है और उस पर समाज के स्थापित व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) के अनुरूप व्यवहार करने के लिए दबाव डाला जाता है। इस प्रकार समाज के विभिन्न सदस्य या इकाइयों के दिन-प्रतिदिन के व्यवहार और क्रियाओं के लिये एक प्रतिमान स्थापित हो जाता है। वास्तव में यह प्रतिमान ही सामाजिक संगठन की अभिव्यक्ति होती है।

(११) सामाजिक संगठन समाज के विभिन्न इकाइयों की स्थिति व कार्य (status and role) की एक स्थापित या मान्य और पूर्वनिश्चित अवस्था का द्योतक है। संगठन में दो बातें महत्वपूर्ण हैं—प्रथम विभिन्न निर्मायक इकाइयों के पूर्वनिश्चित स्थिति (status) पर स्थिर रहना और दूसरे उसे स्थिति के अनुसार कार्य करते रहना। जब ये दोनों ही बातें उचित ढंग से होती रहती हैं तो संगठन पनपता है। उदाहरणार्थ एक मशीन को लीजिये मशीन में प्रत्येक पुर्जे की एक स्थिति होती है और उस स्थिति के अनुसार ही यह पहले से निश्चित होता है कि एक पुर्जा क्या काम करेगा। मशीन ठीक प्रकार से तभी चल सकती है जब प्रत्येक पुर्जा अपनी पूर्व-निश्चित स्थिति में रहकर अपना निर्धारित कार्य करता रहे। इसी स्थिति को संगठन के नाम से पुकारा जाता है जब कि मशीन का प्रत्येक पुर्जा एक दूसरे से सम्बन्धित और निर्भर रहकर एक प्रकार की एकात्मकता और संतुलन बनाये हुए हो। सामाजिक संगठन के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। समाज की विभिन्न इकाइयाँ अपने पूर्ण निश्चित स्थिति पर रहते हुये तथा अन्य इकाइयों के साथ सहयोगपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखते हुये अपना-अपना कार्य करते रहें, यही सामाजिक संगठन की प्रथम शर्त है।



(१२) श्री ग्रीर (Scott A. Greer) के अनुसार, सामाजिक संगठन विविध प्रकार के व्यवहारों में से उन कार्यों को चुनने की एक व्यवस्था है जो कि समस्त समूह के कार्यों में लाभदायक और कल्याणकारी हो। सामाजिक संगठन में दो मूल तत्व सामान्यतः देखने को मिलते हैं, वे यह हैं कि (१) प्रत्येक सामाजिक संगठन विभिन्न व्यक्तियों को कुछ निश्चित कार्य प्रदान करता है, और (२) इन क्रियाओं को एक दूसरे से सम्बन्धित रखते हुये सामाजिक उद्देश्यों से उनको संयुक्त करता है। इसी को क्रियाओं का सम्बन्धीकरण (integration of action) कहते हैं। किसी भी संगठन में यह एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। सामाजिक संगठन में यह आवश्यक नहीं है कि सभी व्यक्ति एक समान कार्य करें। सामाजिक कार्यों का तो विभाजन होगा ही—अर्थात् व्यक्तियों तथा समूहों के कार्यों में भिन्नता तो अवश्य ही होगी, पर अगर ये विभिन्न कार्य सामान्य व कल्याणकारी सामाजिक उद्देश्यों से सम्बन्धित हैं तो वह एक संतुलित सामाजिक अवस्था को जन्म देगा। इसी को सामाजिक संगठन कहते हैं।

### सामाजिक संगठन के आवश्यक तत्व

#### (Essential Elements of Social Organization)

सामाजिक संगठन की उपरोक्त विशेषताओं के अध्ययन से ही सामाजिक संगठन के सभी आवश्यक तत्व स्पष्ट हो गये हैं, फिर भी एक सिलसिले से उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

### सामाजिक संगठन और सामाजिक संरचना

#### (Social Organization and Social Structure)

किसी भी सामाजिक संगठन का स्वरूप उस समाज के सामाजिक संरचना से सम्बन्धित होता है। श्री एम० जिंसबर्ग (M. Ginsberg) ने लिखा है कि “सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों, अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल (Complex) जिनसे समाज का निर्माण होता है, से सम्बन्धित है।”<sup>7</sup> इसी से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना सामाजिक संगठन का एक आवश्यक तत्व है। इसे और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम सामाजिक संरचना की विवेचना कुछ विस्तारपूर्वक करें। श्री पारसन्स (Parsons) के अनुसार, “सामाजिक संरचना परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, एजेंसियों तथा सामाजिक प्रतिमानों और साथ ही प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किये गये पदों तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता या व्यवस्था (arrangement) को कहते हैं।”<sup>8</sup> इस प्रकार यह

7. The study of “social structure is concerned with the principal forms of social organization, i. e. types of groups, associations and institutions and the complex of these which constitute societies.” M. Ginsberg, *Reason and Unreason in Society*, 1947, p. 1.

8. “Social structure is the term applied to the particular arrangement of the interrelated institutions, agencies, and social patterns, as well as the statuses and roles which each person assumes in the group.” Talcott Parsons, “Age and Sex in the Social Structure of the United States,” *American Sociological Review*, 7: 604, 1942.



स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना सामाजिक अंगों या इकाइयों की एक विशिष्ट व्यवस्था है। ये इकाइयाँ हैं—संस्थाएँ, एजेंसियाँ (agencies) तथा सामाजिक प्रतिमान। इन इकाइयों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ये बिखरे रूप में या अलग-अलग रहकर सामाजिक संरचना का निर्माण नहीं करती हैं, बल्कि उनमें एक पारस्परिक सम्बन्ध होता है। यह पारस्परिक सम्बन्ध ही एक निश्चित व्यवस्था व प्रतिमान का निर्माण करता है जो कि सामाजिक संगठन की प्रथम शर्त (Condition) होती है। इतना ही नहीं सामाजिक संरचना के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य या इकाई के कुछ पूर्व-निश्चित पद (स्थिति) तथा कार्य होते हैं। उनके ये पद तथा कार्य संस्थाओं, रीति-रिवाजों, प्रथा, धर्म, कानून, रूढ़ियों आदि द्वारा निर्धारित होते हैं। सर्व श्री इलियट तथा मैरिल (Elliot and Merrill) के अनुसार, "सामाजिक संगठन की मात्रा एक ओर इन संस्थाओं, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों और कानून के बीच सामंजस्य और दूसरी ओर समाज के सदस्यों की समाज या समूह द्वारा निर्धारित विशिष्ट पदों तथा कार्यों को स्वीकार कर लेने की इच्छा व तत्परता पर निर्भर करती है। जहाँ समाज के सदस्य अपने परम्परागत पदों तथा कार्यों को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं, वहीं सामाजिक संगठन टूट जाता है।"<sup>9</sup> अतः सामाजिक संरचना व संगठन को बनाने वाले सामाजिक इकाइयों की स्थिति तथा कार्यों के सम्बन्ध में कुछ विस्तारपूर्वक विवेचना कर लेना उचित होगा।

व्यक्ति की स्थिति (status) से तात्पर्य उस पद (position) से है जो वह अपने यौन-भेद, आयु, जन्म, विवाह, शारीरिक गुण, कृतियों तथा कर्तव्यों के कारण प्राप्त करता है और कार्य (roles) वह पार्ट है जो वह व्यक्ति एक पद विशेष पर आसीन होने के कारण भूदा करता है। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति की एक स्थिति या पद होता है क्योंकि वह अपने माता-पिता की संतान है, पुरुष अथवा स्त्री है, युवक अथवा वृद्ध है, विवाहित अथवा अविवाहित है, कृषक या पुजारी है, राजा या प्रजा है। इन स्थितियों या पदों से सम्बन्धित कुछ कार्य भी समाज द्वारा निश्चित होते हैं जिन्हें कि व्यक्ति अपनी स्थिति के कारण करता रहता है। पुजारी और कृषक का कार्य एक समान नहीं है, पुरुष और स्त्री का कार्य एक समान नहीं है, पिता और पुत्र का, या पति और पत्नी का कार्य भी एक समान नहीं है क्योंकि इनकी स्थिति भी समाज में एक समान नहीं है अर्थात् अलग-अलग है। इन स्थितियों में से कुछ प्रदत्त (ascribed) होती हैं और कुछ अर्जित (achieved)। प्रदत्त स्थितियाँ वे पद हैं जो कि व्यक्ति को उसके अपने प्रयास के बिना परम्परागत रूप में समाज द्वारा आपसे आप मिल जाता है। माता, पिता, भाई, बहन, पति, पत्नी, जेष्ठ, कनिष्ठ, परम्परागत राजा, नागरिकता आदि का पद एक व्यक्ति को समाज या समुदाय से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत अर्जित पदों को व्यक्ति अपने गुणों,

9. "The degree of social organization is determined both by the harmony existing between these social mechanisms and by the relative willingness of the individual members of society to accept their particular statuses and roles." Elliott and Merrill, *Op. Cit.*, p. 6.



क्षमताओं तथा प्रयासों के आधार पर प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, एक साधारण व्यक्ति अपनी कुशलताओं, गुणों तथा निरन्तर प्रयासों के बल पर देश के प्रधान मन्त्री का पद प्राप्त कर सकता है। यह उसकी अर्जित स्थिति होगी। साथ ही, एक ही समय में व्यक्ति के एक से अधिक प्रदत्त तथा अर्जित स्थितियाँ हो सकती हैं और इस कारण उसका एक से अधिक प्रकार के कार्यों का होना भी स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति घर में पिता और पुत्र दोनों ही है (ये उसकी प्रदत्त स्थितियाँ हैं), दफ्तर में विभागीय अधिकारी है और क्लब में उस क्लब का सभापति (ये उसकी अर्जित स्थितियाँ हैं)। इन पदों से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों को उस व्यक्ति को करना पड़ता है। जब समाज के अधिकतर सदस्य सामाजिक संरचना (social structure) के अन्तर्गत उनकी अपनी-अपनी स्थितियों या पदों पर विराजमान रहते हुए उन स्थितियों से सम्बन्धित कार्यों को उचित ढंग से करते रहते हैं और किसी का कार्य दूसरे किसी के कार्य में बाधक नहीं बनता है, तब सामाजिक संगठन की स्थिति उत्पन्न होती है।

अतः सामाजिक संगठन इस बात पर निर्भर करता है कि सामाजिक संरचना के अन्तर्गत समाज की विभिन्न इकाइयों में पदों या स्थितियों (statuses) का वितरण (distribution) कितने सूचारु रूप में हुआ है और उन स्थितियों पर विराजमान इकाइयाँ अपनी-अपनी स्थिति से सम्बन्धित कार्यों को कितने अच्छे ढंग से निभा रहीं हैं। स्थितियों का वितरण तथा उन स्थितियों से सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन जितने अच्छे ढंग से होगा, सामाजिक संगठन का स्तर भी उतना ही ऊँचा होगा।

प्राचीन समाज में प्रदत्त (ascribed) पद महत्वपूर्ण माना जाता था। व्यक्ति की प्रतिष्ठा और सम्मान उसके जन्म और वंश से निर्धारित होता है। भारतीय जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित सामाजिक पद और कार्य इसका एक अच्छा उदाहरण है। जिस व्यक्ति का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ है, वह आजन्म ब्राह्मण ही कहलायेगा और जातीय संस्तरण (Caste hierarchy) में उसका स्थान सबसे ऊँचा माना जायेगा। निर्धनता, बेरोजगारी, सम्पत्ति, जीवन की कोई भी सफलता या विफलता उसे उस स्थिति से गिरा नहीं सकती है। यही बात शूद्रों या अन्य जातियों के सदस्यों के बारे में है। हिन्दू सामाजिक संरचना में प्रत्येक जाति के सदस्यों की एक निश्चित स्थिति निर्धारित है और उस स्थिति से सम्बन्धित कार्य भी। स्थिति तथा कार्यों के इस विभाजन व वितरण को धार्मिक विश्वासों, प्रथा, परम्परा, रूढ़ियों तथा कर्म के सिद्धान्त के आधार पर लागू किया जाता है। फलतः समाज के सब कार्य, शिक्षा से लेकर सफाई तक, गृहस्थी के कार्य से लेकर सरकारी कार्य तक सूचारु रूप से चलते हैं और धार्मिक विश्वासों व 'कर्म' की धारणा के आधार पर गन्दे से गन्दे कार्य को या नीच से नीच नियोग्यता (disability) को भी बिना किसी संकोच या दुःख के स्वीकार कर लिया जाता है। केवल इतना ही नहीं, सामाजिक दृष्टिकोण से इससे भी महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इसी 'कर्म' की धारणा के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अगले जन्म में अधिक अच्छे कुल या स्थिति को प्राप्त करने की अभिलाषा से इस जन्म में समाज द्वारा मान्य स्थिति में रहते हुए उससे सम्बन्धित



समस्त कार्यों को अपना कर्तव्य मान कर दिल लगा कर करता रहता है क्योंकि उसमें यह विश्वास दृढ़ है कि इस जन्म की स्थिति पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है और अगले जन्म की ऊँची या नीची स्थिति इस जन्म के अच्छे या बुरे कर्मों का फल होगा। इससे एक ओर व्यक्ति को मानसिक दृढ़, नैराश्य आदि से छुटकारा मिल जाता है और दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था व संगठन, विभिन्न सामाजिक समूहों में बिना किसी तनाव व संघर्ष के निरन्तर बना रहता है। यह स्थिति पहले थी, अब इसमें काफी परिवर्तन देखने को मिलता है। फिर भी सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन व परम्परागत समाजों में प्रदत्त (ascribed) पद महत्वपूर्ण माना जाता था।

इसके विपरीत आधुनिक व मुक्त समाज (open society) में प्रदत्त पदों की तुलना में अर्जित पदों की ही प्रधानता होती है। आज व्यक्ति की व्यक्तिगत योग्यता, कार्यकुशलता, शिक्षा आदि के आधार पर उसका पद निश्चित होता है। भारतीय समाज में भी आज यह परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। आज ब्राह्मण की सामाजिक स्थिति केवल ब्राह्मण होने के आधार पर ही ऊँची नहीं हो सकती, यदि उसमें ऊँची स्थिति के लिए आवश्यक व्यक्तिगत गुण भी विद्यमान न हों। उसी प्रकार आज हरिजन की स्थिति में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। आज वे अपनी व्यक्तिगत योग्यता व कार्यकुशलता के आधार पर बलक से लेकर मंत्री (Minister) के पद तक पर आसीन हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आज इस देश में भी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत गुणों या योग्यताओं के आधार पर समाज के किसी भी ऊँचे से ऊँचे पद तक पहुँचने में स्वतन्त्र है। आज व्यक्ति की सामाजिक स्थिति विशेषकर धन और कुछ हद तक शिक्षा, राजनैतिक सत्ता आदि पर निर्भर करती है, और इनको अर्जित करने का अवसर आज समाज में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इससे होता यह है कि समाज के सदस्यों में ऊँची स्थिति तक पहुँचने के लिये आपस में एक दौड़-सी या प्रतियोगिता होती रहती है और सदस्यों की स्थिति में परिवर्तन भी तेजी से होता रहता है। फलतः गतिशील समाज में सामाजिक संगठन की स्थिरता (stability) भी पहले से कम हो गयी है। इसका कारण भी स्पष्ट है। समाज में सर्वोच्च स्थितियाँ बहुत कम होती हैं पर उसे प्राप्त करने के लिये हजारों लोग निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। जो सफल होते हैं वे तो उच्च स्थिति पर पहुँच जाते हैं पर जो असफल होते हैं वे असंतुलित व्यक्तित्व को विकसित करते हैं :—निराशा के अन्धकार में डूब जाते हैं, जीवन से ऊब जाते हैं और अन्त में हो सकता है कि समाज-विरोधी कार्यों में अपने को लगा दें या आत्महत्या करके अपने को समस्त 'जंजालों' से छुटकारा देने के लिये तत्पर हों। दोनों ही अवस्थायें सामाजिक संगठन के लिये घातक सिद्ध हो सकती हैं यही बात सामाजिक संरचना की अन्य इकाइयों जैसे समूह, संस्था आदि के सम्बन्ध में भी लागू होती है। एक संगठित समाज में ये सभी तत्व एक दूसरे के अनुरूप होते हैं और परिवार, जीविकोपार्जन के साधन या संस्थाएँ, विवाह संस्था, धर्म, आदर्श, परम्परा, प्रथा आदि बिना



किसी संघर्ष के हिल-मिल कर काम करते रहते हैं। यदि इनमें से कोई एक या अधिक इकाइयों का कोई भी गम्भीर संघर्ष दूसरे से या आपस में होता है तो सामाजिक संगठन को खतरा उत्पन्न हो जाता है।

स्मरण रहे कि एक निश्चित समय में विभिन्न समाजों में तथा विभिन्न समय में एक ही समाज में स्थिति तथा कार्यों में अन्तर होता है। श्रमिक की जो स्थिति व कार्य भारत में है, वह रूस में नहीं है। पहले भारत में हरिजनों की जो स्थिति तथा कार्य थे, वे आज इस देश में ही बदल गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक स्थिति तथा कार्यों में अर्थात् सामाजिक संरचना में परिवर्तन हो जाने से सामाजिक संगठन का स्वरूप भी बदल जाता है। इसका एक और अर्थ यह है कि विभिन्न समाज का सामाजिक संगठन एक-सा नहीं होता है और न ही एक समाज का सामाजिक संगठन हर समय में एक-सा रहता है।

### सामाजिक प्रक्रियायें तथा सामाजिक संगठन

(Social Processes and Social Organization)

यद्यपि सामाजिक स्थिति तथा कार्यों में परिवर्तन होने के साथ-साथ उसका प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ता है, फिर भी संगठन में उल्लेखनीय परिवर्तन लाने वाले कारकों में सामाजिक प्रक्रियायें और सामाजिक परिवर्तन प्रमुख हैं। इन दोनों में से पहले हम सामाजिक प्रक्रियायों के सम्बन्ध में विवेचना करेंगे। सर्व श्री मेकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) के अनुसार “एक प्रक्रिया का अर्थ वह निरन्तर परिवर्तन है जो एक परिस्थिति विशेष में पहले से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से होता है।”<sup>10</sup> सर्व श्री पार्क तथा बर्गस (Park and Burgess) ने लिखा है कि “सामाजिक प्रक्रिया वे परिवर्तन हैं जिन्हें कि समूह के जीवन में होने वाला परिवर्तन कहा जा सकता है।”<sup>11</sup> वास्तव में प्रक्रिया शब्द के द्वारा परिवर्तन की निरन्तरता को दर्शाया जा सकता है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि सामाजिक प्रक्रियाओं के दो मोटे रूप होते हैं—एक संगठनात्मक और दूसरा विघटनात्मक। सन्देश वाहन, व्यवस्थान, सहयोग, आत्मसात आदि संगठनात्मक प्रक्रियायें (associative processes) हैं जब कि संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा, श्रमविभाजन आदि विघटनात्मक प्रक्रियायें (dissociative processes) हैं। संक्षेप में इन प्रक्रियाओं की विवेचना इस प्रकार की जा सकती है :—

(१) सन्देश वाहन (Communication)—सन्देश वाहन समस्त सामाजिक अन्तःक्रियाओं के लिये मौलिक तथा समस्त सामाजिक संगठन का आधार है।

10. A process means continuous change taking place in a definite manner through the operation of forces present from the first within the situation.” R. M. MacIver and C. H. Page, *Op. cit.*, p. 521.

11. The concept of social process refers to all the “changes which can be regarded as changes in the life of the group.” Robert E. Park and Ernest W. Burgess, *Introduction to the Science of Sociology*, University of Chicago Press, Chicago, 1924, p. 51.



सन्देश वाहन की प्रक्रिया में ही समाज जीवित रहता है क्योंकि इसी के द्वारा समाज के आधारभूत विचारों, भावनाओं और आदर्श तथा मूल्यों का हस्तान्तरण या संचारण सम्भव होता है। सन्देश वाहन की प्रक्रिया वास्तव में इसी लेन-देन की प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया के द्वारा ही एक के विचार और आदर्श आदि दूसरों तक संचारित होते हैं। बातचीत, इशारा, अक्षर तथा अन्य चिन्हों तथा प्रतीकों के द्वारा एक के विचार, भावनाओं आदि का दूसरे तक संचारित होने की प्रक्रिया को ही सन्देश वाहन कहते हैं। इस प्रकार के संचारण से ही कुछ सामान्य विचार, भावनाएँ, आदर्श तथा मूल्य समाज के अधिकतर व्यक्तियों में फैल जाते हैं और वे लोग उन्हें अपना मान कर स्वीकार कर लेते हैं। समाज के अधिकतर सदस्यों द्वारा मान्य ये विचार, भावनाएँ, मूल्य, आदर्श आदि सामाजिक संगठन को बनाये रखने में अपना योगदान देते हैं। अतः स्पष्ट है कि सन्देश वाहन के द्वारा पनपने वाले सामान्य विचार, भावनाएँ, मूल्य आदि एक सामान्य परिस्थिति को उत्पन्न करता है जिसे कि समाज के अधिकतर लोग अपना मानते हैं, यही सामाजिक संगठन की स्थिति है। एक गतिशील बड़े समाज में सन्देश वाहन का महत्व कुछ अपूर्ण ही रह जाता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हर दूसरे व्यक्ति से नहीं होता है।

(२) सहयोग (Co-operation) — श्री फेयरचाइल्ड (Fairchild) के अनुसार सहयोग “वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एकाधिक व्यक्ति या समूह अपने प्रयत्नों को बहुत कुछ संगठित रूप में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त करते हैं।” सहयोग दो प्रकार का होता है :— प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। जब दो या अधिक व्यक्ति एक साथ एक ही प्रकार के या मिलते जुलते कार्य करते हैं तो उनके बीच में प्रत्यक्ष सहयोग (direct co-operation) होता है। जैसे एक साथ ताश खेलना, मिलकर खेत को जोतना आदि। इसके विपरीत जब एकाधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर अलग अलग प्रकार के कार्य करते हैं तो उसे अप्रत्यक्ष सहयोग (indirect co-operation) कहते हैं जैसे कि श्रम विभाजन पर आधारित सहयोग। सहयोग की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन में सहयोग का महत्व वास्तव में बहुत ज्यादा है। इसका कारण भी स्पष्ट है। सहयोग के आधार पर ही समाज के विभिन्न सदस्य या इकाइयाँ एक दूसरे के निकट आते हैं, घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और एकता एवं मित्रता पूर्ण भावनाओं को विकसित करते हैं। यह सभी बातें सामाजिक संगठन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होती हैं। वास्तव में समाज की विभिन्न इकाइयों में सहयोग के आधार पर स्थापित व्यवस्था या एकता को ही सामाजिक संगठन कहते हैं। प्रत्यक्ष सहयोग के माध्यम से समाज की विभिन्न इकाइयाँ व्यक्तिगत आधार पर एक दूसरे के निकट आती हैं और अप्रत्यक्ष सहयोग के माध्यम से सामूहिक आधार पर उन इकाइयों में आपसी सम्बन्ध स्थापित होता है। दोनों ही आधार सामाजिक संगठन के लिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि व्यक्तिगत आधार पर होने वाले सहयोग के द्वारा आन्तरिक तथा व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। उसी प्रकार सामूहिक आधार पर होने वाले सहयोग के द्वारा बृहत्तर समाज के



सामान्य उद्देश्यों की सन्तुष्टि सम्भव होती है।

(३) व्यवस्थान (Accommodation) — “व्यवस्थान शब्द का प्रयोग समाज-विरोधी या शत्रुतापूर्ण व्यक्तियों या समूह में होने वाले सामंजस्य या अनुकूलन के लिये करते हैं।”<sup>12</sup> विरोधिता या संघर्ष करते हुये दो समूह या व्यक्ति अक्सर अपने को एक ऐसी स्थिति में पाते हैं जब कि वह यह अनुभव करते हैं कि अब संघर्ष या विरोध न चलाकर दूसरे के साथ अनुकूलन या समझौता कर लेना ही अधिक हितकर होगा, चाहे इसका कारण यह हो कि वे संघर्ष या विरोध करते-करते थक गये हैं इसीलिये वे समझौता करने को तैयार हैं। व्यवस्थान में दोनों पक्ष एक दूसरे के साथ सामंजस्य स्थापित करने को इच्छुक होते हैं। ये सामंजस्य आधिपत्य या आधीनता स्वीकार करके या समझौता, सहनशीलता, अनुरंजन (conciliation), रूपान्तरण (conversion) आदि के द्वारा स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ युद्ध में विजेता समूह हारने वाले समूह पर सन्धि की शर्तें लागू करके युद्ध को बन्द कर सकता है। उसी प्रकार एक औद्योगिक झगड़े का अन्त मालिक तथा मजदूर में आपसी समझौते के द्वारा इस रूप में हो सकता है कि दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी ओर से दूसरे को कुछ छूट दें। यह भी हो सकता है कि शक्तिशाली समूह की कुछ बातों को दुर्बल समूह सहन कर ले और इस प्रकार की सहनशीलता के द्वारा उन दोनों में सामंजस्य स्थापित हो सके। कभी-कभी यह सामंजस्य रूपान्तरण के द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार के व्यवस्थान में व्यक्ति या समूह अपने विचार और धर्म को दूसरे समूह के अनुरूप परिवर्तित कर लेता है ताकि उसका अनुकूलन दूसरे समूह के साथ सरलता से हो सके। उदाहरणार्थ, मुसलमानी शासन के स्थापित हो जाने के बाद शासक वर्ग के दबाव से या उससे अनुकूलन करने की इच्छा से अनेक हिन्दुओं ने अपना धर्म परिवर्तित करके इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था। इन समस्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि व्यवस्थान वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा दो विरोधी समूह या व्यक्ति अपने विरोधों को समाप्त करके एक दूसरे के साथ अनुकूलन करने के लिये प्रयत्नशील होते हैं। विरोधी तत्वों का कम हो जाना या समाप्त हो जाना सामाजिक संगठन के लिए परमावश्यक है। इसीलिए सर्व श्री गिल्लिन और गिल्लिन (Gillin and Gillin) ने लिखा है कि “व्यवस्थान वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समूह सहगामी एकता के हित में अपनी विरोधी क्रियाओं का अनुकूलन कर लेते हैं।”<sup>13</sup> अतः हम कह सकते हैं कि व्यवस्थान एकीकरण (integration) या अनुकूलन की एक ऐसी प्रक्रिया है जो सामाजिक विरोधों, तनावों या संघर्षों को कम करता है और इसीलिए वह सामाजिक संगठन के लिये

12. Accommodation is a term used by the sociologist to describe the adjustment of hostile individuals or group "W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff. *A Hand Book of Sociology*, Rontledge and Vegen Paul, London, 1960, p. 109.

13. ".....accommodation is a process by which the individuals and groups adjust their antagonistic activities in the interest of associated unity." Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, The MacMillan Co., New York, 1950, p. 506.



आवश्यक है। सामाजिक संगठन समूहों तथा व्यक्तियों के उन प्रयत्नों पर बहुत कुछ निर्भर करता है जिसके द्वारा समूह या व्यक्ति आपस में अपने विरोधों को कम करके मिल-जुल कर रह सकें। यही कारण है कि व्यक्ति या समूह संघर्ष या विरोध के बीच भी अनुकूलन करने की बात सोचता है। सर्वश्री ऑर्गबर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) ने उचित ही लिखा है कि “व्यक्ति झगड़ता है, पर फिर सुलह करता है। मजदूर हड़ताल करते हैं, पर समझौते के लिये बातचीत भी करते हैं। युद्ध के बाद शांति भी आती है। वास्तव में मनुष्य का अधिकांश जीवन-शक्ति (energy) का प्रयोग, विरोधी समूहों से खुल्लमखुल्ला शत्रुता करने में नहीं बल्कि उनके साथ किसी प्रकार से मिलजुल कर रहने के प्रयत्नों में किया जाता है।”<sup>14</sup> व्यवस्थान के इन्हीं मानव प्रयत्नों में सामाजिक संगठन का रहस्य छिपा होता है।

(४) सात्मीकरण (Assimilation) — सर्व श्री पार्क तथा बर्जस (Park and Burgess) के मतानुसार सात्मीकरण आपस में घुलमिल जाने की वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्तियों या समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और मनोवृत्तियों को ग्रहण कर लेता है और उनके अनुभवों तथा इतिहास में भाग लेते हुए एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में मिल जाते हैं।<sup>15</sup> संक्षेप में सात्मीकरण से तात्पर्य संस्कृतीकरण (acculturation) की उस मात्रा से है जब कि एक सांस्कृतिक समूह, दूसरे सांस्कृतिक समूह के निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण, अपने मूल स्वरूप या प्रकृति को पूर्णतया खो बैठता है और दूसरे की संस्कृति में इस प्रकार घुलमिल जाता है कि उसका पृथक् या विशिष्ट अस्तित्व कुछ रह ही नहीं जाता। इसीलिये सर्वश्री विसेज तथा विसेंज ने लिखा है, “सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वे व्यक्ति या समूह समान हो जाते हैं जो पहले असमान थे अर्थात् अपने स्वार्थों, मूल्यों तथा लक्ष्यों में एक रूप या अभिन्न हो जाते हैं।”<sup>16</sup> यह एकरूपता या अभिन्नता सामाजिक संगठन का एक ठोस आधार बन जाता है।

(५) श्रम-विभाजन (Division of labour) — श्री दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन एक गतिशील प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक कार्यों का विभाजन समाज के सदस्यों, समूहों या संस्थाओं में बाँट दिया जाता है ताकि प्रत्येक इकाई अपने-अपने कार्यों को ठीक-ठीक करती रहे। श्री दुर्खीम ने यह भी लिखा है कि

14. “Individuals quarrel, then make it up. Workers strike but also negotiate for a settlement. War is followed by peace. Indeed it is probably that the greater part of human energy is devoted not to out and out antagonism against opponents but to efforts to get along some how with them.” Ogburn and Nimkoff, *Op. cit.*, p. 110.

15. “Assimilation is the process of interpenetration and fusion in which persons and group acquire the memories, sentiments and attitudes of other persons or groups and by sharing their experience and history are incorporated with them in a common cultural life.”—Park and Burgess.

16. “Assimilation is the process by which individuals and groups. Once dissimilar become similar, that is, become identified in their interest, values and goals.”



श्रम-विभाजन आधुनिक समाज में वह सूत्र या बन्धन है जिससे कि समाज की विभिन्न इकाइयाँ एक-सूत्र में बंध जाती हैं क्योंकि श्रम-विभाजन में विभाजन होने पर भी एकता या संगठन या सहयोग की आवश्यकता होती है। किसी प्रकार के श्रम-विभाजन में सहयोगिता का होना प्रथम आवश्यक शर्त है क्योंकि श्रम-विभाजन के अन्तर्गत समाज के प्रत्येक व्यक्ति या इकाई एक विशेष प्रकार का कार्य करते हैं जब कि उसे आवश्यकता होती है नाना प्रकार की सेवाओं और वस्तुओं की। यह आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति या इकाई को दूसरे व्यक्तियों या इकाइयों के साथ एक सूत्र में बाँध देती है और दूसरों के साथ सहयोग करने को बाध्य करती है, उदाहरणार्थ, श्रम-विभाजन और विशेषीकरण के कारण हो सकता है कि एक जूते बनाने वाला साइकिल बनाने का काम और एक साइकिल बनाने वाला जूते बनाने का काम न कर सके, परन्तु दोनों को ही एक दूसरे की सेवाओं की आवश्यकता है। फलतः वे दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर आधारित हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि आधुनिक समाज में श्रम-विभाजन के फलस्वरूप विभाजन और विशेषीकरण होते हुए भी विभिन्न सामाजिक इकाइयों और व्यक्तियों में अन्तःसम्बन्ध, अन्तःनिर्भरता और एकता है। श्रम-विभाजन ने आज एक ओर तो व्यक्तियों और समूहों को नाना प्रकार से विभाजित कर दिया है, पर दूसरी ओर उनकी आवश्यकताओं के आधार पर उसी श्रम-विभाजन ने उनको एक दूसरे पर अत्यधिक निर्भर और एक दूसरे से सम्बन्धित भी कर दिया है। श्री दुर्खीम ने इसी को सावयवी सामाजिक एकता या संगठन (organic social unity or solidarity) कहा है क्योंकि सावयव (organism) या शरीर की भाँति आधुनिक समाज में भी श्रम-विभाजन और विशेषीकरण होते हुये भी व्यक्ति और व्यक्ति में, व्यक्ति और समूह में, समूह और समूह में एक पारस्परिक सम्बन्ध, पारस्परिक निर्भरता एवं एकता है। ये सभी तत्व सामाजिक संगठन को विकसित करने में सहायक होते हैं।

(६) प्रतिस्पर्धा (Competition)—प्रतिस्पर्धा उस प्रक्रिया को कहते हैं जब कि एकाधिक व्यक्ति या समूह आपस में बिना संघर्ष किये किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं जो कि सबको समान रूप से प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये इस प्रक्रिया के द्वारा एक व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूह को पीछे रखकर उस वस्तु को स्वयं पहले प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। आधुनिक मुक्त समाज में प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया जीवन के प्रत्येक पक्ष पर क्रियाशील रहती है क्योंकि यहाँ एक व्यक्ति या समूह को अपने असंख्य उद्देश्यों या स्वार्थों की पूर्ति अन्य अनेक व्यक्तियों या समूहों के असंख्य उद्देश्यों या स्वार्थों की पृष्ठ-भूमि में ही करनी पड़ती है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति या समूह यह प्रयत्न करता है कि वह अन्य लोगों या समूह की तुलना में अपने स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति अपने लक्ष्यों की ओर अधिक तेजी से दौड़ कर करे। इस प्रकार का दौड़ लगाने वाले व्यक्ति या समूह अपने स्वार्थों की पूर्ति करने के लिये प्रायः दूसरों के स्वार्थों या हितों का ध्यान नहीं रखते हैं। इससे सामाजिक संगठन को कभी-कभी ठेस भी पहुँचती है।



(७) संघर्ष (Conflict)—सर्वश्री गिलिन तथा गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह अपने विरोधी के प्रति प्रत्यक्षतः हिंसात्मक तरीकों को अपनाकर या उसे हिंसात्मक तरीका अपनाने के विषय में धमकी देकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहता है।<sup>17</sup> यह संघर्ष, वैयक्तिक संघर्ष प्रजातीय (racial) संघर्ष, वर्ग संघर्ष या राजनीतिक संघर्ष का रूप धारण कर सकता है। आधुनिक समाज में वर्ग संघर्ष तथा राजनीतिक संघर्ष, जिसकी एक अभिव्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष या विश्वयुद्ध भी है, की प्रधानता होती है पर संघर्ष किसी भी प्रकार का क्यों न हो, वह सामाजिक संगठन के लिए खतरा उत्पन्न कर सकता है और करता भी है।

### सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक संगठन (Social Change and Social Organization.)

सामाजिक परिवर्तन की गति (Speed) भी सामाजिक संगठन के स्वरूप को प्रभावित करती है। सामाजिक परिवर्तन की गति यदि किसी समाज में तेज है तो उसका प्रभाव यह होगा कि उस समाज की सामाजिक संरचना भी तेजी से बदलती रहेगी। सामाजिक संरचना में स्थिरता न होने का तात्पर्य सामाजिक संगठन में भी कम स्थिरता होना है क्योंकि सामाजिक संरचना के अन्तर्गत समाज को विभिन्न इकाइयों की स्थिति तथा कार्य जब तेजी से परिवर्तित होता रहता है तब उसका प्रभाव सामाजिक संगठन पर भी आप से आप ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि इकाइयों की स्थिति तथा कार्य और सामाजिक संगठन में एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। चूँकि प्रत्येक समाज में सामाजिक परिवर्तन की गति व स्वरूप एक समान नहीं होता है, इस कारण प्रत्येक समाज के सामाजिक संगठन का स्वरूप भी एक-सा नहीं हुआ करता है। यही कारण है कि हमें विभिन्न स्तर के सामाजिक संगठन का दर्शन दुनिया में हो सकता है। इससे भी रोचक बात यह है कि आधुनिक 'एक' समाज में ही अगर हम देखें तो हम यही ही पायेंगे कि उस एक समाज के विभिन्न अंगों में होने वाले परिवर्तन की भी एकसी गति नहीं होती है। दूसरे शब्दों में, एक ही समाज के विभिन्न अंगों में परिवर्तन की गति अलग-अलग होती है। किन्हीं-किन्हीं अंगों में तो बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता रहता है और किन्हीं-किन्हीं में बहुत कम या धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। समाज के विभिन्न अंगों में परिवर्तन की यह अलग-अलग गति ही आधुनिक सामाजिक संगठन की जटिलता का मुख्य कारण है। इस सम्बन्ध में अगले एक अध्याय में हम विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

### सामाजिक नियंत्रण और सामाजिक संगठन (Social Control and Social Organization)

सामाजिक नियंत्रण और सामाजिक संगठन का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

17. Conflict is the social process in which individual or groups seek their ends by directly challenging the antagonist by violence or the threat of violence." Gillin and Gillin. *Op. cit.*, p. 625.



विस्तृत अर्थ में सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था (social order) का नियमन (regulation) है जिसका कि उद्देश्य सामाजिक संगठन को बनाये रखते हुए सामाजिक आदर्शों को प्राप्त करना है। सामाजिक नियंत्रण के कारण ही सामाजिक संगठन की स्थिरता बनी रहती है क्योंकि सामाजिक नियंत्रण के साधनों के द्वारा ही व्यक्ति तथा समूहों को एक निश्चित दायरे के अन्तर्गत रखकर उनको समाज द्वारा मान्य तरीकों से व्यवहार करने को कहा जाता है या उन पर दबाव डाला जाता है। इसी दृष्टिकोण से सामाजिक नियंत्रण को परिभाषित करते हुए श्री ब्रियरली (Brearly) ने लिखा है, “सामाजिक नियंत्रण उन आयोजित अथवा अनआयोजित प्रक्रियाओं तथा विधियों के लिए एक सामूहिक शब्द है जिसके द्वारा व्यक्तियों को यह सिखाया जाता है, आग्रह किया जाता है या बाध्य किया जाता है कि वे समूहों की उन रीतियों तथा जीवन-मूल्यों (life values) का पालन करें जिनके वे सदस्य हैं।”<sup>18</sup>

सामाजिक संगठन को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में कार्यशील विभिन्न समूहों तथा व्यक्तियों को इतनी छूट न दे दी जाये कि वे मनमाने ढंग से कार्य करते रहें। अगर ऐसा किया गया तो हर कोई अपने-अपने स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति करने में इस प्रकार जुट जायेगा कि प्रत्येक का एक दूसरे से संघर्ष होने लगेगा और सामाजिक संरचना शीघ्र ही चकनाचूर हो जायेगी। शायद इसीलिए कहा गया है कि बिल्कुल नियंत्रण विहीन स्वतन्त्रता का अर्थ है बर्बरता के स्तर पर पुनः लौट जाना। इसलिए उन्नत सामाजिक जीवन को बनाए रखने के लिए आवश्यक सामाजिक संगठन में सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता सदा ही अनुभव की जायेगी।

साथ ही, सामाजिक नियंत्रण के बिना सामाजिक एकता भी असम्भव है। सामाजिक नियंत्रण के कारण ही लोग कुछ सामान्य व स्वीकृत ढंग से व्यवहार करते हैं जिसके फलस्वरूप उनके व्यवहार में एकरूपता उत्पन्न हो जाती है। यह एकरूपता या समानता एकता को उत्पन्न करती है और यह एकता सामाजिक संगठन की जड़ों को मजबूत बनाती है। मनुष्यों तथा समूहों में प्राणीशास्त्रीय भिन्नताओं के कारण, साथ ही आदत, रुचि, मनोवृत्ति, प्रथा व परम्पराओं में भिन्नता के कारण और अन्य विश्वास, धर्म, आदर्श तथा दर्शनों में भिन्नताओं के कारण व्यक्ति और व्यक्ति में, व्यक्ति और समूह में तथा समूह और समूह में संघर्ष की सम्भावनाएँ सदा ही रहती हैं; विशेषकर आधुनिक गतिशील व व्यक्तिवादी आदर्शों व मूल्यों पर आधारित समाजों में तो प्रत्येक व्यक्ति व समूह अपने ही व्यक्तिगत स्वार्थों की अधिकतम सन्तुष्टि चाहता है। ऐसी अवस्था में यदि सामाजिक नियंत्रण न हो तो समाज की

18. “Social control is a collective term for those processes and agencies, planned and unplanned, by which individuals are tangent, persuaded or compelled to conform to the usages and life values of the groups to which they belong.”—Brearly.



सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जनता के स्वार्थों की रक्षा एक दिन भी सम्भव न हो सके। अगर समस्त सामाजिक नियंत्रण को हटाकर सब को मनमाने ढंग से व्यवहार या कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाए तो एक ही दिन में मानव समाज पशुओं का जंगल बन जाए। श्री लैंडिस (Landis) ने उचित ही कहा है, “मनुष्य मानव है नियंत्रण के कारण ही” (Man is human because of control) और मानव समाज में ही सामाजिक संगठन का दर्शन होता है।

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, सामाजिक नियंत्रण के साधनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(क) औपचारिक (formal) तथा (ख) अनौपचारिक (informal)। औपचारिक साधनों के अन्तर्गत कानून का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है। इसके विपरीत विश्वास, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, परम्पराएँ आदि अनौपचारिक विधियाँ हैं। सामाजिक नियंत्रण के इन विधियों के विषय में कुछ विवेचना कर लेना आवश्यक होगा।

(१) विश्वास (Beliefs):—सर्वश्री गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) का कथन है कि विश्वास अनेक प्रकार से मानव व्यवहार को नियंत्रित करता है। विश्वास मुख्यतः पाँच प्रकार के हो सकते हैं—(क) यह विश्वास कि समाज द्वारा स्वीकृत कर्त्तव्यों या कार्यों का पालन करना उचित है, उनकी अवहेलना करना नहीं; (ख) यह विश्वास कि जन्म और मृत्यु के भ्रंश से छुटकारा पाना या न पाना अपने-अपने कर्म पर निर्भर करता है; (ग) यह विश्वास कि अनुचित या बुरे काम का परिणाम सदैव ही बुरा होता है और उसका दण्ड व्यक्ति को अवश्य ही मिलता है; (घ) स्वर्ग और नरक में विश्वास; और (ङ) यह विश्वास की पूर्वजों की आत्मा अमर है और वे हम लोगों के समस्त कारनामों को देखते रहते हैं तथा हम लोगों के बुरे कार्यों पर उन्हें कष्ट होता है। ये सभी विश्वास इस प्रकार के हैं कि लोग अपने-अपने कार्यों और कर्त्तव्यों के प्रति सदा जागरूक रहते हैं और ऐसा रहने पर सामाजिक संगठन भी बना रहता है।

(२) प्रथाएँ (Customs):—प्रथाएँ सामाजिक नियंत्रण के प्रभावपूर्ण साधन हैं। प्रथाएँ व्यवहार के वे तरीके हैं जिसे कि समाज के अधिकतर सदस्य बहुत दिनों से मानते आ रहे हैं। इसी कारण प्रथा को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है अर्थात् जो लोग प्रथा को मानते हैं उनका दबाव अन्य व्यक्तियों पर पड़ता है और उन्हें एक विशेष तरह से व्यवहार करने को बाध्य करता है। कुछ प्रथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनको न मानने पर समाज उस व्यक्ति की कटु निन्दा व आलोचना करता है। उस लोक-निन्दा के भय से भी व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से व्यवहार करता है। इस सम्बन्ध में सर्वश्री ऑगबर्न और निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) ने उचित ही लिखा है कि जब कुछ रिवाज अनेक पीढ़ियों तक दोहराये जाते हैं तो व्यक्तियों पर इसका यह दबाव अधिकाधिक बढ़ जाता है कि वे अपने व्यवहारों को उन प्रथाओं के अनुरूप करें। प्रथाओं में नियंत्रणशक्ति एक अन्य कारण से भी होती है और वह यह कि व्यक्ति बचपन से ही प्रथाओं के बीच में पलता है, एकाएक



कोई प्रथा उस पर लादी नहीं जाती है। अन्तः व्यक्ति उन्हें स्वाभाविक समझकर बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लेता है। उन समाजों में जहाँ कि लोग अधिक संख्या में, अशिक्षित हैं, वहाँ प्रथा का प्रभाव और भी अधिक होता है। फिर भी सामान्य रूप से प्रथाओं के प्रभावों को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। श्री शेक्सपीयर ने इनको 'अन्यायी राजा' (a tyrant), श्री मॉन्टेन ने इन्हें 'प्रबल अध्यापिका' (violent school mistress) और श्री बेकन ने 'मानव जीवन का प्रमुख दण्डाधिकारी' (the principal magistrate of man's life) कहा है। ये सब सामाजिक संगठन में योगदान करते हैं।

(३) जनरीतियाँ तथा रूढ़िया (Folk ways and Mores) :— प्रथाओं की भाँति जनरीतियाँ व रूढ़ियाँ भी सामाजिक नियंत्रण और सामाजिक संगठन के प्रभावपूर्ण साधन व तत्व हैं। सर्व श्री रूटर तथा हार्ट (Reuter and Hart) के अनुसार, "जनरीतियाँ कार्य करने की ये आदत होती हैं जो समूह के सदस्यों में सामान्य होती हैं।" दूसरे शब्दों में जन-रीतियाँ वे रीतियाँ हैं जो एक समूह के सदस्य अपने दिन-प्रतिदिन की तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयोग में लाते हैं जैसे कि नमस्ते करना, गुरुजनों को प्रणाम करना, किसी के घर आवाज देकर घुसना, सड़क के बाईं तरफ चलना, मन्दिर के बाहर जूते उतारकर घुसना आदि। जब जन-रीति में समूह के कल्याण के विचार तथा सही और गलत के मापदण्ड जुड़ जाते हैं तो वे रूढ़िया बन जाती हैं। जनरीतियों और रूढ़ियों को जानबूझ कर बनाया नहीं जाता है बल्कि 'समान आवश्यकता का सामना करने की जरूरत होने पर प्रायः अनेक व्यक्तियों द्वारा एक साथ या कम से कम एक तरह से सामान्य कार्यों को बार-बार दोहराने से' जनरीति की उत्पत्ति होती है। इसलिए इसका चुनाव विचार पूर्वक न होकर, "सब करते हैं इसलिए हम भी करते हैं" ऐसे ही एक आधार पर अचेतनावस्था में आप से आप होता रहता है। यहीं कारण है कि जनरीतियाँ तथा रूढ़ियाँ अत्यधिक शक्तिशाली होती हैं और इनकी अवहेलना सरल नहीं होती। सच तो यह है कि मनुष्य अचेतनावस्था में इनके पंजे में फँस जाता है और मरते दम तक अपने को इससे मुक्त नहीं कर पाता।

रूढ़ियाँ तथा जन-रीतियाँ हमारे रोज के व्यवहारों के अधिकतर भाग को निर्धारित करती हैं और साथ ही सामाजिक अनुकूलन में हमारी मदद करती हैं। इसका कारण यह है कि रूढ़ियाँ या जनरीतियाँ समाज के लोकप्रिय विचारों, दृष्टि-कोण तथा आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब समाज के सदस्य इन रूढ़ियों तथा जनरीतियों पर व्यवहार करते हैं तो उनका व्यवहार बिल्कुल उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार के व्यवहार की समाज उनसे आशा करता है और जब उनके व्यवहार सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों के अनुरूप होता है तो समाज से या समाज के दूसरे लोगों से उनकी अनुकूलन की प्रक्रिया सरल हो जाती है। जब समाज के अधिकतर लोगों का अनुकूलन सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों से हो जाता है तो सामाजिक संगठन की बुनियाद दृढ़ हो जाती है।



जनरीति तथा रूढ़ियाँ सामाजिक जीवन में एकरूपता भी उत्पन्न करती हैं क्योंकि जब समाज के अधिकतर सदस्य उस समाज में प्रचलित जनरीतियों तथा रूढ़ियों के आधार पर व्यवहार करते हैं तो स्वभावतः ही उनके व्यवहार एक-से होते हैं। यह सामाजिक एकरूपता सामाजिक संगठन की एक आवश्यक शर्त होती है।

(४) धर्म (Religion) :—सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में धर्म के महत्व को सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। प्रत्येक धर्म का आधार शक्ति पर विश्वास है और यह शक्ति मानव शक्ति से अवश्य ही श्रेष्ठ है। उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति, प्रेम यहाँ तक कि भय की भावना भी होती है। उस शक्ति से लाभ उठाने तथा उसके कोप से बचने के लिए लोग धर्म से सम्बन्धित नियमों का सच्चाई से पालन करते हैं क्योंकि उनका विश्वास होता है कि अगर ऐसा नहीं किया गया तो उन्हें वह महाशक्ति सजा देगी। यह डर उनके व्यवहारों या कार्यों को नियन्त्रित करता है तथा समाज-विरोधी कार्य करने से उन्हें रोकता है। यह बात सामाजिक संगठन की स्थिरता के लिए अनुकूल होती है। इतना ही नहीं प्रत्येक धर्म के कुछ नैतिक नियम होते हैं और कुछ सामान्य विश्वास, भावनायें आदि इनके आधार पर एक धर्म को मानने वाले सभी व्यक्ति एक दूसरे से नैतिक आधार पर सम्बन्धित हो जाते हैं। श्री दुर्खीम का मत है कि धर्म की कोई भी परिभाषा धर्म की इस विशेषता के आधार पर होनी चाहिए, इसी कारण श्री दुर्खीम के अनुसार—“धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।”<sup>19</sup> धर्म की इस परिभाषा से ही यह स्पष्ट है कि धर्म का अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान सामाजिक संगठन को बनाये रखने में होता है विशेष कर उन परम्परागत समाजों में जहाँ पर धर्म का महत्व अत्यधिक होता है।

(५) सामाजिक संस्थायें (Social Institutions) :—समाज द्वारा स्वीकृत वे साधन जिनके द्वारा मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति होती हैं, संस्थायें हैं। सर्व श्री गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, “एक सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमानों का वह प्रकायात्मक समन्वय है (जिसके अन्तर्गत क्रियायें, विचार, मनोवृत्तियाँ और सांस्कृतिक उपकरण भी सम्मिलित होते हैं) जो बहुत कुछ स्थायी होता है और जिसका उद्देश्य अनुभव होने वाली सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है।”<sup>20</sup> संस्थायें किसी समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था की

19. “Religion is a unified system of beliefs and practices relative to sacred things—which unite into one single moral community all those who adhere to them.” Emile Durkheim, *Elementary Forms of the Religious Life*, Free Press, Glencoe, 1947, p. 47.

20. “A social institution is a functional configuration of culture patterns (including actions, ideas, attitudes and cultural equipment) which possesses a certain permanence and which is intended to satisfy felt social needs.” Gillin and Gillin, *Op. cit.*, p. 315.



एक इकाई के रूप में कार्य करती हैं और उनके पीछे समूह की अभिमति या स्वीकृति तथा पीढ़ी दर पीढ़ी की सामाजिक मान्यता होती है। इससे संस्थाओं को एक अजीब शक्ति प्राप्त हो जाती है जिसके आधार पर वे व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करती रहती हैं, जिससे सामाजिक संगठन टूटने नहीं पाता है। संस्थायें समाज के सदस्यों को कुछ निश्चित पद प्रदान करती हैं तथा उससे सम्बन्धित कार्यों को करने का निर्देश देती हैं। इससे भी सामाजिक संगठन में स्थिरता बनी रहती है। इतना ही नहीं संस्थायें सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की इकाई के रूप में कार्य करती हैं परन्तु ये संस्थायें प्रायः एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं जिससे कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में एक सामंजस्य उत्पन्न हो जाता है। यह सामंजस्य सामाजिक संगठन का ही द्योतक होता है। जब तक समाज की विभिन्न संस्थाओं के बीच पारस्परिक सद्भाव तथा सहयोग न होगा, तब तक सामाजिक व्यवस्था व संगठन स्थिर नहीं रह सकता।

सामाजिक संगठन में संस्था के महत्व को दर्शाने के लिए हम शिक्षा संस्था तथा परिवार को ले सकते हैं। शिक्षा संस्थायें विद्यार्थियों को उनके सामाजिक उत्तरदायित्व को समझाने में, तथा अनुशासन, आज्ञाकारिता, सहयोग, भावृभाव आदि सद्गुणों को विकसित करने में सहायक सिद्ध होती हैं। शिक्षा संस्थाओं के द्वारा ही मनुष्य का शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों का सम्पूर्ण विकास सम्भव होता है। अतः स्पष्ट है कि सेना या पुलिस की भाँति शिक्षा संस्था में भी वह शक्ति है जो सामाजिक जीवन को नियन्त्रित रखती है तथा सामाजिक संगठन को विकसित करती है, क्योंकि शिक्षा के द्वारा व्यक्ति सत्य और असत्य, उचित और अनुचित में भेद करना सीखता है, शिक्षा उसमें उच्चतर सद्गुणों को विकसित करती है, समाज द्वारा निर्धारित कार्यों और कर्तव्यों को निभाने की कला सिखाती है तथा जीवन निर्वाह का सही रास्ता दिखलाती है।

उसी प्रकार सामाजिक नियन्त्रण या संगठन में परिवार का महत्व वास्तव में अत्यधिक है। परिवार व्यक्ति के समाजीकरण का प्रधान साधन है। बच्चा परिवार में जन्म लेता है और परिवार उसे समाज के अनुरूप ढालता है, वह उसे समाज में प्रचलित आचार-विचार, रीति-नीति आदर्शों और विश्वासों से परिचित करवाता और समाज में माने जाने वाले नियमों का पालन करवाता है। यह सभी बातें सामाजिक संगठन को बनाये रखने में अपना-अपना योगदान करती हैं। परिवार को नागरिकता की शिक्षा की प्राथमिक पाठशाला कहा जाता है, अर्थात् परिवार ही बच्चे में वे गुण भर देता है जो कि उसे एक सफल नागरिक बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं और सफल नागरिकों का बहुमत होना सामाजिक संगठन के लिए परमावश्यक है।

(६) कानून (Law) :—सामाजिक नियन्त्रण तथा संगठन के औपचारिक (Formal) साधनों में कानून सर्व-प्रमुख है। सादे व सरल समाज में सामाजिक नियन्त्रण का काम प्रथा, परम्परा, विश्वास आदि के द्वारा ही सरलता से चल जाता है। परन्तु आधुनिक समाज आकार में बहुत बड़ा होता है, इनके स्वरूप भी जटिल



होते हैं तथा इनमें अनेक शक्तिशाली स्वार्थ-समूह (Interest groups) कार्य करते रहते हैं। इन पर प्रथा-रूढ़ि, जनरीति या धर्म के द्वारा नियन्त्रण करना कदापि सम्भव नहीं है। इन पर नियन्त्रण रखने के लिए कानून ही सबसे अच्छा साधन है। कानून बाह्य मानव व्यवहार को नियन्त्रित व नियमित करने के वे नियम हैं जिन्हें प्रतिपादित करने, लागू करने तथा उनका उल्लंघन करने वाले को दण्ड देने का उत्तरदायित्व एक प्रभुता सम्पन्न राजनैतिक शक्ति या सत्ता पर हो। कानून प्रभुता-सम्पन्न एक राज्य के द्वारा बनाया जाता है, इस कारण यह उस राज्य के क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों या समितियों पर बिना किसी अपवाद के समान रूप से लागू होता है, साथ ही इन कानूनों को लागू करने के लिए सरकार की ओर से व्यवस्था संगठन होता है और जो इन कानूनों को तोड़ते हैं उन्हें सजा देने की भी व्यवस्था व अदालत, जेल आदि के द्वारा की जाती है। इससे स्वभावतः ही लोग कानून से डरते हैं और कानून द्वारा निषिद्ध कार्यों को न करने का प्रयत्न करते हैं। इससे सामाजिक संगठन के लिए आवश्यक एक अनुकूल परिस्थिति का विकास होता है।

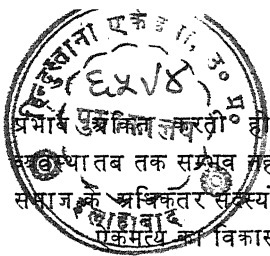
उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक नियन्त्रण और सामाजिक संगठन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक नियन्त्रण के साधन ही उन परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं जिनमें कि सामाजिक संगठन का विकास सम्भव होता है।

### एकमत्य तथा सामाजिक संगठन

(Consensus or Social Organization)

सामाजिक संगठन का एक और महत्वपूर्ण तत्व एकमत्य है। यहाँ एकमत्य का अर्थ यह है कि समाज के अधिकांश सदस्यों में मतों की अधिक भिन्नता नहीं है और वे सामाजिक जीवन के सामान्य विषयों को सामान्य दृष्टिकोण से देखते और विचारते हैं तथा सामान्य प्रयत्नों द्वारा उनका एक उचित हल ढूँढने का प्रयास करते हैं। किसी भी सामूहिक कार्य को करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों का पारस्परिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक है और सहयोग की भावना तभी पनप सकती है जब उनमें कुछ-न-कुछ विचारों की एकता या समानता हो। विचारों की यह एकता या समानता समाज के विभिन्न व्यक्तियों या अंगों को एक दूसरे के निकट लाती है। उनमें अपने पन और सहयोग की भावना को पनपाती है तथा कुछ ऐसे प्रयत्नों को करने के लिए प्रोत्साहित करती है जिनसे सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति तथा न्यूनतम संघर्ष सम्भव हो। जब समाज में समान विचारों तथा मतों की एक व्यवस्था स्थापित हो जाती है तो उसी को एकमत्य कहते हैं। कुछ-न-कुछ एकमत्य के बिना न तो कोई सामुदायिक कार्य सम्भव है और न ही समाज का अस्तित्व। शायद इसीलिए प्रायः सौ वर्ष पूर्व श्री डी० टॉकीविल (De Tocqueville) ने कहा था, “एक समाज का अस्तित्व तभी सम्भव है जब कि अधिकांश व्यक्ति अधिकतर वस्तुओं के विषय में एक ही दृष्टिकोण से विचार करते हों, जबकि वे बहुत से विषयों के विषय में एक मत रखते हों और जबकि एक ही प्रकार की घटनाएँ उनके मस्तिष्क पर समान विचार और





प्रभाव उत्पन्न करता है।<sup>21</sup> इसका तात्पर्य यही है कि सामाजिक संगठन व समाज तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि समाज से सम्बन्धित सामान्य विषयों पर समाज के अधिकतर सदस्यों का एक मत न हो।

ऐकमत्य का विकास सामाजिक अन्तःक्रिया के दौरान में होता है। सामाजिक अन्तःक्रिया के माध्यम से समाज के विभिन्न सदस्यों में विचारों व भावनाओं का आदान-प्रदान सम्भव होता है और उन आदान-प्रदानों के फलस्वरूप कुछ सामान्य विचार, भावनायें या मत धीरे-धीरे सामाजिक जीवन में जड़ पकड़ते रहते हैं और समाज के लोग उन सामान्य विचारों, भावनाओं या मतों को अपना मान लेते हैं। यही ऐकमत्य की स्थिति है। इस स्थिति में समाज के अधिकतर सदस्य अधिकतर समय सामाजिक समस्याओं या परिस्थितियों के प्रति समान प्रतिक्रिया करते हैं। ऐसा करने पर उनके व्यवहार में न केवल समानता बल्कि क्रमबद्धता पनप जाती है। इसी से सामाजिक संगठन को बल मिलता है।

ऐकमत्य वास्तव में सब मिलकर अनुभव करने की एक प्रक्रिया है। सब मिलकर अनुभव करने का तात्पर्य यही है कि समाज के सदस्यों की एक सामान्य जीवन-विधि (Way of life) है जो कि कुछ सामान्य लक्ष्यों को निर्धारित करती है और उन लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए कुछ सामान्य प्रयत्नों को विकसित करने पर बल देती है। जब ऐसा होता है तो सामाजिक संगठन स्पष्ट हो जाता है।

ऐकमत्य सामाजिक जीवन की आन्तरिक एकता का परिचायक है और यह बताता है कि एक समाज में आन्तरिक रूप में कितनी मात्रा में समरूप आदतें, मनोभाव तथा सामाजिक मनोवृत्तियाँ पायी जाती हैं। इनके बिना सामाजिक संरचना और संगठन दोनों ही खोखले प्रतीत होंगे। सर्व श्री पार्क तथा बर्जस (Park and Burgess) ने ऐकमत्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, “समाज संगठित आदतों, भावनाओं और सामाजिक मनोवृत्तियों, संक्षेप में ऐकमत्य, का एक संकुल (Complex) है।”<sup>22</sup>

सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill)<sup>23</sup> का कथन है कि ऐकमत्य उन परिस्थितियों की सामान्य परिभाषा की एक अभिव्यक्ति है जो कि समग्र रूप में समाज के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह ऐकमत्य सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित कुछ विषयों के सम्बन्ध में एक सामान्य सहमति (a general agreement) का रूप धारण कर सकता है जैसे समाज में धर्म की प्रकृति, कार्य तथा महत्व क्या

21. “A society can exist only When a great number of men consider a great number of things in the same point of view; when they hold the same opinions upon many subjects, and when the same occurrences suggest the same thoughts and impressions to their minds.” Alexis de Tocqueville, *Democracy in America*, New York, 1899, Vol. I, p. 398.

22. “Society is a complex of organized habits, sentiments, and social attitudes—in short, consensus.” Robert E. Park and E. W. Burgess, *Op. cit.*, p. 161.

23. Elliot and Merrill, *Op. cit.*, p. 17.



है, सदस्यों के प्रति परिवार का कर्त्तव्य और परिवार के प्रति सदस्यों का क्या कर्त्तव्य है, सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा, समाज में विभिन्न स्थितियों का वितरण किस ढंग से होगा, पिछड़े हुए समूहों के प्रति समाज का मनोभाव क्या होगा, विवाह बन्धन को किस रूप में देखा या समझा जायेगा, शिक्षा-व्यवस्था का क्या स्वरूप व लक्ष्य होगा, सरकार के कौन-कौन से कर्त्तव्य होंगे, राजकीय सत्ता किस समूह या राजनीतिक दल (political party) के हाथों में रहनी उचित होगी, व्यक्ति का व्यक्ति से, व्यक्ति का समूह से व समूह का समूह से किस प्रकार का सम्बन्ध होगा इत्यादि। इन विषयों पर सामान्य या समान दृष्टिकोण का होना या इन विषयों के सम्बन्ध में एक सामान्य सहमति का होना ही ऐकमत्य की अभिव्यक्ति है और वह ऐकमत्य सामाजिक संगठन की स्थिरता के लिये महत्वपूर्ण होता है।

आधुनिक भारतीय समाज में इस प्रकार के ऐकमत्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। धर्म के सम्बन्ध में भारतीय ऐकमत्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म या धार्मिक विधि को मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। जनता के दुर्बलतर अंग के उत्थान के लिए सरकार व जनता को सचेष्ट रहना है और अल्पसंख्यक समूह (minority group) के साथ किसी भी प्रकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं करना है। पाकिस्तान के बन जाने के बाद यह अल्पसंख्यक समूह मुसलमानों का है जिन्हें कि यहाँ के बहुसंख्यक हिन्दू जनता के समान समस्त अधिकार व स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसी प्रकार विवाह के सम्बन्ध में हिन्दुओं का ऐकमत्य यह है कि विवाह एक पवित्र धार्मिक बन्धन है और इसलिये मनमाने ढंग से इसे तोड़ना या जोड़ना नहीं चाहिये। पुरुष और स्त्रियों की स्थिति समान है, बालकों तथा तरुणों की शोषण तथा नैतिक और शारीरिक पतन से रक्षा की जाय—इन सम्बन्धों में भी आज इस देश में ऐकमत्य है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ऐकमत्य कोई स्थिर धारणा नहीं है। समय व सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ उनमें भी परिवर्तन होता रहता है। दो-एक भारतीय उदाहरणों के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। पहले इस देश में सामाजिक स्थितियों तथा कार्यों (statuses and roles) के विभाजन के सम्बन्ध में ऐकमत्य यह था कि इनका विभाजन जाति-प्रथा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार होना चाहिये; अस्पृश्य जातियों को छूना, देखना, उनको समाज में निम्नतम स्थान देना, उन्हें समस्त अधिकारों से वंचित करना ही उचित है; शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी प्राप्त करने के लिये आवश्यक योजना को हासिल करना है; अन्तर्विवाह अर्थात् अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना, बाल-विवाह करना, विधवा विवाह की बात तक न सोचना, विवाह-विच्छेद की चिन्ता कभी न करना, स्त्रियों को परिवार में निम्न स्थिति प्रदान करना और स्त्रियों व पुरुषों में विभेदों को बनाये रखना उचित है। परन्तु आधुनिक भारत में इन सभी विषयों से सम्बन्धित ऐकमत्य में आज तेजी से परिवर्तन हो रहा है। आज



ऐकमत्य अन्तर्जातीय विवाह, देर से विवाह, विधवा पुनर्विवाह, हरिजनों को समानाधिकार देने, विवाह-विच्छेद, स्त्रियों और पुरुषों में कोई विभेद न करने तथा सामाजिक स्थितियों तथा कार्यों को व्यक्तिगत गुणों या योग्यताओं के आधार पर बाँटने के पक्ष में स्पष्ट ऐकमत्य का विकास हो रहा है।

सामाजिक संगठन में ऐकमत्य का महत्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि ऐकमत्य सामान्य सामाजिक मूल्यों को निरन्तर शक्ति प्रदान करता रहता है और उनमें एकरूपता का विकास करता है। इससे सामाजिक संगठन को बल मिलता है। उदाहरणार्थ, विवाह को सामाजिक समझौता माना जाये या एक पवित्र बन्धन, इस प्रश्न को लेकर अगर विभिन्न मत या विचार या दृष्टिकोण समाज के सदस्यों का है तो विरोधी विचार, मत आदि का आपस में टकराना तथा तनावपूर्ण व अनिश्चित सामाजिक परिस्थितियों को जन्म देना स्वाभाविक होगा। ऐसी परिस्थिति में सामाजिक संगठन को खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसके विपरीत यदि अधिकतर सदस्य विवाह को एक पवित्र बन्धन या सामाजिक समझौता मानने के पक्ष में एकमत हैं तो विरोधी परिस्थितियों का उद्भव न होगा और सामाजिक संगठन का बना रहना सम्भव होगा। संक्षेप में जिस समाज में, 'सामाजिक परिस्थितियों की सर्वमान्य परिभाषायें (generally accepted definition of social situations) जितनी निश्चित होगी, उस समाज में सामाजिक संगठन का रूप भी उतना ही निश्चित होगा क्योंकि लोग उसी सर्वमान्य परिभाषाओं के अनुसार अपने-अपने निश्चित पदों व कार्यों को ग्रहण करेंगे और किसी का किसी के साथ संघर्ष होने की सम्भावनायें न्यूनतम होंगी।

आधुनिक गतिशील (dynamic) समाज में ऐकमत्य स्थापित करने में सन्देशवाहन या संचार के विभिन्न साधनों (various means of communication) का पर्याप्त योगदान रहता है। रेडियो, टेलीविजन, समाचार-पत्र, पत्रिकायें, सिनेमा आदि संचार के साधनों के माध्यम से एक विचार, मत या दृष्टिकोण एक से अनेक व्यक्तियों तक पहुँच जाते हैं चाहे ये लोग समाज के किसी कोने में क्यों न निवास कर रहे हों। इस फैलाव का परिणाम यह होता है कि कुछ समय के पश्चात् एक विषय के सम्बन्ध में समाज के लोगों में एक सामान्य मत का विकास हो जाता है जिसके फलस्वरूप उस विषय से सम्बन्धित सामाजिक परिस्थिति की भी एक सर्वमान्य परिभाषा सुस्पष्ट हो जाती है। यही सामाजिक संगठन की अभिव्यक्ति है।

### आधुनिक सामाजिक संगठन की मौलिक प्रवृत्ति

#### (Basic Trends in Modern Social Organization)

प्राचीन काल में जिस प्रकार का सामाजिक संगठन देखने को मिलता था आज उसके स्वरूप में अनेक प्रकार के परिवर्तन स्पष्ट हो गये हैं और हो रहे हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक समय में सामाजिक परिस्थितियों तथा सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में अनेक परिवर्तन हो गये हैं जिनका कि स्वाभाविक प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ा है। श्री दुर्खीम का कथन है कि



प्राचीन समाजों में यांत्रिक (mechanical) सामाजिक संगठन पाया जाता था, पर आधुनिक समाजों में उसका वह रूप बदल कर सावयवी (organic) सामाजिक संगठन हो गया है। पुराना सामाजिक संगठन रक्त-सम्बन्धों (kinship relations) या नातेदारी व्यवस्था पर आधारित होता था, उस समय सामाजिक जीवन बहुत ही सरल और सादा होता था और समाज के सदस्यों में मानसिक, नैतिक, आर्थिक व सामाजिक आवश्यकता आदि के आधार पर अत्यधिक समानता होती थी। साथ ही, उन पर जनमत, परम्परा, प्रथा, जनरीतियों व रूढ़ियों, धर्म आदि का दबाव रहता था। सामाजिक वर्ग-विभेद बहुत कम था, अन्धविश्वास तथा कुसंस्कार का प्रभाव था और विज्ञान व ज्ञान का अभाव। अतः लोग प्रथा, परम्परा, जनरीति, धर्म आदि के निर्देशानुसार आँख मूंद कर अपने-अपने निश्चित स्थितियों पर रहते हुए यन्त्रवत् कार्य करते रहते थे। इसी को दुर्खीम ने **यांत्रिक सामाजिक संगठन** कहा है परन्तु धीरे-धीरे इस यन्त्रवत् संगठन का स्वरूप बदलता गया। आधुनिक समाज में श्रम-विभाजन के आधार पर सामाजिक कार्यों का विभाजन हो गया है, नातेदारी व्यवस्था के आधार पर नहीं बल्कि व्यक्तिगत गुणों के आधार पर सामाजिक स्थितियों तथा कार्यों का विभाजन हुआ है। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप समाज असंख्य खण्डों तथा उपखण्डों में बँट गया है और इनमें सामाजिक कार्यों का विभाजन है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष काम करता है पर अपनी असंख्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे अनेक व्यक्तियों तथा समूह पर निर्भर रहना पड़ता है जिसके फलस्वरूप श्रम विभाजन और विशेषीकरण होते हुए भी आधुनिक समाज में विभिन्न भागों या अंगों में एक अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता होती है क्योंकि असंख्य सामाजिक आवश्यकताएँ प्रत्येक व्यक्ति या समूह को दूसरे व्यक्तियों या समूहों के साथ एक सूत्र में बाँध देती हैं। बिल्कुल यही चीज हमें सावयव (organism) या शरीर संगठन में देखने को मिलती है। शरीर में अलग-अलग अंग होते हैं और प्रत्येक अंग अलग-अलग काम भी करता है। इस प्रकार का श्रम-विभाजन व विशेषीकरण होते हुए भी शरीर के विभिन्न अंगों में एक अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता होती है, इसी आधार पर सावयव या शरीर का संगठन बना रहता है। चूँकि आधुनिक सामाजिक संगठन में सावयवी संगठन की ही विशेषताएँ देखने को मिलती हैं, इस कारण श्री दुर्खीम ने आधुनिक सामाजिक संगठन को **सावयवी सामाजिक संगठन** की संज्ञा दी है। आपके अनुसार आधुनिक सामाजिक संगठन की मौलिक प्रवृत्ति यन्त्रवत् संगठन का सावयवी संगठन में रूपान्तरण है। आधुनिक सामाजिक संगठन की प्रमुख विशेषता भिन्नताओं और विशेषीकरण के बीच एकता तथा सम्बद्धता है। आधुनिक सामाजिक संगठन की अन्य मौलिक प्रवृत्तियाँ या सुभाव निम्नलिखित हैं :—

(१) **नातेदारी का पतन (Decline of kinship)** :—पुराने समय में रक्त सम्बन्धियों को मिलाकर सामाजिक संगठन की नींव डाली जाती थी। इस नातेदारी का विस्तार गोत्र के रूप में भी देखने को मिलता था और यह गोत्र सामाजिक संगठन



की एक दृढ़ नींव होती थी। उसी प्रकार समाज में संयुक्त-परिवार प्रथा का प्रचलन था और अनेक नाते-रिश्तेदार एक सामान्य घर में रहते थे, एक सामान्य सम्पत्ति का उपभोग करते थे तथा सब मिलकर सामान्यरूप में सामाजिक तथा पारिवारिक कार्यों में हिस्सा लेते थे। परन्तु आधुनिक समाज में परिस्थिति बदल गई है। गोत्र की बात तो दूर रही परिवार का भी महत्व अब घट गया है। संयुक्त-परिवार प्रथा का विघटन हो रहा है और नाते रिश्तेदारों से दूर रहने की प्रवृत्ति पनप रही है।

(२) व्यक्तित्ववाद का विकास (Rise of Individualism) :—आधुनिक सामाजिक संगठन की एक और प्रवृत्ति व्यक्तिवाद का विकास है। आधुनिक समाज में परिवार तथा जन्म का महत्व घट गया है और इनके आधार पर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति तथा कार्यों का निर्धारण नहीं हो रहा है। व्यक्तिगत कुशलता, योग्यता, विद्या आदि का महत्व आज बढ़ रहा है। इसी से व्यक्तिवाद का विकास भी तेजी से हो रहा है।

(३) सामाजिक विभेद (Social differentiation) :—आधुनिक सामाजिक संगठन की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि समाज में हमें असंख्य खण्ड तथा उप-खण्ड देखने को मिलते हैं। यदि शिक्षा संस्था भी है तो हो सकता है कि उसके संगठन का आधार जाति, प्रजाति, धर्म आदि हो। यदि कपड़े की दुकान भी है तो कोई गरम कपड़े की दुकान है, कोई सिल्कन तो कोई सूती। इसी प्रकार प्रत्येक विषय में समाज असंख्य भागों में विभाजित है और इनमें नाना आधार पर ऊँच-नीच का संस्तरण है। आधुनिक समाज में सामाजिक संगठन का जो जटिल स्वरूप आज हमें देखने को मिलता है उसका एक प्रमुख कारण यह सामाजिक विभेद है। यह विभेद संस्थाओं में, समूहों में, तथा व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होता है।

(४) श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण (Division of labour and specialization) :—आधुनिक समाज बड़े समाज होते हैं। उनमें जनसंख्या अधिक होती है और आवश्यकताएँ भी। इन आवश्यकताओं में भी अनेक भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। इन विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर सामाजिक कार्य या उत्पादनकार्य करना पड़ता है। बड़े पैमाने पर काम होने के कारण श्रम-विभाजन का होना आवश्यक हो जाता है और श्रम विभाजन के अन्तर्गत जब एक व्यक्ति या समूह एक विशेष प्रकार का ही कार्य निरन्तर करता रहता है तो कार्यों का विशेषीकरण हो जाता है। आधुनिक समाज श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण के आधार पर विभाजित होते हुए भी आवश्यकताओं के आधार पर संयुक्त और संगठित होता है।

(५) प्रथा, परम्परा आदि का कम महत्व (Lesser importance of customs, traditions, etc.) :—आधुनिक सामाजिक संगठन की एक और विशेषता यह है कि इसमें प्रथा, परम्परा, धर्म आदि का महत्व पहले से आज बहुत कम है। सरल तथा छोटे समाजों में, जहाँ ज्ञान-विज्ञान का अधिक विस्तार न हुआ हो और जहाँ कम सामाजिक विभेद स्वार्थ तथा आवश्यकताएँ हो, प्रथा, परम्परा धर्म आदि सामाजिक संगठन को बनाये रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं।



परन्तु आधुनिक समाजों में जिनकी कि प्रकृति बहुत जटिल होती है, जिनमें परिवर्तन की गति बहुत तेज है, जिनमें शक्तिशाली अनेक स्वार्थ समूह क्रियाशील हैं तथा जहाँ विभिन्न देश, धर्म व संस्कृति से सम्बन्धित लोगों का निवास है, प्रथा-परम्परा, धर्म आदि अधिक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकते हैं। इसीलिए आधुनिक सामाजिक संगठन में इनका महत्व घट रहा है। प्रथा और परम्पराओं की बेड़ियों को तोड़ा जा रहा है तथा धर्म निरपेक्षता (Secularism) को बढ़ावा मिल रहा है।

(६) कानून का महत्व (Importance of law) :—आधुनिक सामाजिक संगठन को बनाये रखने में कानून का बहुत बड़ा योगदान है। कानून को बनाने, लागू करने तथा उसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने का उत्तरदायित्व प्रभुता-सम्पन्न सरकार पर होता है और वह बिना किसी अपवाद के सभी पर समान रूप से लागू होता है। इस कारण उनके पंजे से छुटकारा पाना सामान्यतया सम्भव नहीं होता। यही कारण है कि लोग कानून से डरते हैं। आधुनिक समाज में मनुष्य जीवन के प्रायः सभी पक्षों से सम्बन्धित कानून देखने को मिलता है जो कि विभिन्न स्वार्थ-समूह तथा व्यक्तियों के व्यवहारों को निरन्तर नियंत्रित करके सामाजिक संगठन को स्थिरता तथा निश्चितता प्रदान करता है।

### निष्कर्ष

### (Conclusion)

किसी भी सामाजिक जीवन में सामाजिक संगठन का अत्यधिक महत्व होता है। इसका महत्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी विघटित अवस्था स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए घातक है। समाज में, विशेष कर आधुनिक समाज में रोज ही अनेक नवीन परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। यदि समाज में संगठन की स्थिति है तो समाज के विभिन्न सदस्य समूह या सस्था आपस में मिलजुल कर उन परिवर्तित परिस्थितियों का सामना कर सकती हैं और समस्याओं को भी सरलता से सुलझा सकती हैं। ऐसा होने पर सामाजिक जीवन में संघर्ष तथा तनाव की स्थिति कम हो जायेगी और पारिवारिक या व्यक्तिगत जीवन सुखी और समृद्धिदायी होगा—जनता का जीवन प्रगति की ज्योति से जगमगा उठेगा। इस प्रकार सामाजिक संगठन मानवता को जनजाति की जयमाला से ज्योतिर्मय करेगा।



## सामाजिक विघटन (Social Disorganization)

सुन्दर पुस्तकों की एक अति सुन्दर अलमारी है; अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित पुस्तकें एक-एक खाने में सुसज्जित हैं। किसी समय भी किसी पुस्तक की जरूरत होने पर अलमारी को खोलते ही पुस्तक पर हाथ रखी जा सकता है क्योंकि उस अलमारी में उस पुस्तक की एक पूर्व-निश्चित स्थिति या स्थान है और उस स्थान के विषय में हमें पहले से ज्ञान है; इसलिए उस स्थान की हमें पहचान है और उसी पहचान के आधार पर पुस्तक का वहाँ रहना ही स्वाभाविक है। यही बात उस अलमारी में रक्खी सभी पुस्तकों के विषय में सही है, इसीलिए वे सब मिलकर अलमारी की शोभा दूनी कर रही हैं—मन को भाता है और मस्तिष्क को भी। पुस्तकों की यह स्थिति ही संगठन की है। पर लापरवाह बालक ने इस संगठन को बिगाड़ दिया है—अर्थशास्त्र की पुस्तकें राजनीतिशास्त्र की पुस्तकों के ढेर में दब गई हैं और आचार शास्त्र की पुस्तकें समाजशास्त्र की पुस्तकों के बीच से अनाचार की स्थिति में है। अलमारी ठीक से बन्द नहीं की गई कानून की कुछ पुस्तकों के पन्ने चूहों ने अपनी चाहत के अनुसार चौखण्ड कर दिये हैं किसी पुस्तक की जरूरत पड़ने पर कमरे की बत्ती को दूना करना पड़ता है और घर के सब लोग जुटकर भी घण्टों के बाद भी उस पुस्तक का पता नहीं लगा पाते हैं और उसी भिन्न में पुस्तकें और भी उलट-पलट जाती हैं, दो एक को जमीन पर जोर से पटका जाता है और बाकी को फिर मनमाने ढंग से अलमारी में ठूस दिया जाता है। इससे कभी-कभी अलमारी फिर बन्द भी नहीं होती है। संक्षेप में सब कुछ बिखरा हुआ होता है, कुछ भी निश्चित नहीं होता और अनिश्चितता के बीच एक अजीब विश्रृंखला की स्थिति होती है। यही विघटन है। स्वस्थ रूप के अभाव को ही विघटन कहते हैं। विघटन संगठन का विपरीत रूप है।

**विघटन क्या है ?**

(What is Disorganization)

संगठन का न होना विघटन है। विघटन वह स्थिति है जिसमें कि अनिश्चितता का तत्व अधिक होता है इसीलिए विघटन एक असन्तुलित अवस्था है। उदाहरणार्थ आप यह आशा करते हैं कि इस पुस्तक में सभी पन्ने सिलसिले से लगे होंगे, प्रथम अध्याय के बाद ही दूसरा अध्याय आयेगा और दूसरे के बाद क्रमशः तीसरा, चौथा आदि। यही स्वाभाविक है और यही इस पुस्तक की सन्तुलित अवस्था है और यदि ऐसा है तभी आप इस पुस्तक से पुस्तक का लाभ उठा सकते हैं परन्तु



यदि प्रथम पृष्ठ के बाद बारहवाँ पृष्ठ और पाँचवें अध्याय के बाद प्रथम अध्याय आता है तो उस पुस्तक में न तो कोई व्यवस्था होगी और ना ही कोई सन्तुलन। प्रथम दो पन्ना पढ़ने के बाद आपको अगला दस पन्ना पलट कर पढ़ना पड़ेगा और प्रथम अध्याय को खोजने के लिए पंचम अध्याय को पार करना पड़ेगा। यही स्थिति विघटन की स्थिति है और उस स्थिति में किताब की उपयोगिता आपके लिए घट जायेगी या किताब से किताब का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं होगा। जब किसी व्यवस्था के अन्तर्गत उसकी विभिन्न इकाइयाँ या भाग अपने-अपने स्थान पर नहीं रहते हैं और ना ही अपने-अपने कार्य को करते हैं और उस रूप में एक गड़बड़ी या असन्तुलित अवस्था को उत्पन्न करते हैं तो उसे विघटन कहते हैं। उदाहरण के लिए एक साइकिल को लीजिये। साइकिल अनेक पुर्जों से मिलकर बनती है जैसे चैन, फ्री-ह्वील, पहिया, टायर, द्यूब, हैन्डिल, गद्दी, फ्रेम आदि। इनमें से प्रत्येक पुर्जे का साइकिल में एक स्थान है और एक निश्चित कार्य भी। यदि हैन्डिल की जगह गद्दी, टायर द्यूब की जगह चैन और गद्दी की जगह फ्री-ह्वील आ जाये तो कोई भी पुर्जा अपना पूर्व निश्चित कार्य नहीं करेगा जिसके फल स्वरूप सम्पूर्ण साइकिल की क्रियाशीलता भी रुक जायेगी और एक अजीब वेढंगी व असन्तुलित अवस्था का उद्भव होगा, यही विघटन है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विघटन वह स्थिति है जिसमें कि एक व्यवस्था की विभिन्न इकाइयाँ आपस में एक प्रकायत्मक सम्बन्ध (Functional relation) को बनाये रखने में असफल होती हैं और एक पारस्परिक तनावपूर्ण स्थिति में इस तरह से क्रियाशील होती हैं कि उस असन्तुलित परिस्थिति में स्थापित उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव नहीं होती।

**सामाजिक विघटन क्या है ?**

(What is Social Disorganization ?)

सामाजिक विघटन बहुत-कुछ सामाजिक संगठन की विपरीत दशा है। यह एक ऐसी स्थिति है जब कि व्यक्ति तथा संस्थाएँ अपने-अपने पूर्व-निर्धारित पदों और कार्यों को छोड़कर मनमाने ढंग से काम करने लगती हैं, जब कि अधिकांश सदस्यों में ऐकमत्य (Consensus) का नितान्त अभाव होता है और जब कि सामाजिक नियंत्रण शिथिल हो जाने के कारण सामाजिक संरचना का व्यवस्थित रूप बिगड़ जाता है। इस प्रकार सामाजिक विघटन सामाजिक संगठन की वह अस्वस्थ और असन्तुलित दशा है जब कि सामूहिक जीवन नष्ट हो जाता है तथा व्यक्तियों और समूहों के पारस्परिक सम्बन्ध अस्थिर व विकृत हो जाते हैं।

सामाजिक विघटन की स्थिति को एक सरल उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। अपने कॉलेज को ही लीजिए। कॉलेज एक संगठन है। इस संगठन के अन्तर्गत प्रिन्सिपल, प्रोफेसर, क्लर्क, एकाउण्टेण्ट, चपरासी, विद्यार्थी सब आ जाते हैं। कॉलेज के सदस्य के रूप में इनमें से प्रत्येक का एक निश्चित पद या स्थिति (status) है। अर्थात् कॉलेज की संरचना में किसी का पद प्रिन्सिपल का है, कोई प्रोफेसर है, कोई



क्लर्क है, और कोई चपरासी या विद्यार्थी है। प्रत्येक 'पद' से सम्बन्धित कुछ पूर्व निश्चित 'कार्य' (role) है। अर्थात् परम्परा, नियम, कानून आदि के द्वारा यह पहले से ही निश्चित है कि प्रिन्सिपल क्या कार्य करेंगे, प्रोफेसर का क्या काम है और क्लर्क, चपरासी या विद्यार्थियों से किन-किन कार्यों की आशा की जाती है। अधिकतर सदस्य अपने-अपने पूर्व-निश्चित कार्यों को करते भी हैं; जैसे, प्रिन्सिपल कॉलेज के प्रशासन-सम्बन्धी कार्यों को करते हैं, प्रोफेसर अपने-अपने क्लास में जाकर लेक्चर देते हैं, क्लर्क दफ्तर का काम करते हैं, विद्यार्थी निश्चित घण्टे में निश्चित क्लास में जाकर अध्ययन कार्य करते हैं। इन सभी को एक निश्चित समय पर कॉलेज में आना पड़ता है और कालेज से जाने का भी एक निश्चित समय होता है। उसी प्रकार अन्य अनेक कानून-कायदे प्रत्येक के लिए होते हैं जो कि प्रत्येक को मानने पड़ते हैं। ऐसा न करने पर प्रिन्सिपल या अन्य उपयुक्त अधिकारी उन्हें आवश्यक दण्ड देता है। इस प्रकार कॉलेज का प्रत्येक कार्य उचित ढंग से होता है और वह अपने लक्ष की ओर निरन्तर बढ़ता जाता है। ऐसा केवल इसलिए नहीं होता है कि प्रत्येक सदस्य अपने-अपने स्थान पर रह कर अपने-अपने पूर्व-निर्धारित कार्यों को कर रहे हैं और उनके व्यवहारों को प्रथा, परम्परा, नियम, कानून आदि नियंत्रित कर रहे हैं। कॉलेज के संगठन को बनाये रखने के लिए ये दो बातें तो आवश्यक हैं ही, इसके अलावा भी एक और बात है और वह यह कि कॉलेज से सम्बन्धित विषयों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में कॉलेज के अधिकांश सदस्यों में मतों की भिन्नता नहीं है, वे उनको समान दृष्टिकोण से देखते और विचारते हैं तथा सामान्य प्रयत्नों द्वारा स्थापित लक्ष्यों तक पहुँचने व समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते हैं। यह सम्पूर्ण परिस्थिति या अवस्था ही वास्तव में कालेज के संगठन का द्योतक है। परन्तु स्मरण रहे कि कॉलेज के सभी सदस्य अपनी-अपनी स्थिति तथा कार्य को पूर्णतया स्वीकार नहीं कर लेते हैं, न ही कॉलेज के नियम-कानून उन पर पूर्ण नियंत्रण कर पाते हैं और न ही ये सदस्य कॉलेज से सम्बन्धित सभी विषयों पर अन्य लोगों से एक-मत होते हैं। कुछ-न-कुछ गड़बड़ी या असंतुलन तो प्रत्येक संगठन का एक स्वाभाविक अंग है; उसे टाला नहीं जा सकता और न ही शत प्रतिशत संगठन की किसी भी वास्तविक अवस्था में आशा की जा सकती है। इसीलिये कुछ सदस्य अवज्ञाकारी या कर्त्तव्यहीन हो सकते हैं, जैसे कुछ विद्यार्थी न तो ठीक समय पर कॉलेज आते हैं, न ही ठीक से पढ़ते-लिखते हैं। परन्तु जब तक अधिकांश सदस्य अपने-अपने पद के अनुसार कार्य करते रहते हैं, जब तक उनमें ऐकमत्य बना रहता है और जब तक सामाजिक नियंत्रण के स्वीकृत साधन पूर्णतया प्रभावहीन नहीं हो जाते हैं, तब तक संगठन की स्थिति ही बनी रहती है। परन्तु इसके विपरीत यह स्थिति भी हो सकती है कि अधिकांश सदस्य प्रिन्सिपल के आदेशों को न मानें, कॉलेज के सामान्य नियमों का पालन न करें, प्रोफेसरों को क्लास में जाने से रोक दें, या विद्यार्थी अथवा प्रोफेसर क्लास में ही न जाएँ अर्थात् न तो अपने-अपने पूर्व-निश्चित कार्यों को करें, न ही स्वीकृत नियमों का पालन करें और न ही कॉलेज से सम्बन्धित विषयों में उनमें ऐकमत्य हो। इस प्रकार की स्थिति की



अनुमति कॉलेज के नियमों, परम्परा आदि के आधार पर नहीं दी जा सकती है, परन्तु परिस्थिति कुछ ऐसी है कि कॉलेज के नियमों को लागू करके आवश्यक नियंत्रण तथा व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती है। ऐसी स्थिति में प्रिन्सिपल, प्रोफेसर, क्लर्क, विद्यार्थी आदि के पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाते हैं और कॉलेज के वातावरण में अनिश्चितता व अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसे ही विघटन की स्थिति कहते हैं। कॉलेज जैसी परिस्थिति यदि सामाजिक संरचना के अन्तर्गत उत्पन्न हो जाती है तो उसी को सामाजिक विघटन कहेंगे।

### सामाजिक विघटन की परिभाषा

(Definition of Social Disorganization)

सर्व श्री इलियट और मेरिल (Elliott and Merrill) ने सामाजिक विघटन की परिभाषा इस प्रकार की है, “सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समूह के सदस्यों के बीच स्थापित सम्बन्ध टूट जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं।”<sup>1</sup> इन विद्वानों का कथन है कि “सामाजिक विघटन उस समय उत्पन्न होता है जब संतुलन स्थापित करने वाली शक्तियों में परिवर्तन होता है और सामाजिक संरचना इस प्रकार टूट जाती है कि पहले के प्रतिमान अब लागू नहीं हो पाते और सामाजिक नियंत्रण के स्वीकृत स्वरूप प्रभावपूर्वक कार्य नहीं करते।”<sup>2</sup>

श्री पी० एच० लैण्डिस (P. H. Landis) के शब्दों में, “सामाजिक विघटन मुख्यतः सामाजिक नियंत्रण के भंग होने को कहते हैं जिससे अव्यवस्था और गड़बड़ी उत्पन्न होती है।”<sup>3</sup>

श्री फैरिस (Faris) के मतानुसार, ‘सामाजिक विघटन मनुष्यों के बीच प्रकायार्थिक सम्बन्धों के उस सीमा तक टूट जाने को कहते हैं जिसके कारण समूह के स्वीकृत कार्यों के करने में बाधा पड़ती है।’<sup>4</sup> आपने आगे यह भी लिखा है कि एक समाज उस समय विघटन अनुभव करता है जब कि उसके विभिन्न भाग अपनी समन्वयता (integration) खो देते हैं और अपने उपलक्षित उद्देश्यों के अनुसार कार्य

1. “Social disorganization is a process by which the relationship between members of a group are broken or dissolved.” Elliott and Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros., New York, 1950, p. 20.

2. “Social disorganization occurs when there is a change in the equilibrium of forces, a breakdown of the social structure, so that former patterns no longer apply and the accepted forms of social control no longer function effectively.” Elliott and Merrill, *Ibid.*, p. 20.

3. “Social disorganization consists essentially of a breakdown of social control so that disorder and confusion prevail.” P. H. Landis, *An Introduction to Sociology*, p. 612.

4. “Social disorganization is the disruption of the functional relations among persons to a degree that interferes with the performance of the accepted tasks of the group. Robert E. L. Faris, *Social Disorganization*, The Ronald Press Co., New York, 1948, p. 19.



नहीं कर पाते हैं।”<sup>5</sup>

श्री निऊमेयर (Neumeyer) ने लिखा है कि “जब समूह का ऐकमत्य और उद्देश्य की एकता भंग हो जाती है, जब संरचना का संतुलन बिगड़ जाता है, और जब समाज का क्रियाशील सम्बन्ध व्यवस्थित स्थिति से बाहर चला जाता है, तो इन अवस्थाओं को विघटन के क्षण मान लेना ही उचित होगा।”<sup>6</sup>

### उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या

(Explanation of the above definitions)

(१) सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने सामाजिक विघटन को सामाजिक सम्बन्धों के सदस्यों में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। ‘समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है’—इस दृष्टिकोण से सामाजिक संरचना की एक अमूर्त (abstract) अभिव्यक्ति सामाजिक सम्बन्ध है। ये सम्बन्ध समाज के सदस्यों के बीच पाये जाते हैं। इन सम्बन्धों में अनेक सम्बन्ध ऐसे होते हैं जिनकी स्वीकृति समाज एक विशेष ढंग से देती है अर्थात् उन सम्बन्धों का स्वरूप समाज द्वारा मान्य होता है। उदाहरणार्थ, विवाह सम्बन्ध को ही लीजिये। विवाह सम्बन्ध मनमाने ढंग से स्थापित नहीं किया जा सकता है। समाज द्वारा मान्य तरीके से ही विवाह सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। ये सब स्थापित सम्बन्ध सामान्य सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये होते हैं और सामाजिक जीवन तथा सामाजिक संरचना में इनका अत्यधिक महत्व होता है। इसी कारण यदि एक समूह के सदस्यों के बीच स्थापित ये सम्बन्ध टूट जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं तो उस स्थिति को सामाजिक विघटन कहेंगे। इस प्रकार यदि समाज में विवाह सम्बन्धों को लोग विवाह-विच्छेद द्वारा अत्यधिक ताड़ रहे हैं, तो वह सामाजिक विघटन का ही द्योतक होगा क्योंकि विवाह-विच्छेद के द्वारा परिवार नामक समूह के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है, उसी प्रकार समूह भी उसके सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों का गुच्छा (cluster) है और यह गुच्छा जब टूट जाता है या बिखर जाता है तो वह सामाजिक विघटन की स्थिति होती है। इस प्रकार की स्थिति में फँसा हुआ समूह परिवार हो सकता है, पड़ोस हो सकता है, गाँव, शहर या सम्पूर्ण राष्ट्र भी हो सकता है। पर कुछ भी हो, समाज के सदस्यों के जीवन में जिन समूहों का अत्यधिक महत्व

5. “A society experience disorganization when the parts of it lose their integration and fail to function according to their implicit purposes.” Robert E. L. Faris, *Ibid*, p. 49.

6. “When there is a breakdown of the consensus and unity of purpose of the group, the equilibrium of structure is upset and the working relationships of society are thrown out of balance, it is appropriate to consider these conditions as evidences of social disorganization.” Martin H. Neumeyer, *Social Problems and the Changing Society*, D. Van Nostrand Co., New York, 1953, p. 16.



है उनमें से अधिकांश समूहों में यदि उनके सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों का तानाबाना टूट जाता है तो वह स्थिति सामाजिक विघटन की होगी। इसका कारण भी स्पष्ट है। एक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले आपसी सम्बन्ध संयुक्त रूप में एक प्रतिमान (pattern) को जन्म देते हैं जिसे कि समूह-प्रतिमान (group pattern) कहते हैं। ये समूह प्रतिमान केवल समूह की विशेषताओं को ही अभिव्यक्त नहीं करते हैं, बल्कि व्यक्ति के जीवन के प्रमुख उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिये सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है कि "समूह प्रतिमान व्यक्ति के जीवन में बहुत ही वास्तविक (real) होते हैं, यद्यपि उन्हें अप्रत्यक्षता (directly) नापा नहीं जा सकता। जब ये प्रतिमान (patterns) क्षुब्ध (disturbed) होते हैं या टूट जाते हैं, तो सामाजिक विघटन विद्यमान होता है।"

उपरोक्त विद्वानों के अनुसार समाज में कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं जिनकी क्रियाशीलता के कारण समाज में एक संतुलन की स्थिति बनी रहती है। परन्तु जब संतुलन स्थापित करने वाली इन शक्तियों में परिवर्तन होता है तो समाज-व्यवस्था का असंतुलित हो जाना स्वाभाविक ही है। उस स्थिति में सामाजिक संरचना का व्यवस्थित रूप समाप्त हो जाता है और कुछ नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन नयी परिस्थितियों को समाज द्वारा स्वीकृत सामाजिक नियंत्रण के साधन अपने नियंत्रण में रखने में असफल होते हैं। फलतः एक अजीब विभ्रंशला फैल जाती है। यही सामाजिक विघटन की स्थिति है।

(२) श्री लैंडिस (Landis) ने सामाजिक विघटन को सामाजिक नियंत्रण के सन्दर्भ में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। सामाजिक नियंत्रण वह साधन है जिसके द्वारा समाज के स्थापित नियमों (established rules) तथा व्यवस्था (order) को बनाये रखा जाता है। समाज की अखण्ड व्यवस्था नहीं है; इसके अन्तर्गत अनेक विभाजन व समूह, कितनी ही समितियाँ और संस्थाएँ—राज्य, परिवार, मिल, कारखाना, स्कूल-कॉलेज, मन्दिर, श्रमिक संघ और ऐसी असंख्य चीजें सम्मिलित हैं। इन विभिन्न विचारधाराओं, मनोवृत्तियों, हितों, उद्देश्यों या स्वार्थों वाले समूह व व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधना और सामाजिक संगठन को बनाए रखना ही सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख उद्देश्य व सार्थकता है। समाज के विभिन्न भागों को एक साथ और एक सूत्र में बाँध देना ही सामाजिक नियंत्रण के साधनों का मुख्य कार्य है। दूसरे शब्दों में, जब तक सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधन प्रभावपूर्ण ढंग से काम करते रहते हैं तब तक समाज के अलग-अलग अंग अलग-अलग न रहकर एक साथ मिल-जुलकर काम करते रहते हैं और किसी का कोई विशेष संघर्ष किसी अन्य के साथ होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। परन्तु जब

7. "Group patterns are very real in the life of the individual, even though they cannot be directly measured. When these patterns are disturbed or broken social disorganization exists." Elliott and Merrill, *Op. cit.*, p. 20.



सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधन प्रभावपूर्ण ढंग से काम नहीं कर पाते हैं, तो उसका तात्पर्य यह होता है कि समाज के विभिन्न अंग उन साधनों द्वारा नियंत्रित नहीं हो रहे हैं या उन साधनों की अवहेलना की जा रही है। सामाजिक नियंत्रण के भंग होने का अर्थ ही यह है कि समाज के अधिकांश अंग मनमाने ढंग से काम कर रहे हैं और मिलजुल कर काम करने की भावना समाप्त हो गई है। सामाजिक नियंत्रण के भंग होने का एक और अर्थ यह भी है कि समाज के विभिन्न अंग अब नियंत्रण के दायरे से बाहर निकल गये हैं जिसके फलस्वरूप समाज में एक अनिश्चितता (uncertainty) की स्थिति है और अव्यवस्था व गड़बड़ी का राज्य है। यही सामाजिक विघटन है। अतः श्री लैंडिस के अनुसार सामाजिक विघटन वह स्थिति है जिसमें समाज के विभिन्न भाग मनमाने ढंग से काम करते रहते हैं, सामाजिक नियंत्रण के साधनों द्वारा नियंत्रित न होते हुए एक अनिश्चित स्थिति को उत्पन्न करते हैं और समाज में अव्यवस्था व गड़बड़ी को फैलाते हैं। सामाजिक विघटन सामाजिक अव्यवस्था और अनिश्चितता की एक स्थिति है।

(३) श्री फॅरिस (Faris) ने सामाजिक विघटन को प्रकायात्मक असंतुलन के रूप में देखा है। प्रत्येक समाज में अनेक अंग या समूह होते हैं; प्रत्येक समूह के कुछ उद्देश्य होते हैं, उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये समूह द्वारा स्वीकृत कुछ कार्य होते हैं जिन्हें कि उस समूह के सदस्यों या मनुष्यों को करना पड़ता है। इन कार्यों के आधार पर ही उन मनुष्यों के बीच एक प्रकायात्मक सम्बन्ध होता अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति एक या कुछ निश्चित कार्य को करते हुए दूसरे क्रियाशील व्यक्तियों से सम्बन्धित रहता है। इन प्रकायात्मक सम्बन्धों का तानाबाना जब टूट जाता है और इतना अधिक टूट जाता है कि समूह के स्वीकृत कार्यों को भी करना कठिन हो जाता है तो उस स्थिति को ही सामाजिक विघटन की स्थिति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, समाज के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले प्रकायात्मक सम्बन्धों का असंतुलित होना और उसके फलस्वरूप समूह के स्वीकृत कार्यों के करने में बाधा उत्पन्न होना ही सामाजिक विघटन की स्थिति है।

श्री फॅरिस के अनुसार समाज के विभिन्न समूहों या भागों के सदस्यों के बीच प्रकायात्मक सम्बन्ध टूट जाने का अर्थ यही होता है कि उन भागों में पहले जो आन्तरिक एकता, समन्वय तथा आपसी सम्बन्ध था वह अब नहीं रहा और समाज उचित ढंग से क्रियाशील नहीं हो पा रहा है। वास्तव में समाज के विभिन्न भाग जब एक गुच्छे की तरह एक दूसरे से प्रकायात्मक सम्बन्ध के आधार पर गुंथे हुए होते हैं तभी समाज अपने उलझित उद्देश्यों के अनुसार काम कर सकता है या सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्रियाशील हो सकता है। परन्तु समाज के विभिन्न भागों का वह गुच्छा जब तितर-बितर हो जाता है तो उनका आपसी सम्बन्ध टूट जाता है, उनका समन्वित स्वरूप समाप्त हो जाता है और वे इस प्रकार से मनमाने ढंग से काम करते रहते हैं जो कि समाज के द्वारा स्वीकृत उद्देश्यों के विपरीत होते हैं। यही सामाजिक विघटन की स्थिति है।



श्री फौरिस ने यह भी लिखा है कि सामाजिक विघटन की एक सामान्य विशेषता (general characteristics) यह है कि समाज के सदस्यों के पृथक् कार्य (separate function) सफलतापूर्वक नहीं हो रहे हैं; अर्थात् समाज के विभिन्न सदस्यों के लिए निर्धारित कार्य उचित ढंग से प्रत्येक सदस्य के द्वारा नहीं किया जा रहा है। एकता तथा सामंजस्य (harmony) की अवनति विघटन की एक प्राथमिक शर्त है।

(४) श्री निऊमेयर ने अपनी परिभाषा में सामाजिक विघटन के प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ऐकमत्य का न होना, उद्देश्यों की एकता भंग हो जाना, सामाजिक संरचना का संतुलन बिगड़ जाना और प्रकार्यात्मक सम्बन्धों का अव्यवस्थित हो जाना सामाजिक विघटन की स्थिति का द्योतक है। ये सभी एक दूसरे से सम्बन्धित लक्षण हैं जिन्हें कि एक क्रम से इस प्रकार समझाया जा सकता है। समाज एक उद्देश्यविहीन व्यवस्था नहीं है, बल्कि प्रत्येक समाज के कुछ स्वीकृत उद्देश्य होते हैं। उन उद्देश्यों की पूर्ति कैसे किया जायेगा या किस ढंग से किया जाना चाहिये इस सम्बन्ध में एक सामान्य मत समाज के अधिकांश लोगों में होता है। यही ऐकमत्य है। इसी ऐकमत्य के आधार पर उद्देश्यों की एकता पनपती है और वह एकता सामाजिक संरचना को एक संतुलित स्थिति प्रदान करती है। उस संतुलित स्थिति में समाज के विभिन्न समूह और विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर रहते हुए समाज द्वारा निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करते रहते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें क्रियाशील सम्बन्ध की एक व्यवस्था बन जाती है। यही सामाजिक संगठन है और इसी की विपरीत दशा सामाजिक विघटन कहलाती है। समाज के लोगों में सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के सम्बन्ध में ऐकमत्य समाप्त हो जाता है और वे अलग-अलग तरह के और अलग-अलग तरीके से उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहते हैं। इससे उद्देश्यों की एकता नहीं रह जाती है जिसके फलस्वरूप सामाजिक संरचना का संतुलन बिगड़ जाता है और सदस्यों में पाये जाने वाले क्रियाशील सम्बन्ध अव्यवस्थित हो जाते हैं। ये लक्षण जिस समाज में देखने को मिलें उसे विघटित समाज ही कहा जायेगा।

श्री निऊमेयर ने लिखा है कि सामाजिक विघटन वह परिस्थिति है जिसमें व्यक्तियों तथा समूहों का सामंजस्य नहीं रहता है और मानव सम्बन्धों का प्रतिमान व विधि-व्यवस्था (Patterns and mechanisms) अत्यधिक क्षुब्ध (disturbed) हो जाते हैं। व्यक्तियों के पाये जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के बिगड़ जाने से समूह के स्वीकृत कार्यों के सम्पादन में बाधा उत्पन्न होती है। "सामाजिक विघटन में कुछ अवनति या भ्रष्टता की मात्रा हो सकती है; परन्तु उस समय के परिवर्तित अवस्थाओं के साथ व्यक्तियों तथा समूहों, संस्थाओं और मानदण्डों (standards) का अपर्याप्त अनुकूलन के फलस्वरूप उत्पन्न असंतुलित अवस्थाएँ सामाजिक विघटन की प्रमुख विशेषतायें हैं।"<sup>8</sup>



## सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया के रूप में (Social Disorganization as a Process)

श्री निऊमेयर ने लिखा है कि “सामाजिक विघटन केवल मात्र एक असंतुलित अवस्था नहीं है, क्योंकि यह मुख्यतः एक प्रक्रिया है। इसीलिए यह उन घटनाओं व वृत्तान्तों को व्यक्त करता है जो कि व्यक्तियों तथा समूहों की स्वाभाविक क्रियाशीलता में बाधा उत्पन्न करता है।”<sup>9</sup> आपने अन्यत्र यह भी लिखा है कि सामाजिक विघटन एक अवस्था से कुछ अधिक है, आधारभूत रूप में यह एक प्रक्रिया या प्रक्रियाओं का एक क्रम है। घटनाओं का वह क्रम जो इस प्रक्रिया को उत्पन्न करते हैं उसके अन्तर्गत संघर्ष, अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा, सामाजिक विभेद, तथा विघटन करने वाले अन्य उप-प्रक्रियायें (subprocesses) सम्मिलित हैं।<sup>10</sup> यह कथन निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

जब हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया है तब उसका तात्पर्य यह होता है कि सामाजिक विघटन परिवर्तनशील स्थिति है, न कि कोई स्थिर या अन्तिम अवस्था। सामाजिक विघटन परिवर्तन की एक निरन्तरता को दर्शाता है। ऐसा कोई समय नहीं था जब कि विघटन न हो और ऐसा भी कोई समय न आयेगा जब कि इसकी गति रुक जायेगी—यह तो अपने ही अन्दर प्रथम से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम में निरन्तर परिवर्तन है और भी स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वयं समाज में ही कुछ इस प्रकार के कारक या शक्तियाँ सदा ही क्रियाशील रहते हैं जिनके कारण सामाजिक संरचना में किसी भी समय शत प्रतिशत संतुलन व व्यवस्था देखने को नहीं मिलती है। इन कारकों की क्रियाशीलता के कारण समाज में सदा ही कुछ न कुछ गड़बड़ी या असंतुलन की स्थिति बनी रहती है। ये कारक या शक्तियाँ हैं संघर्ष अत्यधिक, प्रतिस्पर्द्धा श्रम-विभाजन, सामाजिक विभेद आदि। इन सब की क्रियाशीलता से ही सामाजिक व्यवस्था व संतुलन बिगड़ जाया करता है और सामाजिक विघटन एक स्थिति से दूसरी स्थिति को आगे बढ़ती है या पीछे हटती है। आगे तब बढ़ती है जब

---

nization; but the unbalanced conditions growing out of the inadequate adjustment of persons and groups, institutions and standards to the changing conditions of the time constitute the chief characteristics of social disorganization.” Martin H. Neumeyer, *Juvenile Delinquency in Modern Society*, D. Van Nostrand Co., New York, 1955, p. 9.

9. “Social diorganization is not merely a maladjusted condition, for it is chiefly a process. As such, it represents a series of events and occurrences that tend to disrupt the normal functioning of persons and groups” Martin H. Neumeyer, *Ibid.*, p. 9.

10. “Social disorganization is more than a condition, it is fundamentally a process or a series of processes. The series of events that make up the process involves conflict, excessive competition, social differentiation, and other disruptive subprocess.” Martin H. Neumeyer, *Op. cit.*, p. 17.



विघटनात्मक सहप्रक्रियायें (dissociative subprocesses) जैसे संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, विभेद आदि अधिक तेजी से या अधिक कटु रूप में क्रियाशील होते हैं। इसके विपरीत सामाजिक विघटन पीछे तब हटता है जब कि ये सहक्रियायें निस्तेज या कम प्रभावपूर्ण हो जाती हैं। परन्तु निस्तेज हो जाने का अर्थ कदापि यह नहीं है कि कोई ऐसा भी समय होता है जब कि ये विघटनात्मक सहप्रक्रियाओं में से सबके सब सामाजिक जीवन से गायब हो जाये। ये तो सामाजिक जीवन, सामाजिक संरचना या व्यवस्था के स्वाभाविक अंग हैं। इसलिए सामाजिक विघटन का भी कुछ न कुछ मात्रा में सदा बना रहना एक स्वाभाविक घटना है।

अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया इस अर्थ में है कि सामाजिक विघटन की कुछ न कुछ स्थिति प्रत्येक समाज में सदैव बनी रहती है। कोई भी समाज ऐसा नहीं होता है जो कि पूर्णतया संगठित या पूर्णतया विघटित हो। संगठन और विघटन दोनों ही एक साथ अवस्थान करते हैं। इस कारण सामाजिक विघटन कोई 'विशेष' अवस्था नहीं है, यह तो सामाजिक संगठन या सामाजिक संरचना की ही एक 'स्वाभाविक' (normal) प्रक्रिया है जो कि सदा थी और सदा रहेगी। ऐसा नहीं होता कि सामाजिक विघटन की प्रक्रिया किसी विशेष काल या समाज में ही पायी जाती हो। यह तो प्रत्येक समाज में हर समय किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहती है। हाँ, यह हो सकता है कि किसी समाज विशेष या समय विशेष में सामाजिक विघटन की यह प्रक्रिया अधिक स्पष्ट तथा विनाशकारी हो।

सामाजिक विघटन प्रत्येक समाज में हर समय समाज के किसी न किसी भाग या अंग में ठीक उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार हमारे शरीर में कुछ न कुछ खराबी या अस्वस्थ अवस्था सदैव ही रहती है। अगर स्वस्थ से स्वस्थ व्यक्ति की उचित मेडिकल परीक्षा विशेषज्ञ द्वारा करवायी जाय तो उसके शरीर में भी अनेक खराबियों का पता चलेगा। उसी प्रकार संगठित से संगठित समाज में भी विघटन की कुछ न कुछ स्थिति या तत्व सदैव ही बना रहता है। यही स्वाभाविक है, इसीलिए सर्व श्री थॉमस तथा जनेनकी (Thomas and Znaniecki) ने लिखा है कि "सामाजिक विघटन कोई एक असाधारण या असामान्य घटना (exceptional phenomenon) नहीं है जो किसी समय विशेष या किसी समाज विशेष तक ही सीमित हो; यह तो प्रत्येक समाज में व हर समय विद्यमान रहता है और हमेशा और हर जगह किसी न किसी रूप में सामाजिक नियम को भंग करता रहता है जो सामाजिक संस्थाओं पर विघटनात्मक प्रभाव डालती है और यदि उनका प्रतिकरण (counteraction) न किया जाये या उन्हें रोका न जाए तो बढ़ सकती है और सामाजिक संस्थाओं का पूर्ण नाश कर सकती है।"<sup>11</sup>

वास्तव में, सामाजिक संगठन और सामाजिक विघटन दोनों ही सापेक्षिक

11. Thomas and Znaniecki, *The Polish Peasant in Europe and America*, Alfred A. Knopf, Inc., New York, 1927, Vol. IV, pp. 3-4.



(relative) घटनायें हैं। जिस प्रकार सामाजिक संगठन के सभी स्तर या मात्रा (degree) हो सकते हैं उसी प्रकार सामाजिक विघटन के सभी स्तर हो सकते हैं। सामाजिक विघटन से यदि एकता नष्ट हो जाती है तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कभी-कभी सामाजिक विघटन की स्थिति में एकता बढ़ भी सकती है। उदाहरणार्थ, युद्ध के समय सामाजिक विघटन अपने भयंकर रूप में देखने को मिलता है, पर युद्ध ऐसी नयी शक्तियों को भी जन्म देती है जो एकता का कारण बन जायें। जैसे युद्ध के समय स्वाधीनता छिन जाने का डर और समाज को मिट जाने से रोकने की इच्छा एक समाज के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ कर सकता है जिसके परिणाम स्वरूप सामाजिक व राष्ट्रीय एकता पनप सकती है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि सामाजिक विघटन की स्थिति में जैसे एक ओर जीवन इतना विघटित नहीं होता है कि सभी सामाजिक नियंत्रण नष्ट हो जाये, उसी प्रकार दूसरी ओर अत्यधिक सामाजिक संगठन की स्थिति में भी जीवन इतना स्थिर नहीं रहता कि समाज की गतिशीलता ही रुक जाए और कोई परिवर्तन न हो। परिवर्तन होता है और इसीलिये कोई भी सामाजिक व्यवस्था बहुत अधिक अवधि तक स्थिर नहीं रह पाती है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सामाजिक संगठन की स्थिति में विघटनात्मक प्रक्रियाओं या कारकों की अपेक्षा संगठनात्मक प्रक्रियायें या कारक अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं, जब कि सामाजिक विघटन की स्थिति में परिस्थिति कुछ उल्टी होती है और विघटनात्मक प्रक्रियायें या कारक संगठनात्मक साधनों पर अन्यायपूर्ण शासन करते हैं। विघटित अवस्था की यह एक प्रमुख विशेषता है।

### सामाजिक संगठन व विघटन में अवधारणात्मक भेद

(Conceptual difference between Social Organization and Disorganization)

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, सामाजिक संगठन समाज-व्यवस्था की वह संतुलित अवस्था है जिसमें कि समाज के विभिन्न अंग या इकाइयाँ अपने-अपने पूर्व-निश्चित कार्यों को, बिना संघर्ष या तनाव के, इस प्रकार करते रहते हैं कि समाज के सदस्य अपने सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति कर सकें। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन की प्रमुख विशेषतायें ये हैं:—(१) सामाजिक संरचना के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति, समूह, संस्था आदि अपने-अपने निर्धारित पद या स्थान पर रहते हुए अपने-अपने कार्यों को करते रहते हैं, (२) समाज के सामान्य विषयों या समस्याओं के सम्बन्ध में अधिकांश सदस्यों के विचार दृष्टिकोण या मत में बहुत कुछ समानता या ऐकमत्य (consensus) होता है, और (३) समाज के कार्यशील विभिन्न समूहों तथा व्यक्तियों के व्यवहारों पर सामाजिक नियमों, कानून, प्रथा आदि का नियंत्रण प्रभावपूर्ण होने के कारण उनका व्यवहार समाज द्वारा स्वीकृत प्रतिमान के अनुरूप होता है।

इसके विपरीत, सामाजिक विघटन वह स्थिति है जिसमें सामाजिक व्यवस्था की विभिन्न इकाइयाँ आपस में एक प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध को बनाये



रखने में असफल होने के कारण सामूहिक जीवन की संतुलित व स्वस्थ दशा नष्ट हो जाती है और स्थापित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है। इस प्रकार सामाजिक विघटन की प्रमुख विशेषतायें ये हैं कि (क) सामाजिक संरचना के अन्तर्गत विभिन्न समूह, व्यक्ति व संस्था अपने-अपने पूर्व-निर्धारित कार्यों को करना बन्द कर देते हैं या दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करते हैं, (ख) समूह व व्यक्तियों के बीच, तथा समूह और समूह के बीच स्थापित सम्बन्ध टूट जाते हैं और वे तनाव या संघर्ष की स्थिति में होते हैं, (ग) समाज के सदस्यों में ऐकमत्य नहीं होता है, और (घ) समाज में संतुलन स्थापित करने वाली शक्तियाँ प्रभावपूर्ण रूप में काम नहीं कर पाती हैं अर्थात् सामाजिक नियंत्रण ढीला पड़ जाने से समूहों तथा व्यक्तियों को इतनी छूट मिल जाती है कि वे मनमाने ढंग से काम करते रहें।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन और विघटन में निम्नलिखित अवधारणात्मक अन्तर हैं—

(१) सामाजिक संगठन की स्थिति में समाज के व्यक्ति तथा संस्थायें अपने-अपने पूर्व निर्धारित पदों पर रहते हुए कार्यों को करते रहते हैं, जब कि सामाजिक विघटन की स्थिति में ये व्यक्ति व संस्थायें अपने-अपने पदों और कार्यों को छोड़कर मनमाने ढंग से काम करने लगते हैं।

(२) सामाजिक संगठन की स्थिति में समाज के सदस्यों में ऐकमत्य होता है, जब कि सामाजिक विघटन में इस ऐकमत्य का नितान्त अभाव होता है और व्यक्तियों या समूहों का सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति करने में पारस्परिक सहयोग समाप्त हो जाता है।

(३) सामाजिक संगठन की स्थिति में सामाजिक जीवन में संतुलन स्थापित करने वाली शक्तियाँ प्रभावपूर्ण रूप में कार्य करती हैं। अर्थात् सामाजिक नियंत्रण के साधन उचित ढंग से व्यक्तियों के व्यवहार पर नियंत्रण रखने में सफल होते हैं। परन्तु सामाजिक विघटन की स्थिति में यह नियंत्रण ढीला पड़ जाता है और संतुलन स्थापित करने वाली शक्तियाँ अपना प्रभाव खो बैठती हैं। इसीलिये तो सामाजिक विघटन की स्थिति में सामाजिक जीवन असंतुलित हो जाता है।

(४) सामाजिक जीवन संगठन की स्थिति में, समाज के विभिन्न व्यक्ति और व्यक्ति में, व्यक्ति व समूह में तथा समूह और समूह में एक प्रकारात्मक व सहयोगपूर्ण सम्बन्ध बना रहता है जब कि सामाजिक विघटन की स्थिति में यह सम्बन्ध तनावपूर्ण या संघर्षपूर्ण हो जाता है या उस सीमा तक जाता है कि समूह के स्वीकृत कार्यों को करने तथा सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति करने में बाधा उत्पन्न होती है।

(५) अतः स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन की स्थिति में समाज के सदस्यों की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति सम्भव होती है, जब कि सामाजिक विघटन की स्थिति में प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति अति कठिनाई से होती है।



(६) सामाजिक संगठन की अवस्था प्रगति की अवस्था है जब कि सामाजिक विघटन अवनति का द्योतक है। संगठित समाज में कला, विज्ञान, शिक्षा, साहित्य, नैतिकता, दर्शन आदि की उन्नति होती है जब कि एक विघटित समाज में बाल अपराध, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या, बेकारी, निर्धनता, युद्ध, वर्ग, संघर्ष आदि का कटु रूप देखने को मिलता है।

### सामाजिक विघटन के लक्षण

#### (Symptoms of Social Disorganization)

जिस प्रकार शारीरिक अवस्थाओं के कुछ लक्षणों को देखकर यह बताया जा सकता है कि शरीर को कौन-सा रोग आकर घेरने वाला है, उसी प्रकार सामाजिक अवस्थाओं के भी कुछ लक्षण होते हैं जिनके आधार पर सामाजिक विघटन की अवस्था को पहचाना जा सकता है। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

(१) रूढ़ियों और संस्थाओं का संघर्ष (Conflict of mores and institutions) :—सामाजिक संरचना के अन्तर्गत रूढ़ियों और संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान है और सामाजिक संगठन के लिये यह आवश्यक है कि वे परस्पर सम्बन्धित रूप में सहयोगपूर्वक कार्य करें। जब ऐसा नहीं होता है, तभी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ चर्च, स्कूल, सरकार, विवाह आदि समाज की महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं और इनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध कुछ-न-कुछ रूढ़ियों से है जो कि इन संस्थाओं के मानदण्डों (standards) तथा उद्देश्यों को केवल निर्धारित ही नहीं करती है बल्कि उन्हें एक सूत्र में बाँध भी देते हैं। जब यह सूत्र टूट जाता है और सामाजिक संस्थाओं की पारस्परिक एकता नष्ट हो जाती है तो वह अवस्था सामाजिक विघटन का एक प्रमुख लक्षण होगा। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में अन्तर्विवाह (endogamy), स्त्रियों पर नाना प्रकार के प्रतिबन्ध, जाति प्रथा के नियमों का पालन, अस्पृश्यता, संयुक्त परिवार प्रणाली आदि के पक्ष में आज भी अनेक रूढ़िवादी विचारधारार्यों व मनोवृत्तियाँ समाज में फैली हुई हैं, जब कि इनसे सम्बन्धित संस्थाओं में आज क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। अन्तर्विवाह के नियमों को तोड़कर अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन हो रहा है, स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिये जा रहे हैं, जाति प्रथा के नियम दुर्बल होते जा रहे हैं, संयुक्त परिवार प्रणाली टूट रही है। परन्तु चूँकि इन संस्थाओं से सम्बन्धित रूढ़ियाँ आज भी मिट नहीं गई हैं, इसलिये वे रूढ़ियाँ इन परिवर्तनों का विरोध करती हैं और बदले हुए दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करतीं। रूढ़ियों और संस्थाओं के दृष्टिकोण में इन भिन्नताओं का स्वाभाविक परिणाम संघर्ष होता है और संघर्ष की स्थिति में सामाजिक संगठन का ताना-बाना टूट जाता है।

(२) एक समिति से दूसरी समिति को कार्यों का हस्तान्तरण (Transfer of function from one group to another) :—प्रत्येक समाज में मनुष्यों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पृथक्-पृथक् समितियाँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक समिति की सामाजिक संरचना में कौन-सी स्थिति होगी और उसे कौन-



कौन से कार्य करने होंगे यह बात सामाजिक परम्परा, नियम या कानून द्वारा निर्धारित होती है। सामाजिक संगठन की स्थिरता इसी बात पर निर्भर होती है कि प्रत्येक समिति अपने-अपने पूर्व-निश्चित कार्यों को कर रही है और एक दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करती है। परन्तु अवस्था जब इसके विपरीत होती है, तभी सामाजिक विघटन के लक्षण भी स्पष्ट हो जाते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। जब एक समिति का कार्य दूसरी समिति को हस्तान्तरित हो जाता है या दूसरी समितियाँ उन कार्यों को छीन लेती हैं तो एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो कि सामाजिक विघटन का ही एक लक्षण होता है। इतना ही नहीं, कार्यों के इस प्रकार के हस्तान्तरण के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न होती है उससे न तो समितियाँ और न ही समाज के सदस्य एकाएक अपना अनुकूलन करने में सफल होते हैं। फलतः एक गड़बड़ी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह सामाजिक विघटन का एक स्पष्ट लक्षण है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में पहले संयुक्त परिवार के अनेक महत्वपूर्ण कार्य थे, परन्तु धीरे-धीरे ये कार्य अन्य समितियों को हस्तान्तरित होते जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप भारतीय पारिवारिक जीवन एक असन्तुलन की स्थिति में है।

(३) व्यक्तिवादी आदर्श (Individualistic ideals) :—जब समाज के सदस्य समूह के हित की कोई भी चिन्ता न करते हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में लगे रहते हैं तो सामाजिक विघटन की स्थिति आने में विलम्ब नहीं होता। इसका कारण यह है कि व्यक्तिवादी आदर्श जब अपने कटु रूप में प्रगट होता है तो सभी लोगों में अपने-अपने हितों की सर्वाधिक पूर्ति के लिये एक दौड़-सी लगती है और उस दौड़ में उचित व अनुचित सभी उपायों को अपना कर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से आगे निकल जाने का प्रयत्न करता है। जब समाज के सदस्यों के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोच्च हो जाता है तो सामूहिक या सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है। सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होना सामाजिक विघटन का एक स्पष्ट लक्षण है। सामाजिक संगठन तो 'हम' की भावना और सामान्य उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति पर आधारित होता है। पर जब 'हम' की भावना का स्थान 'मैं' की भावना और सामान्य उद्देश्यों का स्थान व्यक्तिगत स्वार्थ ले लेता है, तभी सामाजिक विघटन भी आरम्भ हो जाता है।

(४) ऐकमत्य का ह्रास (Decline of consensus) :—जब समाज के अधिकांश सदस्यों में मतों की अत्यधिक भिन्नता होती है और वे सामाजिक जीवन के सामान्य विषयों को न तो सामान्य दृष्टिकोण से सोचते-विचारते हैं और न ही सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में सामान्य प्रयत्नों को लगाते हैं, तो वह स्थिति सामाजिक विघटन का ही एक लक्षण है क्योंकि ऐसी स्थिति का अर्थ ऐकमत्य का ह्रास है और ऐकमत्य के बिना सामाजिक संगठन की स्थिरता सम्भव नहीं है। सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विषयों को यदि समाज के सदस्य अलग-अलग तरह से सोचते हैं और पृथक्-पृथक् ढंग से उन्हें परिभाषित करते हैं तो समाज में तनाव व



संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने में देर न होगी।

(५) सामाजिक नियंत्रण के साधनों का प्रभाव कम हो जाता (Lesser effectiveness of the agencies of social control) :—सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधन व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहारों को एक सीमा के अन्दर इस भाँति नियंत्रित रखते हैं कि वे दूसरों के कार्यों में बाधा उत्पन्न न करते हुए अपने-अपने निश्चित कार्यों को करते रहें। पर नियंत्रण के ये ही साधन जब प्रभावपूर्ण रूप में नियंत्रण का काम करने में असफल रहते हैं तो सामाजिक विघटन निश्चित होता है, क्योंकि उस अवस्था में समाज के प्रत्येक अंग, व्यक्ति या समूह मनमाने ढंग से अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में इस प्रकार लग जाते हैं कि उनमें आपसी संघर्ष भी खूब होता रहता है और सामाजिक संतुलन शीघ्र ही बिगड़ जाता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक गतिशील समाजों में बड़े-बड़े और शक्तिशाली स्वार्थ-समूह (interest groups) इस प्रकार पनप गये हैं कि उन पर प्रथा, परम्परा, रूढ़ियाँ या धर्म द्वारा नियंत्रण करना असम्भव हो गया है। वैसे भी आधुनिक समाजों में नियंत्रण के इन साधनों का प्रभाव काफी घट गया है। यही कारण है कि आधुनिक गतिशील समाजों में सामाजिक संतुलन की स्थिरता भी कम हो गई है।

(६) सामाजिक परिवर्तन की तीव्र गति (Fast speed of social change) :—जब सामाजिक परिवर्तन बहुत तेजी से होने लगता है, तब भी सामाजिक विघटन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि इन तीव्र परिवर्तनों के साथ-साथ यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्तियों तथा समितियों के पदों तथा कार्यों में भी उसी अनुसार तीव्र गति से परिवर्तन होता रहे। परन्तु प्रत्येक समिति और व्यक्ति के लिये इतनी शीघ्रता से अपने को बदलना सम्भव नहीं होता है। और जब वे परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार अपने को परिवर्तित नहीं कर पाते हैं, तभी सामाजिक विघटन आरम्भ हो जाता है।

श्री फॅरिस (Faris) ने सामाजिक विघटन के आठ लक्षणों का उल्लेख किया है जो कि इस प्रकार हैं—(१) औपचारिकता (formalism), (२) पवित्र तत्वों का ह्रास (decline of sacred elements), (३) स्वार्थ और रुचि में व्यक्तिभेद (individuality of interests and tastes), (४) व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों पर बल देना (emphasis on personal freedom and individual rights), (५) सुखवादी व्यवहार (hedonic behaviour), (६) जनसंख्या में विभिन्नता (population heterogeneity), (७) पारस्परिक अविश्वास (mutual distrusts) और (८) अशान्तिपूर्ण घटनाएँ (unrest phenomena)।

सर्व श्री गिल्लिन और गिल्लिन (Gillin and Gillin) ने सामाजिक असामंजस्य (social maladjustment) के निम्नलिखित मानदण्डों (indices) का उल्लेख किया है।<sup>12</sup>



(क) साधारण दर (Simple rate) :—इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी समाज में आत्म-हत्या की दरें अधिक हैं, या अपराध व बाल-अपराध अधिक संख्या में पाये जाते हैं, समुदाय में समाज-विरोधी गिरोह (gangs) अधिक हैं, विवाह-विच्छेद और परित्याग ज्यादा होते हैं, सम्पत्ति व आय का अत्यधिक असमान वितरण है और अधिक लोग बेरोजगार की स्थिति में हैं—तो ये सब सामाजिक असामंजस्य के ही द्योतक हैं।

(ख) समष्टि मापदण्ड (Composite indices) :—इसमें उपरोक्त सामान्य या साधारण दर की भाँति व्यक्तिगत घटनाओं को ही सामाजिक असामंजस्य का मापदण्ड न मानकर सामूहिक घटनाओं पर अधिक बल दिया जाता है। यदि किसी समाज में विरोधी या संघर्षपूर्ण (conflicting) संस्कृतियाँ, विशेषकर संघर्ष-पूर्ण नैतिक नियम पाये जाते हैं, जहाँ लोग सामुदायिक बन्धनों व नियंत्रणों को न मानते हुए अपनी स्वेच्छानुसार हर प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं और जहाँ सामाजिक एकता व समन्वय या नितान्त अभाव है, तो उस समाज में सामाजिक असामंजस्य की स्थिति निश्चय ही है।

(ग) जनसंख्या की रचना (Composition of population) :—जिन समाजों में वयस्कों की अपेक्षा बच्चों की संख्या अत्यधिक होती है, वहाँ विभिन्न आयु समूहों के बीच सामान्य सम्बन्धों में गड़बड़ी उत्पन्न होती है, जो सामाजिक असामंजस्य का द्योतक है।

(घ) सामाजिक दूरी (Social distance) :—श्री बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार सामाजिक दूरी सामाजिक विघटन का एक निश्चित लक्षण है। यदि समाज में व्यक्ति तथा व्यक्ति में, या व्यक्ति तथा समूह के बीच सामाजिक दूरी इतनी है कि उनमें आन्तरिक व घनिष्ट सम्बन्ध पनप नहीं पाता है जिसके कारण उनमें न तो सहयोग का दर्शन होता है और न ही सहानुभूति का। वे एक दूसरे से दूर रहते हैं और एक साथ मिलकर सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करने को राजी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में समाज में एकता, समन्वय, सहयोग, सहानुभूति, सामान्य सामाजिक उद्देश्य और ऐकमत्य का अभाव होगा जो कि सामाजिक असामंजस्य का सर्वश्रेष्ठ द्योतक है, क्योंकि सामाजिक दूरी होने पर विभिन्न व्यवित्तियों व समूहों में 'हम सब एक हैं' या 'समानता की चेतनता' (consciousness of kind) का अभाव होगा।

(ङ) हिस्सेदारी (Participation) :—कुछ विद्वानों के अनुसार सामाजिक असामंजस्य का एक मापदण्ड यह है कि लोग सामाजिक क्रियाओं में कितना भाग ले रहे हैं। सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने के सम्बन्ध में लोगों का लापरवाह होना इस बात का प्रमाण है कि उस समाज में उद्देश्यों की समानता नहीं है।

**सामाजिक विघटन या असामंजस्य के क्षेत्र**

(Fields of Social Disorganization or Maladjustment)

सामाजिक विघटन सामाजिक संरचना की भाँति ही एक अखण्ड व्यवस्था



नहीं है—सामाजिक संरचना या व्यवस्था के अन्तर्गत जितने प्रमुख अंग होते हैं उनमें से किसी में भी सामाजिक विघटन या असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। उनमें से निम्नलिखित क्षेत्र उल्लेखनीय हैं :—

(१) व्यक्तिगत क्षेत्र (Individual field):—सामाजिक विघटन का सबसे आरम्भिक क्षेत्र व्यक्ति या समाज के सदस्य हैं। इन सदस्यों के व्यक्तिगत संरचना या व्यक्तित्व की रचना में यदि कोई असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उससे व्यक्तिगत विघटन हो सकता है। यदि एक समाज में ऐसे विघटित व्यक्तित्व की अधिकता हो जाती है तो वह सामाजिक विघटन का ही द्योतक होता है। आत्म-हत्या, यौन-अपराध, वेश्यावृत्ति, अपराध, बाल-अपराध, विवाह-विच्छेद, परित्याग (desertion), नशाखोरी, मानसिक असन्तुलन आदि का बढ़ जाना व्यक्तिगत क्षेत्र में सामाजिक विघटन की क्रियाशीलता है।

(२) पारिवारिक क्षेत्र (Familial field):—सामाजिक विघटन का एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र परिवार है। परिवार सामाजिक जीवन व व्यवस्था की एक आधारभूत इकाई है और परिवार में विघटन होने का अर्थ ही यह होता है कि सामाजिक जीवन का आधार खोखला हो रहा है। विवाह-विच्छेद, परित्याग, रोटी कमाने वाले की मृत्यु, पारिवारिक एकता का ह्रास, स्त्रियों और माताओं का घर से बाहर काम करना आदि पारिवारिक विघटन के महत्वपूर्ण कारक हैं जिनका प्रभाव सामाजिक संतुलन को बिगाड़ने पर पड़ता है।

(३) धार्मिक क्षेत्र (Religious field):—धार्मिक क्षेत्र में भी सामाजिक असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। धर्म रूढ़िवादी (Conservative) होता है इसीलिए धर्म नवीन परिवर्तनों को सरलता से स्वीकार नहीं कर पाता है। यही कारण है कि समय के साथ-साथ बदलने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति करने में धर्म असफल हो सकता है। इससे धर्म तथा परिवर्तित आवश्यकताओं में एक संघर्ष व तनाव उत्पन्न हो सकता है जो कि सामाजिक असामंजस्य का ही द्योतक होगा।

(४) सांस्कृतिक क्षेत्र (Cultural field):—कुछ विद्वानों के अनुसार सामाजिक विघटन का सबसे उल्लेखनीय क्षेत्र सांस्कृतिक है। संस्कृति को दो मोटे भागों में बांटा जाता है—भौतिक (material) और अभौतिक (non-material)। भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्रता से होता है। उतनी शीघ्रता से अभौतिक संस्कृति अपना अनुकूलन भौतिक संस्कृति से नहीं कर पाती है। फलतः भौतिक व अभौतिक संस्कृति के बीच एक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो कि सामाजिक विघटन का ही परिचायक होती है। सांस्कृतिक क्षेत्र में यह असंतुलन विचार, आदर्श मनोवृत्ति, भावना, नैतिकता, शिक्षा आदि क्षेत्रों में उत्पन्न हो सकता है।

(५) राजनैतिक क्षेत्र (Political field):—राजनैतिक क्षेत्र में भी सामाजिक विघटन की प्रक्रिया प्रभावपूर्ण रूप में क्रियाशील हो सकती है। राजनैतिक दलों



या पार्टियों में आगस में जो तनाव व संघर्ष की स्थिति प्रायः देखने को मिलती है वह इतना कटु रूप धारण कर सकती है कि उससे समाज का संतुलन विशेषतः राजनैतिक जीवन का संतुलन बिगड़ सकता है। उसी प्रकार देश की सरकार की नीति इस प्रकार हो सकती है कि उससे जनता के सामान्य हितों व उद्देश्यों की पूर्ति न होकर केवल एक समूह या पार्टी के स्वार्थों की पूर्ति हो। सरकार के द्वारा लगाये गये अत्यधिक कर (Taxes) जनता में असन्तोष की भावना पनपा सकते हैं और जनता व सरकार के बीच का सम्बन्ध तनावपूर्ण हो सकता है। इससे भी सामाजिक विघटन उत्पन्न हो सकता है।

(६) आर्थिक क्षेत्र (Economic field):—सामाजिक विघटन की क्रिया-शीलता का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र आर्थिक है। आर्थिक व्यवस्था मानव के अस्तित्व के लिये आवश्यक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का एक साधन होता है और इसीलिए जब इसी साधन में कोई गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ता है। यदि समाज में राष्ट्रीय आय का असंतोषजनक वितरण है, लोगों को योग्यता रहते हुए भी रोजगार नहीं मिल पाता है, देश में गरीबी और भुखमरी का राज्य होता है तो उसे सामाजिक विघटन की ही अभिव्यक्ति कहना चाहिये।

### सामाजिक विघटन के सिद्धान्त

(Theories of Social Disorganization)

सामाजिक विघटन के पाँच सिद्धान्तों का उल्लेख श्री माउरर (Mowrer) ने किया है।<sup>13</sup> आपने इन सिद्धान्तों को सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है क्योंकि, उनके अनुसार, “सामाजिक विघटन सामाजिक परिवर्तन का स्वाभाविक परिणाम तथा प्रकृत अवस्था भी है। सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में सामाजिक विघटन की यह दोहरी भूमिका (dual role) सामाजिक विघटन का अध्ययन करने के लिए प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों या दृष्टिकोण के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।”<sup>14</sup> आपने जिन पाँच सिद्धान्तों को उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं:—

(१) सामाजिक समस्या-सिद्धान्त (The social problem approach)—श्री माउरर (Mowrer) ने लिखा है कि “सामाजिक समस्या-सिद्धान्त की मौलिक धारणा यह कि यदि केवल मानव प्रगति को रोकने वाले या उसको विलम्ब कर देने वाले असामंजस्यों का निवारण किया जावे तो ही समाज प्रगति कर सकता है और

13. Ernest R. Mowrer, *Disorganization Personal and Social*, J. B. Lippincott Co. New York, 1942, pp. 15-35.

14. “Social disorganization is the normal consequence of social change as well as the natural condition to social change. This dual role of social disorganization in relation to social change becomes more clear with an understanding of the varied approaches which have been made to study social disorganization.” *Ibid.*, p. 15.



करना भी चाहिये। सामाजिक समस्याएँ समाज की बिमारियाँ हैं जो कि समूह के कल्याण को खतरे में डालती हैं। सामाजिक समस्याएँ मानव सम्बन्ध के उन क्षेत्रों में विद्यमान होती हैं जिनमें यह जागरूकता हो कि व्यक्तिगत तथा सामूहिक व्यवहार वैसा नहीं है जैसा कि सामाजिक तौर पर उचित समझा जाता है और उसके निवारण के लिये कुछ न कुछ सामूहिक क्रिया की आवश्यकता है।<sup>15</sup> अतः स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त में सामाजिक समस्याओं को सामाजिक विघटन के कारक के रूप में स्वीकार किया गया है और उन्हें दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। ये सामाजिक समस्याएँ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में विद्यमान हो सकती हैं। उदाहरणार्थ वृद्धजनों की देखरेख (the care of the aged) एक सामाजिक समस्या है क्योंकि उनकी मृत्यु भूख या ठंडक में बाहर निकलने के कारण हो सकती है और इस प्रकार की मृत्यु को एक समाज उचित नहीं मानता है। उसी प्रकार विवाह-विच्छेद (divorce) उस समाज के लिये एक सामाजिक समस्या है जिसमें कि 'विवाह-बन्धन का अन्त केवल मृत्यु के बाद ही हो,' इस आदर्श को सामाजिक कल्याण के लिए मौलिक माना जाता है। मानसिक दुर्बलता या मन्द बुद्धि (feeble mindedness) उस समाज के लिए एक सामाजिक समस्या है जो कि यह विश्वास करता है कि ऐसे व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाली सन्तान शारीरिक, मानसिक या नैतिक रूप में निम्न स्तर की होंगी और उन्हें उस रूप में जीवन के साथ संघर्ष करने के लिये छोड़ देना मानवीय आदर्शों के प्रतिकूल है। उसी प्रकार अपराध एक समस्या है क्योंकि उससे सामाजिक सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न होने का अन्देश रहता है। आधुनिक मनोरंजन के साधन भी एक समस्या है क्योंकि इन साधनों का इतना अधिक व्यापारीकरण (commercialization) हो गया है कि उनसे मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि जितनी नहीं होती है उससे कहीं अधिक व्यापारिक लाभ और शोषण (exploitation)। इन समस्याओं के कारण ही सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि इतिहास के एक काल, दशा तथा स्थान में समस्या है, वह दूसरे काल, दशा व स्थान में न भी हो सकती है। अतः इसे सामाजिक विघटन का एक मौलिक कारण कैसे माना जा सकता है। साथ ही इस सिद्धान्त में सामाजिक विघटन के कारणों का विश्लेषण करने का उतना प्रयत्न नहीं किया गया है जितना कि सामाजिक सुधार करने के लिये फौरन कोई सामूहिक कार्यवाही करने पर बल दिया गया है। फिर भी इस सिद्धान्त ने सामाजिक

15. "Basic to the social—problems approach was the assumption that society could and should progress if it would but attack the maladjustments which were impeding or delaying human advancement. Thus the social problems were the diseases of society which threatened the welfare of the group. Social problems exist in those areas of human relationship in which there is an awareness that individual and collective behaviour deviates from what is considered socially desirable and that treatment calls for some sort of collective action." *Ibid.*, p. 16.



विघटन की वैज्ञानिक विवेचना के हेतु एक रास्ता प्रस्तुत किया है और इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक असामंजस्य की घटनाएं मनुष्य के पापों के लिए ईश्वरीय दण्ड नहीं हैं बल्कि उनकी उत्पत्ति कुछ स्वाभाविक या प्राकृतिक (naturalistic) कारणों से ही होती है।

(२) मनो जैवकीय सिद्धान्त (The biopsychological approach):— यह सिद्धान्त प्रत्यक्षतः दो विज्ञान—मनोविज्ञान (psychology) तथा जीवशास्त्र (biology)—के विकास का परिणाम है। इस सिद्धान्त का प्रारम्भ श्री गोबिनो (Gobineau) तथा उनके समर्थकों द्वारा प्रतिपादित प्रजातीय सिद्धान्त (racial theory) से हुआ जिसके साथ बाद में सुजननशास्त्र (eugenics) का आधुनिक विचार तथा मानसिक अन्तरों (mental differences) का सिद्धान्त जुड़ गया।

श्री गोबिनो (Gobineau) और उनके समर्थकों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि समस्त समाजों का पतन प्रजातीय संमिश्रण (racial intermixture) का परिणाम है। इसका कारण यह है कि योग्यता (capability) में सब प्रजातियाँ समान नहीं होती हैं। श्री गोबिनो के अनुसार आदि काल से तीन प्रजातियाँ—श्वेत (The white), पीत (The yellow) तथा श्याम (The black)—चली आ रही हैं। श्वेत प्रजाति योग्यता से सर्वश्रेष्ठ है और मानव-जाति के इतिहास में पाये जाने वाले समस्त सभ्यताओं का विकास करने का श्रेय इसी श्वेत प्रजाति को है। परन्तु जैसे-जैसे श्वेत प्रजाति ने अन्य निम्न श्रेणी की प्रजातियों पर विजय प्राप्त करके उनके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किया और उनसे सन्तान उत्पन्न किये, वैसे-वैसे प्रत्येक सभ्यता में पतन होने लगा।

सुजननशास्त्रियों (eugenists) ने इस सिद्धान्त को यह विचार व्यक्त करके और आगे बढ़ाया कि केवल विभिन्न प्रजातियों के सदस्यों में ही नहीं, वरन् एक ही प्रजाति के विभिन्न सदस्यों में भी प्राणिशास्त्रीय या जैवकीय (biological) अन्तर होता है। इस प्रकार एक ही प्रजातीय समूह में उत्तम और अधम योग्यता वाले व्यक्ति होते हैं। इनमें से हीन या अधम वर्गों (inferior classes) के सदस्यों की अयोग्यताओं के कारण ही सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है। ये समस्याएँ ही सामाजिक विघटन का कारण बन जाती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि समाज इस प्रकार के कुछ कठोर कदम उठाये जिससे अयोग्य व्यक्तियों के सन्तान न हो। इसके लिये या तो ऐसे व्यक्तियों को विपरीत लिंग (sexes) से पृथक् रखा जाये या बन्ध्यकरण (sterilization) की विधि (यह एक प्रकार का आपरेशन होता है जिससे सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता समाप्त हो जाती है) को अपनाया जाये केवल इन्हीं उपायों से सामाजिक समस्याओं को सुलझाया और समाज के विघटन को रोका जा सकता है।

इसके बाद मनोवैज्ञानिकों द्वारा मानसिक परीक्षाएँ किये जाने पर इस बात का और भी प्रमाण मिल गया कि व्यक्तिगत योग्यताओं में पर्याप्त अन्तर होता है। इससे उपरोक्त सिद्धान्तकारों को योग्य से अयोग्य को पृथक् रखने का एक “वैज्ञानिक”



आधार मिल गया ।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह वंशानुगत (hereditary) या प्राणीशास्त्रीय कारकों को आवश्यकता से अधिक प्रधानता देता है । इसके सिद्धान्तकार यह भूल जाते हैं कि सामाजिक या व्यक्तिगत कमियों, अयोग्यताओं या समस्याओं का कोई सामाजिक कारक भी हो सकता है और होता भी है ।

(३) भौगोलिक सिद्धान्त (Geographical approach)—यह सिद्धान्त बहुत कुछ मनो-जैवकीय सिद्धान्त का तार्किक प्रतिवाद (logical antithesis) है, क्योंकि इसकी मान्यता यह है कि व्यक्ति के शरीर-रचना का महत्व भौगोलिक कारकों की तुलना में बहुत कम या ना के समान होता है ।<sup>16</sup> इस दृष्टिकोण से सांस्कृतिक श्रेष्ठता या जनता का पिछड़ापन भौगोलिक कारकों पर निर्भर करता है । इन कारकों में भूमि, जल, जलवायु, मिट्टी, खनिज पदार्थ, उष्णता, आँधी, वर्षा, भूकम्प आदि महत्वपूर्ण हैं । श्री हंटिंगटन (Huntington) के अनुसार समाज की सम्यता की उत्पत्ति, विकास और विनाश वहाँ की जलवायु पर निर्भर है । जलवायु अच्छी होने पर लोगों की शारीरिक तथा मानसिक कुशलता उच्चकोटि की होती है और लोग कठोर परिश्रम भी कर सकते हैं । जब अपनी समस्त शारीरिक तथा मानसिक कुशलताओं के साथ लोग कठिन परिश्रम करते हैं तो सम्यता का विकास अवश्य ही होता है । श्री हंटिंगटन के अनुसार उष्ण कटिबन्ध तथा ध्रुवीय क्षेत्रों में उच्च सम्यता का विकास नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ क्रमशः अत्यधिक गर्मी और ठंडक पड़ती है । इसलिए वहाँ के लोगों में शारीरिक और मानसिक कुशलता का विकास नहीं हो पाता है । इस दृष्टिकोण से शीतोष्ण कटिबन्ध के प्रदेश आदर्श हैं और यही कारण है कि वहाँ उच्च सम्यता का विकास हुआ है । इसी प्रकार अन्य सभी विषयों में भौगोलिक कारकों के महत्व को प्रधानता देते हुए भौगोलिकवादियों का कहना है कि अपराध, अशिक्षा, आत्महत्या, विवाह-विच्छेद, पागलपन, सांस्कृतिक पिछड़ा आदि भौगोलिक कारकों का फल है ।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसके सिद्धान्तकार भौगोलिक कारकों को ही सब कुछ मान बैठते हैं । भौगोलिकवादियों ने मानव को भौगोलिक कारकों का विल्कुल ही दास मान लिया है—भौगोलिक कारक अगर चाहे तो मनुष्यों से सर्वश्रेष्ठ सम्यता या संगठन का विकास करवा सकता है, और यदि चाहे तो मनुष्य से कत्ल करवा सकता है, उसे पागल बना सकता है और उसे भूखों मार सकता है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि मनुष्य स्वयं अपने समाज, सामाजिक संगठन या विघटन, सम्यता व संस्कृति का निर्माता है । हाँ, भौगोलिक कारकों की विरोधिता या सहायता उसे इन कामों

16. "In many respects this (geographical approach) is the logical antithesis of the biopsychological approach, since it assumes that the constituent make up of the individual is of little or no consequence in comparison to the influence of geographical factors," Ernest R. Mowrer, *Ibid.*, p. 19.



में मिल सकती है पर उनके ही द्वारा आज का मानव पूर्णतया नियंत्रित नहीं है। श्री माउरर (Mowrer) ने उचित ही लिखा है कि “इसमें सन्देह नहीं कि भूगोल मानव-प्रतिभा या कुशलता को सीमाबद्ध करता है, पर कहीं भी किसी अर्थ में यह सामाजिक असामंजस्य के प्रतिमानों (Patterns) को निश्चित करता है। वास्तव में, यदि हम यह कहते हैं कि मानव व्यवहार के निर्धारण में भूगोल की प्रत्यक्ष भूमिका या प्रभाव होता है तो वह उस स्तर पर जहाँ पर किसी भी संस्कृति का अस्तित्व नहीं है, और उन परिस्थितियों में कोई सामाजिक संगठन भी नहीं हो सकता। भौगोलिक सिद्धान्त इसीलिए उतना ही निरर्थक है जितना कि इसका तार्किक प्रतिवाद—मानो जैवकीय सिद्धान्त।”<sup>17</sup>

(४) सांस्कृतिक सिद्धान्त (cultural approach):—सामाजिक विघटन का चौथा सिद्धान्त सांस्कृतिक सिद्धान्त है क्योंकि यह सांस्कृतिक तत्वों या प्रक्रियाओं के संदर्भ में सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार समाज की विभिन्न संस्थाएँ जब सुचारु रूप से कार्य नहीं करती हैं तो सामाजिक विघटन के विभिन्न स्वरूप सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, अपराध तथा निर्धनता दोषपूर्ण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का ही स्वाभाविक परिणाम है। पूँजीवादी व्यवस्था समस्त सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों को पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित कर देती है और श्रमिकों के हितों का तनिक भी ध्यान नहीं रखती है। पूँजीपति वर्ग श्रमिकों की लाचारियों से लाभ उठाकर उनका खूब शोषण करते हैं और श्रमिक उनके अन्यायों और अत्याचारों से पीड़ित होकर गरीबी और अपराध के रास्ते पर आ जाने को बाध्य होते हैं।

इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक सिद्धान्त का एक अन्य रूप श्री ऑगबर्न (Ogburn) द्वारा विकसित ‘सांस्कृतिक विलम्बना’ (Cultural lag) की अवधारणा है जिसके अनुसार जब भौतिक संस्कृति तेजी से परिवर्तित हो जाती है और अभौतिक संस्कृति उससे सामंजस्य स्थापित करने में असफल रहती है तो उसके फलस्वरूप जो असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है उसे सामाजिक विघटन कहा जाता है। इस सिद्धान्त का एक तीसरा रूप ‘सांस्कृतिक संघर्ष’ (cultural conflict) की अवधारणा है जिसके अनुसार जब एक ही समाज में दो विरोधी सांस्कृतिक समूह साथ-साथ रहते हैं तो उनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यह संघर्ष दोनों समूह के सांस्कृतिक तत्वों के बीच होता है जिसके फलस्वरूप समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इससे यह पता नहीं चलता

17. “Geography no doubt does set limits to man’s ingenuity, but nowhere does it in any sense determine the patterns of social maladjustment. In fact, if it can be said that geography plays a direct role in determining human behaviour it is at that level where no culture exists, and under those conditions there can be no social disorganization. The geographical approach is, therefore, as sterile as its logical antithesis, the biopsychological.” *Ibid.* p. 20.



है कि सामाजिक विघटन के साथ व्यक्ति का क्या वास्तविक सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में इस सिद्धान्त से यह पता नहीं चलता है कि सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में व्यक्ति का कितना हाथ रहता है। साथ ही साथ यह सिद्धान्त केवल सांस्कृतिक कारकों को आवश्यकता से अधिक मान्यता देने की गलती करता है। सामाजिक विघटन में अन्य कारक जैसे आर्थिक आदि भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

(५) **व्यष्टि-समष्टि मूलक सिद्धान्त** (Microscopic-macroscopic theory):—इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय श्री चार्ल्स कुले (Charles Cooley) को है। आपने सामाजिक जीवन को एक सावयव प्रक्रिया (Organic process) के रूप में देखा जिसके अन्तर समाज और व्यक्ति के बीच पारस्परिक अन्तःक्रिया होती है। जब यह पारस्परिक अन्तःक्रिया समाप्त हो जाती है या विकृत हो जाती है तो उस अवस्था में सामाजिक विघटन का उद्भव होता है। उदाहरण के लिए सामाजिक संस्थाओं और मनुष्यों के बीच एक पारस्परिक अन्तःक्रिया होती रहती है। इसके फलस्वरूप मनुष्यों की आवश्यकता की पूर्ति सम्भव होती है। संस्थायें चूँकि मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं इस कारण वे उनके व्यवहारों पर नियंत्रण भी कर सकते हैं। इसके विपरीत जब वे संस्थायें मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाती हैं, तो व्यक्ति पर इनका नियंत्रण भी घट जाता है। उस अवस्था में सामाजिक विघटन का उद्भव होता है।

श्री कुले के व्यष्टि-समष्टि मूलक सिद्धान्त की मुख्य बात व्यक्ति तथा समाज के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध है। श्री कुले के अनुसार व्यक्ति और समाज दोनों ही एक ही चीज के अर्थात् सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष हैं। जब हम सामाजिक जीवन को उन पृथक् इकाइयों के दृष्टिकोण से देखते हैं जिनसे वह बना है तब हम व्यक्ति को देखते हैं। इसके विपरीत जब हम सामाजिक जीवन को उसके सामूहिक रूप में देखते हैं तब हम वास्तव में समाज को ही देखते हैं। इस प्रकार समाज और व्यक्ति दोनों ही उस वृहत् वास्तविकता के दो पूरक पक्ष हैं जिसमें दोनों सम्मिलित हैं। श्री कुले ने इस विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है कि “पृथक् व्यक्ति की चिन्ता करना समस्त अनुभव से परे एक अव्यवहारिक बात है। यही बात समाज के लिए भी लागू होती है। यदि हम उसे व्यक्तियों से पूर्णतया पृथक् कोई चीज मान लें। वास्तविक चीज मानव जीवन है जिसे या तो व्यक्ति के रूप में सोचा जा सकता है अथवा समाज के रूप में। अर्थात् सामाजिक जीवन का या तो एक व्यक्तिगत पक्ष है या एक सामान्य पक्ष, परन्तु वास्तव में वह व्यक्तिगत और सामान्य दोनों ही है। दूसरे शब्दों समाज और व्यक्ति पृथक् घटनाओं को व्यक्त नहीं करते हैं बल्कि एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं—समष्टिमूलक और व्यष्टिमूलक। उनके बीच वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि उन दो शब्दों में, जिसमें से एक सम्पूर्ण समूह को व्यक्त करता है और दूसरा समूह के सदस्यों को, जैसे सेना और सिपाहियों, कक्षा और विद्यार्थियों इत्यादि।”<sup>18</sup>



उपरोक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत विघटन का उद्भव सामाजिक विघटन से नहीं होता है या सामाजिक विघटन का जन्म व्यक्तिगत विघटन से नहीं होता है क्योंकि वे दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं और एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप में बँधे हैं। इस प्रकार कूले के अनुसार व्यक्तिगत विघटन की चिन्ता सामाजिक विघटन और सामाजिक विघटन की चिन्ता व्यक्तिगत विघटन के बिना नहीं किया जा सकता। सामाजिक विघटन कारक और फल दोनों ही हैं अर्थात् यदि सामाजिक विघटन व्यक्तिगत विघटन का कारक है तो वह व्यक्तिगत विघटन का फल भी हो सकता है। यही बात व्यक्तिगत विघटन के विषय में भी कही जा सकती है। सामाजिक विघटन संस्थात्मक नियंत्रणों (institutional controles) को छिन्न-भिन्न कर देता है और मनुष्य के आदिम स्वभाव को इस बात का अवसर देता है कि वह सामाजिक बन्धनों से मुक्त होकर फिर एक बार स्वतन्त्रता पूर्वक काम करें। दूसरी ओर यह संस्थात्मक नियंत्रण की औपचारिकता होती है जो कि बाहरी तौर से व्यक्ति पर नियन्त्रण रखती है और उसे आन्तरिक रूप में या अन्दरूनी तौर पर बिना किसी पथ प्रदर्शन के छोड़ देता है जो कि धीरे-धीरे सामाजिक विघटन में विकसित हो जाती हैं जिसमें संस्थायें अपना प्रभाव खो बैठती हैं। इस प्रकार श्री कूले के अनुसार व्यक्तिगत सामाजिक विघटन का चक्र इस प्रकार कियाशील होता है। व्यक्तिगत प्रक्रिया जिसके आधार पर सामान्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में जागरूकता पनपती है—इन आवश्यकताओं की अधिकतम कुशलता पूर्वक प्राप्ति के लिए संस्थात्मक संगठन को विकसित किया जाता है—अनुकूलन की प्रक्रिया के टूट जाने के कारण संस्थागत स्वरूपों में औपचारिकता पनपती है अर्थात् जब संस्थाएँ सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल होती हैं तब ही वे बाहरी दिखावटीपन को नहीं छोड़ती हैं—आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सकने के कारण व्यक्तियों पर संस्था का प्रभाव या आन्तरिक नियन्त्रण घट जाता है—इस नियन्त्रण के घट जाने का अर्थ होता है संस्थाओं या समाज का विघटन—विघटन के बाद मानव प्रकृति को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है या उसकी आदिम प्रवृत्तियों को उमड़ने से रोका जाता है या संगठन की उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के आधार पर उसके स्वाभाव को फिर से बसाने का प्रयत्न किया जाता है—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक संस्थाओं का या संस्थात्मक स्वरूपों का पुनर्संगठन किया जाता है। इस प्रकार चक्र

---

so like wise is society when regarded as something apart from persons. The real thing is human life, which may be considered either in an individual aspect or in a social, that is to say a general aspect; but is always, as a matter of fact, both individual and general. In other words "society" and "persons" do not denote separable phenomena, but are simply collective and distributive aspects of the same thing, the relation between them being like that between other expressions one of which denotes a group as a whole and the other the members of the group, such as army and soldiers, the class and the students and so on." Charles H. Cooley, Robert C. Angell and Lowell J. Carr. *Introductory Sociology*, Charles Scribner's Sons, London, 1942, p. 71.



पूरा होता है और वह चक्र फिर से चलना आरम्भ होता है।<sup>18</sup>

उपरोक्त सभी सिद्धान्तों का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे केवल एक ही कारक को सामाजिक विघटन का कारण बतलाते हैं और उस कारक को इतना बड़ा-चड़ा कर प्रस्तुत किया है कि उन सिद्धान्तों में अन्य किसी भी कारक का कुछ भी महत्व नहीं रह गया है। एक ही और केवल एक ही कारक को सब कुछ मान लेने की गलती करने वाले सिद्धान्तकारों के दृष्टिकोण को सर्वश्री इलियट और मैरिल (Elliott and Merrill) ने “विशेषानुरक्तवादी भ्रान्त धारणा” (particularistic fallacy) कहा है। इन विद्वानों के अनुसार किसी भी वास्तविक सामाजिक बोध (realistic social understanding) में यह आवश्यक है कि सभी कारकों को एक दूसरे से सम्बन्धित रूप में विवेचन किया जाये। इसीलिए सामाजिक विघटन का भी कोई एक ‘कारण’ नहीं हो सकता।<sup>20</sup>

### सामाजिक विघटन के कारण

#### (Causes of Social Disorganization)

चूँकि सामाजिक विघटन का कोई एक कारण नहीं हो सकता, इसलिये हमें इसके एकाधिक कारणों को ढूँढ़ना पड़ेगा। सामाजिक विघटन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सामाजिक संरचना से है, इसीलिये सामाजिक विघटन में इसका क्या योगदान रहता है, अर्थात् सामाजिक संरचना सामाजिक विघटन का कारण कैसे बना सकती है, इसी विवेचना से हम आरम्भ करते हैं—

### सामाजिक संरचना और सामाजिक विघटन

#### (Social Structure and Social Disorganization)

जैसा कि प्रथम अध्याय में हम लिख चुके हैं, सामाजिक संगठन की स्थिरता इस बात पर निर्भर करती है कि समाज के सदस्यों में स्थिति तथा कार्यों (statuses and roles) कितने अच्छे ढंग से वितरित (distributed) हैं और वे सदस्य अपनी-अपनी स्थिति और कार्यों को कहाँ तक स्वीकार करने तथा उसी अनुसार काम करने को तैयार हैं। इन स्थितियों में कुछ स्थितियाँ प्रदत्त (ascribed status) होते हैं जिन्हें एक व्यक्ति बिना किसी प्रयत्न के परम्परागत रूप में समाज से प्राप्त करता है। उसी प्रकार कुछ स्थितियाँ अर्जित (achieved status) होते हैं जिन्हें कि एक व्यक्ति अपने गुणों, कुशलताओं तथा प्रयत्नों के द्वारा स्वयं प्राप्त करता है। किसी न

19. “The sequence of personal-social disorganization becomes, than : individualized responses out of which develops a consciousness of common needs —institutional organization for the more effective realization of these needs —formalism in institutional forms due to a breakdown in the adoptive process —loss of internal control over the individual—disorganization of institutions or of society—reinstatement of immediate human nature with its natural impulses—reorganization of institutional forms, thus completing the cycle and starting over again.” *Ibid*, pp. 402-415.

20. Elliott and Merrill, *Op. cit.*, pp. 21-22.



रूप में इन दोनों प्रकार की स्थितियों तथा उनसे सम्बन्धित कार्यों की एक सामाजिक परिभाषा (social definition) प्रत्येक समाज में होती है; अर्थात् सामाजिक नियम प्रथा, परम्परा या कानून इस बात का निर्धारण या व्याख्या पहले से ही कर देते हैं कि विभिन्न स्थितियों या पदों का वितरण किस ढंग से होगा और प्रत्येक पद से सम्बन्धित कौन-कौन से कार्य होंगे। यदि यह सामाजिक परिभाषा अपर्याप्त, अस्पष्ट और भ्रम में डालने वाली है तो समाज में सामाजिक विघटन की स्थिति आप से आप ही उत्पन्न हो जायेगी, क्योंकि उस अवस्था में समाज के सदस्य न तो अपने-अपने पदों के सम्बन्ध में निश्चित हो सकेंगे और न ही उन पदों से सम्बन्धित कार्यों या सामाजिक कर्तव्यों को उचित ढंग से निभा सकेंगे। इसका कारण भी स्पष्ट है। जैसा कि सर्वश्री इलियट और मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है: “सामाजिक स्थितियाँ तथा कार्य सामाजिक परिभाषा के ही फल हैं। समाज ही व्यक्ति की अधिकांश स्थितियों का निर्धारण करता है जिन पर वह आसीन होता है और वह समाज ही उन कार्यों को भी परिभाषित करता है। जिन्हें कि व्यक्ति को करना है।”<sup>21</sup> जब तक ये स्थितियाँ तथा कार्य स्पष्ट रहते हैं अर्थात् जब तक विभिन्न स्थितियों तथा कार्यों के विभाजन व परिभाषा में कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं होती है तब तक सामाजिक संगठन बना रहता है। पर जैसे ही इन स्थितियों तथा कार्यों के विभाजन व सम्पादन में गड़बड़ी हो जाती है—अर्थात् आज किसी व्यक्ति को एक स्थिति पर बैठाया जाता है तो कल उसे उस स्थिति से हटाकर दूसरे को वहाँ बैठा दिया जाता है; आज एक व्यक्ति एक कार्य कर रहा है तो कल उससे बिल्कुल भिन्न प्रकार का काम करने को कहा जाता है, या जिस स्थिति पर वह है न तो उस स्थिति की कोई स्थिरता है और न ही उससे सम्बन्धित कार्य सुनिश्चित है तो वह अवस्था निश्चय ही सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने वाली होगी।

गतिशील (dynamic) समाज की सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। फल यह होता है कि उस समाज के लोगों के पद और कार्य भी अनिश्चित तथा अस्थिर हो जाते हैं, जिसके कारण अनेक व्यक्तियों को यह निर्णय करने में कठिनाई होती है कि उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। ऐसा भी होता है कि सामाजिक संरचना में परिवर्तन होने के कारण नई परिस्थितियाँ, आवश्यकताएँ आदि उत्पन्न होती हैं और अनेक व्यक्तियों को नये पदों और कार्यों को ग्रहण करने के लिए विवश होना पड़ता है। अनेक व्यक्ति समाज की इन नवीन मांगों (demands) को पूरा नहीं कर पाते हैं और सामाजिक विघटन आरम्भ हो जाता है इसीलिए सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है, “एक गतिशील समाज में उसके विघटन के

21. “Social status and role are the products of social definition. Society assigns to the individual most of the statuses which he occupies and defines the roles which he will play.” Elliot and Merrill, *Ibid.*, p. 22.



तत्व उसके अपने में भी अन्तर्निहित रहते हैं। वे ही तत्व जो सामाजिक संरचना को गतिशील बनाते हैं, सामाजिक विघटन को भी उत्पन्न करने वाले होते हैं।<sup>22</sup>

सामाजिक विघटन की प्रक्रिया उस समाज में अधिक क्रियाशील होती है जहाँ कि सामाजिक स्थितियों में अन्तर्निहित आकांक्षाएँ तो उच्च कोटि की होती हैं पर उन्हें प्राप्त करने की सीमा उतनी ही विस्तृत नहीं होती है। और भी स्पष्ट रूप में जब किसी समाज में व्यक्ति अपनी आशाओं या आकांक्षाओं को वास्तविक रूप नहीं दे पाता है, तब ही वह ठीक रास्ते से गलत रास्ते में चला जाता है। उदाहरणार्थ, समाज हमारे अन्दर यह विश्वास भर देता है कि कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँच सकता है—अगर उसमें योग्यता है तो वह लखपति बन सकता है, राष्ट्रपति हो सकता है या संसार की सबसे सुन्दरी युवती को अपनी पत्नी के रूप में पा सकता है। परन्तु जब वही व्यक्ति यह देखता है कि समाज में अयोग्य व्यक्ति सिफारिश या पार्टी के बल पर सर्वोच्च पदों पर आसीन हैं और वास्तविक योग्य व्यक्तियों के लिए खाने-पहनने तक का भी ठिकाना नहीं है और कष्टों से तंग आकर अन्त में उन्हें आत्महत्या करनी पड़ती है तो वह निराश व्यक्ति भी समाज की आशाओं पर धूल भोंकता है, समाज द्वारा निर्धारित पदों व कार्यों को ठोकर मारता है, चोरी करता है, डाका डालता है जालसाजी करता है, दूसरे लोगों को भी अपने गिरोह में शामिल करता है और इस प्रकार व्यक्तिगत विघटन के उस चक्र को चलाता है और उस जाल को फैलाता है जिसमें सामाजिक संगठन के आवश्यक तत्व फँस जाते हैं और फँसकर छटपटाने लगते हैं। यही सामाजिक विघटन की स्थिति है क्योंकि जब समाज में उल्लेखनीय संख्या में लोग उन तरीकों से अपनी आशाओं या आकांक्षाओं को पूरा करने का या उच्च स्थितियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जो कि समाज द्वारा स्वीकृत नहीं हैं, तभी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

इतना ही नहीं, जब किसी समाज के सामाजिक संरचना के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख पदों (statuses) से सम्बन्धित कार्यों की कोई निश्चितता नहीं होती, तब भी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए आज की भारतीय पत्नी यह निश्चयपूर्व नहीं जानती है कि पत्नी के पद से सम्बन्धित वास्तविक कार्य क्या है? स्थिति यह है कि परिवार और सास-सुसर यह चाहते हैं कि वह लड़की एक आदर्श गृहणी बने; बच्चों के हितों को अगर देखा जाय तो उसे एक आदर्श माँ बनना चाहिये; समाज की मांग यह है कि वह स्त्री एक आदर्श नारी बनकर सामाजिक प्रगति में हाथ बंटाये, और पति यह चाहता है कि उसकी पत्नी एक रोचक जीवन-संगिनी की भूमिका को निभा सके। इसमें से कुछ ऐसी भूमिकाएँ हैं जो परस्पर विरोधी हैं जैसे, यदि एक स्त्री समाज की मांग के अनुसार घर से बाहर निकलकर सामाजिक कार्यों

22. "A dynamic society carries within itself, as it were, the elements of its own disorganization. The same elements that make the social structure dynamic are also those that bring about its disorganization." *Ibid*, p. 22.



में भाग लेकर सामाजिक प्रगति में हाथ बैठाती है तो वह घर पर रहकर सास-सुसर की न तो सेवा कर सकती है और न ही आदर्श मां की भूमिका निभा सकती है। कुछ स्त्रियाँ इन विरोधी अवस्थाओं में एक समन्वय स्थापित करने में सफल होती हैं, परन्तु अधिकांश स्त्रियाँ इनमें से किसी एक ओर झुक जाती हैं और अन्य कार्यों की अवहेलना करती हैं। फलतः पारिवारिक या व्यक्तिगत विघटन उत्पन्न होता है। इस प्रकार के विघटन का विस्तार जब समाज में हो जाता है तो सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

ऐसा भी हो सकता है कि सामाजिक संरचना के अन्तर्गत किसी एक संस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाने के कारण कुछ या अनेक व्यक्तियों के कार्यों में आमूल परिवर्तन हो जाये, परन्तु उनके परम्परागत या पुरानी स्थिति में उसी के अनुरूप परिवर्तन न हो। इससे भी असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है और सामाजिक विघटन अधिक स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, राजनीतिक या वैधानिक अधिकारों के आधार पर भारत में हरिजनों के कार्यों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। अनेक हरिजन आज अध्यापक, कलर्क, उच्च अधिकारी और मिनस्टर के कार्य कर रहे हैं। परन्तु उनकी सामाजिक या परम्परागत स्थिति में उसी अनुरूप आमूल परिवर्तन अभी नहीं हुआ है। सामाजिक तौर पर आज भी उनकी अनेक निर्योग्यतायें (disabilities) हैं। कार्य और स्थिति में यह तनाव सामाजिक विघटन का ही सूचक है।

आधुनिक समाज में अनेक नये पदों तथा कार्यों का उद्भव होता रहता है। इन नये पदों व कार्यों की सामाजिक परिभाषा तत्काल ही प्राप्त नहीं हो पाती है। उस अवस्था में अलग-अलग व्यक्ति या समूह अपने-अपने ढंग से उन्हें परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं जिसके फलस्वरूप एक ही स्थिति या पद तथा कार्य के सम्बन्ध में एकाधिक परिभाषाएँ समाज में चल पड़ती हैं। इन विविध परिभाषाओं में अकसर टक्कर हो जाया करती है जिससे एक अनिश्चित व तनावपूर्ण सामाजिक परिस्थिति का जन्म होता है। इस प्रकार की परिस्थितियाँ सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती हैं। एक ही पद तथा कार्य से सम्बन्धित जितनी अधिक परिभाषायें समाज में प्रचलित हो जाएंगी, सामाजिक विघटन की मात्रा (degree) भी उतनी ही अधिक होगी।

आधुनिक समाजों में प्राचीन समाजों की तुलना में सामाजिक विघटन के तत्व अधिक पाये जाते हैं। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है आज के समाजों में प्रदत्त पदों (ascribed statuses) की तुलना में अर्जित पदों (achieved statuses) की बहुलता होती है। उन अर्जित पदों को प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इससे समाज में कटु और अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा (competition) और व्यक्तिवाद (individualism) पनपता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को पीछे रखकर आगे निकल जाने का प्रयत्न करता है। इससे आपसी संघर्ष और तनाव उत्पन्न होता है जो कि सामाजिक विघटन का कारण बन जाता है।



## सामाजिक मनोवृत्तियाँ और सामाजिक विघटन (Social attitudes and Social disorganization)

समाज की विभिन्न परिस्थितियों तथा वस्तुओं के प्रति मानसिक चेतना को मनोवृत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, एक परिस्थिति या वस्तु के विषय में हम जो सोचते हैं और उसे जिस दृष्टिकोण से देखते हैं या उसके प्रति जो मनोभाव—घृणा, भय, प्रेम आदि रखते हैं, वही हमारी मनोवृत्ति है। इस प्रकार सामाजिक मनोवृत्ति मस्तिष्क की वह चेतन दशा है जो व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से सोचने या व्यवहार करने को प्रेरित करती है। सामाजिक मनोवृत्ति अनुभव के द्वारा सीखी जाती है। इसका विकास समाजीकरण (Socialization) की प्रक्रिया के साथ-साथ होता है। इस प्रकार एक ब्राह्मण परिवार के बच्चे में हरिजनों के प्रति छुआ-छूत की मनोवृत्ति पनप जाती है क्योंकि बचपन से ही वह यह देखता आया है कि उसके परिवार के दूसरे लोग हरिजनों के साथ छुआछूत बरतते हैं। जब समाज के अनेक लोगों की मनोवृत्तियाँ इस प्रकार की हैं कि उनके आधार पर सामाजिक एकता तथा संगठन असम्भव हो जाय तो उस अवस्था में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि समाज के अनेक व्यक्तियों की मनोवृत्ति विवाह संस्था के प्रति उपेक्षा पूर्ण हो जाय और वे विवाह के बन्धन को इच्छानुसार जोड़े और तोड़े, तो निश्चय ही वह स्थिति सामाजिक विघटन का एक कारण होगा। उसी प्रकार यदि अनेक व्यक्ति राज्य के प्रति विद्रोह की मनोवृत्ति को बनाए रखे, या कानूनों को उपेक्षा की दृष्टि से देखें तो उसका परिणाम भी सामाजिक विघटन ही होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैसे ही समाज में नये प्रकार की मनोवृत्तियाँ पनपती हैं और वे मनोवृत्तियाँ समाज के स्थापित या स्वीकृत नियमों के विपरीत होते हैं, सामाजिक विघटन किसी न किसी रूप में उत्पन्न हो जाता है क्योंकि उस अवस्था में समाज द्वारा मान्य मानदण्डों के अनुसार व्यक्ति व्यवहार नहीं करता है और न ही परम्परागत रूप में स्वीकृत कार्यों को ठीक से कर पाता है। इससे सामाजिक ढाँचे में एक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है जो कि सामाजिक विघटन का कारण बन जाती है।

मनोवृत्तियाँ कोई पृथक् अवधारणा नहीं है जिसका कि कोई भी सम्बन्ध किसी भी सामाजिक परिस्थिति से न हो। सामाजिक मनोवृत्ति का सम्बन्ध किसी परिस्थिति, वस्तु या व्यक्ति से अवश्य ही होता है। जब एक ही परिस्थिति के सम्बन्ध में विभिन्न मनोवृत्तियाँ समाज में चल पड़ती हैं तो उनमें तनाव व संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है जो कि सामाजिक विघटन का एक कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए साम्यवाद के प्रति यदि एक समूह या व्यक्ति की मनोवृत्ति दूसरे समूह या व्यक्ति की मनोवृत्ति के विपरीत है; अर्थात् एक समूह या व्यक्ति साम्यवाद को अच्छा मानता है और दूसरा उसे बुरा कहता है। उस अवस्था में यह स्वाभाविक है कि इन दोनों विरोधी मनोवृत्तियों में एक तनाव की स्थिति उत्पन्न होगी जो कि अन्त तक सामाजिक विघटन को उत्पन्न कर सकेगी।

सामाजिक मनोवृत्ति, जैसा कि सर्व श्री ईलियट तथा मैरिल (Elliott and



Merrill) ने लिखा है, मस्तिष्क की एक स्थिति है (A social attitude is a state of mind) । मस्तिष्क की यह स्थिति जीवन की विधि का परिणाम है अर्थात् व्यक्ति जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करता है उसकी मनोवृत्ति उसी ढंग की हो जाती है । एक बाल-अपराधी गिराह में रहने वाला एक बालक सम्पत्ति के प्रति इस प्रकार की मनोवृत्ति को पनपा सकता है कि दूसरों की सम्पत्ति को छीनकर प्राप्त किया जा सकता है । यह मनोवृत्ति समाज के स्थापित आदर्शों के विपरीत है और इसीलिये बाल-अपराधी के मनोवृत्ति के साथ समाज द्वारा स्वीकृत मनोवृत्ति की टक्कर हो सकती है जिससे सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है । जिस समाज में समाज विरोधी मनोवृत्तियाँ जितनी अधिक होंगी उस समाज में उतना ही अधिक विघटन होने की सम्भावना होगी, उदाहरणार्थ पूँजीवादी आर्थिक ढाँचे में बेकारी, निर्धनता, वर्ग संघर्ष आदि सामाजिक विघटन उत्पन्न करने वाले कारक श्रमिक वर्ग के प्रति पूँजीपतियों के शोषण की मनोवृत्ति के कारण पनपते हैं । शोषण की मनोवृत्ति समाज विरोधी मनोवृत्ति है और जिस समाज में यह मनोवृत्ति जितनी अधिक होगी उस समाज में बेकारी, निर्धनता, वर्ग संघर्ष आदि उतना ही अधिक पनपेगा जिसके फल-स्वरूप सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होगी । अतः स्पष्ट है कि कोई भी समाज विरोधी मनोवृत्ति सामाजिक विघटन का एक कारण हो सकती है, अगर वह मनोवृत्ति समाज में अधिक व्यापक हो जाये ।

सर्व श्री थॉमस तथा जैनेनकी (Thomas and Znaniecki) ने व्यक्तियों और समूहों पर व्यवहार के स्थापित नियमों के घटते हुए प्रभाव को ही सामाजिक विघटन कहा है । यदि व्यवहार के वर्तमान सामाजिक नियमों का प्रभाव घट रहा है तो वह स्थिति इस बात का द्योतक है कि समाज में समाज विरोधी मनोवृत्तियों का बोलबाला है । उस अवस्था में व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों के सम्बन्ध में कार्य करने के लिए नई प्रवृत्तियों को विकसित करता है या सीख लेता है । एक गतिशील समाज में प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जिनके विषय में पहले की पीढ़ियों के लोगों ने सोचा भी न था । एक पत्नी जोकि राजनीति में भाग ले रही है या नौकरी कर रही है, वह एक नये अवसर से निश्चय ही लाभ उठा रही है परन्तु साथ ही वह परम्परागत विश्वासों के विरुद्ध ही काम कर रही है । सामाजिक संस्थायें ऐसे ही अनेक विश्वासों पर आधारित हैं जो विभिन्न दशाओं में उत्पन्न हुए हैं । स्थापित आदर्शों के विपरीत काम करते हुए व्यक्ति अनजाने में ही उन सामूहिक सम्बन्धों को विघटित कर देता है जो इन आदर्शों पर आधारित हैं ।

### सामाजिक मूल्य और सामाजिक विघटन (Social Values and Social Disorganization)

सामाजिक मूल्य वे सामाजिक लक्ष्य या आदर्श हैं जो हमारे लिए कुछ अर्थ रखते हैं और जिन्हें हम जीवन के लिए महत्वपूर्ण समझते हैं । प्रत्येक समाज में सामाजिक मूल्य होते हैं और उन्हीं मूल्यों के आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों



तथा विषयों का मूल्यांकन किया जाता है। उन्हीं मूल्यों के आधार पर व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति को बनाता है जब व्यक्ति की मनोवृत्ति और इन सामाजिक मूल्यों में संघर्ष होता है तो सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ हिन्दुओं में विवाह संस्था के प्रति जो सामाजिक मूल्य है उसके अनुसार विवाह एक अटूट बन्धन है उसे तोड़ा नहीं जा सकता, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में व्यक्ति की मनोवृत्ति ऐसी नहीं है, वह तो विवाह-विच्छेद का भी पक्षपाती है। इस प्रकार वर्तमान मनो-वृत्ति और विवाह से सम्बन्धित परम्परागत सामाजिक मूल्यों के बीच एक संघर्ष उत्पन्न होता है जो कि समाज को विघटित करता है। अतः विवाह विच्छेद इस अर्थ में एक समस्या हो जाता है क्योंकि इसके द्वारा स्थाई एक विवाह (Permanent Monogamy) के मूल्यों को धक्का लगने की आशंका होती है। विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध एक समस्या है क्योंकि इसके द्वारा सतीत्व के परम्परागत मूल्यों को खतरा होता है उसी प्रकार अन्तर्विवाह (Endogamy) से सम्बन्धित सामाजिक मूल्यों के विपरीत आज अन्तर्जातीय (Inter caste) के पक्ष में व्यक्ति की मनोवृत्ति अधिक स्पष्ट है। इस प्रकार विपरीत सामाजिक मूल्यों और सामाजिक मनोवृत्तियों में जब-संघर्ष या तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है तब सामाजिक विघटन का लक्षण भी स्पष्ट हो जाता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। इन विरोधी विचारों के कारण समाज में एकमत्य (consensus) और सामंजस्य समाप्त हो जाता है जिसका कि एक सामान्य अर्थ है सामाजिक विघटन। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन बहुत कम और धीरे-धीरे होता है परन्तु मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियाँ तथा कार्य निरन्तर बदलते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक सामाजिक मूल्य वर्तमान परिस्थितियों से बहुत पिछड़ जाते हैं और इस पिछड़ने के फलस्वरूप व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में जो तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है उससे सामाजिक विघटन की प्रक्रिया प्रबल होती है।

सामाजिक मूल्य का आधारभूत तत्व सामाजिक अर्थ होता है। अर्थात् एक वस्तु, विचार या मनुष्य का जो अर्थ या महत्व समाज निश्चित करता है उसी के अनुसार उसका सामाजिक मूल्य निर्धारित होता है। श्री विलियम कैटन ने छः महत्व-पूर्ण मूल्यों का उल्लेख किया है—(१) स्वयं मानव जीवन; (२) कला तथा मानव सम्बन्धों के क्षेत्र में मनुष्य का रचनात्मक प्राप्तियाँ (creative achievements), (३) सुखी जीवन के लिए दूसरों के साथ सहयोग; (४) हमसे प्रभावशाली शक्ति की पूजा, (५) नैतिक चरित्र का पूर्ण विकास, और (६) मानव बुद्धि और योग्यता का सर्वोच्च विकास। जब कभी भी इन सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में एकाधिक अर्थ समाज के सदस्यों द्वारा लगाये जाते हैं तो सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सभी समाजों में मूल्यों के प्रतिमान (Patterns) होते हैं। यह प्रतिमान प्रत्येक समाज में एकसे नहीं होते हैं। इसीलिये प्रत्येक समाज के सामाजिक विघटन या संगठन का स्वरूप भी अलग-अलग होता है। जब एक ही समाज के मूल्यों के



विभिन्न प्रतिमान आपस में टकराते हैं तो भी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में जाति-प्रथा के अन्तर्गत ब्राह्मण की स्थिति, हरिजनों की निर्योग्यताओं (disabilities) आदि के सम्बन्ध में अलग-अलग परम्परागत मूल्य हैं जोकि सब मिलकर जातीय मूल्य-प्रतिमान को बनाते हैं। उसी प्रकार प्रजातांत्रिक सिद्धान्त के अन्तर्गत स्वतन्त्रता, समानता व मित्रता से सम्बन्धित जो अलग-अलग मूल्य हैं उन सब को मिलकर प्रजातांत्रिक मूल्य-प्रतिमान की रचना होती है। परन्तु जातीय मूल्य-प्रतिमान और प्रजातांत्रिक मूल्य प्रतिमान एक दूसरे के विपरीत हैं और यदि ये दोनों एक ही समाज में विद्यमान हैं तो उनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है। इसका परिणाम सामाजिक विघटन हो सकता है।

एक समाज में ऐसे भी सामाजिक मूल्य हो सकते हैं जिनको प्राप्त करना अनेक व्यक्तियों के लिये तब तक सम्भव न भी हो सकता है जब तक न वह अन्य मूल्यों का उल्लंघन करें। उदाहरणार्थ, एक समाज में धन का महत्व अत्यधिक है और इसीलिये उच्च आर्थिक पद या स्थिति को प्राप्त कर लेने से व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा स्वतः ही बढ़ जाती है। अर्थात् उस समाज में उच्च आर्थिक पद का सामाजिक मूल्य अत्यधिक है। इस मूल्य को (अर्थात् उच्च आर्थिक पद को) समाज द्वारा मान्य तरीकों से प्राप्त करना अनेक व्यक्तियों के लिए सम्भव न होने के कारण हो सकता है कि वे लोग उन मूल्यों की प्राप्ति दूसरे सामाजिक मूल्यों (जैसे प्रत्येक को अपनी सम्पत्ति पर अधिकार है) का उल्लंघन करके इस रूप में करें कि अपनी आर्थिक स्थिति को ऊँचा उठाने के लिये दूसरों की सम्पत्ति को जबरदस्ती छीन लें डाका डालें, गबन करें या जालसाजी से रुपया उपार्जन करें। जब समाज में इस प्रकार के मूल्य-संघर्ष अधिक संख्या में होते हैं तो सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

### सामाजिक संकट और सामाजिक विघटन

(Social Crises and Social Disorganization)

यद्यपि सामाजिक विघटन निरन्तर होने वाली एक प्रक्रिया है, फिर भी सामाजिक संकट उसकी गति को अत्यधिक बढ़ा देते हैं। सामाजिक संकट समूह के स्थापित या स्वीकृत कार्यों के सम्पादन में घोर बाधा उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार की नवीन परिस्थितियों को जन्म देते हैं कि व्यक्तियों की आदतों, रिवाजों और अन्य सामूहिक व्यवहारों का उन नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस प्रकार का अनुकूलन बहुधा सरल नहीं होता और उस स्थिति में सामाजिक संगठन नष्ट हो जाने की ही सम्भावना अधिक होती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि संकट के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उनसे रचनात्मक प्रवृत्ति वाले बुद्धिमान व्यक्ति तो नये व्यवहार-विधि (modes of behaviour) को विकसित करके किसी न किसी प्रकार से अपना अनुकूलन कर लेते हैं, परन्तु औसत के व्यक्तियों के लिये यह काम सरल नहीं होता है क्योंकि संकट के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियाँ उनको जो नवीन स्थितियों व कार्यों को सौंपता है



उन्हें वे सफलतापूर्वक नहीं कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में समाज में एक अजीब गड़-बड़ी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यही सामाजिक विघटन है।

सामाजिक संकट दो प्रकार के होते हैं—(१) आकस्मिक संकट (precipitate crises) और (२) संचयी संकट (Cumulative crises)।

आकस्मिक संकट उस संकट को कहते हैं जो सामाजिक जीवन में एकाएक बिना किसी पूर्व संकेत या आभास के प्रकट होकर समस्त स्वाभाविक अवस्था, संगठन, स्थितियों तथा कार्यों को एकदम उलट-पुलट देता है। आकस्मिक या अप्रत्याशित संकट से रातों-रात इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि हजारों व्यक्तियों को नये पदों और कार्यों को सम्भालना पड़ता है, बिलकुल नयी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। भारतीय सामाजिक जीवन में इस प्रकार का आकस्मिक संकट देश के विभाजन के समय, गान्धी जी की आकस्मिक मृत्यु के समय, बिहार और क्वेटा के भूचाल के समय, बंगाल में अकाल के समय आया था। ऐसे अवसरों पर न तो कुछ सोचने का समय मिलता है और न ही योजना बनाने का; कुछ न कुछ उपाय तुरन्त निकालने पड़ते हैं, परन्तु ऐसा करना सरल नहीं होता है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, किसी बैंक के फेल हो जाने से अनेक व्यक्तियों की संचित सम्पत्ति और व्यापार डूब जाता है, महामारी के फैलने से तुरन्त उस स्थान को छोड़ दूसरे स्थान को चले जाने की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार देश विभाजन के समय उन स्त्रियों को भी घर छोड़ना पड़ा जो कभी घर से बाहर नहीं निकलती थीं, उन्हें भी पैदल चलना पड़ा जो कभी पैदल नहीं चलते थे, उन्हें भी बोझ उठाना पड़ा जो कभी सपने में भी ऐसा करने की बात नहीं सोचते थे। उसी प्रकार रेल की दुर्घटना होने पर अनेक व्यक्तियों की जान जाती है, अनेक के घर उजड़ जाते हैं और अन्य प्रभावनीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अकाल पड़ने से किसान का खेत और पेट दोनों ही सूख जाता है, वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है और अराजकता फैल जाती है। महामारी (epidemic) के फैलने से कितने ही आदमी मरते हैं और कितनों को ही घर छोड़कर भागना पड़ता है। ये सब अप्रत्याशित या आकस्मिक संकट के ही उदाहरण हैं। भारत के भाग्य में इसी प्रकार का एक अप्रत्याशित संकट था हाल ही में पाकिस्तान द्वारा भारत पर हमला। इस हमले के फलस्वरूप कितने ही लोगों की जान गई है, कुछ शहर बर्बाद हुए हैं, घर टूटे हैं, परिवार उजड़े हैं; मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर तक को हमलावरों ने छोड़ा नहीं। इस युद्ध में २,२२६ भारतीय जवानों ने वीर गति को प्राप्त किया है जिनमें से १६१ अफसर हैं और २,०६५ दूसरे श्रेणियों (ranks) के हैं। घायल जवानों की संख्या ७,८७० है जिनमें ४१२ अफसर तथा ७,४५८ दूसरे श्रेणियों के जवान हैं।<sup>२३</sup> इतना ही नहीं, इस हमले के फलस्वरूप जो अन्य सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं का उदय एकाएक हुआ है उसके लिये कोई भी भारतवासी तैयार नहीं था। हम भारतीयों के लिये आप-बीती आकस्मिक संकट का इससे अच्छा उदाहरण और कुछ



भी नहीं हो सकता क्योंकि संकट के बादल आज भी राष्ट्र के आकाश से दूर नहीं हुये हैं।

संचयी संकट वह संकट है जो धीरे-धीरे निरन्तर होने वाली अनेक घटनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, उद्योगीकरण को ही लीजिए। उद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरों का विकास होता है, उस नगर की जनसंख्या बढ़ती रहती है और उसी के साथ-साथ गन्दगी, विमारी आदि भी बढ़ती जाती है। गन्दी बस्तियाँ पनपती हैं, बाल अपराध और अपराध की दरें (rates) बढ़ती हैं, तपेदिक आदि भयंकर बिमारियाँ घर कर लेती हैं और सामाजिक विघटन के लक्षण सुस्पष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार एक ही समाज में जब दो विरोधी सांस्कृतिक समूह एक साथ रहते हैं तो उनमें होने वाले सांस्कृतिक संघर्ष के फलस्वरूप भी सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायों में कुछ सांस्कृतिक भिन्नताओं के आधार पर उसी प्रकार के संघर्ष होते रहे। धीरे-धीरे इन भिन्नताओं को एक राजनैतिक पोषाक पहना दी गयी और साम्प्रदायिकता फैलती गयी जिसका अन्त देश विभाजन होकर हुआ।

### युद्ध और सामाजिक विघटन

(War and Social Disorganization)

युद्ध भी सामाजिक विघटन का एक कारण है। युद्ध के समय सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्थाएँ असन्तुलित हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। युद्ध के समय सैनिकों, नागरिकों तथा सम्पत्ति का विनाश होता है, कर्म में वृद्धि होती है, कीमतेँ बढ़ जाती हैं तथा प रिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसीलिए सर्व श्री ईलियट तथा मैरिल ने यह लिखा है कि “युद्ध सामाजिक विघटन का सबसे विकराल रूप है” (War is social disorganization in its most violent form)। इस कथन की विस्तृत विवेचना हमने अध्याय १८ में इसी शीर्षक के अन्तर्गत किया है।

### सामाजिक विघटन के अन्य कारणात्मक कारक

(Other Etiological Factors of Social Disorganization)

सामाजिक विघटन एक जटिल प्रक्रिया है जिसे उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व किसी एक कारक पर थोपा नहीं जा सकता। इसके लिए तो, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, एकाधिक कारक उत्तरदायी होते हैं। अब तक हम उन्हीं एकाधिक कारकों में से कुछ कारकों के विषय में विवेचना कर रहे थे। उन कारकों के अतिरिक्त भी अन्य कुछ कारक हैं जो कि सामाजिक विघटन को उत्पन्न कर सकते हैं। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

### सामाजिक विघटन में परिवार

(Family in Social Disorganization)

सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में परिवार का महत्व इसी बात स्पष्ट हो जाता है कि परिवार ही समाज की मौलिक इकाई है। यह नींव जब हिलती है तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक संगठन पर पड़ता है। यदि परिवार अपने सदस्यों



के समाजीकरण की प्रक्रिया में सहायता नहीं करता है तो समाज को विघटित व्यक्तित्व ही प्राप्त होंगे जिनसे सामाजिक संगठन का बनाये रखना असम्भव-सा होगा। परिवार बच्चे को समाज में प्रचलित आचार-विचार, रीति-नीति, आदर्श और विश्वासों के अनुसार बनाता है, उसमें सहयोग, कर्तव्य पालन तथा आत्म-त्याग की भावनाओं को पनपाता है और विभिन्न परिस्थितियों और व्यक्तियों से अनुकूलन (adjustment) करना सिखाता है, इससे सामाजिक संगठन को बनाये रखना सम्भव होता है। पर जब परिवार इन कार्यों को करना बन्द कर देता है या जब इन कार्यों को सफलतापूर्वक नहीं कर पाता है तो सामाजिक विघटन उत्पन्न हो जाता है।

आधुनिक समय में परिवार के प्रमुख कार्यों को अन्य संस्थाओं ने ग्रहण कर लिया है। शिक्षा के लिए अब स्कूल हैं, मनोरंजन के लिए सिनेमा, क्लब आदि और विवाह के लिए अदालत। फलतः आज का परिवार अपने सदस्यों के समाजीकरण में सक्रिय भाग नहीं ले पा रहा है और व्यक्तिगत विघटन की संख्या बढ़ रही है जिसका प्रभाव सामाजिक संगठन पर बुरा पड़ रहा है। आज घर की स्त्रियाँ भी बाहर नौकरी करने को जाती हैं, पैसा कमाती हैं और स्वतन्त्र रहना चाहती हैं जिसके फलस्वरूप पारिवारिक तनाव बढ़ता है, विवाह विच्छेद होता है, बच्चों की देखभाल ठीक से न होने के कारण बाल-अपराध में वृद्धि होती है। ये सभी सामाजिक विघटन की ही आरम्भिक दशाएँ हैं।

परिवार अपने सदस्यों में धार्मिक कट्टरपन, जातीय या प्रजातीय पक्षपात, व्यापार में बेइमानी करने के तरीके, झूठे विश्वास, ईर्ष्या, घृणा, यौन के सम्बन्ध में गलत धारणाएँ नशा-खोरी या ऐसे ही अन्य बुरी आदतों को भर सकता है जिसका बहुत ही बुरा परिणाम सामाजिक व व्यक्तिगत संगठन पर पड़ता है क्योंकि इन बुरी भावनाओं व आदतों से जिस व्यक्तित्व का विकास होता है वह केवल अपने तथा समाज के जीवन को विघटित ही कर सकता है।

परिवार अक्सर अपनी तथा अपने सदस्यों की मर्यादा को बनाये रखने के लिए सदस्यों के अपराधों या दुष्कर्मों को छिपाने का प्रयत्न करता है या उनके बुरे कामों का उत्तरदायित्व दूसरों पर थोपने का प्रयत्न करता है जिससे परिवार के सदस्य को अप्रत्यक्षतः प्रोत्साहन मिलता है और बुरे कार्य समाज में फैलते हैं जिससे सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है।

टूटा परिवार, घर में अनैतिकता, पारिवारिक कलह, नशा, माता या पिता की मृत्यु, माता-पिता की उदासीनता या अधिक लाड़-प्यार, गरीबी, घर में अपराधी का होना आदि ऐसे पारिवारिक कारण हैं जो केवल बच्चों के जीवन को ही बर्बाद नहीं करते, बल्कि सामाजिक विघटन को भी उत्पन्न करते हैं।

**शिक्षा—सामाजिक विघटन के एक कारक के रूप में**  
(Education as a cause of Social Disorganization)

शिक्षा भी सामाजिक विघटन का एक कारक बन सकती है। इसका प्रमुख



कारण यह है कि शिक्षा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल व्यक्ति से ही नहीं, वरन् समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पक्ष से भी होता है। यदि देश की शिक्षा त्रुटिपूर्ण है तो यह मानी हुई बात है कि उस देश की आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक और नैतिक जीवन भी भ्रष्ट होगा ही क्योंकि स्कूल ही बच्चों को भविष्य के नागरिक के रूप में तैयार करता है।

शिक्षा समाज को दो बड़े समूहों में बाँट देती है—शिक्षित और अशिक्षित। शिक्षा के आधार पर इन दोनों के बीच की दूरी सामाजिक जीवन में एक खाई उत्पन्न करती है। शिक्षित व्यक्ति जब अपने विचारों को अशिक्षितों पर जबर्दस्ती लादने का प्रयत्न करता है, तभी सामाजिक तनाव उत्पन्न होता है।

शिक्षा प्रगतिशील होती है और उसमें नवीन विचार तथा आदर्श अति शीघ्रता से योग होते रहते हैं। हो सकता है कि ये नवीन विचार व आदर्श ऐसे हों जो कि परिवार, पड़ोस या समूह के स्वीकृत विचारों व आदर्शों के विपरीत हों। उस अवस्था में दोनों प्रकार के विचारों और आदर्शों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

यह भी हो सकता है कि एक देश की शिक्षा विदेश की संस्कृति पर आधारित हो। उस अवस्था में शिक्षा के द्वारा केवल विदेश की संस्कृति के प्रति ही बच्चों का लगाव बढ़ता रहेगा और उनके मन में अपनी निजी संस्कृति के प्रति घृणा, असहिष्णुता और अवहेलना की भावना जागृत होगी। फलतः एक ही देश के लोग दो भागों में बँट जायेंगे—एक वह जो विदेशी संस्कृति के पक्ष में होगा और दूसरा वह जो देशीय संस्कृति को उत्तम मानेगा। इन दोनों में स्वभावतः ही तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होगी क्योंकि दोनों के विचार, मनोवृत्ति, मूल्य व आदर्श भिन्न होंगे। इससे भी सामाजिक विघटन उत्पन्न होगा।

श्री ब्राउन (Brown) का मत है कि युद्ध, क्रान्ति, राजनीति, धर्म आदि विषयों की व्याख्या कक्षा में नहीं की जानी चाहिए क्योंकि ये ऐसे विषय हैं जो बहुत ही नाजुक होते हैं और इन्हें यदि शिक्षक ने अति सतर्कतापूर्वक नहीं समझाया तो इनके विषय में अनेक गलत धारणायें बच्चों के मन में पनप सकती हैं जिनका कि बहुत बुरा प्रभाव उनके भावनात्मक जीवन पर पड़ता है। शिक्षक प्रायः बच्चों में जातीय या प्रजातीय पक्षपात, डरपोकपन, अन्धविश्वास आदि को भर देते हैं जिसके फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का संतुलित विकास नहीं हो पाता है।

### धर्म और सामाजिक विघटन

(Religion and Social Disorganization)

धर्म का सम्बन्ध एक अलौकिक शक्ति से होता है जिसे कि अन्तिम सत्य (absolute Truth) माना जाता है और इसीलिए इसके नियमों में भी कोई परिवर्तन नहीं होता है। धर्म की प्रकृति रूढ़िवादी ही होती है और इसलिए यह परिवर्तित अवस्थाओं को न तो स्वीकार करती है और न ही आवश्यकतानुसार अपने नियमों को परिवर्तित करने के पक्ष में होती है। इसके फलस्वरूप धर्म तथा परिवर्तित



आवश्यकताओं, आधुनिक विचार व मूल्यों के बीच प्रायः संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इतना ही नहीं, अपनी रूढ़िवादी प्रकृति के कारण धर्म समाज के अन्य पक्षों से परिवर्तन के मामले में पिछड़ जाता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन में एक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

धर्म की आड़ लेकर प्रायः लोग बुरे कार्यों को करते हैं। उदाहरणार्थ, भारत के हर गाँव और शहर में ऐसे लोग मिलेंगे जो कि ऊपर से देखने में तो 'साधु जी' हैं, पर वास्तव में हैं ठग, चोर, बदमाश और जब कतरने वाले गिरोह के सरदार। अनेक स्वस्थ और काम करने योग्य व्यक्ति धर्म के नाम पर महन्तों और साधुओं के चले बने हुए रहते हैं और आलसी व निठल्लेपन की जिदगी व्यतीत करते हैं। बड़े-बड़े उद्योगपति तथा व्यापारी काला-बाजारी करके, आय व ब्रिकी-कर का गबन करके और गरीब मजदूरों का खून चूसकर जो पाप करते हैं उसको, उनकी समझ से, धोने का सरल उपाय मन्दिरों को चन्दा देना, मन्दिर बनवाना और पाठ-यज्ञ करना है।

प्रत्येक धर्म अपने को श्रेष्ठ समझता है और उसके दृष्टिकोण से दूसरे धर्म के मानने वाले दुराचारी होते हैं। यही कारण है कि धर्म के नाम पर जितने अनर्थ हुए हैं उतने और किसी के नाम पर नहीं। धर्म के नाम पर युद्ध हुआ है, तलवार उठी है और क्रुसेड किया गया है। ये सब ही सामाजिक विघटन को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ हैं।

### सामाजिक विघटन में आर्थिक कारकों का महत्व (Significance of Economic Factors in S. D.)

सामाजिक विघटन सामाजिक असंतुलन की एक स्थिति होती है और इस असंतुलन को उत्पन्न करने में आर्थिक कारकों का अपना महत्व होता है। यह महत्व निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट हो जायगा:—

औद्योगिक क्रान्ति आधुनिक समय के आर्थिक कारकों में सबसे महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इस क्रान्ति ने सदियों पुरानी सामाजिक व्यवस्था व संरचना को विलकुल ही पलट दिया और ऐसी नवीन अवस्थाओं को उत्पन्न किया जिसके साथ हमारा कभी परिचय नहीं था। बहुत से व्यक्तियों तथा संस्थाओं का इन परिवर्तित अवस्थाओं से अनुकूलन करना कठिन हो गया और उनमें विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। इसका प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ा।

(१) कारखाना प्रणाली तथा सामाजिक विघटन (Factory system and Social disorganization):—औद्योगिक क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव फैक्ट्री प्रणाली का विकास था। इस विकास के फलस्वरूप समाज को विघटित करने वाली अनेक परिस्थितियों का उद्भव हुआ है। मिल और कारखानों में बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य होने से गाँव की आत्म-निर्भरता नष्ट हो गई और वहाँ के उद्योगों का पतन शुरू हुआ। ग्रामीण उद्योगों का पतन ग्रामीण समुदाय को आर्थिक रूप से उद्योग के मामलों में शहरी उद्योगों पर निर्भर कर देता है और ग्रामीण उद्योगों में लगे हजारों व्यक्तियों को बेरोजगार की स्थिति में ला फँकता है। यह परिस्थिति ग्रामीण समुदायों को



विघटित करने में सहायक सिद्ध होती है।

मिल और कारखानों में काम करने के लिए हजारों की संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता होती है जिनकी कि पूर्ति गाँव की जनता से की जाती है। इस प्रकार कारखाना प्रणाली के अन्तर्गत जनसंख्या की गतिशीलता गाँव से शहर की ओर हो जाती है। पर शहर में आकर बसने वाले श्रमिक नागरिक परिस्थितियों से अपना अनुकूलन सरलता से नहीं कर पाते हैं क्योंकि उनके लिए नगर की प्रत्येक परिस्थिति अजीब और नवीन होती है। जिन लोगों का अनुकूलन सफलता पूर्वक नहीं हो पाता है वे भावात्मक असन्तुलन के शिकार बन जाते हैं और उनके व्यक्तित्व का विघटन होता है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में गाँव का श्रमिक अपने को अकेला पाता है और उसमें असुरक्षा, अकेलापन आदि की भावनाएँ विकसित होती हैं। इससे भी व्यक्तिगत या सामाजिक विघटन दोनों ही हो सकते हैं।

औद्योगीकरण और कारखाना प्रणाली का एक और महत्वपूर्ण प्रभाव यह होता है कि नगरों में जनसंख्या अत्यधिक बढ़ जाती है और उस जनसंख्या में विभिन्न जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय के लोग सम्मिलित होते हैं और उनमें संघर्ष होने की सम्भावना अत्यधिक होती है।

(२) गन्दी बस्तियाँ और सामाजिक विघटन (Slums and Social Disorganization):—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कारखाना प्रणाली या उद्योगीकरण अनेक लोगों को एक ही स्थान पर केन्द्रित कर देता है। इसके फलस्वरूप औद्योगिक नगरों में मकानों की अत्यधिक कमी होती है और उस कमी को पूरा करने के लिये गन्दी बस्तियों का विकास होता है। इन बस्तियों में विद्यमान अस्वस्थ तथा दूषित वातावरण श्रमिकों के स्वास्थ्य को खराब करता है, उनकी कार्य-कुशलता को घटाता है और उन्हें अनेकों ऐसी बीमारियों का शिकार बना देता है जो पीढ़ियों तक उनका पीछा नहीं छोड़तीं और साथ ही श्रमिकों के नैतिक पतन और अपराध का कारण बनता है। गन्दे वातावरण में रहने वाले श्रमिकों के मनोभाव भी गन्दे हो जाते हैं और उनमें चोरी की आदत शराब पीने की आदत, जुआँ खेलने की आदत, तथा यौन सम्बन्धी अपराध पैदा हो जाते हैं।

(३) औद्योगिक बीमारियाँ और सामाजिक विघटन (Industrial diseases and social disorganization):—सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में औद्योगिक बीमारियों का भी अपना महत्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उद्योग-धन्धों के विकास के साथ-साथ अनेक प्रकार के औद्योगिक रोग श्रमिक को घेर लेते हैं। उन रोगों में तपेदिक, दिल की बीमारी, प्यूलिरिसी, दमा, शीशें की बीमारियाँ आदि उल्लेखनीय हैं। मशीनों की तेज आवाज से भी अनेक मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं जिसके फलस्वरूप पहले व्यक्तिगत विघटन, फिर पारिवारिक विघटन और अन्त में सामाजिक विघटन की नींव पड़ती है।

(४) व्यापारिक मनोरंजन तथा सामाजिक विघटन (Commercialized recreation and Social Disorganization):—सामाजिक विघटन को उत्पन्न



करने वाला एक और आर्थिक कारक व्यापारिक मनोरंजन है। आजकल के मनोरंजन के साधनों—नाटक, सिनेमा, क्लब आदि—का इतना अधिक व्यापारीकरण हो गया है कि करोड़ों रुपये की घनराशि इनमें लगी हुई है। इन मनोरंजन के साधनों से जनता का नैतिक स्तर गिरता और अपराध व बाल अपराध की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं क्योंकि अधिकतर सिनेमा, क्लब आदि अश्लील, कामोत्तेजक तथा मारकाट, हत्या आदि से भरपूर रोमांचकर परिस्थितियाँ प्रस्तुत करते हैं जिनका कि अधिकतर जनता पर, विशेषकर बालकों पर, बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है जिसका अन्तिम परिणाम व्यक्तिगत व सामाजिक विघटन होता है।

(५) पूँजीवाद और सामाजिक विघटन (Capitalism and Social Disorganization):—पूँजीवाद एक महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था है जो कि सामाजिक विघटन को उत्पन्न करता है। पूँजीवाद का सबसे प्रथम सामाजिक परिणाम श्री कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुसार वर्ग और वर्ग संघर्ष है। पूँजीवाद के कारण समाज दो वृहत् भाग—श्रमिक तथा पूँजीपति—में बँट जाता है और चूँकि पूँजीपति वर्ग श्रमिकों को उनके आर्थिक अधिकारों से वंचित करते हैं इसलिए इन दोनों वर्गों में संघर्ष होता रहता है। जब-जब यह संघर्ष कटु रूप धारण करता है, तब-तब सामाजिक विघटन का जन्म होता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय धन का असमान वितरण होता है। अधिकतर भाग पूँजीपतियों के कब्जे में होता है और उत्पादन के सभी साधनों पर वे अपना अधिकार किये रहते हैं। इसके फलस्वरूप धनी दिन प्रति-दिन धनी होते जाते हैं और निर्धनों की आर्थिक दशा उत्तरोत्तर दयनीय होती जाती है। श्रमिकों का शोषण (Exploitation) पूँजीवाद का एक और सामाजिक परिणाम है। श्रमिकों के पास रोटी कमाने के लिए श्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है। इस लाचारी से पूँजीपति पूरा-पूरा फायदा उठाते हैं और श्रमिकों को कम से कम वेतन देकर उनका खूब आर्थिक शोषण करते हैं। इससे श्रमिकों में असन्तोष की भावना पनपती है और वर्ग संघर्ष, हड़ताल तथा तालाबन्दी की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनमें से प्रत्येक स्थिति में सामाजिक विघटन अवश्यम्भावी हो जाता है। पूँजीवाद में उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि उसकी खपत असम्भव हो जाती है। इससे समय-समय पर आर्थिक संकट (economic depression) उत्पन्न हो जाता है। इन आर्थिक संकट के समय में मजदूरों की छटनी कर दी जाती है और देश में बेकारी भुखमरी तथा निर्धनता फैल जाती है। औद्योगिक भगड़े पूँजीवाद का एक और दुष्परिणाम है। ज्यों-ज्यों श्रमिक वर्ग संघटित होते जाते हैं और उनमें अपने अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूकता उत्पन्न होती जाती है, त्यों-त्यों वे पूँजीपतियों के अत्याचारों व शोषण नीतियों को सहने से इन्कार कर देते हैं और अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उनसे झगड़ा करते हैं। औद्योगिक भगड़े मजदूरी, बोनस और महँगाई आदि के प्रश्नों को लेकर ही अधिकतर खड़े होते हैं। औद्योगिक भगड़ों की स्थिति में मजदूर हड़ताल करते हैं और मालिक ताला-बन्दियाँ। दोनों का ही प्रभाव



मालिक, श्रमिक तथा राष्ट्र की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही बुरा पड़ता है।

(६) आर्थिक कारक और सामाजिक संस्थाओं का विघटन (Economic factors and Disorganization of Social Institutions) :—आर्थिक कारक समाज की प्रमुख संस्थाओं को विघटित करता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक विघटन का उद्भव होता है। आर्थिक कारकों द्वारा विघटित होने वाली संस्थाओं में परिवार का उल्लेख सबसे पहले किया जा सकता है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र सारे देश में फैल जाता है और परिवार के विभिन्न सदस्य देश के विभिन्न भागों में छिटक जाते हैं जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार का विघटन होता है। इतना ही नहीं उद्योग धन्धों के पनपने के साथ-साथ स्त्रियों को भी घर से बाहर नौकरी करने का अवसर मिल जाता है और वे आर्थिक रूप में स्वतन्त्र हो जाती हैं इसका प्रभाव परिवार के आन्तरिक सम्बन्धों पर पड़ता है। प्रायः पति-पत्नी का अनुकूलन कठिन हो जाता है। माँ के बाहर काम करने से बच्चों पर नियन्त्रण उचित ढंग से नहीं हो पाता है और देश में बाल-अपराधों की संख्या बढ़ती है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप जो आर्थिक आत्म-निर्भरता स्त्रियाँ प्राप्त करती हैं उससे उनकी गतिशीलता बढ़ती है और पुरुषों के साथ मेल-मिलाप भी। इसके फलस्वरूप रोमांस तथा प्रेम विवाह का प्रचलन समाज में बढ़ता है। रोमान्टिक विवाहों का अन्त रोमान्टिक विवाह विच्छेद में होता है जिससे कि परिवार टूटता है।

धर्म पर भी आर्थिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। आर्थिक प्रक्रिया में किसी भी प्रकार की कठिनाई होने पर मन्दिरों तथा अन्य धार्मिक संस्थानों की आमदनी कम हो जाती है और वे अपने धार्मिक कार्यों को भी उचित ढंग से नहीं कर पाते हैं। उद्योग धन्धों के पनपने के साथ-साथ धन का महत्त्व बढ़ता है और भौतिकवादी सुखों पर अधिक बल दिया जाता है। इससे भी धर्म का महत्त्व घटता जाता है।

शिक्षा संस्थाओं पर भी आर्थिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। यदि देश में आर्थिक कठिनाई है तो शिक्षा सम्बन्धी सामग्री और शिक्षकों के वेतन में कमी कर दी जाती है और कभी-कभी तो आवश्यकता पड़ने पर उनकी छटनी भी कर दी जाती है। इससे प्रति शिक्षक छात्रों की संख्या बढ़ जाती है और उनमें अनुशासनहीनता पनपती है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में आर्थिक कारकों का अपना महत्त्व है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि आर्थिक कारकों का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समूह की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से है। आर्थिक कमी के कारण या आर्थिक परिस्थिति के कारण जब इन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है तभी असन्तोष, तनाव तथा संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जो कि सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती हैं।

**सामाजिक विघटन में राजनीतिक कारक**

(Political Factors in Social Disorganization)

सामाजिक विघटन में राजनीतिक कारक काफी महत्वपूर्ण होते हैं। उन देशों



में जहाँ पर कि प्रजातन्त्रवाद है वहाँ एकाधिक राजनैतिक पार्टियाँ क्रियाशील होती हैं। इनमें से प्रत्येक पार्टी यह प्रयत्न करती है कि जनता पर उसी की प्रभुता रहे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे हर प्रकार के उचित और अनुचित उपायों को अपनाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक दल के बीच एक तनाव व संघर्ष की स्थिति चलती रहती है। यह तनाव उस समय और भी अधिक हो जाता है जब कि शासन करने वाला राजनैतिक दल दूसरे दलों को किसी न किसी तरह से नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। इससे केवल दो दलों के बीच ही तनाव नहीं बढ़ता है बल्कि इन पार्टियों के समर्थक जनसंख्या के विभिन्न भागों में भी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। यह स्थिति सामाजिक संगठन के लिए घातक सिद्ध होती है और उसका परिणाम सामाजिक विघटन हो सकता है।

राजनैतिक शक्ति लोगों को बहुत जल्दी भ्रष्ट कर देती है। इसलिए जिन लोगों के हाथों में देश के शासन की बागडोर रहती है उनमें से बहुत-से ऐसे लोग भी होते हैं जो कि अपनी पार्टी के आड़ में अपने ही स्वार्थों की सिद्धि करते रहते हैं जिसके फलस्वरूप आम जनता के स्वास्थ्य का हनन होता है। चुनाव में जीतने के लिए यह लोग व्यापारियों को विशेष छूट देते हैं स्वयं काला बाजारी करते हैं, दूसरों को लोहे, सीमेन्ट आदि की परमिट और सरकार से उधार रुपया दिलवाते हैं। इससे देश में भ्रष्टाचार का एक जाल-सा बिछ जाता है और सामाजिक विघटन के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं।

यदि देश की सरकार की नीति स्वस्थ आधारों पर आधारित नहीं है तो भी सामाजिक विघटन हो सकता है। सरकार की नीति यदि संकुचित राष्ट्रवाद या विस्तारवाद पर आधारित है तो वह राष्ट्र दूसरे के हितों का ध्यान न रखते हुए अपने शासन तथा संस्कृति को दूसरे राष्ट्रों पर लादने का प्रयत्न करेगा जिसके फल-स्वरूप युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और उससे सामाजिक विघटन।

### कानून और सामाजिक विघटन

(Law and Social Disorganization)

कानून का सबसे प्रमुख कार्य सामाजिक संगठन सुरक्षा और सुव्यवस्था को बनाये रखना है परन्तु उसी कानून से सामाजिक विघटन की नींव पड़ सकती है। कानून की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि यह समय-समय पर बदलता रहता है सामाजिक परम्परा रूढ़ियाँ तथा संस्थाएँ इतनी सरलता से परिवर्तित नहीं हो पाती हैं जिसके फलस्वरूप कानून और परम्परा व संस्था के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और सामाजिक विघटन का पथ प्रशस्त होता है।

सिद्धान्त तो यही है कि कानून के सामने सब बराबर हैं और कानून को तोड़ने पर सबको बराबर सजा मिलेगी। परन्तु इस बात का काफी प्रमाण है कि साधारण नागरिक को हमेशा न्याय प्राप्त नहीं होता है। ऐसे लोग जिनके साथ कानून न्याय नहीं कर पाता है, कानून के विरुद्ध हो जाते हैं और उनमें कानून से बदला लेने की भावना जाग्रत होती है और वे कानून को तोड़ते हैं और सामाजिक संगठन के लिए



खतरा उत्पन्न करते हैं।

अदालत में न्याय प्रायः देर से भी मिलता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो व्यक्ति एक-एक बार अदालत के पंजे में फंस गया उसकी जमीन-जायदाद तक मुकदमे की पैरवी करने में खर्च हो जाती है। अदालत के खर्चों से परेशान होकर कुछ लोगों ने आत्महत्या कर लिया है, या एक खून के बदले में फिर दूसरा खून भी कर डाला, ऐसा प्रमाण मिलता है। यदि सुनवाई और फैसले में देरी होती है तो कम आय वाले लोगों के लिये कानून बेकार है और उस अवस्था में कानून के प्रति वफादार रहना उनके लिये सम्भव नहीं होता है।

प्राप्त आकड़ों के अनुसार गरीब लोगों को ही प्रायः अदालत द्वारा दण्ड मिलता है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि उन लोगों के पास मुकदमे की पैरवी करने के लिये पर्याप्त धन नहीं होता है और इसीलिये वे अच्छे वकीलों की सेवाएं भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। इसके विपरीत धनी व्यक्ति धन के बल पर अपराध करते हुए भी, कानून के पंजे से साफ छूट जाते हैं। इस प्रकार दण्ड पाने के आधार पर धनी और निर्धन में जो खाई बन जाती है वह असंतोष की भावनाओं को ही जन्म देती है जो कि सामाजिक संगठन के लिये हितकर नहीं होता है।

### सामाजिक विघटन में प्रेस

(The Press in Social Disorganization)

सामाजिक विघटन के एक कारक के रूप में प्रेस का भी उल्लेख किया जा सकता है। प्रेस प्रचार का एक बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है। जब यह साधन विकृत हो जाता है या जब इसका अस्वस्थ प्रभाव समाज पर पड़ता है तभी सामाजिक विघटन होता है। प्रेस की सहायता से ही समाचारपत्र, पत्रिकाएं, किताबें, इश्तहार आदि प्रकाशित किये जाते हैं। समाचारपत्रों में अक्सर चोरी, डकैती, गबन आदि के अनेक समाचार खूब जोशीले रूप में छापे जाते हैं और उनमें यह भी लिखा रहता है कि वह अपराध किस प्रकार से किया गया। इन विवरण से लोगों को अपराध करने की विधियों का पता चलता रहता है और अपराधी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति उनसे प्रशिक्षण प्राप्त करते रहते हैं। इससे समाज में अपराध बढ़ता है।

समाचारपत्रों, पत्रिकाओं, इश्तहारों आदि के द्वारा विभिन्न वस्तुओं का विज्ञापन दिया जाता है। ये विज्ञापन ऐसी इच्छाओं को भड़काते हैं जो अनेक व्यक्ति सन्तुष्ट करने की क्षमता नहीं रखते हैं। ऐसे लोग इन वस्तुओं की चोरी करके प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

विज्ञापन पारिवारिक विघटन का भी कारक बन सकता है। इन्हीं विज्ञापनों से प्रभावित होकर बच्चे या पत्नी दुकान से ऐसे चीजों की खरीदकर ला सकते हैं जिनका मूल्य चुकाना पिता या पति के लिये सम्भव नहीं होता है। इससे परिवार पर ऋण का भार बढ़ता है और उसी के साथ-साथ पारिवारिक संघर्ष और तनाव। दोनों ही परिस्थितियाँ सामाजिक विघटन के कारण को उत्पन्न कर सकती हैं।



## निष्कर्ष

### (Conclusion)

सामाजिक विघटन के विषय में किये गये अब तक की विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं की ही भांति निरन्तर क्रियाशील रहती है। सामाजिक संगठन और विघटन सामाजिक जीवन के ही दो स्वाभाविक पहलू हैं और प्रत्येक स्वाभाविक समाज में इन दोनों का अस्तित्व सदैव ही बना रहता है। हाँ इतना अवश्य है कि किसी समाज में विघटन की प्रक्रिया संगठन से अधिक स्पष्ट होती है और किन्हीं समाजों में संगठन की स्थिति शक्तिशाली बनी रहकर विघटन की स्थिति को उमड़ने नहीं देती है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन उतनी ही जटिल प्रक्रिया है जितना कि स्वयं सामाजिक जीवन। इसीलिये किसी एक कारण के आधार पर सामाजिक विघटन को समझाया नहीं जा सकता। प्रायः एकाधिक कारकों के क्रियाशील होने पर ही सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। सामाजिक विघटन की प्रक्रिया परिवार से आरम्भ हो सकती है और व्यक्तिगत जीवन से भी, बेरोजगारी के रूप में अभिव्यक्त हो सकती है और वेश्यावृत्ति के रूप में भी; नशेवाजी के रूप में और निर्धनता के रूप में भी। किसी भी रूप में हो सामूहिक जीवन की अस्वस्थता ही सामाजिक विघटन है।

---



प्यारा-प्यारा एक नन्हा-सा दूध पीता बच्चा भारतीय माँ की गोद में पड़ा रो रहा है, भूख के मारे चीख-चीख कर। माँ की आँखों में आँसू हैं; माँ का दूध सूख गया है अनाहार तथा शारीरिक व मानसिक अत्याचार के कारण। बच्चे के पिता बेरोजगार की स्थिति में थे, कई महीनों से सुबह नौकरी की तलाश में घर से निकलते थे और शाम को निराश होकर लौट आते थे। बच्चों को स्कूल से पढ़ाई छुड़वाकर घर पर बैठा दिया गया था। बड़ा लड़का तो मानो यही चाहता था। स्कूल से पीछा छूटा तो शुरू हुयी आवारागर्दी और परिणाम हुआ बाल अपराध कुछ निर्धनता ने मारा, कुछ बेरोजगारी ने। न भिक्षा ही मिली और न नौकरी ही। पिता ने समस्या का सरल हल ढूँढा—आत्महत्या करके अपना पीछा छुड़ाया जग और जीवन दोनों से। न सोचा नन्हें बच्चे के लिये और न ही उसकी माँ के लिये। माँ रोते-रोते थक कर एक समय खुद ही थम गयी—जीवन की विभीषिकाओं और वास्तविकताओं को देखा, सोचा अपनी सन्तानों की बात, पहचाना अपने देश को जहाँ पूँजीपति श्रमिकों का खून चूस-चूस कर अपनी तिजोरियाँ भर रहे हैं, जहाँ जातिवाद ने अपना जाल बिछा कर रक्खा है, जहाँ निर्धनता और बेरोजगारी का दानव हर पल असंख्य जनता को आँखें दिखा रहा है, जहाँ प्रमुख सामाजिक संस्थाएँ आपस में संघर्ष कर रही हैं, जहाँ शिक्षा के साथ व्यावहारिक जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है, जहाँ सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है, जहाँ अदालतों तक में गरीबों को न्याय की भीख नहीं मिलती है और जहाँ वोट से लेकर मानवता तक और बच्चों की सुकुमारता से लेकर स्त्रियों की सेवा तक कौड़ी मूल्य में बिक जाती है। भारतीय जीवन का यह है 'अन्धकार पक्ष' (dark side) और यही है भारत में सामाजिक विघटन की रूपरेखा।

### भारत में सामाजिक विघटन की प्रकृति (Nature of Social Disorganization in India)

इसमें सन्देह नहीं कि 'सुजला सुफला शस्य श्यामला भारत' एक गौरवपूर्ण देश है—महान है इसकी परम्परा, उच्च कोटि की है इसकी संस्कृति और मानवता से भरपूर हैं इसके आदर्श। यह भी सच है कि यहाँ कभी 'रामराज्य' था; यह देश अशोक, शिवाजी, भ्रांसी की रानी, महाराणा प्रताप, तिलक, गान्धी, सुभाष और लाल जवाहर का देश है। फिर भी इस उज्ज्वल और गौरवपूर्ण पक्ष का एक उल्टा रूप, भारतीय जीवन का 'अन्धकार पक्ष' भी कुछ कम सत्य नहीं है; भारत में सामाजिक विघटन भी वास्तविक है—बहुत ही अन्धकार पूर्ण, बहुत ही निराशाजनक



और बहुत ही भयंकर। यहाँ धर्म, जाति, रीतिरिवाज, भाषा, वेषभूषा आदि ने समाज को छोटे से छोटे टुकड़ों में बाँटकर उनके बीच भिन्नताओं, तनाव व संघर्ष के बीच को बो दिया है। अतः समाज में ऐकमत्य (consensus) का नितान्त अभाव है। यहाँ अशिक्षा, जन्म और मृत्यु की उच्च दर, बीमारी, बेकारी, निर्धनता, अपराध, बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, शारीरिक और मानसिक दृष्टि से असमर्थ और अपाहिजों की अधिक संख्या, राष्ट्रीय आय का अत्यधिक असमान वितरण, जातिवाद, स्वास्थ्य व भोजन का निम्नतम स्तर, अस्पृश्यता, भाषा के आधार पर संघर्ष, राजनीतिक भ्रष्टाचार, काला बाजारी, घूसखोरी, आदि का होना इसका प्रमाण है कि इस देश में सामाजिक विघटन के सभी लक्षण और परिणाम विद्यमान हैं। इनमें से कुछ प्रमुख सामाजिक समस्याओं का उल्लेख हम यहाँ कर सकते हैं।

### जातीय विभेद और जातिवाद

(Caste differentiation and Casteism)

भारतीय जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर दिया है और साथ ही उनमें ऊँच-नीच का एक संस्तरण भी निर्धारित कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि जाति-प्रथा द्वारा आबद्ध भारतीय समाज में असंख्य भाग एक दूसरे से पृथक् रह रहे हैं और उनमें सामाजिक दूरी भी कम नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्येक जाति केवल अपने ही जाति के हितों के लिये चिन्ता करती है और उन हितों की पूर्ति करने के लिये दूसरी जाति के हितों की बलि देने में भी नहीं हिचकिचाती है। जाति के नाम पर आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन बनाये जाते हैं, जाति के नाम पर अस्पताल, स्कूल तथा आश्रम खोले जाते हैं, अयोग्य होने पर भी अपनी ही जाति के लोगों को नौकरी में नियुक्त किया जाता है और जाति के नाम पर ही चुनाव लड़े जाते व वोट मांगे जाते हैं। प्रत्येक जाति अपनी ही जातीय-सदस्यों की चिन्ता में तन्मय है और सामाजिक दूरी को और बढ़ाती ही चली जाती है। जाति-प्रथा भोजन और सामाजिक सहवास पर, पेशे के चुनाव पर और विवाह-साथी के चुनाव पर एकाधिक प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लादती है। इन प्रतिबन्धों के फलस्वरूप समाज का विभाजन और विभिन्न समूहों में सामाजिक दूरी और भी स्पष्ट हो जाती है। इस विषय पर अगले एक अध्याय में हम विस्तार-पूर्वक विवेचना करेंगे।

### अस्पृश्यता

(Untouchability)

यद्यपि कानून के द्वारा अस्पृश्यता का अब अन्त कर दिया गया है और अस्पृश्यता को मानना या उसे बढ़ावा देना दण्डनीय अपराध है, फिर भी यह समस्या आज भी भारतीय सामाजिक जीवन की एक गम्भीर समस्या बनी हुई है। भारत में इस समय ६,४५,११,३१३ अनुसूचित जातियाँ हैं जिनकी कि दशा आज भी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है। गाँवों में उनका आज भी खूब आर्थिक शोषण होता है, उच्च जाति के महाजन और साहूकार आज भी उनसे बेगार लेते हैं, वे आज भी



भूमिहीन कृषि श्रमिक बने हुए हैं, सबसे कम देतन पाते हैं तथा अपने प्रकार की सामाजिक नियोज्यताओं के शिकार हैं। इसीलिये महात्मा गान्धी ने अस्पृश्यता को वर्ण-व्यवस्था पर एक काला धब्बा—सबसे बड़ा कलंक—कहा है। इस सम्बन्ध में भी अगले एक अध्याय में हम विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस देश में जो सामाजिक असंतुलन तथा विभाजन देखने को मिलता है, उसकी एक उल्लेखनीय अभिव्यक्ति अस्पृश्यता है।

### संयुक्त-परिवार का विघटन

(Disintegration of Joint Family)

भारतीय समाज की एक आधारभूत संस्था संयुक्त-परिवार प्रणाली थी। इस परिवार प्रणाली का ही आजकल विघटन आरम्भ हो गया है। इसी से भारतीय समाज में होने वाले विघटन का अनुमान लगाया जा सकता है। संयुक्त-परिवार में सम्मिलित सम्पत्ति और सम्मिलित निवास होता है, पारस्परिक कर्त्तव्य बोध तथा सामाजिक व धार्मिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में समानता होती है। परन्तु अब इस परिवार प्रणाली का विघटन हो जाने के कारण परिवार का सम्मिलित रूप समाप्त हो गया है। अब यह अपने सदस्यों के लिये सामाजिक बीमा (social insurance) के रूप में कार्य नहीं कर पाता है और न ही बूढ़ों, विधवाओं और अनाथ बच्चों को आश्रय दे पाता है। संयुक्त-परिवार में रहते हुए पहले बच्चे उदारता, सहिष्णुता, सेवा, सहयोगिता, प्रेम, सद्भाव, आज्ञाकारिता और हिलमिल कर रहने की कला का पाठ पढ़ते थे और परिवार के सबके लाभार्थ अपने स्वार्थों की बलि देना सीखते थे। पर अब इस परिवार प्रणाली का जैसे-जैसे विघटन होता जा रहा है वैसे-वैसे व्यक्ति-वादिता का विकास होता जा रहा है और परिवार का नियंत्रण व्यक्ति पर ढीला पड़ता जा रहा है। यह सामाजिक विघटन का ही सूचक है।

### निर्धनता

(Poverty)

निर्धनता भारत के सामाजिक विघटन का एक अच्छा मापदण्ड है। भारत में जीवन का स्तर (standard of living) अब भी दुनिया भर में सबसे नीचा है। भारत में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय सन् १९६३-६४ में केवल २६८ रुपये थी, जब कि अमेरिका में १,५८६ रुपये, कनाडा में १,२६२ रुपये और आस्ट्रेलिया में १,१२१ रु० थी। निर्धनता के कारण ही इस देश की अधिकतर जनता संतुलित भोजन का उपभोग नहीं कर पाती है, न स्वास्थ्यदायक मकानों में रह पाती हैं और न ही उचित मात्रा में कपड़ों का उपभोग करती है। इस देश में प्रति व्यक्ति वस्त्रों का उपभोग केवल २७ गज प्रति वर्ष है। कानपुर, बम्बई आदि बड़े-बड़े शहरों में ७२ प्रतिशत व्यक्ति एक कमरे वाले मकान में रहते हैं। निर्धनता के कारण संतुलित भोजन नहीं मिल पाता है और संतुलित भोजन न मिलने से विमारियों की संख्या बढ़ती है जिसके फलस्वरूप मृत्यु दर में वृद्धि होती है। निर्धनता के कारण जब प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति कानूनी तौर पर नहीं हो पाती है तो उन्हें गैर-कानूनी तौर पर पूरा



करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे देश में अपराध की दरें बढ़ती हैं। निर्धनता के कारण ही स्वस्थ मनोरंजन के साधन लोगों के लिए उपलब्ध नहीं हो पाते हैं और उनके लिए शरीर-सम्भोग ही सबसे सस्ता मनोरंजन होता है। इससे देश में जनसंख्या अधिक तेजी से बढ़ती है जो कि स्वयं ही एक गम्भीर समस्या है। निर्धनता के कारण अब परिवार ऐसे मकानों में रहता है जहाँ बच्चों के खेलने-कूदने के लिये स्थान नहीं होता, उस अवस्था में बच्चे सड़कों पर खेलते हैं, बुरी संगत में पड़ जाते हैं और बाल-अपराधी बन जाते हैं। निर्धनता से नैतिक पतन भी किसी समय हो सकता है। निर्धनता के ये सभी परिणाम भारत में अति स्पष्ट रूप में प्रगट होते हैं और इससे छुटकारा पाने के लिए अनेक लोग आत्महत्या तक कर बैठते हैं। भारत में प्रति वर्ष इस प्रकार के एकाधिक आत्महत्याओं के बारे में सुनने को मिलता है।

### बेरोजगारी

#### (Unemployment)

भारत में सामाजिक विघटन की एक और उल्लेखनीय अभिव्यक्ति बेरोजगारी है। इस देश का एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यहाँ काम चाहने या करने वालों के लिए आवश्यक अवसर उपलब्ध नहीं है। गाँव में बेकारी और कम समय के लिये काम मिलना, दोनों ही मौजूद हैं और इन दोनों में बहुत कम भेद है। गाँव में बेकारी प्रायः कम समय के लिये या साल में कुछ दिनों के लिए काम मिलने के रूप में होती है। शहरों में उद्योग-धन्वों, परिवहन और काम-काज की घटी-बढ़ी के अनुसार लोगों को काम मिलता है। इस समय भारत में बेकारी के सम्बन्ध में उचित आँकड़े प्राप्त नहीं हैं, परन्तु जो कुछ भी जानकारी प्राप्त है उससे पता चलता है कि इस देश में यह समस्या वास्तव में बहुत गम्भीर है। योजना आयोग के अनुसार दूसरी योजना के अन्त में प्रायः ६० लाख व्यक्ति बेकार थे। वास्तव में हिसाब यह लगाया गया था कि दूसरी योजना के अन्त में ५३ लाख व्यक्ति बेकार होंगे पर देखा गया कि यह संख्या बढ़कर ६० लाख व्यक्ति हो गयी। बेकारी की संख्या में इस वृद्धि से यह पता चलता है कि देश में रोजगार दिलवाने के अवसरों में इतना अधिक विकास न हो पाया है कि बेकार रहने वाले सब लोगों को काम दिया जा सके।

योजना आयोग (Planning Commission) के आधुनिकतम (मार्च, १९६६) हिसाब (estimate) के अनुसार चौथी योजना के अन्त तक देश में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या १५० लाख हो जाएगी जब कि तृतीय योजना के अन्त में यह संख्या १२० लाख थी। आयोग के अनुसार चौथी योजना के कुल २१,५०० करोड़ रु० व्यय से प्रायः २०० लाख व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकेगा पर इस योजना की अवधि में २३० लाख नये श्रमिकों का भी उद्भव होगा। इस प्रकार इसी योजना में पनपे हुए नये श्रमिकों में ३० लाख व्यक्ति बेरोजगार हो जाएंगे और इस संख्या के साथ तृतीय योजना के अन्त में पाये जाने वाले १२० लाख बेरोजगार व्यक्तियों के जुड़ जाने से कुल बेरोजगारों की संख्या १५० लाख हो जायेगी। इसी से बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता का पता चलता है। बेरोजगारी से निर्धनता बढ़ती है,



स्वास्थ्य और भोजन पर बुरा प्रभाव पड़ता है, अपराध और बाल-अपराध की प्रवृत्ति जाग्रत होती है, वेश्यावृत्ति को भी अपनाया जा सकता है या आत्महत्या की दरें भी बढ़ सकती हैं ।

### अपराध और बाल-अपराध

(Crime and Delinquency)

निर्धनता बेरोजगारी तथा अपराध व बाल-अपराध एक दूसरे से आन्तरिक रूप में सम्बन्धित हैं । यह बात भारतवर्ष के लिए विशेष रूप से सच है । धन के विरुद्ध अपराध जैसे चोरी, डकैती, सेंध काटना, गबन, जालसाजी आदि अपराधों की संख्या इस देश में तेजी से बढ़ रही है । उसी प्रकार यौन-अपराध की दर में भी कोई कमी नजर में नहीं आ रही है । हत्या करने वालों की संख्या भी इस देश में बढ़ रही है और अब तो मामूली से मामूली बातों में कत्ल कर दिया जाता है । अपराध की भाँति बाल-अपराधों, विशेषकर औद्योगिक केन्द्रों में, की संख्या में भी इस देश में तेजी से वृद्धि हो रही है । इस देश में इस समय कम से कम ५१,५६८ बाल-अपराधी हैं जो कि अदालत के सामने विचारार्थ पेश किये गये हैं । इन बाल-अपराधियों में अधिकतर संख्या उनकी है जिन्होंने सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध किये हैं ।

### वेश्यावृत्ति

(Prostitution)

वेश्यावृत्ति एक और गम्भीर समस्या है जो कि भारत के नैतिक जीवन पर निरन्तर आघात करती रहती है । सन् १९५६ के पहले तक वेश्यावृत्ति खुले तौर पर और आम सड़क व बाजारों में खूब प्रचलित थी । ऐसे तो यह समस्या सभी नगरों, यहां तक कि गाँवों तक में फैली हुयी है, पर इसका प्रकोप भारत के बड़े औद्योगिक केन्द्रों में बहुत ही ज्यादा है । औद्योगिक श्रमिकों को काम करने की दयनीय दशाओं के बीच ८/९ घण्टे लगातार काम करना पड़ता है, उनके रहने के लिए नगरों में मकान उपलब्ध न होने के कारण वे अपनी स्त्रियों को गाँव में छोड़कर स्वयं शहर में अकेले रहते हैं, उन पर गाँव की भाँति परिवार या पड़ोस का कुछ भी नियन्त्रण नहीं होता है, साथ ही स्वस्थ मनोरंजन के अन्य कोई साधन न होने के कारण दिन भर का थका हुआ श्रमिक शराब पीकर थकान उतारता है और शराब की दुकान के पास ही वेश्याओं की बस्ती में जाकर यौन-क्षुधा को शान्त करता है । वेश्यावृत्ति केवल वेश्याओं के ही नैतिक पतन को अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि इनके शरीर को खरीदने वालों को भी अनैतिकता के रास्ते में घसीट लेती है । इससे सामाजिक जीवन में घुन लग जाता है । इतना ही नहीं, भारत का गरीब श्रमिक जब वेश्याओं के चंगुलों में फँस कर अपनी सारी कमाई का धन उन पर निछावर कर देता है तो उसके परिवार के अन्य लोग पैसे-पैसे का मोहताज हो जाते हैं । इसके फलस्वरूप पारिवारिक निर्धनता, ऋणग्रस्तता, तनाव व संघर्ष बढ़ता है । इसके अतिरिक्त वेश्याओं के साथ शरीर सम्बन्ध स्थापित करने वाले लोग शीघ्र ही अनेक प्रकार के



गुप्त रोगों के शिकार हो जाते हैं और गरीबी के कारण उन रोगों की चिकित्सा किये बिना ही वे लोग अपनी पत्नी से शरीर सम्बन्ध स्थापित करते हैं और इस प्रकार उन रोगों का हस्तान्तरण न केवल पत्नी को ही बल्कि बच्चों को भी हो जाता है क्योंकि अनेक गुप्त रोग वंशानुगत होते हैं। इस प्रकार वेश्यावृत्ति का कुचक्र व्यक्तिगत नैतिक पतन से लेकर पारिवारिक जीवन में विष धोलने तक चलता है। भारतवर्ष में इस कुचक्र को चलाने वाली प्रायः ८३ हजार वेश्याएँ हैं।

### भिक्षावृत्ति (Beggary)

भिक्षावृत्ति हमारे देश के लिए एक सदियों पुराना अभिशाप है। इससे लोगों का मानसिक पतन तो होता ही है, देश के लिये भी यह स्वस्थ रूप का परिचायक नहीं है। भारत के हर शहर तथा गाँवों में, प्रत्येक सड़क तथा सार्वजनिक स्थान में, मन्दिर, मस्जिद तथा रेलवे स्टेशन पर; यहाँ तक कि चलती हुई रेलगाड़ियों तक में हमें हर तरह के भिखारियों का दर्शन होता है। उनमें से अनेक तो लंगड़े, लूले, अन्धे तथा नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित भिखारी होते हैं, और अनेक हट्टे-कट्टे भिखारी भी। भारतवर्ष में इन दोनों प्रकार के अलावा भिखारियों का एक और भेद भी होता है जिन्हें धार्मिक-साधु कहा जाता है जो कि जनता की धार्मिक-दुर्बलताओं से फायदा उठाकर उनसे पैसा या अन्य चीजें प्राप्त कर लेते हैं। इन साधुओं में अधिकतर बनावटी धार्मिक साधु होते हैं जिनका वास्तविक काम भिक्षावृत्ति के साथ-साथ लोगों को ठगना होता है। भारत में अनेकों स्त्री और पुरुष इस प्रकार के भी हैं जो रात में मिलों और कारखानों में काम करते हैं तथा दिन में भीख माँगा करते हैं। अधिकतर भिखारी भिक्षा वृत्ति को अपना पेशा मान लेते हैं और अन्य किसी प्रकार का काम करने को इच्छुक नहीं होता है। भिखारी अपने बाल-बच्चों को भी भीख माँगने की कला को बचपन से ही सिखाता जाता है जिसके फलस्वरूप भिखारियों की संख्या बढ़ती ही जाती है और भिक्षावृत्ति का चक्र चलता ही रहता है। भिक्षावृत्ति समाज के एक अंग को निष्क्रिय बना देता है और यह अंग एकदम अनुत्पादक बना रहता है और यह राष्ट्रीय निर्माण कार्य में बिल्कुल भाग नहीं लेता है। इसके फलस्वरूप समाज का संतुलित विकास नहीं हो पाता है।

इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में शारीरिक और मानसिक दृष्टिकोण से असमर्थ लोगों की समस्या, अपराधी जनजातियों की समस्या, आत्महत्या, कालाबाजारी तथा घूसखोरी व भ्रष्टाचार की समस्याएँ भी ऐसी हैं जो कि हर पल सामाजिक जीवन को खोखला बना रही हैं।

### भारत में सामाजिक विघटन के कारण

#### (Causes of Social Disorganization in India)

भारत में सामाजिक विघटन की स्थिति पर्याप्त गम्भीर है और इसका विस्तार भी इतना अधिक है कि यह एक जटिल रूप में ही आज हमारे सामने उपस्थित होता है। इस जटिलता को उत्पन्न करने के लिए एकाधिक कारक इस देश



में निरन्तर क्रियाशील हैं। इन कारकों को संक्षेप में इस प्रकार क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

### सामाजिक कारण

(Social Causes)

(१) जाति-प्रथा और जातिवाद (Caste System and Casteism):—

भारतीय जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है। इस खण्ड-विभाजन (segmental division) का तात्पर्य डा० घुरिये के अनुसार, यह है कि जातिप्रथा द्वारा आबद्ध समाज में सामुदायिक भावना सीमित होती है, और वह सामुदायिक भावना समग्र समुदाय के प्रति न होकर एक जाति के सदस्य पहले अपने जाति के प्रति वफादार रहने का प्रयत्न करता है। इससे विभिन्न जातियों के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस तनाव का एक कारण यह भी है कि जाति-प्रथा में विभिन्न खण्डों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण या चढ़ाव-उतार होता है और ऊँची जाति को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार दिये जाते हैं जिसके बल पर वह निम्न जातियों पर अत्याचार करता है। भोजन विवाह और सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में जाति-प्रथा अपने सदस्यों पर जो प्रतिबन्ध लादती है, उससे भी विभिन्न जातियों के बीच की खाई चौड़ी होती रहती है और उनमें एकता तथा ऐकमत्य पनप नहीं पाता है जो कि सामाजिक संगठन व व्यवस्था के लिए परमावश्यक है विभिन्न जातियों के बीच यह कटुता जातिवाद के कारण और भी बढ़ जाती है। जातिवाद एक जाति के सदस्यों की वह भावना है जो अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की अवहेलना और प्रायः हनन करने को प्रेरित करती है। किस प्रकार केवल अपनी जाति का ही कल्याण और प्रगति हो, यही चिन्ता उन्हें देश या समाज या अन्य जातियों के सामान्य हितों का ध्यान नहीं रखने देती है। मानव भावनाओं का यह संकुचित रूप जातिवाद सामाजिक एकता व संगठन को नष्ट कर देता है।

(२) अस्पृश्यता (Untouchability):—जाति-प्रथा की भाँति अस्पृश्यता भी सामाजिक विघटन का एक सामाजिक कारण है। अस्पृश्यता देश के लाखों लोगों को नाना प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक नियोग्यताओं का शिकार बना कर समाज व सामाजिक जीवन से पृथक् ही नहीं कर देती है बल्कि उन पर अनाचार और अत्याचार भी चलाती है। इन नियोग्यताओं के फलस्वरूप सामाजिक एकता में बाधा उत्पन्न होती है, राजनैतिक फूट पनपती है, आर्थिक असमानतायें समाज में घर कर लेती हैं, तथाकथित अस्पृश्य जातियों पर अशिक्षा और दरिद्रता का दानव राज्य करता है, उनके स्वास्थ्य का स्तर गिरता है और राष्ट्र-निर्माण के काम में वे सक्रिय भाग नहीं ले पाती हैं। इससे सामाजिक जीवन का संतुलन बिगड़ जाता है क्योंकि ये लाखों लोग हर विषय में समाज के अन्य अंगों से बहुत पिछड़ जाते हैं। इतना ही नहीं, उच्च जातियों के अत्याचार और अविचार से पीड़ित व परेशान होकर अनेक हरिजनों ने मुसलमान और ईसाई धर्म को स्वीकार



कर लिया क्योंकि वे इन धर्मों के समानता के सिद्धान्त से आकर्षित हुए। इससे सामाजिक जीवन में विभेद और भी बढ़ गया और साथ ही धर्म परिवर्तन करने वाले हरिजनों के लिए नये धर्म से अपना अनुकूलन करने की समस्या उत्पन्न हुई।

(३) सामाजिक कुरीतियाँ (Defective Social Customs):— भारतीय समाज एकाधिक कुरीतियों का शिकार बना हुआ है जो कि समाज के संतुलित विकास के पथ पर बाधाओं की सृष्टि करता है। इन कुरीतियों में दहेज-प्रथा, बाल-विवाह प्रथा, कुलीन विवाह प्रथा, विवाह विच्छेद तथा विधवा पुनर्विवाह पर रोक आदि उल्लेखनीय हैं। दहेज-प्रथा दिन पर दिन कटु रूप धारण करती चली जाती है और इसे रोकने के लिए कानून बन जाने पर भी इसका प्रकोप आज भी कम नहीं हुआ है। वर पक्ष की बढ़ती हुई मांगों को पूरा करने के लिये लड़की के माता-पिता ऋण लेते हैं अथवा अपनी सम्पत्ति को बेचते या गिरवी रखते हैं और आजीवन ऋण के बोझ से लदकर पारिवारिक विघटन का बीज बोते हैं। अगर दहेज की मांग को पूरा न कर सकने के कारण योग्य वर नहीं मिल पाता है तो माता-पिता बेमेल विवाह करने को भी तैयार हो जाते हैं और लड़की की शादी एक ऐसे पुरुष से कर दी जाती है जो कि चरित्रहीन है या बिधुर है या लड़की से उम्र में तीन-चार गुना ज्यादा है। यह भी होता है कि लड़कियाँ अपने माता-पिता के दुर्व्यवहार या तानों से परेशान होकर या उन्हें योग्य वर की तलाश में दर-दर ठोकरें खाते देखकर आत्म-हत्या को ही आत्म-रक्षा के साधन के रूप में चुन लेती हैं। उसी प्रकार दहेज पूरा-पूरा चुका न देने पर बधु पर उसके ससुर के घर वाले अत्याचार करते हैं और उसके प्रतिक्रिया स्वरूप दो परिवारों में तनाव हो जाता है।

सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने वाली एक और कुरीति बाल-विवाह है। बाल-विवाह करने वाले वर-बधु पूर्ण रूप से युवावस्था को प्राप्त नहीं करते हैं और उस अवस्था में जब वे यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो उसका बहुत बुरा प्रभाव उनके ही नहीं उनके बच्चों के स्वास्थ्य पर भी पड़ता है जो कि राष्ट्र के स्वास्थ्यस्तर को गिराता है, देश की जनसंख्या बढ़ती है, कम आयु से ही मां बनने से अधिक माताओं की मृत्यु होती है और उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता है।

कुलीन-विवाह प्रथा भी सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती है। इस प्रथा के अनुसार लड़की का विवाह अपने कुल या वंश से नीचे कुल या वंश में नहीं बल्कि बराबर या ऊँचे कुलों में करना पड़ता है चूँकि सभी माता-पिता अपनी लड़की का विवाह ऊँचे कुल में करना चाहते हैं, इस कारण सबसे ऊँचे कुल में लड़कों की और सबसे नीचे कुल में लड़कियों की अत्यधिक कमी होती है। इससे ऊँचे कुल में बहुपत्ति विवाह और नीचे कुल में बहुपति विवाह पनपता है। उसी प्रकार ऊँचे कुल में लड़कों की कमी होने के कारण वर-मूल्य प्रथा और नीचे कुल में लड़कियों की कमी होने के कारण कन्या-मूल्य प्रथा पनपती है। दहेज का प्रचलन अधिक होने के कारण बेमेल विवाह, बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियाँ पनप जाती हैं जिससे समाज का संगठन समाप्त हो जाता है।



**विवाह-विच्छेद और विधवा पुनर्विवाह पर रोक** अन्य सामाजिक कुरीतियाँ हैं जिनके कारण भारत में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भारतीय समाज विशेषकर हिन्दू समाज के वैवाहिक जीवन में सामाजिक और धार्मिक कानूनों का ऐसा जाल बिछा हुआ है कि उसमें फँसी हुयी हिन्दु स्त्री दुःखी जीवन को सुखी बनाने की बात सोच भी नहीं सकती है। चाहे पति अत्याचारी, शराबी, जुआरी, चोर और भ्रष्टाचारी ही क्यों न हो, पति को उसी के साथ जीवन व्यतीत करने का आदर्श वचन से ही उसमें भर दिया जाता है। फलतः कानूनी तौर पर विवाह-विच्छेद मान्य होने पर भी पत्नियाँ विवाह-विच्छेद की बात बहुत कम सोचती हैं। परिणाम यह होता है कि समाज में स्त्रियों की स्थिति गिरती है और पारिवारिक जीवन असुखी बना रहता है। जो स्त्रियाँ विवाह-विच्छेद के कानूनी तरीकों को अपनाती हैं, उनका सामाजिक प्रथाओं व रूढ़ियों के साथ संघर्ष होता है जिसका परिणाम व्यक्तिगत तथा सामाजिक संगठन पर पड़ता है। चूँकि यहाँ के पति, पति और वच्चों का विवाह-विच्छेद से उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियों से अभी तक ठीक से अनुकूलन नहीं हो पाया है क्योंकि यह कानूनी अधिकार अभी हाल ही में प्राप्त हुआ है, इसलिए विवाह-विच्छेद के बाद पति-पति के व्यक्तित्व का संतुलन प्रायः बिगड़ जाता है और वच्चे वर्बाद हो जाते हैं।

उसी प्रकार विधवा पुनर्विवाह पर रोक अनेक सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न करती है जिनके परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। बाल-विधवाओं की समस्या वास्तव में मर्मस्पर्शी है। वे “विवाह” या “विधवा” शब्द के अर्थ को समझने से पूर्व ही विधवा हो जाती हैं और उनसे यह आशा की जाती है कि उसी दिन से वे अपनी समस्त इच्छा, कामना और वासना को त्यागकर पत्थर की भाँति हो जाएँ। इससे उनके व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है और वे परिवार और समाज पर एक बोझ बन जाती हैं। इतना ही नहीं यौन-इच्छाओं की तृप्ति एक स्वाभाविक मानव वृत्ति है। जब उसे विधवाओं का पुनर्विवाह न देकर जबरदस्ती रोकने का प्रयत्न किया जाता है, तभी अनुचित यौन-सम्बन्ध को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार से जिन विधवाओं का पैर फिसल जाता है वे या तो आत्म-हत्या करके परिवार तथा अपने सम्मान की रक्षा करती हैं या समाज व परिवार से बहिष्कृत होकर धर्म परिवर्तन कर लेती हैं या वेश्यावृत्ति को जीने का सहारा बना लेती हैं। ये सभी परिस्थितियाँ व्यक्तिगत विघटन से आरम्भ करके सामाजिक विघटन तक उत्पन्न कर सकती हैं और करती भी हैं।

(४) **महिला आन्दोलन (Feminist movement):**—महिला आन्दोलन और स्त्रियों की शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप भारतीय स्त्रियों की स्थिति (status) समाज में पहले से काफी उन्नत हो गयी है। यह बात सच होते हुए भी इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि महिला आन्दोलन व स्त्री-शिक्षा के परिणाम-स्वरूप स्त्रियों में जो जागृति आयी है उससे सामाजिक असंतुलन की स्थिति भी उत्पन्न हुई है, इसलिए नहीं कि महिला आन्दोलन व जागृति बुरी है, पर इसलि



कि इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से अभी पुरुष तो क्या स्त्रियों का भी ठीक से अनुकूलन नहीं हो पाया है। महिला आन्दोलन के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन परिस्थितियों में या स्त्रियों की अब जो उन्नत स्थिति समाज में है, उस स्थिति में स्त्रियों को कौन-कौन से परिवर्तित पदों (statuses) को संभालना है और उन पदों से सम्बन्धित किन-किन कार्यों को उन्हें करना है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट सामाजिक परिभाषाएँ (Social definitions) अब तक उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए आज हम लोग एक अनिश्चितता और अस्थिरता की स्थिति में से होकर गुजर रहे हैं। भारतीय पत्नी आज भी इस विषय में निश्चित नहीं है कि उसे अच्छी गृहणी बनना है या आदर्श माता, नौकरी को चुनना उचित है या घर को; समाज सेवा में अपने को नियोजित करना है या पति व सास-ससुर की सेवा में। कुछ स्त्रियाँ ठीक तौर पर चुनाव व अनुकूलन करने में सफल होती हैं पर अधिकतर स्त्रियाँ विभिन्न स्थिति तथा कार्यों को एक-साथ पकड़ने का विफल प्रयत्न करके किसी भी भूमिका को ठीक से निभा नहीं पाती हैं और व्यक्तिगत व पारिवारिक विघटन का कारण बन जाती हैं। उसी प्रकार आज का पति निश्चित रूप में यह नहीं समझ पाता है कि उसे परिवर्तित परिस्थितियों में 'शासक-पति' बनना है या 'सेवक-पति'; पत्नी को माता-पिता की सेवा में लगाकर 'अच्छा पुत्र' बनना है या पत्नी को नौकरी करने के लिए भेजकर 'अच्छे जीवन-स्तर' का सपना पूरा करना है, पत्नी को 'पार्टी अटेंड' (Party attend) करने के लिए साथ रखना अच्छा होगा या वच्चों की देख-रेख करने के लिए घर पर छोड़ देना। जब पति अपनी पत्नी से ये सब कुछ करवाने का प्रयत्न करता है तभी विघटन का बीजारोपण होता है। पत्नियाँ भी महिला आन्दोलन के फलस्वरूप प्राप्त अधिकारों का उपभोग करने के जोश में आधारभूत कर्तव्यों के सम्बन्ध में कभी-कभी सचेत नहीं रहती हैं। नौकरी करती हैं पर परिवार के बड़े-बूढ़ों का अनादर भी करती हैं; शिक्षा प्राप्त करती हैं पर अशिक्षितों से घृणा भी करने लगती हैं; विवाह करती हैं पर अपने "मैं" को बनाए रखने की धुन में विवाह के बाद पति-पत्नी मिलकर 'हम' हो जाते हैं या हो जाना चाहिये इस सत्य को भूल जाती हैं; मां बनती हैं पर 'फीचर' या 'फिगर' खराब होने के डर से अपनी ही सन्तान को अपना दूध पिलाना तक पसन्द नहीं करती है—यह काम 'अमूल' (Amul) या 'ग्लैक्सो' (Glaxo) कम्पनी के जुम्मे छोड़कर निश्चिन्त हो जाती हैं, विघटन यहीं से शुरू होता है, और इसी प्रकार शुरू हो जाता है। वास्तविकता यह है कि एक ओर भारतीय स्त्रियों की जो परम्परागत स्थिति व कार्य (status and role) है उसे हम आज भी छोड़ नहीं पाये हैं और दूसरी ओर महिला आन्दोलन के फलस्वरूप उत्पन्न उनकी नवीन स्थिति व कार्य को भी हम कुछ सीमा तक स्वीकार कर चुके हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि नयी और पुरानी मनोवृत्तियों तथा मूल्यों में संघर्ष चल रहा है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

(५) सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार (Corruption in Public life):—  
भ्रष्टाचार, चाहे वह किसी क्षेत्र में क्यों न हो, सामाजिक विघटन का कारण और



परिणाम दोनों ही है। इस विषय में भारत किसी से पीछे नहीं है भ्रष्टाचार में सबसे पहले घूसखोरी का उल्लेख किया जा सकता है। भारत में ऐसा कोई क्षेत्र शायद ही छूट गया हो, जहाँ घूसखोरी का बाजार गर्म न हो। यहाँ नौकरी पाने के लिए घूस देना पड़ता है, नौकरी में स्थायी होने के लिए घूस देना पड़ता है, हस्पताल में दाखिला लेने के लिये, ठेका पाने के लिए, परमिट लेने के लिए, पुलिस के पंजों से छूटने के लिए, पानी का नल लगवाने के लिए, मकान का नक्शा पास करवाने के लिए, सरकारी ऋण लेने के लिए घूस देना पड़ता है। घूस देने और लेने वाले दोनों का ही केवल नैतिक पतन होता है बल्कि घूसखोरी का एक चक्र समाज के जीवन को निरन्तर कलुषित करता रहता है। घूसखोरी के कारण सरकारी तथा गैर-सरकारी विभागों में बेईमानी तथा अकुशलता सामाजिक अव्यवस्था फैलाने में सहायक होती है।

घूसखोरी की भाँति ही एक और भ्रष्टाचार भारतीय समाज को भ्रष्ट करता है और वह है काला बाजारी। देश में जिस चीज की भी थोड़ी-सी भी कमी हुई उसी में काला बाजारी शुरू हो जाती है चाहे वह गेहूँ या चावल हो, चूना या सीमेंट हो, डालडा घी या तेल हो, शक्कर या सूजी हो, मक्खन या मछली हो। जब देश में काला बाजारी या चोर बाजारी की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है तो समाज को इसके दुष्परिणामों से क्षति उठानी पड़ती है। चोर बाजार का प्रचलन करने वाले व्यापारी अपने लाभ की लालसा में ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं जिससे बाजार में और फिर समाज में बड़ी अनिश्चितता फैल जाती है। मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के लागू होने की परिस्थिति भंग हो जाती है। सामान्य जनता को बड़े ऊँचे मूल्य अदा करने पड़ते हैं और बेचारे अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं और उनका जीवन-स्तर गिरने लगता है। मजदूरों में असन्तोष फैल जाता है और वे अधिक मजदूरी की माँग करने लगते हैं तथा कई बार हड़ताल करने को उतारू हो जाते हैं। इससे मिल मालिकों और मजदूरों के बीच वर्ग संघर्ष बढ़ता है। एक की देखा-देखी सभी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने लगती है और इस प्रकार यह विषैला चक्र उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है जिससे कि सामाजिक संगठन तथा व्यवस्था को गहरी चोट पहुँचती है।

भारत के सार्वजनिक जीवन में एक और भ्रष्टाचार आज व्यापक रूप से फैला हुआ है और वह है मिलावट (Adulteration)। भारत की आम जनता को आज शुद्ध चीजों का सपना भी नहीं आता है क्योंकि हर चीज में आज मिलावट है। चावल में कंकड़ों की मिलावट, दूध में पानी की, मक्खन में पके हुए केले की, पिसे हुए आटे में खड़िया की, मसालों में मिट्टी की, दूध की मलाई में ब्लॉटिंग पेपर की, दवा व इन्जेक्शन में पानी की, सुपारी में खजूर की गुठली की और काली मिर्च में पपीते के बीजों की, सरसों के तेल में अलसी के तेल की, घी में चर्बी की, और सीमेंट में मिट्टी की मिलावट कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिससे कि इस समस्या की गम्भीरता या फैलाव का पता चलता है जिसके फलस्वरूप जनता का स्वास्थ्य गिरता है, लाखों रुपयों के खर्च से बने बाँध टूटते हैं तथा दूध पीने वाले बच्चों तक के जीवन में विष घुलता जाता



है। सबसे हृदयस्पर्शी परिस्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब कि मिलावटदार दवा और इन्जेक्शन के कारण रोगी की जान चली जाती है—कितने ही बच्चे माता-पिता हीन हो जाते हैं, कितने ही सुहागवती स्त्रियों का सुहाग लुट जाता है और कितने ही हँसते-खेलते परिवार उजड़ जाते हैं। सामाजिक विघटन का इससे बढ़ कर कारण और क्या हो सकता है।

इसके अलावा विदेशों से वस्तुओं को चुरा छिपा कर ले आना (smuggling), देशी शराब बनाना, लड़कियों को खरीदना और बेचना, जुआ खिलवाना, पेशेवर अपराधियों को शरण देना, नकली दवाइयाँ तथा इन्जेक्शन बनवाना, नकली सिक्के ढालना सार्वजनिक जीवन में पाये जाने वाले अन्य अपराध मूलक अष्टाचार हैं जिसके कारण समाज में अव्यवस्था और अपराध का चक्र बढ़ता जाता है।

### आर्थिक कारण

(Economic Cause)

भारत में सामाजिक विघटन के कुछ आर्थिक कारण भी हैं जिनमें से सर्व प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

(क) औद्योगीकरण—सामाजिक विघटन के कारण के रूप में (Industrialization as a cause of Social disorganization):—भारतीय समाज को विघटित करने में जितने भी आर्थिक कारण उत्तरदायी हैं उनमें सबसे प्रमुख औद्योगीकरण है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप भारतीय परम्परागत आर्थिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं। आर्थिक संगठन में परिवर्तन होने से जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं उसी के अनुसार सामाजिक संस्थाओं, विचारों, आदर्शों तथा मनोवृत्तियों को परिवर्तित करने की आवश्यकता अनुभव की जा सकती है। परन्तु ऐसा करना सरल नहीं होता है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि जब परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों के साथ जब सामाजिक मनोवृत्ति-संस्थाओं, आदर्शों आदि का अनुकूलन नहीं होता है तो सामाजिक तनाव व असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

औद्योगीकरण निम्न प्रकार से सामाजिक विघटन को उत्पन्न करता है—

(अ) पारिवारिक महत्व को घटाकर—औद्योगीकरण के कारण परिवार के बहुत से कार्यों को अब बाहर की समिति तथा संस्थाओं ने ले लिया है। इतना ही नहीं औद्योगीकरण के कारण नगरों में रोजगार का क्षेत्र विस्तृत हो गया है और परिवार के सदस्य देश में इधर-उधर छिटक गये हैं जिससे संयुक्त परिवार का विघटन हुआ है। (ब) निवास स्थानों की कमी उत्पन्न करके—औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरों में जन-संख्या तेजी से बढ़ती है पर उस तेजी से मकान नहीं बन पाते हैं जिसके फलस्वरूप औद्योगिक केन्द्रों में मकानों का किराया बहुत ज्यादा होता है और बहुत कम लोगों के लिये यह सम्भव होता है कि वे अपने नाते-रिश्तेदारों के साथ संयुक्त परिवार बसा कर रहें। इससे केवल संयुक्त-परिवार का ही विघटन नहीं होता है बल्कि व्यक्तिगत विघटन भी हो जाता है। ऊँचा किराया देकर मकान न ले सकने के



कारण अनेक लोगों को मेस तथा होटल आदि में रहना पड़ता है और उस अवस्था में उनके ऊपर परिवार का कोई नियन्त्रण नहीं रहता है और वे मनमाने ढंग से काम कर सकते हैं—चाहे जुआँ खेलें, या नशा करें या वेश्यागमन करें। इससे धन और स्वास्थ्य की बर्बादी होने के साथ-साथ व्यक्तिगत तथा पारिवारिक संघटन या तनाव उत्पन्न हो जाता है। (स) स्त्री-पुरुष के अनुपात में भेद उत्पन्न करके—मकानों की कमी होने तथा मँहगाई भी अधिक होने के कारण शहर में रहने वाले बहुत से पुरुष अपने बीबी-बच्चों को नगरों में नहीं ला पाते हैं और स्वयं अकेले रहते हैं। इससे नगरों में स्त्रियों से कहीं अधिक पुरुष रहते हैं। स्वस्थ पारिवारिक जीवन न बिता सकने वाले पुरुष वेश्यावृत्ति, जुआँ, शराब इत्यादि व्यभिचार फैलाकर न केवल अपने जीवन को बल्कि सामाजिक जीवन को भी कलुषित व विघटित कर देते हैं। (द) प्रतिस्पर्धा और बेकारी को बढ़ाकर—औद्योगीकरण ने बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य को करने में सहायता पहुँचायी। फलतः एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक चीजों का उत्पादन होना शुरू हो गया जिसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन में प्रतिस्पर्धा (Competition) अत्यधिक बढ़ गया है। इस प्रतिस्पर्धा के कारण एक ही रात में एक व्यक्ति दिवालिया हो सकता है या बहुत बड़े धन का मालिक भी। आर्थिक स्थिति में इस प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्तिगत विघटन किसी भी चरम सीमा तक पहुँच सकता है। साथ ही साथ, प्रतिस्पर्धा में जो लोग वैध तरीके से सफल नहीं हो पाते हैं, वे प्रायः अवैध तरीकों को अपनाते हैं। इससे देश में भ्रष्टाचार फैलता है। इसके अतिरिक्त औद्योगीकरण हो जाने के बाद आज उन सब कामों को एक मशीन करती है जो कि पहले अनेक आदमी करते थे। इससे श्रमिकों की आवश्यकता कम हो गयी और देश में बेकारी फैलने लगी। इसका प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ता है। (य) ग्रामोद्योगों को नष्ट करके—भारत में औद्योगीकरण का एक और दुष्परिणाम यह हुआ है कि उससे ग्रामोद्योगों का विनाश होता गया। इसका कारण यह है कि इस देश में गावों के कुटीर-उद्योगों और शहर के बड़े-बड़े उद्योगों के बीच न तो कोई समन्वय है और न ही किसी प्रकार का श्रम विभाजन। फलतः बड़े पैमाने में मशीन द्वारा जिन सस्ती चीजों का उत्पादन होता है उससे प्रतियोगिता करना ग्रामीण उद्योगों में बनी चीजों के लिए असम्भव हो गया। इससे एक ओर ग्राम उद्योगों का विनाश होता गया और उसी के साथ-साथ गाँव की आर्थिक स्थिति खराब होती गयी और दूसरी ओर इन उद्योगों में लगे हजारों श्रमिक बेकार हो गये और उनके व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन का संतुलन बिगड़ गया। कुछ लोगों ने शहर में आकर नौकरी कर ली और जिन लोगों को नहीं मिली उनमें से कुछ लोगों ने चोरी, डकैती आदि के धन्वों को अपनाया। (र) जनसंख्या को गतिशील बनाकर—औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरों तथा बड़े-बड़े मिल-कारखानों का विकास हुआ और उनमें काम करने के लिए हजारों की संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता हुई। इस मांग को पूरा करने के लिए गाँव की क्रियाशील जनसंख्या नगर की ओर गतिशील हो गई क्योंकि नगरों में नागरिक जीवन की सुख-सुविधाओं



तथा अधिक मजदूरी मिलने का लालच उन्हें निरन्तर गाँव से शहर की ओर ढकेलता है। इससे दो विघटनात्मक परिणाम हुए—एक तो यह कि गाँव के योग्य तथा कार्यशील जनसंख्या शहर में जाकर बस जाने से गाँव को सुव्यवस्थित रखने के लिए तथा नियंत्रण के साधनों को क्रियाशील करने के लिये आवश्यक योग्य व्यक्तियों की कमी हो गई और गाँवों का विघटन प्रारम्भ हुआ। उदाहरणार्थ, गाँव के लोग नौकरी करने के लिए जब शहर में आकर बस गये तो गाँव के संयुक्त-परिवार तथा पंचायत में क्रियाशील, योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियों की कमी हो गई और इनका विघटन हुआ और इनके साथ-साथ ग्रामीण समुदाय का क्योंकि संयुक्त-परिवार तथा पंचायत ग्रामीण जीवन के दो प्रमुख आधार हैं। दूसरा, यह कि गाँव से शहर में जाकर बसने वाले लोगों के लिये नगर का पर्यावरण (environment) विलकुल ही नया होता है। उसके साथ उनका अनुकूलन (adjustment) भी सरलता से नहीं हो पाता है। उनमें से बहुत से श्रमिक कभी तो शहर में रहकर मजदूरी करते हैं और कभी गाँव में जाकर खेती करने लगते हैं। उनका सम्पर्क न तो शहर से और न ही गाँव से घनिष्ठ हो पाता है। इसलिये वे अपने को एक अत्यधिक अनिश्चित परिस्थिति में पाते हैं। इसका प्रभाव उनके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है। इतना ही नहीं, अपने परिवार से दूर गाँव से आये हुए लोगों पर न तो परिवार का नियंत्रण रहता है और न ही पंचायत का, जिसके फलस्वरूप वे शीघ्र ही शहर के अनेक अनैतिक प्रलोभनों का शिकार बन जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें शराब पीने, जुआ खेलने और वेश्यावृत्ति की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इससे व्यक्तिगत विघटन होता है।

इसके अतिरिक्त औद्योगीकरण ने गन्दी बस्तियों को जन्म देकर, हड़ताल और तालाबन्दियों को बढ़ाकर और आर्थिक संकट उत्पन्न करके भी सामाजिक विघटन की स्थिति को उत्पन्न किया है। इनके बारे में अब हम विवेचना करेंगे।

(ख) गन्दी बस्तियाँ (Slums):—औद्योगीकरण का एक बहुत भयंकर सामाजिक परिणाम गन्दी बस्तियों का विकास है। उद्योग-धन्धों के पनप जाने से नगर की जनसंख्या बहुत बढ़ जाती है और मकानों की अत्यधिक कमी हो जाती है। उस कमी को पूरा करने के लिए नगरों में गन्दी बस्तियों का विकास होता है। इन बस्तियों में मकानों की दशा कितनी शोचनीय होती है उसे देखे बिना उसके सम्बन्ध में अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता है। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि औद्योगिक केन्द्रों में एक छोटे से कमरे में ६ से ९ व्यक्ति तक रहते हैं। इन कमरों में हवा और रोशनी, पाखाना और पेशाब किसी भी चीज का प्रबन्ध नहीं रहता है। दिन के १२ बजे भी बत्ती के बिना कुछ दिखाई नहीं देता है। फर्श कच्चे होते हैं, जहाँ-तहाँ कूड़ा-करकट इकट्ठा होता रहता है और समस्त वातावरण दूषित और असहनीय होता है। किराये में बचत करने के विचार से ४ या ६ श्रमिक परिवार एक मकान को किराये पर ले लेते हैं जहाँ न तो स्त्रियों के लिए और न जवान लड़कियों के लिए कोई परदा रह जाता है या अश्लीलता का ज्ञान। बुरे व्यक्ति अवसर



उन्हें अपनी काम वासना का शिकार बना लेते हैं। अस्वास्थ्यकर मकानों में रहने से लोगों का न केवल स्वास्थ्य ही खराब होता है, बल्कि वे अनेकों ऐसी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं जो पीढ़ियों तक उनका पीछा नहीं छोड़तीं। ऐसे लोगों के परिवार में बाल-मृत्यु, मलेरिया और तपेदिक अधिक होता है। गन्दे वातावरण में रहने वाले श्रमिकों की मनोभावना भी गन्दी हो जाती है। उनमें चोरी की आदत, शराब पीने की आदत, जुआ खेलने का शौक आदि दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। ऐसे मकानों में गोपनीय स्थान का नितान्त अभाव होता है। इस कारण माता-पिता तथा अन्य वयस्क व्यक्तियों के यौन-व्यवहारों को बच्चे देखते और सीखते रहते हैं। इसका बुरा प्रभाव बच्चों के नैतिक विकास पर पड़ता है। साथ ही, घर के अन्दर बच्चों को खेलने कूदने का स्थान न मिलने के कारण वे रास्ते पर खेलने जाते हैं, जिसके कारण बुरे संगत में फँस जाते हैं और बाल अपराधी बन जाते हैं। गोपनीय स्थान के अभाव के कारण पुरुष तथा स्त्रियों के यौन-व्यवहारों में भी शिथिलता पनपती है और उनमें नाना प्रकार का यौन-भ्रष्टाचार जन्म लेता है। डा० राधा कमल मुकर्जी (Dr. Radha Kamal Mukherjee) ने उचित ही लिखा है कि “भारतीय औद्योगिक केन्द्रों की इन असंख्य गन्दी बस्तियों में मनुष्यता का निःसन्देह ही निर्दयता के साथ गला घोटा जाता है, नारीत्व का अपमान होता है और शिशुता को प्रारम्भ से ही विषपान कराया जाता है।”<sup>1</sup>

(ग) औद्योगिक झगड़े (Industrial Dispute):—आधुनिक औद्योगीकरण का एक भयंकर दुष्परिणाम औद्योगिक झगड़े हैं जो कि आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया के दो सजीव साधनों—पूँजीपति और श्रमिक—के बीच संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न करते हैं। मालिक अपनी तिजोरी भरना चाहता है और श्रमिक अपना पेट। पर जब तिजोरी भरती जाती है और पेट खाली रह जाता है, तभी तिजोरी और पेट में—मालिक और मजदूर में—संघर्ष होता है। औद्योगिक झगड़ों का बहुत बुरा प्रभाव श्रमिकों, मालिकों और राष्ट्र पर पड़ता है। ऐसे झगड़ों के कारण या तो हड़तालें होती हैं या मालिकों की ओर से तालाबन्दियाँ। दोनों ही दशाओं में उत्पादन का काम रुक जाता है। इससे उत्पादन घटता है और राष्ट्रीय आय को काफी घक्का पहुँचता है। दूसरे, हड़ताल और तालाबन्दी की अवस्था में श्रमिकों को मजदूरी नहीं मिलती, जिससे उनमें निर्धनता और ऋणग्रस्तता बढ़ती है, कुछ लोगों को हड़ताल में सक्रिय भाग लेने के कारण नौकरी से हाथ धोना पड़ता है। इससे बेरोजगारी बढ़ती है। गरीबी और बेरोजगारी दोनों ही ऐसी सामाजिक समस्याएँ हैं जो कि आर्थिक व सामाजिक जीवन को खोखला बना देती हैं। जिस नगर में हड़ताल व तालाबन्दी होती है, उसमें अशान्ति और असन्तोष का जो वातावरण होता है उससे नागरिक जीवन भी अनिश्चित हो जाता है।

1. “In the thousand slums of the Indian industrial centres, manhood is unquestionably brutalized, womanhood dishonoured and childhood poisoned at its very source.” R. K. Mukherjee, *Indian Working Class*, p. 230.



(घ) आर्थिक संकट (Economic Depression):—मशीनों द्वारा उत्पादन कार्य बड़े-पैमाने पर ही होता है। इससे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि उसकी खपत असम्भव हो जाती है। ऐसा होने पर मिल-मालिक उत्पादन को घटाने के लिए मजदूरों की छटनी कर देता है या उनको कम समय के लिए काम पर लगाता है। पहली दशा में देश में बेरोजगारी फैलती है और दूसरी दशा में मजदूरों की आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है। इतना ही नहीं, आर्थिक संकट के समय वस्तुओं का मूल्य घटता है और देश के आर्थिक जीवन में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे अनेक उद्योगपति व व्यापारी दिवालिया तक हो जाते हैं। जो लोग दान और सहायता से अपनी जीविका चलाते हैं उनको आर्थिक सहायता मिलना बन्द हो जाती है और लोगों को रोटी कमाने के लिए नौकरी मिलनी कठिन हो जाता है। व्यापारियों के लिए व्यापार चालू रखना मुश्किल हो जाता है और साधारण जनता को एक तनावपूर्ण तथा अनिश्चित अवस्था से गुजारना पड़ता है। हर जगह लोगों को अपने जीवन के ढंग को बदलना पड़ता है, इससे व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन उत्पन्न हो जाता है क्योंकि आर्थिक संकट के समय में लोगों में सभी प्रकार के भय, चिन्तार्ये, कष्ट, अनिश्चितता, आर्थिक तंगी आदि उत्पन्न हो जाते हैं। बाजार का चहल-पहल समाप्त हो जाता है। परिवार की शान्ति में बाधा उत्पन्न होती है और समाज की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है।

(ङ) निर्धनता (Poverty):—निर्धनता स्वयं सामाजिक विघटन की एक अभिव्यक्ति है, पर साथ ही निर्धनता अन्य रूप में सामाजिक विघटन का एक कारण भी है। निर्धनता बाल-अपराध, अपराध, आत्महत्या, विवाह-विच्छेद और बेकारी का कारण बन कर सामाजिक संतुलन को समाप्त कर सकती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि निर्धनता बाल-अपराध का मुख्य कारण है। एक निर्धन बच्चा जब अपने से अधिक सम्पन्न परिवारों के बच्चों को नाना प्रकार के आराम तथा विलासिता की वस्तुओं का उपभोग करते देखता है और चाहने पर भी अपनी निर्धनता के कारण उन वस्तुओं को प्राप्त नहीं कर पाता तो उस निर्धन बच्चे में लालच, द्वेष अथवा जलन की भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं। पहले वह वैध तरीके से उन वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और जब वह इन प्रयत्नों में असफल हो जाता है तब अवैध तरीकों जैसे चोरी आदि को अपनाता है। उसी प्रकार निर्धनता के कारण अपराध भी पनपता है। अपनी आँखों के सामने स्त्री व बच्चों को भूखें मरते हुए देखने की तुलना में चोरी करना या डाका डालना उसके लिए सरल होता है। गरीबी से पीड़ित व्यक्ति अपने तथा अपने आश्रितों के रोटी कपड़ों की व्यवस्था करने में भी असफल रहता है। उस अवस्था में वह आत्महत्या करके अपने को आत्मलज्जा से बचाता है। गरीबी का एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध विवाह-विच्छेद से भी है। आर्थिक विषयों पर बहुत दिनों तक चिन्तित रहना भी वैवाहिक सम्बन्धों का नाशक है। गरीबी के कारण व्यक्ति को न ठीक से खाने को मिलता है और न पहनने को।



फलतः उसे भयंकर रोग घेर लेते हैं। रोगी आदमी को बेरोजगार हो जाने में दे नहीं लगती है क्योंकि वह छुट्टियाँ अधिक लेता है और काम भी ठीक से नहीं करता पाता है। अतः स्पष्ट है कि निर्धनता बाल-अपराध, आत्महत्या, विवाह-विच्छेद बेरोजगारी को पनपा कर सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने वाला एक कारण है।

(च) बेरोजगारी (Unemployment):—भारतवर्ष में बेरोजगारी की समस्या बहुत ही गम्भीर है। यह बेकारी की स्थिति सामाजिक विघटन का एक प्रमुख कारण है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति एच० हुवर (H. Hoover) ने सच ही कहा है कि बेरोजगारी से बढ़कर संसार में और कोई बर्बादी नहीं है। बेकार व्यक्ति अपने तथा अपने आश्रितों की मौलिक आवश्यकताओं तक की भी पूर्ति नहीं कर पाता है उसे न तो उचित रूप में खाने को मिलता है और न ही अच्छे मकानों में रहने का सुविधा प्राप्त होती है। इससे न केवल रहन-सहन का स्तर घटता है, बल्कि स्वास्थ्य स्तर भी गिरता है। बेरोजगारी की अवस्था व्यक्ति के नैतिक स्तर को भी गिरा देती है। बेरोजगारी की अवस्था में एक व्यक्ति अपने प्रयोजनों को निरन्तर नाना प्रकार के कष्टों को सहते देखता है, यहाँ तक की अपनी आँखों के सामने उनको भूख से तड़पते हुए देखता है। एक सीमा के बाद यह दृश्य उसके लिए असहनीय हो जात है और इसे सहन करने की अपेक्षा चोरी, डकैती, जालसाजी या बेइयावृत्ति के रास्ते को अपना लेना उसके लिए सरल होता है। बेकारी, भीख मांगने, जुआ खेलने और शराब पीने की सामाजिक समस्या को जन्म देती है। हर तरफ से निराशा व्यक्ति शराब पीकर अपनी समस्त निराशाओं और असफलताओं को भूलने का प्रयत्न करत है और अपने तथा अपने परिवार के लिए अधिकतर बरबादी को आमंत्रित करत है। पुरुष के बेरोजगार होने से स्त्रियों को भी घर से बाहर निकलकर नौकरी का खोज करनी पड़ती है जिसके फलस्वरूप पारिवारिक विघटन होता है।

(छ) कृषि की पिछड़ी दशा (Backward Condition of Agriculture):—कृषि भारतवर्ष का सबसे प्रमुख और प्राचीन पेशा है। इस पर देश की ७० प्रतिशत जनता अपनी जीविका के लिए निर्भर है। फिर भी दुःख की बात यह है कि भारत में कृषि की दशा बहुत ज्यादा पिछड़ी हुई है इस दशा ने गाँव की जनता की दशा को भी बहुत पिछड़ा दिया है। ग्रामीण समुदाय को विघटित करने वाली समस्याओं जैसे भूमिहीन कृषि मजदूरों की समस्या, ग्रामीण जनता की गरीबी की समस्या ऋणग्रस्तता और स्वास्थ्य की समस्याओं का एक प्रमुख कारण कृषि की पिछड़ी दशा है। डा० हैकरवाल (Haikerwal) का कथन है कि भारतवर्ष में जिस साल जिस प्रदेश में फसल अच्छी नहीं होती है, वहाँ अपराधियों की संख्या में तत्काल वृद्धि हो जाती है। डकैती, चोरी आदि सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध बहुत होने लगते हैं जिससे ग्रामीण समुदाय एक अनिश्चित व संकट कालीन स्थिति में से गुजरता है।

(ज) अति-जनसंख्या (Over-population):—भारतीय जीवन व समाज को विघटित करने और उसे खोखला बनाने वाला एक और उल्लेखनीय कारक यह की अति-जनसंख्या की स्थिति है। हमारे राष्ट्रीय जीवन को पाकिस्तानी या चीनी



हमलों से उतना खतरा नहीं है जितना कि अति-जनसंख्या की स्थिति से। विभिन्न जनगणना से पता चलता है कि सन् १९२१ में भारत की जनसंख्या प्रायः २५१३ करोड़ थी जो कि सन् १९६१ में बढ़कर प्रायः ४४ करोड़ हो गयी है। अति-जनसंख्या के कारण राष्ट्र का अधिकांश धन जनता के लिए खाद्य-सामग्री जुटाने में खर्च हो जाता है और पूँजी का निर्माण नहीं हो पाता है। अति जनसंख्या होने से प्रति-व्यक्ति आय घट जाती है और निर्धनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। निर्धन जनता बीमार, दुर्बल और अकुशल होती है। इस कारण उसकी कार्यक्षमता भी कम होती है, और उत्पादन घटता है। इतना ही नहीं, अति-जनसंख्या की स्थिति में बेकारी की समस्या गम्भीर हो जाती है जो कि स्वयं ही सामाजिक विघटन का एक कारण है। अति-जनसंख्या के कारण जमीन पर जनसंख्या का दबाव भी बढ़ता जाता है और खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े होते जाते हैं। दोनों ही स्थिति में ग्रामीण जनता को आर्थिक हानि होती है और ग्रामीण समुदाय का विघटन होता है।

### सांस्कृतिक कारण (Cultural Causes)

भारत में सामाजिक विघटन के कुछ सांस्कृतिक कारण भी उल्लेखनीय हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(१) त्रुटिपूर्ण शिक्षा पद्धति (Defective Educational System):—भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद जो शिक्षा प्रणाली भारतवासियों के लिए चालू की गयी उसके दो उद्देश्य थे—एक तो कम से कम वेतन पर भारतीय क्लर्कों को प्राप्त करना और दूसरा पाश्चात्य संस्कृति को भारतवासियों पर थोपना। इस शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य अंग्रेजों का अपने हित की पूर्ति था, न कि भारतवासियों को वास्तविक रूप से शिक्षित करना। अतः ऐसी शिक्षा व्यवस्था में अनेक दोषों का होना स्वाभाविक था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय आवश्यकता, आयोजन और कार्यक्रम में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाने पर भी उस अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा व्यवस्था का अनुकूलन वर्तमान भारतीय परिस्थितियों व आवश्यकताओं के साथ ही हो पाया है। फलतः सामाजिक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। चूँकि वर्तमान शिक्षा हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल है इस कारण इस शिक्षा के द्वारा व्यवहारिक जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं किया जा पा रहा है। वर्तमान शिक्षा न तो व्यवहारिक है और न ही प्राकृतिक, साथ ही सम्पूर्ण शिक्षा पद्धति या परीक्षा पद्धति दोषपूर्ण है। इसका परिणाम यह हुआ है कि विद्यार्थियों में अनुशासन की मात्रा दिन प्रति दिन घटती जा रही है। विद्यार्थियों में अनुशासन न होना सामाजिक विघटन का एक स्पष्ट लक्षण है क्योंकि स्कूल और कॉलेज का अनुशासन धीरे-धीरे परिवार में और फिर परिवार से राष्ट्र में फैलता है। इसका कारण यह है कि आज का विद्यार्थी कल का नागरिक होता है। भारतीय शिक्षा पद्धति की एक और उल्लेखनीय त्रुटि यह है कि यह शिक्षा पढ़े-लिखे बेकारों



की सृष्टि करती है। भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने सच ही कहा था कि “विश्वविद्यालय से जो बहुत से छात्र प्रतिवर्ष निकलते हैं उनको केवल काम ही नहीं मिलता बल्कि वे काम के अयोग्य भी हैं। यह स्थिति बेकारी से भी अधिक भयंकर है।” इसी कथन से यह स्पष्ट है कि भारतीय शिक्षा पद्धति का दोषपूर्ण होना भारतीय सामाजिक विघटन का एक महत्वपूर्ण कारण है।

(२) भारतीय सामाजिक मनोवृत्ति तथा मूल्यों में संघर्ष (Conflict between Indian Social Attitudes and Values) :—भारत में सामाजिक परिवर्तन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद काफी तेजी से हो रहा है। फलतः सामाजिक मनोवृत्ति में भी कुछ न कुछ परिवर्तन देखने को मिलता ही है। परन्तु उसी अनुपात में सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन नहीं हो पा रहा है जिसके फलस्वरूप सामाजिक मनोवृत्ति तथा मूल्यों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो रही है जिसका परिणाम सामाजिक विघटन ही है। दो एक उदाहरण के द्वारा इस स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है। भारतवर्ष में हरिजनों के प्रति भारतीय मनोवृत्ति परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार कुछ न कुछ अवश्य ही बदल गयी है परन्तु अस्पृश्यता को जन्म देने वाले धर्म, पवित्रता आदि से सम्बन्धित सामाजिक मूल्यों में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। उसी प्रकार अन्तर्विवाह (Endogamy) से सम्बन्धित सामाजिक मूल्यों के विपरीत आज अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में व्यक्ति की मनोवृत्ति अधिक स्पष्ट है। कन्यादान का आदर्श, पवित्रतावादी धारणा, भाग्यवादिता, जन्म जन्मान्तर के बन्धन की धारणा के आधार पर विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में जो सामाजिक मूल्य है उसके विपरीत आज विधवा पुनर्विवाह के अनुकूल मनोवृत्तियों का विकास नैतिक दृष्टिकोण से होता जा रहा है। विवाह विच्छेद के विरोध में सामाजिक मूल्य कुछ भी हो आज विवाह-विच्छेद के पक्ष में ही सामाजिक मनोवृत्तियों का उद्भव हो रहा है। इस प्रकार जब-जब सामाजिक मनोवृत्तियों और मूल्यों में संघर्ष होता है तो सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

(३) भाषा का संघर्ष (Conflict of Language) :—भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ कि अनेक भाषायें बोली जाती हैं। भाषा के आधार पर जितनी भिन्नता भारत में है उतनी शायद दुनिया के और किसी देश में नहीं। प्रत्येक भाषा अपनी उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लिये दूसरे को दबाने का प्रयत्न भी करती है। इसका परिणाम भाषा के आधार पर संघर्ष ही होता है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, फिर भी उसे उस रूप में पूर्णतया मान लेने के विरुद्ध अभी हाल ही में बंगाल, मद्रास आदि प्रान्तों में कितना विरोध-आन्दोलन चला, इससे तो सभी लोग अवगत हैं। लड़ाई भाषा को लेकर होती है पर जान जनता की जाती है। इतना ही नहीं, इस देश में भाषा के आधार पर पृथक् प्रान्तों में विभाजन की मांग की जाती है जो दंगों, हड़तालों आदि को उत्साहित करती है। ‘पंजाबी सूबा’ की मांग के विषय में सभी पाठक जानते होंगे। इस मांग की पूर्ति के लिये कुछ पंजाबी नेता अपने प्राणों तक की बाजी लगा देने को तैयार थे। यह उचित है या नहीं यह दूसरा प्रश्न है,



पर इससे समाज में जो अनिश्चितता तथा तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, वह समाज में ऐकमत्य (Consensus), एकता तथा सगठन को बनाये रखने के मार्ग में बहुत ज्यादा बाधक होती है।

(४) धर्म (Religion) :—कोई भी धर्म बुरा नहीं है, बुरा है धर्म में अन्तर्निहित रुढ़िवादिता, अन्ध विश्वास और उत्कट स्वधर्म-प्रेम। धार्मिकता रुढ़िवादिता और अन्धविश्वास सामाजिक प्रगति व परिवर्तन को रोकती है जब कि कटु स्वधर्म-प्रेम विभिन्न धार्मिक समूहों में तनाव व संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न करता है। भारतवर्ष में भी यही हुआ है। जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है, हमारे देश में अनेक ठग और बदमाश साधुओं और पुजारियों के रूप में समाज-विरोधी कार्यों को धर्म की आड़ में करते रहते हैं। भाँग, गाँजा, चरस आदि नशाखोरी को इस देश में धार्मिक मान्यता दी जाती है और इस प्रकार का नशा करने वाले लोग कोई खराब काम कर रहे हैं यह बात कभी स्वीकार नहीं करते हैं। परिणाम यह होता है कि देश के अनेक हट्टे-कट्टे व्यक्ति जो समाज की उन्नति में सक्रिय हाथ बँटा सकते हैं, महन्तों और साधुओं के चले बने हुए निठल्लों का जीवन व्यतीत करते हैं। इतना ही नहीं, धर्म पाप और दोष की भावना, अनुताप और हीनता की भावना को उत्पन्न करता है जिसके मन में भय, पश्चात्ताप, लज्जा और अन्य ऐसी उद्देगात्मक मनोवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ये मनोवृत्तियाँ जब बहुत उग्र रूप धारण कर लेती हैं तो उसे मानसिक रोग, आत्म हत्या आदि वैयक्तिक विघटन उत्पन्न हो जाते हैं। भारतवर्ष में धर्म की सबसे कटु विघटनात्मक अभिव्यक्ति हिन्दू और मुस्लिम धार्मिक समूहों के बीच होने वाले संघर्ष हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तो ऐसे भगड़े प्रायः होते रहते थे जिससे दोनों ही पक्षों के अनेक लोगों की जान जाती थी और मकान, व्यापार, धन आदि की जो बर्बादी होती थी वह अलग से। सन् १९४२ का कलकत्ता तथा बंगाल के अन्य भागों में हुए 'डाइरेक्ट ऐक्शन' (Direct Action) की विभीषिका को आज भी हम भूल नहीं सके हैं। 'इस्लाम खतरे में है' यह नारा लगा कर अखण्ड भारत को, हजारों वर्ष से भाई-भाई के रूप में रहने वाले हिन्दू और मुसलमानों को, दो टुकड़ों में बाँट दिया गया—संयुक्त देश विभाजित हुआ, लाखों लोग बे घर-बार हो गये, लुट गये, मिट गये। इससे धर्म की रक्षा कितनी हुई, यह सन्देहजनक है। हाँ, मानवता के विरुद्ध घृणा, पक्षपात, हिंसात्मक भावनाएँ, असहन-शीलता और अविश्वास अवश्य ही उत्पन्न हुआ। यही धर्म का विघटनात्मक प्रभाव है।

(५) मनोरंजन (Recreation) :—भारतवर्ष में मनोरंजन के विभिन्न साधन भी सामाजिक विघटन को उत्पन्न करते हैं। इस देश में मनोरंजन के साधनों का व्यापारीकरण दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। मनोरंजन से सम्बन्धित ये व्यापारी केवल अधिक ये अधिक लाभ उठाने के लिये जनता के कल्याण पर भी आघात कर बैठते हैं। सिनेमाओं तथा थियेटरों में दिखलाये जाने वाले भद्दे, अश्लील, कामोद्दीपक दृश्य इसके उत्तम उदाहरण हैं। मनोरंजन के इन साधनों से भारत के



नवयुवक तथा युवतियाँ रोमान्स की नयी-नयी विधियों, तथा 'चमत्कारों' को सीखते हैं, माता-पिता के प्रति अनादर की भावना पनपाते हैं, रोमान्टिक तरीके से विवाह करते हैं और पारिवारिक विघटन के जाल में फँस जाते हैं। यौन-अपराधों को भी सिनेमा द्वारा ही बढ़ावा मिलता है। सिनेमा से ही लोग विलासपूर्ण जीवन के प्रति इतना अधिक आकृष्ट हो जाते हैं कि गैर कानूनी तौर पर भी उस जीवन-स्तर तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक विघटन का सूत्रपात तभी होता है।

### राजनैतिक कारण (Political Cause)

भारत के सामाजिक विघटन में राजनैतिक कारण भी बहुत महत्वपूर्ण है। उनमें से प्रमुख कारणों का हम संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं जो कि इस प्रकार हैं :—

(क) पुलिस तथा कोर्ट :—भारतवर्ष में पुलिस तथा कोर्ट भी कभी-कभी सामाजिक विघटन का कारण बन जाती हैं। भारतीय पुलिस का संगठन अब पहले से बहुत सुधर गया है, फिर भी पुलिस कर्मचारियों के दृष्टिकोण में अभी बहुत कुछ परिवर्तन होना शेष है। पुलिस आज भी अपराधी के साथ कभी-कभी अति कठोर व्यवहार करती है; निरपराध व्यक्ति को भी बहुधा पुलिस के पंजे में फँसकर काफी परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं। इससे व्यक्ति के दिल में बदला लेने की भावना पनपती है और साथ ही जनता के साथ पुलिस का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। पुलिस के नाम से लोगों में एक आतंक सा छा जाता है। लोग पूर्णरूप से पुलिस पर विश्वास भी नहीं कर पाते हैं। इस कारण सामाजिक सुव्यवस्था व आन्तरिक शान्ति स्थापना के कार्य में जनता और पुलिस एक साथ मिलकर काम नहीं कर पाते हैं। पुलिस विभाग में पाये जाने वाले अनैतिकता और भ्रष्टाचार की भी घटनाएँ अक्सर समाचारपत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। उसी प्रकार भारतीय अदालत अपने काम में ४-५ वर्ष पिछड़ी हुई है। यहाँ न्याय मिलने में बहुत देर होती है और बहुत खर्चा भी। एक बार मुकदमें के चक्कर में जो आ गया, उसे मुकदमें की पैरवी सालों करने में घर की लुटिया-थाली तक बेच देनी पड़ती है। मुकदमा लड़ने वाले दोनों परिवार फँसला सुनने से पहले ही तबाह हो जाते हैं। या तंग आकर कोई अन्य अपराध कर बैठते हैं। उसी प्रकार जब एक व्यक्ति यह देखता है कि धनी आदमी गम्भीर से गम्भीर अपराध करके भी घन के बल पर बेदाग छूट जाता है और निर्धन कानून के चक्कर में बिना कारण फँस जाता है, तो उसमें बदला लेने की भावना पनपती है और फिर वह जान बूझ कर अपराध करता है। भारतीय अदालतों में अनैतिक वकील वह तत्व है जो कि सामाजिक और वैयक्तिक विघटन का कारण बन जाता है। वैसे वकील अपने दलालों के द्वारा मुवकिलों को फँसाते हैं और फिर उनका खूब आर्थिक शोषण करते हैं। ऐसे वकील पैसे के लिये भूठ को भी सच बनाने का वादा करते हैं; निरपराध को भी फांसी के तख्ते पर चढ़ा देने का दम भरते हैं और अन्त में असफल होकर मुवकिल को भिखारी बना कर ही छोड़ते हैं।



(ख) राजनैतिक दलबन्दी:—भारतवर्ष की राजनैतिक जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता दलबन्दी है। अलग-अलग राजनैतिक पार्टियों में जो तनाव व संघर्ष की स्थिति है वह तो है ही; उसके अलावा एक ही पार्टी में गुटबन्दी (Groupism) सम्पूर्ण राजनैतिक जीवन को निरन्तर क्लुपित करता रहता है। सामाजिक विघटन की स्थिति उस समय और भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है जब कि यह गुटबन्दी देश पर शासन करने वाले राजनैतिक दल में अति कटु रूप धारण कर लेती है। एक गुट दूसरे को बदनाम करता है, एक दूसरे पर कीचड़-उछालता है और भ्रष्टाचार को फैलाने में सहायता करता है। इस गुटबन्दी का परिणाम यह होता है कि शासन की बागडोर एक गुट से दूसरे गुट में आ जाती है और फिर संघर्ष व तनाव की स्थिति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इसके फलस्वरूप समाज में एक ऐसी अनिश्चित स्थिति उत्पन्न होती है कि सामाजिक संतुलन नष्ट हो जाता है।

(ग) युद्ध :—भारतीय समाज को विघटित करने का एक और महत्वपूर्ण कारण युद्ध है जो कि पिछले ३-४ वर्ष से भारतीय जीवन को पीड़ित कर रहा है। सन् १९६२ में सबसे पहले चीन ने भारत पर आक्रमण करके इसका सूत्रपात किया। उस युद्ध के लिये भारत तैयार नहीं था, न ही यह कभी आशा करता था कि 'चीनी-हिन्दी भाई-भाई' का नारा लगाने वाला पड़ोस का राष्ट्र अपने ही मित्र-राष्ट्र भारत की पीठ पर पीछे से आकर छुरा भोंक देगा। इस आकस्मिक संकट के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र के शान्तिपूर्ण जीवन को बहुत बड़ा आघात लगा, बहुत कुछ उलट-पलट हुई और बहुत से परिवारों को अपूरणीय क्षति पहुँची। उस आघात को सहन भी न कर पाये थे कि सितम्बर, १९६५ में सदियों से साथ-साथ और भाई-भाई के रूपमें रहने वाले एक और पड़ोसी राष्ट्र, ने अप्रत्यक्ष युद्ध छेड़ा जिसने शीघ्र ही वास्तविक युद्ध का रूप धारण कर लिया। इस युद्ध में धन, शहर, गाँव, मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघरों की जो बर्बादी हुई उसे छोड़कर २,२२६ भारतीय जवानों को भारत माँ की लाज रखने के लिये अपने प्राणों को न्योछावर करना पड़ा। हमारे ७,८७० जवान घायल हुए। इससे निस्सन्देह ही भारत की गौरवपूर्ण मर्यादा की रक्षा हुई है, पर व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन भी हुआ है इस सत्य को भी स्वीकार करना ही होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक विघटन के एकाधिक कारण हैं। परन्तु स्मरण रहे कि बहुधा इनमें से कोई एक कारण सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में सफल नहीं होता है जब तक न अन्य कारणों का सहयोग उसे प्राप्त हो जाये। अन्य समाजों की भाँति भारत में भी सामाजिक विघटन की स्थिति एकाधिक कारकों की क्रियाशीलता का परिणाम है। किसी भी वैज्ञानिक विश्लेषण में इस सत्य को अस्वीकार करना किसी भी रूप में उचित न होगा।

### सामाजिक पुनर्संगठन

(Social Reorganization)

सामाजिक पुनर्संगठन क्या है ? (What is Social Reorganization):—



सामाजिक विघटन के सम्बन्ध में अब तक हम जो भी कुछ लिख चुके हैं उससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान जटिल समाजों में अनेक विरोधी संस्थाओं की क्रियाशीलता, युद्ध तथा अन्य सामाजिक संकट, व्यक्ति तथा समूह की स्थिति व कार्य में अनिश्चितता व गड़बड़ी, सामाजिक मनोवृत्ति व मूल्यों में संघर्ष, आन्तरिक अष्टाचार व अस्वस्थ परिस्थितियाँ आदि के कारण सामाजिक जीवन व संरचना में एक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप सामाजिक विघटन की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट हो जाती है और अनेक सामाजिक समस्याएँ स्वस्थ सामाजिक जीवन के पथ पर बाधक बनकर खड़ी हो जाती हैं। इन बाधाओं को दूर करके सामाजिक जीवन व संरचना को फिर से संगठित और व्यवस्थित करना ही सामाजिक पुनर्संगठन है। सामाजिक पुनर्संगठन (Social reorganization) का उद्देश्य उपस्थित विघटित अवस्थाओं को सुधारकर एक उच्चतर तथा अधिक सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का विकास करना है और इसी में राज्य और समाज की अन्य आधारभूत संस्थाओं के अस्तित्व की सार्थकता है।

इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि सामाजिक पुनर्संगठन की धारणा स्थिर (static) नहीं, बल्कि गतिशील (dynamic) है, क्योंकि सामाजिक संरचना में असंतुलन या सामाजिक समस्याओं का स्वरूप प्रत्येक समाज और प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न होता है। इसलिये भारत के लिये सामाजिक पुनर्संगठन के जो सिद्धान्त इस समय उचित हैं, हो सकता है कि वे सिद्धान्त दूसरे समाजों के लिए बिल्कुल निरर्थक सिद्ध हों। यहाँ हम केवल उन सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे जो कि भारत में सामाजिक पुनर्संगठन के दिग्दर्शक बन सके।

### भारत में सामाजिक पुनर्संगठन के सिद्धान्त

(Principles of Social organization in India)

भारत में सामाजिक पुनर्संगठन के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों (Guiding Principles) का उल्लेख यह कहकर ही आरम्भ किया जा सकता है कि सामाजिक पुनर्संगठन का कोई भी कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक कि सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने वाले कारकों या शक्तियों पर रोक लगा देने की व्यवस्था न की जायेगी। उदाहरणार्थ, अष्टाचार, भिक्षावृत्ति, बीमारी व अपराध को तब तक नहीं रोका जा सकता है जब तक विरोधी सामाजिक परिस्थितियों को, जो कि नगरों के औद्योगिक विकास व ग्रामीण उद्योगों व कृषि में अवनति के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक असंतुलन का परिणाम हैं, समाप्त न कर दिया जाएगा। इसलिए इस देश के सामाजिक पुनर्संगठन के लिये सबसे आवश्यक सिद्धान्त तो यही है कि बहुत ही सोच-विचार कर बुद्धिमत्तापूर्वक सामाजिक व आर्थिक आयोजन (Social and Economic Planning) किया जावे जिससे आम जनता के दुःख-दैन्य दूर हो सकें और वे विघटन को उत्पन्न करने वाली सामाजिक संस्थाओं के पंजों से अपने को विमुक्त कर सकें। इसके लिये पुनर्संगठन की रूपरेखा इस प्रकार की होनी चाहिये—

(१) सामाजिक स्थिति तथा कार्यों की स्पष्ट परिभाषा (Clear-cut defini-



tion of social status and roles) :—भारतवर्ष में सामाजिक विघटन की अनेक परिस्थितियाँ इस कारण उत्पन्न होती हैं कि व्यक्ति तथा समूह की स्थितियों तथा कार्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट परिभाषाएँ उपलब्ध नहीं हैं। जब तक समाज की प्रमुख स्थितियों के विषय में इस प्रकार की परिभाषाएँ उपलब्ध न होंगी, तब तक गड़बड़ी की स्थिति भी उत्पन्न होती रहेगी। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक आधारभूत स्थिति तथा उससे सम्बन्धित कार्यों की सामाजिक परिभाषाएँ सम्पूर्ण तथा स्पष्ट हों और सामाजिक नियंत्रण के साधनों का विकास व संगठन इस भाँति हो कि उक्त परिभाषाओं के अनुसार समाज की प्रत्येक इकाई को एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रखना सम्भव हो।

(२) नये सामाजिक मूल्यों तथा मनोवृत्तियों का विकास (Development of new social Values and Attitudes):—सामाजिक विघटन की स्थिति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे नये सामाजिक मूल्यों तथा मनोवृत्तियों को विकसित किया जाये जिससे कि नई परिवर्तित परिस्थितियों से उनका अनुकूलन सरलता से हो जाए। जब नयी और पुरानी सामाजिक मनोवृत्तियों व मूल्यों में संघर्ष होता है, या जब परिवर्तित परिस्थिति से उनका अनुकूलन नहीं होता है तभी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की सामाजिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। अतः उनसे सामाजिक मूल्यों और मनोवृत्तियों का यदि अनुकूलन न हुआ तो सामाजिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। हमें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक मूल्यों और मनोवृत्तियों को भी बदलना होगा, उदाहरणार्थ, पहले अपराधी से घृणा की जाती थी और उसे कठोर से कठोर दण्ड देकर समाज की प्रतिक्रिया को व्यक्त किया जाता था पर बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार ये दोनों ही मूल्य और मनोवृत्तियाँ अनुचित हैं। अब अपराधी से घृणा नहीं सहानुभूति होनी चाहिए, उसे कठोर दण्ड देने में नहीं, अपितु मुधारने में समाज की महानता व्यक्त होती है। आज अन्धे, लंगड़े, अपाहिज, पागल और मूक के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व को यह कहकर टाला नहीं जा सकता कि उनकी यह अवस्था उनके ही पिछले जन्म के कर्मों का परिणाम है। आज तो उन्हें बीमार व्यक्ति की भाँति समझकर उन्हें जीवन में प्रतिष्ठित कराने की मनोवृत्ति को पनपाना होगा। उसी प्रकार परिस्थितिबश जो स्त्रियाँ अश्रु हो गयी हैं, जो वेश्याएँ हैं, जो कुमारी माताएँ व उनके अवैध बच्चे हैं उन सबके प्रति भी पुराने सामाजिक मूल्यों को बदलकर नए मूल्यों और मनोवृत्तियों को विकसित करना होगा जिनमें दया होगी, सहानुभूति होगी, पतितों के प्रति प्रेम-भाव और उन्हें फिर से जीवन में बसाने की सद्भावना होगी। हरिजनों के प्रति, विधवाओं के प्रति और भिखारियों के प्रति जो अवहेलना और घृणा आज भी है उसके स्थान पर उनकी समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण मनोभाव और उन्हें हल करने के लिए मानवोचित सत्प्रयत्नों को विकसित करने की आवश्यकता है। आज विज्ञान, वैज्ञानिक विधियाँ तथा प्रेम व सहानुभूति अधिकतर समस्याओं को हल करके सामाजिक संतुलन की



स्थिति को बनाए रखने में सहायक हो सकता है, इस विश्वास को विकसित करने की आवश्यकता है। भारत में सामाजिक पुनर्संगठन का यह सबसे प्रमुख सिद्धान्त है।

(३) जातिवाद और अस्पृश्यता की समाप्ति (Elimination of Casteism and untouchability):—भारतीय सामाजिक विघटन के दो प्रमुख कारण जातिवाद और अस्पृश्यता है। ये दोनों ही जाति-व्यवस्था के माथे पर कलंक है। इन कलंकों को मिटाना ही है। विभिन्न जातियों में आर्थिक और सांस्कृतिक असमानतायें, उनमें सामाजिक दूरी, पारस्परिक द्वेष और प्रतियोगिता को जन्म देती हैं जिसकी अभिव्यक्ति जातिवाद और अस्पृश्यता के रूप में होती है। इन्हें समाप्त करने के लिए उनमें आर्थिक और सांस्कृतिक समानताएँ लानी होंगी ताकि इस समानता के आधार पर ही वे एक दूसरे के निकट आ सकें और सामाजिक तनाव व संघर्ष की स्थिति कम से कम उत्पन्न हो। यह कार्य सामाजिक और आर्थिक प्रगति के द्वारा ही किया जा सकता है जिससे कि औद्योगिक दृष्टि से परिपक्व समाज का निर्माण किया जा सके और एक ऐसी संतुलित सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके जिसमें सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त हो। इस प्रक्रिया के दौरान में सामाजिक रिवाजों और संस्थाओं में आमूल परिवर्तन करने होंगे और पुरानी परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर एक गतिशील सामाजिक व्यवस्था को विकसित करना होगा तथा केवल उत्पादन के विभिन्न साधनों में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में व विभिन्न सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की प्रविधियों (techniques) में भी विज्ञान के दृष्टिकोण एवं (experiments) के महत्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। कुछ सीमा तक, पिछली पीढ़ियों में सामाजिक पुनर्संगठन का यह दोहरा पहलू भारतीय विचारधारा में विद्यमान रहा है, भले ही उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति न हुई हो। धीरे-धीरे वह अधिक मूर्त रूप धारण करे, यही प्रयत्न होना चाहिये।

(४) सामाजिक कुरीतियों का अन्त करने के हेतु सामूहिक प्रयत्न (Collective efforts to end Social Evils):—दहेज-प्रथा, बाल-विवाह प्रथा, कुलीन विवाह प्रथा, विधवा विवाह व विवाह-विच्छेद पर प्रतिबन्ध आदि सामाजिक कुरीतियों का अन्त करने के लिये सामूहिक प्रयत्न किये बिना भारतीय समाज का संतुलित विकास कदापि सम्भव नहीं हो सकता। इसके लिए हिन्दू विवाह संस्था में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है और यह काम तभी हो सकता है जब कि विवाह के प्रति सामाजिक मनोभाव को बदला जाए। लड़की का विवाह ऊँचे कुल में होना ही उचित है, बाल-विवाह करने से या अपनी कन्या का 'गौरी दान' अर्थात् रजोदर्शन के पूर्व विवाह करने वाले पिता या संरक्षक को स्वर्ग प्राप्ति होती है, कन्या का दान एक ही बार हो सकता है, इस आदर्श को बनाए रखने या विधवाएँ अभागिन होती हैं इसलिए विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए, विवाह पवित्र एवं जन्म-जन्मान्तर का बन्धन है इसलिए विवाह-विच्छेद की बात सोचना भी पाप है—इन सब परम्परागत आदर्शों, मूल्यों तथा मनोभावों को बदले बिना सामाजिक असंतुलन की स्थिति को सुधारा नहीं जा सकता। इसे सुधारने के लिए अन्तर्जातीय विवाह, विवाह-



विच्छेद, विधवा पुनर्विवाह, उचित आयु में विवाह के अनुकूल मनोभाव व मूल्यों को विकसित करने की आवश्यकता है। इस विषय में स्त्रियों का सहयोग प्राप्त करना भी आवश्यक है और इसके लिए स्त्री-शिक्षा का अधिकाधिक विस्तार परमावश्यक है।

(५) सामाजिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन (Crushing of social corruption):—धूसखोरी, मिलावट, काला बाजारी, चोरी छिपे माल ले जाना-ले आना आदि ऐसे भ्रष्टाचार हैं जो कि सामाजिक व्यवस्था को खोखला बना देते हैं। इनसे पीछा छुड़ाए बिना सामाजिक पुनर्संगठन का कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता है। समाज के जीवन में भ्रष्टाचार का विष धोलने वाले राष्ट्र के शत्रु हैं। उनका विनाश किसी भी मूल्य पर होना चाहिये। धूसखोर, मिलावट व काला बाजारी करने वालों को पकड़े जाने पर किसी भी अवस्था में क्षमा नहीं करना चाहिए। उक्त भ्रष्टाचारों को प्राप्त करने के लिये नये सामाजिक मूल्यों और मनोभावों को विकसित करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, जनता को इन भ्रष्टाचारों का कितना बुरा प्रभाव समाजकल्याण व प्रगति पर पड़ता है। उसका मूल्यांकन करने के योग्य मनोभाव को विकसित करना होगा। किसी भी अवस्था में धूस नहीं देंगे या काला-बाजार से सामान नहीं खरीदेंगे—इस प्रकार के दृढ़ संकल्पों को क्रियान्वित करने से समाज में भ्रष्टाचार का उन्मूलन सरल हो जायेगा।

(६) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण (Decentralization of industries):—पाश्चात्य देशों में यह देखा गया है कि उद्योगों के केन्द्रीकरण से न केवल नगरों में जनसंख्या का दबाव घटा है, बल्कि मकानों की समस्या सुलभ गयी है, बच्चों के लिए पाकों का निर्माण सम्भव हुआ है और मनोरंजन के स्वस्थ स्वरूपों को विकसित करना सम्भव हुआ है जिसके कारण केवल अपराध, बाल-अपराध, व व्यभिचार ही कम नहीं हुए हैं अपितु मानसिक व सामाजिक असंतुलनों में भी पर्याप्त कमी हो गयी है। इसी आधार पर यह सुझाव दिया जा सकता है कि इस देश में भी उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जावे ताकि यह देश गन्दे शहरों के आधिक्य से छुटकारा पा सके। उचित यही होगा कि उद्योगों को एक स्थान पर केन्द्रित होने न देकर उन्हें शहर से दूर विभिन्न स्थानों पर छिटका दिया जाय ताकि वे न तो शहर से बहुत दूर हों और न गाँव से। इन छिटके हुए औद्योगिक संस्थानों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए तथा श्रमिकों व कच्चे मालों के आने-जाने के लिए यातायात व संचार के साधनों को पर्याप्त विकसित करने की भी आवश्यकता है। ऐसा हो जाने पर गाँव के लोगों को गाँव में ही अपने आत्मपरिजननों के बीच रहते हुए भी औद्योगिक संस्थानों में काम करने का अवसर मिलेगा, उनकी आर्थिक स्थिति सुधरेगी, उन पर परिवार तथा पंचायत का नियंत्रण होगा और वे घने बसे औद्योगिक केन्द्रों के प्रलोभनों जैसे जुआ, शराब, वैश्यावृत्ति आदि से अपनी रक्षा कर सकेंगे। इससे न केवल उनका पारिवारिक जीवन सुखी और समृद्धिशीली होगा बल्कि अब समाज में अपराध, बाल-अपराध, वैश्यावृत्ति, जुए के झुंडे आदि



भी कम हो जायेंगे। फलतः सामाजिक विघटन की स्थिति बहुत कुछ समाप्त होकर सामाजिक पुनर्संगठन का पथ प्रशस्त होगा।

(७) बड़े उद्योग तथा ग्राम उद्योग में सहयोग (Co-ordination between big and Village Industries):—भारतवर्ष में जो बेरोजगारी तथा निर्धनता है उसका एक प्रमुख कारण यह है कि इस देश के बड़े उद्योगों तथा ग्राम-उद्योगों के बीच कोई निश्चित श्रम-विभाजन तथा सहयोग नहीं है अपितु उनमें प्रतिस्पर्धा होती रहती है। इसके फलस्वरूप ग्राम उद्योग उचित ढंग से पनप नहीं पाता है और देश में रोजगार का क्षेत्र विस्तृत नहीं हो पाता है जिसके कारण बेरोजगारी और निर्धनता बढ़ती है और इससे सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि पाश्चात्य देशों की भाँति इस देश में भी बड़े उद्योग तथा ग्राम-उद्योगों में श्रम-विभाजन तथा सहयोग हो। बड़े उद्योग व्यापारिक मालों का उत्पादन करें जब कि ग्राम-उद्योग रोज के व्यवहार की चीजों का। ग्राम-उद्योगों को विकसित करना वर्तमान अवस्थाओं में भारत के लिए सरल भी होगा और उससे अधिक संख्या में बेरोजगार व्यक्तियों को काम मिल सकेगा। गाँव की आर्थिक स्थिति सुधरेगी और नगरों की भीड़-भाड़ कम होगी क्योंकि नौकरी की तलाश में गाँव से शहर को भागने वाले लोगों की संख्या कम हो जायेगी।

(८) गंदी बस्तियों की सफाई (Slum clearance):—भारत में सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में प्रौद्योगिक केन्द्रों में पाई जाने वाली गंदी बस्तियों का प्रमुख हाथ है। मानव को जिन्दा रहने के लिए कितना दुख, कष्ट और दर्द सहना पड़ता है इसका ज्वलन्त उदाहरण ये गंदी बस्तियाँ हैं। इसीलिए श्री जवाहरलाल नेहरू ने कानपुर की गंदी बस्तियों को देखकर कहा था, “ये गंदी बस्तियाँ मानवीय पतन की चरम सीमा का प्रतिनिधित्व करती हैं।.....मेरे विचार में इन सब गंदी बस्तियों को जला दिया जाय ताकि विकास अधिक तेजी से हो सके”.....यदि गंदी बस्तियों को साफ कर दिया जाय और श्रमिकों को रहने के लिए अच्छे मकान दिये जायें तो श्रमिकों को भयंकर रोगों से छुटकारा मिलेगा, उनका नैतिक पतन कम हो जायेगा और उत्पादन बढ़ेगा। मैं चाहता हूँ कि अस्पतालों पर व्यय किया जाने वाला सम्पूर्ण धन गंदी बस्तियों की सफाई पर व्यय किया जाय। यह बात शायद समझाने की आवश्यकता नहीं है कि श्रमिकों को अच्छे मकान मिलने से उनके स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा उठेगा। उनमें कुशलता बढ़ेगी और उसी अनुसार उनकी आय में भी वृद्धि होगी और उत्पादन भी बढ़ेगा। इससे भी बड़ी बात यह है कि गंदी बस्तियों के गंदे वातावरण में रहने से श्रमिकों में चोरी, शराब पीने तथा जुआ खेलने की जो आदत पड़ जाती है वह अच्छे मकानों में रहने से विकसित नहीं होती है। गंदी बस्तियों की सफाई का अर्थ होगा न केवल अच्छे मकान बल्कि बच्चों के खेलने के उत्तम पार्क और वयस्कों के लिए स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था। इससे अपराध तथा बाल अपराध दोनों ही कम हो जायेंगे और घर में गोपनीय स्थान की कमी होने से जो यौन सम्बन्धी व्यभिचार फैलते हैं वह भी न



फैल सकेंगे ।

(१) कृषि में उन्नति (Development in agriculture):—भारत कृषि प्रधान देश है इसलिए भारत के पुनर्संगठन की किसी भी योजना में कृषि की उन्नति सबसे महत्वपूर्ण है । कृषि की उन्नति होने से गांव की बेरोजगारी दूर होगी, ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की समस्या का समाधान होगा, ग्रामीण जनता के लिए जीवित रहने का संघर्ष सरल हो जायगा और उनके पास सांस्कृतिक तथा बौद्धिक उन्नति करने के लिए खाली समय निकल आयेगा । अपनी निर्धनता के कारण ही वह अपने बच्चों को शिक्षा नहीं दे पाते हैं । कृषि की उन्नति हो जाने से इस समस्या का भी समाधान हो सकेगा । ग्रामीण समुदाय में शिक्षा का विस्तार होने से अन्धविश्वास और कुसंस्कार से उनका पीछा छूट जायेगा और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए एक स्वस्थ वातावरण का निर्माण सम्भव होगा । भारत में सामाजिक पुनर्संगठन का यह आवश्यक तत्व होगा ।

(१०) ग्राम पंचायतों का विकास (Development of Village Panchayats):—ग्रामीण पुनर्संगठन में पंचायतों के महत्व को सभी लोग स्वीकार करते हैं । भारत में गांव पंचायत ग्रामीण गणतन्त्र के रूप में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है और भारतीय ग्रामीण जीवन में उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है । गांधी जी ने अपने आर्थिक आदर्शों में गांव पंचायत को ही ग्रामीण जीवन की उन्नति का आधार माना है । उनका कथन है कि भारतीय ग्रामीण जीवन का पुनर्संगठन गांव पंचायतों के पुनर्संगठन के बिना असम्भव है । गांव पंचायत गांव के स्वास्थ्य स्तर को उन्नत करने का प्रयत्न करती है, रोग और उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करती है, स्वास्थ्य व आकर्षक आमोद प्रमोद का आयोजन करती है । अकाल, बाढ़ आदि में सहायता का प्रबन्ध करके ग्रामीण जीवन के आर्थिक विघटन को रोकती है, खेती में सुधार करती है, उद्योग धन्धों का संगठन करती है, शिक्षा की व्यवस्था करती है, नशा खोरी को रोकती है, नागरिकता की शिक्षा देती है, माताओं और शिशुओं की देख-रेख करती है तथा शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था करती है । इन सभी कार्यों को गांव पंचायत तभी कर सकती है जब कि उसका उचित विकास किया जाय । वास्तविकता तो यही है कि ग्रामीण समुदायों का विकास व पुनर्संगठन गांव पंचायतों के विकास पर ही निर्भर है ।

(११) जनसंख्या पर रोक (Check on Population):—भारत के लिए अति-जनसंख्या एक अभिशाप है । इसके कारण देश की आर्थिक प्रगति शीघ्रता से नहीं हो पाती है, निर्धनता व बेरोजगारी की समस्या गम्भीर होती जा रही है, कृषि की उन्नति में बाधा हो रही है तथा जनता का स्वास्थ्य-स्तर गिरता जा रहा है । इन सब विघटनात्मक तत्वों के उन्मूलन के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या पर रोक लगाना परमावश्यक है । इसके बिना समाज का पुनर्संगठन नहीं किया जा सकता पर जनसंख्या की वृद्धि को तभी रोका जा सकता है जब कि देर से विवाह (late marriages) हों, शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार हो ताकि लोग अति-जनसंख्या के



दुष्परिणामों के सम्बन्ध में सचेत रहें परिवार नियोजन (Family Planning) कार्यक्रम की लोकप्रियता बढ़े तथा देश में सर्वांगीण आर्थिक विकास के कार्यक्रम को क्रियान्वित किया जावे। स्मरण रहे कि केवल जन्म-दर पर नियंत्रण करने से ही जनसंख्या की समस्या का समाधान न हो सकेगा। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि देश में उपलब्ध समस्त प्राकृतिक तथा मानवीय साधनों का सर्वोत्तम उपयोग हो सके ताकि देश की खाद्यान्न समस्या का साधन हो, महत्वपूर्ण उद्योगों के लिए कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो और छोटे-बड़े सभी प्रकार के उद्योगों का संतुलित विकास हो। इसीलिए यह कहा गया है कि “अति जनसंख्या की समस्या निरपेक्ष रूप से केवल लोगों की संख्या की समस्या नहीं, वरन् देश के प्राकृतिक साधनों के पूर्ण विकास से सम्बन्धित समस्या भी है।”

(१२) शिक्षा प्रणाली में सुधार (Reform in Educational System):— भारत की शिक्षा-प्रणाली अनेक दोषों से भरपूर है। सामाजिक समस्याओं का वास्तविक हल तब तक नहीं हो सकता है जब तक इन देशों को दूर न किया जाए जिससे कि शिक्षा के द्वारा जीविका उपार्जन का उद्देश्य, बौद्धिक विकास का उद्देश्य, नैतिक विकास व व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य पूरा हो सके। शिक्षा सामाजिक प्रगति व पुनर्संगठन-कार्य का एक प्रमुख साधन है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति व समाज को बाह्य और आन्तरिक शक्ति मिलती है जो उसकी प्रगति को गति प्रदान करती है। शिक्षा वह साधन है जिससे न केवल परिस्थितियों तथा वातावरण पर विजय प्राप्त की जाती है, बल्कि एक ऐसे नए सामाजिक वातावरण की रचना भी की जा सकती है जिसमें सामाजिक समस्याओं के प्रति जनता की जागरूकता बढ़ती है और उन समस्याओं को हल करने के लिए क्रियात्मक कदम उठाए जाते हैं।

(१३) भाषा तथा धर्म के आधार पर होने वाले संघर्षों को कम करना (To lessen the conflicts based on language and religion):— भारत में सामाजिक पुनर्संगठन का कोई भी कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि इस देश में भाषा तथा धर्म के आधार पर होने वाले संघर्षों को खत्म न कर दिया जावे। भारत एक धर्म-निरपेक्ष (secular) राज्य है। यहाँ पर राज्य की ओर से किसी भी धर्म को विशेष-मान्यता नहीं दी जाती है। फिर भी देश में विभिन्न धर्मों को मानने वाले समूहों में धार्मिक भिन्नता के आधार पर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। शिक्षा तथा प्रचार के द्वारा लोगों के धार्मिक अन्धविश्वासों तथा संकीर्णताओं को दूर करने की आवश्यकता है। इससे अनेक सामाजिक कुरीतियों को भी दूर करना सरल होगा। उदाहरणार्थ, बाल-विवाह प्रथा, विधवा विवाह पर रोक, अस्पृश्यता आदि धार्मिक अन्धविश्वासों पर ही आधारित हैं। इन अन्धविश्वासों को दूर करना आवश्यक है। उसी प्रकार हिन्दी को राष्ट्रभाषा का सम्मान देते हुए प्रत्येक भाषा का अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण विकास हो यही शुभ है बशर्ते कि एक भाषा का विकास इस भाँति हो कि उससे दूसरे किसी भी भाषा के विकास में बाधा उत्पन्न न हो।



(१४) अपराधी तथा बाल-अपराधियों का सुधार व भिखारी, वेध्याओं एवं शारीरिक व मानसिक दृष्टिकोण से असमर्थ लोगों का पुनर्वासः—अपराधी तथा बाल-अपराधियों को कठोर दण्ड देने से ही इनमें सम्बन्धित समस्याओं से छुटकारा नहीं मिल सकता है, इस सत्य को आज सभी प्रगतिशील देशों में अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है। अतः सामाजिक पुनर्संगठन के लिए इनके प्रति एक मानवीय सुधारात्मक दृष्टिकोण तथा कार्यक्रम को विकसित करने का प्रयत्न करना होगा। आज मानव की महानता अपराधी व बाल-अपराधियों को दण्ड देने में नहीं बरन् सुधारने में है ताकि वे अपने अपराधी आदतों को त्याग कर अच्छे नागरिक बनें और राष्ट्र-निर्माण के कार्य में हाथ बँटाये। उसी प्रकार भिखारी, वेध्याओं तथा मानसिक व शारीरिक तौर पर असमर्थ लोगों को घृणा से दूर हटा देने का युग अब चला गया है। अब तो इनको भी इस प्रकार फिर से बसाने का युग आया है कि वे समाज के अकर्मण और दुषित अंग न रह कर उपयोगी अंग बन सकें।

(१५) राजनैतिक गुटबन्दी को समाप्त करना (Elimination of Political Groupism):—देश के विकास व एकता के रास्ते पर राजनैतिक गुटबन्दी जितना घातक सिद्ध हुई है उतनी और कुछ नहीं। इसका सबसे बड़ा प्रभाव जनता के स्तर पर भी पड़ता है। जब वे यह देखते हैं कि देश के नेतागण ही गुटबन्दी करके अपने-अपने समूह के स्वार्थों की पूर्ति कर रहे हैं तो वे भी उसी रास्ते पर चलने लगते हैं। इस प्रवृत्ति को समाप्त किये बिना सामाजिक पुनर्संगठन का कोई भी कार्यक्रम सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। इसके लिए राजनैतिक दलों के विभिन्न गुटों को यह अनुभव करना चाहिए कि एक गुट का स्वार्थ उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि सम्पूर्ण देश का स्वार्थ। शासक दल के नेताओं को सबसे पहले इस आदर्श की स्थापना करनी चाहिए जिससे कि अन्य लोगों के द्वारा भी उस आदर्श का अनुसरण करना सरल हो जाए।

(१६) युद्ध के खतरे को कम करना (To eliminate the danger of war):—वर्तमान परिस्थितियों में सबसे बड़ी राष्ट्रीय विपदा युद्ध है जो कि पिछले कुछ वर्षों से भारतीय जीवन को पीड़ित कर रही है। इस स्थिति से हमें छुटकारा पाना ही होगा। पर कम्युनिस्ट चीन तथा पाकिस्तान आपस में साठ गांठ करके इस सम्भावना को भी खतरे में डालना चाहते हैं। फिर भी, जैसा कि स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री शास्त्री का कथन है, हम किसी भी शक्ति के सामने या धमकी के आगे झुक कर अपने देश की अखण्डता को खतरे में नहीं डाल सकते। हम उसकी पूरी तरह रक्षा करेंगे। पर उसके लिए हमें, भारत के प्रत्येक नागरिक को प्रति पल तैयार रहना होगा, निरन्तर प्रयत्नशील बनना पड़ेगा। भारत एक शान्तिप्रिय देश है और रहेगा। वह किसी के क्षेत्र पर कोई अधिकार नहीं चाहता, उलटे कश्मीर के जिस भाग पर आक्रमण कर पाकिस्तान ने उसे अपने अधिकार में कर लिया है उसके सम्बन्ध में भी वह आपसी बातचीत के द्वारा ही सब मामला निबटा लेना चाहता है। इसके विपरीत पाकिस्तान भारत के अविभाज्य अंग कश्मीर को हथियाने के लिए हमेशा मुक्का



दिलाता और युद्ध विराम रेखा को भंग करता रहा है। इतना ही नहीं, निर्दोष जनता पर तथा मन्दिर, गिरजाघर और मस्जिदों तक पर बमबारी करके उसने जो अशान्ति पैदा की है वह भी आज किसी से छिपी नहीं है। इन सब उत्तेजनात्मक कार्यवाहीयों के बावजूद भारत दोनों देशों के बीच शान्ति और मधुर सम्बन्धों के लिए प्रयत्न करता रहा है और आज भी कर रहा है। यह ध्रुव-सत्य है। दुनिया के देश आज राजनीतिक स्वार्थवश इस सत्य के प्रति आँख भले ही मूंद लें, परन्तु सत्य तो सूर्य की भाँति है। आँख बन्द कर लेने मात्र से ही उसका अस्तित्व कदापि नष्ट न होगा इसलिए उत्तम यही है कि दुनिया के सभी देश सत्य को सत्य कह कर स्वीकार करने का साहस संचय करें और भारत पर युद्ध लादने वाले देशों पर इस प्रकार का नैतिक दबाव डालें कि भारतीय जीवन से युद्ध का खतरा दूर हो जाए। यह भारत के लिए ही नहीं सम्पूर्ण संसार के लिए हितकर होगा। जब तक भारत का एक भी नागरिक युद्ध की आग में जलता रहेगा, तब तक संसार का कोई भी राष्ट्र सुख व शान्ति से नहीं रह सकता, चैन की नींद एक भी रात नहीं सो सकता। भारत पर युद्ध का आतंक भारत के लिए नहीं, विश्व-शान्ति को चेतावनी है, अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति को चुनौती है।

---



## सामाजिक परिवर्तन तथा संतुलन (Social Change and Maladjustment)

तीस वर्ष बाद कानपुर लौट कर आयी—अपने घर, फीलखाने में। देखा मुहल्ले का रंग ही बदल गया है। शहर घूमने निकली तो देखा शहर का रूप पलट गया है। जहाँ गन्दी बस्ती थी वहाँ चौड़ी सड़कें निकली हैं, जहाँ सकरी गलियाँ थीं वहाँ सुन्दर रास्ते बन गये हैं, जहाँ जंगल था वहाँ अभिजात वर्गों की बस्ती बस गयी है, जहाँ मैदान था वहाँ मिलें खुल गई हैं। मास्टर प्लान की बदौलत फूल बाग का चौराहा और माल रोड का रास्ता कलकत्ते की एस्प्लानेड से टक्कर ले रहा है। चौराहे-चौराहे पर फुलवारी है—चारो तरफ “चेन्ज दी फेस ऑफ दी सिटी” (Change the face of the City) आन्दोलन का शोरगुल है। कलेक्टर गंज के चौराहे पर स्टेशन के पास जहाँ भोपड़ियाँ और गरीबों के होटलों की भरमार थी वहाँ सुन्दर-तम पार्क में अनुपम फव्वारों की छटायें यह सन्देह उत्पन्न करती हैं कि कहीं दूसरे शहर के स्टेशन पर तो भूल से उतर नहीं गये। पूछने पर पता लगा सन्देह गलत है—कानपुर ही है, पर बदला हुआ कानपुर है—वह कानपुर नहीं रहा जो तीस वर्ष पहले छोड़ कर गई थी—मेरी आँखें भी शायद वह न रहीं जिसने तीस वर्ष पहले इस कानपुर को देखा था। तो क्या सब कुछ बदल गया है—सब कुछ बदलता रहता है? उत्तर हाँ में ही मिलता है और जो बात कानपुर के लिए सच है, हमारे अपने लिए सच है, वही बात पूरे समाज के लिए सच कही जा सकती है। समाज भी स्थिर नहीं है, वह भी बदलता रहता है।

कानपुर बदल गया है पर इस परिवर्तन का मूल्य अनेक लोगों को चुकाना पड़ा है। यदि कानपुर की कुछ गन्दी बस्तियों की सफाई हुई है तो कुछ लोग अवश्य ही बे घर-बार हो गये हैं; यदि कानपुर में नई मिलें और कारखाने खुले हैं तो शहर में अन्धगी और धुआँ ज्यादा बढ़ गया है जिससे तपेदिक जैसे भयंकर रोगों से मरने वालों की संख्या भी बढ़ गई है, यदि शहर का विस्तार हुआ है तो पड़ोसपन की भावनाओं का विनाश भी साथ ही साथ हुआ है, यदि शहर में सिनेमा घरों की संख्या दुगुनी हो गई है तो बाल अपराधों की संख्या चौगुनी बढ़ गई है, यदि मोटर कारों की संख्या बढ़ी है तो रिक्शे वालों की संख्या भी उससे कहीं तेजी से बढ़ी है और यदि शहर के चौराहे पर बने पार्कों में नये फूल खिले हैं तो दुर्घटनाओं में कितने ही प्राणों की भेट इसी शहर ने स्वीकार की है। परिवर्तन का साथ असंतुलन ने दिया है—विघटन ने साथ निभाया है। परिवर्तन और असंतुलन का यही सम्बन्ध है और जो बात एक शहर पर लागू होती है वही बात पूरे समाज पर भी। सामाजिक परिवर्तन



और असन्तुलन का आपसी सम्बन्ध वास्तव में घनिष्ठ है और यह अध्याय उसी के सम्बन्ध में है।

**सामाजिक परिवर्तन क्या है ?**

(What is Social Change)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है और चूँकि समाज भी प्रकृति का एक अंग है इसी कारण सामाजिक परिवर्तन भी प्राकृतिक या स्वाभाविक है। समाज मानव जीवन के आरम्भ से ही मनुष्य के साथ है और तब से अब तक की अवधि में समाज या सामाजिक जीवन में, उसके स्वरूप, संरचना, व्यवस्था, संगठन, मूल्य, संस्था आदर्श सब कुछ में परिवर्तन की निरन्तर और अवशम्भावी प्रक्रिया में कभी विरति नहीं हुई है। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो पूर्णतय स्थिर या अपरिवर्तनीय हो। परिवर्तन तो प्रत्येक समाज में होगा ही— किंस समाज में कम तो किसी समाज में ज्यादा परिवर्तन की यह गति प्रत्येक समय, काल या युग में भी समान नहीं है। उदाहरणार्थ, मुगल साम्राज्य काल में भारतीय समाज में परिवर्तन की जो गति थी, वह अंग्रेजी साम्राज्य-काल में नहीं रही और फिर अंग्रेजी साम्राज्य काल में जिस गति से भारतीय सामाजिक परिवर्तन घटित हुआ। इससे कही अधिक ध्रुव गति से भारतीय समाज का प्रत्येक पक्ष आज परिवर्तित हो रहा है।

परन्तु सामाजिक परिवर्तन क्या है ? इस प्रश्न का सरलतम उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि समाज या सामाजिक जीवन में कोई भी बदला-बदल सामाजिक परिवर्तन है और भी स्पष्ट रूप में समाज मानवीय सामाजिक सम्बन्ध का जाल है। जब इस जाल के स्वरूप में या प्रकृति में या बनावट में जब कोई परिवर्तन होता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। सामाजिक सम्बन्धों में कोई परिवर्तन होने का तात्पर्य यह होता है कि उसका प्रभाव सामाजिक संस्थाओं पर भी अवश्य ही पड़ेगा और सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन होने से सामाजिक संरचना भी बदल जाता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है।

**सामाजिक परिवर्तन का अर्थ व परिभाषा**

(Meaning and Definition of Social Change)

जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है सामाजिक परिवर्तन के अर्थ व विभिन्न प्रकार से समझाया जा सकता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि जो सामाजिक ढाँचे में कोई परिवर्तन हो जाता है जो उसे सामाजिक परिवर्तन कहते हैं दूसरे कुछ विद्वानों का मत है कि सामाजिक सम्बन्ध में परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहना उचित होगा। विशिष्ट अर्थ में, सामाजिक जीवन के किसी भी पक्ष में कोई भी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। वास्तव में समाज विश्लेषण विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने रूप में किया है और उसी रूप में सामाजिक परिवर्तन की भी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन मोटे त



पर समाज में या समाज के सदस्यों के जीवन में होने वाले परिवर्तनों को ही कहते हैं। सामाजिक परिवर्तन का अर्थ विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित परिभाषाओं से और भी स्पष्ट हो जायगा :—

सर्व श्री मैरिल तथा एलड्रेज (Merrill and Eldredge) ने लिखा है, “ठोस अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों को करने में लगे हैं जो कि उनके पहले के लोगों के कार्यों से भिन्न हैं। समाज प्रतिमानित (Patterned) मानवीय सम्बन्धों का एक विशाल तथा जटिल जाल-सा है जिसमें कि समस्त मनुष्य अंश ग्रहण करते हैं। जब मानव व्यवहार में रूपान्तर की प्रक्रिया क्रियाशील होती है तब हम उसी को दूसरे रूप में इस प्रकार कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।”<sup>1</sup>

श्री के० डेविस (K. Davis) के अनुसार, “सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकारों में घटित होते हैं।”<sup>2</sup>

सर्व श्री मेकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) के शब्दों में, “समाज-शास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रुचि प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक सम्बन्धों से है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।”<sup>3</sup>

सर्व श्री गिलिन तथा गिलिन (Gillin and Gillin) के विचारानुसार, “सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों, या सांस्कृतिक साधनों या जनसंख्या की रचना या सिद्धान्तों के परिवर्तन से या प्रसार से, या समूह के अन्दर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हों।”<sup>4</sup>

1. “In its most concrete sense, social change means that large number of persons are engaging in activities that differ from those which they (or their immediate forefathers) engaged in some time before. Society is composed of a vast and complex net-work of patterned human relationships, in which all men participate. When human behaviour is in the process of modification, this is only another way of indicating that social change is occurring.” Merrill and Eldredge, *Culture and Society*, pp. 512—513.

2. “By social change is meant only such alterations as occur in social organization, that is, in structure and functions of society.” Kingsley Davis, *Human Society*, Macmillan Co., New York, 1959, p. 620.

3. “.....our direct concern as sociologist is with social relationship. It is the change in these relationships which alone we shall regard as social change.” R. M. MacIver and C. H. Page, *Society : Introductory Analysis*, Macmillan and Co., Ltd., O., London, 1953, p. 511.

4. “Social changes are variations from the accepted modes of life, whether due to alteration in geographic conditions in cultural equipment, composition of the population or ideologies and whether brought about by diffusion or invention within the group.” Gillin and Gillin, *Cultural Sociology* The Macmillan Co., New York, 1950, pp. 561—562.



सर्व श्री डॉसन तथा गेटिस (Dawson and Gettys) के अनुसार, “सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ और प्रयोग में सामाजिक है।”<sup>6</sup>

श्री जोन्स (Jones) ने लिखा है, “सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तःक्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में अन्तर या रूपान्तरण को वर्णित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है।”<sup>6</sup>

श्री जेन्सन (Jensen) के मतानुसार, “सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने की पद्धतियों में रूपान्तरण कहकर परिभाषित किया जा सकता है।”<sup>7</sup>

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन समाज व्यवस्था व संरचना में ऐसे परिवर्तन हैं जिससे मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों, समाज के सदस्यों की स्थिति व कार्यों तथा सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में हेर-फेर हो जाता है जिसके फलस्वरूप यदि एक ओर सामाजिक प्रगति होने की सम्भावना होती है तो दूसरी ओर सामाजिक असमंजस्य या सामाजिक विघटन की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है।

### उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या

(Explanation of the above definitions)

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित किया है। सामाजिक परिवर्तन के के वास्तविक स्वरूप व प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए इन परिभाषाओं की संक्षिप्त व्यवस्था आवश्यक है—

सर्व श्री मेरिल तथा एलड्रेज ने अपनी परिभाषा में सामाजिक परिवर्तन की कसौटी के रूप में मानवीय कार्यों या कार्य-कलापों को स्वीकार किया है। सामाजिक परिवर्तन हुआ या नहीं यह जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि लोगों के कार्य-कलापों में कोई परिवर्तन हुआ भी है या नहीं। आज के लोगों का कार्यकलाप यदि उनसे पहले के लोगों के कार्य-कलापों से भिन्न है तो यह भिन्नता वास्तव में, उपरोक्त विद्वानों के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन की ही सूचक होगी।

5. “Cultural change is social change since all culture is social in its origin, meaning and usage.” Dawson and Gattys, *Introduction to Sociology*, p. 580.

6. “Social change is a term to describe variation in or modifications of, any aspect of social processes, social patterns, social interaction, or social organization.” Jones, *Basic Sociological Theory*, p. 96.

7. “Social change may be defined as modification in ways of doing and thinking of people.” M. D. Jensen, *Introduction to Sociology and Social Problems*, p. 190.



अपने विचारों को और भी स्पष्ट करते हुए इन विद्वानों ने लिखा है कि समाज मानवीय सम्बन्धों का एक सम्बन्धित प्रतिमान है; इस प्रतिमान (Pattern) का निर्माण तभी होता है जब कि समाज के सभी सदस्य अपने-अपने व्यवहारों के माध्यम से सामाजिक जीवन में अंश ग्रहण करते हैं। ये व्यवहार जब बदलने लगते हैं, तो उसी को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं क्योंकि मानवीय व्यवहारों में परिवर्तन होने का तात्पर्य उनके पारस्परिक सम्बन्धों के उस प्रतिमान में भी परिवर्तन होता है जिससे कि समाज का निर्माण हुआ है। मानवीय कार्य-कलाप ही उनके व्यवहारों को व्यक्त करते हैं। इसलिए सामाजिक परिवर्तन मानवीय कार्य-कलापों (Human activities) या मानवीय व्यवहारों (Human behaviour) में होने वाले परिवर्तन को ही कहते हैं।

प्रोफेसर के० डेविस ने सामाजिक परिवर्तन का आधार सामाजिक संगठन माना है। सामाजिक संगठन के दो स्पष्ट पक्ष हैं—संरचनात्मक (structural) पक्ष तथा प्रकार्यात्मक (functional) पक्ष। ये दोनों ही पक्ष एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। सामाजिक संरचना का निर्माण मोटे तौर पर समाज के विभिन्न समूह, समिति, संस्था तथा सदस्यों को लेकर होता है। समाज के ये विभिन्न अंग निष्क्रिय नहीं होते हैं। ये अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अलग-अलग पर बहुत कुछ पूर्व निश्चित कार्यों (Roles) को करते रहते हैं। जब सामाजिक संरचना के ये विभिन्न अंग तथा उनकी स्थितियों और कार्यों में कोई परिवर्तन होता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

सर्व श्री मैकाइवर तथा पेज ने अपनी परिभाषा में सामाजिक सम्बन्धों पर अत्यधिक बल दिया है। उनका कहना है कि जब सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहना चाहिए क्योंकि स्वयं समाज ही इन सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है।

सर्व श्री गिलिन और गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा को उन कारणों सहित प्रस्तुत किया है जिनके कारण सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं। इन विद्वानों ने जीवन की मानी हुई रीतियों या तरीकों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन माना है। यह परिवर्तन एकाधिक कारणों से घटित होता है जैसे भौगोलिक कारक, सांस्कृतिक साधन, जनसंख्या की रचना, प्रसार, आविष्कार आदि। इनमें से एक या एकाधिक कारण जीवन की स्वीकृत प्रणालियों को बदल सकते हैं। वह अवस्था सामाजिक परिवर्तन की है।

सर्व श्री डासन तथा गेटिस ने सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं माना है। इसलिए इनके अनुसार सांस्कृतिक परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है।

श्री जोन्स ने सामाजिक परिवर्तन के चार सम्भावित आधारी का उल्लेख किया है और वे हैं—सामाजिक प्रक्रिया 'सामाजिक प्रतिमान, सामाजिक अन्तःक्रिया और सामाजिक संगठन। इनमें से किसी के भी किसी पक्ष में यदि कोई अन्तर या



रूपान्तरण उत्पन्न हो तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।

श्री जेम्सन ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है उनके अनुसार समाज के सदस्यों को सोचने तथा कार्य करने में कुछ नियमितता होती है अर्थात् वे कुछ निश्चित तरीकों से सोचते या काम करते हैं। इन तरीकों में कोई बदला-वदली होना सामाजिक परिवर्तन का ही सूचक है।

अपनी परिभाषा में प्रस्तुत पुस्तक की लेखिका ने सामाजिक परिवर्तन को समाज व्यवस्था व सामाजिक संरचना के संदर्भ में समझाने का प्रयत्न किया है। सामाजिक परिवर्तन तो तब होता है जब कि मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों, समाज के सदस्यों की स्थिति व कार्यों और सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में हेर-फेर हो जाता है। इस हेर-फेर से समाज का संगठन व प्रगति आगे भी बढ़ सकती है और सामाजिक असंतुलन या विघटन की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन के इन दोनों परिणामों को ध्यान में न रखकर सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को वास्तविक अर्थ में समझना वास्तव में कठिन है। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप यदि सामाजिक प्रगति स्वाभाविक है तो सामाजिक असंतुलन की स्थिति भी सामाजिक परिवर्तन का परिणाम हो सकती है। इस द्वितीय परिणाम का ही विश्लेषण हम इस अध्ययन में करने का प्रयत्न करेंगे।

**सामाजिक परिवर्तन व सामाजिक असंतुलन या विघटन में सम्बन्ध**  
(Relationship between social change and social disequilibrium or disorganization)

अनेक सामाजिक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनसे पूरे समाज को लाभ होता है इसलिए श्री गिडिंग्स (Giddings) ने सामाजिक परिवर्तन द्वारा उत्पन्न असंतुलनों (Maladjustments) को प्रगति का मूल्य कहा है। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप अनेक स्थापित सम्बन्ध टूट जाते हैं, सामाजिक संस्थाओं तथा रूढ़ियों में संघर्ष उत्पन्न होता है और समाज के सदस्यों के पद और कार्य भी उलट सकते हैं। ये सभी अवस्थाएँ सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब कि सामाजिक परिवर्तन की गति अत्यन्त द्रुत है। सामाजिक परिवर्तन द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन करने की समस्या प्रत्येक के सम्मुख होती है और तब तक सामाजिक विघटन की स्थिति बनी रहती है जब तक समाज और संस्थाओं के विभिन्न अंग अपने में सामंजस्य स्थापित नहीं कर लेते हैं। सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक असंतुलन और विघटन में वास्तव में क्या सम्बन्ध है इसे और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों के संदर्भ में सामाजिक विघटन या संतुलन को समझने का प्रयत्न करें।

**संस्थात्मक परिवर्तन और सामाजिक असंतुलन**  
(Institutional Changes and Social Maladjustment)

श्री माउरर (Mowrer) ने स्पष्ट ही लिखा है कि यदि सामाजिक संस्थाओं



में कोई परिवर्तन इस प्रकार का होता है कि उससे सम्पूर्ण संस्था में उल्लेखनीय उलट-फेर हो जाती है तो उन अवस्था में सामाजिक विघटन किसी न किसी रूप में अवश्य ही होगा, क्योंकि इस प्रकार के परिवर्तन में विभिन्न संस्थाओं का पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ जाता है और उसका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था (social order) पर पड़ता है क्योंकि समाज के संस्थाओं के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध से ही समाज व्यवस्था का निर्माण होता है। सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन का तात्पर्य समाज के स्थापित व्यवहारों में परिवर्तन है क्योंकि संस्थाएँ आधारभूत मानवीय आश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थापित तरीकों के आधार पर किये गये मानवीय प्रयत्नों को अभिव्यक्त करते हैं। जब संस्थागत इन तरीकों में अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है तो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पहले की भांति सरलता से नहीं कर पाता है इसके फलस्वरूप समाज में असन्तोष और असुरक्षा की भावना फैलती है जो कि सामाजिक विघटन की ही सूचक है। उदाहरण के लिए शान्ति के समय में (Peace Time) हम लोगों को अनाज खुले बाजार में सरलता से मिल जाता है और उसी सरलता से अनाज प्राप्त करने के हम आदी हो जाते हैं। परन्तु युद्ध छिड़ते ही खुले बाजार से हमें अनाज मिलना एकाएक बन्द हो जाता है और नवी तुली मात्रा में अनाज प्राप्त करने के लिए हमें राशन की दुकान में घंटों लाइन में खड़ा होना पड़ता है। इसके बाद भी जो राशन मिलता है उसमें पूरे परिवार की गुजर नहीं होती है, राशन की दुकान में जो कुछ मिलता है वही लेना पड़ता है और पसन्द का कोई प्रश्न नहीं उठता है। अनाज में कंकर-पत्थर की भरमार होती है, तथा अनाज की किस्म भी घटिया प्रकार की होती है। इन सब का कुल परिणाम यह होता है कि परिवार के सदस्यों का पेट नहीं भरता, नाना प्रकार की बीमारी आकर घेर लेती हैं और पैसा देकर भी उन बीमारियों से पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। यह सभी स्थितियाँ सामाजिक असंतुलन या विघटन की ही परिचायक हैं और इसका कारण यह है कि संस्थागत कार्यों में अत्यधिक परिवर्तन हुआ है अर्थात् खुले बाजार के बजाय अब अनाज सरकार द्वारा स्थापित राशन की दुकानों से प्राप्त हो रहा है।

वास्तव में होता यह है कि सामाजिक संस्थाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने से उन संस्थाओं से सम्बन्धित कर्त्ताओं (Actors) की स्थिति तथा कार्यों में भी उसी के अनुरूप घोर परिवर्तन हो जाते हैं जिसके साथ अनुकूलन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं होता है क्योंकि वह यकायक निश्चित रूप में यह समझ भी नहीं पाता है कि उसकी स्थिति तथा कार्य परिवर्तित परिस्थितियों में वास्तव में क्या है। जैसे ही यह स्थिति उत्पन्न होती है वैसे ही सामाजिक विघटन का भी सूत्रपात हो जाता है। उदाहरण के लिए भारतीय जाति-प्रथा में होने वाले संस्थागत परिवर्तनों को ही लीजिये। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप अब ब्राह्मणों की परम्परागत प्रभुता (authority) अत्यधिक कम हो गई है। उसके स्थान पर उन हरिजनों की सामाजिक स्थिति आज अन्य जातियों के बराबर कर दी गई है, जिन्हें कि पहले अछूत माना जाता था



और इस लिए जिन्हें कोई भी सामाजिक, धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप एक ओर ब्राह्मण को अपने गिरी हुई स्थिति से अनुकूलन करना पड़ रहा है और दूसरी ओर हरिजनों को उन समान अधिकारों के साथ अनुकूलन करना पड़ रहा है जो कि उन्हें पहले कभी भी प्राप्त नहीं थे। हरिजनों के लिए यह एक नवीन परिस्थिति है जिसके साथ अनुकूलन करना कोई सरल काम नहीं है। यह समस्या केवल हरिजनों के लिए ही नहीं है बल्कि अन्य उच्च जातियों के लिए भी है जिन्हें कि अब हरिजनों की इस उन्नत स्थिति से अनुकूलन करना पड़ रहा है, उन हरिजनों से जिन्हें कि वे सदा ही दूर हटाते रहे और अवहेलना की दृष्टि से देखते रहे। अनेक हरिजन आज अध्यापक, क्लर्क, उच्च अधिकारी-और मिनिस्टर तक के कार्य कर रहे हैं अर्थात् ऐसे कार्य कर रहे हैं जिन्हें कि उन्होंने पहले कभी नहीं किया है और ना ही अन्य लोगों ने उनसे इन कार्यों के करने की आशा की है। अतः स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था में परिवर्तन के फलस्वरूप सम्पूर्ण स्थितियों तथा कार्यों में जो घोर परिवर्तन हुए हैं उनके फलस्वरूप जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न हुई है उससे अनुकूलन करना सबके लिए आज भी सम्भव नहीं हुआ है और अनुकूलन करने में असफल होने का तात्पर्य सामाजिक असन्तुलन व सामाजिक विघटन ही है।

सामाजिक संस्थाओं में विवाह भी एक महत्वपूर्ण संस्था है। जब इस संस्था में कोई परिवर्तन होता है तो भी सामाजिक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए हिन्दु विवाह को ही लीजिये। परम्परागत रूप में हिन्दू-विवाह के अन्तर्गत अन्तर्विवाह (endogamy) का ही आदर्श है और साथ ही विवाह बन्धन को एक पवित्र और अटूट बन्धन मानने की परम्परा भी बहुत पुरानी है। परन्तु आज परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप इस विवाह संस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। अन्तर्विवाह का आदर्श टूटकर अब अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन अधिकाधिक बढ़ रहा है और साथ ही विवाह विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो जाने के फलस्वरूप विवाह बन्धन का अटूटपन ही अब समाप्त हो गया है। इसके फलस्वरूप अनेक पारिवारिक विघटनों के बारेमें भी आज सुनने को मिलता है। अन्तर्जातीय विवाह करने वाले लड़के-लड़कियों का अपने माता-पिता या संरक्षक के साथ संबंध अत्यधिक तनावपूर्ण हो जाता है। क्योंकि सब माता-पिता आज भी अन्तर्जातीय विवाह में अन्तर्निहित विचारों से अपना अनुकूलन नहीं कर पाये हैं किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में तो माता-पिता ने इस प्रकार के लड़के व लड़की को घर से निकाल तक दिया है और उन्हें सम्पत्ति के अधिकार से वंचित किया है। इतना ही नहीं अन्तर्जातीय विवाह करने वाले युवक व युवती की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में यदि अत्यधिक अन्तर हुआ तो उस अवस्था में भी पति-पत्नी का अनुकूलन उचित ढंग से नहीं हो पाता है और पारिवारिक कलह, तनाव व संघर्ष की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। इसका भी प्रमुख कारण यह है कि अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियों से अभ्यस्त न होने के कारण युवक-युवतियों का इन परिस्थितियों से सफलतापूर्वक अनुकूलन नहीं हो पाता है और व्यक्तिगत व पारिवारिक विघटन का



पथ प्रशस्त होता है। उसी प्रकार विवाह विच्छेद भी हिन्दू समाज के लिए नया है और इससे जिन परिस्थितियों का उद्भव होता है वह भी उनके लिए नवीन है। विवाह विच्छेद का अधिकार तो उन्हें प्राप्त है पर उस अधिकार को क्रियान्वित करने से जो परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उसके वे अग्र्यस्त नहीं हैं। इसीलिए विवाह विच्छेद के बाद पति-पत्नी दोनों का ही जीवन नष्ट हो सकता है और यदि बच्चे हैं तो उनके जीवन में भी बर्बादी आ सकती है जिसका कि तात्कालिक परिणाम पारिवारिक विघटन और अन्तिम परिणाम सामाजिक विघटन हो सकता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि संस्थात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक असंतुलन या सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है क्योंकि संस्थात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप कुछ ऐसी नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जो कि सामाजिक संगठन के अनुकूल न हों।

### सांस्कृतिक परिवर्तन और सामाजिक असंतुलन (Cultural Changes and Social Maladjustment)

सांस्कृतिक परिवर्तन से भी सामाजिक असंतुलन व सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। सांस्कृतिक परिवर्तन का तात्पर्य है कि जीवन के स्वीकृत ढंग में परिवर्तन क्योंकि श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) के अनुसार संस्कृति के अन्तर्गत जीवन के समग्र तरीके या ढंग (Total ways of life) आ जाते हैं। इस अर्थ में सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत वे सभी परिवर्तन आ जाते हैं जिनका कि सम्बन्ध हमारे जीवन के स्वीकृत ढंग से है। जैसे कला, ज्ञान, विश्वास, आचार, परम्परा, प्रथा, आदत, दर्शन, धर्म आदि। इनमें से प्रत्येक का एक गहरा सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से होता है। इसीलिए जब मानवीय जीवन के इन पक्षों में कोई परिवर्तन होता है तो सम्पूर्ण पुरानी व्यवस्था में उलट-फेर हो जाना भी असम्भव नहीं है और उस अवस्था में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है कि सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप नये सांस्कृतिक तत्व जैसे नये विचार, आदर्श और मूल्य निरन्तर हमारे सांस्कृतिक जीवन में जुड़ते रहते हैं। इनके योग से या इन नये तत्वों के प्रभावों के फलस्वरूप समाज के सदस्यों की पहले की आदतों तथा जीवन कार्यक्रमों (life schemes) में परिवर्तन हो जाता है। इतना ही नहीं नये विचार, आदर्शों तथा मूल्यों का संघर्ष पुराने विचारों, आदर्शों तथा मूल्यों के साथ होता है जिसका परिणाम सामाजिक विघटन ही होता है। उदाहरण के लिए घर में बधू और लड़की की स्थिति के सम्बन्ध में परम्परागत और आधुनिक मूल्यों तथा आदर्शों की ही लीजिये। परम्परागत रूप में परिवार में कन्या की स्थिति प्रतिष्ठा, महत्व और मर्यादा बहुत कम थी, उनका एक कर्तव्य घर में रहकर घर के काम काज को देखना था। न तो विवाह के संबंध में और ना ही परिवार के अन्य किसी मामलों में उनकी राय लेने की जरूरत समझी जाती थी। उसी प्रकार घर की बहू लज्जाशील होगी, सास-ससुर की सेवा तनमन लगा



कर करेगी, पति सेवा को अपना धर्म समझेगी और घर के काम-काज में अपने को लगाये रहते हुए सती-धर्म का पालन करेगी—यही आदर्श और मूल्य वधू के सम्बन्ध में पहले थे और घर के बड़े-बूढ़े आज भी उस आदर्श को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। परन्तु सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप इन आदर्शों तथा मूल्यों में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। आज लड़कियाँ घर से बाहर पढ़ने-लिखने जाती हैं, नौकरी भी करती हैं, पिकनिक और पार्टी में भी सम्मिलित होती हैं, घर के काम-काज को टालना चाहती हैं, विवाह अपनी मर्जी से करती हैं और अपने कार्य-कलापों पर माता पिता का अत्यधिक हस्तक्षेप पसन्द नहीं करती हैं। उसी प्रकार घर की बहू भी आज नौकरी करने घर से बाहर जाती है, सास-ससुर की सेवा तो दूर रही अपने ही बच्चों के लालन-पालन के उत्तरदायित्व को नौकरों या आयाओं पर छोड़ देती है, सतीत्व धर्म का पालन निरर्थक समझती है, पति सेवा को पराधीनता की पराकाष्ठा मानती है, स्टेज पर गाती नाचती है और गृहस्थी के कामों को गौण मान लेती है। इन नये मूल्यों आदर्शों तथा विचारों से परिवार के बड़े-बूढ़े सहमत नहीं हो पाते हैं, इसीलिए नये और पुराने आदर्श, मूल्यों तथा विचारों का आपस में संघर्ष होता है, पारिवारिक तनाव और विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है—घर का लड़का अपनी बीबी बच्चों को लेकर माता-पिता से अलग हो जाता है, लड़की मनचाहे जीवन-साथी को चुन कर अपने पति के घर चली जाती है, परिवार टूटता है और टूटे परिवारों का आधिक्य होना ही सामाजिक विघटन है।

सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक असंतुलन व विघटन की स्थिति किस प्रकार उत्पन्न होती है या हो सकती है उसके विषय में हम विस्तृत विवेचना अगले अध्याय में करेंगे।

### राजनैतिक परिवर्तन और सामाजिक विघटन (Political Changes and Social Disorganization)

(१) विदेशी शासन (Foreign Rule)—परिवर्तन की प्रक्रिया यदि राजनैतिक जीवन में भी द्रुत गति से क्रियाशील है, उस अवस्था में भी सामाजिक विघटन या असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारतीय राजनैतिक इतिहास से ही दिया जा सकता है। जब मुसलमानों ने भारत के हिन्दू राजाओं को हटाकर अपना साम्राज्य इस देश पर कायम किया तो आरम्भ में जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उनके फलस्वरूप भारतीय समाज में विघटन की स्थिति स्पष्ट देखने को मिली। अपने स्वतन्त्र राज्य से हाथ धो बैठने वाले कुछ हिन्दू राजाओं के लिये मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करना असम्भव हो गया। नवीन परिस्थितियों से वे अनुकूलन न कर सके और मुसलमान शासकों के विरुद्ध उन लोगों ने विद्रोह किया। स्वतन्त्रता की चाहत उनके दिल में सदा ही आग बनकर जलती रही। महाराणा प्रताप तथा शिवाजी के लिए प्राणों की बलि चढ़ाना स्वीकार था, पराधीनता को मान लेना नहीं। उसी प्रकार मुसलमान शासकों ने राजनैतिक बल के आधार पर इस्लाम धर्म को फैलाने का जो प्रयत्न किया उससे



भी असंख्य लोगों को अपना धर्म त्याग कर इस्लाम धर्म को स्वीकार करना पड़ा, परिवार टूटा और समाज में एक अनिश्चितता की स्थिति फैल गई। इसका कारण भी स्पष्ट था। हिन्दुओं के लिये धर्म परिवर्तन जिनता सरल एवं संभव था उतनी सरलता से न तो हिन्दुपन की विशेषताओं को त्यागना और न ही मुस्लिम आदर्शों तथा मूल्योंको तत्काल ही स्वीकार करना। इस प्रकार दो पाठों के बीच पिस कर उन्होंने आरम्भ में अपने को एक असंतुलित व विघटित अवस्था में ही पाया। इतना ही नहीं, मुस्लिम राज्य स्थापित हो जाने के फलस्वरूप जो परिवर्तन भारतीयों के राजनैतिक जीवन में हुआ उसके साथ हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का संघर्ष भी जुड़ गया। एक विकट परिस्थिति उत्पन्न हुई जो कि सामाजिक असंतुलन या विघटन की ही स्थिति थी। हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म तथा समाज को मुस्लिम आक्रमणों से बचाने के लिये जातीय नियमों को और भी कठोर किया और रक्त की शुद्धता व पवित्रता को बनाये रखने के लिये विवाह आदि के प्रतिबन्धों को दृढ़ता से लागू किया। स्त्रियों की गतिशीलता पर रोक लगायी तथा छुआछूत की भावना को और भी बढ़ावा दिया। यही कारण था कि उस युग में एक ओर जातीय संकीर्णता बढ़ी और दूसरी ओर स्त्रियों की स्थिति में और भी पतन हुआ। जातीय कठोरता और संकीर्णता के कारण ही निम्न जातियों के अनेक सदस्यों ने इस्लाम धर्म को अपनाया। ये सभी स्थितियाँ एक-एक सामाजिक समस्या के रूप में प्रकट हुईं जिसके फलस्वरूप समाज में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हुई।

उसी प्रकार भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उनसे भी इस देश सामाजिक विघटन हुआ। अंग्रेजों ने अपने राज्य को दृढ़ करने के लिए मुगल शासकों को कठोरता से दबाया जिससे कि भारत के राजनैतिक जीवन में एक उथल-पुथल की स्थिति देखने को मिली। आरम्भिक काल में कम्पनी का शासन देश को और भी जर्जरित कर रहा था। बादशाह जिसको लोग मुगल महान् कहते थे कम्पनी के हाथों की कठपुतली बन गये। बंगाल और बिहार के नकली नवाब वास्तव में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वेतन भोगी नौकर मात्र रह गये। देश का आन्तरिक व्यापार दुराचारपूर्ण तथा विनाशकारी हो गया। लाखों व्यक्ति कुछ लोगों की दया पर जीवित रहने लगे, जो जनता को लूट कर, लूटे हुए धन को आपस में बाँट लेते थे। वड़ी बंगाल जो कुछ वर्ष पूर्व तक दसियों लाख नगद पूँजी नजराने के रूप में दिल्ली भेजा करता था अब पैसे-पैसे को लाचार हो गया। इन्हीं सब असन्तोषों की आग सन् १८५७ की क्रान्ति के रूप में भड़की जिसमें हजारों व्यक्तियों की जान गई और अंग्रेजों की दमन नीति और भी कठोर हो गई। यह सब इसीलिए हुआ कि देश के राजनैतिक जीवन में परिवर्तन हुआ था।

(२) शासन-सत्ता का हस्तान्तरण (Transfor of ruling power) :—

उसके बाद भारतीय राजनैतिक जीवन में एक और क्रान्तिकारी परिवर्तन उस समय हुआ जब कि अंग्रेजों को इस देश से सदा के लिए चला जाना पड़ा। इस राजनैतिक



परिवर्तन के दो तात्कालिक परिणाम हुए—एक तो यह कि सदियों बाद भारत स्वतन्त्र हुआ और दूसरा यह कि अखण्ड भारत खण्डित हुआ—भारतवर्ष दो राष्ट्रों में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में बँट गया। दोनों ही राजनैतिक परिणामों ने जिन नवीन परिस्थितियों को उत्पन्न किया उसके साथ भारतीयों या पाकिस्तानियों का तत्काल ही अनुकूलन सम्भव न हुआ और एकाधिक विघटनात्मक या असन्तुलन की स्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। देश का विभाजन स्वयं ही एक महान् विघटन था। हिन्दुस्तान से पाकिस्तान और पाकिस्तान से हिन्दुस्तान की आबादी की अदला-बदली की प्रक्रिया में जिस बर्बरतापूर्ण उपद्रव का उद्भव हुआ उसमें हजारों घर जल गये, हजारों परिवार बर्बाद हो गये, कितनी ही सुहागवती स्त्रियों के सुहाग भस्म हो गये, कितनों ही ने माता-पिता को खोया, कितनों ही ने सन्तान से हाथ धोया और कितने ही पुरुषों ने अपनी आँखों के सामने अपनी युवती स्त्री या लड़की की इज्जत को लुटते हुए देखा। यह विघटन की चरम सीमा नहीं तो और क्या था ? देखते ही देखते बसे बसाये लोग शरणार्थी कहलाने लगे। भारी संख्या में शरणार्थियों के इस देश में आ जाने से यहाँ खाने, पहनने की समस्या, मकानों की समस्या, रोजगार की समस्या और सांस्कृतिक संघर्ष की समस्या अपने विकराल रूप में सामने आई। इनमें से कोई भी समस्या अकेले ही भारतीय समाज को विघटित करने के लिये पर्याप्त थी और प्रारम्भिक स्तर पर खूब विघटन हुआ भी।

(३) युद्ध (War) :—प्रारम्भ में हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के बीच शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध नहीं था परन्तु हाल के ही पाकिस्तानी हमले के फलस्वरूप हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध संघर्षपूर्ण हो जाने के फलस्वरूप भारत के राजनैतिक जीवन में एक और महान् परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप एक अनिश्चितता का वातावरण देश भर में छा गया है और पहले से अब खाद्यान्न, कपड़ा तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के दामों में और भी वृद्धि हो जाने से अर्थात् मँहगाई और भी बढ़ जाने से आम जनता को अत्यधिक कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। इसके अतिरिक्त युद्ध में वीरगति को प्राप्त करने वाले जवानों के परिवारों में भी अनेक विघटनात्मक परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं।

भारतीय समाज के राजनैतिक इतिहास के उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि किसी भी उल्लेखनीय राजनैतिक परिवर्तन से जिस भाँति राष्ट्र का भाग्य रातों-रात पलटा जा सकता है उसी प्रकार विघटनात्मक या असन्तुलित स्थिति भी उत्पन्न होने की सम्भावना भी पूरे तौर पर होती है। वास्तविकता यह है कि राजनैतिक परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन घनिष्ट रूप में सम्बन्धित होता है क्योंकि राजनीति का प्रभाव समाज के सभी पक्षों पर पड़ सकता है। यह बात उस अवस्था में और भी अधिक सत्य प्रतीत होती है जब राजनैतिक सत्ता एक समूह के हाथ से दूसरे समूह के हाथों में चली जाती है। राजनैतिक शक्ति का हस्तान्तरण सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को उलट-पलट देता है जिससे सामाजिक असन्तुलन व विघटन की



स्थिति उत्पन्न हो जाती है। विधायन की यह स्थिति उस समय और भी गम्भीर हो जाती है जब कि शासक वर्ग अपनी इच्छानुसार राजनैतिक बल के आधार पर अपने धर्म, विचार, आदर्श या संस्कृति आदि को पराजित राष्ट्र पर जबर्दस्ती थोपना चाहता है। ऐसा भी देखा जाता है कि राजनैतिक सत्ता के हस्तान्तरण के बाद शासक वर्ग जनता का खूब आर्थिक शोषण करते हैं और समाज में भ्रष्टाचार, पक्षपात आदि को फैलाते हैं, जैसे घूसखोरी, लोहे, सीमेंट आदि के परमिट अपने ही जान पहचान के लोगों को दिलवाना, अकुशल व्यक्तियों को सिफारिश के जोर पर नौकरी में नियुक्ति करवा देना आदि, इस प्रकार के भ्रष्टाचार और पक्षपात के फलस्वरूप समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(४) राजनैतिक पार्टियों में संघर्ष (Clash of Political Parties) :— राजनैतिक परिवर्तन के फलस्वरूप जब शासन की बागडोर देश के ही एक राजनैतिक पार्टी के हाथों से दूसरी राजनैतिक पार्टी के हाथों में चली जाती है, उस समय भी सामाजिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। नयी शासक राजनैतिक पार्टी अपनी पार्टी के आदर्शों, मूल्यों तथा विचारों के अनुसार शासन-प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर देती है या कर देना चाहती है। ये सब परिवर्तन, आदर्श, मूल्य तथा विचार जनता के लिये नये होते हैं, इस कारण उनके साथ जनता का अनुकूलन जल्दी नहीं हो पाता है और सामाजिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके अलावा, जिस राजनैतिक पार्टी के हाथों से शासन सत्ता निकल जाती है वह पराजित होकर भी फिर से उस पराजय का बदला लेने के लिये प्रयत्नशील होती है और दोनों राजनैतिक पार्टियों में तनाव व संघर्ष की स्थिति और भी कटु हो जाती है जिसका प्रभाव जनता पर पड़ता है क्योंकि राजनैतिक दलों के बीच तनाव व संघर्ष का तात्पर्य जनता के उन लोगों में भी तनाव व संघर्ष है जो कि उन राजनैतिक पार्टियों के सदस्य हैं।

(५) चुनाव-परिवर्तन (Election Changes) :— प्रजातन्त्र प्रणाली के अन्तर्गत समय-समय पर देश में स्वतन्त्र चुनाव होता है। उस चुनाव के फलस्वरूप होने वाले राजनैतिक परिवर्तनों से दो सम्भावित परिणाम ऐसे हो सकते हैं जिनके फल-स्वरूप सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। प्रथमतः यह कि देश के किसी एक राज्य (State) में विरोधी राजनैतिक पार्टी चुनाव में बाजी मार ले जाए और वह राजनैतिक पार्टी हार जाये जिसके हाथ में केन्द्रीय और अन्य राज्यों का शासन-भार है। ऐसी पराजय को हारी हुए राजनैतिक पार्टी साफ दिल से स्वीकार नहीं करती है, अपितु उसे सम्मान-रक्षा का एक विषय (prestige issue) बता कर विजयी राजनैतिक पार्टी को नीचा दिखलाने का भरसक प्रयत्न करती है। विधान सभा के अन्दर और बाहर हारी हुई राजनैतिक पार्टी अपने विपक्षी के हर काम में रोंड़ा बन जाती है। विजयी राजनैतिक पार्टी भी विजय के गर्व में दूसरी पार्टियों को कुचल देने का प्रयत्न करती है। इन सबका परिणाम यह होता है कि दोनों राजनैतिक पार्टियों में तनाव संघर्ष इतना कटु हो जाता है कि वह राज्य प्रजातन्त्रीय राज्य न रहकर 'नरक-



राज्य' में बदल जाता है। इसके फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार (जिसमें कि उस विघटित राज्य में पराजित राजनैतिक पार्टी का ही बहुमत होता है) उस विरोधी पार्टी की सरकार को समाप्त करके शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेती है। इससे दोनों पार्टियों का सम्बन्ध और भी अधिक कटु, तनावपूर्ण व संघर्षपूर्ण हो जाता है। भारतवर्ष में केरल राज्य में पिछले कुछ वर्षों से जो राजनैतिक उथल-पुथल, राष्ट्रपति का शासन (President rule) आदि देखने को मिल रहा है, वह इसी प्रकार के राजनैतिक पार्टियों के पारस्परिक तनाव व संघर्ष का उत्तम उदाहरण है। इससे देश या सम्बन्धित राज्य के राजनैतिक ही नहीं सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी एक अजीब अनिश्चितता और असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(६) राजनैतिक गुटों में प्रतिद्वन्द्विता (Political group-rivalry):—स्वतंत्र चुनाव के फलस्वरूप होने वाले राजनैतिक परिवर्तनों का दूसरा दुष्परिणाम समूह-शत्रुता (group rivalry) या गुटबन्दी होता है। एक ही राजनैतिक दल में एकाधिक गुट हो सकते हैं। चुनाव के फलस्वरूप हो सकता है कि शासन-सत्ता या पार्टी की संगठन की सत्ता (organizational authority) विरोधी गुट के हाथों में चला जाय। ऐसा होते ही दोनों गुटों में तनाव व संघर्ष कटु रूप धारण कर लेता है जिसमें न केवल उन गुटों के सदस्य ही भाग लेते हैं, बल्कि इन सदस्यों के समर्थक भी इससे तनाव व संघर्ष पूरे समाज में या देश के एक प्रान्त में फैल जाता है और एक गुट उचित या अनुचित हर प्रकार से दूसरे गुट को नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करता है। फलतः जनता का नैतिक स्तर भी गिरता है और उनमें भ्रष्टाचार और पक्षपात फैलता है क्योंकि वे भी अपने नेताओं का ही अनुकरण करते हैं। भारत में उत्तर-प्रदेश का राज्य इस प्रकार के गुट संघर्ष का एक अति उत्तम उदाहरण है।

(७) क्रान्ति (Revolution):—क्रान्ति जनता के राजनैतिक जीवन में अचानक घटित होने वाला एक महान परिवर्तन है। सर्वश्री इलियट तथा मेरिल (Elliott and Merrill) के अनुसार क्रान्ति सबसे यथार्थ अर्थ में सामाजिक विघटन है क्योंकि ऐसे अवसर पर समाज के सम्पूर्ण राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में भयंकर उलट-पुलट हो जाती है। क्रान्ति के समय समाज के विभिन्न समूहों को एक बन्धन में बाँधने वाले सम्बन्धों के प्रतिमान (pattern) टूट जाते हैं और समाज की समस्त शृंखला नष्ट हो जाती है। राजनैतिक व्यवस्था भंग हो जाती है और स्थायी रूप से सरकार सुचारु रूप से कार्य करना बन्द कर देती है। समाज का मौलिक ऐकमत्य (Consensus) नष्ट हो जाता है और समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप जनता का नैतिक स्तर गिरता है। स्कूल, परिवार, धार्मिक संस्थाएँ आदि समाज की आधारभूत संस्थायें अपने-अपने कार्यों को नहीं कर पाते हैं और उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस उथल-पुथल की स्थिति से गुण्डे, व्यापारी और अन्य विध्वंसात्मक प्रवृत्ति वाले लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति करने में लग जाते हैं, लोगों को लूटते-मारते हैं, स्त्रियों की इज्जत लेते हैं, आवश्यक वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक बढ़ा देते हैं या काला बाजारी



करते हैं। क्रान्ति में समूह के व्यवहार प्रतिमानों, मनोवृत्तियों, मूल्यों और आदतों में भारी परिवर्तन आते हैं जिसका कि अत्यधिक विघटनात्मक प्रभाव उनके व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन पर पड़ता है। इतना ही नहीं, क्रान्ति के फलस्वरूप राजनैतिक शक्ति या सत्ता में भी परिवर्तन हो सकता है। उस अवस्था में भी सामाजिक असंतुलन व विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस विषय में हम अगले एक अध्याय में विस्तार पूर्वक विवेचना करेंगे।

(८) सैनिक शासन (Military rule):—राजनैतिक परिवर्तन की एक और अभिव्यक्ति सैनिक शासन की स्थापना है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि जो राजनैतिक पार्टी देश में शासन कर रही है वह इतनी दुर्बल या निकम्मी हो जाती है कि शासन की वागडोर उससे संभलती नहीं है और देश में चारों ओर अव्यवस्था व भ्रष्टाचार का राज्य होता है। दूसरी ओर उसी देश के सैनिक अधिकारी अधिक शक्तिशाली बनते जाते हैं और अन्त में एक दिन ऐसा आ जाता है जब कि नागरिक शासन (civilian rule) के तख्ते को उलट कर सैनिक अधिकारी देश में सैनिक शासन कायम कर देते हैं। उस अवस्था में सम्पूर्ण राजनैतिक ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है, पहले की सब व्यवस्था उलट-पुलट जाती है और नए तौर पर शासन व्यवस्था ही नहीं, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था भी स्थापित करनी पड़ती है। सैनिक शासन प्रायः तानाशाही शासन होता है जिसके फलस्वरूप उस देश के लोगों को अपने स्थापित व्यवहारों, आदतों, भावनाओं, विचारों तथा मनोवृत्तियों को बदलना पड़ता है। हो सकता है कि उस देश में नागरिकों को भाषण देने, अपने विचारों को व्यक्त करने और कार्य करने की जो स्वतन्त्रता पहले प्राप्त थी, सैनिक शासन स्थापित हो जाने के बाद लोगों को उससे हाथ धोना पड़े। यह भी हो सकता है कि वह तानाशाही सैनिक शासक प्रेस, रेडियो आदि पर भी अपना अधिकार कर ले और उनकी स्वतंत्रता भी छिन जाए। यह भी हो सकता है कि वह सैनिक शासक विस्तारवाद व साम्राज्यवाद (imperialism) का अन्धा समर्थक हो और यह प्रयत्न करे कि उसके साम्राज्य का विस्तार हो, चाहे उसके लिए दूसरे राष्ट्रों के धन और जन की कितनी ही बर्बादी उसे क्यों न करनी पड़े। इस प्रकार की नीति का अत्यधिक भयंकर परिणाम होता है और उसके फलस्वरूप दो या अधिक राष्ट्रों में सामाजिक विघटन का विकराल रूप देखने को मिलता है। सैनिक शासन की स्थापना के फलस्वरूप देश में किस सीमा तक सामाजिक विघटन उत्पन्न हो सकता है और ऐसे सैनिक शासकों की विस्तारवादी नीति के कारण अन्य राष्ट्रों को भी कितने भयंकर परिणामों का सामना करना पड़ता है इसका अति उत्तम उदाहरण पाकिस्तान है। फील्ड मार्शल अय्यूब ख़ाँ और उनके साधियों की गलत विस्तारवादी नीति के फलस्वरूप भारत का अभिन्न अंग कश्मीर पर जो अनाधिकार कब्जा करने का प्रयत्न पाकिस्तान कर रहा है उससे स्वयं पाकिस्तान को और कुछ हद तक भारत को भी जो भयंकर क्षति हो रही है उसका अन्दाजा श्री अय्यूब ख़ाँ और उसके साथी आज नहीं लगा पा रहे हैं, पर जिस दिन उनकी आँखें खुलेंगी उस दिन क्षतियों की पूर्ति वे लोग अपनी जान देकर



भी नहीं कर सकेंगे ।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि राजनैतिक परिवर्तन भी सामाजिक असंतुलन या सामाजिक विघटन का एक उल्लेखनीय कारण है ।

### **प्रौद्योगिक परिवर्तन और सामाजिक विघटन**

(Technological Changes and Social Disorganization)

आधुनिक युग में प्रौद्योगिक परिवर्तन भी सामाजिक विघटन का एक महत्वपूर्ण कारक है । श्री कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुसार समाज में प्रौद्योगिक परिवर्तन के साथ-साथ नये वर्गों का जन्म होता है । दूसरे शब्दों में जैसे ही भौतिक उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है वैसे ही नये वर्ग का उद्भव भी होता है । प्रौद्योगिक परिवर्तन आर्थिक उत्पादन के नवीन तरीकों का सूत्रपात करता है और एक समाज की प्रौद्योगिकी के प्रत्येक स्तर पर दो वर्ग प्रमुख होते हैं—एक शासक वर्ग दूसरा शोषित वर्ग । उदाहरणार्थ दासत्व युग में दो वर्ग दास और उनके स्वामी थे, सामन्तवादी युग में प्रमुख वर्ग सामन्त तथा अर्द्धदास किसान थे और आधुनिक समाज भी उसी प्रकार दो महान वर्ग, पूँजीपति तथा श्रमिक में बंटा हुआ है । समाज के इन दो प्रमुख वर्गों की सर्व प्रमुख विशेषता यह होती है कि इनमें से एक वर्ग के हाथ में आर्थिक उत्पादन के समस्त साधन केन्द्रीकृत होते हैं जिनके बल पर वह वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता रहता है । इससे शोषित वर्ग में असन्तोष फैलता रहता है और अन्त में वह वर्ग संघर्ष के रूप में प्रगट होता है । इस प्रकार श्री कार्ल मार्क्स के अनुसार प्रौद्योगिक परिवर्तन नये वर्ग संघर्ष का बीजारोपण करता है जिसका अन्त क्रान्ति के रूप में होता है । प्रौद्योगिक परिवर्तन से सामाजिक विघटन की स्थिति किस प्रकार पनपती है यह निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगा :—

#### (१) सामुदायिक जीवन का ह्रास (Decline of community life) :—

प्रौद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप नये-नये मशीनों, यंत्रों, यातायात के साधनों आदि का आविष्कार होता है । इसका एक सादा प्रभाव यह होता है कि समूह के आकार में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है । जैसे-जैसे नगरों का आकार बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वैयक्तिक सम्बन्ध (personal relations) भी कम होते जाते हैं । अवैयक्तिक सम्बन्ध का अर्थ हुआ घनिष्ट सम्बन्ध या 'हम' की भावना का अभाव अर्थात् सामुदायिक जीवन का अन्त । जब समुदाय में 'हम' की भावना समाप्त हो जाती है तो प्रत्येक समूह या व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में लग जाते हैं और उस अवस्था में उन्हें समाज के सामान्य स्वार्थों का ध्यान भी नहीं रहता है । इससे विभिन्न समूह और विभिन्न व्यक्तियों के स्वार्थों में परस्पर संघर्ष होता है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

(२) व्यक्तिवादी आदर्शों का विकास (Development of Individualistic Ideals):—प्रौद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों, व्यापार व वाणिज्य आदि में विस्तार होता जाता है और उसी के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था में धन तथा व्यक्तिगत गुणों का महत्व भी बढ़ता जाता है और इसी धन तथा व्यक्तिगत गुणों के



आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा निर्भर करती है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिये ही सोचता है और जब प्रत्येक व्यक्ति समाज या समूह के बारे में न सोचकर केवल अपने लिये या अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये ही अधिक सोचता है तो सामाजिक विघटन की स्थिति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है क्योंकि व्यक्तिवादी आदर्शों के विकास के साथ-साथ समाज के सदस्यों में ऐकमत्य (consensus) का भी ह्रास होता है।

(३) सामाजिक संस्थाओं का निर्बल होना (Weakening of Social Institutions)—प्रौद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक संस्थाएँ भी निर्बल हो सकती हैं। प्रौद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप एकाधिक नवीन सामाजिक परिस्थितियों का उद्भव हो सकता है जिनके कारण परम्परागत संस्थाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन इस भांति हो सकता है जिससे सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए भारत में जाति-प्रथा को ही लीजिये। प्रौद्योगिक परिवर्तन के साथ-साथ इस देश में नगरों का विकास हुआ और विविध प्रकार के व्यवसाय तथा अनेकों मिल कारखाने आदि स्थापित हो गये। इनमें सभी जाति के लोगों को एक साथ मिलकर काम करना होता है। यहाँ जाति प्रथा के आधार पर न तो श्रम विभाजन या पेशों का विभाजन होता है और ना ही ऐसा होना सम्भव है। इससे एक ओर छुआ-छूत की भावना और दूसरी ओर, पेशे सम्बन्धी प्रतिबन्ध निर्बल होते जाते हैं। नागरिक परिस्थितियों में विभिन्न जातियों के लड़के-लड़कियाँ साथ-साथ शिक्षा पाते हैं, कारखानों और दफ्तरों में काम करते हैं इससे विवाह संस्था का परम्परागत स्वरूप दुर्बल पड़ता जाता है। इन सबका प्रभाव सामाजिक एकता और संगठन पर प्रतिकूल पड़ सकता है और वैसा होने पर सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(४) निवास स्थानों की कमी और गन्दी बस्तियों का विकास (Scarcity of houses and development of slums):— प्रौद्योगिक परिवर्तन से जो उद्योग-घन्धों में विकास होता है उससे शहरों की जन-संख्या जिस गति से बढ़ती है, उस अनुपात से नगरों में रहने वालों के लिए नये मकान नहीं बन पाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि नगरों में निवास-स्थान की नितान्त कमी हो जाती है और उस कमी को पूरा करने के लिए गन्दी बस्तियों का विकास होता है। इन गन्दी बस्तियों में रहने वालों का केवल स्वास्थ्य ही नहीं बल्कि नैतिक पतन भी होता है और उनमें जुआ खेलने, शराब खोरी, बेइया-वृत्ति आदि की खराब आदतें पनप जाती हैं। स्त्रियों के शील की रक्षा नहीं हो पाती है और बच्चों का जीवन बर्बाद हो जाता है। अभी हाल में प्रकाशित एक समाचार में कहा गया है कि चौथी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने के समय भारत के नगरों में ११४ लाख मकानों की कमी होगी। मकानों की इस कमी को पूरा करने के लिए प्रायः सभी बड़े औद्योगिक नगरों में अहाता (कानपुर), बस्ती (कलकत्ता), चौल (बम्बई), चेरी (मद्रास) आदि गन्दी बस्तियाँ विकसित हो गई हैं। इन गन्दी बस्तियों में सफाई का नाम तक नहीं होता, कमरे के भीतर हवा और रोशनी आने का कोई भी प्रबन्ध न होने के



हारण दिन में भी अंधेरा रहता है, फर्श में नमी रहती है। बम्बई में ७२'३ फुटकत्ते में ७१'६ देहली में ६३, मद्रास में ६७'५ तथा अहमदाबाद में ६५'३ प्रतिशत श्रमिक एक कमरे वाले मकान में निवास करते हैं। इसी एक कमरे में खाना पकाना, नहाना, सोना, जन्म और मृत्यु सभी होती है। यह एक ऐसी परिस्थिति है जो स्वयं ही सामाजिक विघटन का सूचक है।

(५) स्त्री पुरुष के अनुपात में भेद (Disparity in sex ratio) :— प्रौद्योगिक परिवर्तन का एक और महत्वपूर्ण प्रभाव यह होता है कि स्त्री-पुरुष के अनुपात में भेद उत्पन्न हो सकता है। यह दो-तीन प्रकार से हो सकता है। प्रथमतः यह कि प्रौद्योगिक उन्नति के साथ-साथ बड़े-बड़े मशीन और यन्त्रों का आविष्कार होता है और उन पर काम करने वाले अनेक पुरुष दुर्घटना से मारे जाते हैं। द्वितीयतः प्रौद्योगिकीय उन्नति के फलस्वरूप उद्योग-धंधों का जो विकास होता है उससे नगरों की जनसंख्या बढ़ती है और मकानों की अत्यधिक कमी होती है और मकानों में किराया बहुत होता और साथ ही रहन-सहन का खर्चा भी अधिक होता है। इस कारण नगरों में नौकरी करने वाले अनेक व्यक्ति अपने बीबी-बच्चों के साथ नगरों में घर बसा कर नहीं रह पाते हैं। इससे नगरों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक होती है। उदाहरणार्थ भारत में एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में स्त्री-पुरुष का अनुपात १०० : ८०० है। इस देश के दस बड़े नगरों में प्रति हजार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या इस प्रकार है— कलकत्ता ६१२, वृहत्तर बम्बई ६६३, शिमला ७३१, इरावून ७६६, देहली ७८५, धनबाद (बिहार) ७६२, अम्बाला ८१२, लखनऊ ८३६, बालियर ८५६ तथा अहमदाबाद ८६०। इन शहरों में काफी संख्या में लोग होटल, इस आदि में रहते हैं और बीबी बच्चों के साथ रहते हुए स्वाभाविक पारिवारिक जीवन नहीं बिता पाते हैं। परिणाम यह होता है कि पारिवारिक जीवन से दूर नगरों में अकेले रहने वाले पुरुष अपराध, जुआ, शराब, वेष्ट्याओं की ओर अग्रसर होते हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्तिगत तथा पारिवारिक विघटन होता है।

(६) मानसिक चिन्ता रोग आदि (Psychic conflicts and diseases):— विशेषज्ञों का अनुमान है कि प्रौद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप नगरों में जो उद्योग-धन्धों का विकास होता है उससे मानसिक रोग, चिन्ता आदि पनपता है। दुर्घटना, बेकारी, व्यापार में हानि आदि नागरिक जीवन की रोज की घटनायें हैं। इस अनिश्चितताओं के बीच रहने वाले नगर निवासियों को मानसिक शान्ति नहीं मिल पाती है। मानसिक विक्षोभों और आर्थिक कठिनाइयों से परेशान होकर अनेक लोग आत्म-हत्या भी कर बैठते हैं। साथ ही, नगरों में युवक-युवतियों का स्वतन्त्रता पूर्वक मेल-मिलाप, रोमान्स और अन्त में विच्छेद मानसिक रोगों, यहाँ तक कि पागलपन, का एक अन्य कारण है। इसके अतिरिक्त नगर का उत्तेजनापूर्ण और द्रुत जीवन मशीनों की आवाज आदि भी अनेक मानसिक रोग उत्पन्न करते हैं। प्रौद्योगिक बीमारियाँ भी प्रौद्योगिकीय की ही देन है। इस प्रकार की मानसिक चिन्ता, रोग आदि के व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।



(७) मनोरंजन का व्यापारीकरण (Commercialization of recreation) :— प्रौद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप उद्योगीकरण और नागरीकरण ही नहीं बल्कि मनोरंजन का व्यापारीकरण भी हो गया है। आजकल के मनोरंजन के साधनों— नाटक, सिनेमा, क्लब आदि—का इतना अधिक व्यापारीकरण हो गया है कि करोड़ों रुपये की धनराशि इनमें लगी हुई है। बम्बई और मद्रास की फिल्म कम्पनियों के लिये एक-एक फिल्म में दस, पन्द्रह, पचास लाख रुपये तक खर्च कर देना कोई बड़ी बात नहीं है। इनमें से अधिकतर फिल्म अति निम्न स्तर की, अश्लील तथा कामोत्तेजक होती हैं। और इस कारण अधिकतर जनता पर, विशेषकर बालकों पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। समाज में रोमांस, यौन-अपराध, आर्थिक अपराध, कत्ल आदि की संख्या बढ़ती है। उसी प्रकार नाइट क्लबों में शराब-बाजी, अश्लील नाच-गाने और यौन हुलड़ इतना ज्यादा होता है और उसमें स्त्रियाँ भी इतनी अधिक संख्या में भाग लेती हैं कि समाज का नैतिक स्तर-दिन प्रतिदिन घटता जाता है। शराब बाजी, रोमान्स, यौन-सम्बन्धी व्यभिचार आदि स्वयं ही ऐसे कारक हैं जो व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन को उत्पन्न करते हैं।

(८) अपराध, व्यभिचार, संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा (Crime, Corruption Conflict and Competition):—प्रौद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप ऐसी अनेक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण अपराध और व्यभिचार स्वतः ही बढ़ता है। नगरों में जनसंख्या में विभिन्नता, एक-दूसरे को न पहचानना, मकानों की समस्या के कारण अनेक लोगों का पारिवारिक जीवन से दूर रहना, संयुक्त-परिवार का विघटन व्यक्ति पर परिवार, पंचायत तथा पड़ोसी का नियंत्रण न लागू होना, एक ही-कमरे में अनेक स्त्री-पुरुषों का एक साथ रहना, नगरों के प्रलोभन जैसे वेश्या, शराब, जुआ, सिनेमा आदि सभी प्रौद्योगिक परिवर्तन के ही प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष फल हैं जो अपराध और व्यभिचार को प्रोत्साहित करते हैं। व्यापार और वाणिज्य में, माल खरीदने और बेचने में, ठेका या एजेन्सी लेने में, घूस का बाजार गरम रहता है। प्रौद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप अनेक ऐसे स्वार्थ-समूहों का जन्म हुआ है जिनमें आपस में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। प्रौद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप आर्थिक-जीवन का प्रत्येक पहलू प्रतिस्पर्धा-प्रधान हो गया है। इसका रूप कभी-कभी अत्यन्त कटु हो जाता है और सामाजिक असंतुलन या विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(९) संयुक्त परिवार का विघटन (Disintegration of Joint family):— कृषि-युग में परिवार के सदस्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाना पड़ता था और सभी सदस्य एक स्थान पर एक-साथ रहकर खेती-बाड़ी करते थे। परन्तु प्रौद्योगिक परिवर्तनों ने यह एकता नष्ट कर दी क्योंकि इसके फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र अब सारे देश में फैल गया और लोग अलग-अलग छोड़कर नौकरी की खोज में स्थानों में जाकर बसने लगे। साथ ही, प्रौद्योगिक परिवर्तनों ने गाँव के गृह-उद्योगों को नष्ट कर दिया और इनमें लगे अनेक कारीगर बेकार हो गये और नौकरी खोज में गाँव से शहर में आकर बसने को बाध्य हुए। इससे भी संयुक्त-परिवार व्यवस्था का



विघटन हुआ। नगरों में मकानों की समस्या गम्भीर होने के कारण जो लोग शहर में घर बसाते भी हैं वे भी केवल अपनी पत्नी व बच्चों के साथ ही रहते हैं। इस कारण संयुक्त-परिवार का विघटन होता रहा है। संयुक्त परिवार के विघटन से उस व्यवस्था से मिलने वाली उपयोगिता अब उत्तनी नहीं मिल पाती है। उदाहरणार्थ, संयुक्त परिवार बेकार, बीमार, बूढ़ों, विधवाओं तथा अनाथों के लिये एक सुरक्षा का स्थान था, पर अब इस परिवार व्यवस्था का विघटन हो जाने से इन बीमार, बूढ़ों, विधवाओं तथा अनाथों को भी उचित आश्रय नहीं मिल पाता है और उसका जीवन बर्बाद हो जाता है। इससे समाज में व्यक्तिगत विघटन की दरें बढ़ती हैं। उसी प्रकार संयुक्त परिवार में रहते हुए परिवार के सदस्यों में पहले पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता, सेवा, प्रेम, सद्भाव, त्याग और आज्ञाकारिता जैसे सद्गुणों का विकास स्वतः ही हो जाता था जो कि अब सम्भव नहीं होता है और इन सद्गुणों के अभाव में समाज व व्यक्ति दोनों के ही जीवन में संगठन का विकास कठिन हो जाता है। यह भी सामाजिक व वैयक्तिक विघटन का ही सूचक है।

(१०) स्त्रियों का घर से बाहर नौकरी करना (Employment of women outside home) :—प्रौद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उद्योग-धन्वों का जो विकास होता है उससे न केवल पुरुषों के लिए वरन् स्त्रियों के लिये भी नौकरी के पर्याप्त अवसर आज उपलब्ध हैं और स्त्रियाँ भी आज पढ़-लिख कर इस लायक हो गयी हैं कि वे नौकरी कर सकें। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियाँ घर से बाहर काम करने को जाती हैं और पैसा कमाती हैं। इसके फलस्वरूप पहले की भाँति अब स्त्रियाँ आर्थिक तथा अन्य मामलों में परिवार पर कम निर्भर हो गयी हैं, उनमें आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान की भावना पनपी है, स्वतन्त्र होने या रहने की उनकी इच्छा ने पारिवारिक प्रतिबन्धों से उनको विमुक्त कर दिया है, पर्दा-प्रथा कम हो गयी है और स्त्रियों को आत्म-विकास का अवसर मिला है। पर साथ ही, स्त्रियों के घर से बाहर काम करने से परिवार का प्रबन्ध (management) तथा संगठन बिगड़ता है, पति-पत्नी में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पनप पाता है, उनमें आर्थिक, यौन-सम्बन्धी तथा अन्य व्यक्तिगत विषयों में मतभेद या तनाव उत्पन्न होता है, बच्चों की देखरेख तथा लालन-पालन नौकरों के द्वारा होता है। जिसके फलस्वरूप बच्चों का आत्म-विकास उचित ढंग से नहीं हो पाता है और बहुत से बच्चे बिगड़ जाते हैं या बाल-प्रपराधी बन जाते हैं। उनके बिगड़ने का एक और कारण यह है कि जब माँ और पिता दोनों ही नौकरी करने के लिये अधिकतर समय घर से बाहर रहते हैं तो बच्चों पर पिता-माता का उचित नियंत्रण व निरीक्षण नहीं रहता है और वे आवारा-गर्दी करने की आदतें पनपा लेते हैं। युवक व युवतियाँ जब एक साथ काम करते हैं, समाज में घूमते-फिरते हैं, पार्टी और पिकनिक में जाते हैं तो रोमांस का भी विस्तार होता है और वे लोग स्वतन्त्र चुनाव के आधार पर प्रेम-विवाह करते हैं। पर रोमान्टिक विवाहों में अधिकतर विवाहों का अन्त रोमान्टिक विवाह-विच्छेद में ही होता है। इससे परिवार टूटता है, पति-पत्नी का जीवन विघटित हो जाता है



और बच्चों के लिये वर्वादी स्वयं ही घर में आ बसती है। यह स्थिति समाज में जब अधिक उत्पन्न होती है तो वही सामाजिक विघटन का रूप धारण कर लेता है।

(११) पारिवारिक नियंत्रण और महत्व का घटना (Lesser importance and control of family):—कृषि-स्तर पर परिवार स्वयं पूर्ण होता था और अपने सदस्यों की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति करता था; परन्तु आधुनिक प्रौद्योगिक परिवर्तनों ने स्थिति को पूर्णतया बदल दिया है। आज परिवार के प्रायः सभी कार्य बाहर की विशेष समितियों तथा संस्थाओं के हाथ में चले गये हैं; विशेषकर पहले जो परिवार आर्थिक उत्पादन की इकाई के रूप में कार्य करते थे, उनका तो बिल्कुल ही अन्त हो गया है। आज उत्पादन परिवार में नहीं, मिल और कारखानों में होता है। पारिवारिक कार्यों के इस हस्तान्तरण के फलस्वरूप एक असंतुलन की स्थिति आरम्भ में उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। साथ ही, आज परिवार के सदस्यों की अधिकतर आवश्यकताओं की पूर्ति बाहर की समितियों या संस्थाओं द्वारा होने के कारण उनके लिये परिवार का महत्व कम हो गया है और परिवार के प्रति एक अवहेलना की भावना पनप गयी है। यही कारण है कि आज लोग विवाह-विच्छेद के द्वारा परिवार को तोड़ने-फोड़ने में बहुत कम हिचकिचाते हैं। इसका प्रभाव पारिवारिक स्थायित्व व सामाजिक स्थिरता पर बहुत ही बुरा पड़ता है। साथ ही, जिविका उपार्जन, शिक्षा आदि के लिये परिवार के विभिन्न सदस्य पृथक्-पृथक् कारखानों, दफ्तरों, स्कूल तथा कालेजों में चले जाते हैं। उन्हें सारा दिन घर से बाहर रहना पड़ता है। इससे न तो वे एक दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रख पाते हैं और न ही वे एक दूसरे के व्यवहारों को नियंत्रित कर पाते हैं। पिता-माता का बच्चों पर, पति का पत्नी पर नियंत्रण साधारणतया ढीला पड़ जाता है जिसके फलस्वरूप पहले पारिवारिक विघटन और वाद को सामाजिक विघटन हो सकता है।

(१२) प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय-विवाह, विलम्ब-विवाह और तलाक (Love marriage, intercaste marriage, late marriage and divorce):—विद्वानों का मत है कि आधुनिक प्रौद्योगिक परिवर्तनों का प्रभाव उपरोक्त विषयों पर भी पड़ा है जिसके फलस्वरूप सामाजिक असंतुलन या विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। आधुनिक प्रौद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं उनमें युवक-युवतियों को साथ-साथ पढ़ने-लिखने, कारखानों या दफ्तरों में साथ-साथ काम करने तथा स्वतन्त्रतापूर्वक मेल-मिलाप करने का अवसर प्राप्त हुआ है जिसके फलस्वरूप प्रेम-विवाह के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं। विभिन्न अध्ययनों से पता चलता है कि अधिकतर प्रेम-विवाह असफल रहते हैं क्योंकि उसमें रोमान्स व उद्वेग का तत्व अधिक होता है। यदि प्रेम-विवाह अन्तर्जातीय विवाह हुआ और यदि पति-पत्नी के सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अत्यधिक विभेद हुआ तो वे एक दूसरे से अनुकूलन करने में असफल रहते हैं और परिवार विवाह-विच्छेद द्वारा या तो टूट



ही जाता है या फिर पारिवारिक जीवन में कलह, तनाव आदि के तत्व राज्य करते हैं। उसी प्रकार आज लड़कियों तथा लड़कों को शिक्षा प्राप्त करने, नौकरी करने तथा अन्य प्रकार से आत्म-विकास करने का जो अवसर प्राप्त है उसके फलस्वरूप आज विलम्ब-विवाह करने की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक देखने को मिलती है। विलम्ब विवाह से वहाँ कुछ लाभ होता है, वहाँ इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत, पारिवारिक या सामाजिक असंतुलन की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। स्त्री-पुरुष के स्वस्थ विकास के लिये यह आवश्यक है कि यौन-सम्बन्धी अनुभव बहुत देर से आरम्भ न हो। बहुत देर के विवाह में नैतिक-पतन की समस्या भी उत्पन्न हो सकती है। यौन-प्रवृत्तियों को बहुत दिनों तक दबाने से बौद्धिक विकास कठिन हो जाता है। स्त्रियों में भी, ऐसी दशा में, यौन-सम्बन्धी प्रवृत्तियों में शीतलता (coldness) आ सकती है या उससे पहले ही नैतिक पतन हो सकता है। जिन समाजों में विलम्ब-विवाह पर अत्यधिक बल दिया जाता है वहाँ 'कुमारी माताओं' (unmarried mothers) की समस्या पर्याप्त गम्भीर है। साथ ही, अधिक आयु तक विवाह न करने पर बाद को विवाह-साथी (वर या वधू) मिलना कठिन हो जाता है, और उससे हीनभाव, निराशा आदि पनपती है जिससे व्यक्तिगत विघटन होता है। बहुत अधिक उम्र में विवाह होने से पति-पत्नी में पारस्परिक अनुकूलन भी कठिन हो जाता है जिसके फलस्वरूप वैवाहिक जीवन सुखी व सम्पन्न होने के बजाय संघर्षपूर्ण या तनावपूर्ण हो जाता है।

(१३) धार्मिक विघटन (Religious disorganization) :—प्रौद्योगिक परिवर्तनों का प्रभाव धर्म पर भी बुरा पड़ा सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रौद्योगिकी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वैज्ञानिक आविष्कारों से होता है। प्रौद्योगिक परिवर्तनों के साथ-साथ वैज्ञानिक आविष्कारों तथा प्रगतिशील नवीन विचारधाराओं की जो लहर समाज में उठती रहती है। वह धार्मिक अन्वेषणों को नष्ट कर देती है। साथ ही प्रौद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जो विभिन्न उद्योग-धन्धा, व्यापार और वाणिज्य पनपता है उनमें प्रायः सभी धर्मों के लोग काम करते हैं, एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं और एक दूसरे के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करते हैं। इससे उनमें वैज्ञानिक भावनाएं अधिक पनपती हैं और वे धर्म के निषेधों को अस्वीकार करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति पर धर्म का नियंत्रणात्मक प्रभाव कम हो जाता है और ईश्वर का डर भी उनके दिल से निकल जाता है। वे धर्म के नैतिक नियमों का उल्लंघन करते हैं और वे बेईमानी, जाल-साजी, अनैतिक कार्य आदि करने के सम्बन्ध में बेपरवाह हो जाते हैं। इससे समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार और अपराध पनपता है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(१४) ग्राम उद्योगों का ह्रास (Decline of Village Industries) :—प्रौद्योगिक परिवर्तनों का प्रभाव यह होता है कि देश में औद्योगीकरण तेजी से होता रहता है। भारतवर्ष में औद्योगीकरण का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि उससे



ग्राम उद्योगों का विनाश होता गया। इसका कारण यह है कि इस देश में गांवों के कुटीर उद्योगों और शहर के बड़े-बड़े उद्योगों के बीच न तो कोई समन्वय है और न ही किसी प्रकार का श्रम विभाजन। फलतः बड़े पैमाने में मशीन द्वारा जिन सस्ती चीजों का उत्पादन होता है उससे प्रतियोगिता करना ग्रामीण उद्योगों में बनी चीजों के लिए सम्भव नहीं होता है। इससे ग्राम उद्योगों का ह्रास होता है और इन उद्योगों में लगे हुए हजारों व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। इनकी बेकारी से इनके परिवारों का विघटन होता है और अत्यधिक पारिवारिक विघटन से सामाजिक विघटन का पथ प्रशस्त होता है। बेरोजगार व्यक्ति निर्धनता के दानव के पूंजे में इस भाँति फँस जाता है कि वह किसी प्रकार का भी अनैतिक, समाज-विरोधी तथा गैर-कानूनी कार्य कर सकता है। इससे भी समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(१४) पूंजीवाद का विकास (Development of Capitalism) :—औद्योगिक परिवर्तन के साथ-साथ देश में औद्योगीकरण बढ़ता है और आर्थिक उत्पादन बड़े-बड़े मिल और कारखानों में मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर होता है। इसके लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है और इस कारण आर्थिक उत्पादन के साधनों पर उन्हीं का अधिकार होता है जिनके पास काफी पूंजी होती है। अतः उत्पादन के साधन पर पूंजीपतियों का अधिकार हो जाता है और अन्य सभी पूंजीहीन व्यक्तियों के लिए जीविका पालन का केवल एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि वे अपने श्रम को बेच कर अपना पेट पालें। इस प्रकार पूंजीवाद के साथ-साथ समाज दो आर्थिक वर्गों—पूंजीपति और श्रमिक में बँट जाता है और राष्ट्रीय धन का अत्यधिक असमान वितरण होता है। सब धन पूंजीपतियों के हाथ में इकट्ठा हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि धनी दिन प्रतिदिन अधिक धनी होते जाते हैं और निर्धनों का आर्थिक दशा उत्तरोत्तर दयनीय होती जाती है। पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में कभी-कभी अत्यधिक उत्पादन हो जाने के कारण कभी-कभी आर्थिक संकट उत्पादन हो जाता है जो कि समाज के आर्थिक ढाँचे को असन्तुलित कर देता है क्योंकि आर्थिक संकट से देश में बेकारी, निर्धनता, श्रमिक प्रशान्ति, राष्ट्रीय काम में कमी आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं पूंजीवाद के विकास के कारण ही गन्दी बस्तियों का विकास होता है और आपस में कटु प्रतिस्पर्धा चलती रहती है।

(१५) वर्ग संघर्ष (Class struggle) :—औद्योगिक परिवर्तनों के फल-स्वरूप जो पूंजीवादी व्यवस्था जन्म लेती है उसका एक भयंकर सामाजिक परिणाम श्रमिकों का भीषण शोषण है। श्री मार्क्स ने लिखा है कि पूंजीपति का सर्व प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक मुनाफा कमाना है। मजदूरों को जितनी कम मजदूरी दी जाय उतना ही अधिक मुनाफा पूंजीपतियों की जेब में जायेगा। इस कारण वे भरसक बड़ी प्रयत्न करते हैं कि उन्हें श्रमिकों को कम से कम मजदूरी देनी पड़े। साधारणतया पूंजीपति मजदूरों को केवल इतनी ही मजदूरी देते हैं जिससे वे किसी तरह भूख दूर कर सकें और भविष्य के लिए श्रमिक सन्तान पैदा कर सकें। इस प्रकार श्री मार्क्स के अनुसार पूंजीपतियों के हाथ में पूंजी वह दानव है जो कि श्रमिकों का खून घूस-



घूस कर ही जीवित रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों का खूब शोषण होता है जिससे कि दिन-प्रतिदिन श्रमिक वर्ग में निर्धनता, भुखमरी व बेरोजगारी बढ़ती जाती है और श्रमिकों की दशा दिन-प्रतिदिन दयनीय होती जाती है। अपनी इस दयनीय दशा को सुधारने के लिए श्रमिकों को पूँजीपति वर्ग के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। पर पूँजीपति वर्ग अपनी तरफ से उन्हें दबाते ही जाते हैं। श्रमिकवर्ग इस दबाव को सहन करता है। परन्तु सहन करने की भी एक सीमा होती है; उस सीमा के बाद श्रमिक वर्ग अपनी समस्त जंजीरों को तोड़कर पूँजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह की भावना लेकर उठ खड़ा होता है। यही वर्ग संघर्ष की चरम स्थिति है जिसे श्री कार्ल मार्क्स ने सामाजिक क्रान्ति कहा है। आपके अनुसार पूँजीवाद का अन्तिम परिणाम क्रान्ति ही है।

(१७) औद्योगिक भगड़े, बीमारी और दुर्घटना (Industrial disputes, diseases and accidents) :—जैसा कि ऊपर कहा गया है पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रमिकों का खूब शोषण होता है, पहले-पहल श्रमिक वर्ग अत्यन्त असंगठित, अज्ञानी और अशिक्षित था, इस कारण उसे पूँजीपतियों के अन्याय व अत्याचारों को चुपचाप सहन करना पड़ता था पर जैसे-जैसे वे संगठित होने लगे और उनमें अपने अधिकार के सम्बन्ध में जागरूकता उत्पन्न हुई वैसे औद्योगिक भगड़े भी बढ़ने लगे। भारत में सन् १९६४ में कुल १७५७ हड़तालें और तालाबन्दियाँ हुई थीं, इस प्रकार के भगड़ों से श्रमिक को आर्थिक हानि तो होती ही है, उत्पादन के घट जाने से मालिकों और राष्ट्र को भी हानि पहुँचती है। इसके अतिरिक्त उद्योगीकरण के कारण अनेक प्रकार की औद्योगिक बिमारियाँ तथा दुर्घटनायें होती रहती हैं। इससे श्रमिक और राष्ट्र को काफी आर्थिक हानि होती है और उसके फलस्वरूप समाज में सामाजिक विघटन की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है।

### निष्कर्ष

#### (Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो सामाजिक असन्तुलन और विघटन को भी उत्पन्न कर सकता है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि सामाजिक परिवर्तन से समाज में कुछ नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और कुछ नवीन समस्यायें सामने आती हैं। इन परिस्थितियों का सामना करना या समस्याओं को हल करना तत्काल ही सम्भव नहीं होता है और जब तक ऐसा नहीं हो पाता है तब तक सामाजिक असन्तुलन या विघटन की स्थिति अवश्य ही बनी रहती है। यह असन्तुलन इसलिए भी उत्पन्न होता है कि सामाजिक परिवर्तन का दबाव समाज के प्रत्येक अंग पर समान रूप से नहीं पड़ता है—कोई अंग बहुत पहले परिवर्तित हो जाता है तो कोई बहुत कम। परिवर्तन के इस अन्तर के कारण विभिन्न भागों में एक असन्तुलन की स्थिति देखने को मिलती है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक असन्तुलन या



विघटन की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक है और किसी भी परिवर्तित परिस्थिति में विघटन या असंतुलन की स्थिति का होना भी उतनी ही स्वाभाविक घटना है। इसीलिए श्री माउरर (Mowrer) ने लिखा है, “सामाजिक विघटन सामाजिक परिवर्तन का एक स्वाभाविक परिणाम तथा एक प्राकृतिक शर्त (कारक) है।”<sup>8</sup>

---

8. “Social disorganization is therefore the normal consequence of social change as well as the natural condition to social change.” E. R. Mowrer, *Disorganization Personal and Social*, New York, 1942, p. 15.



## सांस्कृतिक विघटन (Cultural Disorganization)

अपने मुहल्ले के पंडित रासदासजी हिन्दू धर्म के कट्टर अनुयायी हैं। सुबह से शाम तक उनका समय पूजा-पाठ, भजन और गीत, रामायण और गीता, धार्मिक उपदेश और निर्देश के बीच ही व्यतीत होता है। पाप से रामदास जी बचते हैं, पुण्य को बढ़ोरना चाहते हैं; स्वर्ग की अभिलाषा है और नरक से डर। उनके घर की बहू डरती-डरती लम्बा सा घूँघट निकाले अपने ससुर के पास कभी-कदाक आती है, घर में पर्दा-प्रथा का बोलवाला है; घर की औरतें जोर से बोल भी नहीं सकतीं क्योंकि रामदास जी उसे बुरा मानते हैं और कहते हैं आजकल तो कुछ नहीं उनके जमाने में औरतों की आवाज पुरुषों के कानों तक कभी आती ही नहीं थी। इसीलिए उन्हें सदा शिकायत रहती है कि उनके मन का कोई करता नहीं है—मन का करते हैं केवल रामदास जी। लड़के की शादी अपने मन की की है और लड़की की शादी भी। न लड़के से राय ली और न लड़की से सम्मति। नाते-रिश्तेदारों और इष्ट मित्रों में कोई भी नहीं छूटा जिन्हें दावत न दी गई हो पर वे सभी अपनी ही जाति के थे। रामदास जी ने वर्ण धर्म का पालन किया—ब्राह्मण से शूद्र का कोई सम्बन्ध हो भी सकता है इसे आज भी मानने से इंकार किया। उनका दावा था, उनकी जिन्दगी ऐसे ही कट जायेगी, 'नई हवा' की उन्हें आवश्यकता नहीं। पर सब उलट-पलट दिया मझले लड़के ने। उसे कॉलेज भेजने की गल्ती पर रामदास जी आज पछता रहे हैं। वैसे लोग लड़के की तारीफ तो खूब करते हैं, सुना है दो बार क्या मालूम कौन-कौन सा कठिन विषय लेकर कॉलेज का सबसे ऊँचा दर्जा वह पास कर चुका है; इनाम भी पाया है पढ़ाई में भी, खेल कूद में भी। कॉलेज और मुहल्ले के लोग उस पर नाज़ करते हैं पर रामदास जी अपनी किस्मत पर रोते हैं और रीयें भी क्यों नहीं लड़का तो उन्हीं का बिगड़ा है। डिग्रियाँ लेकर क्या चाटा जायेगा; धर्म और पुरानी परम्परा बाप-दादों का बढ़ाया हुआ रास्ता ही जीवन का वास्तविक सहाय है, पर उस लड़के को लाख समझाओ समझता ही नहीं, हर एक से मिलता जुलता है, छुआ-छूत का नाम तक सुनना नहीं चाहता, भगवान को मन्दिर से हटा कर हर जगह बिखरा देना चाहता है, भजनों पर टिप्पणियाँ करता है, फिल्मी संगीत ऐसा गाता है कि रामदास जी को कानों में उँगली डालनी पड़ती है। जैसा वह वैसा उसका दोस्त। अपनी जिन्दगी में रामदास जी ने पहली मरतबा देखा और सुना कि लड़कियाँ भी लड़कों की दोस्त होती हैं और वह भी चूस्त पोशाक वाली, कटे वालों वाली, फरटि की अंग्रेजी बोलने वाली, आँखों पर रंग बिरंग चमकीले चश्मे लगाकर, नोकदार जूतों को खटकाकर



चलने वाली। रामदास जी को तो बोलने तक की इच्छा नहीं होती, पर जब 'भ्रंजल' कह कर पीछे पड़ ही जाती हैं तो बोलना ही पड़ता है। उसकी सोहबत से बड़ी बहू भी कुछ बिगड़ती नजर आ रही है। सुना है उनकी अनुपस्थिति में अपने भभले लड़के के साथ माँ भी (रामदास जी की पत्नी) एक दिन सिनेमा देखने गई। बड़ी बहू तो अक्सर जाती है, देवर भाभी में इसीलिए पटती भी खूब है। रामदास जी को यह फूटी आँख भी नहीं भाती पर यह सब किसी हद तक सहनीय था और इसी प्रकार पुराने को लेकर ही रामदास जी का जीवन शायद कट जाता, यदि अभी कल ब्राह्मण घर का भभला लड़का बनिये के घर की लड़की को शादी करके न ले आता—वह भी शादी मण्डप के नीचे नहीं अदालत की छत के नीचे हुई है; भगवान को साक्षी रखकर नहीं; दो दोस्त और एक वकील को साक्षी रख कर हुई है—न बाजा न बराती, न दावत न दहेज और शादी में न पिता न पुरोहित। भभले लड़के से पूछा तो जवाब मिला कि जाति-प्रथा भवैज्ञानिक है और दावत अपव्यय, दहेज बोझ है, बाजा व्यर्थ है और पिता-पुरोहित "आउट ऑफ डेट"। जवाब सुनकर रामदास जी स्तम्भित हो गये। इतना बड़ा अपमान उन्हें जीवन में कभी सहन नहीं करना पड़ा। पुत्र को घर से निकाल दिया, परिवार का विघटन आरम्भ हुआ क्योंकि पिता और पुत्र के, नये और पुराने समय के विचारों, आदर्शों, मूल्यों, सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं में संघर्ष शुरू हुआ—एक ने दूसरे को स्वीकार करने से इन्कार किया—नई की नहीं पटी पुराने से और पुराने ने नये को गले नहीं लगाया। नये और पुराने विचारों, भावनाओं, मूल्यों आदि में संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न तनावपूर्ण और असंतुलित स्थिति ही सांस्कृतिक विघटन है। यह अध्याय इसी के विषय में है।

### सांस्कृतिक विघटन की अवधारणा

(Concept of Cultural Disorganization)

श्री टायलर (Tylor) के अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।"<sup>1</sup> श्री पिडिंगटन (Piddington) के शब्दों में, "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणि-शास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि या अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"<sup>2</sup> श्री हॉबेल (Hoebel) के मतानुसार उन सब व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour

1. "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom, and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society" E. B. Tylor, *Primitive Culture*, New York, 1874, p. 1.

2. "The culture of a people may be defined as the sum total of the material and intellectual equipment whereby they satisfy their biological and social needs and adopt themselves to their environment." Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, London, 1952, pp. 3-4.



pattern) की समग्रता को संस्कृति कहते हैं जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है।<sup>3</sup>

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है है बल्कि इसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार कानून, प्रथा तथा ऐसे ही अन्य बौद्धिक साधनों या उपकरणों व सीखे हुए व्यवहारों का समावेश होता है। संस्कृति के अन्तर्गत पाये जाने वाली ये इकाइयाँ आकस्मिक और अव्यवस्थित (random and haphazard) नहीं होती। संस्कृति के इन खण्डों या इकाइयों में एक पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्तःनिर्भरता होती है जिसके कारण संस्कृति में एक प्रकार का सन्तुलन तथा संगठन पाया जाता है। यह वास्तव में इसलिये होता है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ बिल्कुल पृथक् होकर कार्य नहीं करती ; प्रायः वे दूसरी इकाइयों के साथ मिलकर कार्य करती है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इन इकाइयों का अस्तित्व शून्य (vacuum) में नहीं होता, ये एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत व्यवस्थित ढंग से गुंथी हुई या सम्बद्ध होती हैं। इस ढाँचे के अन्दर प्रत्येक इकाई की एक स्थिति तथा कार्य होता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे में सन्तुलन और संगठन होता है। और भी संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति के विभिन्न भागों या इकाइयों में, जैसा कि श्री समनर (Sumner) ने कहा है, “एकरूपता की ओर एक खिंचाव” (a strain towards consistency) होता है जिसके फलस्वरूप यह विभिन्न भाग एक साथ मिलते हैं और एक बहुत कुछ पूर्णतया संगठित समग्रता (more or less oompletely integrated whole) का निर्माण करते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ अपनी पूर्व निश्चित स्थिति तथा कार्यों को उचित ढंग से नहीं करती हैं और एक दूसरे से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (Functional relation) बनाये रखने में असफल होते हैं। उसके फलस्वरूप संस्कृति के विभिन्न भागों या इकाइयों में एकरूपता की ओर एक खिंचाव समाप्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे में असन्तुलन की एक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी को सांस्कृतिक विघटन कहते हैं।

ऐसा भी हो सकता है कि एक ही सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत एक ही समय में एक सांस्कृतिक इकाई के दो विरोधी रूप विकसित हो जाँय और उन दोनों में आपस में संघर्ष होने लगे। जब संस्कृति की अधिकतर इकाइयों में यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उस अवस्था में भी सांस्कृतिक विघटन होता है। इस प्रकार का विघटन विशेष रूप से उसी समय होता है जब कि नये पुराने आदर्शों, विचारों, भावनाओं या मूल्यों में आपस में संघर्ष होता है। उदाहरण के लिए पुराने विचार या आदर्श के अनुसार छुआ-छूत की भावना उचित है, पर नये विचार के अनुसार जब उसे अनुचित करार कर दिया जाता है तो स्वभावतः ही नये पुराने विचारों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस संघर्ष के फलस्वरूप सांस्कृतिक



व्यवस्था का संतुलन बिगड़ जाता है। इस स्थिति को भी सांस्कृतिक विघटन कहते हैं।

सांस्कृतिक विघटन की अवधारणा का एक तीसरा रूप यह है कि संस्कृति का कोई एक भाग तेजी से परिवर्तित हो जाय और दूसरा सम्बन्धित भाग उस गति से परिवर्तित न हो सके। ऐसी स्थिति में भी एक सांस्कृतिक असंतुलन की अवस्था उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि संस्कृति का एक अंग बहुत आगे बढ़ जाता है और दूसरा अंग पीछे रह जाता है। चूँकि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ एक दूसरे से सम्बन्धित तथा एक दूसरे पर आधारित होती हैं, इस कारण संस्कृति के एक भाग में कोई पिछड़ापन या किसी प्रकार का असंतुलन होने से उसका कुछ न कुछ प्रभाव दूसरे भागों पर भी अवश्य पड़ता है और सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में एक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी को सांस्कृतिक विघटन कहते हैं।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयों के अपने-अपने पूर्व निश्चित कार्यों को न करने या परस्पर एक दूसरे से संघर्ष करते रहने या एक संस्कृति का किसी दूसरे अंग से पिछड़ जाने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली असंतुलित स्थितियों को ही सांस्कृतिक विघटन कहते हैं।

सांस्कृतिक विघटन की इस अवधारणा का स्पष्टीकरण निम्नलिखित सिद्धान्तों से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

### सांस्कृतिक विघटन के सिद्धान्त

(Theories of Cultural Disorganization)

समाज के सांस्कृतिक जीवन में विघटन की स्थिति किस भाँति उत्पन्न होती है इसे विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। इनमें से प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख हम यहाँ करेंगे—

(१) **आगबर्न का सिद्धान्त (Theory of ogburn)**—आगबर्न ने अपने 'सांस्कृतिक विलम्बना' (cultural lag) के सिद्धान्त द्वारा संस्कृति में उत्पन्न होने वाले तनाव या संतुलन को दर्शाने का प्रयत्न किया है। श्री आगबर्न का कथन है कि जो कुछ भी हमें अपने समाज से मिलता है उसे हम मोटे तौर पर संस्कृति कहते हैं। इस संस्कृति के अन्तर्गत मकान, फर्नीचर, मशीन, कपड़ा, भाषा, धर्म, प्रथा, प्रविधि, कला, विज्ञान आदि सभी चीजों का समावेश होता है। इस प्रकार श्री आगबर्न के अनुसार संस्कृति को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो भौतिक संस्कृति और दूसरी अभौतिक संस्कृति। संस्कृति के ये दोनों ही भाग एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित रहते हैं। इसलिए अगर एक में कोई परिवर्तन होता है तो उसके फलस्वरूप दूसरे में भी कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन प्राकृतिक नियम है और इस कारण इस प्राकृतिक नियम का प्रभाव भौतिक तथा अभौतिक दोनों प्रकार की संस्कृतियों पर पड़ता है। फिर भी परिवर्तन का प्रभाव भौतिक संस्कृति पर पहले पड़ता है। पृथक् भौतिक संस्कृति पहले परिवर्तित होती है। पर चूँकि भौतिक तथा अभौतिक संस्कृतियाँ मानव जीवन



के दो परस्पर अत्यधिक सम्बन्धित अंग हैं इसलिए जब कोई भी परिवर्तन भौतिक संस्कृति में होता है तो उसके फलस्वरूप अभौतिक संस्कृति में भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। अतः श्री आँगबर्न का यह स्पष्ट मत है कि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन पहले होता है और भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होने के कारण ही अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन होता है। परन्तु भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्रता से या द्रुत-गति से होता है; जबकि अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन की गति धीमी होती है। इसके फलस्वरूप भौतिक संस्कृति आगे बढ़ जाती है और अभौतिक संस्कृति पीछे रह जाती है। भौतिक संस्कृति के इस प्रकार पिछड़ जाने को ही सांस्कृतिक पिछड़ या विलम्बना कहते हैं।

चूँकि भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति एक दूसरे से अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित और एक दूसरे पर आश्रित होती हैं, इसलिये एक के दूसरे से पिछड़ जाने से सांस्कृतिक जीवन में असन्तुलन या विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए फिर से अभौतिक संस्कृति को भौतिक के स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जाता है; परन्तु फिर भी अभौतिक संस्कृति को भौतिक संस्कृति से सामंजस्य स्थापित करने में विलम्ब होता है और उस बीच सांस्कृतिक असामंजस्य या विघटन की एक स्थिति बनी ही रहती है।

श्री आँगबर्न ने निम्न शब्दों में सांस्कृतिक विलम्बना की परिभाषा की है, “संस्कृति के उन दो सम्बन्धित भागों (भौतिक तथा अभौतिक भाग) पर यह तनाव इसलिये पड़ता है कि वे असमान गति से परिवर्तित होते हैं। ऐसी अवस्था में हम उसे उस भाग की विलम्बना कहते हैं, जो मन्दगति से परिवर्तित हो रहा है क्योंकि एक दूसरे से पीछे रह जाता है।”<sup>4</sup> उदाहरण देते हुए श्री आँगबर्न ने लिखा है कि एक शहर में जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ती या घटती है उसी शीघ्रता से वहाँ की पुलिस की संख्या बढ़ाई या घटाई नहीं जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जनसंख्या में जो परिवर्तन हुआ वह पुलिस की संख्या में परिवर्तन से पिछड़ गया।

अतः स्पष्ट है कि श्री आँगबर्न के अनुसार भौतिक संस्कृति सरलता से परिवर्तित होती है जबकि अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन देर से होता है। भौतिक संस्कृति में परिवर्तन सरलता से इस कारण हो जाता है कि प्रत्येक भौतिक तत्व की कुछ निश्चित उपयोगिता होती है और उसे ग्रहण करने के लिये व्यक्ति को अपनी आंतरिक रुचि, मनोभाव, विश्वास आदि को त्यागना नहीं पड़ता है। परन्तु भौतिक संस्कृति को ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को अपनी रुचि, मनोभाव, विश्वास आदि को भी परिवर्तित करना होता है। उदाहरणार्थ प्रतिदिन गंगा जी के किनारे जाकर पूजा करने वाले एक कट्टर हिन्दू के लिये एक

4. “The strain that exists between two correlated parts of culture that change at unequal rate of speed may be interpreted as a lag in the part that is changing at the slowest rate, for the one lags behind the other.” W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff, *A Hand Book of Sociology*, Routledge and Kegan Paul Ltd. London, 1960, p. 541.



मोटरकार को अपनाना कठिन नहीं है क्योंकि उससे उसके धार्मिक विश्वासों, आदर्शों आदि को कुछ भी ठेस नहीं पहुँचती है, बल्कि उसे गंगा जी तक जाने की सुविधा ही होती है। परन्तु उसे अगर हिन्दू धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म को ग्रहण करने के लिए कहा जाय तो वह उसके लिए असम्भव सा ही होगा। यही कारण है कि भारतवासियों में आधुनिक मशीनों, औजारों, यातायात के साधनों आदि को सरलता और शीघ्रता से अपना लिया है, परन्तु धर्म, जाति-पाँति, भाग्यवादी दृष्टिकोण, पर्दा आदि को अभी तक नहीं त्याग सके हैं। इससे भारतीय समाज में असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। वास्तव में जितनी मन्द गति से विचार मूल्य, आदर्श इत्यादि परिवर्तित होते हैं, उतनी मन्द गति से कोई भी भौतिक वस्तु परिवर्तित नहीं होती। लोग अपने विश्वासों की रक्षा के लिए प्राणों की भी बलि दे देते हैं। इसी कारण धर्म के नाम पर संसार में कितने ही रक्त-पात हुए हैं। इन सबका परिणाम सांस्कृतिक व सामाजिक विघटन ही होता है। इस प्रकार श्री आँगबर्न के अनुसार सामाजिक असन्तुलन आविष्कारों तथा खोजों के फलस्वरूप भौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तन के बदले में संस्कृति के अन्य निर्भर भाग में आवश्यकतानुसार अनुरूप परिवर्तन होने में विलम्ब होने का परिणाम है।<sup>5</sup> दूसरे शब्दों में जब आविष्कारों तथा खोजों के परिणाम स्वरूप भौतिक संस्कृति में परिवर्तन हो जाता है, तो यह आवश्यक होता है कि उसी के अनुसार अभौतिक संस्कृति में भी परिवर्तन हो जाये क्योंकि ये दोनों ही एक दूसरे पर आधारित होते हैं। जब ऐसा नहीं होता है तो सामाजिक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इस दृष्टिकोण से आधुनिक परिवार के विघटन का कारण पारिवारिक जीवन को नियन्त्रित करने वाली रीतियों, रूढ़ियों तथा प्रथाओं में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन न होना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक आविष्कारों के फलस्वरूप उन भौतिक परिस्थितियों में तो क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं जिनमें कि परिवार निवास करता है परन्तु पारिवारिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने में लोकरीति तथा रूढ़ियाँ आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। इस परिवर्तित भौतिक परिस्थिति के अनुसार पारिवारिक रीतियों तथा रूढ़ियों में आवश्यक परिवर्तन न होने से एक दूसरे से पिछड़ गया है और पारिवारिक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इसका कारण भी स्पष्ट है। पारिवारिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाली ये रूढ़ियाँ तथा रीतियाँ तो उस अवस्था में उपयुक्त थीं जबकि परिवार एक आत्म निर्भर समूह होता था, अपने वस्त्र स्वयं बनाता था, अपनी आवश्यकतानुसार अनाज स्वयं उत्पन्न करता था और अपने घर पर ही मनोरंजन, शिक्षा और धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता था।

5. "Thus social maladjustment is the consequence of delay in the reciprocal changes in the dependent part of the culture necessitated by discoveries and inventions in material culture." See William F. Ogburn, *Social Change*, pp. 200-201.



यह सब काम परिवार के सबसे बड़े-बूढ़े पुरुष सदस्य की देख-रेख में सहज ही होता रहता था। परन्तु आधुनिक समय में औद्योगिक संगठन ने—जिसमें अनेक भौतिक वस्तुओं का आविष्कार हुआ है—परिवार के मूलभूत कार्यों को पूर्णरूप से बदल दिया है और इसलिए अब यह आवश्यक हो गया है कि इस प्रकार के नये व्यवहार प्रतिमानों को विकसित किया जाय जिनका कि सामंजस्य भौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के साथ हो जाय। इस प्रकार के नवीन व्यवहार प्रतिमानों, आदर्शों तथा मूल्यों का विकास न होना या विकास होने में देर लगना सामाजिक समस्या अथवा पारिवारिक विघटन का कारण है।

(२) विल्ले, मैकाइवर आदि का सिद्धान्त (Theory of Willey, MacIver etc.)—सर्व श्री विल्ले, मैकाइवर तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा को एक दूसरा रूप दिया है।<sup>6</sup> श्री विल्ले का कथन है कि दो सम्बन्धित सांस्कृतिक तत्वों (Culture traits) में सामंजस्यपूर्ण कार्यों का अभाव (Lack of harmonious functioning) भी सांस्कृतिक विलम्बना की ही स्थिति है। सर्व श्री मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि श्री आँगवर्न ने अपने सिद्धांत में विलम्बना शब्द का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में होने वाले सभी प्रकार के असंतुलन तथा असामंजस्य के लिए किया है। परन्तु यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो हम यह पायेंगे कि विलम्बना सांस्कृतिक या सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्र में अपने-अपने रूप में पाये जाते हैं। इसलिए विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले असंतुलन को स्पष्ट करने के लिए सर्व श्री मैकाइवर तथा पेज ने विभिन्न शब्दों का सुझाव दिया है। उनमें से प्रथम शब्द औद्योगिक विलम्बना (Technological lag) है। इस शब्द का प्रयोग उस असंतुलन के लिये करना चाहिए जो कि प्रौद्योगिक प्रक्रिया के किसी परस्पर सम्बन्धी भाग में उत्पन्न हो और उसके कारण सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया में बाधा पहुँचे। उदाहरणार्थ, यदि कपड़ा बनाने की प्रक्रिया में कताई का काम तो मशीन से हो रहा है, पर रंगाई का काम हाथ ही से किया जा रहा है तो रंगाई का काम कताई के काम से पीछे रह जायेगा और कपड़े के उत्पादन प्रक्रिया में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होगी जिससे सम्पूर्ण उत्पादन में बाधा पहुँचेगी। दूसरा शब्द औद्योगिक प्रतिरोध (Technological restraint) है। इस शब्द का प्रयोग वहाँ किया जा सकता है जहाँ पहले से स्थिर या स्थापित हितों की रक्षा के लिए अधिक कुशल यंत्रों, साधनों या विधियों के प्रचलन का विरोध किया जाय। उदाहरण के लिये आजकल भारतीय मितों के मजदूर अभिनवीकरण (Rationalization) का विरोध करते हैं क्योंकि वे नहीं चाहते हैं कि कारखानों में ऐसी मशीनें लगाई जायें जिनसे श्रम की बचत हो और बहुत कम मजदूरों की आवश्यकता पड़े। अर्थात् मजदूर वर्ग अपने स्थापित हितों

6. See, for example, Malcolm M. Willey, "Society and its Cultural Heritage," Part IV, Book II, J. Davis, H. E. Barnes and others, *Introduction to Sociology*, pp. 579-580.



की रक्षा के लिए अधिक कुशल यंत्रों या साधनों के प्रचलन का विरोध करते हैं। इससे श्रमिक तथा पूँजीपति वर्ग में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप सामाजिक विघटन हो सकता है। तीसरी स्थिति सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural conflict) का होता है। इसमें दो विरोधी सांस्कृतिक समूहों के सांस्कृतिक तत्वों में संघर्ष होने के फलस्वरूप सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। अन्तिम स्थिति सांस्कृतिक विसंयुजता (Cultural ambivalence) है। जब किसी बाहरी संस्कृति के प्रति एक समाज के सदस्यों के दिल में एक साथ आकर्षण और अवहेलना दोनों ही भाव रहते हैं तो उस परिस्थिति को सांस्कृतिक विसंयुजता कहते हैं। ऐसी अवस्था में भी असन्तुलन की स्थिति इस कारण उत्पन्न हो सकती है कि आकर्षण व अवहेलना, इन दो विरोधी भावों के कारण समाज के सदस्य एक डावाँडोल स्थिति में होते हैं और उनके व्यक्तित्व में भावनात्मक तनाव के संघर्ष की स्थिति होने के कारण उनका व्यक्तिगत विघटन भी हो जाता है।

(३) थॉमस तथा नैनिकी का सिद्धान्त (Theory of Thomas and Znaneki):—इन विद्वानों ने 'The Polish Peasant' नामक अपने पुस्तक में 'सांस्कृतिक संघर्ष के सिद्धान्त' (Theory of Cultural Conflict) को प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के बारे में कुछ आभास हम अभी ऊपर दे चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बाहर से आकर बसे हुए समुदाय के सामाजिक विघटन का कारण पुरानी और नई दुनिया की संस्कृतियों के बीच संघर्ष है। इस संघर्ष के फलस्वरूप प्राथमिक समूह का नियन्त्रण नष्ट हो जाता है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। इस सिद्धान्त को और भी स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझाया जा सकता है कि जब एक समाज में कोई विदेशी सांस्कृतिक समूह आकर बस जाता है तो उस विदेशी संस्कृति से उस समाज की प्राचीन संस्कृति का एक संघर्ष होता है और दोनों के लिए ही अनुकूलन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। विदेशी संस्कृति उस समाज के लोगों के लिए नई होती है और उस नई तथा उन लोगों की पुरानी संस्कृति में जो संघर्ष होता है उसके फलस्वरूप सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। यही बात उस समाज में आकर बसने वाले सांस्कृतिक समूह के लिए भी सच है। उस समूह के लोगों के लिये उस समाज की संस्कृति बिल्कुल नई होती है और उन्हें भी उस समाज की परम्परागत संस्कृति से अपना अनुकूलन करना पड़ता है। यह काम सरल नहीं है और इसमें असफल होने पर व्यक्तिगत विघटन से लेकर सामाजिक विघटन तक कुछ भी हो सकता है। यह परिस्थिति उस समय विशेष रूप से उत्पन्न होती है जब कि दो सांस्कृतिक समूह एक ही समुदाय में निवास कर रहे हों और उनकी संस्कृतियाँ एक दूसरे की इस भाँति विरोधी हैं कि एक का अनुकूलन दूसरे से सफलता पूर्वक नहीं हो पाता है। फलतः एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को दबाने का प्रयत्न करती है या शक्तिशाली समूह अपनी शक्ति के आधार पर अपनी संस्कृति को दूसरे सांस्कृतिक समूह के लोगों पर थोपने का प्रयत्न करता है जिसके कारण उन दोनों संस्कृतियों में एक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।



उदाहरण के लिए अंग्रेजों के साथ-साथ अंग्रेजी संस्कृति भी भारतवर्ष में आई और उन लोगों ने भारतीय संस्कृति को दबाकर अपनी संस्कृति को प्रधानता देने में प्रयास किया। उनके दबाव में आकर या उनकी ओर आकर्षित होकर बहुत लोगों ने उनके सांस्कृतिक तत्वों को, जैसे, धर्म, खाने-पीने के तरीके, पोशाक आदि को ग्रहण कर लिया। स्वभावतः ही उनका संघर्ष उन लोगों से हुआ जिन लोगों अंग्रेजी संस्कृति के प्रभाव से अपने को दूर रखना चाहा। उपरोक्त विद्वानों का कथन है कि सांस्कृतिक संघर्ष एक ही सांस्कृतिक समूह के नई और पुरानी पीढ़ियों बीच भी हो सकता है। उदाहरणार्थ अक्सर वृद्ध और युवा लोगों के बीच विचार आदर्शों इत्यादि का संघर्ष खड़ा हो जाता है। वृद्ध जन पुरानी रूढ़ियों और आदर्शों के अनुसार कार्य करते हैं और यह आशा करते हैं कि युवक लोग भी उन्हीं अनुसरण करेंगे। इसके विपरीत युवकों का दिल व दिमाग नये आदर्शों तथा विचारों से भरपूर रहता है और वे वृद्धजनों के आदेशों तथा आशाओं की परवाह न कर हुये आदर्शों और विचारों के अनुसार कार्य करते रहते हैं। इसका परिणाम नया और पुरानी पीढ़ी के बीच सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति का विद्यमान होना होता है इस संघर्ष के फलस्वरूप सामाजिक विघटन और असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जा सकती है।

सांस्कृतिक संघर्ष का एक बहुत अच्छा उदाहरण भारतीय समाज में हिन्दू तथा मुसलमान सांस्कृतिक समूह में होने वाला संघर्ष है। भारतवर्ष में सांस्कृतिक भिन्नता के आधार पर ही हिन्दू और मुसलमानों के बीच समय-समय पर संघर्ष होते रहे कभी-कभी तो वे संघर्ष साम्प्रदायिक झगड़ों के रूप में प्रगट हुए जिसमें अने निरपराध लोगों की जान-माल का नुकसान होता रहा। धीरे-धीरे इन संघर्षों एक राजनैतिक पोशाक तक पहना दी गई और अन्त में चलकर यह स्वतन्त्र तथा पाकिस्तान की मांग के रूप में प्रगट हुई, बंगाल में Direct Action हुआ, हजारों व्यक्तियों की प्राण हानि हुई और अन्त में देश का विभाजन हुआ। इस प्रकार हम देश का बंटवारा भी सांस्कृतिक संघर्ष का ही परिणाम है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने सांस्कृतिक विघटन की स्थिति को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। परन्तु विद्वानों के सिद्धान्तों में जो बात सामान्य है वह यह है कि जब संस्कृति के विभिन्न भागों में संतुलित विकास नहीं होता है, सामाजिक विघटन वास्तव में तभी होता निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

### सामाजिक परिवर्तन व सांस्कृतिक विघटन (Social Change and Cultural Disorganization)

जब सामाजिक परिवर्तन की गति अत्यधिक तेज होती है तो सांस्कृतिक सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इस बात को समाजशास्त्र ने सदा ही स्वीकार किया है। उनका कहना है कि सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में स्वरूप जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनसे संस्कृति या समाज



विभिन्न अथवा सभी अंगों का अनुकूलन नहीं हो पाता है और उसी के फलस्वरूप एक असंतुलन या असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। पर इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि केवल परिवर्तन सामाजिक या सांस्कृतिक विघटन का कारण नहीं भी हो सकता है। प्रायः अन्य कारक भी परिवर्तन के साथ साथ क्रियाशील होते हैं जिनके फलस्वरूप सांस्कृतिक या सामाजिक विघटन होता है। दूसरे शब्दों में, द्रुत परिवर्तन होने के साथ-साथ जब अन्य कारक भी सहायक होते हैं तो सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। इसलिए यह भी हो सकता है कि बिना विघटन उत्पन्न किये ही परिवर्तन हो जाये। अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि परिवर्तन से विघटन होगा ही। इसलिए सांस्कृतिक या सामाजिक विघटन की व्याख्या के लिए एकमात्र सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा पर ही अत्यधिक बल देना उचित न होगा।

सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप सांस्कृतिक या सामाजिक विघटन कभी-कभी कितना अधिक होता है उसका सबसे उत्तम उदाहरण कुछ आदिवासी या जनजातीय समाज (Primitive or tribal society) है। इन समाजों में सामाजिक परिवर्तन सम्य समाज के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित हो जाने के फलस्वरूप हुआ है। भारतवर्ष में ही ऐसे अनेक आदिवासी समाज हैं जहाँ पर खान उद्योग, चाय उद्योग या लोहे आदि के बड़े-बड़े कारखानों का विकास हो गया है जिसके फलस्वरूप उन आदिवासी क्षेत्रों में रेलगाड़ी, डाक-तार, यातायात के अन्य साधन, बिजली, बाजार, सिनेमा, अस्पताल, नगर, बस्ती आदि का विकास हो गया है, जिनमें कि हजारों की संख्या में सम्य समाज के लोग डाक्टर, नर्स, व्यापारी, एजेंट, ठेकेदार, इंजीनियर, क्लर्क आदि के रूप में बस गये हैं और इनका सम्पर्क जनजातियों (Tribes) के साथ स्थापित हुआ है। इतना ही नहीं, उन क्षेत्रों में विकसित खानों, चाय बगानों तथा कारखानों में काम करने के लिये जिन श्रमिकों की आवश्यकता हुई है उनकी पूर्ति इन जनजातीय लोगों के द्वारा ही की गई है और इन औद्योगिक संस्थानों में हजारों की संख्या में जनजातीय लोग नौकरी कर रहे हैं। जनजातीय मजदूर भारत में सबसे अधिक बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के उद्योगों में पाये जाते हैं। मध्य प्रदेश के मैंगनीज (Manganese) उद्योग में लगे श्रमिकों में ५० प्रतिशत जनजातीय लोग हैं। जमशेदपुर में टाटा के लोहे के कारखाने में १७ हजार से भी अधिक श्रमिक 'संथाल' और 'हो' जनजाति के हैं। सम्य समाज के साथ इस प्रकार के सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप जनजातीय समाजों में जो परिवर्तन की लहर आयी है उससे उन समाजों का विघटन भी हुआ है जो कि नाना प्रकार की समस्याओं के रूप में प्रगट होती हैं। इन समस्याओं के कुछ उदाहरणों द्वारा जनजातीय सामाजिक विघटन को समझाया जा सकता है।

पहले जनजातियों का उनके जंगलों पर पूर्ण अधिकार होता था और वे वन सम्पत्ति का उपभोग बिना किसी प्रतिबन्ध के करती थीं। पर अब परिस्थिति बदल गयी है। अब इन समस्त वन-सम्पत्ति पर सरकार का नियंत्रण है और ठेकेदारों के



द्वारा लकड़ी या कोयला निकालने आदि का काम हो रहा है। ये ठेकेदार जनजातियों की अज्ञानता और सरलता से लाभ उठाकर उनका खूब शोषण करते हैं। रात-दिन कठिन परिश्रम करने पर भी उन्हें इतनी मजदूरी नहीं मिल पाती है कि वे अपने पेट तक भर सकें। इसके विपरीत, उन्हें जो नगद मजदूरी मिलने लगी है उससे वे मुद्रा रहित से मुद्रासहित अर्थ-व्यवस्था में आ रहे हैं। इससे लाभ उठाने के लिए अनेक व्यापारी वर्ग, मादक वस्तुओं के विक्रेता आदि भोली-भाली जनजातियों के क्षेत्रों में आकर बस गये हैं और उन्हें खूब ठगते हैं। बहुत से महाजन उन्हें ऋण के जाल में फंसा कर उनकी जमीन तक छीन लेते हैं और उन्हें बेघर-बार कर देते हैं। इतना ही नहीं, उनकी निर्धनता से लाभ उठाकर रुपये का लोभ दिखाकर विदेशी, व्यापारी, ठेकेदार, एजेण्ट आदि उनकी स्त्रियों के साथ अनुचित यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप वेश्यावृत्ति, गुप्त रोग आदि सामाजिक समस्याओं का उद्भव हुआ है। जो जनजातीय श्रमिक औद्योगिक केन्द्रों में काम करने जाते हैं, वे भी शहर के अनेक प्रलोभनों जैसे वेश्यावृत्ति आदि में फंस जाते हैं और जब वे अपने गाँव लौटते हैं तो गुप्त रोगों को अपनी स्त्रियों में भी फैला देते हैं। जनजातियों में विवाह अधिक आयु में ही होता था परन्तु हिन्दुओं के सांस्कृतिक सम्पर्क में आने के कारण उनमें भी बाल-विवाह का प्रसार हो गया है जो कि स्वयं ही एक सामाजिक समस्या है जिससे हिन्दू समाज सदियों से पीड़ित है। इतना ही नहीं, एक ओर ईसाई मिशनरियों और दूसरी ओर हिन्दुओं से सम्पर्क के कारण एक जनजाति के सदस्यों में आपस में भी भिन्नता उत्पन्न हो गयी है। एक ओर ईसाई मिशनरियों ने बल-पूर्वक या लालच दिखाकर या अन्य प्रकार से आकर्षित करके उनको ईसाई बनाया और जनजातीय लोगों को अंग्रेजी पोशाक, खान-पान, भाषा, धर्म, अदव-कायदे से प्रशिक्षित किया। दूसरी ओर कुछ जनजाति के लोगों ने हिन्दुओं की जाति-प्रथा के अन्तर्गत अपने को ले आने में सफल हुए। परन्तु ऐसा सबने नहीं किया और न ही सबने अंग्रेजी पोशाक, धर्म आदि को अपनाया। जिसका स्वभाविक परिणाम यह हुआ कि एक जनजाति के सदस्यों में आपस में ही सांस्कृतिक विभेद, तनाव और सामाजिक दूरी या विरोध उत्पन्न हो गये। उसी प्रकार बाहरी संस्कृति के सम्पर्क में आने से भाषा के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुआ उससे भी सामाजिक विभेद और तनाव बढ़ा। जनजाति के लोग अपनी भाषा के साथ अंग्रेजी हिन्दी या अन्य भारतीय भाषा को भी अपनाया और कभी कभी तो वे अपनी भाषा की ओर से इतना अधिक उदासीन हो गये कि कुछ समय के पश्चात् अपनी भाषा को ही भूल जाते हैं। इससे एक जनजाति के सदस्यों में आपस के सांस्कृतिक आदान-प्रदान में अत्यधिक बाधा उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप न केवल सामुदायिक भावना का ह्रास हुआ है बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों का भी पतन होने लगा है। ऐसी परिस्थितियों में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हुई है। धार्मिक क्षेत्र में यह विघटन और भी स्पष्ट है। जनजातीय समाजों में धार्मिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जो सामाजिक विघटन हुए हैं वह उल्लेखनीय हैं। एक ओर हिन्द-



धर्म से प्रभावित जनजातियाँ जैसे भील और गोंड हैं, और दूसरी ओर ईसाई धर्म से प्रभावित बिहार और आसाम की जनजातियाँ हैं। जनजाति के लोग अब तक अपने परम्परागत धर्म को अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के साधन के रूप में प्रयोग करते रहे हैं। नये धर्मों से नये विद्वानों और संस्कार तो उन्हें मिल गये, लेकिन उनकी समस्याओं को हल करने के लिए नये साधन उन्हें नहीं मिल पाये। इससे जनजातियों में असन्तोष और धार्मिक जीवन में असंतुलन उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। इन धर्म परिवर्तनों का एक दूसरा बुरा प्रभाव जनजातियों की एकता पर पड़ा है। हिन्दू-अहिन्दू, ईसाई-अईसाई इस प्रकार का भेद-भाव जनजातीय समाज में धर्म परिवर्तन का ही परिणाम है। राजस्थान के भीलों में हिन्दू धर्म के प्रभाव से एक धार्मिक आन्दोलन 'भगत आन्दोलन' चला जिसने भीलों को भगत और अभगत दो श्रेणियों में बांट दिया। ऐसा ही प्रभाव ईसाई धर्म का भी है। एक ही समूह में नहीं बल्कि एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों में धार्मिक भेद-भाव देखने को मिलता है। इससे एक ओर सामुदायिक एकता और संगठन टूटने लगा और दूसरी ओर पारिवारिक तनाव, भेद-भाव लड़ाई भगड़े या विघटन भी बढ़ता ही गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बाहरी समूह के सांस्कृतिक सम्पर्क में आने के फलस्वरूप समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक सभी प्रकार के विघटन उत्पन्न हो सकते हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि परिवर्तन—(१) कुछ विशेष व्यक्तियों या समूह के स्वार्थों के लिए खतरा है, (२) स्थापित आदतों को उलट-पलट देता है, (३) सामाजिक समस्या या कष्टों को उत्पन्न करता है, और (४) नये प्रतिमानों का विकास करता है। इनमें से प्रत्येक स्थिति में सामाजिक असन्तुलन या विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

(१) परिवर्तन स्वार्थ समूह के लिए खतरा उत्पन्न करता है :—प्रत्येक जटिल समाज में कुछ इस प्रकार के विशेष व्यक्ति या समूह होते हैं जो कि एक विशेष परिस्थिति में अपने स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति करते रहते हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत में जब कि धर्म का अत्यधिक महत्त्व था ब्राह्मण या पुजारी वर्ग समाज में अनेक विशेष अधिकारी थे। राज पुरोहित तो राजाओं तक पर भी नियन्त्रण करते थे और उस रूप में उनके स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति होती थी। उसी प्रकार नौकर-शाही (bureaucracy) में राजनीतिज्ञ तथा उच्च पदस्थ सरकारी नौकर अपने विशेषाधिकार के बल पर अपने स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति करते हैं। पूँजीवादी समाज में व्यापारी तथा उद्योगपति अपने आर्थिक स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति करने में सफल होते हैं। सामाजिक मूल्य इस बात का निर्धारण करता है कि कौन से समूह अधिक लाभ उठावेंगे। परन्तु जब सामाजिक परिवर्तन होता है तो यह सब मूल्य उलट-पुलट जाते हैं जिसके फलस्वरूप स्वार्थ समूह के स्वार्थों की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है। पहले पहल ये स्वार्थ समूह अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं और



उसके लिए संघर्ष, तनाव, शत्रुता, विरोध आदि सभी प्रकार के तरीकों को अपनाते हैं जिसके फलस्वरूप स्वार्थ-समूहों के मूल्यों में और परिवर्तित परिस्थिति के मूल्यों में संघर्ष होता है जिसका परिणाम सामाजिक या सांस्कृतिक विघटन होता है। श्री वेब्लन (Veblen) के मतानुसार सांस्कृतिक असंतुलन प्रौद्योगिकीय या तकनीकी में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। प्रौद्योगिकीय में परिवर्तन जितनी तेजी से होता है उतनी तेजी से सामाजिक संस्थाएँ या सांस्कृतिक तत्व नहीं बदलते हैं। सामाजिक संस्थाएँ और सामाजिक तत्व प्रौद्योगिकी की अपेक्षा अधिक रुढ़िवादी होते हैं। साथ ही विलासी वर्ग (leisure class) अपने आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिए परिवर्तनों का विशेषकर उन परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनके द्वारा उनके आर्थिक स्वार्थ को धक्का पहुँचाने का अन्देश होता है।<sup>8</sup> इस विरोध के फलस्वरूप सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(२) परिवर्तन स्थापित आदतों को उलट-पलट देता है :—परिवर्तन जो नयी परिस्थितियों को उत्पन्न करता है उसमें पुरानी आदतों को उचित मान्यता नहीं मिल पाती है। और यह आवश्यक हो जाता है कि नयी आदतों को विकसित किया जाय। इस सम्बन्ध में श्री वेब्लन (Veblen) ने इस बात पर बल दिया है कि प्रौद्योगिकी या भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने से ही समाज के सदस्यों की आदतों में भी परिवर्तन होता है। श्री वेब्लन के अनुसार, “मनुष्य वही है जो कुछ वह करता है, जैसा वह कार्य करता है वैसा ही वह अनुभव और विचार भी करता है।” इसलिए किसी समाज विशेष की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उनसे अनुकूलन करना उस समाज के सदस्यों के लिए अनिवार्य हो जाता है क्योंकि वे नवीन परिस्थितियाँ पुरानी परिस्थितियों में बनी पुरानी आदतों को सहन नहीं करती हैं। दूसरे शब्दों में, नवीन परिस्थिति में पुरानी आदतें बिल्कुल बेकार सिद्ध होती हैं। इस कारण व्यक्ति को नई आदतें बनानी पड़ती हैं और न बना सकने पर व्यक्तिगत विघटन हो सकता है। श्री वेब्लन के अनुसार आदतों का स्थिर रूप ही संस्था है। इसलिए नवीन परिस्थितियों की माँग के अनुसार यदि व्यक्तियों की आदतों में आवश्यक परिवर्तन नहीं होता है तो संस्थाओं में भी प्राचीनता और रुढ़िवादिता बनी रहती है और उनके द्वारा वर्तमान आवश्यकताओं का पूर्ति नहीं हो पाती। इससे नवीन आवश्यकताओं और संस्थाओं के बीच एक असंतुलन या तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है।

(३) परिवर्तन सामाजिक समस्याओं या कष्टों को उत्पन्न करता है :—चूँकि आदतों तथा संस्थाओं को सरलता से बदला नहीं जा सकता इसलिए परिवर्तन के साथ सामंजस्य करना अक्सर कठिन होता है। इसके फलस्वरूप अनेक सामाजिक समस्याओं का उद्भव होता है और व्यक्ति को भी अनेक कष्टों को झेलना पड़ता है।



उदाहरण के लिये स्त्री-शिक्षा तथा महिला आन्दोलन के फलस्वरूप स्त्रियों में जो जागृति और अपने अधिकार के सम्बन्ध में जागरूकता उत्पन्न हुई है उसके परिणामस्वरूप पारिवारिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन होना स्वाभाविक है उसके अनुरूप पुरुष वर्ग अपनी आदतों को और मार्गों को अब भी बदल नहीं सका है और ना ही बच्चे अभी तक माँ को छोड़ कर पूर्णरूप से नौकरों पर निर्भर हो सके हैं। इसके फलस्वरूप एक ओर सामाजिक तनाव, झगड़े और संघर्ष अधिक उत्पन्न हो गये हैं और दूसरी ओर बच्चों के लालन-पालन की समस्या गम्भीर हो गई है।

(४) परिवर्तन नए प्रतिमानों का विकास करता है :—सामाजिक परिवर्तन से परम्परागत व्यवहार प्रतिमान केवल नष्ट ही नहीं होते हैं बल्कि उसके स्थान पर नए व अपरिचित प्रतिमानों का विकास भी होता है। चूँकि यह नये होते हैं इसलिए एकाएक इनके साथ अनुकूलन करना सम्भव नहीं होता है और उस स्थिति में सामाजिक विघटन उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नए और पुराने प्रतिमान दोनों ही सामाजिक जीवन में साथ-साथ चालू रहते हैं, उस अवस्था में नये और पुराने प्रतिमानों में अक्सर संघर्ष व तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब कोई परिवर्तन किसी बाहर की संस्कृति द्वारा लाए गए तत्वों का फल होता है उस अवस्था में पुराने प्रतिमानों के टूटने और उसके स्थान पर नये प्रतिमानों के पूर्ण रूप से विकसित होने में काफी समय लग जाता है। यह समय अत्यन्त असन्तोष, तनाव व संघर्ष पूर्ण होता है जब कि किसी भी प्रकार की विघटन की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि यदि परिवर्तन संस्कृति के ऐसे दो अंगों में हो रहा है जिनका कि एक दूसरे के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है तो परिवर्तन की विभिन्न गति होने पर भी कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होगी। उदाहरणार्थ, संगीत का खेती से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यदि खेती में परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहा है और यदि संगीत में उसके अनुरूप परिवर्तन नहीं भी हो रहा है तो भी उससे कोई सामाजिक समस्या, असन्तुलन या विघटन की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। इसके विपरीत औद्योगीकरण का स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिवार के साथ है इसलिए यदि एक में तेजी से परिवर्तन हो रहा है पर दूसरे में नहीं तो एक असन्तुलन या विघटन की स्थिति उत्पन्न होगी।

**निष्कर्ष**

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में सांस्कृतिक कारण भी महत्वपूर्ण हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि संस्कृति के विभिन्न अंग समान गति से परिवर्तित नहीं होते हैं, एक दूसरे से पिछड़ जाता है, नये सांस्कृतिक तत्व पुराने सांस्कृतिक तत्वों का स्थान तत्काल ही नहीं ले पाते हैं और नये तथा पुराने सांस्कृतिक तत्व साथ-साथ चालू रहने के कारण उनमें संघर्ष होता है। यह संघर्ष स्थानीय तथा विदेशी सांस्कृतिक तत्वों में भी हो सकता



है। उसी प्रकार परिवर्तनों के फलस्वरूप जो नवीन भौतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उनकी माँगों के अनुसार नवीन आदतों को विकसित करना या पुरानी संस्थाओं में आवश्यक संशोधन करना बहुत जल्दी सम्भव नहीं भी हो सकता है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में एक असंतुलन व असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जो कि सामाजिक या सांस्कृतिक विघटन की सूचक होती है।

---



**द्वितीय खण्ड**  
**वैयक्तिक विघटन**  
**(Personal Disorganization)**



## इस खण्ड के अध्याय

६—वैदिक विघटन

७—अपराध

८—अभिजात-अपराधी

९—बाल-अपराध

१०—वेश्यावृत्ति

११—आत्महत्या

१२—भिक्षावृत्ति

१३—मद्यपान तथा मादक-द्रव्य व्यसन



## वैयक्तिक विघटन (Personal Disorganization)

सुन्दरबाग के 'सुन्दर' नामक नवजवान ने आज सुबह ही आत्महत्या कर ली है—गले में फन्दा लगाकर। मुहल्ले के सभी लोग उमड़ पड़े हैं उसे देखने के लिए। कोई-कोई तो आया है मजा देखने के लिए, मरे की मजाक उड़ाने के लिए। पुलिस को खबर कर दी गई है; वे भी आते ही होंगे। आकर लाश को ले जायेंगे डाक्टरी जाँच के लिए। सुन्दर की स्त्री विकल होकर रो रही है। माँ को रोते देख कुछ न समझते हुए भी छोटे-छोटे बच्चे रो रहे हैं। इतनी दर्दनाक परिस्थिति में भी लोगों को चैन नहीं है—सुन्दर की आत्महत्या के कारणों के सम्बन्ध में वे काना-फूसी कर रहे हैं। कोई कहता है गरीबी से तंग आकर सुन्दर ने आत्महत्या की है; तो किसी का विचार है कि पत्नी से उसकी बिल्कुल नहीं बनती थी—पत्नी ही उसकी आत्महत्या का कारण है। किसी-किसी ने तो सुन्दर को शराब पीकर वेदयालयों का चक्कर काटते हुए देखा है—उसी चक्कर का अन्तिम चक्कर सुन्दर की आत्महत्या है। ऐसे भी कुछ लोग हैं जो कि सुन्दर के मानसिक असंतुलन को प्रमाणित करने को राजी हैं। उनके अनुसार सुन्दर की आत्महत्या उसके पागलपन का परिणाम है। वहाँ आई हुई मुहल्ले की औरतें आत्महत्या के कारण के सम्बन्ध में अपना सर उतना ज्यादा नहीं खपा रही हैं जितना कि सुन्दर के बीबी बच्चों के भविष्य के बारे में सोचकर। उनका क्या होगा? जाने वाला तो चला गया; जग हँसाकर; जग के जंजालों से छुटकारा लेकर; पर छोड़ गया, अनाथ कर गया इस युवती स्त्री को और मासूम बच्चों को। इन्हें कोई देखने वाला न रहा। क्या मालूम आगे चलकर इनका क्या होगा? भूख से तड़फ कर शायद बच्चे चोरी करेंगे, बाल-अपराधियों की सूची में उनका भी नाम चढ़ेगा—आगे चलकर उनमें से एक हो सकता है अपराधी बने। पर उससे भी पहले उन्हें भूखों मरते देख माँ को शायद इज्जत बेचनी पड़े—इज्जत भी बिक जाती है, शरीर के भी शौकीन मिल जाते हैं, खरीदारों की भीड़ लग जाती है। अन्त में क्या मालूम सुन्दर की पत्नी को भी बही करना पड़े जो सुन्दर ने किया है; उसी पथ में मुक्ति खोजनी पड़े जिस पथ का सुन्दर आज पथिक बन गया है। सुन्दर की आत्महत्या ने बहुत कुछ दिखाया, बहुत कुछ का आभास दिया—आत्महत्या, बाल-अपराध, अपराध, बेश्याबूति, शराबखोरी यहाँ तक कि पागलपन का। यह सभी व्यक्तिगत विघटन की ही अभिव्यक्ति है।



### वैयक्तिक विघटन की समाजशास्त्री अवधारणा (Sociological Concept of Personal Disorganization)

मनुष्य उद्देश्यशील तथा विवेकशील प्राणी माना जाता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी सम्भव है जब कि व्यक्तित्व के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास हो। सन्तुलित व्यक्तित्व से तात्पर्य व्यक्ति के उन शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों के सुसंगठित और गतिशील संगठन से है जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ नित्य के आदान-प्रदान में एक दूसरे के प्रति प्रदर्शित करते हैं। और भी स्पष्ट रूप में अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के एक क्रम, एक व्यवस्था अथवा एक संगठन का विकास करता है, जो निरन्तर उसके कार्यों को निर्देशित करता रहता है। जीवन का यह संगठन (life organization) ही सन्तुलित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। इस जीवन संगठन के अन्तर्गत मनोवृत्तियाँ, आदतें मूल्य तथा अन्य मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का समावेश होता है। यह संगठन या प्रतिमान व्यक्ति के दृष्टिकोणों और मूल्यों का एक ढाँचा होता है। थॉमस और जैनिंकी (Thomas and Znaniecki) के शब्दों में, “व्यक्तिगत जीवन संगठन मनोवृत्तियों तथा मूल्यों का वह ढाँचा है जो कि प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक अनुभवों के आधार पर विकसित होता है और जिसके द्वारा वह व्यक्ति चेतन अथवा अचेतन रूप में अपने मूल्य उद्देश्यों की पूर्ति होने की आशा करता है।”<sup>1</sup> दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत जीवन संगठन वह प्रतिमान है जिसके अन्तर्गत सामाजिक अनुभवों के आधार पर विकसित दृष्टिकोणों, मूल्यों, आदतों, आशाओं तथा आकांक्षाओं का समावेश होता है। और जिसके द्वारा वह अपने जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहता है। जब यह प्रतिमान विकसित हो जाता है और उसके द्वारा उसके जीवन के आधारभूत उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है तो उसे हम व्यक्तिगत विघटन कहते हैं।

व्यक्तिगत विघटन की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझाया जा सकता है कि जब किसी व्यक्तित्व के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाने वाले शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का सुव्यवस्थित और गतिशील संगठन अव्यवस्थित हो जाता है और वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान में सम्मिलित नहीं हो पाता है तथा उसके जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं, आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाती है तो उस स्थिति को व्यक्तिगत विघटन कहते हैं। व्यक्तिगत विघटन असन्तुलित व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है इसलिए उस व्यक्तित्व से इस प्रकार के व्यवहारों की आशा नहीं की जा सकती है जैसा कि समाज या समूह अपने अन्य सदस्यों से सामान्यतया

1. “Life organization may be defined as that structure of attitudes and values which has grown out of the social experience of each person and through which, consciously and unconsciously, he hopes to realize his basic purposes.” William I. Thomas and F. Znaniecki, *The Polish Peasant in Europe and America* Alfred A. Knopf, New York, 1927, Vol. II, p. 1843.



आशा करता है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत विघटन की अवधारणा को सामाजिक दृष्टिकोण और मान्यता के आधार पर ही अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। समाज प्रत्येक व्यक्ति के लिए व्यवहार प्रतिमान का एक मान (standard) स्थापित करता है और यह आशा करता है कि व्यक्ति उस मान को बनाये रखेगा। जब व्यक्ति ऐसा करने में असफल होता है और उस असफलता के कारण उसमें नैराश्य, प्रतिहिंसा, द्वेष या ऐसी ही अस्वाभाविक मनोवृत्तियाँ विकसित होती हैं या जब वह अपनी आशाओं और आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता है तो उसके व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड़ जाता है और वह व्यक्तिगत विघटन की स्थिति में होता है।

### वैयक्तिक विघटन का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Personal Disorganization)

व्यक्ति के जीवन संगठन का असन्तुलन ही वैयक्तिक विघटन है। और भी स्पष्ट रूप में अपनी आधारभूत आवश्यकताओं, आशाओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जिन आदतों, मनोवृत्तियों और मूल्यों को एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में संगठित करता है, जब उन्हीं आदतों, मनोवृत्तियों और मूल्यों का सन्तुलन बिगड़ जाता है और वे इतना अधिक विकृत हो जाते हैं कि उनकी प्रत्यक्ष टक्कर सामाजिक मूल्यों, मनोवृत्तियों तथा आदर्शों के साथ होती है, तो उसे वैयक्तिक विघटन कहते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वैयक्तिक विघटन को सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में तथा सामाजिक दृष्टिकोण और मान्यताओं के आधार पर ही समझा जाता है। समाज का अपना मूल्य दृष्टिकोण तथा आदर्श होता है और उन्हीं के आधार पर वह अपने प्रत्येक सदस्य के लिए एक सामान्य व्यवहार प्रतिमान (behaviour pattern) को प्रस्तुत करता है और यह आशा करता है कि समाज के सदस्य इन प्रतिमानों का अनुसरण करेंगे। अपने व्यक्तित्व के विकास के दौरान में प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रतिमान को सामने रखकर कार्य करता है या इस प्रतिमान को अपने व्यक्तित्व में समा लेने का प्रयत्न करता है। ऐसा न कर सकने पर व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास सामाजिक दृष्टिकोण से नहीं हो पाता है और वह स्थिति वैयक्तिक विघटन की होती है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से स्मरण रखना है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तिगत कुछ दृष्टिकोण, मूल्य, आदर्श, मनोवृत्ति तथा आदतें होती हैं। ये जरूरी नहीं है कि ये वैयक्तिक दृष्टिकोण मूल्य, आदर्श आदि सामाजिक दृष्टिकोण, आदर्श, मूल्य आदि के बिल्कुल अनुरूप हों या शत-प्रतिशत उनसे मेल खाती हों, परन्तु यह आवश्यक है कि वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण मूल्य तथा आदर्शों के बीच एक सामंजस्य बना रहे। प्रत्येक व्यक्ति को समूह के अनुकूल चलना सीखना पड़ता है। उसे यह अवश्य ही अनुभव करना पड़ता है कि चेतन अथवा अचेतन रूप में उसे सामूहिक दृष्टिकोणों और मूल्यों तथा अपने दृष्टिकोणों व



मूल्यों में सामंजस्य बनाये रखना है। यदि यह सामंजस्य भंग हो जाता है तो व्यक्तिगत धारणाओं और सामाजिक मूल्यों में आपस में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को विघटित कर देता है। यही वैयक्तिक विघटन है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि वैयक्तिक विघटन एक व्यक्तित्व की वह असन्तुलित स्थिति है जिसमें कि व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहार प्रतिमान के प्रतिकूल कार्य करता है और सामाजिक दृष्टिकोण से अपने जीवन संगठन को भंग करता है।

श्री माउरर (Mowrer) के अनुसार सभी "वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के उन आचरणों का प्रतिनिधित्व करता है जो संस्कृति द्वारा स्वीकृति आदर्शों, नियमों से इतना अधिक भ्रष्ट हो जाता है कि उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं होती है।"<sup>2</sup>

श्री लम (Lamert) ने लिखा है कि वैयक्तिक विघटन "वह अवस्था या प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति ने प्रमुख भूमिका के चारों ओर अपने व्यवहार को सुस्थिर नहीं किया है। उसकी भूमिकाओं के चुनाव के सम्बन्ध में संघर्ष और भ्रम है। इस प्रकार का विघटन कुछ समय के लिए या निरन्तर बना रह सकता है।"<sup>3</sup>

### उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या

(Explanation of the above definitions)

वैयक्तिक विघटन की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या कर ली जाय। श्री माउरर ने अपनी परिभाषा में वैयक्तिक विघटन को सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ में समझने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक समाज में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कुछ आदर्श नियम होते हैं जो कि उस समाज की संस्कृति का एक अभिन्न अंग होते हैं और संस्कृति तथा समाज व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि समाज के सदस्य अपने व्यवहारों को उन्हीं आदर्श नियमों के अनुरूप ढालें जिससे कि सदस्यों के सामान्य उद्देश्यों के साथ-साथ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति भी सम्भव हो। परन्तु कुछ व्यक्ति या समाज के सदस्य ऐसे भी होते हैं जो कि अपने व्यक्तित्व में जाने या अनजाने ऐसे व्यवहार प्रतिमानों को विकसित कर लेते हैं जो कि समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त आदर्श-नियमों से इतना अधिक भ्रष्ट होता है कि समाज उन्हें सहन नहीं करता है और अपनी अस्वीकृति प्रगट करता है। समाज व संस्कृति द्वारा मान्य आदर्श-नियमों के विपरीत व्यवहार प्रतिमानों का एक व्यक्ति के व्यक्तित्व में समावेश वैयक्तिक विघटन है और भी

2. "All personal disorganization represents behaviour upon the part of the individual which deviates from the culturally approved norm to such an extent as to arouse social disapproval." E. R. Mowrer, *Disorganization—Personal and Social*, New York, 1942, p. 72.

3. "Individual disorganization is a condition for process in which the person has not stabilized his behaviour around major role. There is conflict and confusion over his choice of roles. Such disorganization may be transitional or it may be continuous."—E. M. Lamert.



सरल रूप में, विघटित व्यक्ति वह है जो कि समाज के अन्य सामान्य लोगों के विपरीत व्यवहार करे। विघटित व्यक्ति इस अर्थ में एक पथ भ्रष्ट व्यक्ति होता है। इसीलिए समाज उसको अस्वीकार करता है। इस अस्वीकृति का व्यक्ति की ओर से प्रत्युत्तर सकारात्मक (Positive) या नकारात्मक (Negative) हो सकता है। सकारात्मक प्रत्युत्तर (Positive Response) इस रूप में होता है कि व्यक्ति अपने को सुधार कर समाज द्वारा मान्य रास्ते पर ले आता है। इसके विपरीत नकारात्मक प्रत्युत्तर में व्यक्ति और भी प्रचण्ड रूप में समाज द्वारा मान्य आदर्श नियमों पर आघात करता है।

श्री लमट ने वैयक्तिक विघटन को एक अवस्था या प्रक्रिया के रूप में देखा है। इनके अनुसार वैयक्तिक विघटन एक अवस्था इस अर्थ में है कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व की एक असंतुलित स्थिति को व्यक्त करता है। उसी प्रकार वैयक्तिक विघटन एक प्रक्रिया इस अर्थ में है कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व में निरन्तर क्रियाशील रहती है। ऐसा कोई भी व्यक्तित्व नहीं है जिसमें विघटित तत्व न हों, पर जब व्यक्ति के व्यक्तित्व में पाये जाने वाले संगठन को विघटित करने वाले तत्व अधिक मात्रा में क्रियाशील होते हैं तो वह व्यक्तित्व असंतुलित हो जाता है और वैयक्तिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। श्री लमट के अनुसार व्यक्ति को कुछ प्रमुख भूमिका अदा करनी पड़ती है। जब उस भूमिका को निभाने के लिए आवश्यक व्यवहारों को व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में उचित ढंग से संगठित और सुस्थिर नहीं कर पाता है तो उस अवस्था को वैयक्तिक विघटन कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति को अपने जीवन में किन भूमिकाओं को अदा करना है और किनसे बचना है इस सम्बन्ध में व्यक्ति के चुनाव में संघर्ष और भ्रम उत्पन्न होता है और अक्सर वह उन भूमिकाओं को चुनता है जिनसे कि उसे बचना चाहिए था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक विघटन वह अवस्था है जिसमें कि एक व्यक्ति ऐसी भूमिकाओं या व्यवहारों को करने लगता है जिनका कि प्रत्यक्ष संघर्ष अन्य लोगों की भूमिकाओं या व्यवहारों से होता है और इसीलिए इस संघर्ष के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में एक गड़बड़ी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हो सकता है कि यह स्थिति केवल कुछ समय तक ही बनी रहे और उसके बाद ही व्यक्ति अपने आचरण को सुधार कर एक मान्य स्तर पर सुस्थिर करने में सफल हो पर यह भी हो सकता है कि विघटन की यह स्थिति बराबर बनी रहे और व्यक्ति संघर्षपूर्ण और गड़बड़ी उत्पन्न करने वाली भूमिकाओं और कार्यों को ही करता रहे।

लेखिका ने अपनी परिभाषा में इस बात पर बल दिया है कि वैयक्तिक विघटन व्यक्तित्व का असंतुलित इस अर्थ में कि विघटित व्यक्ति दूसरों से सम्बन्धित रहते हुए अपने समाज द्वारा पूर्व निश्चित कार्यों (roles) को भली-भाँति नहीं कर पाता है। उसकी यह असफलता इसलिए है कि उसके कार्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहार प्रतिमान के प्रतिकूल या विरोधी हैं। यैविरोध इस बात का परिचायक है कि उस व्यक्ति का जीवन संगठन भंग हो गया है और इसीलिए उसकी मनोवृत्ति, मूल्य,



आदर्श तथा आदर्श विकृत रूप में प्रगट होती हैं। वास्तव में वैयक्तिक का विकृत रूप ही वैयक्तिक विघटन है।

अतः यह स्पष्ट है कि जब व्यक्ति के व्यक्तित्व में पाये जाने वाले दृष्टिकोण, विचार, भावनायें, मूल्य तथा आदर्श इस प्रकार विकृत हो जाते हैं कि जीवन संगठन का संतुलन नष्ट हो जाता है। तो उसे वैयक्तिक विघटन कहा जाता है। एक विघटित व्यक्ति के आचरण और मनोवृत्ति में समूह द्वारा स्वीकृत आदर्शों तथा मान-दण्डों के विपरीत लक्षण देखने को मिलता है।

### सामाजिक विघटन और वैयक्तिक विघटन में अन्तर

(Distinction between Social and Personal Disorganization)

(१) सामाजिक विघटन सामाजिक संगठन की वह अस्वस्थ और असंतुलित दशा है जब कि सामूहिक जीवन नष्ट हो जाता है तथा व्यक्तियों और समूह के पारस्परिक सम्बन्ध विकृत हो जाते हैं। सामाजिक विघटन, इस अर्थ में वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक संरचना इस प्रकार टूट जाती है कि समाज के विभिन्न अंग न तो अपने-अपने पूर्व निश्चित कार्यों को कर पाते हैं और ना ही सामाजिक नियन्त्रण के साधन उनपर उचित ढंग से नियन्त्रण रखने में सफल होते हैं। इसके विपरीत वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के उन आचरणों को व्यक्त करता है जो कि समाज द्वारा स्वीकृत आचरणों के विपरीत होते हैं।

(२) इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन का सम्बन्ध सामाजिक संरचना और संगठन से है जब कि वैयक्तिक विघटन का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व या जीवन संगठन से होता है। सामाजिक संरचना को बनाने वाली अनेक इकाइयाँ—व्यक्ति, समूह, संस्था आदि—होते हैं। जब इन इकाइयों के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध विकृत हो जाता है तो उस स्थिति को सामाजिक विघटन कहते हैं। इसके विपरीत जीवन संगठन का निर्माण व्यक्ति के सामाजिक अनुभव के आधार पर विकसित दृष्टिकोणों, मूल्यों, आदर्शों, आदतों आदि के द्वारा होता है। जब यह विचार, भावनायें, मूल्य, आदर्श इतने विकृत हो जाते हैं कि समाज उन्हें स्वीकार करने से इन्कार कर देता है तो उस अवस्था को वैयक्तिक विघटन कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक संरचना की एक असंतुलित अवस्था है जब कि वैयक्तिक विघटन व्यक्तित्व के रचना की एक विकृत अवस्था है।

(३) अतः यह स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन एक बृहत्तर अवधारणा है जिसके अन्तर्गत समाज की अधिकतर महत्वपूर्ण इकाइयों की अव्यवस्था सूचित होती है। इसके विपरीत वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके अन्तर्गत आने वाले व्यवहार प्रतिमान तक ही सीमित हैं। सामाजिक विघटन सामान्य रूप से सामाजिक जीवन व सम्बन्ध का विघटन है, जब कि वैयक्तिक विघटन केवल व्यक्ति के जीवन संगठन में विघटन को कहते हैं।

(४) सामाजिक विघटन के प्रभाव का क्षेत्र पूरा समाज होता है। इसलिए सामाजिक विघटन से पूरे समाज को नुकसान पहुँचता है। इसके विपरीत वैयक्तिक



विघटन के प्रभाव का क्षेत्र मुख्य रूप से उसके अपने तक और उसके परिवार तक ही अधिकतर सीमित रहता है। यद्यपि समाज में वैयक्तिक विघटन की संख्या अधिक होने पर सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(५) सामाजिक विघटन की स्थिति में सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कठिनाई से होती है परन्तु वैयक्तिक विघटन की स्थिति में व्यक्ति लड़-भगड़ कर भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल हो सकता है। जैसे एक अपराधी गैर कानूनी तौर पर डाका डाल कर अपने लिए धन इकट्ठा कर सकता है या एक औरत वेश्यावृत्ति के द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति मजे से कर सकती है यद्यपि नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से यह अनुचित और भ्रष्ट तरीके हैं।

### सामाजिक और वैयक्तिक विघटन में सम्बन्ध (Relation between Social and Personal Disorganization)

यह सच है कि सामाजिक विघटन और वैयक्तिक विघटन में उपरोक्त कुछ आधारभूत भिन्नताएँ हैं। परन्तु इन दोनों स्थितियों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। सर्व श्री ईलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने उचित ही लिखा है, “जो गतिशील शक्तियाँ सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती हैं वही शक्तियाँ व्यक्ति को भी विघटित करती हैं। सामाजिक विघटन के तूफान में फँसे हुए अनेक व्यक्ति अपने महत्वपूर्ण सामूहिक सम्पर्क से वंचित हो जाते हैं, आत्मसुरक्षा के भाव को खो बैठते हैं और उन्हें अपने जीवन से भी रुचि नहीं रह जाती है। समाज उन सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है जो व्यक्तियों को एक प्रकायात्मक समग्रता में आपस में बाँधता है। सामाजिक विघटन में यह पारस्परिक सम्बन्ध विघटित हो जाते हैं और मान्य उद्देश्यों की पूर्ति में व्यक्ति प्रभावपूर्ण ढंग से काम करने में असफल रहता है।”<sup>4</sup> इसी से यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक विघटन सामाजिक विघटन की ही एक इकाई के रूप में या स्वाभाविक परिणाम के रूप में प्रगट होता है। सामाजिक विघटन के फलस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध टूटता है, सामाजिक सम्बन्धों के टूटने से व्यक्ति के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति सुचारु रूप से नहीं हो पाती है और व्यक्ति की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर उसके व्यक्तित्व में ऐसे व्यवहार, आदत, आदर्श व मूल्य विकसित हो सकते हैं जिनसे कि उसका पूरा व्यक्तित्व असन्तुलित हो सकता है, असन्तुलित व्यक्तित्व ही

4. “The same dynamic forces that produce social disorganization also bring about the disorganization of the individual. Caught in the maelstrom of social disorganization, many individuals lose their vital group contracts, their sense of personal security, and their interest even in life itself. Society consists in the network of relationships that bind individuals together in a functioning whole. Social disorganization involves the disorganization of these relationships and results in the failure of persons to function effectively in the pursuit of common interest.” Elliott and Merrill, *Social Disorganization*, New York, 1950, p. 39.



वैयक्तिक विघटन का सूचक है। दूसरी ओर समाज का संगठन संगठित सामाजिक सम्बन्धों पर ही निर्भर करता है पर जब समाज में विघटित व्यक्तियों की संख्या काफी बढ़ जाती है तो सामाजिक सम्बन्ध का जाल भी टूट जाता है और उस जाल के टूटने का अर्थ होता है सामाजिक विघटन। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन और वैयक्तिक विघटन एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं और एक का प्रभाव दूसरे पर बहुत ही गहरा पड़ता है। इस सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए श्री राल्फ कैमर ने लिखा है, कि "समाज के नाटक में व्यक्ति अभिनेता है और उसके सम्बन्ध के बन्धन हैं जो उन्हें आपस में बाँधते हैं। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने सामाजिक सम्बन्ध के संदर्भ में ही शक्तिशाली है क्योंकि कोई भी मनुष्य केवल अपने को लेकर नहीं रह सकता इसलिए, सामाजिक विघटन केवल व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की असफलता और विनाश की ही ओर इशारा करता है, परन्तु स्वयं अभिनेता (व्यक्ति) भी इस प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से सम्मिलित है और इससे प्रभावित होते हैं।"<sup>5</sup>

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विघटित समाज में अधिकतर ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका जीवन थोड़ा बहुत विघटित अवश्य होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। व्यक्तित्व का विकास एक सामाजिक परिस्थिति के अन्दर ही होता है जहाँ व्यक्ति समूह के अन्य सदस्यों से समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों को सीखता है और उन्हें अपनी व्यक्तित्व रचना में संयुक्त करता है, परन्तु जब स्वयं सामाजिक परिस्थिति ही विघटन की स्थिति में होती है तो व्यक्ति को विघटित व्यवहार प्रतिमान ही अपने व्यक्तित्व में संयुक्त करने के लिए उपलब्ध होते हैं जिसके फलस्वरूप वैयक्तिक विघटन होता है। वास्तव में सामाजिक विघटन की स्थिति में व्यक्ति यह निश्चित नहीं कर पाता है कि उसे अपने परिवार, इष्ट मित्रों तथा समाज के प्रति किस प्रकार का कार्य व कर्तव्य करना है और किस प्रकार के आचरणों से बचना उचित है। इस अनिश्चितता के बीच वह जैसा भी उचित समझता है वैसा ही करता है, जिसके फलस्वरूप परिवार, इष्ट मित्र, समाज आदि के साथ उसे जोड़ने वाले सम्बन्ध टूट जाते हैं और यह अपने को एक विघटित व्यक्ति के रूप में पाता है।

सामाजिक विघटन की परिस्थिति में समाज में जो गड़बड़ी, विरोध तथा संघर्ष की स्थिति होती है उसमें व्यक्ति का परिवार, आर्थिक संस्थाओं, राज्य, स्कूल, धार्मिक संस्था आदि के सम्बन्ध ढीला पड़ जाता है और ये संस्थाएँ व्यक्ति के व्यवहारों पर विबभ्रशात्मक प्रभाव डाल नहीं पाती हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के

---

5. "The individuals are the actors in the drama of society and their relationships are the ties that bind them together. Each person is only as strong as his social relationships, for no man lives into himself alone. Hence although social disorganization properly refers only to the failure and dissolution of the relationships between individuals, the actors themselves are inevitably involved in the process." Ralph Kramer, "The Conceptual Status of Social Disorganization," *American Journal of Sociology*, Vol. 48, pp. 466—474.



लिए स्वेच्छाचारी बन जाना सरल होता है। वैयक्तिक विघटन इस स्वेच्छाचरिता का ही कटु रूप होता है।

सामाजिक विघटन की स्थिति में एकाधिक विरोधी तत्वों या संस्थाओं का परस्पर संघर्ष चलता रहता है। मूल्य और मनोवृत्ति में संघर्ष होता है, धर्म और आर्थिक संस्थाओं में संघर्ष होता है और नए व पुराने आदर्शों का आपस में संघर्ष होता है। इसका परिणाम यह होता है कि इन विरोधी परिस्थितियों से व्यक्ति अपना अनुकूलन नहीं कर पाता है और उसके व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है। इस प्रकार के विघटित व्यक्तियों का समाज में आधिक्य होने पर सामाजिक विघटन और भी व्यापक और दीर्घकालीन हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक विघटन और सामाजिक विघटन एक ही कुचक्र के दो अंग हैं—ये दोनों आपस में मिलकर रहते हैं, मिलजुल कर ही क्रियाशील होते हैं और पहले व्यक्ति को, व्यक्ति से परिवार को, परिवार से पड़ोस, गाँव या शहर को और अन्त में पूरे समाज को विघटित करते हैं। कभी तो यह कुचक्र व्यक्ति से समाज की ओर चलता है और कभी समाज से व्यक्ति की ओर उलटा घूमता है। दोनों ही अवस्थाओं में परिणाम एक ही होता है—विघटन; कभी व्यक्ति का तो कभी समाज का।

सामाजिक व वैयक्तिक विघटन के पारस्परिक सम्बन्ध को इस प्रकार भी दर्शाया जाता है कि (१) सामाजिक विघटन की स्थिति में व्यक्ति और संस्थायें अपने-अपने पदों तथा कार्यों को छोड़ कर मनमाने ढंग से काम करने लगती हैं। वैयक्तिक विघटन में भी व्यक्ति समाज द्वारा मान्य व्यवहार प्रतिमान का परित्याग करके अपने मनचाहे ढंग से व्यवहार करने लगता है। (२) सामाजिक विघटन की स्थिति में ऐकमत्य (Consensus) का नितान्त अभाव होता है और व्यक्तियों व समूहों का आपसी सम्बन्ध टूट जाता है। विघटित व्यक्तियों का सम्बन्ध भी दूसरे लोगों से टूट जाता है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का व्यवहार समाज-विरोधी होता है या समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहार प्रतिमान से भ्रष्ट होता है। इस कारण न तो दूसरे लोग उससे सम्बन्ध बनाये रखना पसन्द करते हैं और न ही विघटित व्यक्ति का अनुकूलन उसकी भ्रष्ट या विघनात्मक प्रवृत्तियों के कारण दूसरे व्यक्तियों के साथ हो पाता है। (३) सामाजिक विघटन की स्थिति में चूँकि सामाजिक संस्थायें अपने-अपने पूर्व निर्धारित कार्यों को नहीं करती हैं, इस कारण सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति अति कठिनाई से होती है। उसी प्रकार वैयक्तिक विघटन की स्थिति में व्यक्ति का व्यक्तित्व असंतुलित रहने के कारण व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति भी समाज द्वारा मान्य तरीके से नहीं हो पाती है, भले ही वह समाज-विरोधी तरीकों को अपनाकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर ले। (४) जिस प्रकार सामाजिक विघटन एक अस्वस्थ और अहितकर स्थिति है, उसी प्रकार वैयक्तिक विघटन भी एक अस्वस्थ और अवांछनीय अवस्था है।



### सामाजिक विघटन में व्यक्ति का उत्तरदायित्व

(Responsibility of Individual in causing S. D.)

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, व्यक्ति का विघटन और समाज का विघटन एक ही कुचक्र (Vicious circle) के दो अंग हैं। इन दोनों अंगों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। इसीलिए सामाजिक विघटन उत्पन्न करने में व्यक्ति का काफी हाथ रहता है। एक विघटित व्यक्ति और भी विघटन उत्पन्न करता है क्योंकि उसके व्यवहार अन्य व्यक्तियों को भी प्रभावित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एक सामाजिक शून्य (a social vacuum) में निवास नहीं करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज, समुदाय, परिवार या अन्य समूह का सदस्य होता है और उस सदस्य के रूप में उसका सामाजिक सम्बन्ध दूसरे अनेक व्यक्तियों से होता है तथा अन्य अनेक व्यक्तियों का सम्बन्ध उस व्यक्ति से होता है। इस अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध के कारण ही अगर व्यक्ति का व्यवहार दूसरे लोगों द्वारा प्रभावित होता है, तो उस व्यक्ति के व्यवहारों का प्रभाव भी दूसरे पर अवश्य ही पड़ता है। अतः एक विघटित व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत विघटनात्मक प्रवृत्तियों व आचरणों द्वारा दूसरे व्यक्तियों को भी विघटित करता है, जो कि बढ़ते-बढ़ते सामाजिक विघटन का रूप धारण कर लेती है। उदाहरणार्थ, अगर एक शिक्षक भ्रष्ट चरित्र का है तो उसका प्रभाव उसके विद्यार्थियों पर पड़ता है और हो सकता है कि उस विघटनात्मक प्रभाव के साथ अन्य कारकों का सहयोग होने पर उनमें से बहुत से विद्यार्थी बाल-अपराधी बन जायें। उसी प्रकार यदि एक राष्ट्रीय नेता की एकाएक मृत्यु हो जाय तो उस आकस्मिक संकट के कारण भी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति समाज के किसी महत्वपूर्ण पद पर आरूढ़ है तो उसके व्यवहार का प्रभाव अन्य व्यक्तियों को अधिक प्रभावित करता है और इसीलिए उसके पतन से समाज का पतन भी हो सकता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधारण व्यक्ति का कोई उत्तरदायित्व सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने में नहीं होता है। व्यक्ति चाहे कितना ही साधारण या महत्वहीन क्यों न हो, वह अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को ही अवश्य ही प्रभावित करेगा और करता भी है। यह अभाव उस व्यक्ति के प्राथमिक समूहों, जैसे परिवार, पड़ोस, घनिष्ठ मित्र-मण्डली आदि के सदस्यों पर विशेष रूप में स्पष्ट होगा। यही कारण है कि जिस परिवार में पिता शराब-खोरी में मर-मिटता रहता है, या माता अनैतिक जीवन व्यतीत करती रहती है, उस परिवार के बच्चे भी बिगड़ जाते हैं और उनका भी वैयक्तिक विघटन हो जाता है।

### वैयक्तिक विघटन के कारण

(Causes of Personal Disorganization)

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, जो कारण सामाजिक विघटन का होता है वही कारण वैयक्तिक विघटन का भी हुआ करता है। दोनों ही प्रक्रियायें (Processes) एक ही प्रकार की शक्तियों द्वारा निर्धारित व क्रियाशील होती हैं।



उदाहरणार्थ, युद्ध के कारण सामाजिक विघटन होता है यह सभी स्वीकार करते हैं। वही युद्ध वैयक्तिक विघटन का भी कारण बनता है।

(१) युद्ध के कारण बहुत से व्यक्ति घायल होते हैं, किसी का हाथ टूटता है तो किसी की आँखें फूटती हैं। कुछ लोग युद्ध के विनाशकारी दृश्यों को सहन नहीं कर पाते हैं और उनमें मानसिक असंतुलन पनप जाता है। युद्ध के मैदान में अनेक व्यक्ति मारे जाते हैं। उनकी मृत्यु का संवाद सुनकर बहुत सी मातायें और पत्नियाँ पागल हो जाती हैं। युद्ध में अन्तर्निहित हिंसा व द्वेष की भावनायें समाज के अनेक बच्चों को भी प्रभावित करते हैं और वे बाल अपराधी बन जाते हैं। युद्ध के समय स्त्रियों को पुरुषों का काम करना पड़ता है जिसके कारण अनेक स्त्रियों का व्यक्तित्व असंतुलित हो जाता है। युद्ध के समय आवश्यक वस्तुओं की जो कमी हो ही जाती है उसे पूरा करने के लिए कितने ही लोग गैर-कानूनी उपायों को अपनाते हैं।

(२) उसी प्रकार परिवार सामाजिक व वैयक्तिक दोनों ही प्रकार के विघटन का कारण बन सकता है। यदि परिवार व्यक्तियों में सामाजिक परिस्थितियों से सामंजस्य करने की योग्यता को उत्पन्न नहीं करता है तो व्यक्ति का जीवन विघटित हो सकता है क्योंकि परिवार सामाजीकरण (Socialization) की सबसे महत्वपूर्ण संस्था है। परिवार किसी बच्चे को लाड़-प्यार से इतना सर चढ़ा सकता है कि उसमें आत्म-संयम और दूसरों की भावनाओं का ध्यान रखने की क्षमता ही न रहे और वह मनमाने ढंग से कार्य करे, धूम या किसी भी प्रकार के व्यक्ति को अपना दोस्त चुन ले। इसके परिणाम स्वरूप बच्चा अन्त में बाल-अपराधी, शराबी, जुआरी या वेश्याओं का शौकीन हो सकता है। उसी प्रकार परिवार का नैतिक स्तर यदि गिरा हुआ है तो परिवार अन्य सदस्यों को भी पतन की राह पर खींच ले जा सकता है। इसके अतिरिक्त परिवार अपने सदस्यों में धार्मिक अन्ध विश्वास, प्रजातीय या जातीय घृणा, वर्ग पक्षपात, व्यापार में बेईमानी, राजनीति में भ्रष्टाचार आदि से सम्बन्धित व्यवहार प्रतिमानों, मूल्यों और मनोवृत्तियों को विकसित कर सकता है जिससे वैयक्तिक विघटन हो सकता है। पारिवारिक कलह, अयोग्यतायें, नशा, माता-पिता के बीच तनाव व संघर्ष, नशा आदि भी व्यक्ति के जीवन को विघटित कर देते हैं।

(३) शिक्षा भी वैयक्तिक विघटन का एक कारण बन सकता है, विशेषकर जब एक समाज की शिक्षा-व्यवस्था दोषपूर्ण हो। यदि शिक्षा-पद्धति इस प्रकार की है कि उससे बच्चों के दिल में शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं होती है तो बच्चों में कक्षा से भागने की आदत पड़ जाती है। कक्षा से भागकर वे रास्ते-रास्ते आवारागर्दी करते हैं, बुरी संगत में फँस कर अपराध करते हैं और बाल-अपराधी के रूप में परिचित होते हैं। उसी प्रकार यदि शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार की दोष युक्त है कि उससे जीविका उपार्जन के लिए व्यवहारिक प्रशिक्षण नहीं मिलता है तो समाज में शिक्षित बेकारों की संख्या बढ़ती है। जब इन लोगों को दर-दर ठोकर



खाकर भी नौकरी नहीं मिलती है और वे पैसे-पैसे को लाचार हो जाते हैं तो अन्त में जीविका उपार्जन के गैर-कानूनी तरीकों को ही अपना देने के सिवाय बहूतों के लिए और कोई रास्ता खुला नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त जब शिक्षा संस्था का सम्बन्ध भ्रष्ट आर्थिक व राजनैतिक संगठनों के साथ होता है तो भी उन शिक्षा संस्थानों के शिक्षक व विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास संतुलित ढंग से नहीं हो पाता है क्योंकि वे भी भ्रष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी शिक्षकों का नैतिक स्तर भी पर्याप्त उन्नत नहीं होता है और वे बच्चों के व्यक्तित्व को गलत दिशा की ओर मोड़ते हैं। शिक्षा-संस्थाओं में भी बच्चों में उद्देगात्मक संघर्ष, जातीय प्रजातीय पक्षपात, भय, अन्धविश्वास, राजनीतिक संकीर्णता, धार्मिक कुसंस्कार आदि प्राप्त होते हैं जिसके कारण भी वैयक्तिक विघटन होता है।

(४) धर्म भी वैयक्तिक विघटन को उत्पन्न करने वाला एक महत्वपूर्ण कारण है। धर्म रूढ़िवादी होता है और इसीलिये वह व्यक्ति के व्यक्तित्व में भी ऐसी रूढ़िवादी भावनाओं, विचारों, मूल्यों और आदर्शों को भर दे सकता है जिससे व्यक्ति का अनुकूलन परिवर्तित परिस्थितियों से या प्रगतिवादी विचारों को रखने वाले अन्य लोगों से बिल्कुल ही न हो पाये जब व्यक्ति अपनी रूढ़िवादिता के कारण बाहरी दुनिया से अनुकूलन करने में असफल होता है तभी उसका वैयक्तिक विघटन होता है। धर्म अपनी आड़ में कभी-कभी बुरे कार्य करने को प्रोत्साहन देता है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में अनेक ठग, बदमाश और चोर साधुओं और पुजारियों अथवा पण्डों के रूप में कार्य करते हैं। धर्म पाप की भावना, नरक का भय, हीनता की भावना, अनुताप आदि को भी व्यक्तित्व में भर देता है जिससे मानसिक रोग उत्पन्न हो सकता है। धार्मिक भावनाओं के कारण कभी-कभी एक काम कर लेने के बाद व्यक्ति को इतना पश्चात्ताप होता है कि वह आत्महत्या तक कर लेता है। धार्मिक अंधविश्वास व्यक्ति के व्यक्तित्व में संघर्ष, असहनशीलता तथा दूसरे धर्मों के प्रति घृणा द्वेष आदि की भावना को भी पनपता है जिससे संतुलित व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है।

(५) गरीबी भी वैयक्तिक विघटन का एक महत्वपूर्ण आर्थिक कारण है। गरीबी के कारण व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं तक की पूर्ति नहीं हो पाती है और उस अवस्था में उसके लिये किसी भी रूप में पथ-भ्रष्ट हो जाना असम्भव नहीं है। भीख माँगना, वेश्यावृत्ति और बालअपराध व अपराध आदि का मुख्य कारण गरीबी है। गरीबी के कारण बीबी-बच्चों को अपनी ही आँखों के सामने तड़पते देख व्यक्ति भीख भी माँग सकता है और चोरी भी कर सकता है। ऐसी अनेक बेवस लड़कियाँ व स्त्रियाँ हैं जो गरीबी के आघात से अपने को बचाने के लिये छिप-छिप कर वेश्यावृत्ति का धन्धा चलाती हैं। गरीबी से तंग आकर प्रतिवर्ष कितने लोग आत्म-हत्या करते हैं इसका सही पता यदि लगाया जाय तो हमें वास्तव में मालूम हो सकेगा कि गरीबी वैयक्तिक विघटन का कितना महत्वपूर्ण कारण है। निर्बल परिवार के बच्चों के शोक जब पूरे नहीं होते हैं तो वे चोरी करके उन शोकों को पूरा करते हैं।



ऐसे बच्चे ही आगे चलकर बाल-अपराधी होते हैं।

(६) बेरोजगारी भी निर्धनता की भाँति वैयक्तिक विघटन का एक आर्थिक कारण है। बेरोजगारी की स्थिति में भी व्यक्ति अपने को निर्धनता के चरम स्तर पर पा सकता है। बेकार व्यक्ति अपना तथा अपने आश्रितों की मौलिक आवश्यकताओं तक की भी पूर्ति नहीं कर पाता है। उसे न तो उचित खाने को मिलता है और न ही अच्छे मकानों में रहने की सुविधा प्राप्त होती है। इससे न केवल उसके रहन-सहन का स्तर घटता है बल्कि उसका स्वास्थ्य भी दिन प्रतिदिन गिरता जाता है और वह अक्सर किसी न किसी रोग के पंजे में फँस जाता है। बेरोजगार व्यक्ति अपने को सदा एक असुरक्षित स्थिति में पाता है जिससे उसके मन में आशंका, आशान्ति आदि घर कर जाती हैं और वह अनेक मानसिक रोगों का शिकार बन जाता है। बेकारी की अवस्था व्यक्ति के नैतिक स्तर को भी गिरा देती है। अपनी आँखों के सामने घर के लोगों को भूख से तड़पते हुए लोगों को देखने की अपेक्षा चोरी, डकैती, जालसाजी या वेश्यावृत्ति के रास्ते को अपना लेना उसके लिए सरल होता है। हर तरफ से निराश व्यक्ति शराब पीता है आ जुआ खेलता है और अपने तथा अपने परिवार के लिए अधिकतर विघटन को आमन्त्रित करता है।

(७) आर्थिक संकट भी व्यक्तिगत विघटन का एक महत्वपूर्ण कारण है क्योंकि ऐसे अवसर पर अनेक उद्योगपतियों को बहुत ज्यादा आर्थिक हानि होती है। किसी-किसी का तो दिवाला निकल जाता है। इस प्रकार की आर्थिक हानि को अनेक लोग सहन नहीं कर पाते हैं और इस कारण उनका मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है। आर्थिक संकट की स्थिति में अनेक मजदूरों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ता है और बेरोजगारी उन्हें एक विघटित अवस्था में घसीट कर ले जाता है। आर्थिक संकट नाना प्रकार के भय, चिन्तायें, कष्ट आदि को उत्पन्न करती हैं जिसके कारण भी वैयक्तिक विघटन हो सकता है।

(८) गन्दीबस्ती वैयक्तिक विघटन को उत्पन्न करने वाली एक बहुत ही प्रभावपूर्ण कारक है। गन्दी बस्ती में रहने वाले व्यक्तियों को नाना प्रकार के रोग घेर लेते हैं और टी० बी० जैसे भयंकर रोग का जो व्यक्ति शिकार हो जाय उसके व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास असम्भव सा हो जाता है। रोगों के कारण श्रमिक अकुशल हो जाते हैं, उनकी आय घट जाती है, गरीबी उन्हें घेर लेती है और ऋण के जाल में फँसकर उनका व्यक्तित्व कराहता रहता है। बहुत से लोग बीमारी से पीड़ित होने के कारण नौकरी से निकाल दिये जाते हैं इस प्रकार आय एकाएक रुक जाने से व्यक्ति के लिए अपराध के मार्ग में बढ़ना सरल होता है। गन्दी बस्तियाँ गन्दी आदतों को विकसित करती हैं। चोरी, शराब खोरी, जुआ, वेश्यावृत्ति आदि का बोलबाला होता है।

(९) अति जनसंख्या की स्थिति भी वैयक्तिक विघटन को उत्पन्न करता है क्योंकि देश में अत्यधिक जनसंख्या होने के कारण प्रति व्यक्ति आय घट जाती है और निर्धनता बढ़ती है; और साथ ही देश में काम करने योग्य हर व्यक्ति को काम



न मिलने के कारण बेरोजगारी की समस्या गम्भीर हो जाती है। निर्धनता, बेरोजगारी आदि से वैयक्तिक विघटन उत्पन्न होता है और इसके बारे में ऊपर विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है।

(१०) औद्योगिक अशान्ति से भी वैयक्तिक विघटन उत्पन्न हो सकता है। औद्योगिक अशान्ति की स्थिति में मिल, कारखानों आदि में हड़ताल व तालाबन्दी होती है और उस अवस्था में श्रमिकों का आय की रास्ता बन्द हो जाता है इसलिये बहुत से श्रमिक बेकारी गरीबी ऋणग्रस्तता आदि परिस्थितियों के बीच अपने को पाते हैं जिसके कारण वैयक्तिक विघटन उत्पन्न हो सकता है।

(११) राजनैतिक उथल-पुथल भी वैयक्तिक विघटन का एक कारण बन सकता है। इस प्रकार की उथल-पुथल से व्यक्ति को प्रायः अप्रत्याशित परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और उन परिस्थितियों से उसका सफलता पूर्वक अनुकूलन न हो सकने पर वैयक्तिक विघटन उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में देश विभाजन के बाद जो शरणार्थी यहाँ पर आये उनको बिल्कुल नई परिस्थितियों से सामना करना पड़ा। उनमें से अधिकतर लोग अपना मकान, जायदाद, जमीन आदि पीछे छोड़ आये थे, बहुतों के आत्म-परिजन मारे गये थे और बहुत से लोग रास्ते में लूट लिये गये थे। इन सबके फलस्वरूप कुछ शरणार्थियों का मानसिक सन्तुलन बिगड़ गया था और कुछ अपने जीवन के निश्चित उद्देश्यों के सम्बन्ध में अनिश्चित हो गये थे। ये सभी वैयक्तिक विघटन के ही लक्षण हैं। उसी प्रकार क्रांति आदि की स्थिति में भी जो राजनैतिक उलट-पलट होती है उसके फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों के जीवन संगठन का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

(१२) प्रेस भी वैयक्तिक विघटन का कारण बन सकता है। प्रेस के द्वारा प्रकाशित समाचार पत्र आदि में चोरी, डकैती, जालसाजी तथा अन्य प्रकार के अपराधों के बारे में जो विस्तृत विवरण प्रकाशित होता है उनसे लोगों को अपराध की विधियों के बारे में पता चलता रहता है। इन्हीं विवरणों को पढ़कर कुछ लोग अपराध की ओर आकृष्ट होते हैं। इन समाचार पत्रों आदि में जो अच्छी-अच्छी भोग विलास की चीजों का विज्ञापन छपता है, उनको पढ़कर व्यक्ति के मन में एक उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती है और जब इन अभिलाषाओं की पूर्ति नहीं होती है तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का विघटन होता है।

(१३) सिनेमा आधुनिक समय का एक ऐसा प्रभावशाली कारक है जो कि व्यक्तित्व को विघटित करता है। सिनेमा में लोग नाना प्रकार के अपराधों को करने की विधि प्रत्यक्षतः देखते हैं और साथ ही यह पाते हैं कि ऐसे अपराध करने वाले व्यक्ति बड़े ही ठाट-बाट और शान शौकत से रहते हैं, दूसरों पर शासन करते हैं और श्रेष्ठ सुन्दरी से शादी करने की योग्यता अर्जन करते हैं। इससे व्यक्ति में भ्रष्ट आदर्श और अभिलाषाएँ तथा दुराचारी नेताओं के अनुकरण करने की भावनाएँ विकसित होती हैं जिसका अन्तिम परिणाम वैयक्तिक विघटन ही होता है। सिनेमा से भोग विनासपूर्ण जीवन के प्रति एक आकर्षण व्यक्ति में विकसित होता है और उस



प्रकार के जीवन को वह स्वयं भी बिताने का प्रयत्न करता है। परन्तु सबके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं होता है और जिनके लिए यह असम्भव होता है वे अपने को निराशा और असफलता की एक असहनीय स्थिति में पाते हैं जिसके फलस्वरूप हो सकता है कि उनका मानसिक असन्तुलन बिगड़ जाय या फिर जुआ, जालसाजी चोरी आदि से उन अभिलाषाओं से पूर्ति करने का प्रयत्न किया जाय। सिनेमा का एक और विघटनात्मक प्रभाव यह होता है कि व्यक्ति को प्रेम और रोमान्स से एक मोह सा हो जाता है और उनके फलस्वरूप वास्तविक धरती को छोड़ कर सिनेमा अभिनेता और अभिनेत्रियों की भांति वह कल्पना लोक का सदस्य बन जाता है। जब उसकी कल्पना साकार रूप नहीं ले पाती है तभी उसका जीवन विघटित हो जाता है। यही कारण है कि किसी भी पागल खाने में रोमान्टिक प्रेमियों तथा प्रेमिकाओं का अभाव नहीं होता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक विघटन अनेक कारणों से घटित हो सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि किसी भी एक कारण से वैयक्तिक विघटन घटित नहीं होता है और ना ही प्रत्येक हर व्यक्ति पर अपना समान प्रभाव या दबाव डालने में सफल होता है। किसी व्यक्ति को यदि एक कारण अधिक प्रभावित करता है तो दूसरे व्यक्ति पर हो सकता है कि अन्य किसी कारण का अधिक प्रभाव हो। सामान्यतया वैयक्तिक विघटन को उत्पन्न करने में एकाधिक कारणों का योगदान रहता है। निम्नलिखित विवेचना से वैयक्तिक विघटन के कारणों के सम्बन्ध में और भी वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

### **वैयक्तिक मनोवृत्तियाँ और सामाजिक मूल्य तथा वैयक्तिक विघटन** (Individual attitudes and Social Values and Personal Disorganization)

एक विशेष स्थिति तथा वस्तु के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है उसे मनोवृत्ति कहते हैं। यह मस्तिष्क की चेतन दशा होती है जो कि एक परिस्थिति विशेष या व्यक्ति या वस्तु विशेष के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार से सोचने या व्यवहार करने को प्रेरित करती है। इसके विपरीत सामाजिक मूल्य वे सामाजिक लक्ष्य, आदर्श या मापदण्ड हैं जिनके आधार पर एक परिस्थिति व्यक्ति या वस्तु का मूल्यांकन किया जाता है। व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के आधार पर समाज के सामाजिक मूल्यों की व्याख्या करता है और उन पर अमल करता है, परन्तु जब व्यक्ति की व्याख्या सामाजिक व्याख्या से विपरीत होती है तो दोनों का संघर्ष अनिवार्य हो जाता है और उस स्थिति में वैयक्तिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए विवाह संस्था के प्रति व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण हो सकता है कि वैवाहिक सम्बन्ध रोमान्टिक प्रेम के आधार पर ही स्थापित किया जाना चाहिये। परन्तु विवाह संस्था का सामाजिक मूल्य बिलकुल भिन्न हो सकता है और समाज विवाह बन्धन को एक सुस्थिर बन्धन के रूप में स्वीकार करने पर बल देता है। इस पर भी यदि व्यक्ति रोमान्टिक प्रेम के आधार पर विवाह करता है और उसका वैवा-



हिक जीवन असुखी होता है तो समाज उसकी खिल्ली उड़ा सकता है या परिवार उसका बहिष्कार कर सकता है, दोनों ही अवस्था में वैयक्तिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। विघटन के अनेक उदाहरण वैयक्तिक मनोवृत्ति और सामाजिक मूल्यों में असामंजस्य के कारण होते हैं। वेश्यावृत्ति, आत्महत्या, कत्ल अथवा किशोर अपराध आदि वैयक्तिक विघटन व्यक्ति की मनोवृत्तियों व सामाजिक मूल्यों के परस्पर विरोध व संघर्ष के कारण होते हैं।

अक्सर यह देखा जाता है कि परिवर्तित समय के अनुसार व्यक्तिगत दृष्टिकोण या मनोवृत्ति तो बदल गई है पर सामाजिक मूल्यों में उसके अनुरूप परिवर्तन नहीं हुए हैं। इसके फलस्वरूप भी व्यक्तिगत मनोवृत्ति और सामाजिक मूल्यों के बीच एक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वैयक्तिक विघटन सामने आता है। सर्वे श्री थॉमस और जैन्की (Thomas and Znaniecki) का मत है कि “वैयक्तिक विघटन का एक प्राथमिक कारण सामाजिक नियमों और परिभाषाओं की अपर्याप्तता है। स्त्री और पुरुष सन्देहयुक्त और पुरानी व्यर्थ की संहिताओं के कारण एक सन्तोषजनक जीवन संगठन का निर्माण नहीं कर पाते हैं।”<sup>6</sup> एक उदाहरण के द्वारा इस स्थिति को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान शिक्षा आदि के आधार पर आज का भारतीय अन्तर्जातीय विवाह के अनुकूल मनोवृत्तियों को विकसित कर चुका है परन्तु सामाजिक मूल्य आज भी अन्तर्विवाह के ही पक्ष में हैं और घर के बड़े-वूढ़े इन्हीं सामाजिक मूल्यों को मान्यता देते हैं, इसीलिए यदि घर का एक सदस्य अन्तर्विवाह सम्बन्धी परम्परा का उल्लंघन करता है तो परिवार के द्वारा वह तिरस्कृत होता है, उसे घर से निकाल दिया जाता है और उसे अनेक प्रकार की परेशानियों व समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप वैयक्तिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे न केवल अपने समूह में रहने की इच्छा होती है बल्कि उसे अपने आत्मपरिजन व इष्टमित्रों की सहानुभूति और प्रोत्साहन की भी आवश्यकता रहती है। जब वह समूह के नियमों के प्रति उदासीन रहकर सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता है तो उसे सहानुभूति व प्रोत्साहन से वंचित रहना पड़ता है और उस अवस्था में उसके व्यक्तित्व में हीन-भाव, असफलता की भावना, निराशा और आत्म-नलानि की भावनाएँ विकसित हो जाती हैं जो कि उसके व्यक्तित्व को विघटित करने में महत्वपूर्ण योगदान करती हैं।

### सामाजिक संरचना और वैयक्तिक विघटन

(Social Structure and Personal Disorganization)

सामाजिक संरचना और संगठन में व्यक्ति सबसे प्राथमिक इकाई है। इस

6. “One of the primary reasons for personal disorganisation arises from the inadequacy of social rules and definitions. Men and women cannot build up a satisfactory life organization from dubious and obsolete codes of behaviour.” W. I. Thomas and F. Znaniecki, *Op. cit.*, p. 1647.



इकाई की सामाजिक संरचना में समाज द्वारा मान्य एक स्थिति होती है और उससे वह आशा की जाती है कि वह उस स्थिति में रहते हुए समाज द्वारा पहले से ही निर्धारित कार्यों को करता रहेगा। इसके विपरीत यह हो सकता है कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिक मनोवृत्तियों, मूल्य तथा आदर्शों के अनुसार एक विशेष पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करे या जिस स्थिति में वह है उस स्थिति से ऊँची स्थिति में जाने का प्रयास करे। यदि उसका यह प्रयास सफल नहीं होता है या यदि उसका वह प्रयास सामाजिक मनोवृत्ति तथा मूल्यों के प्रतिकूल होता है तो उसका प्रत्यक्ष संघर्ष समाज या समूह के साथ होने लगता है और उसके व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है। उदाहरण के लिए हो सकता है एक व्यक्ति साधारण व्यक्ति की स्थिति से एक धनी व्यक्ति की स्थिति में जाने का प्रयास करे और जब यह देखे कि स्वाभाविक ढंग से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हो रहा है तो हो सकता है कि वह समाज विरोधी उपायों जैसे जुआ, जालसाजी, गबन, चोरी या डकैती को अपना ले और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को विघटित कर ले।

वास्तव में आधुनिक गतिशील समाज में परिस्थितियाँ अत्यधिक द्रुत गति से परिवर्तित होती रहती हैं और उसी के अनुसार व्यक्ति की स्थितियों में भी आवश्यक परिवर्तन करने की जरूरत होती है। परन्तु या तो इन स्थितियों में आवश्यक परिवर्तनों को उतनी जल्दी नहीं किया जा सकता या परिवर्तित स्थितियों के सम्बन्ध में सामाजिक परिभाषायें स्पष्ट रूप में उपलब्ध नहीं होती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति यह निश्चित रूप में नहीं जान पाता है कि उसे वास्तव में क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इसी गड़बड़ी में जब वह ऐसा कुछ करता है जो उसे नहीं करना चाहिये तो समाज उसका विरोध करता है और वह विरोध उस व्यक्ति के लिए ऐसी स्थिति को उत्पन्न करता है जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व विघटित हो जाता है।

स्वभावतः ही प्रत्येक व्यक्ति अपने समूह में एक सुरक्षित पद व स्थिति को प्राप्त करना चाहता है जिससे कि उसकी सामाजिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति होती रहे। व्यक्ति की ये आवश्यकतायें अनेक होती हैं और इनकी पूर्ति केवल एक समूह का सदस्य बनने से या केवल एक समूह में सन्तोषजनक पद को प्राप्त कर लेने से नहीं हो सकती है। इस लिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नाना प्रकार के समूहों में रहना और उनमें से प्रत्येक समूह में एक अच्छा सा पद प्राप्त करना चाहता है। यही कारण है कि व्यक्ति परिवार का सदस्य बनता है, स्कूल में शिक्षकों का प्रिय छात्र बनना चाहता है, मित्र मण्डली में अधिक लोकप्रिय होना चाहता है और अन्य समूहों में भी इसी भाँति सन्तोषजनक पदों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। परन्तु जब इन प्रयासों में उसे विफलता प्राप्त होती है तो उसमें निराशा, असफलता तथा असुरक्षा की भावना पनपती है जिसके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विघटन होता है। उदाहरण के रूप में एक हिन्दू विधवा के मन में फिर से पत्नी की स्थिति को प्राप्त करने और माँ बनने की



अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है और इन पदों को प्राप्त करने के लिए वह विधवा अपना सब कुछ त्यागकर परिवार में किसी की भी सम्मति की अपेक्षा न करके किसी पुरुष के साथ भाग सकती है। पर इतना करने पर भी यह हो सकता है कि पत्नी या माता की स्थिति प्राप्त करने के लिए विधवा द्वारा किये गये प्रयास वित्कुल ही विफल हो जाय और वह पुरुष उससे विवाह करने के बजाये उसकी इज्जत लूटकर लापता हो जाय। ऐसी स्थिति में विधवा का वैयक्तिक विघटन हो सकता है क्योंकि उस अवस्था में विधवा आत्महत्या कर सकती है या वेश्यावृत्ति को जीने का सहारा बना सकती है।

आधुनिक जटिल समाज में प्रत्येक व्यक्ति को नाना प्रकार के पद प्राप्त होते हैं और उसी के अनुसार उसे नाना प्रकार की भूमिकाओं को निभाना पड़ता है। इसमें से बहुत सी भूमिकाएँ आपस में एक दूसरे की विरोधी भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ अपनी नौकरी के क्षेत्र में एक व्यक्ति कट्टर पुलिस अफसर हो सकता है पर पारिवारिक जीवन में उसी को स्नेहशील भैया की भूमिका भी उतनी ही कुशलता से निभानी पड़ती है। नौकरी के क्षेत्र में जो कट्टर पुलिस अफसर अभ्यस्त अपराधी से टक्कर लेता है और उन पर पिस्तोल की गोलियों की बौछार करता है वही कट्टर अफसर स्नेहशील भैया के रूप में अपनी बहन को स्टेशन पर विदाई देते समय भ्रातृभ्रातृ की बरबस धार को रोक नहीं पाता है। पुत्र के लिए वह परम पूज्य पिता है, पत्नी के लिए प्रियतम, मित्र के लिए सखा है और माँ के लिए सहारा। यह सभी विभिन्न प्रकार की स्थितियाँ हैं और इससे सम्बन्धित भूमिकाएँ भी अलग-अलग हैं। जो व्यक्ति इन विभिन्न भूमिकाओं में एक सन्तुलन स्थापित कर लेता है वह तो जीवन संगठन को सुस्थिर बनाने में सफल होता है पर जो इन भूमिकाओं के बीच अपना सन्तुलन खो बैठता है और विभिन्न स्थितियों व कार्यों को एक साथ मिलाकर एक गड़बड़ी की स्थिति उत्पन्न करता है उसी के व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है।

कुछ परिस्थितियों में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अवगुणों या असमर्थता के कारण अपनी भूमिका को उचित ढंग से निभा नहीं पाता है। यदि कोई व्यक्ति अन्धा, लूला, लंगड़ा है, अथवा मानसिक या शारिरिक दृष्टिकोण से दोष युक्त है तो वह निश्चय ही स्वाभाविक सामाजिक दौड़ में पीछे रह जायगा और उस अवस्था में वह प्रतिक्रियापूर्ण भावनाओं का शिकार बन जायगा और उसमें असफल होने की हीन भावना, निराशा, जीवन के प्रति वितुष्णा आदि विकसित होंगी, अथवा इसके विपरीत उसमें द्वेष, ईर्ष्या बदला लेने की भावना आदि भी विकसित हो सकती है और वह अपने दीन भावों की क्षति पूर्ति करने या असफलताओं को सफलताओं में बदलने के लिए समाज विरोधी कार्यों को करने में प्रवृत्त हो सकता है। किसी भी अवस्था में वह वैयक्तिक विघटन को ही आमन्त्रित करता है।

सर्व श्री इलियट और मैरिल (Elliatt and Merrill) ने लिखा है कि जिस हद तक व्यक्ति अपनी भूमिकाओं को निभाने में असफल है, यत्र बात



समाज की परिभाषा पर निर्भर करती है। अपने विगत अनुभव के आधार पर एक समाज कुछ व्यवहार प्रतिमानों को 'सामान्य' (normal) और कुछ को 'असामान्य' (Abnormal) मानता है। यही कारण है कि प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में समूह या समाज यह परिभाषित करता है कि व्यक्ति अपनी भूमिकाओं को सन्तोषजनक रूप में निभा रहा है अथवा नहीं। मोटे तौर पर वैयक्तिक विघटन उस हद से नापा जाता है जिस हद तक व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श-नियम (norm) से दूर चला जाता है।<sup>7</sup> इस कथन से यह स्पष्ट है कि समाज व्यक्ति के आचरणों को उचित या अनुचित सामान्य या असामान्य कह कर परिभाषित करता है और जिसमें व्यक्ति सामान्य आचरणों को अधिक करे और असामान्य की बहुत ही कम इसके लिए कुछ आदर्श नियमों को भी प्रतिपादित करता जो कि व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करती हैं। परन्तु अनेक व्यक्तियों के लिए यह सम्भव नहीं होता है कि समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श-नियमों के अनुसार स्वाभाविक या सामान्य (normal) आचरणों को करे। उनके आचरणों में तो अस्वाभाविकता या असामान्यता (abnormality) की मात्रा ही अधिक होती है। इसी को वैयक्तिक विघटन कहते हैं क्योंकि सामाजिक परिभाषा और आशा के अनुरूप व्यक्ति का व्यवहार, भूमिका या कार्य स्वाभाविक या सामान्य नहीं है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो लोग स्वाभाविक या सामान्य आचरण या कार्य करते हैं उनके आचरण में कुछ भी अस्वाभाविकता या असामान्यता होती ही नहीं है। जैसा कि श्री लिन्टन (Linton) का मत है, हम सभी लोग किसी न किसी रूप में समाज द्वारा प्रतिपादित भूमिका को बिल्कुल उसी रूप में निभाने में असफल रहते हैं। कोई भी व्यक्ति पूर्ण या यथार्थ रूप में समाज द्वारा बताये गये रास्ते पर बिल्कुल बीच से चल नहीं पाता है।<sup>8</sup> परन्तु जब वह उस रास्ते से बहुत ज्यादा या बिल्कुल ही हट कर चलने लगता है, तभी वैयक्तिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

आधुनिक जटिल समाज में अनेक विषयों में नये और पुराने दोनों ही प्रकार के विरोधी व्यवहार-प्रतिमान साथ-साथ चलते रहते हैं। ऐसे अनेक पद देखे जाते हैं जिनसे सम्बन्धित कार्य वर्तमान परिस्थिति में बिल्कुल असंगत प्रतीत होते हैं। समाज या समूह आज भी व्यक्ति को ऐसे अनेक कार्यों को करने को कहता है जो कि

7. "The degree to which individuals fail to play their roles is a matter of social definition.....Out of its past experience each society has come to regard certain behaviour patterns as "normal" and others as "abnormal." .....The group in every case defines whether or not the individual is playing his role satisfactorily. personal disorganization is measured roughly by the degree to which the individual departs from the socially accepted norm." Elliott and Merrill, *op. cit.*, p. 47.

8. "We all fail, in one way or another, to play exactly the role set up by the group. No one follows perfectly the *via media*, the middle way." Ralph Linton, *The Cultural Background of Personality*, Appleton—Century—Crofts, New York, 1945, pp. 151—152.



पुराने युग को देखते हुए तो ठीक थे पर वर्तमान समय व आदर्श को देखते हुए बिल्कुल ही व्यर्थ के हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में आज भी अनेक परिवार घर की बहू से घूँघट काढ़ने को तथा सास ससुर की सेवा करने को कहते हैं। पहले जमाने को देखते हुए तो ये सब ठीक था, पर आज ये सब व्यर्थ ही प्रतीत होते हैं। हो सकता है बहू को भी ये सब काम व्यर्थ ही प्रतीत हों और वह इसके विपरीत आचरण करे जिसका कि विरोध परिवार द्वारा होगा। फलतः एक संघर्ष व तनाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जो कि एक सीमा पर पहुँचकर इतना कटु हो जाय कि उस स्थिति से अपना पीछा छुड़ाने के लिए बहू को अन्त में आत्महत्या ही करनी पड़े। सास, ननद या पति के व्यवहारों या अत्याचारों से पीड़ित होकर अनेक स्त्रियाँ प्रति वर्ष आज भी भारत में आत्महत्याएँ करती हैं। इन अत्याचारों के कारणों का पता चलाने पर यह मालूम होता है कि इसका एक कारण परिवार के सदस्यों के पुराने ह्यालों, आदर्शों या मूल्यों के अनुरूप बहू आचरण करने में असफल रही है क्योंकि वह नए विचारों वाली थी।

### संकट और वैयक्तिक विघटन

(Crisis and Personal Disorganization)

सामाजिक परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति अपने जीवन-संगठन (life organization) में भी आवश्यक परिवर्तन करे जिससे कि परिवर्तित परिस्थिति से जीवन संगठन का अनुकूलन हो सके। यदि सामाजिक परिस्थितियों के बदलने की गति धीमी या सामान्य (normal) है और व्यक्ति को अपने जीवन संगठन को बदलने का पर्याप्त समय मिल जाता है तो अनुकूलन की कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती है। परन्तु यदि सामाजिक परिस्थिति एकाएक पलट जाए और व्यक्ति के सम्मुख अपने जीवन संगठन को भी एकाएक बदल कर उसको परिवर्तित परिस्थिति से अनुकूलन करने की समस्या आ खड़ी होती है तो वह अपने को एक संकट (Crisis) की अवस्था में पाता है जिसे वैयक्तिक संकट (individual Crisis) कहते हैं। ऐसे संकट से उस व्यक्ति का जीवन का कार्य-क्रम बिल्कुल उलट-पुलट सकता है। अधिकतर व्यक्ति जब तक सम्भव होता है जीवन की इन जटिलताओं से जूझते रहते हैं परन्तु कुछ लोग इस उथल-पुथल के बीच अपने जीवन संगठन का संतुलन खो बैठते हैं और अपने को वैयक्तिक विघटन की स्थिति में पाते हैं। ऐसी स्थिति अधिकतर उसी समय उत्पन्न होती है जब कि व्यक्ति अपने को एकाएक ऐसी परिस्थिति के बीच पाता है जिसकी कभी कल्पना तक उसने नहीं की है या जब वह अपने को निरन्तर एक ऐसी अवस्था के मध्य पाता है जिससे उसके व्यक्तित्व का अनुकूलन नहीं हो पाता है और उस अवस्था का इसीलिए उसके व्यक्तित्व पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिसके कारण धीरे-धीरे उसका व्यक्तित्व विघटित होता रहता है। एकाएक उत्पन्न प्रतिकूल परिस्थिति तो आकस्मिक संकट (precipitate crisis) का द्योतक है, जब कि धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाली प्रतिकूल परिस्थिति संचयी संकट (Cumulative crisis) की परिचायक है।



आकस्मिक संकट की स्थिति उत्पन्न होने पर व्यक्ति को फौरन अपने जीवन संगठन और जीवन के कार्यक्रमों को बिलकुल बदल देना या पलट देना होता है जो व्यक्ति ऐसा करने में असफल होता है वही अपने को वैयक्तिक विघटन की स्थिति में पाता है। उदाहरणार्थ, परिवार में पिता ही एक मात्र कमाने वाले हैं। लड़का अब तक पिता की कमाई के बल पर ही खूब भोज उड़ाता फिरता है और कभी भी कोई पारिवारिक उत्तरदायित्व को निभाने की बात तक नहीं सोचता है। पर यदि एकाएक पिता की मृत्यु हो जाती है तो लड़के के लिये वह अप्रत्याशित या आकस्मिक संकट ही होगा। उसे एकदम नोकरी या घन-उपार्जन करने के तरीकों को ढूँढ़ना पड़ेगा, एका-एक सारे परिवार का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लेना पड़ेगा और माँ के लिये भरोसा और भाई बहनों के लिये आश्रयदाता बनना पड़ेगा। उसकी पढ़ाई छूट जाएगी, भोज से घूमना-फिरना बन्द हो जायेगा, या दोस्तों की संगत भी छोड़नी पड़ेगी इन सब परिस्थितियों से उसे एकाएक अनुकूलन करना पड़ेगा। हो सकता है वह इस प्रयत्न में सफल हो और यह भी हो सकता है कि उसे घोर असफलता का सामना करना पड़े। आकस्मिक संकट में अनुकूलन करने में असफल व्यक्तियों का वैयक्तिक विघटन होगा। उसी प्रकार एकाएक पिता की मृत्यु के पश्चात लड़के को पिता जी की बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। इसके पहले कभी उसने इतनी बड़ी सम्पत्ति को संभाला नहीं था। उस स्थिति में भी यह हो सकता है कि उस लड़के का सफल अनुकूलन बदली हुयी जीवन-स्थिति से न हो पाये और वह उस सम्पत्ति को उड़ाने में लग जाये; घुरे यार-दोस्तों के चक्कर में पड़ कर शराब पीने लगे, जुआ खेलने लगे, दौड़-दौर या सट्टे में दाव लगाने लगे या वेश्यागमन का आदी हो जाये। इसके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विघटन होगा। इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति एकाएक दिवालिया हो जाये और उसके घरदार, घन-सम्पत्ति, व्यापार सब कुछ बिक जाये और उसे भिखारी बनना पड़े, उसे अपनी उच्च सामाजिक स्थिति से एकाएक नीचे आ गिरना पड़े, जिन लोगों पर अब तक वह शासन करता था उन्हीं की दया पर उसे अब जीवित रहना पड़े। इन आकस्मिक परिस्थितियों से हो सकता है कि उस व्यक्ति का सफल अनुकूलन न हो सके और उसमें असफलता, निराशा और जीवन के प्रति वितृष्णा की भावना इतना उग्र रूप धारण कर ले कि उसे अन्त में आत्महत्या ही करना पड़ जाये। युद्ध भूकम्प, बाढ़ आदि आकस्मिक संकटों की स्थिति में भी हो सकता है कि परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे से विछुड़ जायें, कोई मृत्यु की गोद में आश्रय ले तो कोई अनाथालय या विधवा आश्रम में, कोई चोरी करके पेट पालने का प्रयत्न करे तो कोई शरीर बेचकर, किसी के जीवन का अन्त हो जाये जेल खाने की अंधेरी कोठरी में तो कोई उसका अन्त करे आत्महत्या के अस्त्र को अपनाकर। ये सभी आकस्मिक संकट के फलस्वरूप वैयक्तिक विघटन के ही उदाहरण हैं।

संचयी संकट भी वैयक्तिक विघटन को उत्पन्न कर सकता है। ऐसे संकट धीरे-धीरे निरन्तर होने वालों अनेक घटनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। जब



ऐसा होता है तो विघटनात्मक घटनाओं का एक ऐसा क्रम चल सकता है कि उनका अन्त वैयक्तिक विघटन में होता है। उदाहरण के लिये सास-बहू में मन-मुटाव को ही लीजिये। इस प्रकार का मन-मुटाव छोटे-छोटे भगड़ों से आरम्भ होता है, पर धीरे-धीरे ये भगड़े इतने कटु हो जाते हैं कि सास बहू पर अत्याचार करना आरम्भ कर देती है और बहू एक सीमा के बाद उन अत्याचारों को सहन न कर सकने के कारण आत्महत्या कर लेती है। उसी प्रकार घर में यदि सौतेली मां बच्चे को निरन्तर सताती, मारती, पीटती रहती है तो बच्चे के लिये घर पर रहना ही एक संकट का विषय बन जाता है और उस संकट से पीछा छुड़ाने के लिये बच्चा अधिकतर घर से भाग कर रास्ते-रास्ते भटकता रहता है, बुरी संगत में फँस जाता है, धीरे-धीरे बुरी आदतों को विकसित करता है और फिर समाजविरोधी कार्यों को करने में लग जाता है और इस प्रकार वैयक्तिक विघटन की स्थिति को उत्पन्न करता है। प्रेम अथवा वैवाहिक सम्बन्धों में असंतोष धीरे-धीरे किसी के व्यक्तित्व को विघटित कर सकता है। यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति पहले थोड़े से ऋण में फँस जाये पर धीरे-धीरे ऋण लेने की आदत उसकी बढ़ती जाय और अन्त में वह एक ऐसे संकट में फँस जाए कि महाजनों और साहूकारों से अपना पीछा छुड़ाने के लिये उसे आत्महत्या करनी पड़े।

एक विघटित समाज भी व्यक्ति के जीवन-संगठन के लिये संकट उत्पन्न कर सकता है क्योंकि ऐसे समाज में अनेक परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जोकि व्यक्ति के लिये नयी तथा अपरम्परागत होती हैं और उन परिस्थितियों का सामना व्यक्ति को करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसे अनुकूलन के लिये निरन्तर जूझते रहना पड़ता है। यह व्यक्ति के लिये संकटकालीन स्थिति होती है। कुछ व्यक्तियों के लिये संकट क्रियाशीलता के लिये प्रेरक का काम करता है तथा उन्हें नये कार्यों के लिये उत्साहित करता है। परन्तु दूसरी ओर ऐसे असमर्थ व निराशावादी व्यक्ति भी मिलते हैं जो छोटे से छोटे संकट का सामना करने में भी अपने को असफल पाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का वैयक्तिक विघटन होता है। अनुकूलन की योग्यता व्यक्ति की जन्मजात क्षमताओं व प्रवृत्तियों तथा समाजीकरण की मात्रा पर निर्भर करती है।

### भारत में वैयक्तिक विघटन के प्रमुख प्रकार

(Major forms of Personal Disorganization in India)

भारतवर्ष में अधिकतर विघटित व्यक्ति उन विघटनात्मक सामाजिक परिस्थितियों के फल हैं जिनमें उनको हिस्सा लेना पड़ता है और वे हैं सामाजिक व धार्मिक रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास और परम्पराएं, निर्धनता, बेरोजगारी, आर्थिक संकट, खाद्य समस्या, असम्भव महँगाई, गन्दी बस्तियाँ, सार्वजनिक व राजनैतिक जीवन में भ्रष्टाचार, सिनेमा और पुलिस व कोर्ट। भारतवर्ष में भौतिक परिस्थितियाँ तो बदल गयी हैं और तेजी से बदल भी रही हैं, पर सदियों पुरानी सामाजिक परम्पराएं व प्रथाएं आज भी समाप्त नहीं हुई हैं और व्यक्ति को उनके अनुसार काम करने के लिये बाध्य किया जाता है। भौतिक परिस्थिति, वैज्ञानिक ज्ञान आदि व्यक्ति से



एक विशेष प्रकार के व्यवहार की मांग करता है जब कि सामाजिक परम्पराएं कुछ विपरीत प्रकार के व्यवहारों को करवाना चाहती हैं। इन दो पाटों के बीच पड़कर ही भारत के अनेक लोगों का जीवन विघटित हो जाता है। उदाहरणार्थ, भारत की भौतिक परिस्थितियां स्त्रियों को घर से बाहर की ओर खींचती है जब कि सामाजिक परम्पराएं उसे घर से बांधती हैं। इसी दो-तरफा खिंचाव में पड़कर भारतीय स्त्रियाँ बाहरी दुनिया को पकड़ने का प्रयत्न करती हैं और घर को भी संभालने का। परिणाम यह होता है कि न तो राम मिलते हैं और न ही हरी—न घर और न ही दुनिया। इससे उनके मन में जो निराशा व असफल होने की भावना पनपती है उससे उनके व्यक्तित्व का विघटन होता है। उसी प्रकार निर्धनता, बेरोजगारी, खाद्य समस्या, महंगाई आदि के कारण व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है, वह ऋण के जाल में फँसता है, जुआ खेलकर आमदनी को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, शराब पीकर जीवन की विफलताओं को भूलने का प्रयत्न करता है या चोरी, जालसाजी, गबन आदि के अंधेरी गलियों में घुसकर अपने जीवन पर भी अंधियारी को अंकुरित करता है। भारत की गन्दी-बस्तियां व्यक्ति को भयंकर रोग 'उपहार' में देती हैं, मानवता का गला घोटती हैं और नारीत्व को कौड़ी के मूल्य में बेच देने को प्रोत्साहित करती हैं। व्यक्ति मरता है—शारीरिक रूप में भी और नैतिक रूप में भी; जिन्दा रहता है एक विघटित व्यक्तित्व, अपराधी बाल-अपराधी वेश्या, भिखारी और गले में फंदा लगाकर आत्महत्या करने वाले व्यक्ति के रूप में। ये ही हैं भारत में वैयक्तिक विघटन के प्रमुख प्रकार। इनके विषय में अब हम संक्षेप में विवेचना करेंगे—

(१) वयस्क अपराधी (Adult offenders) :—वयस्क अपराधी विघटित व्यक्तित्व का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतवर्ष निर्धनता, बेरोजगारी, हड़ताल व तालाबन्दी, महंगाई, गन्दी बस्तियां यहां तक कि सामाजिक प्रथाओं के कारण भी लोग अपराधी बन जाते हैं। निर्धन व बेरोजगार व्यक्ति अपनी तथा अपने आश्रितों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता है, भूख और ऋण के दबाव से परेशान हो जाता है और अन्त में अन्य कोई रास्ता न देखकर अपराध कर बैठता है। अपराध केवल आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही नहीं किया जाता है, बल्कि यौन-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति अथवा बदला देने की भावना से भी प्रेरित होकर व्यक्ति अपराधी बन सकता है। भारतवर्ष में ऐसे अपराधियों की संख्या भी कम नहीं है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में परम्परागत नियम यह है कि विधवाएं पुनर्विवाह नहीं कर सकती हैं। यह प्रतिबन्ध अनेक बाल-विधवाओं और युवती-विधवाओं को यौन-अपराधी बनने में सहायक होता है। यौन-क्षुधा की सन्तुष्टि के लिये ये विधवायें कभी-कभी परिवार के ही किसी सदस्य या बाहर के किसी व्यक्ति के साथ अवैध यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं और अवैध सन्तानों को जन्म देती हैं। भारतवर्ष के गाँवों में जमीन की सीमा के प्रश्न को लेकर दो पक्षों में, जो कि दो सगे भाई या नाते-रिश्तेदार भी हो सकते हैं, दंगा हो जाता है जिसके फलस्वरूप कत्ल तक हो



जाता है और दोनों परिवारों को जो संकट का सामना करना पड़ता है उससे दो-चार और सदस्यों का जीवन भी विघटित हो जाता है। इन दिनों भारतवर्ष के गावों में डकैतों की संख्या पहले से कई गुना ज्यादा बढ़ गयी है। कहा जाता है कि जमींदारी उन्मूलन, अत्यधिक बेरोजगारी, निर्धनता आदि ऐसे विघटित व्यक्तित्व को उत्पन्न करने वाले प्रमुख कारक हैं। सुना जाता है कि अनेक पुराने जमींदार किसी खास धन्वे में न लग सकने के कारण लुटेरे बन गये हैं। ये लुटेरे भी विघटित व्यक्तित्व के रोचक नमूने हैं।

(२) बाल-अपराधी (Child delinquents) :—केवल वयस्क ही नहीं, कम उम्र के भी अपराधी भारतवर्ष में अधिक संख्या में हैं। आर्थिक, सामाजिक तथा शारीरिक-मानसिक कारक किशोरों के व्यक्तित्व को भी किस प्रकार और किस सीमा तक विकृत कर सकते हैं, उसका आभास इन बाल-अपराधियों के अध्ययन से ही होता है। बाल-अपराधियों को सुधारने के लिये बरेली में स्थापित 'किशोर सदन' के एक अध्ययन से यह पता चलता है कि वहां दो-तीन कत्ल करने वाले किशोर भी हैं। इनमें से अधिकतर बाल-अपराधियों ने जोश में आकर, विशेष किसी परिस्थिति में फँसकर, बदला लेने की भावना से या किसी के द्वारा भड़काने से कत्ल किया है। कत्ल का आर्थिक, पारिवारिक या शारीरिक-मानसिक कारण भी हो सकता है। यौन-सम्बन्धी अशिक्षा, अनैतिक परिवार, दबी हुए यौन-इच्छाएं आदि यौन-अपराध के कारण होते हैं। पर आर्थिक अपराध विशेषकर आर्थिक अपर्याप्तता के कारण ही होते हैं। भारत के निर्धन या बेरोजगार माता-पिता अपने बच्चों की उन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं जोकि बालकोचित होते हैं। अपनी बाल-सुलभ इच्छाओं को वे वयस्कों की भांति दबा नहीं पाते हैं और आर्थिक अपराध कर बैठते हैं। मकानों में जगह की अत्यधिक कमी के कारण भारतीय बच्चे रास्ते और गलियों पर खेलते रहते हैं जहाँ कि उनका साथ बुरे बच्चों के साथ हो जाता है और उनकी संगत में पड़कर अच्छे बच्चे भी बिगड़ जाते हैं—सिगरेट पीना शुरू करते हैं, स्कूल से भागकर मैटनी शो में दिनेमा देखते हैं, जुआ खेलते हैं या रास्ते में आवागारगर्दी करते हैं, लड़कियों को छेड़ते हैं या उनसे उसी ढंग से 'प्रेम का खेल' खेलते हैं जैसे सिनेमा में अभिनेता को खेलते देखा है। ये सब ही असंतुलित व्यक्तित्व के ही सूचक हैं।

(३) वेश्या (Prostitutes) :—वेश्याएं भी वैयक्तिक विघटन का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। भारतीय समाज में वेश्याएं अति प्राचीन काल से ही पायी जाती हैं। पहले तो इस देश में धर्म की आड़ में भी वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता था। इसका एक उत्तम उदाहरण देवदासी प्रथा है। इस प्रथा के अन्तर्गत लड़कियों को देवता की सेवा करने के लिये मन्दिरों को दान कर दिया जाता था। परन्तु इनका काम देवताओं की सेवा करना नहीं बल्कि मन्दिरों के पुजारी व पृष्ठ-पोषकों की यौन-वासनाओं की पूर्ति करना होता था। यद्यपि अब इस प्रथा का प्रायः अन्त हो गया है तथापि आज भी अनेक लड़कियां मन्दिरों और धर्म की छत्र-छाया में वेश्याओं का जीवन व्यतीत कर रही हैं। बंगाल तथा अन्य प्रदेशों के लोग



विधवाओं को विश्वनाथ मन्दिर बनारस में छोड़ जाते हैं ताकि वे वहां रहकर धर्म-कर्म में मन लगायें और विश्वनाथ जी की कृपा भिक्षा करें जिससे उनके पाप धुल जायें। परन्तु इनमें से सुन्दरी तथा युवती विधवाओं को बदमाश लोग अपने जाल में फाँसकर उनसे वेश्यावृत्ति करवाते हैं। भारतवर्ष में विधवाएं जब कोई यौन-अपराध कर बैठती हैं तो समाज व परिवार उनका बहिष्कार कर देता है। उस अवस्था में भी विधवाएं या तो आत्म-हत्या कर लेती हैं या फिर वेश्या बन जाती हैं। भारत-वर्ष में ऐसी भी अनेक स्त्रियाँ हैं जो कि बदनामी से बचने के लिये खुले-तौर पर तो वेश्यावृत्ति नहीं करती हैं पर आर्थिक कष्टों को सहन न कर सकने के कारण छुप-छुप कर वेश्यावृत्ति से धन कमाती हैं। भारतीय सिनेमा-उद्योग भी वेश्याओं की संख्या को बढ़ाता है। सिनेमा उद्योग में अनेक अतिरिक्त अभिनेत्री (extra actress) होती हैं जिनकी आमदनी बहुत कम होती है। इसीलिये उनमें जो सुन्दरी व युवती होती है वे सहज ही इस उद्योग में काम करने वाले या अन्य लोगों के भी प्रलोभन में फँस कर रूप्यों के बदले में शरीर को बेचने लग जाती हैं। इसके अतिरिक्त भारत में औद्योगीकरण के फलस्वरूप जो गन्दी बस्तियों का विकास हुआ है उनमें भी गन्दी मनोवृत्तियों की प्रधानता तथा भीड़-भाड़ व गोपनीय स्थानों की कमी के कारण स्त्रियों का नैतिक पतन होता है जोकि आगे चलकर वेश्यावृत्ति के पेशे को ही अपना लेती हैं।

(४) शराबी (alcoholist) :—शराबी भी एक विघटित व्यक्ति हो सकता है। कम से कम शराब पीना वैयक्तिक विघटन का एक लक्षण अवश्य ही है। अत्यधिक मद्यपान प्राथमिक समूह से व्यक्ति का सम्बन्ध विस्तृत हो जाने का सूचक है। आधुनिक जटिल भारतीय समाज में अनेक तनाव, चिन्तायें, निराशा, गतिरोध असफलताएँ, उत्तेजना आदि व्यक्ति के सामने समस्या के रूप में आ खड़ी हो सकती हैं जिनसे कम से कम थोड़े से समय के लिए मद्यपान छुटकारा दिला सकता है। पर जब व्यक्ति शराब पीने के विषय में इतना लापरवाह हो जाता है कि वह अपने पद और कार्य को भूल जाता है, अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता है, अपने उत्तरदायित्व को अस्वीकार करता है तथा परिवार के सुख-शान्ति के आदर्श तक को तिलांजलि देता है तो उसे हम एक विघटित व्यक्ति ही कहते हैं। शराबी का नैतिक स्तर गिर जाता है, परिवार की आर्थिक स्थिति पर वह निरन्तर हमला करके उसे पतन की राह पर खींच लाता है और फिर शराब के लिए पैसा जुटाने के हेतु वह चोरी, गबन और जालसाजी करता है, जुआ खेलता है, घुड़दौड़ पर बाजी लगाता है और दूसरों की माँ-बेटियों की इज्जत की ओर हाथ बढ़ाने में भी संकोच का अनुभव नहीं करता है। भारतवर्ष में त्यौहारों व विवाह शादी के अवसरों पर शराब पीने की जो परम्परा है उसी से आगे चलकर लोग शराब पीने के आदी हो जाते हैं और अपना व परिवार दोनों का ही सर्वनाश करते हैं। इस देश में श्रमिकों को मिल व कारखाने के अस्वस्थ वातावरण में काफ़ी घन्टे काम करना पड़ता है जिससे कि वे खूब थक जाते हैं। उस थकावट को दूर करने के लिए न तो अच्छे मकान उपलब्ध हैं और न ही मनोरंजन के उत्तम साधन।



फलतः श्रमिकों के लिये थकावट दूर करने का सबसे सरल उपाय शराब या ताड़ी पीना और वैयक्तिक विघटन को आमन्त्रित करना है।

(५) मानसिक रूप में दोषयुक्त व्यक्ति (Mentally deficient)—मनो-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वे व्यक्ति भी विघटित होते हैं जिनमें कि मानसिक रूप में कोई हीनता या दोष हो। इसी का चरम स्तर पागलपन है। ये लोग स्वयं में एक समस्या हैं। ऐसे व्यक्ति अपने परिवार, समूह या समाज के किसी भी काम में सक्रिय भाग नहीं ले सकते हैं, अपितु वे उन पर सदा के लिये ही बोझ बन कर रहते हैं। और उनके स्वस्थ जीवन निर्वाह के पथ पर निरन्तर बाधक बने रहते हैं। मानसिक रूप से दोषयुक्त या पागल व्यक्ति को लेकर सारा परिवार सदा परेशान रहता है और उनका भी सुखी जीवन चिन्ता व तनाव से भर जाता है। ऐसे लोग न तो ठीक से खाते हैं, न ठीक से पहनते हैं और न ही ठीक से सोच-विचार या काम कर सकते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे लोग घर-गृहस्थी के सामान को भी खूब नुकसान पहुँचाते हैं। अगर उनकी सनक चढ़ गई तो वे घर के सामानों को तोड़ने-फोड़ने लगते हैं, आग लगा देते हैं, यहाँ तक कि परिवार के किसी भी व्यक्ति पर घातक आक्रमण कर बैठते हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जब कि मानसिक रूप से दोषयुक्त व्यक्ति ने अपने ही पति, पुत्र या पत्नी को गला दबाकर या दूसरी किसी चीज से आघात करके मार डाला है। इतना ही नहीं, ऐसे लोगों की चिकित्सा करवाने में परिवार को जो आर्थिक हानि होती है उसका प्रभाव परिवार के अन्य सभी सदस्यों पर कभी-कभी बहुत बुरा पड़ता है। मानसिक रूप से दोषयुक्त व्यक्ति कुछ भी उचित ढंग से नहीं समझता है और अक्सर उसमें जिद्द करने, क्रोधित होने, गन्दी गालियों को मुँह से निकालने तथा यौन सम्बन्धी व्यवहारों में नग्नता प्रदर्शित करने की बुरी आदतें होती हैं, जिनसे परिवार के वयस्क सदस्यों को तो परेशानी भेलनी पड़ती ही है उसके अलावा बच्चों के समाजीकरण पर उनका बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, वे भी उन गन्दी आदतों के शिकार बन जाते हैं। मानसिक दृष्टिकोण से दोषयुक्त व्यक्तियों से सम्बन्धित एक और गम्भीर समस्या यह है कि वे सदा के लिए अपने परिवार या समाज पर बोझ बनकर रहते हैं। निर्भरता (dependency) स्वयं ही सामाजिक समस्या है जिसका कि आर्थिक परिणाम कभी भी शुभ नहीं होता है। चूँकि ऐसे व्यक्ति मानसिक क्षमताओं के विषय में हीन होते हैं, इसलिए इनको जीविका उपार्जन के सम्बन्ध में प्रशिक्षित करना भी कठिन होता है। अगर प्रशिक्षित करने का प्रयत्न भी किया जाय तो भी ऐसे व्यक्ति ऐसी लापरवाही से पेश आते हैं कि प्रशिक्षण की गाड़ी बिलकुल ही आगे बढ़ नहीं पाती है। ऐसे लोगों की चिकित्सा के लिए भी सरकार का काफी धन खर्च हो जाता है।

भारतवर्ष में ऐसे लोगों की संख्या आज काफी है। वंशानुसंक्रमण (heredity), बीमारी, असंतुलित भोजन, गरीबी, सुरक्षा की भावना का अभाव, दुर्घटना, उद्देगात्मक संघर्ष, हीन भाव, जीवन में असफलता, स्नेह या प्रेम से वंचित होना आदि मानसिक दोष, या पागलपन को विकसित करने वाले प्रमुख कारण हैं।



बहुत दिनों तक विद्वानों का यह मत था कि पागलपन या मानसिक दोष को पनपाने में वंशानुसंक्रमण का सबसे अधिक हाथ रहता है। यद्यपि केवल वंशानुक्रमण से ही ऐसा होता है यह बात नहीं, पर फिर भी माता-पिता के मानसिक दोष कुछ सीमा तक बच्चों में हस्तान्तरित हो सकते हैं, इस बात से आज सभी विद्वान सहमत हैं। ऐसे बच्चों के मानसिक दोषों को दूर करना बहुत कुछ असम्भव-सा होता है। यदि मां के गर्भ में रहते समय, या बचपन में कोई चोट लग जाय तो भी बच्चे का मानसिक सन्तुलन बिगड़ सकता है। उसी प्रकार जन्म लेते समय जिन बच्चों को यन्त्रों की सहायता से बाहर निकाल जाता है उनमें भी मानसिक दोष उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है। स्वाभाविक समय से बहुत पहले जो बच्चे जन्म लेते हैं उनका भी मानसिक विकास दोषयुक्त हो सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बच्चा खूब रोने वाला होता है तो माता या आया उसे सुलाने के लिए अफीम आदि मादक वस्तुओं को दूध के साथ घोलकर खिलाते रहते हैं। यह भी मानसिक दोष या पागलपन को उत्पन्न करने का एक प्रमुख कारण होता है। जो बच्चा अत्यधिक बीमार रहता है, उसका भी मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। संतुलित भोजन न मिलना भी इसका एक कारण हो सकता है, क्योंकि ऐसे बच्चे भयंकर रोगों के शिकार बन सकते हैं, अत्यधिक थकान का अनुभव करते हैं तथा उनमें विड़चिड़ा-पन आ जाता है जिससे मानसिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है। गरीबी व्यक्ति को किसी भी रूप में विघटित कर सकती है। गरीबी के कारण न तो संतुलित भोजन मिल पाता है और न ही रोगों की उचित चिकित्सा हो पाती है। साथ ही गरीबी के कारण परिवार में जो आर्थिक तनाव उत्पन्न होता है उससे भय असुरक्षा की भावना, अशान्ति आदि मानसिक रोग को उत्पन्न कर सकते हैं। उसी प्रकार सौतेली मां के कारण या अन्य किसी कारणवश यदि व्यक्ति स्नेह, सहानुभूति व सुरक्षा से वंचित होता है तो उसका प्रभाव भी उसके मानसिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है। बहुत से लोग अपने प्रेम में विफल होकर, प्रतिस्पर्धा में हार कर, व्यापार में हानि उठा कर या दिवालिया हो जाने पर पागल हो जाते हैं या उनका मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है।

इस समस्या का हल करने के लिए कई-एक सुझाव दिये जा सकते हैं। सबसे प्रथम सुझाव तो यही है कि जो माता-पिता मानसिक दृष्टिकोण से दोषयुक्त हैं उनको सन्तान उत्पन्न करने के अधिकार से वंचित किया जाये। साथ ही, बच्चा पैदा होते समय इस प्रकार की सावधानी बरतनी चाहिए कि बच्चे को किसी भी प्रकार की चोट न लगने पाये। भारतवर्ष में अक्सर डाक्टर व नर्स लोग अत्यन्त लापरवाही दशति हैं जिसका फल भोगना पड़ता है बच्चे को तथा उसके माता-पिता व समाज को। साथ ही, गांव में डाक्टर तथा नर्सों की कमी होने के कारण अप्रशिक्षित दाइयाँ बच्चे पैदा करवाती हैं। इस परिस्थिति को भी उन्नत करने की आवश्यकता है। भारतीय माताओं को सन्तान धारण करने तथा उनका लालन-पालन करने के विषय में अधिक प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। परिवार का संगठन



इस प्रकार का होना चाहिये कि बच्चा उद्वेगात्मक संघर्ष, हीन-भाव, असुरक्षा की भावना, अवहेलित होने की भावना या स्नेह व सहानुभूति से वंचित होने की भावना का शिकार न बन सके। पर सबसे ज्यादा आवश्यकता है गरीबी दूर करने की।

(६) आत्महत्या :—आत्महत्या वैयक्तिक विघटन का अन्तिम स्तर या चरम परिणाम है। भारतवर्ष में लोग निर्धनता से परेशान होकर, बेकारी से तंग आकर, प्रेम में असफल होकर, धार्मिक या सामाजिक नियम या परम्परा को तोड़ने के पश्चात्ताप में, आर्थिक संकट या दिवालियापन से घबराकर आत्महत्या करते हैं। इस विषय पर हम अगले एक अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

### निष्कर्ष

#### (Conclusion)

वैयक्तिक विघटन के सम्बन्ध में उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार वैयक्तिक विघटन के एकाधिक कारण हैं उसी प्रकार इसके स्वरूप भी एक नहीं हैं। वैयक्तिक विघटन सामाजिक विघटन का ही एक अंग है, इनमें से हर एक दूसरे से सम्बन्धित है और दूसरे के द्वारा प्रभावित होता है। विघटित समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक अनिश्चित व असन्तोषजनक स्थिति के बीच घसीट कर ला फेंकता है और जब वह विघटित हो जाता है तो फिर उसी को बिगड़ जाने के लिए दोषी ठहराता है, उसके विघटित व्यवहार या आचरण के लिए उसे दण्ड देता है। व्यक्ति भी बदला लेना जानता है। विघटित व्यक्ति सामाजिक सम्बन्ध, व्यवस्था व संगठन के जाल के ताने-बाने को तोड़ देता है और फिर उसी टूटे तार पर खड़े होकर समाज को चुनौती देता है और उसका मजाक उड़ाता है या फिर समाज से समस्त नाता तोड़कर समाज से भी वृहत्तर 'कुछ' में सदा के लिए विलीन हो जाता है। वैयक्तिक विघटन की यही अभिव्यक्ति है और यही परिणति भी।



राजधानी दिल्ली की अदालत ठसाठस भरी हुई है, मथुरासिंह के मुकदमे की सुनवाई हो रही है। मथुरासिंह को दिल्ली के सभी विधान-नेता खूब अच्छी तरह पहचानते हैं—पहचानती तो है उसे दिल्ली की अदालत भी क्योंकि इस अदालत में मथुरासिंह का आना-जाना तो लगा ही रहता है और हर बार अदालती कागजातों में वह छोड़ जाता है अपना विस्तृत विवरण—नाम का भी और काम का भी। मथुरासिंह ने नाम खूब कमाया है; उसकी हिफाजत सरकार के नौकर पुलिस-भाई दिल और जान लगाकर करते हैं क्योंकि थोड़ी सी निगाह चूकी या काम में ढील दी तो मथुरासिंह नाराज हो जाते हैं और नाराज होकर किसी को कुछ बताये बिना ससुर जी की ढेड़ लाख की हवेली छोड़ कर क्या मालूम कहाँ चले जाते हैं—पता तक नहीं छोड़ जाते कि चिट्ठी डाल कर ही कुशल समाचार पूछ लिया जाय या किसी को भिजवाकर उन्हें फिर बुलवा लिया जा सके। मथुरासिंह सापता हो जाते हैं—सालों के लिए। पर ससुर को दामाद का इतना ख्याल है कि उसे ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न जारी रखता है पर दामाद भी जिद्दी है; कोई नया गुल खिलाये बिना गुलिस्ताँ गुलजार करने तक को आने को राजी नहीं होता है—सरलता से पकड़ में नहीं आता है, जब तक छोटे-बड़े सभी साले खूब भीक नहीं जाते या फिर से सालों की बरात मथुरासिंह के डेरे पर घेरा नहीं डाल देती है। उस पर भी रोब कितना—दामाद के सम्मान में गोलियाँ बरसाओ, लाठियाँ चलाओ, दो-दस की जान लो तब कहीं हाथ आते हैं मथुरासिंह। बात करने में बहुत ही सज्जन, पढ़े-लिखे भी खूब हैं, बहस के जवाब में मुंह से फूल-झड़ी निकलती है। फूल जैसा ही स्वभाव है पर पत्थर जैसे कारनामों। ऐसा लगता है कि मथुरासिंह ने पक्का इरादा कर लिया है कि ससुर के बनाये किसी नियम को वह नहीं मानेगा—सबको तोड़ेगा निश्चित इरादों के साथ। केवल इरादा ही नहीं, बाहरी क्रिया भी है और ऐसी क्रिया जिससे ससुर को या ससुर के समर्थकों को बाह्य हानि हो। ससुर भी जम कर दामाद से टक्कर लेते हैं। दण्ड देते हैं मथुरासिंह के प्रत्येक कारनामों के लिए जो कुछ भी उसके (ससुर के) द्वारा बनाये गये नियमों के विपरीत है, उनका उल्लंघन है। दामाद को दण्ड मिलता है निश्चित इरादों के साथ प्रतिपादित नियमों को तोड़कर दूसरों को नुकसान पहुँचाने के लिए किये बाह्य कारनामों के लिए। ऐसे कारनामों को ही अपराध कहते हैं। मथुरासिंह भी अपराधी है—सरकारी



ग़नून के विपरीत दूसरों के धन को छीन लेने के लिए, दूसरों की जान को ले लेने के लिए, जालसाजी और ग़बन करने के लिए, दूसरों को धोखा देने के लिए, माँ-झनों की इज्जत पर हमला करने के लिए, डाका डालने के लिए। यह सभी प्रपराध हैं और इन्हें करने वाले अपराधी हैं—केवल मथुरासिंह ही नहीं मथुराप्रसाद, माधव राम, मुकुट बिहारी, मोहन लाल, मालती, माधवी और ऐसे ही कितने ही और। यह अध्याय उन्हीं अपराधों और अपाधियों की एक विनम्र रूपरेखा है।

### अपराध क्या है ?

(What is Crime)

समाज एक अति सरल व्यवस्था नहीं है। समाज के अन्तर्गत हमें अनेक प्रकार के व्यक्तियों, समूहों आदि का दर्शन होता है। इनमें से प्रत्येक यही चाहता है कि उसके हितों का या स्वार्थ की अधिकतम पूर्ति हो। इसके लिए वह दूसरों के स्वार्थों या हितों पर भी आक्रमण करने को तैयार रहता है। अगर उन्हें मनमाने ढंग से काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाए तो समाज में सुव्यवस्था व शान्ति एक ही दिन में दूर का सपना बन जाए। इसलिए समाज में व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण करने के लिए कुछ नियम होते हैं। जिनका निर्माण समाज की व्यवस्था तथा हित की रक्षा के लिए किया जाता है और समाज के प्रत्येक सदस्य से यह आशा की जाती है कि वह इन नियमों का आदर करते हुए समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों को अपने व्यक्तित्व में मूर्त व क्रियाशील रूप देगा। परन्तु प्रत्येक समाज में और प्रत्येक समय में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कि अपनी शारीरिक, मानसिक त्रुटियों के कारण या आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों के अस्वस्थ दबाव के कारण इन प्रतिमानों के अनुकूल व्यवहार नहीं कर पाते हैं और उस रूप में जाने अनजाने में सामाजिक नियमों का उल्लंघन कर बैठते हैं। इसी प्रकार समाज के नियमों का उल्लंघन करते हुए कार्य करना ही अपराध कहलाता है। ऐसा कोई समाज नहीं है जहाँ पर कि अपराध न होता हो और ऐसा कोई समय भी नहीं है जब अपराध की बात न सुनी गई हो या न सुनी जायेगी। वास्तव में अपराध सदैव उपस्थित रहने वाली एक स्थिति है, ठीक उसी प्रकार जैसे मृत्यु, बीमारी, अस्वस्थता, विघटन आदि हैं। व्यक्ति का वह आचरण जो कि सामाजिक या वैधानिक नियम के विपरीत है और इसीलिए जिसको करने की स्वीकृति समाज व्यक्ति को प्रदान नहीं करता है, विभिन्न दृष्टिकोण से, विभिन्न नाम से पुकारा जाता है जैसे नीतिशास्त्र के अनुसार ऐसे समाज विरोधी कार्य “अनैतिक कार्य” हैं, धर्मशास्त्र के अनुसार पाप हैं और समाज एवं अपराध शास्त्र (Criminology) दृष्टिकोण से अपराध कहा जाता है।

अपराध की वैज्ञानिक धारणा अभी हाल में ही विकसित हुई है, इसके पहले अपराध को एक व्यक्तिगत घटना माना जाता था, जिसका कोई भी सम्पर्क बाहरी अवस्थाओं और कारकों से नहीं था। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि



व्यक्ति कुछ अपने ही आन्तरिक या कुछ व्यक्तिगत दोषों के कारण अपराध करता है। परन्तु अब यह धारणा बिल्कुल बदल गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यता के विकास के साथ-साथ अपराध की धारणा भी परिवर्तित हो गई है। पुराने जमाने में ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करना अपराध समझा जाता था। जो भी कार्य देवी-देवताओं के दिये हुए आदेशों एवं सम्मानों के विरुद्ध होता था उसे अपराध माना जाता था। परन्तु आज परिस्थिति बदल गई है और उसके साथ साथ अपराध की धारणा भी। आज सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध व्यक्ति का वह आचरण है जो कि समाज के नियमों के विरुद्ध है और कानूनी दृष्टिकोण से राज्य-द्वारा प्रतिपादित कानून का उल्लंघन करना अपराध माना जाता है।

### अपराध का वैधानिक पहलू (Legal aspect of Crime)

अपराध व्यक्ति का एक आचरण है परन्तु इस आचरण के दो स्पष्ट पक्षों का उल्लेख आज अपराध की अवधारणा के अन्तर्गत किया जाता है। पहला पक्ष वैधानिक है जिसके अनुसार अपराध वास्तव में वही कार्य है जिसके द्वारा वैधानिक नियमों या कानूनों का उल्लंघन हो, परन्तु कानून का प्रतिपादन कुछ सामाजिक आधारों पर ही हुआ करता है इसलिए अपराध के अन्तर्गत भी एक सामाजिक आधार अवश्य ही होता है और यही है अपराध का दूसरा और समाजशास्त्रीय पहलू। इन दोनों पहलुओं को अलग-अलग समझे बिना अपराध की अवधारणा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव नहीं है। पहले हम अपराध के वैधानिक पहलू पर विवेचना करेंगे।

### अपराध की कानूनी परिभाषा (Legal definition of Crime)

कानून की दृष्टि से कानून द्वारा निषिद्ध किसी भी कार्य को करना अपराध है। दूसरे शब्दों में, राज्य द्वारा लागू किए गए किसी भी कानून को तोड़ना अपराध है। यह कानून प्रत्येक देश में पृथक्-पृथक् होते हैं, इस कारण वैधानिक दृष्टिकोण से भी उन कार्यों की कोई सामान्य सूची प्रस्तुत नहीं की जा सकती जो सार्वभौम रूप में अपराध माने जाते हैं। परन्तु सामान्यतया प्रत्येक समाज में ही कुछ ऐसे कार्यों को, जो कि समाज के अस्तित्व के लिए या सामूहिक हित की दृष्टि से हानिकारक हैं, करने की मनाही राज्य की ओर से होती है और इसे न मानने पर दण्ड दिया जाता है। पर स्मरण रहे कि कोई भी कार्य, जो कि समाज के लिए या सामूहिक हित की दृष्टि से हानिकारक है, अपराध नहीं है अगर वह कार्य अपराधी कानून (Criminal Law) के द्वारा अपराध के रूप में परिभाषित नहीं किया गया है। इस दृष्टिकोण से अपराध की कुछ परिभाषाओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :—

श्री डैरो (Darrow) के अनुसार, “अपराध एक ऐसा कार्य है जो कि देश



के कानून के द्वारा प्रतिषिद्ध हो और जिसके लिए दण्ड निर्धारित है।<sup>1</sup> सर्व श्री बार्न्स तथा टीटर्स (Barnes and Teeters) का कथन है कि अपराध, “एक इस प्रकार का समाज-विरोधी व्यवहार है जो कि जनता की भावना को उस सीमा तक भंग करे कि उसे कानून द्वारा निषिद्ध कर दिया गया हो।”<sup>2</sup>

श्री हाल्सबरी (Halsbury) के शब्दों में, “अपराध एक ऐसा गैर-कानूनी कार्य अथवा त्रुटि है जो जन-समाज के विरुद्ध अपराध है और जो उस कार्य या त्रुटिकर्त्ता को कानूनी दण्ड का भी भागीदार बना देता है।”<sup>3</sup>

श्री मैकेंजी (Mackenzie) के अनुसार, “अपराध समाज विरुद्ध केवल उन अकर्मों को प्रकट करता है जिन्हें राष्ट्रीय कानून द्वारा स्वीकार किया गया है, तथा जिनका कर्त्ता दण्ड का भागी है।”<sup>4</sup>

सर्व श्री लैण्डिस और लैण्डिस (Landis and Landis) के मतानुसार ‘अपराध वह कार्य है जिसे राज्य ने सामूहिक कल्याण के लिए हानिकारक घोषित किया है और जिसे दण्ड देने के लिए राज्य शक्ति रखता है।’<sup>5</sup>

सर्वश्री इलियट और मैरिल (Elliott and Merrill) के शब्दों में, ‘अपराध कानून के द्वारा वर्जित एक कार्य है जिसके लिये कर्त्ता को मृत्यु-दण्ड या जुर्माना या जेल, श्रमालय या सुधार-गृह में बन्दी जीवन बिताने का दण्ड दिया जा सकता है।’<sup>6</sup>

### उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या

(Explanation of the above definitions)

श्री डैरो (Darrow) ने अपनी परिभाषा में कानूनी दृष्टिकोण से अपराध को समझाने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक देश में अपराधी-कानून होते हैं और उस कानून में यह उल्लेख रहता है कि कौन-कौन से कार्यों को समाज के सदस्य नहीं कर सकते हैं। इस पर भी यदि कोई व्यक्ति उन प्रतिनिषिद्ध कार्यों को करता है तो उसके

1. “Crime is an act forbidden by the law of the land for which penalty is prescribed.” C. Darrow, *Crime—Its Causes and Punishment*, 1934, p. 1.

2. “The term ‘crime’ technically means a form of anti-social behaviour that has violated public sentiment to such an extent as to be forbidden by statute.” Barnes and Teeters, *New Horizons in Criminology*, Prentice-Hall, 1959, p. 70

3. “Crime is an unlawful act or default which is an offence against the public and the perpetrator of the act or default liable to legal punishment.”

— Halsbury

4. “Crime denotes only those offences against society which are recognized by national law and which are triable to punishment.” —Mackenzi

5. “Crime is an act which the State has declared harmful to group welfare and which the state has power to punish.” Landis and Landis, *Social Living*, New York, 1955, p. 146.

6. “.....a crime is an act forbidden by law which may be punished by death or by fine or by imprisonment in jail, work house, reformatory, or prison.” Elliott and Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros., New York, 1950, p. 91.



उन कार्यों को अपराध कहा जायेगा और चूँकि ऐसा करके उसने कानून को तोड़ने का जुर्म किया है इसलिये कानून यह भी निर्धारित कर देता है कि ऐसे कार्यों को करने वालों को क्या दण्ड दिया जायेगा ।

सर्व श्री बार्नेस तथा टीटर्स (Barnes and Teeters) ने अपराध को कानून द्वारा निषिद्ध समाज-विरोधी व्यवहार माना है । अपराध एक ऐसा व्यवहार है जो कि समाज के हित के पक्ष में नहीं होता है । इस कारण ऐसे व्यवहारों के प्रति जनता की भावना कभी प्रतिकूल नहीं होती है । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक समाज में जनता समाज के हित के दृष्टिकोण से कुछ व्यवहारों को उचित मानती है और कुछ को अनुचित । जब कोई व्यक्ति अनुचित व्यवहार करता है तो उसका तात्पर्य यह है कि वह समाज के हितों को ध्यान में नहीं रख रहा है । अतः वह जनता की भावना के विपरीत है । अपराध, समाज के हित के दृष्टिकोण से वह अनुचित व्यवहार है जो कि जनता की भावना को इतनी अधिक ठेस पहुँचाता है कि कानून ऐसे कार्यों को निषिद्ध कर देता है । चूँकि ऐसे व्यवहार सामाजिक हित व जन-भावना के प्रतिकूल होते हैं । इसलिये वे समाज-विरोधी भी हैं । इस प्रकार अपराध जनता की भावना को अत्यधिक ठेस पहुँचाने वाले कानून द्वारा निषिद्ध समाज-विरोधी व्यवहार है ।

श्री हाल्सबरी (Halsbury) की परिभाषा में अपराध को समाज या जनता के विरुद्ध एक कारनामा माना गया है । यह कार्य कानून द्वारा मान्य नहीं होता है इसलिए ऐसे कार्यों को गैर-कानूनी (unlawful) माना जाता है । चूँकि यह गैर-कानूनी है, इसलिए उस कार्य को करने वाला कानूनी तौर पर दण्ड का भागीदार होता है अर्थात् कानून उस कार्य के लिए कर्त्ता को दण्ड देता है ।

श्री मैकेन्जी (Mackenzie) की परिभाषा और भी स्पष्ट है । आपके अनुसार किसी भी कार्य को अपराध की श्रेणी में लाने के लिए दो शर्तों की पूर्ति आवश्यक है—प्रथम तो यह है कि अपराध एक ऐसा दुष्कर्म है जिसे राष्ट्र का कानून भी दुष्कर्म या अपराध कह कर स्वीकार करता है । अर्थात् अपराध वे दुष्कर्म हैं जिनका कि उल्लेख राष्ट्रीय कानून में हो; द्वितीयतः ऐसे कार्यों के लिये कर्त्ता को दण्ड भी भोगना पड़ता है और इस दण्ड का उल्लेख भी कानून में होता है ।

सर्व श्री लैंडिस तथा लैंडिस (Landis and Landis) की परिभाषा में अपराध की अवधारणा में सामूहिक कल्याण की भावना पर अधिक बल दिया गया है । प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य होता है कि वह सामूहिक कल्याण की रक्षा करे । इसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि किसी को भी ऐसे कार्यों को करने की छूट न दी जाय जिससे सामूहिक कल्याण को ठेस पहुँचे । अतः राज्य कुछ कार्यों को सामूहिक कल्याण के लिये हानिकारक घोषित करता है । ऐसे कार्यों को करना ही अपराध है और उसके लिये राज्य आवश्यक दण्ड की व्यवस्था करता है ।

सर्व श्री इलियट और मेरिल (Elliott and Merrill) ने अपनी परिभाषा में अपराध को एक ऐसा कार्य बताया है जो कि कानून के द्वारा वर्जित हो और जिसके लिये दण्ड देने की भी व्यवस्था हो । यह दण्ड नाना प्रकार का हो सकता है ।



हो सकता है कि कानून द्वारा वर्जित कार्य करने के लिये व्यक्ति को जुर्माना देना पड़े या जेलखाने में, अश्रमालय में या सुधारगृह में बन्दी जीवन बिताना पड़े। यह भी हो सकता है कि कानून व्यक्ति के कार्य को इतना अधिक गम्भीर माने कि उसके लिये उस व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड मिले।

**डा० सेथना (Sethna)** का इस सम्बन्ध में मत यह है कि अपराध “कोई कार्य या दोष है जोकि एक देश विशेष में उस समय प्रचलित कानून के अन्तर्गत दण्डनीय है।” इस परिभाषा में अपराध की दो प्रमुख विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। प्रथम तो यह कि अपराध की अवधारणा एक देश विशेष के कानून से सम्बन्धित होती है; और दूसरी यह है कि चूँकि यह कानून समय समय पर परिवर्तित भी हो सकता है इसलिए अपराध को उस समय प्रचलित कानून के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। संक्षेप में, अपराध की अवधारणा प्रत्येक समाज और प्रत्येक समय में एक-सी नहीं होती है। अपराध में विविधता व परिवर्तनशीलता का गुण होता है।

### अपराध की विशेषतायें

(Characteristics of Crime)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कानूनी दृष्टिकोण से अपराध की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) अपराध एक ऐसा कार्य है जोकि कानून द्वारा वर्जित हो। चूँकि कानून केवल बाह्य क्रियाओं का ही मूल्यांकन कर सकता है इसलिये कानून द्वारा निषिद्ध बाहरी क्रियाओं को ही अपराध कहा जाता है।

(२) एक क्रिया अपराध है या नहीं इसका निर्धारण कानून ही करता है। पर यह कानून आवश्यकतानुसार कुछ नये कार्यों को अपराध घोषित कर सकता है और कुछ अपराध को गैर-अपराधी कार्य मान सकता है। अतः अपराध को एक समय विशेष से प्रचलित कानून के सन्दर्भ में ही विवेचना करनी चाहिए। संक्षेप में, अपराध में समय तत्व (time element) होता है। एक समय में जो अपराध है, दूसरे समय में वह अपराध नहीं भी हो सकता है। अपराध की अवधारणा परिवर्तनशील है।

(३) अपराध कानून द्वारा निषिद्ध कार्य है पर कानून सब समाज में एक-सा नहीं होता है। इसीलिये अपराध की अवधारणा प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती है।

(४) अपराध से सामान्यतः सामूहिक हित को खतरा उत्पन्न होता है और इसीलिये राज्य अपने कानून के द्वारा ऐसे कार्यों को अपराध घोषित करता है जोकि सामूहिक कल्याण के लिये हानिकारक हो।

7. “A crime means any act or omission, which, under the law for the time being in force in the country concerned, is made punishable.” M. J. Sethna, *Society and the Criminal*, Leaders’ Press Ltd., Bombay, 1952, p. 66.



(५) नैतिक दृष्टिकोण से गलत या त्रुटिपूर्ण कार्य सदैव अपराध नहीं हैं यदि उस समाज के कानून ने ऐसे कार्यों को अपराध कहकर स्वीकार नहीं कर लिया है।

(६) उसी प्रकार कानूनी दृष्टिकोण से जो अपराध है वह नैतिक दृष्टिकोण से गलत या अन्याय कार्य नहीं भी हो सकता है।

(७) प्रत्येक अपराध के लिये एक निश्चित दण्ड देने की कानूनी व्यवस्था राज्य की ओर से सदा ही होती है। कानूनी दृष्टिकोण से दण्ड के बिना अपराध की अवधारणा की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

### एक क्रिया कानूनी दृष्टिकोण से कब अपराध है ?

(When an Act is a Crime from Legal Point of View)

अपराधी-कानून में केवल कौन-कौन से कार्य अपराध समझे जायेंगे इस बात की व्याख्या होती है, पर इन कार्यों को करना मात्र ही अपराध होगा, यह सोचना भी गलत है। किसी भी कार्य को अपराध कहकर घोषणा करने से पूर्व कुछ विशेष बातों का ध्यान रखा जाता है। अर्थात् कुछ आवश्यक शर्तों (essential conditions) के पूरे होने पर ही एक कार्य अपराध होता है। श्री हॉल (Hall) ने अपराध को गैर-अपराध कार्य से पृथक् करने के लिये निम्नलिखित सात परस्पर सम्बन्धित आवश्यक शर्तों का उल्लेख किया है<sup>8</sup>—

(१) कोई कार्य तब ही अपराध होगा जब उस कार्य के द्वारा कोई बाहरी परिणाम या “हानि” (harm) हो। एक अपराध का सामाजिक स्वार्थ (social interests) पर एक हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि केवल मन में ही अपराध करने की बात सोच लेना अपराध नहीं है। वास्तविक रूप में एक ऐसा कार्य होना चाहिये जिससे कि किसी को वास्तविक हानि पहुँचे; तभी उसे अपराध कहा जायेगा। यदि कोई व्यक्ति अपराध करने की ठान लेता है, पर बाद को वास्तविक रूप में कुछ करने के पहले ही उसका दिमाग पलट जाता है, तो भी उसने अपराध नहीं किया है। अपराध में केवल इरादा (intention) को ही कार्य (deed) नहीं माना जाता है।

(२) जिस कार्य से बाहरी तौर पर किसी को वास्तविक “हानि” पहुँचती है वह हानि कानून द्वारा निषिद्ध होनी चाहिए; अर्थात् ऐसे कार्यों का उल्लेख अपराधी-कानून में होनी चाहिए तभी उसे अपराध कहेंगे। इस अर्थ में समाज-विरोधी कार्य अपराध नहीं हैं, यद्यपि ऐसे कार्य अपराधी-कानून में लिपिबद्ध नहीं हैं।

(३) अपराध में अपराधी अपराध-संकल्प या इरादा (Mens rea criminal intent) का होना भी जरूरी है; अर्थात् जानबूझ कर दूसरे को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से कोई कार्य किया गया है तो वह अपराध है। भूल से दूसरे के साइकिल (cycle) को उठाकर चल देना अपराध नहीं है; या मकान में डाका पड़ने पर आत्म-रक्षा के लिए गोली चलाना भी अपराध नहीं है, अगर उस गोली से कोई

8. Jerome Hall, *General Principles of Criminal Law*, Indiana polis. 1947, pp. 8-18.



मर भी जाय तो भी नहीं।

(४) अपराध में 'आचरण' (conduct) का होना भी आवश्यक है। अर्थात् अपराध को जानबूझ कर की गयी (intentional) या लापरवाही से की गयी (reckless) क्रिया या निष्क्रिया (inaction) का होना आवश्यक है जिससे कि हानिकारक परिणाम घटित हो। इस अर्थ में कानून द्वारा निषिद्ध कार्यों को स्वयं करना ही नहीं अपितु इस प्रकार के कार्यों को करने में दूसरे की सहायता करना या दूसरे को बाध्य करना भी अपराध है। यदि राम श्याम को रुपया देकर उसके द्वारा मधु की हत्या करवा देता है तो कानूनी दृष्टिकोण से राम वास्तविक अपराधी है और चूँकि श्याम ने उसके उस कार्य में उसकी मदद की है इस कारण श्याम भी अपराधी है। उसी प्रकार यदि किसी को शारीरिक रूप में बन्दूक के घोड़े को दबाने के लिए बाध्य किया जाय तो वह कत्ली नहीं है, यदि बन्दूक की गोली से कोई मर भी जाय।

(५) अपराध में 'आचरण' और 'अपराधी-इरादे' का संयोग या मिलन (fusion or concurrence of mens rea and conduct) होना आवश्यक है। अपराधी-इरादा है किसी की हत्या करने का, पर बाह्य क्रिया के द्वारा उसे नहीं किया गया, या हत्या की गयी पर अपराधी-इरादे के बिना ही ऐसा हुआ, इन दोनों व्यवहारों को अपराध नहीं कहेंगे। पर यदि अपराधी-इरादे से बाह्य क्रिया द्वारा किसी की हत्या की गई है तो वह अपराध है।

(६) अपराध में कानून द्वारा निषिद्ध हानि (legally forbidden harm) तथा ऐच्छिक दुराचरण (voluntary misconduct) में एक कारणात्मक (causal) सम्बन्ध होना आवश्यक है। एक व्यक्ति जिसने अपना इनकम टैक्स रिटर्न (income tax return) भर कर नहीं भेजा है उसका 'आचरण' (conduct) यह है कि उसने जानबूझ कर सम्बन्धित फार्म (form) प्राप्त नहीं किया, स्याही दवात का प्रयोग नहीं किया, फार्म को भरा नहीं और उसे भेजा नहीं। उस व्यक्ति के इस आचरण से कानून द्वारा निषिद्ध 'हानि' यह हुई कि वह 'रिटर्न' सम्बन्धित विभाग में नहीं पहुँचा, आय-कर निश्चित नहीं किया जा सका और सरकार को नुकसान हुआ। इसमें 'आचरण' और 'हानि' में एक कारणात्मक सम्बन्ध स्पष्ट है। इसके विपरीत यदि एक व्यक्ति किसी पर गोली चलाता है (आचरण) और उसके फलस्वरूप बह जख्मी हो जाता है पर उस जख्म के अच्छे होने के दौरान में उस व्यक्ति की एकाएक मृत्यु (हानि) हो जाती है तो इसमें आचरण व हानि में कोई स्पष्ट और सीधा कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। इसलिये गोली चलाने वाले व्यक्ति को कत्ली नहीं माना जाएगा।

(७) अपराध के लिये कानूनी तौर पर निर्धारित दण्ड भी होना आवश्यक है। कानूनी तौर पर 'हानि' का उल्लेख होना ही पर्याप्त नहीं है, जब तक उस 'हानि' को पहुँचाने वाले व्यक्ति को क्या दण्ड दिया जायेगा, इसका उल्लेख भी कानून में न हो। दुराचरण का दण्ड कानून के द्वारा अवश्य मिलना चाहिए।



प्रोफेसर डोनाल्ड आर० टैफ्ट (Prof Donald R. Taft) के विचारों का भी उल्लेख इस सन्दर्भ में आवश्यक है।<sup>९</sup> आपने कानूनी तौर पर अपराध-निर्धारण के निम्नलिखित माप-दण्डों (criteria) का उल्लेख किया है—

(क) किसी कार्य के अपराध होने के लिये यह आवश्यक है कि उस कार्य को करने वाला या कर्ता 'उपयुक्त आयु' (competent age) का होना चाहिए। यदि वह उस आयु से कम है तो वह अपराधी नहीं, बल्कि बाल-अपराधी (delinquent) कहलाता है और उसका कार्य अपराध नहीं, बाल-अपराध माना जाता है और इसीलिये उसके साथ कानून वैसा व्यवहार नहीं करता है जैसा कि अपराध करने वाले व्यक्ति के साथ। इंग्लैण्ड के सामान्य कानून (English Common Law) तथा भारतीय दण्ड विधान संहिता (I. P. C.) के अनुसार सात वर्ष से कम आयु का बच्चा अपराध नहीं कर सकता है क्योंकि उसमें उस आयु तक अपराधी-इरादे (mens rea or criminal intent) का विकास नहीं हो पाता है। भारतवर्ष में १६ वर्ष से कम आयु के बच्चों द्वारा किये गये दुराचरणों को बाल-अपराध के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

(ख) अपराध में कार्य का ऐच्छिक (voluntary) होना अर्थात् बिना किसी बाध्यतामूलक दबाव के कार्य का घटित होना आवश्यक है। यह दबाव (compulsion) बाहरी तौर पर देखा जा सकने वाला तथा अपराधी कार्य से तत्कालीन सम्बन्धित (immediately related) होना चाहिये। हो सकता है कि माता-पिता की अवहेलना, सौतेली माँ का दुर्व्यवहार, परिवार के सदस्यों की अनैतिकता बच्चे पर बचपन से ही बुरा प्रभाव या दबाव डालता रहे जिसके फलस्वरूप वह युवावस्था पर पहुँच कर अपराध करे—तो इस प्रकार के अप्रत्यक्ष तथा बहुत पहले के दबाव को अपराध के निर्धारण में अदालत द्वारा ध्यान नहीं दिया जाता है।

(ग) अपराध में 'अपराधी इरादे' (criminal intent) का होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अदालत में यदि यह प्रमाणित किया जा सके कि एक व्यक्ति, जिसने कि दूसरे व्यक्ति को मार डाला है, नहीं जानता था कि मार डालना कानूनी तौर पर गलत काम है, या वह यह नहीं जानता था कि बन्दूक के घोड़े को दबाने से गोली निकलती है और उससे दूसरे व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है या वह यह नहीं जानता था कि बन्दूक में गोली है और इसीलिये उसने बन्दूक इस इरादे से नहीं चलाई कि उसे किसी की हत्या करनी है—अर्थात् बन्दूक चलाते समय उसने बिना किसी बद-नियत (mens rea or a guilty mind) के ही बन्दूक चलायी थी, तो इन अवस्थाओं में अदालत उसे अपराधी नहीं मानेगी। इसके विपरीत, एक गलत इरादे (wrongful motive) को दर्शाने की आवश्यकता नहीं होती है। इरादा अपराध का कारण है; यह अपराध के कारण का प्रातीतिक पक्ष (subjective



aspect of the causation of crime) होता है।

(घ) अपराध के निर्धारण में कभी-कभी 'इरादे की मात्रा' (degrees of intent) को भी ध्यान में रखा जाता है और उसी के अनुसार दण्ड भी दिया जाता है। उदाहरणार्थ, एक अपराधी-कार्य को करने वाले चार व्यक्ति हो सकते हैं। उन चारों व्यक्तियों का अपराध प्रमाणित होने पर यह आवश्यक नहीं कि सबको बराबर बराबर सजा मिले। हो सकता है कि एक को दस वर्ष की कैद, दूसरे को पांच वर्ष की और शेष दो जनों को तीन-तीन वर्ष की कैद की सजा मिले। ऐसा इसलिये होता है कि 'इरादे की मात्रा' प्रत्येक व्यक्ति की एक सामान नहीं भी हो सकती है। यह भी हो सकता है कि उन चार अभियुक्तों में एक या दो को बिल्कुल ही रिहा कर दिया जाय, क्योंकि अदालत की राय में उनमें इरादे की मात्रा शून्य या ना के बराबर है। अतः स्पष्ट है कि अपराध करते हुए पकड़े जाने पर भी एक व्यक्ति कानूनी तौर तक अपराधी नहीं है जब तक उसका अपराधी-इरादा प्रमाणित न हो जाए और अदालत उसके कार्य को 'अपराध' घोषित न कर दे।

(ङ) कानूनी तौर पर अपराध एक ऐसा कार्य है जो राज्य के लिये हानिकारक (An injury to the State) है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हत्या, डकैती, बलात्कार (rape) आदि अपराध नहीं हैं क्योंकि इससे केवल व्यक्ति को ही हानि होती है। आधुनिक जटिल समाज में राज्य अपने को नागरिकों का संरक्षक मानता है और उस रूप में नागरिकों को होने वाली अनेक ऐसी हानियों को राज्य अपनी स्वयं की हानि मानता है जिससे सामूहिक हित या कल्याण को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। स्मरण रहे कि आधुनिक कानून के अनुसार 'व्यक्ति राज्य की सम्पत्ति हैं' (Individuals are the State property)। यही कारण है कि आत्म-हत्या को भी अपराध माना जाता है, क्योंकि अपने स्वयं को मार कर भी उसने राज्य की सम्पत्ति को ही नष्ट किया है।

### अपराध का सामाजिक पहलू (Social aspect of Crime)

कानूनी दृष्टिकोण से अपराध कानून द्वारा निषिद्ध कार्य है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि अगर समाज में अपराधी कानून न हो तो उस समाज में "अपराध" की अवधारणा भी न होगी, या अगर समस्त अपराध-कानूनों को समाप्त कर दिया जाए तो अपराध भी समाप्त हो जायेंगे। ऐसा सोचना गलत है। अपराधी-कानून किसी भी कार्य को अपराध माने न माने, सामाजिक तौर पर अपराध की अवधारणा सदैव ही रहेगी। केवल उसके स्वरूप या प्रकारों में अन्तर अवश्य आ जायेगा। उदाहरणार्थ, यदि आज चोरी करना कानूनी दृष्टि से अपराध न माना जाये तो ऐसे कार्यों को करने वालों को कानूनी तौर पर दण्ड नहीं मिलेगा पर समाज अपनी जान-माल की रक्षा के लिए ऐसे कार्यों का विरोध अवश्य करेगा और अपने ढंग से ऐसे व्यक्तियों को दण्ड भी देगा जो कि जान-माल के लिए खतरा उत्पन्न करेंगे। श्री सदरलैण्ड (Sutherland) ने उचित ही कहा है कि अपराध से



सम्बन्धित कानूनों को समाप्त कर देने से अपराधों के नाम और उनके करने पर दिये जाने वाले दण्ड तो अवश्य ही बदल जायेंगे, परन्तु ऐसे कार्यों के विरुद्ध सामाजिक प्रतिक्रिया (Social reaction) वास्तव में अपरिवर्तित ही रहेगी क्योंकि ऐसे कार्यों के द्वारा सामाजिक हितों (Social interests) को उतनी ही हानि पहुँचने की सम्भावना होगी।<sup>10</sup> दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन में सदैव ही ऐसे कुछ व्यवहार होंगे जिन्हें करने की स्वीकृति समाज अपने किसी भी सदस्य को कभी न देगा और अपने अस्तित्व, व्यवस्था व शान्ति के लिए ऐसे कार्यों को हानिकारक समझेगा और इसीलिए ऐसे कार्यों को करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था भी अपने ढंग से करेगा ताकि उस दण्ड के डर से लोग ऐसे कार्यों से अपने को दूर रखें और समाज में ऐसे कार्यों का सम्पादन कम से कम हो।

इस सत्यता को स्वीकर करते हुए ही अपराध की परिभाषा में उन कार्यों की प्रकृति का भी विवरण देने का प्रयत्न किया जाता है जिनको कानून निषिद्ध करता है। जिससे कि अपराध का सामाजिक पक्ष भी स्पष्ट हो जाये। इसी दृष्टिकोण से श्री गैरोफ़ालो (Garofalo) ने प्राकृतिक अपराध (Natural Crime) की अवधारणा को विकसित किया तथा दया और सत्यता की प्रचलित भावनाओं के उल्लंघन को अपराध कह कर परिभाषित किया है।<sup>11</sup> सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध को परिभाषित करते हुए श्री रेडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe Brown) ने अपराध को प्रचलित रीतियों का उल्लंघन बताया है जिसके फलस्वरूप दण्ड की अभिमति (Penal Sanction) को लागू किया जाता है।<sup>12</sup> उसी प्रकार, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिभाषा देते हुए सर्वश्री थॉमस तथा जैनकी (Thomas and Znaniecki) ने लिखा है कि अपराध ऐसी क्रिया है जो उस समूह की एकता और संगठन का विरोधी हो, जिसे व्यक्ति अपना मानता हो।<sup>13</sup>

डा० हैकरवाल (Haikerwal) ने अपनी परिभाषा में अपराध के सामाजिक पक्ष को और भी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार, "सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध या बाल-अपराध व्यक्ति का एक ऐसा व्यवहार है, जो कि उन मानव-सम्बन्धों की व्यवस्था में बाधा डालता है जिसे कि समाज अपने

10. "The name of the behaviour would be changed but behaviour and the societal reaction to the behaviour would remain essentially the same, for the "social interests" damaged by the behaviour would remain essentially unchanged." E. H. Sutherland, *Principles of Criminology*, New York, 1960, p. 14.

11. "Crime is a violation of the prevalent sentiments of pity and probity." R. Garofalo, *Criminology*, Little Brown, Boston, 1914, p. 59.

12. "Crime is a violation of usage which give rise to the exercise of the penal system."  
—Radcliffe-Brown

13. "Crime is an action which is antagonistic to the solidarity of that group which the individual considers as his own. W. I. Thomas and F. Znaniecki, *The Polish Peasant in Europe and America*, Knopf, New York, 1927, Vol. II, pp. 1753—1755.



अस्तित्व के लिए मौलिक शर्त के रूप में मानता है।<sup>14</sup>

सर्वश्री इलियट और मैरिल (Elliot and Merrill) के अनुसार, “वास्तव में अपराध का अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों में एक विघ्न और वह विघ्न क्या है? इसके सम्बन्ध में एक सामाजिक परिभाषा से है।”<sup>15</sup>

### उपरोक्त परिभाषाओं की व्याख्या

(Explanation of the above definition)

अपराध के सामाजिक पहलू को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उपरोक्त परिभाषाओं को थोड़ा और विस्तार में समझ लिया जाय। श्री गैरोफ़लो (Garofalo) ने समाज में प्रचलित नैतिक आदर्शों के आधार पर अपराध को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध सामाजिक भावनाओं पर आघात करता है और एक इस प्रकार की परिस्थिति को उत्पन्न करता है जिसमें कि समाज का स्वाभाविक जीवन और नैतिक आदर्श भंग हो जाय।<sup>16</sup> श्री गैरोफ़लो ने सामाजिक भावनाओं में अपराध के सन्दर्भ में दया और सत्यता को अत्यधिक महत्व दिया है। अपराध इन्हीं दो भावनाओं का उल्लंघन है।

श्री रेडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध को परिभाषित करने के लिए सामाजिक रीतियों पर बल देना उचित समझा है। उनका विचार है कि प्रत्येक समाज में कुछ प्रचलित रीतियाँ होती हैं जिससे कि सामाजिक जीवन का अस्तित्व बना रहता है क्योंकि ये रीतियाँ सदस्यों को रोज के जीवन से सम्बन्धित कार्यों को करने में सहायक सिद्ध होती हैं और जब इन्हीं प्रचलित रीतियों को तोड़ा जाता है तो समाज का रोज का जीवन विघटित हो जाता है। इसलिए समाज को बाध्य होकर इन रीतियों को तोड़ने वाले व्यक्तियों को दण्ड देने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

सर्व श्री थॉमस तथा जेननकी (Thomas and Gananiecki) ने अपराध को सामाजिक एकता और संगठन के संदर्भ में परिभाषित किया है। ऐसी कोई भी क्रिया जो सामाजिक एकता व संगठन को भंग करती है अपराध है। सामाजिक जीवन बिताने के लिए व्यक्ति को समूह का सदस्य होना पड़ता है। इस समूह को वह अपना मानता है और उसकी एकता और संगठन को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है क्योंकि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति इसी समूह की एकता और संगठन पर निर्भर है। इसीलिए जिस समूह को व्यक्ति अपना मानता है। उसकी एकता और

14. “From the social point of view crime or delinquency implies such behaviour of the individual as interferes with the order of human relationships which society regards as primary condition of its existence.” Dr. Haikerwal, *Economic and Social Aspects of Crime in India*, Oxford University Press, London, 1927, p. 27.

15. “A crime *ipso facto* implies a disturbance in social relationship and a social definition as to what such a disturbance is.” Elliott and Merrill, *op. cit.*, p. 91.

16. R. Garofalo, *Op. cit.*, p. 60.



गठन को कोई तोड़े यह भी वह सहन नहीं कर सकता और उसके विरुद्ध एक गतिविधि करता है और उनमें सबसे पहला यह कि वह ऐसी क्रियाओं को अपराध शोषित करता है।

डाक्टर हैकरवाल (Haikerwal) की परिभाषा से अपराध के सामाजिक गहलू पर और भी आलोकपात होता है। समाज मानवीय सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था इस उद्देश्य से विकसित की जाती है कि समाज का अस्तित्व बना रहे और समाज के सदस्यों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकाधिक हो सके। दूसरे शब्दों में समाज के अस्तित्व के लिए एक मौलिक शर्त यह है कि उन विशिष्ट सम्बन्धों को बनाये रखा जाये जिसके आधार पर समाज व्यवस्था का निर्माण होता है। इसलिये यदि किसी व्यक्ति का व्यवहार इस व्यवस्था को बनाये रखने के रास्ते पर रोड़ा बन जाता है तो स्वयं समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। समाज व्यवस्था के लिये इस प्रकार का खतरा उत्पन्न करने वाले व्यवहार या क्रिया अपराध हैं। ऐसे व्यवहारों या क्रियाओं से मानव सम्बन्ध टूटता है और मानवीय सम्बन्ध में गड़बड़ी उत्पन्न होने से सामाजिक व्यवस्था का बना रहना भी सम्भव नहीं होता है इसी कारण ऐसे व्यवहार अपराध हैं।

सर्वश्री ईलियट और मैरिल (Elliott and Merrill) का कथन है कि प्रत्येक अपराध का एक सामाजिक पक्ष अवश्य ही होता है और उसे ध्यान में रखते बिना अपराध की अवधारणा को वास्तविक रूप में नहीं समझा जा सकता है। प्रत्येक अपराध में एक परिस्थिति (Situation) तथा उस परिस्थिति की एक सामाजिक परिभाषा होती है। और सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध एक ऐसी अवस्था है जो कि सामने सामाजिक सम्बन्धों की उचित व्यवस्था को नष्ट करती है या सरल रूप में, जो कि सामाजिक सम्बन्धों में गड़बड़ी उत्पन्न करती है। परन्तु यह अवस्था कब अपराधी अवस्था कहलायेगी यह समाज के द्वारा निश्चित व परिभाषित होती है। अपराधी तथा गैर-अपराधी के आचरणों का निर्धारण उन सामाजिक मूल्यों (Social Values) के द्वारा होता है जिसे बृहत्तर समूह महत्वपूर्ण मानता है। दूसरे शब्दों में समाज अपने महत्वपूर्ण सामाजिक मूल्यों के आधार पर यह निश्चित करता है कि किन-किन आचरणों या कार्यों को अपराध माना जायेगा और किन को नहीं। चूँकि यह सामाजिक मूल्य प्रत्येक समाज में एक-सा नहीं होता है। इसीलिये प्रत्येक समाज में अपराध एक ही तरह के आचरणों या व्यवहारों को अपराध नहीं माना जाता है। उदाहरण के लिये भारत में पर-व्यक्ति गमन (Adultery) एक वण्डनीय अपराध है। जब कि फ्रांस में वहाँ के सामाजिक मूल्यों के अनुसार उसे केवल एक अशुद्ध व्यवहार के रूप में ही परिभाषित किया जाता है। वास्तव में जो लोग समाज के स्थापित व महत्वपूर्ण मूल्यों को अस्वीकार करते हैं या उनके अस्तित्व को खतरे में डालते हैं, या उनका विरोध करते हैं, उन्हीं को समाज अपराधी करार देता है। चूँकि ऐसे व्यक्ति सामाजिक मूल्यों और मानवीय सम्बन्ध-व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न करते हैं इसलिए उन्हें सही रास्ते पर लाने के उद्देश्य से स्थापित नियमों



या सिद्धान्तों के अनुसार दण्डित किया जाता है। यह दण्ड क्या और कितना होना इसका निर्धारण भी सामाजिक मूल्यों तथा ऐकमत्य (Consensus) के आधार पर होता है।

सर्व श्री बार्न्स और टीटर्स (Barns and Teeters) ने इन्हीं सब बातों का ध्यान रखते हुये लिखा है कि “अपराध एक ऐसी क्रिया है जिसको समूह पर्याप्त रूप से खतरनाक समझता है और ऐसे कार्यों के लिये अपराधी को दण्डित करने या रोक-थाम करने के लिये लिये एक निश्चयात्मक सामूहिक प्रतिक्रिया की आवश्यकता भी अनुभव करता है।”

**एक क्रिया सामाजिक दृष्टिकोण से कब अपराध है ?**

(When an act is a Crime from Social [Point of View])

श्री सदरलैण्ड (Sutherland) के अनुसार, सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध के तीन आवश्यक तत्व हैं—(अ) एक मूल्य (Value) जो एक समूह अथवा समूह के भाग द्वारा, जो राजनैतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हो सम्मानित किया हो, (ब) इस समूह में एक दूसरे भाग का होना जो कि उस मूल्य के अधिक या कम विरोधी हो और इस कारण उसके लिए घातक सिद्ध हो, और (स) एक सुस्पष्ट या उचित दण्ड व्यवस्था का होना जिसे कि उस मूल्य को आदर करने वाले मूल्यों का अनादर करने वालों पर लागू करते हैं।<sup>17</sup>

प्रोफेसर टैफ्ट (Taft) ने सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध के दो पक्षों का उल्लेख किया है जो कि निम्नलिखित हैं:—<sup>18</sup>

(१) वह कौन सा कार्य अपराध है या किन कार्यों से समाज और समूह को हानि पहुँच सकती है इसका निर्धारण या तो पिछले अनुभवों के आधार पर आधारित रुढ़ियों के द्वारा, या जनता के मतों के आधार पर या उस प्रभुताशाली समूह के विचारों के आधार पर जो कि प्रतिमानों को निश्चित करता है, नैतिक नियमों को परिभाषित करता है, इन नियमों को मानने वालों को पद प्रदान करता है तथा उन्हें तिरस्कृत करता है जो कि इन नियमों का उल्लंघन करते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध वह कार्य है जिन्हें समाज अपनी स्वीकृति नहीं देता है। समाज द्वारा अस्वीकृत (Socially disapproved) कार्यों को अनैतिक, पाप, अपरम्परागत या अपराधी क्रिया कहा जा सकता है। इस प्रकार की क्रिया करने वाले को दण्ड देने की व्यवस्था

17. “Crime may be considered.....to involve three elements : a value which is appreciated by a group or a part of a group which is politically important ; isolation of or cultural conflict in another part of this group so that its members do not appreciate the value or appreciate it less highly and consequently tend to endanger it ; and pugnacious resort to coercion decently applied by those who appreciate the value to those who disregard the value.” E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 15.

18. Donald R. Taft, *Criminology*, The Macmillan Co., New York, 1956, pp. 8—9.



समाज अपने ढंग से करता है, यद्यपि अदालत पुलिस, जेलखाना आदि जैसी दण्ड देने की संस्थात्मक व्यवस्था नहीं होती है। समाज के दण्ड देने का तरीका सादा और सरल होता है, जैसे समाज व समूह से उसका बहिष्कार करना, उसके साथ सामाजिक सम्बन्ध को तोड़ देना, उसे उसकी सामाजिक स्थिति से नीचे उतार देना, उसकी खिलियाँ उड़ाना या उसे पापी दुराचारी आदि कहकर सम्बोधित करना। किसी भी स्थिति में सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध करने वाले व्यक्ति की सामाजिक स्थिति गिर जाती है। इस प्रकार सामाजिक दृष्टिकोण से कार्यों की गम्भीरता सामाजिक स्थिति पर पड़ने वाले उनके प्रभावों द्वारा निर्धारित होता है।

(२) कानूनी दृष्टिकोण से वह व्यक्ति अपराधी है जिसने कि भूतकाल में कोई ऐसा काम किया है जो कि कानून के द्वारा दण्डनीय है। परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से हम समाज की अपराधी व्यक्ति के भविष्य के कार्यों से रक्षा करने के सम्बन्ध में अधिक सचेत रहते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध वह क्रिया है जिससे कि भविष्य में सामाजिक सम्बन्ध या व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक परिभाषा व्यक्ति के भूतकाल के व्यवहारों की अवहेलना करती है। ऐसे व्यवहारों को भी वह ध्यान में रखता है क्योंकि भूतकाल के व्यवहार के आधार पर उसके भविष्य के सम्भावित कार्यों के सम्बन्ध में अन्दाजा लगाया जा सकता है। साथ ही पिछले दुष्कर्मों को बार-बार दोहराने से भी सामाजिक जीवन के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है। फिर भी सामाजिक रूप में भविष्य का अधिक ध्यान रखा जाता है। प्रोफेसर टैफ्ट (Taft) के शब्दों में, सामाजिक दृष्टिकोण से दण्ड का उद्देश्य हिसाब को बराबर करना नहीं, ना ही अपराधी से बदला लेना है, अपितु इस सम्बन्ध में निश्चित होना है कि वह अपने अपराधों को दोहरायेगा नहीं। दण्ड को तभी व्यवहार में लाया जायेगा जब कि पुनरावृत्ति को रोकने का वही एक मात्र रास्ता हो या जब यह आशा होगी कि दण्ड दूसरे को अपराध करने से रोकेगा”<sup>19</sup>

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम उन आधारों का उल्लेख कर सकते हैं जिनके आधार पर एक क्रिया सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध कहलायेगी— (क) सामाजिक दृष्टिकोण से वह कार्य अपराध है जो कि मानव सम्बन्धों में विघ्न उत्पन्न करता है। (ख) कौन से कार्य सामाजिक सम्बन्धों के लिए घातक हैं इसकी परिभाषा समाज अपने स्थापित तथा स्वीकृत मूल्यों के द्वारा करता है। अतः सामाजिक दृष्टिकोण से वह कार्य अपराध है जो कि समाज के स्वीकृत मूल्यों, आदर्शों या भावनाओं के विपरीत है। (ग) सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध व्यक्ति का एक ऐसा व्यवहार है जो कि समाज व्यवस्था या एकता के लिए खतरा

19. “From the social view point the purpose of punishment is not to balance accounts or to take vengeance upon a criminal, but to assure that he will not repeat his crimes. Punishment will be used when it is the only way to prevent repetition or when it can be shown that it will deter others from committing crimes.” Donald R. Taft, *op. cit.*, p. 9.



उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप स्वयं समाज का अस्तित्व अनिश्चित हो जाने का अन्देशा रहता है। (ड) सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध वह क्रिया है जिसको करने वाले के प्रति समाज के महत्वपूर्ण समूह की एक विरोधी प्रतिक्रिया होती है और इसीलिए वे ऐसा प्रयत्न करते हैं जिससे कि भविष्य में ऐसे कार्य दोहराये न जायें या कम से कम हों। (च) सामाजिक तौर पर जिसे अपराधी माना जाता है उसे दण्ड देने की व्यवस्था समाज स्वयं अपने ढंग से करता है और उस व्यवस्था को लागू करने के लिए कोई न कोई संस्थागत संगठन समाज में अवश्य ही होता है जैसे भारतवर्ष में पहले पंचायत व्यवस्था थी।

### अपराध की सापेक्षिका

#### (The Relativity of Crime)

अपराध कानूनी दृष्टिकोण से और साथ ही सामाजिक दृष्टिकोण से सापेक्ष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अपराध एक स्थिर धारणा नहीं है बल्कि एक परिवर्तनशील धारणा है। अपराध की धारणा पृथक्-पृथक् समय, स्थान और परिस्थितियों में परिवर्तित होती रहती है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी शासनकाल में भारतवर्ष में सैनिक कर्मचारियों के लिए “जयहिन्द” शब्द का प्रयोग अपराध था, पर आज वही उनके परस्पर अभिवादन की एक आवश्यक विधि है। उसी प्रकार प्रत्येक समाज में अपराध की धारणा पृथक्-पृथक् हो सकती है। उदाहरणार्थ, हमारे समाज में बूढ़े माता-पिता की सेवा करना और उनकी रक्षा करना प्रत्येक सन्तान का पवित्र कर्त्तव्य समझा जाता है और उन्हें मारना तो दूर रहा उनको किसी प्रकार से हानि पहुँचाने वाले को सामाजिक दृष्टिकोण से पातक और कानूनी दृष्टिकोण से अपराधी कहा जाता है, पर एस्किमों (Eskimos) लोगों में बूढ़े माता-पिता को मार डालना ही सन्तान का आवश्यक कर्त्तव्य है।<sup>20</sup> अगर पुत्र ऐसा नहीं करता है तो पिता अपने पुत्र से सामूहिक कल्याण के लिए अपने कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए कह सकता है। उसी प्रकार परिस्थिति के अनुसार भी अपराध की धारणा बदलती रहती है। आत्म-रक्षा के लिए गोली चलाकर किसी को मार डालना अपराध नहीं है, पर गोली चलाकर किसी को डराकर उसका धन छीन लेना अपराध है। जिन राज्यों में नशा निषेध लागू है वहाँ पर बीमारी की परिस्थिति में डाक्टर द्वारा बतलाये गये नुक्सों के अनुसार शराब पीना अपराध नहीं है परन्तु साधारण परिस्थितियों में ऐसा करना अपराध है। वास्तव में कानूनी तौर पर अपराध को निर्धारित करने वाला कानून, या सामाजिक तौर पर अपराध को निर्धारित करने वाले सामाजिक मूल्य आदर्श आदि स्वयं ही निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं—कोई तेजी से तो कोई धीमी रफ्तार से। जब कानून को निर्धारित करने वाले आधार स्वयं ही परिवर्तनशील हैं तो अपराध का भी परिवर्तनशील होना स्वाभाविक ही है। ये आधार चूँकि प्रत्येक समाज में एक से नहीं होते हैं, समय-समय

20. Robert E. L. Faris, *Social Disorganization*, The Ronald Press Co., New York, 1955. p. 169.



पर बदलते रहते हैं और उन परिस्थितियों की भी समय-समय पर फिर से व्याख्या की जाती है, इसलिए अपराध की धारणा पृथक्-पृथक् समाज समय और परिस्थिति में एक सी नहीं रहती है। इस कारण कानूनी या सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध को एक स्थिर धारणा समझने का भ्रम नहीं होना चाहिये।

### अपराध और समाज-विरोधी कार्य

(Crime and Anti-social Act)

कुछ लोग अपराध की धारणा को उचित आधारों पर विवेचित किये बिना ही उसकी जटिलता से बचने के उद्देश्य से कह देते हैं कि समाज-विरोधी कार्य ही अपराध है, परन्तु यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है। अगर ऐसा नहीं होता तो संसार के समस्त समाज-मुधारकों को, जिन्होंने समाज के प्राचीन सड़े-गले सिद्धान्तों, ग्रन्थ विश्वासों और भावनों के विरुद्ध कदम उठाया, फाँसी के तख्ते पर लटकना पड़ता। पर ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। यह आवश्यक नहीं है कि समस्त समाज-विरोधी कार्य अपराध ही हों। अनेक व्यापारी लाखों रुपये का लाभ अनुचित तरीके से करते हैं और आम जनता को हानि पहुँचाते हैं, पर उनके इन कार्यों को अपराध नहीं कहा जा सकता है। हाईड्रोजन बम का प्रत्येक प्रयोग (Experiment) अनेक व्यक्तियों की प्राणहानि का कारण ही नहीं बनता बल्कि जनता के स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा प्रभाव डालता है, पर कानून की दृष्टि से उन प्रयोगों को अपराध नहीं कहा जा सकता है। उसी प्रकार राजा राममोहनराय के समाज सुधार कार्यों को भी अपराध कहकर परिभाषित नहीं किया जा सकता। उन्होंने समाज की प्रचलित प्रथाओं जैसे सती-प्रथा, बाल विवाह प्रथा, विधवा विवाह पर रोक आदि के विरुद्ध क्रियात्मक कदम उठाया था और समाज के रूढ़िवादी अंग या लोग उन्हें समाज का शत्रु ही मानते थे, फिर भी उन्हें कानूनी दृष्टि से कभी अपराधी नहीं माना गया।

जिस प्रकार समस्त समाज-विरोधी कार्य अपराध नहीं हैं, उसी प्रकार समस्त अपराध भी समाज-विरोधी नहीं होते। भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में अर्थात् सिपाही विद्रोह में स्वतन्त्रता अभिलाषी अनेक सैनिक और राजा सम्मिलित हुए थे। उस समय प्रचलित ब्रिटिश कानून के अनुसार वे सब राजद्रोही होने के कारण घोर अपराधी थे; परन्तु उन्हें समाज-विरोधी नहीं कहा जाता है। नेता जी सुभाष ब्रिटिश कानून की दृष्टि से घोर अपराधी थे, पर देश उन्हें अपने सर्वश्रेष्ठ नेता के रूप में सम्मानित करता था। अतः अपराध की किसी विवेचना में उपर्युक्त दो बातों का ध्यान रखना उचित होगा।

### अपराधों का वर्गीकरण

(Classification of Crimes)

अपराध एक प्रकार के नहीं होते हैं और इसी कारण अपराधों का वर्गीकरण विभिन्न तरीके से किया जाता है :—

(१) अपराध की गम्भीरता पर आधारित वर्गीकरण—अनेक राज्यों में



कानून की दृष्टि से अपराधों को दो भागों में बाँटा गया है—(क) हल्के अपराध (misdemeanor) और (ख) गम्भीर अपराध (felony)। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत उन अपराधों को सम्मिलित किया जाता है जो कि अधिक गम्भीर नहीं हैं और जिनके लिए कम अवधि का कारावास अथवा कम जुर्माने (fine) की व्यवस्था रहती है। ऐसे अपराधों के उदाहरण मद्यपान, जुआ, असावधानी या लापरवाही से मोटर चलाना आदि हैं। दूसरी श्रेणी में गम्भीर अपराधों को सम्मिलित किया जाता है। ये इतने गम्भीर अपराध होते हैं कि ऐसे अपराधों के लिए आजन्म या दीर्घकालीन कारावास अथवा मृत्यु दण्ड तक की सजा दी जा सकती है। ऐसे अपराधों के उदाहरण हत्या, देशद्रोह आदि हैं।

(२) अपराधों के उद्देश्य के आधार पर वर्गीकरण—श्री बोंगर (Bonger) ने अपराधियों के अपराध करने के उद्देश्य के आधार पर अपराधों को चार भागों में वर्गीकृत किया है—(अ) आर्थिक अपराध (Economic Crimes) जैसे चोरी, गबन (embezzlement) आदि। (ब) यौन अपराध (Sexual Crimes) जैसे बलात्कार आदि। (स) राजनैतिक अपराध (Political Crimes) जैसे राजद्रोह। (द) विविध अपराध (Miscellaneous Crimes) : इसके अन्तर्गत विशेषकर उन अपराधों को सम्मिलित करते हैं जो बदला (Vengeance) लेने की भावना से किये गये हैं जैसे, हत्या, मकान में आग लगा देना आदि। श्री हेज (Hayes) ने भी अपराधों के उद्देश्य के आधार पर अपराधों को तीन मुख्य भागों में बाँटा है—(अ) व्यवस्था के विरुद्ध अपराध (Crime against order) जैसे शराब पीकर सार्वजनिक रास्तों में घूमना, दंगा करना आदि। (ब) सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध (Crime against property) जैसे चोरी, गबन, जलसाजी आदि। (स) व्यक्ति के विरुद्ध (Crime against person) जैसे हत्या, बलात्कार आदि।

**अपराधी कौन हैं ?**

(Who is a Criminal ?)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह स्पष्ट ही है कि अपराधी वह है जो अपराध करे अर्थात् जो अपराधी-कानून को तोड़े। परन्तु वास्तव में केवल अपराधी-कानूनों को तोड़ने से ही कोई व्यक्ति अपराधी नहीं कहा जायेगा जब तक वह पकड़ा न जाय, और पकड़े जाने पर भी वह अपराधी नहीं है जब तक अदालत में उसका अपराध प्रमाणित न हो जाय और वह अपराधी घोषित न कर दिया गया हो। कानून की दृष्टि में वह व्यक्ति अपराधी नहीं है जिसने समाज-विरोधी कार्य किए हैं जब तक वैसे कार्य से कोई अपराधी कानून न भंग होता हो।

इसके विपरीत सामाजिक दृष्टिकोण से अपराधी उस व्यक्ति को कहेंगे जिसने सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण किसी संस्थात्मक (Institutional) नियम जैसे प्रथा या रूढ़ि आदि को तोड़ा है। इस प्रकार सती-प्रथा या बाल विवाह प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाने वाले समाज के शत्रु समझे गए। पर साथ ही सामाजिक दृष्टि से वह व्यक्ति अपराधी नहीं अगर वह समाज कल्याण या जनता की भलाई के लिए



कुछ अन्यायी कानूनों को तोड़ता है। इस अर्थ में गाँधी जी का नमक कानून (Salt Law) का उल्लंघन अपराध नहीं था, न ही झांसी की रानी कभी अपराधिन कहलायेगी।

## अपराधियों का वर्गीकरण

(Classification of Criminals)

(१) लॉम्ब्रोसो का वर्गीकरण—श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) का विश्वास था कि अपराधियों का अलग एक 'टाइप' (Type) होता है जो कि कुछ प्राणि-शास्त्रीय विशेषताओं के आधार पर स्वयं प्रकट होता है। इसी निष्कर्ष के आधार पर लॉम्ब्रोसो ने अपराधियों को निम्नलिखित चार भागों में बांटा है—(क) जन्म-जात अपराधी (Born Criminals)—इस प्रकार के अपराधियों को अपराध करने में सहायक कुछ विशेषतायें या गुण अपने माता-पिता से वंशानुसंक्रमण के द्वारा ही प्राप्त हो जाते हैं। (ख) अपस्मारी या पागल अपराधी (Epileptic or Insane Criminals)—लॉम्ब्रोसो का कथन है कि प्रत्येक जन्म-जात अपराधी अपस्मारी होता है, यद्यपि सभी अपस्मारी व्यक्ति जन्म-जात अपराधी नहीं होते। इस प्रकार के मस्तिष्क के रोग ऐसे अपराधियों में जन्म से ही होते हैं जिसके कारण वे प्रायः अपराध कर बैठते हैं। (ग) भावोद्वेग अपराधी (Criminals by Passion)। (घ) आकस्मिक अपराधी (Occasional Criminals)—इस प्रकार के अपराधी प्रायः किसी विषम परिस्थिति में पड़कर अपराध करने को बाध्य होते हैं।

(२) हेच का वर्गीकरण—श्री हेच (Hayes) ने अपराधियों के अपराध की प्रकृति की दृष्टि में रखते हुए उन्हें चार भागों में बांटा है। वे निम्न हैं—(अ) प्रथम दोषी (first offender), (ब) आकस्मिक अपराधी (Occasional Delinquent), (स) अग्रस्त अपराधी (Habitual Delinquent) और (द) पेशेवर अपराधी (Professional Criminal)।

(३) सदरलैंड का वर्गीकरण—श्री सदरलैंड (Sutherland) ने अपराधियों को दो भागों में बांटा है—(अ) निम्न-वर्ग अपराधी (Lower-class Criminals)—ऐसे अपराधी निम्न सामाजिक और आर्थिक वर्गों के सदस्य होते हैं और कोई अपराध करने पर इन पर अपराधी-कानूनों को कठोरता से लागू किया जाता है। अपनी आर्थिक विवशताओं के कारण बहुधा इनके निरपराध होने पर भी इन्हें दण्ड भुगतना पड़ता है। (ब) सफेद पोश अपराधी (White collar Criminals)—इस श्रेणी के लोग ही वास्तव में गम्भीर अपराधों को करते हैं, परन्तु अपनी उच्च सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण प्रायः कानून की आंखों में धूल भोंकते रहते हैं और पकड़े जाने पर भी बेदाग छूट जाते हैं। श्री सदरलैंड का मत है कि सफेद पोश अपराधियों की संख्या प्रत्येक समाज में काफी अधिक होते हुए भी पुलिस रेकार्ड में इनका उल्लेख बहुत कम मिलता है। अपराध करने और अपराध को छिपाने दोनों कार्यों में ही ये लोग निपुण होते हैं।



### अपराध और पाप (Crime and Sin)

संक्षेप में, अपराध समाज या राज्य के नियमों का उल्लंघन है अर्थात् समाज या राज्य के विरुद्ध कार्यों को अपराध कहा जाता है। इसके विपरीत पाप ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन या ईश्वर के विरुद्ध कार्य है। श्री डेरो (Darrow) के अनुसार “पाप ईश्वर के विरुद्ध अपराध, दैवी नियम का उल्लंघन है और उस नियम के विरुद्ध कोई विचार, इच्छा, शब्द, कार्य या वृत्ति है।”<sup>21</sup> (१) पाप का आधार धर्म है और इस कारण पाप की धारणा उचित या अनुचित, तर्कयुक्त या तर्कहीन, न्याय और अन्याय दोनों ही हो सकती है। यह एक प्रकार का अन्धविश्वास है और इस कारण हो सकता है कि उसमें नैतिक या वैधानिक या सामाजिक तत्व का अभाव हो, क्योंकि अगर होता तो डार्विन (Darwin), गैलिलिओ (Galileo) आदि को इतने अत्याचार सहन न करने पड़ते। इसके विपरीत अपराध एक सामाजिक या कानूनी धारणा है। कुछ पाप कर्मों में सामाजिक तत्व अवश्य ही रहते हैं, जैसे हत्या करना पाप और अपराध दोनों हैं, परन्तु ईश्वर भजन न करना पाप है, अपराध नहीं। (२) पाप और अपराध में दूसरा अन्तर यह है कि पाप की धारणा रूढ़िवादी है, यह बहुत कम परिवर्तित होती है क्योंकि इसका आधार धर्म या ईश्वर है। इसके विपरीत अपराध की धारणा परिवर्तनशील है—यह समय और आवश्यकतानुसार परिवर्तित होती रहती है इसका तात्पर्य यह हुआ कि दैवी नियमों का कठोरता से पालन करके पाप से बचना ही अपराध से बचना न होगा, कभी-कभी उल्टा भी हो सकता है। बहुधा पाप से बचने के लिए कुछ लोग ऐसे अनेक कार्य कर डालते हैं जो कि अपराध होते हैं। (३) पाप और अपराध में अन्तिम भेद यह है कि पाप क्या है इसका निर्णय धार्मिक मूल्यों द्वारा होता है, जबकि अपराध क्या है इसका निर्णय अपराधी-कानून के अनुसार न्यायालयों द्वारा होता है।

### अपराध और व्यभिचार (Crime and Vice)

व्यभिचार को बहुधा अपने स्वयं के प्रति अपराध कह कर परिभाषित किया जाता है, क्योंकि यह एक व्यक्ति का वह आचरण है जो स्वयं करने वाले के लिए ही हानिकारक होता है जिसके कारण उसका अधःपतन और अन्त में समाज को हानि हो सकती है। व्यभिचारी आचरण के द्वारा सर्वप्रथम मनुष्य अपने को पतित करता है और फिर उस आचरण के द्वारा अन्य व्यक्तियों को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार वह संक्रामक रोग की तरह फैलने की प्रवृत्ति रखता है और इस कारण ऐसे कार्यों को समाज को बाध्य होकर रोकना पड़ता है। मद्यपान, जुआ, वेश्यागमन आदि व्यभिचार के अच्छे उदाहरण हैं। इस प्रकार व्यभिचार और अपराध में अन्तर

21. “Sin.....is an offence against God, a transgression against the divine law and is any thought, desire, word, act or omission against that law.” Darrow, *op. cit.*, p. 27.



स्पष्ट है। व्यभिचार स्वयं करने वाले के लिए हानिकारक होता है, जबकि अपराध दूसरों के लिए हानिकारक होता है। अपराध अपराधी-कानून को तोड़ना होता है जबकि व्यभिचार सदाचार के नियमों का उल्लंघन होता है।

### अपराध और अनैतिकता (Crime and Immorality)

अनैतिकता आन्तरिक कर्त्तव्य-बोध के अभाव या अच्छे बुरे की विचारहीनता को कहते हैं जो कि न्याय, पवित्रता, सत्यता और ओचित्यता के विरोधी हो। इसी अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित के आधार पर प्रत्येक समाज में कुछ नैतिक संहिता (moral codes) होती हैं, जैसे बूढ़े माता-पिता की सेवा करना, सच बोलना, ईमानदारी का जीवन बिताना इत्यादि। इस नैतिक संहिता का उल्लंघन ही अनैतिकता है। इससे स्पष्ट ही है कि एक कार्य अनैतिक या पाप होने पर भी अपराध नहीं भी हो सकता है, अगर अपराधी-कानून के अन्तर्गत उसे अपराध नहीं माना गया है। जैसे भूठ बोलना अपराध नहीं है अगर उसके द्वारा जालसाजी, भूठी गवाही देना आदि का काम न किया जाय। परन्तु नैतिक संहिता के अन्तर्गत भूठ बोलना सदैव ही अनैतिक कार्य है, केवल कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर जैसे, रोगी को धीरज देने के लिए भूठ बोलना आदि। संक्षेप में, अपराध में बाह्य-क्रिया भी होना आवश्यक है, जबकि अनैतिकता में भावना और उद्देश्य भी महत्वपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक अनैतिक कार्य का दण्ड राज्य या न्याय के द्वारा नहीं दिया जाता है, पर प्रत्येक अपराध का दण्ड निश्चित होता है।

### अपराध और वैयक्तिक अधिकार-अपहरण (Crime and Tort)

कानून में उल्लिखित वह कार्य जिसके द्वारा वैयक्तिक अधिकारों का अपहरण हो या वह हानि जिसको हर्जाना देकर पूरा किया जा सके कानूनी पुस्तकों में "टार्ट" कहा जाता है। श्री अण्डरहिल (Underhill) के अनुसार "टार्ट संविदा से स्वतन्त्र एक भूल है जिसका परिणाम—(अ) दूसरे के कुछ स्वतन्त्र अधिकारों का अपहरण होना है जिसका कि वह अधिकारी है, या (ब) दूसरे को प्राप्त कुछ ऐसे अधिकारों का अपहरण होना है, जिससे उसे वास्तविक नुकसान हो, या (स) व्यक्ति के ऐसे सार्वजनिक अधिकारों का अपहरण होना है, जिससे व्यक्ति को ऐसा विशेष और वास्तविक नुकसान हो जो सामान्य जनता द्वारा सहन किए जाने वाले नुकसान से अधिक हो।" इस प्रकार अपराध और टार्ट में अन्तर स्पष्ट है कि (१) टार्ट में वैयक्तिक अधिकारों का अपहरण प्रमुख तत्व है जबकि अपराध में कानूनी अधिकारों का अपहरण प्रमुख है। (२) टार्ट में व्यक्तिगत हानि होती है, अपराध समाज के विरुद्ध अन्याय और समाज को हानि पहुँचाने का प्रयत्न समझा जाता है। (३) टार्ट में गलती करने वाले को हानि प्राप्त व्यक्ति या पक्ष को हर्जाना देना होता है; अपराध में अपराधी को जुर्माना, कैद या मूल्य दण्ड तक भोगना पड़ता है। अपराध में जो हर्जाना भी देना पड़ता है, वह दण्ड के अतिरिक्त होता है। (४) टार्ट में हानि



प्राप्त पक्ष कार्यवाही करता है अर्थात् अदालत से प्रार्थना करता है कि गलती करने वाले को हजना देने को बाध्य करे, जबकि अपराध में राज्य स्वयं ही अपराधी को दण्ड देने को सदैव तत्पर रहता है, क्योंकि अपराध राज्य के कानूनों का ही उल्लंघन है।

### अपराध के सिद्धान्त (Theories of Criminality)

अपराध एक सार्वभौमिक और शाश्वत (eternal) प्रक्रिया है, बिल्कुल उसी भाँति जिस प्रकार समाज स्वयं सार्वभौमिक और शाश्वत है।<sup>22</sup> सामाजिक संगठन और एकता को बनाये रखने के लिए प्रत्येक समाज या राज्य अनेक नियमों और कानूनों को लागू करता है और प्रत्येक समाज में ऐसे कुछ व्यक्ति अवश्य ही होते हैं जो इन नियमों और कानूनों का उल्लंघन करके उस सामाजिक संगठन और एकता को बनाये रखने के रास्ते में बाधक सिद्ध होते हैं। प्रत्येक समाज में ही ऐसा हुआ है, और ऐसा ही होता रहेगा। अपराध इस प्रकार अन्तहीन अवस्था (ever-present condition) है। केवल इतना ही नहीं, इटालियन अपराधशास्त्री (Italian criminologist) गियारगियो फ्लोरिता (Giorgio Florita) का तो यहाँ तक विश्वास है कि अपराध समाज में स्वाभाविक (normal) है जबकि मनुष्य द्वारा बनाये हुए नियमों और कानूनों को ही वास्तव में अस्वाभाविक (abnormal) कहना चाहिये।<sup>23</sup>

जिस प्रकार अपराध सार्वभौमिक और स्वाभाविक है, उसी प्रकार अपराधों के कारण के सम्बन्ध में विभिन्न मत भी प्रत्येक समाज में प्रचलित हैं। दूसरे शब्दों में अति प्राचीन काल से ही अपराध के कारणों को ढूँढ़ निकालने और उन्हें समझाने का प्रयत्न “विशेषज्ञों” ने अपने ढंग से किया है जिसके कारण समय-समय पर नये सिद्धान्तों का भी उद्भव हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में हम कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

#### (१) शास्त्रीय सिद्धान्त (Classical Theory)

यह सिद्धान्त सुखवादी मनोविज्ञान (hedonistic psychology) पर आधारित है। इस मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य अपने व्यवहारों को उससे मिलने वाले सुख और दुःख के अनुसार परिचालित और नियंत्रित करता है। अगर उसे किसी कार्य के करने पर दुःख की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्ति की पूर्व-आशा (anticipation) हो तो वह उस कार्य को स्वतः ही करने को तैयार हो जाता है, पर अगर उसे सुख की अपेक्षा अधिक दुःख प्राप्ति की पूर्व-आशा हो तो ऐसे कार्यों को करना वह

22. Prof. Frank Tannenbaum, Foreward to *New Horizons in Criminology* 1st Edition, 1943, p. v.

23. G. Florita, *Enquiry into the Causes of Crime*, Journ., *Crim. Law*, Vol. 44, No. 1, (May-June, 1953), pp. 1—16.



पसन्द नहीं करता। इस विषय में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र इच्छा (free will) होती है जिस कारण वह स्वतन्त्रतापूर्वक सुख प्राप्ति के आधार पर यह निश्चित करता है कि उसे कौन-सा कार्य करना है, और किन कार्यों के करने से बचना है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपराध इसीलिए करता है कि उस कार्य के करने में उसे दुःख की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्ति की पूर्व-आशा होती है। इस सिद्धान्त को अपराधशास्त्र पर सर्व प्रथम लागू करने का श्रेय श्री बेकैरिया (Beccaria) को है। आपके अनुसार—(१) सुख और दुःख ही मनुष्य के समस्त व्यवहारों का आधार हैं। (२) कानून का उल्लंघन करने वाले सभी व्यक्तियों को अपराध के अनुपात में बिना उसकी आयु, मानसिक स्थिति, धन, पद या परिस्थिति को देखे हुए, एक-सा दण्ड मिलना चाहिये। इससे समानता के सिद्धान्त का पालन होगा। (३) दण्ड इतना कठोर होना चाहिये कि उससे प्राप्त दुःख, अपराधी-कार्य करने से प्राप्त सुख से अधिक हो जिससे लोग अपराधी-कार्य करने से बचने का प्रयत्न करें। (४) कार्य (act) न कि इरादा (intent) अपराध द्वारा दिये गये नुकसान को नापने का मापदण्ड होना चाहिये। (५) दण्ड का उद्देश्य अपराधी को अपराध करने से रोकना होना चाहिये न कि सामाजिक बदला (Social revenge)। (६) अपराधी को दण्ड जल्दी और निश्चित रूप से मिलना चाहिये। (७) जज का कार्य अपराध को निश्चित या निर्धारण (determination) करना है, दण्ड निर्धारण कानून का कार्य है।<sup>24</sup>

बाद में दण्ड की समानता के विचार में दो परिवर्तन किये गये—(अ) बच्चों और पागलों को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये क्योंकि उनमें इतनी बुद्धि नहीं होती कि वे सुख और दुःख का हिसाब लगा सकें। (ब) दण्ड बिल्कुल ही अपरिवर्तनीय नहीं होना चाहिये बल्कि उसमें जज के लिए थोड़ा बहुत हेर-फेर करने की सम्भावना रहनी चाहिये।

**समालोचना (Criticism)**—उपर्युक्त अभिमत के निम्नलिखित दोष हैं:—

(१) यह सर्वथा अन्याय है कि सभी अपराधियों को बिना उनकी आयु, लिंग, मानसिक स्थिति और परिस्थिति को देखे हुए ही एक-सा दण्ड दिया जाय। दण्ड के उद्देश्य की पूर्ति इससे नहीं हो सकती। (२) समान दण्ड की धारणा अव्यावहारिक ही नहीं, हानिप्रद भी है। यह सभी स्वीकार करेंगे कि एक पक्के अपराधी या अभ्यस्त अपराधी के लिए जो दण्ड उपयुक्त है वह एक प्रथम या आकस्मिक अपराधी के लिए कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। (३) उपर्युक्त सिद्धान्त में एक कमी यह भी है कि इसमें अपराधी के इरादे (intent) पर ध्यान न देकर केवल उसके द्वारा पहुँचाये गये नुकसान को ही अपराध का मापदण्ड माना गया है। (४) यह कहना भी गलत है कि अपराधी अपराध करने से पहले सुख और दुःख का कोई हिसाब लगाता है। एक कार्य करने से पहले उसके करने से कितना दुःख या सुख प्राप्त होगा



यह हिसाब लगाना असम्भव-सा जान पड़ता है विशेषकर उन अपराधों में जो कि उत्तेजना या आवेग द्वारा चालित होते हैं।

## (२) मौलिक सिद्धान्त

### (Geographical or Cartographic Theory)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में फ्रांस के सर्वश्री क्वेट्लेट (Quetlet) तथा ग्वैरी (Guerry) थे। ये अपने सिद्धान्त में इस बात को प्रमाणित करना चाहते थे कि अपराध कुछ विशेष भौगोलिक और सामाजिक क्षेत्रों में पाये जाते हैं। श्री क्वेट्लेट का विश्वास था कि व्यक्ति के प्रति अपराध तथा हिंसात्मक अपराध गर्म प्रदेशों में अधिक होते हैं, जबकि सम्पत्ति के प्रति अपराधों का आधिक्य ठंडे देशों में होता है। साथ ही, वे स्थान जहाँ घनी आबादी (Congestion) होती है अपराधियों के जन्म-स्थान हुआ करते हैं। श्री मांटेस्क्यू (Montesquieu) ने अपनी पुस्तक 'Spirit of Laws' में यह विचार प्रकट किया है कि जैसे-जैसे हम भूमध्य रेखा की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे अपराध की दरें भी बढ़ती जाती हैं, और उत्तरी या दक्षिणी ध्रुवों की ओर बढ़ने के साथ-साथ मद्य सेवन अधिक मिलता है। उपर्युक्त सिद्धान्त का सबसे उल्लेखनीय दोष यह है कि इसमें अपराध की प्रक्रिया को अत्यधिक सरल मान कर उसे केवल भौगोलिक क्षेत्रों से सम्बन्धित माना है। इस प्रकार की कल्पना वास्तविकता को समझने के रास्ते में बाधक मात्र है।

## (३) समाजवादी सिद्धान्त

### (The Socialistic School)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और एन्जिल्स (Engels) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधों की व्याख्या आर्थिक कारकों के आधार पर ही करनी उचित होगी। अपराध का मुख्य कारण आर्थिक विषमतायें और वर्ग संघर्ष (class struggle) है। पूँजीवादी आर्थिक संगठन में ये दोनों तत्व सदैव ही उपस्थित रहते हैं और इसी कारण पूँजीवादी समाज में अधिक अपराध होते हैं। इसके विपरीत समाजवादी आर्थिक संगठन में आर्थिक असमानता और वर्ग संघर्ष न होने के कारण अपराध भी कम होते हैं। सामान्य रूप से, इस सिद्धान्त के अनुसार- प्रत्येक मनुष्य की कुछ प्राथमिक आवश्यकतायें (जैसे भोजन, कपड़े और निवास स्थान) होती हैं। मनुष्य सर्वप्रथम इन आवश्यकताओं की पूर्ति फिर कहीं “इतिहास का निर्माण” करता है और इसी कारण जब उसकी ये प्राथमिक आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पाती हैं तभी उसे अपराध का रास्ता अपनाना पड़ता है। यह सिद्धान्त सबसे पहला सिद्धान्त था जो कि वैज्ञानिक पद्धति द्वारा एकत्रित तथ्यों पर आधारित था, और सामान्य रूप से आज भी साधारण जनमत इस सिद्धान्त के पक्ष में ही है और इस कारण शायद आर्थिक असमानताओं को दूर करना या जनता को अधिकाधिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना प्रत्येक कल्याण राज्य अपना प्रथम कर्तव्य मान रहा है। इस सम्बन्ध में यह याद रखना है कि इस अभिमत का विकास मूल रूप से अपराध के अध्ययन के लिये नहीं हुआ था



फिर भी अपराध के अध्ययन में यह काफी सहायक सिद्ध हुये हैं। साथ ही कुछ समालोचकों का यह कथन भी गलत है कि इस अध्ययन में समस्त मानव व्यवहार का एकमात्र कारण आर्थिक ही माना गया है। ऐसा कदापि नहीं है, सर्वश्री मार्क्स और एन्जिल्स ने अपने अनेकों लेखों में इस भ्रान्त धारणा के प्रति बारम्बार ध्यान आकर्षित करते हुये यह स्पष्ट रूप से कहा है कि आर्थिक कारक एकमात्र कारक कदापि नहीं हैं, हां सर्वप्रमुख कारक अवश्य ही हैं।

#### (४) प्ररूपवादी सिद्धान्त (Typological Theory)

प्ररूपवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन अभिमतों का विकास हुआ है। इन तीनों अभिमतों का सामान्य आधार यह है कि अपराधियों को गैर-अपराधियों से व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओं (Traits) के आधार पर अलग किया जा सकता है और इन विशेषताओं के कारण ही अपराधियों का अपना एक टाइप (Type) होता है। ये विशेषतायें जन्मजात होती हैं और सामाजिक परिस्थितियों और प्रक्रियाओं का कोई भी हाथ अपराधी व्यवहार को निश्चित करने में नहीं हुआ करता है। ये तीनों अभिमत संक्षेप में निम्न हैं :—

(क) इटैलियन या लॉम्ब्रोसियन अभिमत—अपराधी जन्मजात होते हैं (The Italians or Lombrosians—Criminals are born)—इस अभिमत के प्रवर्तक श्री सीज़र लॉम्ब्रोसो (Cesare Lombroso, 1836-1909) और उनके अन्तरंग शिष्य श्री एनरिको फेरी (Enrico Ferrie) थे जिन्होंने कि अपराधियों को एक जन्मजात टाइप (Born Criminal Type) माना। श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) प्रारम्भ में सेना में एक चिकित्सक के रूप में कार्य करते थे। उस दौरान में आपने यह पाया कि दुःखदायी और उत्पाती सैनिकों की शारीरिक विशेषताओं में अनेक अनोखेपन थे जब कि नियम और कानून के अनुसार उचित व्यवहार करने वाले सज्जन सैनिकों में उस प्रकार की असाधारण और अनोखी शारीरिक विशेषताओं का नितान्त अभाव था। आपने यह भी देखा कि उत्पाती सैनिकों के शरीर के विभिन्न अंगों में गुदाई (Tattoo) से जो चित्र बने थे वे भद्दे और अश्लील थे, जबकि सम्य और भरोसे के योग्य सैनिकों के शरीर पर सरल और श्लील चित्र गुदे हुये थे। इससे श्री लॉम्ब्रोसो इस निष्कर्ष पर आये कि शरीर पर गुदवाई चित्र सैनिकों के स्वभाव की सूचक होती है।<sup>25</sup> साथ ही, आपके मस्तिष्क में इस उपकल्पना (Hypothesis) का जन्म हुआ कि मानसिक प्रवृत्तियों और शारीरिक विशेषताओं का एक अति घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और अपराधी व्यवहार शारीरिक विशेषताओं में अनोखापन या दोषों के कारण ही पनपता है। इसी उपकल्पना के आधार पर श्री लॉम्ब्रोसो ने इटली की जेलों में अपराधियों का अध्ययन किया। इन अध्ययनों ने उनकी पूर्व-उपकल्पना की पुष्टि की।

इस सम्बन्ध में श्री लॉम्ब्रोसो को अन्तिम निष्कर्ष पर पहुंचने का अवसर तब

25. See Barnes and Teeters, *New Horizons in Criminology*, Prentice-Hall, New York, 1959, pp. 125—126.



मिला जब आपने एक प्रसिद्ध डाकू (Vilella) की मृत्यु के बाद उसकी खोपड़ी (Skull) और मस्तिष्क (Brain) का अध्ययन किया। आपको उसके मस्तिष्क में कुछ विलक्षणतायें या अनोखापन मिला जो कि निम्न श्रेणी के पशुओं के मस्तिष्क की विशेषताओं से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। इससे उत्साहित होकर आपने और ३८३ अपराधियों की खोपड़ी आदि का अध्ययन किया और उन अपराधियों के शरीर के विभिन्न अंगों में अनेक विलक्षणतायें पायीं—जैसे अनेक खोपड़ियों में दाँत, खोपड़ी के घनत्व (Capacity) माथे की बनावट आदि में कुछ न कुछ अनोखापन उन्हें मिला। ये विलक्षणतायें आदिम लोगों की विशेषताओं से बहुत कुछ समान थीं और इसी कारण श्री लाम्ब्रोसो को यह विश्वास हो गया कि अपराधियों में वंशानुसंक्रमण के द्वारा उनके आदि-पुरखों में पाये जाने वाले जंगलीपन या पशुता का पुनराविर्भाव होता है, अर्थात् आदि-पूर्वजों का जंगलीपन या पशुता जब वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया के द्वारा किसी व्यक्ति में आ जाते हैं तो वह व्यक्ति भी अपराधी व्यवहार करने लगता है। श्री लाम्ब्रोसो के स्वयं के ही शब्दों में, “अपराधियों में इन आश्चर्यजनक अनियमितताओं (Strange anomalies) को देखकर एक प्रज्वलित क्षितिज (Inflamed horizon) के नीचे एक विशाल भूमि दिखाई देने की भाँति, अपराधी की प्रकृति तथा उनकी उत्पत्ति की समस्या सुलभ सी गयी। आदिम मानव तथा निम्न कोटि के पशुओं की विशेषताओं या प्रकृति का हम लोगों के समय में भी अवश्य ही पुनराविर्भाव या पुनर्जन्म होता है।<sup>26</sup> दूसरे शब्दों में, जब किसी व्यक्ति में वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया के द्वारा आदिम मानव व निम्न कोटि के पशुओं की विशेषतायें आ जाती हैं तो उस व्यक्ति की प्रकृति भी उसी आदिम मानव और पशु जैसी होती है और उसी जन्मजात प्रकृति के कारण वह व्यक्ति अपराध करने को बाध्य होता है। इसी भाँति अपराधी का जन्म होता है। इस प्रकार अपराधी अन्य साधारण व्यक्तियों (जिनमें आदिम मानव व पशुओं की विलक्षणतायें नहीं मिलती हैं) से अलग एक वर्ग या टाइप होता है। इसी आधार पर श्री लाम्ब्रोसो ने जन्मजात अपराधी टाइप (Born criminal type) के सिद्धान्त को सन् १८७६ में प्रतिपादित किया। जिसके अनुसार अपराधी शारीरिक तथा मानसिक अनियमितताओं का एक घनीभूत रूप (A compact of physical and mental anomalies) या “अनियमित प्राणिशास्त्रीय अवस्थाओं का एक विशिष्ट फल या उपज” (A specific product of anomalous biological conditions) है।

अपने आरम्भिक तथा अधिक स्पष्ट रूप में श्री लाम्ब्रोसो के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यतायें इस प्रकार थीं—

26. “At the sight of these strange anomalies, as a large plane appears under an inflamed horizon, the problem of the nature and of the origin of the criminal seemed to be resolved; the characters of primitive and of inferior animals must be reproduced in our time.” Cesare Lombroso, *Crime—its causes and Remedies*, translated by H. P. Horton, Little Brown and Co., 1911, pp. 11—12.



(१) अपराधी जन्मजात रूप में ही एक पृथक प्ररूप होते हैं (Criminals are by birth a distinct type) अर्थात् लाम्ब्रोसो ने अपराधी प्रवृत्ति की जन्मजात प्रकृति (Innate character) पर बल दिया। उनके अनुसार अपराधी एक अर्ध-मानवीय बेडंगा प्ररूप है—शरीर रचना सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की दागी विशेषता युक्त अस्वाभाविक प्राकृतिक उपज है जो कि अपनी ही प्रकृति के कारण एक अपराधी बनने के लिये ही इस धरती पर जन्म लेते हैं अर्थात् अपराधी बनना ही उसकी भाग्य-लिपि है।<sup>27</sup>

(२) अपराधी प्ररूप (Criminal type) को पहचानने या उसको गैर अपराधी से पृथक करने के लिए श्री लाम्ब्रोसो ने १५ अनियमितताओं (Anomalies) या विलक्षणताओं का उल्लेख किया है। वे हैं—खोपड़ी का कम घनत्व, हड्डियों का एक दूसरे में घुसा होना, घँसा हुआ माथा, दांतों की विचित्र बनावट, चेहरे की हड्डियों का अधिक निकला होना, मोटे ओठ, बेडंगा सिर, चौरस नाक, लम्बी तथा बड़े नाक, मोटे ऊनी बाल, भयानक पर ठण्डी आँखें, भट्टी शक्ल आदि मुख्य हैं। श्री लाम्ब्रोसो ने अपराधी तथा गैर अपराधी के दिमाग की मरोड़ों (Convulsions of the brain) और हृदय, अस्थि पंजर (Skeleton) जनन सम्बन्धी अंग (Genital Organs) और पेट में अन्तर पाने का दावा किया। अपराधियों के हाथ अधिक लम्बे होते हैं, वे बायें हाथ का अधिक प्रयोग करते हैं, उनके चेहरे पर असमय में ही झुर्रियाँ (Wrinkles) पड़ जाते हैं, शरीर पर बाल अधिक होते हैं, बड़े जबड़े और गाल की हड्डियाँ बड़ी होती हैं। आगे चलकर इन शारीरिक अनियमितताओं के साथ कुछ मानसिक विलक्षणताओं को श्री लाम्ब्रोसो ने जोड़ दिया था। उनके अनुसार अपराधियों में नैतिक जड़ता (Moral insensibility), मन्द विवेक (Dull conscience) जो कभी जागृत नहीं होता तथा इच्छात्ताप या अनुताप की भावना से विमुक्तता आदि मानसिक विशेषतायें भी पायी जाती हैं। इन कमियों के कारण ही अपराधी अपराध करने से पूर्व और अपराध करने के बाद भी आवश्यक सतर्कताओं को अपना नहीं पाता है जिसके फलस्वरूप वह पकड़ा जाता है। श्री लाम्ब्रोसो के अनुसार जिन लोगों में उपरोक्त शारीरिक मानसिक विशेषताओं में पाँच से अधिक विलक्षणतायें पायी जाती हैं, वे पूर्ण रूप से अपराधी प्ररूप (Criminal type) के प्रतिनिधि होते हैं, ३ से ५ विलक्षणताओं वाले व्यक्ति अपूर्ण प्रतिनिधि हैं और ३ से कम विलक्षणताओं वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे अपराधी ही हों।

(३) उपरोक्त शारीरिक विलक्षणतायें स्वयं अपराध के कारण नहीं हैं, पितृ इन विलक्षणताओं के आधार पर हम उस व्यक्तित्व को पहचान सकते हैं जिसका जन्म ही अपराध करने के लिए हुआ है अर्थात् जिसमें अपराधमूलक व्यवहार

27. "Criminals are sub-human anthropological freak—abnormal natural product marked by anatomical and other stigmata and doomed by his nature to a criminal career." C. Lombroso, *Ibid.*, p. 13.



करने की प्रवृत्तियाँ पहले से ही या जन्मजात रूप में मौजूद हैं और यह व्यक्तित्व या तो जंगली प्ररूप का एक पुनरागमन अर्थात् आदि पुरखों की विलक्षणताओं का बच्चों में फिर से प्रगट होना (Atavism) है, या अन्य किसी प्रकार का अधःपतित रूप है जो कि मिर्गी रोग या अपस्मारी (Epilepsy) से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।<sup>28</sup> जैसे मिर्गी का दौरा पड़ने पर व्यक्ति सुध-बुध खोकर एक विशेष प्रकार का व्यवहार करेगा ही, उसी प्रकार उपरोक्त विलक्षणताओं वाले व्यक्ति में भी इस प्रकार की जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं कि वह अपराध मूलक व्यवहार करेगा ही।

(४) अतः श्री लॉम्बोसो के मतानुसार जन्म से ही अपराधी भिन्न प्रकार के होते हैं और अपने व्यक्तिगत स्वभाव (Personal natures) के कारण ही अपराध करने से अपने को रोक नहीं सकते, यदि उनके जीवन की परिस्थितियाँ असाधारण रूप से अनुकूल न हों। आपके अनुसार “इस प्रकार अपराधी एक अविकसित प्ररूप का व्यक्ति है और इसके फलस्वरूप केवल आंशिक मानव है।”

(५) श्री लॉम्बोसो ने इस प्रकार के जन्मजात अपराधियों के एक वर्ग का भी उल्लेख किया है जिनके लिये किसी प्रकार की परिस्थितियों का खराब होना आवश्यक नहीं है, वे तो प्रत्येक परिस्थिति में अपराध मूलक व्यवहार करने में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे जन्मजात अपराधियों में शारीरिक विलक्षणताओं के अतिरिक्त निम्न-लिखित अन्य विशेषतायें भी पायी जाती हैं—(अ) इन्द्रिय-सम्बन्धी (Sensory) और क्रिया सम्बन्धी (Functional) जैसे अधिक तीव्र दृष्टि, सुनने, सूंघने और स्वाद सम्बन्धी तीव्रता, अधिक फुर्ती, दुहृत्था, बायें अंगों में अधिक शक्ति आदि (ब) नैतिक भावना की कमी, पछतावे का अभाव, सनक, धोखेबाजी, घमण्ड, आवेगशीलता (Impulsiveness), बदला लेने की भावना, क्रूरता, आलस्य, जुआ खेलने के शौकीन, शराब पीकर रात्रि में उत्सव मनाने की आदत और (स) अन्य विशेषतायें जैसे गँवारू भाषा, अपने विचारों को चित्र रूप में प्रकट करना और शरीर पर अत्यधिक गुदाई करवाने का शौक आदि।

(६) श्री लॉम्बोसो के अनुसार अपराधियों को इस प्रकार विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) जन्मजात अपराधी (born criminal); (२) पागल अपराधी (insane criminal); (३) लालसा से अपराधी (criminal by passion) जिसमें ‘राजनैतिक सनकी’ (Political crank) भी सम्मिलित हैं, और (४) आकस्मिक अपराधी (occasional criminal) जिसकी तीन प्रकार हैं—(अ) छद्म अपराधी (pseudo-criminal) जोकि खतरनाक नहीं होते हैं, जो अपनी इज्जत बचाने के लिये अपराधी कार्य करते हैं या पेट भरने के लिये अथवा अस्वाभाविक परिस्थितियों में फँस कर अपराध कर बैठते हैं; (ब) आदती अपराधी

28. “These physical anomalies do not in themselves cause crime; rather they identify the personality which is predisposed to criminal behaviour and this personality is either a reversion to the savage type—an atavism—or else degeneration, especially akin to epilepsy.” Cf. E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 54.



(habitual criminals) जोकि बुरे वातावरण में पलने अथवा रहने के कारण अपराधी बन गये, यद्यपि उनमें अपराध करने की जन्मजात प्रवृत्ति नहीं होती है, और (स) क्रिमिनलॉयड (criminaloid) जोकि जन्मजात अपराधी और ईमानदार व्यक्ति के बीच का व्यक्ति होता है और जिसका कुछ अधःपतन हो गया है।

श्री गैरोफ़लो (Garofalo) ने, जो कि श्री लॉम्ब्रोसो का एक अनुयायी था, शारीरिक विशेषताओं के आधार पर अपराधियों को एक “टाइप” न कहकर मनो-वैज्ञानिक आधारों पर उन्हें एक टाइप माना है। आपके विचार में अपराधी जन्म से ही दया और ईमानदारी की भावनाओं में दोषयुक्त होते हैं अर्थात् अपराधियों में दया और सत्यता का नितान्त अभाव होता है। आपने, जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, दया और सत्यता की प्रचलित भावनाओं के उल्लंघन को ही अपराध कह कर परिभाषित किया है। दया की भावना के अभाव के कारण व्यक्ति के विरुद्ध अपराध और ईमानदारी की भावना के दबाव के कारण सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध किये जाते हैं।<sup>29</sup>

लॉम्ब्रोसो के अन्तरंग शिष्य श्री एनरिको फ़ैरी (Enrico Ferrie) ने अपराधी-व्यवहारों में मानवशास्त्रीय कारकों को मानते हुए भी पर्यावरण के प्रभावों पर विशेष बल दिया। आपके अनुसार अपराध तीन कारकों के संयोग का फल है—भौतिक या भौगोलिक; मानवशास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक और सामाजिक। श्री फ़ैरी का मत है कि अपराधों को तब तक कम नहीं किया जा सकता जब तक व्यक्ति के पर्यावरण सम्बन्धी कारकों को, विशेषकर सामाजिक परिस्थितियों को सुधारा न जायेगा।<sup>30</sup>

**समालोचना :** अपराधी जन्मजात नहीं होते बल्कि बनाये जाते हैं (Criticism : Criminals are not born but made)—(१) लॉम्ब्रोसियन सिद्धान्त के अनुसार अपराधी जन्मजात होते हैं। परोक्ष रूप से इसका आशय यह होता है कि दण्ड व्यवस्था की कोई भी उपयोगिता नहीं है क्योंकि दण्ड दिया जाय या न दिया जाय एक व्यक्ति अपनी जन्मजात विशेषताओं के कारण अपराध करेगा ही। अपराध-शास्त्र का कोई भी विद्वान इस मत से आज सहमत नहीं हो सकता। (२) इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों के अनुसार अपराधियों में जन्म से ही कुछ शारीरिक या मानसिक विकृतियाँ या विलक्षणतायें होती हैं जिसके कारण अपराध किया जाता है। पर वास्तव में अपराधी जन्मजात नहीं होते हैं वरन् पर्यावरण के अनुसार समाज के द्वारा बनाये जाते हैं। खराब मकान, घनी आबादी, निर्धनता, बुरे संगी-साथी, शराबखोरी, टूटे-परिवार, आदि अनेकों कारण हैं जो अपराधी-व्यवहारों को पनपाने में सहायक होते हैं और ये सभी सामाजिक या पर्यावरण सम्बन्धी कारण हैं। मनुष्य अधिकतर अपने समाज की ही उपज होता है या समाज उसे जैसा बनाता है उसके व्यक्तित्व

29. Donald R. Taft, *Criminology*, The Macmillan Co., New York, 1959, pp. 79-80.

30. *Ibid.* p. 80.



का विकास बहुत-कुछ उसी प्रकार का होता है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अपराध स्वयं एक सामाजिक धारणा है। उदाहरणार्थ, चोरी की धारणा उन समाजों में है जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private property) की संस्था भी पायी जाती है; एस्कीमो के देश में न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा ही हमारे समाज की तरह उग्र है और न चोरी जैसे कोई व्यवहार की धारणा। अमेरिका के पश्चिमी मैदान की जनजातियों में दूसरी जनजातियों के यहाँ से घोड़ा चोरी करके ले आना सम्मानित कार्य ही नहीं, पुरुषत्व का निदर्शन-स्वरूप है।<sup>31</sup> वही चोरी, चाहे वह किसी भी चीज की हो, हमारे समाज में अपराध है। अगर लॉम्ब्रोसियन अभिमत को मान लिया जाय तो क्या अलग-अलग समाज में उस समाज के अलग-अलग सामाजिक मूल्यों के अनुसार अलग-अलग तरह के अपराध करने के लिए व्यक्ति पैदा होते हैं? ऐसा सम्भव नहीं, इसी कारण जन्मजात अपराधी की धारणा भी मान्य नहीं हो सकती। (३) लॉम्ब्रोसियन सिद्धान्त की एक त्रुटि यह भी है कि इसके अन्तर्गत अध्ययन का क्षेत्र बहुत सीमित था और उस सीमित क्षेत्र में ही जो अध्ययन श्री लॉम्ब्रोसो और उनके अनुयायियों ने किया उसे पर्याप्त नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि श्री सदरलैंड का कथन है, “लॉम्ब्रोसो और उसके अनुयायियों ने अपराधियों और गैर-अपराधियों की तुलना कभी सावधानी से नहीं की और अपराधियों को जिन “जंगली” लोगों से मिलता-जुलता माना गया उन जंगलियों के सम्बन्ध में भी उनको ज्ञान कम था।<sup>32</sup> (४) श्री लॉम्ब्रोसो का कथन है अपराधियों को गैर-अपराधियों से उनकी कुछ शारीरिक विकृतियों के आधार पर पृथक् किया जा सकता है। डा० चार्ल्स गोरिंग (Charles Goring) तथा उनके साथियों ने बारह वर्ष की अवधि में तीन हजार कैदियों का जो अध्ययन किया उससे लॉम्ब्रोसियन सिद्धान्त की मूल त्रुटि स्पष्टतया प्रमाणित होती है। इस अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह दावा करना सर्वथा गलत है कि अपराधियों और गैर-अपराधियों में भेद केवल कुछ शारीरिक या मानसिक विलक्षणतायें हैं। डा० गोरिंग का कथन है कि जहाँ तक शरीर के विभिन्न अंगों का नाप और शारीरिक विकृतियों का सम्बन्ध है, इन दोनों विषयों में अपराधियों और गैर-अपराधियों में आश्चर्यजनक समानता पायी जाती है। इस सम्बन्ध में अन्तिम निष्कर्ष यही है कि शारीरिक अपराधी टाइप जैसी कोई भी चीज नहीं है।<sup>33</sup> (५) श्री गैरोफ़ैलो (Garofalo) के इस कथन से सहमत होना भी कठिन है कि अपराधियों में ईमान-

31. Robert E. L. Faris, *Social Disorganization*, New York, 1955, p. 170.

32. “Lombroso and his followers had never made a careful comparison of criminals and non-criminals and had little knowledge of the “savage” whom the criminals were supposed to resemble.” E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 55.

33. “In fact, both with regard to measurement and the presence of physical anomalies in criminals our statistics present a startling conformity with similar statistics of the law-abiding classes...Our inevitable conclusion be that there is no such thing as a physical criminal type.” Charles Goring, *The English Convict*, London, pp. 99-100.



दारी या दया की भावना नहीं होती। अनेक अपराधियों के सम्बन्ध में सत्य इसका उल्टा ही है। महान् दया और दान का कार्य अपराधी करते हैं, ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

(ख) मानसिक परीक्षकों का सिद्धान्त (Theory of Mental Testers)—जब लॉम्ब्रोसियन सिद्धान्त अनुपयुक्त सिद्ध हुआ तो उन्हीं की अध्ययन विधियों और तर्कों को आधार मानकर एक दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इसमें अपराधियों को गैर-अपराधियों से पृथक् करने का आधार शारीरिक विकृतियाँ न मानकर मस्तिष्क की दुर्बलता माना गया। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में श्री गोडार्ड (Goddard) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त के अनुसार (१) मानसिक दुर्बलता या मन्द बुद्धि को अपराध का मुख्य कारण माना गया है क्योंकि मस्तिष्क से दुर्बल व्यक्ति अपने कार्यों के दुष्परिणामों और कानून के अर्थ को समझने की क्षमता नहीं रखते; (२) प्रायः सभी अपराधी मस्तिष्क से दुर्बल होते हैं, और साथ ही मस्तिष्क से दुर्बल सभी व्यक्ति अपराधी होते हैं; (३) ये मानसिक दुर्बलता मेंडल (Mendel) के वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त के अनुसार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है, (४) अपराधियों की संख्या को घटाने के लिए मानसिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों की सन्तानोत्पत्ति शक्ति को नष्ट कर देना ही एकमात्र साधन है।<sup>34</sup> परन्तु जैसे-जैसे मानसिक परीक्षण (mental tests) अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित होते गये वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता गया कि सब अपराधी मानसिक दृष्टि से निर्बल नहीं होते और गैर-अपराधी भी मस्तिष्क से दुर्बल होते हैं। फलस्वरूप इस सिद्धान्त को आजकल सम्पूर्ण और ठीक नहीं माना जाता है।

(ग) मनोवैचारिकीय सिद्धान्त (The Psychiatric Theory)—इसे लॉम्ब्रोसियन सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त में शारीरिक विलक्षणताओं को तो स्थान नहीं दिया गया बल्कि अपस्मार रोग, नैतिक विक्षिप्तता (Moral insanity) आदि पर बल दिया गया। इसमें विशेषकर संवेगात्मक अव्यवस्था (Emotional disturbances) पर अधिक बल दिया गया। इस प्रकार इस सिद्धान्त में अपराध का सबसे प्रमुख कारण मानसिक विकार माना गया है। संवेगात्मक अव्यवस्था होने पर व्यक्ति अपनी इच्छाओं की उचित रूप से सन्तुष्टि नहीं कर पाता है और उसकी अनेक इच्छायें दब जाती हैं। इन दमिन्न इच्छाओं की सन्तुष्टि कभी-कभी अनुचित तरीके से करने का प्रयत्न किया जाता है और तभी अपराध भी होता है।

(घ) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological Theory)—इस सिद्धान्त का सार सत्त्व (Central thesis) यह है कि अपराध उन्हीं प्रक्रियाओं (processes)

34. See H. H. Goddard, *Feeble Mindedness*, The Macmillan Co., New York, 1914; and also his *Juvenile Delinquency*, Dodd, Mead and Co., New York, 1921.



का फल है जिनसे दूसरे प्रकार के सामाजिक व्यवहार उत्पन्न होते हैं।<sup>35</sup> अपराधी व्यवहार के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का निष्कर्ष निम्नलिखित है—<sup>36</sup> (क) अपराधी-व्यवहार सीखा जाता है। दूसरे शब्दों में अपराधी-प्रवृत्ति जन्मजात कदापि नहीं होती है—जब तक किसी व्यक्ति को अपराधी-व्यवहार करना सिखाया नहीं जाता तब तक वह उसे नहीं सीख सकता, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति इंजीनियर नहीं बन सकता जब तक कि उसे मशीन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ न सिखाया जाय। (ख) अपराधी-व्यवहार संचार की प्रक्रिया (Process of Communication) में अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रिया द्वारा सीखा जाता है। इसके अन्तर्गत अनुकरण (Imitation), सुभाव (Suggestion) आदि प्रक्रियायें सम्मिलित हैं। (ग) अपराधी-व्यवहार घनिष्ठ व्यक्तिगत समूहों (Intimate Personal groups) में ही सीखा जाता है। (घ) जब अपराधी-व्यवहार सीखा जाता है तो उसे सीखने में दो बातें सम्मिलित होती हैं—(अ) अपराध करने की प्रविधियाँ जो कभी तो बहुत जटिल होती हैं और कभी बहुत ही सरल; (ब) उद्देश्यों, मनोवृत्तियों, युक्तियुक्त-करण (Rationalization) आदि की विशिष्ट दिशा। (ङ) यह विशिष्ट दिशा वैधानिक संहिताओं (legal codes) की अनुकूल या प्रतिकूल परिभाषाओं से सीखी जाती हैं। किसी-किसी समाज में तो व्यक्ति ऐसे लोगों से घिरा होता है जो कानूनों के पालन को उचित कहकर परिभाषित करते हैं और किसी-किसी समाज में ऐसे व्यक्तियों से घिरे होते हैं जो कानूनों को अनुचित कहकर परिभाषित करते हैं। (च) एक व्यक्ति तभी अपराधी बन जाता है जब उसे घेरे हुए व्यक्तियों में उनकी संख्या अधिक हो जो कानूनों को अनुचित या प्रतिकूल कहकर परिभाषित करते हैं। और उनकी संख्या कम हो जो कानून की अनुकूल परिभाषा करते हैं। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति अपने बुरे संगी-साथियों से अपराधी-व्यवहार सीखता है। अगर उस पर प्रभाव डालने वाले संगी-साथियों में अधिक लोग कानून को तोड़ने वाले हों और कम लोग कानून को मानने वाले, तो वह व्यक्ति अपराधी-व्यवहार को सरलता से सीख जायेगा। इसी को भेदीय संगत का सिद्धान्त (principle of differential association) कहते हैं। (छ) कुसंग से अपराधी-व्यवहार सीखने की प्रक्रिया में उन सभी विधि-व्यवस्थाओं (Mechanisms) का समावेश रहता है जैसा कि अन्य किसी प्रकार के व्यवहार को सीखने में। (ज) यद्यपि अपराधी-व्यवहार सामान्य आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति (Expression) होता है फिर भी केवल उन आवश्यकता और मूल्यों के आधार पर ही अपराधी-व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि गैर-अपराधी-व्यवहार भी उन्हीं आवश्यकता और मूल्यों की ही अभिव्यक्ति है। चोर चोरी करता है धन प्राप्ति के लिए, परन्तु एक ईमानदार

35. "The Central thesis of the Sociological School is that criminal behaviour results from the same processes as other social behaviour." E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 57.

36. *Ibid.* pp. 77—79.



अधिक भी उसी प्रकार घन प्राप्ति के लिए ही काम करता है। (॥) अपराधी-व्यवहार को पनपाने में सामाजिक संगठन और प्रक्रियाएँ भी बहुत सहायक होती हैं जैसे गतिशीलता (Mobility), सांस्कृतिक संघर्ष (Culture conflict), प्रतिस्पर्धा (Competition) आदि।

उपरोक्त पाँच सिद्धान्त संक्षेप में विभिन्न अपराधशास्त्र-सम्प्रदायों (Schools of Criminology) के अलग-अलग अभिमतों को प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से याद रखना उचित होगा कि अपराध किसी एक कारण का फल नहीं होता; बल्कि यह तो एकाधिक कारणों के एक दूसरे को प्रभावित करने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इन अनेक कारणों में शारीरिक और मानसिक दोष, आर्थिक दशाएँ, पारिवारिक स्थिति, संगी-साथी, चलचित्र, समाचार-पत्र, व्यक्तिगत आदतें, निवास-स्थान, शिक्षा, धर्म आदि सम्मिलित हैं। समस्त अपराधों की व्याख्या किसी एक कारण के आधार पर कदापि सम्भव नहीं है; प्रत्येक अपराधी व्यवहार की पृष्ठभूमि और कारक-शक्तियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। अपराध का आवुनिकतम सिद्धान्त इसी पक्ष पर बल देता है।

### अपराध के कारण (Causes of Crime)

अपराध का कोई एक कारण नहीं  
(No selective factor in criminality)

मनुष्य अपराध क्यों करता है—यह एक शाश्वत प्रश्न है जिसका उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न अति प्राचीन काल से हम कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में असंख्य शब्द कहे गये हैं, हजारों पुस्तकें लिखी गई हैं, अनगिनत लेख, रिपोर्टें और कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। सब प्रकार के चिन्तनशील व्यक्तियों ने—उनमें विद्यार्थी हैं और विद्वान भी; धार्मिक हैं और नास्तिक भी; राजनीतिज्ञ हैं और नीति-उपदेशक भी; पत्रकार हैं और सुधारक भी—इस विषय में लिखा है और कहा है। किसी ने प्राकृतिक दशाओं को अपराध का कारण माना है, किसी ने शारीरिक और मानसिक दोषों को, किसी ने आर्थिक अभाव को, किसी ने निवास-स्थान की शोचनीय अवस्था को, किसी ने सिनेमा को और किसी ने अस्वस्थ पारिवारिक परिस्थितियों को। इनमें से सभी ने गलत कहा यह कहना उसी प्रकार उचित न होगा, जिस प्रकार इनमें से किसी का भी कथन अपराध के कारण की सम्पूर्ण व्याख्या है यह स्वीकार करना। मानव व्यवहार इतना सरल और सादा नहीं कि उसे किसी एक कारण के आधार पर समझा या समझाया जा सकता है। अपराध भी उसी जटिल मानव व्यवहार की एक अभिव्यक्ति है और इसी कारण अपराध का भी कोई एक कारण नहीं है। साथ ही, यह भी याद रखना है कि किसी भी सन्तोषजनक विश्लेषण में पृथक्-पृथक् कारणों के योग को नहीं बल्कि सम्पूर्ण से सम्बन्धित अनेक कारणों को ध्यान में रखना होगा, क्योंकि मानव व्यवहार एक



व्यक्ति पर पड़ने वाला समस्त शक्तियों तथा उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं का परिणाम होता है।<sup>37</sup> इस कारण अपराध के जिन कारणों की विवेचना हम इस अध्याय में करेंगे उनमें से कोई भी पृथक् रूप से अपराधी-व्यवहार के लिये महत्वपूर्ण नहीं है। अपराध के प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं—

### भौगोलिक कारक (Geographical Factors)

यद्यपि अपराध की आधुनिक परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अपराध एक सामाजिक प्रक्रिया है, फिर भी अति प्राचीन काल से यह धारणा प्रचलित है कि अपराधी-व्यवहार और भौगोलिक कारकों में एक अति निकट का सम्बन्ध है और उसी के अनुसार यह विश्वास कर लिया गया कि अपराधी-व्यवहार देश की प्राकृतिक दशा, जलवायु, ऋतु आदि द्वारा प्रभावित होता है। यह धारणा निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी—

(अ) प्राकृतिक दशा (Physical Features)—श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) का विश्वास था कि व्यक्ति के विरुद्ध अपराध मैदानी क्षेत्रों में सबसे कम, पठारी प्रदेशों में उससे अधिक और पहाड़ी भागों में सबसे अधिक होते हैं। इसके अतिरिक्त श्री लॉम्ब्रोसो के द्वारा एकत्रित आँकड़ों के अनुसार पठारी तथा पहाड़ी प्रदेश की अपेक्षा मैदानी भागों में बलात्कार (Rape) की घटनायें अधिक होती हैं। आपका यह भी कथन था कि इटली के उन प्रदेशों में जहाँ प्राकृतिक दशाओं के कारण सबसे अधिक मलेरिया होता है, वहाँ व्यक्ति के विरुद्ध अपराध की दरें भी अत्यधिक हैं। उसी प्रकार कुछ विद्वानों का कथन है कि समुद्र तट के प्रदेशों में देश के भीतरी भागों की अपेक्षा अधिक अपराध होते हैं।

(ब) जलवायु (Climate)—अनेक भूगोलशास्त्रियों ने प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि जलवायु और अपराधी-व्यवहार का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, श्री माँटेस्क्यू (Montesquieu) ने अपनी पुस्तक *Spirit of Laws* में यह विचार प्रकट किया है कि हम जैसे-जैसे भूमध्य रेखा की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे अपराध की दरें भी बढ़ती जाती हैं और उत्तरी या दक्षिणी ध्रुवों की ओर बढ़ने के साथ-साथ मद्य-सेवन अधिक मिलता है। उसी प्रकार श्री क्वेटलेट (Quetlet) का विश्वास था कि गर्म जलवायु वाले प्रदेशों में व्यक्ति के प्रति अपराध तथा हिंसात्मक अपराध अधिक होते हैं, जबकि ठंडे जलवायु वाले प्रदेशों में सम्पत्ति के प्रति अपराधों का आधिक्य होता है। प्रिन्स पीटर क्रोपोटकिन (Prince Peter Kropotkin) ने तो जलवायु के आधार पर नरहत्या (Homicide) की

37. "The factors in relation to the whole, rather than the sum of the single isolated factors, must be considered in any satisfactory analysis. ...The behaviour is a resultant of the forces impinging upon the individual plus the characteristics of his personality." Elliott and Merrill, *Social Disorganization*. Harpur and Bros., New York, 1950, p. 110.



संख्या को हिसाब लगाकर निकालने तक की विधि (Formula) को प्रतिपादित किया और वह इस प्रकार था, “महीने के औसत तापक्रम को लीजिये, उसे सात से गुणा कीजिए, उसमें औसत हवा की आर्द्रता (Humidity) को जोड़ दीजिए और फिर से दो से गुणा कीजिये—वस आपको उस महीने में की गई नर-हत्याओं की संख्या मालूम हो जायेगी।”<sup>38</sup>

(स) ऋतु (Seasons)—कुछ विद्वानों ने ऋतु परिवर्तन और अपराधी-व्यवहारों में भी सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार जाड़ों में सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों की संख्या बढ़ती है और गर्मियों में व्यक्ति के विरुद्ध अपराध अधिक होते हैं। श्री लैकैसन (Lacassagne) ने तो मौसम के बदलने के साथ-साथ अपराधी-व्यवहारों के प्रकार में भी परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए एक “अपराधी जन्त्री” (Criminal Calander) बनाया। इस कैलेंडर के अनुसार शिशुहत्या (Infanticide) जनवरी, फरवरी, मार्च और अप्रैल के महीनों में बढ़ जाती है; नरहत्या (Homicide) और घातक आक्रमण (Assault) जुलाई में; पितृहत्या (Patricide) जनवरी और अक्टूबर में; बच्चों पर बलात्कार (Rape) सबसे अधिक मई, जुलाई और अगस्त में और सबसे कम दिसम्बर में; युवा लोगों पर बलात्कार सबसे अधिक जून में और सबसे कम नवम्बर में; और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध सबसे अधिक दिसम्बर और जनवरी में होते हैं। श्री डेक्सटर (Dexter) ने अपने अध्ययन में न्यूयार्क शहर में गर्ममहीनों में बैरोमीटर का पारा गिरने पर, कम आर्द्रता के दिनों में, बदली के दिनों में अपराध की दरों को बढ़ता हुआ पाया।

समालोचना (Criticism)—(१) भौगोलिक कारकों को आधुनिक अपराधशास्त्री अधिक महत्व देने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि भौगोलिक कारणों के प्रभाव प्रत्यक्ष नहीं, अपितु अप्रत्यक्ष होते हैं और, कभी-कभी तो इस अप्रत्यक्ष प्रभाव को भी प्रमाणित करना कठिन हो जाता है। सामान्य रूप से अनेक अपवाद इस सम्बन्ध में मिल सकते हैं। अगर भौगोलिक अवस्थायें ही अपराध का कारण होतीं तो क्या कारण है कि एक ही भौगोलिक पर्यावरण में बसे हुए गाँव और शहरों के अपराधों के प्रकार और संख्या में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। (२) भौगोलिक कारकों को अपराध का प्रत्यक्ष कारण इसलिए भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि ऐसा भी देखा गया है कि किसी एक वर्ष या निरन्तर दो-चार वर्ष अपराध की दरें एकाएक घट या बढ़ जाती हैं। उदाहरणार्थ, कृषि प्रधान देश, जैसे भारत में अपराध की दरें अच्छी फसल होने पर घटती हैं और फसल खराब हो जाने पर बढ़ती है। (३) उसी प्रकार ऋतुओं का प्रभाव अपराधी-व्यवहारों पर अप्रत्यक्ष इस अर्थ में भी है कि विभिन्न ऋतुओं में मनुष्यों के आपस के सम्पर्कों (contacts) में भी अन्तर आ जाता है, जैसे जाड़े की ऋतु में मानव सम्पर्क कम होते हैं, इस कारण व्यक्ति के विरुद्ध अपराध भी कम होते हैं।

38. Prince Peter Kropotkin, *Les prisons* (Paris : 1888); quoted by Boenaldo de Quiros, *Modern Theories of Criminality*, Little, Brown, Boston, 1911, p. 34.



## प्राणिशास्त्रीय और व्यक्तिगत कारक (Biological and Personal Factors)

भौगोलिक कारकों की तरह प्राणिशास्त्रीय और व्यक्तिगत कारकों को भी पृथक् रूप से अपराध का कारण माना जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि अपराध के कारणों की हमें बाहरी अवस्थाओं में नहीं बल्कि उस व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही ढूँढने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि अधिकतर अपराध कुछ प्राणिशास्त्रीय और व्यक्तिगत विलक्षणताओं के कारण ही होते हैं। वे इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारकों को प्रमुख मानते हैं :—

### वंशानुसंक्रमण अपराध के कारक के रूप में

#### (Heredity as a factor of Criminality)

अपराध के कारणों को ढूँढने का प्रयत्न वंशानुसंक्रमण के आधार पर अनेक विद्वानों ने किया है। उनका मत है कि अपराध का वास्तविक कारण पर्यावरण (Environment) नहीं बल्कि वंशानुसंक्रमण है। वास्तव में वंशानुसंक्रमणवादी तथा पर्यावरणवादी का यह विवाद बहुत पुराना है कि वंशानुसंक्रमण और पर्यावरण में से किसका प्रभाव मानव के आचरणों और व्यक्तित्व पर अधिक पड़ता है। एक और वंशानुसंक्रमणवादी श्री फ्रांसिस गैल्टन (Francis Galton) हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक *Heredity Genius* में वंशानुसंक्रमण के महत्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर पर्यावरणवादी श्री जॉन वाट्सन (John Watson) का दावा था कि उन्हें किसी भी वंशानुसंक्रमण वाले एक दर्जन बच्चों को उनको अपनी इच्छा-नुसार पर्यावरण में पालने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वह मन चाहे व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं—उनमें से किसी को भी वे डाक्टर, वकील, व्यवसायी, शराबी, अपराधी, वेश्या या भिखारी बना सकते हैं। परन्तु वंशानुसंक्रमणवादी लेखक इसे स्वीकार नहीं करते और अपराध के कारण के रूप में वंशानुसंक्रमण को अधिक महत्व देते हैं। वंशानुसंक्रमण यह अपराध का वास्तविक कारण है इसको प्रभावित करने के लिए पाँच विभिन्न तरीके सामान्यतया अपनाये गये हैं—(१) अपराधियों की तुलना 'जंगली' लोगों से करना, (२) परिवारों के इतिहास का अध्ययन करना, (३) वंश में मेन्डेलियन अनुपातों (Mendelian ratios) का अध्ययन करना, (४) माता-पिता तथा उनके बच्चों के अपराधों के बीच सांख्यिकीय सम्बन्धों (Statistical Associations) का अध्ययन करना, तथा (५) जुड़वे बच्चों का अध्ययन।<sup>39</sup> इन तरीकों के सम्बन्ध में संक्षेप में विवेचना कर लेना यहाँ आवश्यक होगा।

(१) प्रथम तरीके से वंशानुसंक्रमण को अपराध के कारक के रूप में दर्शाने का प्रयत्न श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) तथा उनके अनुयायियों ने किया था। उनका विश्वास था कि अपराधी जन्मजात होते हैं और अपराध के समस्त आधार व तत्व एक व्यक्ति को वंशानुसंक्रमण के आधार पर प्राप्त होते हैं। वंशानुसंक्रमण



द्वारा ही एक व्यक्ति में 'जंगली' लोगों की विलक्षणतायें और प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं और इस प्रकार एक व्यक्ति में जंगली प्रवृत्तियों के पुनराविर्भाव के कारण व्यक्ति अनिवार्य रूप से अपराधी बन जाता है, यदि उसके जीवन की परिस्थितियाँ बहुत ही अनुकूलन हों। श्री लॉम्ब्रोसो तथा उनके अनुयायियों का यह भी मत था कि अपराधियों को गैर अपराधियों से कुछ शारीरिक विशेषताओं के आधार पर पृथक् किया जा सकता है। इस प्रकार अपराध के कारण के रूप में वंशानुसंक्रमण के महत्व को किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हम विस्तृत विवेचना पिछले पन्नों में इटैलियन या लॉम्ब्रोसियन 'अभिमत' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं।

(२) अपराध के कारण के रूप में वंशानुसंक्रमण के महत्व को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने अनेक वंशों तथा परिवारों के इतिहास का अध्ययन किया है। उन अध्ययनों में सर्वश्री डुग्डेल और इस्ताब्रुक (Dugdale and Estabrook) द्वारा ज्यूक परिवार के १२०० वंशजों का अध्ययन सबसे महत्वपूर्ण है।<sup>40</sup> इस परिवार का अध्ययन डुग्डेल ने सन् १८७७ में और इस्ताब्रुक ने सन् १९१५ में किया था। इस परिवार की तुलना प्रायः एडवर्ड परिवार से की जाती है जिसके कि १३६४ वंशजों का अध्ययन सन् १९०० में किया गया था। ज्यूक परिवार संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का एक निर्धन और कुख्यात वंश है, जब कि एडवर्ड परिवार वहाँ का एक धनी तथा प्रख्यात परिवार माना जाता है। न्यूयार्क में ज्यूक वंश का आरम्भ सन् १७२० में हुआ। सन् १८७७ तक इसके वंशजों की संख्या कुल मिलाकर १२०० थी। उनके अध्ययन से यह पता चला कि इन वंशजों में से ४४० वंशज शारीरिक बीमारियों से पीड़ित थे, ३१० अत्यन्त दरिद्र थे, और १४० अपराधी थे, ७ हत्यारे, ६० चोर तथा ५० वेश्यायें थीं। ३५ वर्ष के बाद इसी परिवार के २८२० वंशजों का अध्ययन किया गया। इनमें से ६०० मानसिक रूप में दोषी पाये गये और शेष दरिद्र, अपराधी, हत्यारे, चोर, डकैत, वेश्या आदि के रूप में। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि वंशानुसंक्रमण अपराध के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण कारक है। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए ज्यूक वंश की तुलना एडवर्ड वंश से की गयी। इस वंश के १३६४ वंशजों में से २६५ विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट पाये गये, १३ कालेज के प्रधानाचार्य तथा १ संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के उपराष्ट्रपति थे। इनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसको किसी अपराध में सजा मिली हो।

इस तुलना के आधार पर यह निश्चित निष्कर्ष निकालना कि वंशानुसंक्रमण के द्वारा अपराधी प्रवृत्ति माता-पिता से बच्चों में हस्तान्तरित होती है, गलत होगा। श्री कॅनक्लिन (Canklin) का कथन है कि यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि जो गुण या दोष या प्रवृत्ति या आदत माता-पिता में हैं वही संतान में भी आ जाय।

40. Richard Dugdale, *The Jukes, A Study in Crime, Panperism and Heredity*, Putnam, New York, 1877 and A. H. Estabrook, *The Jukes in 1915*, Washington, 1916.



कभी-कभी तो बिल्कुल इसका उल्टा ही होता है। वंशानुसंक्रमणवादी भी इस सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि ज्यू परिवार के अत्यधिक गरीब होने के कारण उसकी संतानों को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक कोई भी सुविधा प्राप्त नहीं थी। हो सकता है इसीलिए इस परिवार के वंशजों का मानसिक व नैतिक स्तर निम्न कोटि का था। साथ ही अध्ययन से यह भी पता चलता है कि एडवर्ड परिवार में किसी भी रूप के अपराधी नहीं थे ऐसी बात नहीं है। एडवर्ड की नानी का पर पुरुष गमन (Adultery) करने के अपराध पर पर विवाह-विच्छेद हुआ था, एडवर्ड के पिता की मौसी (Grand aunt) ने अपने लड़के की हत्या की थी और उनके दादा ने अपनी बहन की हत्या की थी। यदि अपराध की प्रवृत्ति वंशानुसंक्रमण के आधार पर हस्तान्तरित हो सकती है तो एडवर्ड के उपरोक्त रिश्तेदारों के अन्य वंशजों को भी अपराधी होना चाहिये था। पर ऐसा नहीं हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि वंशानुसंक्रमणों को अपराध का एक मात्र कारण माना नहीं जा सकता है। वास्तविकता तो यह है जैसा श्री ए० स्कनफेल्ड (A. Schienfeld) के अध्ययन से प्रमाणित होता है कि माता के गर्भ में आते ही माता के रहन-सहन, खाना-पीना, जलवायु, पेशा, काम-काज की प्रकृति, सोने और टहलने के तरीके, मानसिक अवस्थायें, स्वभाव आदि सब का प्रभाव बच्चे की शारीरिक और मानसिक विशेषताओं को निर्धारित करने वाले वाहकाणुओं (genes) पर पड़ता है।

(३) कम से कम एक विद्वान ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि अपराध प्रवृत्ति केवल आनुपूर्विक पीढ़ियों (Successive generations) में ही देखने को नहीं मिलती है बल्कि यह मेन्डेलियन अनुपात में ही सामने आती है। श्री कार्ल रथ (Carl Rath) ने जर्मनी के साईबर्ग (Sieburg) के एक जेलखाने के ६८ अपराधियों के पारिवारिक इतिहासों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इन परिवारों की सन्तान बहुत कुछ मेन्डेलियन अनुपात के अनुसार ही अपराधी थीं। परन्तु डुगडेल, इस्तब्रुक तथा अन्य विद्वानों के अध्ययन से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। वंशानुसंक्रमण के लक्षणों का हस्तान्तरण किसी भी निश्चित नियम के अनुसार नहीं होता है और किसी भी नियम के द्वारा यह शायद ही प्रमाणित किया जा सके कि माता-पिता में पाये जाने वाले लक्षण (traits) बच्चों में किसी अनुपात में पाये जाते हैं।

(४) श्री गोरिंग (Goring) ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि माता-पिता तथा उनके बच्चों के अपराधों के बीच सांख्यिकीय सम्बन्ध पाया जाता है। उनके अनुसार यदि कैद की सजा के आधार पर नापा जाये तो हम यह पायेंगे कि पिता और पुत्र को अपराधी प्रवृत्ति (Criminality) में पारस्परिक सम्बन्ध (Coefficient)  $+0.60$  के बराबर है, जबकि भाइयों में यह सह-सम्बन्ध  $+0.45$  के बराबर है।<sup>41</sup> श्री गोरिंग ने यह अनुभव किया कि इस प्रकार का सह-सम्बन्ध पर्यावरण या वंशानुसंक्रमण या दोनों का परिणाम हो सकता है। फिर भी आपने



पर्यावरण के प्रभावों को महत्वपूर्ण न पाने के कारण अपने अध्ययन में सम्मिलित करना या अपराध के कारक के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं समझा है। स्पष्ट है कि श्री गोरिंग ने ऐसा उस उद्देश्य से किया कि उनका प्रमुख उद्देश्य वंशानुसंक्रमण को अपराधी प्रवृत्ति के कारक के रूप में स्थापित करना था। वास्तव में आपने वंशानुसंक्रमण के कारक पर आवश्यकता से अधिक बल देने की गलती की है।

(५) वंशानुसंक्रमण को अपराध के कारण के रूप में प्रमाणित करने का अन्तिम तरीका जुड़वे बच्चों का अध्ययन है। श्री लैंग (Lange) ने ३० जोड़े बालिग पुरुष जुड़वों का एक अध्ययन किया है—इनमें से १३ जोड़े समरूप यमज (Identical twins) तथा १७ भातृक यमज (Fraternal twins) थे। हर जोड़े का एक सदस्य एक अपराधी पाया गया, जबकि समरूप जुड़वों के ७७ प्रतिशत जोड़ों (Paires) तथा भातृक जुड़वों को केवल १२ प्रतिशत जोड़े के दोनों ही सदस्य अपराधी निकले।<sup>42</sup> इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहा गया है कि वंशानुसंक्रमण का प्रत्यक्ष प्रभाव अपराधी प्रवृत्ति के निर्धारण पर पड़ता है। परन्तु आधुनिक अन्य अनेक अध्ययनों से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है।

**सामान्य समालोचना (General Criticisms)**—उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने अध्ययनों के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि अपराध के निर्धारण में वंशानुसंक्रमण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु आज अन्य अनेक आधुनिक अध्ययनों के आधार पर यह स्वीकार कर लिया है कि इन अध्ययनों में अनेक त्रुटियाँ थीं जैसे, इनमें व्यक्ति पर पड़ने वाले पर्यावरण के प्रभावों की अवहेलना की गई है। मनुष्य केवल एक प्राणिशास्त्रीय जीव ही नहीं अपितु एक सामाजिक प्राणी भी है। अपराध एक सामाजिक प्रक्रिया है और इसे भी अन्य व्यवहारों की भाँति समाज के सदस्य होने के बाद समाज से ही सीखना पड़ता है। उपर्युक्त विद्वानों ने अपने सिद्धांत को सत्य प्रमाणित करते के लिए वंशानुसंक्रमण को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान किया है और बहुधा जानबूझ कर वास्तविकता को तोड़-मरोड़ कर उपस्थित किया है। वास्तव में मनुष्य की स्थिति वंशानुसार और पर्यावरण के बीच एक संतुलन है और इस संतुलन के टटने पर ही व्यक्ति के जीवन में विघटन का प्रादुर्भाव होता है और प्रायः उसकी अभिव्यक्ति अपराधी-व्यवहार होती है।

### शारीरिक दोष तथा रोग

#### (Physical Defects and Diseases)

शारीरिक दोषों को भी अपराध का कारण माना गया है और इस सम्बन्ध में विशेष रूप से सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) का ही है। आपके अनुसार कुछ शारीरिक विकृतियाँ व्यक्तित्व को अपराधी के स्तर पर ले आने में सहायक सिद्ध होती हैं। आपका यह विश्वास था कि सभी जन्मजात

42. See J. Lange, *Crime and Destiny*, translated by C. Haldane, Boni, New York, 1930.



अपराधी अपस्मारी (epieptic) होते हैं। डा० चार्ल्स गोरिंग (Charles Goring) तथा उनके अनुयायियों ने जो विस्तृत अध्ययन किया उससे लॉम्ब्रोसो के सिद्धान्त का पूर्ण रूप से खण्डन होता है। इस अध्ययन का निष्कर्ष यही है कि अपराधी और गैर-अपराधी में शारीरिक विकृतियों के आधार पर कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। फिर भी डा० गोरिंग का कथन था कि अपराधियों के शरीर की लम्बाई और वजन गैर-अपराधियों की अपेक्षा कम होती है।<sup>43</sup>

डा० चार्ल्स गोरिंग के निष्कर्षों को अवैज्ञानिक कहते हुये १९३६ में श्री हूटन (Hooton) ने फिर से श्री लॉम्ब्रोसो की धारणा का समर्थन किया।<sup>44</sup> आपका कथन था कि अपराधियों को गैर-अपराधियों से कुछ शारीरिक हीनता या निकृष्टता (Physical inferiority) के आधार पर पृथक् किया जा सकता है। आपका यह निष्कर्ष प्रायः चौदह हजार कैदियों और तीन हजार गैर-अपराधियों के अध्ययन पर आधारित था। श्री हूटन का यह भी कथन था कि अपराधी-व्यवहार किसी भी प्रजाति से विशेष रूप से सम्बन्धित नहीं है, प्रत्येक प्रजाति में ही अनेक ऐसे प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से निकृष्ट व्यक्ति होते हैं जो कि अपराध करते हैं। प्रत्येक प्रजाति में ही उत्कृष्ट और निकृष्ट व्यक्तियों का समावेश होता है।<sup>45</sup> श्री हूटन के इन निष्कर्षों से भी आधुनिक अपराधशास्त्री सहमत नहीं हैं, क्योंकि (१) उनके अध्ययन में गैर-अपराधियों की संख्या अपराधियों की संख्या की तुलना में इतनी कम थी कि उनमें कोई भी वैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित करना उचित न होगा, (२) श्री हूटन ने शारीरिक निकृष्टता को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानकर अन्य कारकों की अवहेलना की है, वास्तव में अधिकतर अपराधी और गैर-अपराधी व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक विशेषताएं एक-सी होती हैं। (३) श्री हूटन ने सम्भवतः सफेद पोश अपराधियों (White collar criminals) के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं किया था, ये सफेद पोश अपराधी अधिकतर प्राणिशास्त्रीय विचार से उत्कृष्ट (Biologically superior) थे न कि निकृष्ट, जैसा कि श्री हूटन की धारणा के अनुसार होना चाहिये।

कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य के शरीर में जो ग्रन्थियाँ (glands) होती हैं उनसे कुछ रसों का स्राव होता रहता है और इन स्रावों में कमी या अधिकता व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक व्यवस्थाओं या संतुलन को उलट पुलट सकती हैं। उदाहरणार्थ, थाइरायड अर्थात् कंठ ग्रन्थियों (thyroid glands) को ही लीजिए। गर्दन की जड़ में कंठ की गुठली के ऊपर दोनों ओर यह ग्रन्थि पायी जाती है। इस ग्रन्थि से जो द्रव पदार्थ निकलता है उसे थाइरोक्सीन (thyroxin) कहते हैं। जब रक्त में इसकी मात्रा अधिक हो जाती है तो व्यक्ति में अधिक जोश या

43. Charles Goring, *The English Convict*, London, 1913. p. 200.

44. E. A. Hooton, *Crime and the Man*, Horward University Press, Cambridge, 1939, p. 11.

45. *Ibid.*, p. 252.



उत्तेजना पायी जाती है जिसके फलस्वरूप उसमें संवेगात्मक तनाव, अनिद्रा और चिड़चिड़ाहट विकसित होती है। इसके विपरीत जब भी ये ग्रन्थियाँ आवश्यकता से कम क्रियाशील रहती हैं तो व्यक्ति शिथिलता, सुस्ती और निष्क्रियता का अनुभव करता है। बचपन से ही जिन बच्चों में यह ग्रन्थि ठीक से काम नहीं करती है उसमें मिक्सेडीमा (Myxedema) नामक रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे उन बच्चों का स्वाभाविक शारीरिक और मानसिक विकास उचित रूप से नहीं हो पाता है। ये शारीरिक और मानसिक दोष या अस्वाभाविकता अपराध का कारण हो जाती है। उसी प्रकार उपकंठ पिण्ड (Parathyroid gland) की अत्यधिक क्रियाशीलता व्यक्ति में शिथिलता ला देती है और कम क्रियाशीलता उसे उत्तेजित बना देता है। उस उत्तेजना की स्थिति में व्यक्ति किसी भी प्रकार का गम्भीर अपराध कर सकता है। मूत्रस्थ पिण्ड (adrenal gland) की अव्यवस्थित क्रियाशीलता के फलस्वरूप व्यक्ति संवेगों (emotions) का प्रकाशन उचित रूप से नहीं कर पाता है और संवेगों की अभिव्यक्ति में नियंत्रण खो देता है जिससे उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रह जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में सफल नहीं होता क्योंकि परिस्थिति को समझे बिना ही वह प्रतिक्रिया कर बैठता है और संवेगात्मक अस्थिरता उसके व्यक्तित्व का स्थायी अंग बन जाता है जिसके कारण वह किसी भी प्रकार का अपराध कर सकता है। व्यक्तित्व के निर्माण में पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland) का सर्वाधिक महत्व है, इसी कारण इसे मास्टर ग्रन्थि (Master gland) भी कहते हैं क्योंकि यह अन्य ग्रन्थियों की क्रियाओं में सामंजस्य उत्पन्न करती है। जब यह ग्रन्थि अधिक क्रियाशील हो उठती है तो समय से पूर्व ही व्यक्ति की जननेन्द्रिय का विकास हो जाता है और उसमें कामुकता अधिक अत्यधिक होती है। इस कारण ऐसे व्यक्ति यौन-अपराध कर बैठते हैं इसके विपरीत जब यह ग्रन्थि आवश्यकता से कम क्रियाशील रहती है तो व्यक्ति बौना हो जाता है और यौन अंगों का समुचित विकास नहीं होता। इससे वह अपने को हीन समझने लगता है और उस हीन-भाव की पूर्ति वह अपराध के क्षेत्र में अपनी कुशलता दिखाकर करने का प्रयत्न कर सकता है। ग्रन्थियों की अव्यवस्थित क्रियाशीलता से व्यक्ति में अपराधी व्यवहार पनपता है। इस धारणा के समर्थकों में सर्व श्री स्क्लैप तथा स्मिथ (Schlapp and Smith) व श्री बरमैन (Berman) आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।<sup>46</sup> इन विद्वानों ने मनुष्य के शरीर की विभिन्न ग्रन्थियों की अस्वाभाविकता को अपराध से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है जैसे यौन ग्रन्थियों (sex glands or gonads) में कोई अस्वाभाविकता होने पर व्यक्ति अधिक कामुक (Passionate) होता है और यौन अपराध कर बैठता है। यद्यपि अपराधशास्त्री इन अध्ययनों और इनके निष्कर्षों को सम्पूर्णतया अस्वीकार नहीं कर सकते हैं, फिर भी केवल इसी आधार पर अपराधी व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्येक अपराध में एक परिस्थिति

46. See Max A. Schlapp and Edward H. Smith, *The New Criminology*, Boni and Liveright, New York, 1928.



होती है जो कि प्रत्येक समाज में ही नहीं, अपितु एक ही समाज में अलग-अलग समय में भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है।

**मानसिक दुर्बलता या मन्द-बुद्धि के कारक के रूप में**  
(Feeble-mindedness as a factor of Criminality)

सन् १९२१ में डा० गोडार्ड (Goddard) ने दृढ़तापूर्वक घोषणा की कि मानसिक दुर्बलता या मन्द बुद्धि (Feeble Mindedness) अपराध और बाल-अपराध का सर्वप्रमुख और एकमात्र कारण है।<sup>47</sup> इस सिद्धान्त पर विश्वास करने वाले विद्वानों के मतानुसार—(१) प्रायः सभी अपराधी मन्द-बुद्धि वाले होते हैं और सभी मन्द-बुद्धि वाले व्यक्ति अपने कार्यों के दुष्परिणामों और कानून के अर्थ को समझने की क्षमता नहीं रखते और इसी कारण वे अपराध कर बैठते हैं; (२) मस्तिष्क से दुर्बल या मन्द-बुद्धि वाले व्यक्ति अपने कार्यों के दुष्परिणामों और कानून के अर्थ को समझने की क्षमता नहीं रखते और इसी कारण वे अपराध कर बैठते हैं; (३) मन्द-बुद्धि (Feeble mindedness) मेंडल (Mendel) के वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त के अनुसार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है; (४) बन्ध्यकरण की नीति (policy of sterilization) या मन्द-बुद्धि वाले व्यक्ति का पृथक्करण ही अपराध को रोकने या अपराधियों की समस्या को हल करने की एकमात्र प्रभावपूर्ण पद्धति है।

सन् १९१९ में ही डा० गोडार्ड (Goddard) ने इस सिद्धान्त का समर्थन करना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि अपराधियों के मस्तिष्क की क्षमता के सम्बन्ध में किये गये प्रत्येक अनुसंधान से यही बात, बिना किसी प्रतिवाद की सम्भावना के, प्रमाणित होता है कि अपराधी, हल्के प्रकार के अपराध करने वाले अपराधी, बाल-अपराधी और अन्य समाज-विरोधी समूह के प्रायः सभी सदस्य, और कभी-कभी तो सभी सदस्य, मन्द-बुद्धि या कम बौद्धिक क्षमता-वाले हैं..... इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि बाल-अपराध तथा अपराध का सबसे महान एकमात्र कारण बुद्धि का निम्न-स्तर है जो कि अधिक-तर मन्द-बुद्धि की सीमाओं के अन्तर्गत है।<sup>48</sup> अपनी एक अन्य पुस्तक में श्री गोडार्ड ने लिखा है कि एक बाल-अपराधी की मन्द-बुद्धि बाल अपराध की पूर्णतया व्याख्या करती है।<sup>49</sup>

47. Henry H. Goddard, *Juvenile Delinquency*, Dodd, Mead and Co., New York, 1921, p. 22.

48. "Every investigation of the mentality of criminals, misdemeanants, delinquents, and other antisocial groups has proven beyond the possibility of contradiction that nearly all persons in these classes, and in some cases all, are of low mentality..... It is no longer to be denied that the greatest single cause of delinquency and crime is low grade mentality, much of it within the limits of feeble-mindedness." H. H. Goddard, *Human Efficiency and Level of Intelligence*, Princeton University Press, Princeton, 1920 pp. 73-74.

49. H. H. Goddard, *Juvenile Delinquency*, Dodd, Mead, New York, 1920, p. 22.



सन् १९२८ तथा १९२९ में अपराधियों की समस्त बुद्धि परीक्षाओं के परिणामों को एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया था, ताकि उनके आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकाला जा सके। प्रायः १७५००० अपराधियों तथा बाल-अपराधियों पर की गई परीक्षाओं की ३५० रिपोर्टों के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले गये <sup>50</sup> :—

(१) सन् १९१०-१९१४ के बीच किये गये औसत अध्ययन से पता चलता है कि ५० प्रतिशत से भी अधिक बाल-अपराधी मन्द बुद्धि वाले थे। यह प्रतिशत सन् १९२५ और १९२८ के बीच किये गये अध्ययन से घटकर २० प्रतिशत रह गया।

(२) विगत दो शताब्दियों में किये गये परीक्षणों के परिणामों में अत्यधिक भिन्नतायें पाई गई हैं और इनसे अपराधियों के बुद्धि स्तर का उतना अधिक पता नहीं चलता है जितना कि परीक्षण पद्धतियों का। अतः इनके आधार पर किसी भी प्रकार का अन्तिम निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता है।

(३) जिन अपराधियों को कैद या ऐसी ही सजा मिली है उनका बुद्धि स्तर सामान्य जनसंख्या के बुद्धि स्तर से बहुत कुछ समान है। श्री जेलनी (Zeleny) का इस सम्बन्ध में निष्कर्ष यह है कि बाल-अपराधी तथा साधारण जनता के बुद्धि स्तर का अनुपात १:२:१ है।<sup>51</sup>

(४) समुदाय के मन्द-बुद्धि वाले व्यक्तियों के समूहों के अध्ययनों से यह पता चलता है कि साधारण जनसंख्या की तुलना में इन समूहों में अधिक बाल-अपराधी पाये नहीं जाते हैं।

(५) मन्द-बुद्धि वाले कैदियों का जेल रिकार्ड यह कहता है कि वे प्रायः कैदियों के समान ही अनुशासित व्यवहार करते हैं।

(६) 'पैरोल' पर छोड़े गये मन्द-बुद्धि वाले अपराधी उन दूसरे अपराधियों की भाँति ही सफल रहते हैं जो कि पैरोल पर छोड़े जाते हैं।

(७) अन्य अपराधियों की भाँति ही मन्द-बुद्धि वाले अपराधी भी उतनी ही संख्या में बदला लेने वाले हो जाते हैं।

(८) यौन अपराध के लिए सजा प्राप्त व्यक्ति अन्य अपराधों के लिए सजा प्राप्त व्यक्तियों की तुलना में अधिक मन्द-बुद्धि वाले होते हैं।

सामान्य रूप में, इस विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपराध तथा मन्द-बुद्धिपन में तुलनात्मक रूप में बहुत कम सम्बन्ध है, इससे कहीं अधिक सह सम्बन्ध आयु तथा यौन-भेद और अपराध के बीच पाया जाता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मन्द-बुद्धि कुछ व्यक्तियों के लिए अपराध करने का एक बहुत महत्वपूर्ण कारक नहीं बन सकता है।<sup>52</sup>

50. E. H. Sutherland, *op. cit.*, pp. 118-119.

51. L. D. Zeleny, "Feeble-mindedness and Criminal Conduct," *American Journal of Sociology*, Vol. 38, January, 1933, pp. 564-578.

52. "In general, this analysis shows that the relationship between crime



श्री कार्ल मर्कीसन (Carl Murchison) का कथन है कि डा० गोडार्ड तथा उनके साथियों की यह धारणा सम्पूर्णतया कल्पित है कि मन्द-बुद्धि अपराध तथा बाल-अपराध का एकमात्र कारण है। इन धारणाओं का कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है।<sup>53</sup> मानसिक दुर्बलता वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया के आधार पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है, इस धारणा को भी आज स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि मानसिक दुर्बलता अधिक बीमारी, शारीरिक आघात या अपर्याप्त पोषण (Malnutrition) आदि अनेक कारणों से हो सकती है।

अपराधी मन्द बुद्धि वाले होते हैं यह धारणा भी कल्पित है। डा० एडलर (Adler) के अध्ययन के अनुसार अपराधियों की बुद्धि अमेरिकन सैनिकों की अपेक्षा अधिक है और कैदियों तथा साधारण जनता की सामान्य बुद्धि के स्तर में कोई भी अन्तर नहीं है।<sup>54</sup> श्री टुलचिन (Tulchin) ने भी अपने अध्ययन द्वारा डा० एडलर की धारणा की पुष्टि की है।<sup>55</sup> सामान्य रूप में यह देखा गया है कि निम्न श्रेणी के अपराध बुद्धिहीनता के कारण हो भी सकते हैं, परन्तु जालसाजी, गबन आदि अपराध में उच्च कोटि की बुद्धि का ही परिचय अधिकतर मिलता है।

वास्तव में मन्द-बुद्धि को अपराध व बाल-अपराध का कारण मानने वाले सिद्धान्तकारों ने जो अध्ययन मन्द-बुद्धि वालों का किया है, वही त्रुटिपूर्ण है। उन लोगों ने अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये अवैज्ञानिक रूप में ऐसे लोगों को ही चुना है जो कि अपराधी या बाल-अपराधी तथा मन्द-बुद्धि वाले दोनों ही हैं। वास्तव में अधिकतर आधुनिक अध्ययन से यह पता चलता है कि कैदी लोग बुद्धि में साधारण जनता की ही भांति हैं। साथ ही मन्द-बुद्धि वाले अपराधी भी सुधारात्मक प्रयत्नों में उतने ही सफल हुए हैं जितने कि अन्य प्रकार के अपराधी।<sup>56</sup> साथ ही मन्द-बुद्धि उनके अपराधी व्यवहार की व्याख्या भी नहीं कर सकता है। इस सामान्य निष्कर्ष या धारणा का एक मात्र अपवाद सम्भवतः वे अपराधी हैं जिन्हें यौन-अपराध के लिये दण्डित किया जाता है।<sup>57</sup> यौन-अपराधियों का बुद्धि-स्तर अन्य अपराधियों की तुलना में कुछ कम होता है।<sup>58</sup>

---

and feeble-mindedness is comparatively slight. Certainly intelligence is not as closely correlated with crime as are age and sex. This does not, however, mean that it may not be a very important condition in individual cases." E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 119.

53. See Barnes and Teeters, *op. cit.*

54. Herman M. Adler and M. R. Worthington, "The Scope of the Problem of Delinquency and Crime as Related to mental Deficiency," *Journal of Psycho-Asthenics*, Vol. 30, 1925, pp. 47-57.

55. Simon H. Tulchin, *Intelligence and Crime*, University of Chicago Press, Chicago, 1939, p. 12.

56. E. H. Sutherland, *Social Attitudes*, edited by Kimball Young, Henry Holt and Co., New York, 1931, p. 374.

57. See Jean Weidensall, *The Mentality of the Criminal Women*, Warwick and York, Baltimore, 1916 for a detailed treatment of this.

58. See E. H. Sutherland, *op. cit.*, for an extended discussion of this.



## संवेगात्मक अस्थिरता तथा संघर्ष (Emotional Instability and Conflict)

अपराध का एक महत्वपूर्ण कारण संवेगात्मक अस्थिरता तथा संघर्ष भी है। अनेक विद्वानों का कथन है कि साधारणतया अपराधी संवेगात्मक दृष्टि से असंतुष्ट व्यक्ति होते हैं। अगर एक व्यक्ति में हीनता की भावना है तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वह हिंसात्मक कार्य करके यह अनुभव करने का प्रयत्न कर सकता है कि वह भी किसी से हीन नहीं है या वह भी साहसी और शक्तिशाली है। उसी प्रकार प्रेम के विषय में असंतुष्ट व्यक्ति यह प्रमाणित करने के लिए कि वह भी इस विषय में किसी से पीछे नहीं है यौन सम्बन्धी अपराध कर सकता है। चोरी प्रतिशोध या भौतिक पदार्थों की लालसा के कारण भी हो सकती है।<sup>59</sup>

श्री विलियम व्हाइट (William White) के विचार में प्रमुख संवेग तीन हैं—प्रेम, घृणा और दोष।<sup>60</sup> प्रेम के विषय में मनुष्य बहुधा स्वार्थी हो जाता है और केवल “दो” के स्वार्थ और सुख को ही प्रधानता देता है जिसके कारण अन्य व्यक्तियों के प्रति वह अन्याय भी कर सकता है। प्रेम के क्षेत्र में असफल व्यक्ति में भी प्रतिशोध की भावना जागृत हो सकती है। घृणा मनुष्य को स्वभावतः ही अन्यायी और कठोर बना देती है और घृणा के कारण ही मनुष्य अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है, यहां तक कि दूसरों की हत्या करना भी उसके लिए कठिन नहीं। घृणा से ही दोष की भावना जागृत होती है। इस प्रकार एक व्यक्ति किसी वस्तु से प्रेम करता है, पर उसे वह पा न सका। और प्रेम घृणा में बदल जाता है—घृणा से ही दोष की भावना उत्पन्न होती है और वह अपने उस प्रेम-पात्र को नष्ट करने या चोट पहुँचाने का प्रयास करता है। इस प्रयास में ही वह अपराधी-व्यवहार करने में भी पीछे नहीं हटता क्योंकि उसका असंतुष्ट संवेग उसे अपराधी-व्यवहार को और क्रियाशील करता है। इस प्रकार का असंतुष्ट व्यक्ति उसे जिसको कि वह कारण मानता है “समुचित शिक्षा” या दण्ड दे देना ही उचित समझता है और तभी अपराध कर बैठता है।

शायद यह गलत नहीं है कि जीवन में बार-बार निराश होने पर या अपनी निम्न आर्थिक स्थिति से असंतुष्ट या परेशान होकर या दूसरों के बराबर का स्तर पाने के लिए अनेक व्यक्ति सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध करते हैं। उसी प्रकार प्रेम के क्षेत्र में असफल होने पर या ईर्ष्या, घृणा अथवा व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर अनेक व्यक्ति हिंसात्मक कार्य और व्यक्ति के विरुद्ध अपराध करते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि संवेगात्मक अस्थिरता या संघर्ष ही अपराध का एकमात्र कारण है क्योंकि सभी ऐसे व्यक्ति अपराधी होते हैं ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिल सका है।

59. Elliott and Merrill, *Op. cit.*, p. 120.

60. William A. White, *Crimes and Criminals*, Rinehart & Co. New York, 1933, Chapter VI.



### आयु (Age)

आयु का भी महत्वपूर्ण प्रभाव अपराध के प्रकार और संख्या पर पड़ता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि २० और २४ वर्ष की आयु के लोग सबसे अधिक अपराध करते हैं।<sup>61</sup> यद्यपि वृद्धावस्था में युवा-वस्था की अपेक्षा कम अपराध होते हैं फिर भी वृद्धावस्था के अपराध की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यौन अपराध बुढ़ापे में अधिक होते हैं। डकैती, गबन, जालसाजी, दलात्कार, आवाारागर्दी आदि अपराध २० से २४ वर्ष के बीच के लोग अधिक करते हैं; हत्या और अन्य यौन अपराध २० से २६ वर्ष की आयु की विशेषता है जब कि नशा, जुआ आदि अपराध ३५ से ३६ वर्ष के बीच के लोगों द्वारा अधिक किये जाते हैं।<sup>62</sup> इस सम्बन्ध में प्रो० सदरलैंड (Sutherland) द्वारा उल्लिखित निम्नलिखित निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं।<sup>63</sup>—(१) इंग्लैंड में एकत्रित आँकड़ों के अनुसार सर्वाधिक अपराध की आयु पुरुषों में १२ या १३ वर्ष और स्त्रियों में १६ या १७ वर्ष है, जबकि अमरीका में यह आयु १८ से २४ वर्ष के बीच में है। (२) सर्वाधिक अपराध की आयु अपराधों के प्रकार के अनुसार बदलती रहती है, जैसे चोरी, डकैती, आवाारागर्दी आदि अपराध २६ से २४ वर्ष की विशेषतायें हैं; जबकि वेश्यावृत्ति, घातक आक्रमण २५ से २६ वर्ष की आयु की विशेषतायें हैं। (३) सर्वाधिकार अपराध की आयु स्त्रियों और पुरुषों में पृथक्-पृथक् होती है जैसे यौन सम्बन्धी अपराध पुरुषों में २० और २६ वर्ष की आयु के बीच अधिक होते हैं जबकि स्त्रियों में २० और २४ वर्ष की आयु के बीच। (४) हिंसात्मक अपराध साधारणतया युवकों के द्वारा ही किये जाते हैं। कई शताब्दियों से इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। (५) अधिक बाल-अपराध की दरों वाले क्षेत्रों में कम बाल-अपराध की दरों वाले क्षेत्रों की अपेक्षा प्रथम अपराध करने की आयु कम रही है। (६) जिन बच्चों का शारीरिक विकास उनकी आयु की तुलना में अधिक हो गया है, उनमें प्रथम अपराध की आयु साधारण बच्चों से कम होती है। (७) सर्वाधिक अपराध की दरें आयु वीत जाने के बाद क्रमशः कम होती हैं। (८) विभिन्न आयु पर सर्वाधिक किये जाने वाले अपराधों की दरें समय काल के अनुसार बदलती रहती हैं। (९) बाल-अपराध सम्भवतः वयस्क-अपराध से कुछ विषयों में सम्बन्धित है, पर यह कहना गलत होगा कि आज का बाल-अपराधी कल का वयस्क-अपराधी होगा।

परन्तु यह याद रखना होगा कि इस सम्बन्ध में कोई भी अन्तिम निष्कर्ष सम्भव नहीं। वास्तव में आयु के साथ-साथ न केवल शारीरिक रचना और क्रियाओं में परिवर्तन आते जाते हैं बल्कि जीवन की परिस्थितियाँ (life situations) भी

61. Elliott and Merrill, *op. cit.*, p. 111.

62. E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 109.

63. *Ibid*, pp. 108—110.



बदलती रहती हैं और साथ ही नयी-नयी अन्तःक्रियाओं (inter-actions) और अन्तःसम्बन्धों (inter-relations) के कारण व्यक्ति के दृष्टिकोणों, मनोवृत्तियों, रुचियों तथा हितों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कभी-कभी ये परिवर्तन व्यक्ति को अपराधी-व्यवहार की ओर क्रियाशील करते हैं।

लिंग

(Sex)

सभी राष्ट्रों में, एक राष्ट्र के अन्तर्गत सभी समुदायों में, सभी आयु-समूहों (age groups) में, इतिहास के सभी काल में और सभी प्रकार के अपराधों में पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा अधिक अपराध करते हैं। अमेरिका के आँकड़ों से पता चलता है कि स्त्रियों की अपेक्षा दस गुना अधिक पुरुष कैद किये जाते हैं, चौदह गुना अधिक पुरुष सुधारालय संस्थाओं में भेजे जाते हैं और बीस गुना अधिक पुरुष विभिन्न जेलों में भेजे जाते हैं। उसी प्रकार किशोर न्यायालय में पेश किये गये बाल-अपराधियों में ८५ प्रतिशत बाल-अपराधी लड़के होते हैं।<sup>64</sup>

कुछ विद्वानों का मत है कि पुरुष अपराधों की अधिकता उनकी कुछ प्राणिशास्त्रीय विशेषताओं के कारण होती है। परन्तु आज बहुत कम विद्वान् इस धारणा को सत्य मानते हैं। प्रो० सदरलैंड (Sutherland) का मत है कि स्त्रियों और पुरुषों के अपराध की दरों में इतनी अधिक भिन्नतायें हैं कि उन्हें दोनों लिंगों की सामाजिक परिस्थितियों और परम्पराओं के अन्तर के आधार पर समझने का प्रयत्न करना ही उचित होगा।<sup>65</sup> दुनिया की प्रतिस्पर्धा का सामना स्त्रियों को कम करना पड़ता है, इस कारण सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध करने का संयोग उनके लिए कम होता है। युद्ध के समय में जब स्त्रियाँ पुरुषों के अनेक पेशों को करने लगती हैं तो उनमें अपराध की दरें भी बढ़ जाती हैं। उसी प्रकार प्रत्येक समाज में ही स्त्रियों के लिए पुरुषों की अपेक्षा कुछ अधिक और विशेष सामाजिक संहितायें होती हैं जिनके कारण भी उनका जीवन बहुत कुछ नियन्त्रित हो जाता है। लड़कियों को रास्ते-रास्ते में घूम कर अशुभार बेचना या फेरी नहीं करनी होती है, न ही उन्हें आवागमन करने की या हर प्रकार के लोगों से मिलने-जुलने की उतनी सुविधायें होती हैं। सामान्यतया लड़कियों के कार्यों पर अधिक ध्यान रखा जाता है और उन्हें बाल्यावस्था से ही लड़कों की अपेक्षा सामाजिक नियमों के अनुकूल कार्य करने की शिक्षा अधिक सावधानी और निरंतरता से दी जाती है। इन्हीं सब कारणों से स्त्रियों के अपराध करने की सम्भावना भी कम रहती है। इस विषय में सामाजिक परिस्थितियों और परम्पराओं का प्रभाव प्रो० सदरलैंड के इन निष्कर्षों से भी स्पष्ट हो जाता है कि (१) स्त्री और पुरुषों में अपराधों का अनुपात (ratio) प्रत्येक समाज में अलग-अलग होता

64. *Ibid.*, p. 111.

65. "The variations in the sex ratios in crime are so great that they can be explained only by differences in the social positions and traditions of the two sexes." *Ibid.*, p. 112.



है; (२) एक ही समाज में विभिन्न समूहों में यह अनुपात भिन्न-भिन्न होता है; (३) शहरों में गांवों की अपेक्षा स्त्री और पुरुषों के अपराध की दरें प्रायः समान हैं; (४) स्त्री और पुरुषों के अपराधों का अनुपात शहर के विभिन्न भागों में अलग-अलग होता है; (५) युद्ध काल में स्त्रियों के अपराध की दरें बढ़ती हैं; (६) वर्तमान समय में स्त्रियों में अपराध की दरें सामान्य रूप में बढ़ रही हैं क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की गति भी आजकल बढ़ गई है।<sup>६६</sup> इससे स्पष्ट है कि स्त्री और पुरुषों में अपराध की दरों में जो अन्तर है उसका आधार सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक हैं, प्राणि-शास्त्रीय कारण कम।

### नशा

#### (Drug and Drink)

नशे की हालत में की गई गिरफ्तारियाँ वास्तव में उद्‌ण्ड व्यवहार के लिए ही की जाती हैं। सर्वश्री शेल्डन और ग्लुएक (Sheldon and Glueck) के अध्ययन से पता चलता है कि कैदियों में मद्यपान करने वालों की संख्या अत्यधिक है। जो भी शराब पीने का आदी होगा वही अपराधी भी होगा, ऐसी कोई बात नहीं है, परन्तु जब सीमा से अधिक मद्यपान किया जाता है तो पीने वाले का व्यक्तित्व असंगठित हो जाता है। अत्यधिक शराब पीने से दिमाग कमजोर हो जाता है, संकेत ग्रहण करने की क्षमता बढ़ जाती है और पशु-प्रवृत्तियों को दबाने की शक्ति क्षीण हो जाती है। घातक आक्रमण, बलात्कार शराबी का सामान्य अपराध है। अत्यधिक शराब पीने वाले की आर्थिक दशा भी दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जाती है। इससे भी नैतिक पतन होता है।

### शिक्षा का स्तर

#### (Educational Status)

अमेरिका में राज्य की ओर से किये गये सर्वेक्षण से पता चलता है कि बहुत थोड़े से ही कैदी अच्छी शिक्षा प्राप्त किये होते हैं। प्रायः ८६ प्रतिशत कैदी केवल कुछ पढ़ना-लिखना जानते हैं और प्रायः ६८ प्रतिशत कैदी किसी भी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं हैं। जालसाजी, गबन, भ्रूणहत्या आदि दो-चार अपराधों को छोड़कर कोई भी ऐसा अपराध नहीं होता है जिसके लिये कालेज की शिक्षा आवश्यक हो। गबन, जालसाजी, भ्रूणहत्या, इनकम टैक्स से बचना आदि गम्भीर अपराध अधिकतर शिक्षित व्यक्तियों के द्वारा ही किये जाते हैं। साथ ही शिक्षित व्यक्ति इस प्रकार आयोजित रूप से अपराध करते हैं कि कानून के पंजे में उन्हें फँसाना कठिन होता है। अशिक्षित व्यक्ति के लिये अपनी जीविका कमाने में अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है, इस कारण मनोरंजन के स्वस्थ साधन भी उसे उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। इन सब कारणों से व्यक्ति के लिये गलत रास्ते में चले जाने की सम्भावना उसके लिये अधिक होती है।



## अपराध के आर्थिक कारण (Economic Factors of Crime)

आर्थिक दशाओं या परिस्थितियों को अपराध के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में प्रमाणित करने के लिये अनेक अध्ययन हुए हैं और उनके आधार पर व्यापार चक्र तथा अपराध की दरें, गैह्र के भाव तथा हल्के प्रकार के अपराध, ऋतु परिवर्तन के साथ आर्थिक आवश्यकताओं में परिवर्तन तथा अपराध, निर्धनता तथा अपराध, औद्योगीकरण तथा अपराध आदि के बीच असंख्य सहसम्बन्ध स्थापित किये गये हैं। डा० हेरी एलमार बार्न्स (Dr. Harry Elmer Barnes) का कथन है कि “आवश्यकता तथा लालच अधिकतर अपराधों की व्याख्या करते हैं।”<sup>67</sup> इस कथन के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि आधुनिक दुनिया में आर्थिक या भौतिक सफलता के आधार पर ही सामाजिक स्थिति (status) तथा प्रतिष्ठा निर्भर करती है, इस लिये सभी लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की धुन में इतना मस्त हो जाते हैं कि उन्हें गैर-कानूनी काम करने में भी अधिक संकोच नहीं होता है। यही कारण है कि आर्थिक कारण से केवल गरीब लोग ही नहीं, धनवान लोग भी अपराध करते हैं। निर्धनता से पीड़ित व्यक्ति जिन अस्वस्थ परिस्थितियों में रहता है, जिन लोगों के सम्पर्क में आता है, जिन आर्थिक आवश्यकताओं को हर पल अनुभव करता रहता है, वे सब उसे अपराध के रास्ते पर घसीट कर ले जाते हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक दृष्टिकोण से अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहता है और जब वह यह देखता है कि आज की दुनिया में अनैतिक कार्य व बेईमानी का पुरस्कार वास्तव में आकर्षक होता है, जब वह देखता है कि व्यापार में बेईमानी करने वाले, राजनैतिक भ्रष्टाचार करने वाले, धूस लेने वाले, लोगों को धोखा देने वाले आज की दुनिया में मौज उड़ा रहे हैं, नये-नये आलीशान मकान बनवा रहे हैं, प्रत्येक वर्ष कार बदल रहे हैं, अच्छा खा-पी और पहन रहे हैं, नौकरों को घर पर रखकर विलासी जीवन को और भी बढ़ा रहे हैं, तो उसमें कानून के प्रति श्रद्धा कम हो जाती है और वह भी सन्तोषजनक आर्थिक जीवन-स्तर को प्राप्त करने के लालच में पड़कर अपराध के रास्ते में बढ़ जाते हैं। उसी प्रकार अधिक धन या सम्पत्ति का मालिक होने पर भी व्यक्ति में जो स्वेच्छाचारिता विकसित हो जाती है, वह भी व्यक्ति को गलत रास्ते पर ला खड़ा करने का एक कारण बन सकती है।

अपराध तथा आर्थिक परिस्थिति में सम्बन्ध (Relation between crime and economic condition) के दर्शाने के लिये जो अध्ययन हुए हैं, उनमें दो प्रमुख उपकल्पनाओं को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है—(१) निम्न आर्थिक स्थिति के लोग उच्च आर्थिक स्थिति वाले लोगों की अपेक्षा अधिक अपराध करते हैं; तथा (२) आर्थिक संकट या तंगी के समय अपराध की दरें बढ़ जाती हैं। इन दोनों उपकल्पनाओं के विषय में थोड़ी-सी विस्तार में विवेचना कर लेना आवश्यक होगी।

67. “Need and greed explain most crimes.” H. E. Barnes, *Society in Transition*, Prentice Hall, New York, 1939, p. 677,



(१) निम्न आर्थिक स्थिति के लोग अधिक अपराध करते हैं इस उपकल्पना को प्रमाणित करने के लिये दो प्रकार के आंकड़ों को इकट्ठा किया जाता है— (क) वे व्यक्ति जो कि किसी अपराध के सन्दर्भ में पकड़े गये हैं, जिनको सजा मिली है तथा जिन्हें जेल भेजा गया है, वे अधिकतर निम्न आर्थिक स्थिति-समूह के ही सदस्य पाये गये। श्री काल्डवेल (Caldwell) के अध्ययन से पता चलता है कि विसकॉनसिन (Wisconsin) सुधारात्मक संस्था के ३३.४ प्रतिशत लड़के बालअपराधी तथा ५२.० प्रतिशत लड़की बाल-अपराधी के माता-पिता अकुशल श्रमिक हैं।<sup>68</sup> सर्व श्री शेल्डन तथा ग्लूयेक (Sheldon and Glueck) ने अपने अध्ययन द्वारा यह दर्शाया है कि ७१.२ प्रतिशत पुरुष बाल-अपराधियों तथा ६१.३ प्रतिशत स्त्री बाल-अपराधियों की आर्थिक स्थिति 'आराम स्तर' (comfortable level) से नीची थी।<sup>69</sup> सन् १९४४ और १९५६ के बीच लंका में प्राविशन (probation) पर रक्खे गये बच्चों में ७३ प्रतिशत 'गरीब' या 'बहुत गरीब' माने गये। और भी जो अध्ययन इस सम्बन्ध में हुए हैं उनसे भी यही पता चलता है कि गरीब घर के लोग ही अधिक अपराधी होते हैं। (ख) निम्न आर्थिक स्थिति के लोग अधिक अपराध करते हैं, इसे प्रमाणित करने के लिए एक दूसरे प्रकार के आंकड़ों को भी एकत्रित किया गया है। ६२ शहरों का तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा श्री ऑगबर्न (Ogburn) ने यह दर्शाया है कि निर्धनता तथा अपराध में महत्वपूर्ण सह-सम्बन्ध है।<sup>70</sup> सर्व श्री शाह तथा मैके (Shaw and Mckay) द्वारा २१ शहरों में से प्रत्येक के निवास-स्थान वाले मोहल्लों (residential areas) का तुलनात्मक अध्ययन करने पर अपराध तथा निर्धनता के बीच स्पष्ट सम्बन्ध पाया।<sup>71</sup>

(२) उसी प्रकार, आर्थिक संकट या तंगी के समय अपराध की दरें बढ़ जाती हैं, इस निष्कर्ष के पक्ष में भी अनेक समर्थक हैं जिन्होंने अपने अध्ययनों द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आर्थिक संकट और अपराध का सह-सम्बन्ध वास्तविक है। इस सम्बन्ध में डा० डोरोथी थॉमस (Dorothy Thomas), सर्व श्री बोंगर (Bonger), बर्ट (Burt) आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं जिनके विचारानुसार आर्थिक तंगी या संकट का समय अपराध की दरों को निश्चय ही बढ़ा देता है। इनके विचारों में मुख्य बात यह है कि आर्थिक संकट या तंगी के समय लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है और उनको नाना

68. M. G. Caldwell, "The Economic Status of Families of Delinquent Boys in Wisconsin," *American Journal of Sociology*, Vol. 37, Sept. 1931, pp. 231—239.

69. Sheldon and Glueck, *One Thousand Juvenile Delinquents*, Harvard University Press, Cambridge, 1934, p. 197.

70. W. F. Ogburn, "Factors in the Variation of Crime Among Cities," *Journal of the American Statistical Association*, Vol. 30, March, 1935, pp. 12—34.

71. C. R. Shaw and H. D. Mckay, *Juvenile Delinquency and Urban Areas*, University of Chicago Press, Chicago, 1942, pp. 441 ff.



प्रकार का कष्ट होता है जिसके फलस्वरूप कुछ लोग अपराधी-राह के पथिक बन जाते हैं।

आर्थिक परिस्थितियों का अपराध के साथ वास्तविक सम्बन्ध क्या है, यह निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगा—

### निर्धनता व सम्पदा तथा अपराध (Poverty and Riches and Crime)

हम पहले ही श्री काल्डवेल (Cald Well), सर्व श्री शेल्डन तथा ग्ल्यूक (Sheldon and Glueck) आदि विद्वानों के अध्ययनों का उल्लेख कर चुके हैं। इन अध्ययनों द्वारा उपरोक्त विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला कि निर्धनता तथा अपराध में एक वास्तविक सह-सम्बन्ध है। निर्धनता स्वयं कोई अपराध नहीं है, अपितु यह उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने में सहायक होता है जिनमें रहकर व्यक्त के लिये अपराध करना सरल हो जाता है। इसीलिये समाजवादी सिद्धान्तकारों ने निर्धनता को ही अपराध का प्रमुख कारण इन्हिलिये माना है कि निर्धन व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं तक की पूर्ति नहीं कर पाता है और जब यह देखता है कि उन आवश्यकताओं की पूर्ति वैध तरीकों से नहीं की जा सकती है तो वह अवैध तरीकों को अपनाता है। दूसरे शब्दों में निर्धनता भोजन, कपड़ा और मकान के लिये व्यक्त को तरसाकर अपराधी बनने के लिये उसे मजबूर कर सकती है। निर्धनता के कारण जब उसे न उचित खाने को मिलता है और न ही उचित ढंग से पहनने के लिये कपड़ा और रहने के लिये मकान तो उसका नैतिक पतन हो जाना असम्भव नहीं है। अत्यधिक निर्धनता की स्थिति में जो नाना प्रकार की बीमारी व्यक्ति को घेर लेती है उससे उसकी कुशलता घटती है और उसी के साथ उसकी आय। फलतः निर्धनता और भी बढ़ जाती है। निर्धन व्यक्ति अधिक बीमार भी रहता है जिससे कभी-कभी उसे अपनी नौकरी तक से हाथ धोना पड़ता है और उसकी निर्धनता और भी बढ़ जाती है। इस प्रकार निर्धनता अधिक निर्धनता को उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप व्यक्त अपनी तथा अपने आश्रितों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता है और अपराधी बन जाता है। अत्यधिक निर्धनता की स्थिति में व्यक्त आर्थिक चिन्ता में मानसिक सन्तुलन खो बैठता है, विशेषकर उस समय जब एक ओर उसे एक-एक दाना अन्न के लिये तरसना पड़ता है और दूसरी ओर उसी की आंखों के सामने अन्य अनेक लोग आगम और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसी अवस्था में उसमें बदला लेने की एक इच्छा उत्पन्न होती है और वह अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को दूसरों से बलपूर्वक छीन लेना चाहता है। इसी के फलस्वरूप वह चोरी करता है, डकैती करता फिरता है या बलपूर्वक दूसरों से धन आदि छीन लेता है।

इटली के वैज्ञानिक श्री फोर्नासारी डी वर्सी ने अपने अध्ययनों द्वारा यह दर्शाया है कि इटली की समस्त जनसंख्या का ६० प्रतिशत भाग निर्धनों का था और कुछ अपराधियों की संख्या का ८५ से ९० प्रतिशत भाग निर्धन जनता से उत्पन्न होता था। डच अपराधशास्त्री श्री बोंगर (Bonger) का यह दृढ़ विश्वास था कि



सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों का अधिकतर भाग निर्धनता के कारण ही घटित होता है। निर्धनता अपराध की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है क्योंकि निर्धनता से अनेक मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व पैदा होते हैं। निर्धन व्यक्ति एक निराश व्यक्ति होता है। निराशाओं को भूलने के लिये वह शराब पीता है जोकि स्वयं ही अपराध का एक कारण है।

श्री साइरिल बर्ट (Burt) के अध्ययनों से यह पता चलता है कि १६ प्रतिशत किशोर अपराधी अत्यधिक निर्धन परिवारों के सदस्य थे, जबकि ३७ प्रतिशत औसत निर्धन परिवारों के सदस्य थे। इससे यह स्पष्ट है कि आधे से अधिक बाल-अपराधी निर्धन परिवार के ही सदस्य हैं। परन्तु इस बड़ी संख्या का मुख्य कारण श्री बर्ट के अनुसार यह है कि सम्पन्न परिवारों के बच्चे अपनी सम्पन्नता के कारण या धन के बल पर कानून के पंजों से अधिक सरलता से निकल जाते हैं। श्री बर्ट का निष्कर्ष यह है कि केवल निर्धनता अपराध का कारण नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में श्री टप्पन (Tappan) का विचार यह है कि निर्धनता अपराध से सम्बन्धित है, परन्तु मुख्यतः इस कारण से कि निर्धनता बढ़ने के साथ-साथ जिन परिस्थितियों का उद्भव होता है उनमें बच्चों को उचित ढंग से शिक्षा व अन्य प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होते हैं और पारिवारिक नियंत्रण भी ढीला पड़ जाता है जो स्वयं में चरित्र, मूल्यों और कानून के प्रति प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करने में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।<sup>72</sup> निर्धनता के कारण बचपन में इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है—ऐसे बच्चे बड़े होकर उन इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं, चाहे अवैधानिक तरीकों से ही क्यों न करें। द्वितीयतः निर्धनता के कारण अकुशलता बढ़ती है क्योंकि शिक्षा व अन्य प्रकार का प्रशिक्षण (training) उचित ढंग से नहीं मिल पाता है और इसी अकुशलता के कारण नौकरी नहीं मिल पाती है। ऐसे असफल व्यक्ति भी अपराध करते हैं। अन्त में, निर्धनता के कारण ही परिवार में तनाव व भगड़े बने रहते हैं, स्वस्थ मनोरंजन के साधनों का उपभोग नहीं किया जा सकता है और मानसिक तनाव बना रहता है। इन सबके कारण भी व्यक्ति अपराध करता है।

निर्धनता ईर्ष्या और आकांक्षा को भी भड़का सकती है। एक निर्धन व्यक्ति सिनेमा में या अपने शहर के ही धनी मुहल्लों में सम्पत्ति तथा भोग-विलास पूर्ण जीवन को देखता है तो उसमें विरोध और निराशा की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं क्योंकि उसके मन में यह हीन भाव पनप सकता है कि वह उस प्रकार के आराम तथा ऐश्वर्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इससे उसके मन में ईर्ष्या की भावना पनप सकती है और वह ईर्ष्या के कारण और अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए ही अपराध कर सकता है। ईर्ष्या और आकांक्षा, न कि भूख और ठंडक अनेक छोटे-छोटे अपराधों के कारण हैं। मामूली वस्त्र तो सभी लड़कियों को

72. Paul W. Tappan, *Juvenile Delinquency*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1949, p. 142.



मिल जाता है पर अच्छे और कीमती कपड़ों को प्राप्त करने के लिये अनेक लड़कियाँ अपनी देह को बेच देती हैं—वेश्यावृत्ति को अपना लेती हैं।

श्री बोंगर (Bonger) जोकि इस मत के घोर समर्थक है कि आर्थिक कारण अपराध के लिए उत्तरदायी हैं, उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि अनेक आर्थिक अपराध केवल निर्धनता के कारण ही नहीं होता है बल्कि एक विलासपूर्ण जीवन-स्तर को प्राप्त करने की इच्छा के कारण हुआ करता है। जो निर्धन व्यक्ति है वह जब सम्पन्न व्यक्तियों को और उनके दृष्टि आकर्षक उपभोगों को देखता है तो वह भी उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करता है पर इस उद्देश्य की पूर्ति वैध रूप में पूरी करना निर्धन व्यक्ति के लिए असम्भव सा होता है।<sup>73</sup>

श्री सदरलैन्ड (Suther Land) का कथन है कि यदि उपलब्ध आंकड़ों से यह पता चलता है कि निर्धन व्यक्ति अधिक अपराध करते हैं तो वह इस कारण भी हो सकता है कि (अ) अपराधियों के जो सरकारी आंकड़े प्राप्त हैं उनमें अभिजात अपराधी (white-collar criminals) सम्मिलित नहीं हैं क्योंकि वे अपने धन के बल पर कानून को अकसर धोखा देने में सफल होते हैं। यही कारण है कि हमें ऊपरी तौर पर यह लगता है कि निर्धन व्यक्ति ही अधिक अपराध करते हैं। वास्तव में सरकारी आंकड़ों को छोड़कर और किसी आधार पर यह प्रमाणित करना बहुत कठिन है कि निर्धन व्यक्ति ही केवल अपराधी होते हैं। (ब) यदि हम सरकारी आंकड़ों को ही ठीक मान लें तो भी हम यही पायेंगे कि इन आंकड़ों में भी आपस में विरोध है। यदि विभिन्न समय तथा समाज में होने वाले अपराधों का हम तुलनात्मक रूप से अध्ययन करें तो हम यही पायेंगे कि अपराध और निर्धनता का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध इस रूप में नहीं है कि निर्धनता के कारण ही अपराध होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि निर्धनता के साथ-साथ कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ व परिणाम भी साथ-साथ जुड़े हुए हैं। निर्धनता की यही सामाजिक परिस्थितियाँ या परिणाम न कि आर्थिक आवश्यकता अपराधी व्यवहार को जन्म देता है। आधुनिक शहर में निर्धनता का अर्थ है कम किराये के मकान वाली गन्दी बस्तियों में व्यक्तियों का बहिष्कार, जहाँ व्यक्ति अपराध विरोधी प्रतिमानों (anti-criminal patterns) से पृथक् हो जाता है और अनेक अपराधी व्यवहार प्रतिमानों के सम्पर्क में आने को बाध्य होता है। निर्धनता का यह भी अर्थ होता है कि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति नीची है, कुछ भी सम्मानप्रद नहीं है और साथ ही व्यक्तिगत प्रगति के लिए प्रयत्न करने को भी कुछ नहीं है। इसका अर्थ बुरे मकान, बुरा स्वास्थ्य, बुरे साथी तथा बुरी शारीरिक या भौतिक परिस्थितियाँ हैं। इसका मतलब यह भी है कि माता-पिता दोनों ही घर से बाहर काम करने के लिए जाते हैं और घर में अनियन्त्रित छूट जाते

73. "Bonger himself recognizes, however, that many economic crimes are motivated not by absolute poverty but by a desire to achieve a standard of luxury. The sight of the well-to-do and their conspicuous consumption tends indirectly to set a goal impossible of legitimate achievement among the impecunious." M. A. Elliott and F. E. Merrill, *op. cit.*, p. 125.



हैं, जब माता-पिता घर लौटते हैं तो इतना थके रहते हैं कि उनसे कुछ भी कहने पर चिड़चिड़ा उठते हैं। इसीलिये बच्चे न तो माता-पिता के पास भटकते हैं और नाहीं माता-पिता को बच्चों के भविष्य निर्माण की अधिक चिन्ता रहती है। निर्धनता का यह भी तात्पर्य है कि बच्चों की पढ़ाई जल्दी से जल्दी रोककर उन्हें किसी नौकरी में लगा दिया जाय ताकि वे भी परिवार की आमदनी को बढ़ाने में सहायक हों। ये सभी निर्धनता के ही सामाजिक साथी हैं और यह सब साथी अपराध को उत्पन्न करने में साथ देते हैं। इसलिए निर्धनता का महत्व अपराध के निर्धारण में निर्धनता के इन सामाजिक साथियों का कारण है।<sup>74</sup>

### बेरोजगारी तथा अपराध

#### (Unemployment and Crime)

बहुत कुछ निर्धनता की ही भाँति अपराध के निर्धारण में बेरोजगारी का प्रभाव होता है। जैसा कि पिछले अध्यायों में कई बार कहा जा चुका है कि बेरोजगारी व्यक्ति के वैयक्तिक, सामाजिक तथा पारिवारिक विघटन उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है, यद्यपि बेरोजगारी को ही अपराध का एक मात्र कारण मान लेना उचित न होगा। बेकार व्यक्ति अपनी तथा अपने आश्रितों की मौलिक आवश्यकताओं तक को भी पूरा नहीं कर पाता है। उसे न तो उचित खाने को मिलता है और न ही अच्छे मकानों में रहने की सुविधा प्राप्त होती है। इससे न केवल उसके रहन-सहन का स्तर घटता है बल्कि उसका स्वास्थ्य भी दिन प्रतिदिन गिरता जाता है और वह अकसर किसी न किसी रोग के पंजे में फँसा रहता है और उसकी निर्धनता भी दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जाती है। उसी प्रकार बेरोजगारी अनेक मानसिक रोगों को भी उत्पन्न कर सकती है क्योंकि वह हमेशा ही अपनी आर्थिक समस्याओं से चिन्तित रहता है। कभी-कभी तो यह चिन्ता इतना कटु रूप धारण कर लेती है कि उससे परेशान होकर अन्त में व्यक्ति को आत्महत्या करनी पड़ती है जो कि स्वयं ही

74. ".....poverty has certain social accompaniments..... and that it may be these accompaniments of poverty rather than the economic need which result in criminal behaviour. Poverty in the modern city customarily means segregation in low-rent areas, where people are isolated to a considerable degree from anti-criminal patterns and forced into contacts with many criminal behaviour patterns. It generally means a low social status, with little to lose little to respect, and little to sustain efforts at self-advancement. It generally means bad housing conditions, poor health, and invidious comparisons in other physical and physiological conditions. It may mean that both parents are away from home during most of the hours the children are awake, and are fatigued and irritable when at home. It generally means that the child is withdrawn from school at the earliest permissible age to enter an unskilled occupation which is not interesting or remunerative and which offers few opportunities for economic advancement.....Poverty may therefore, be significant because of the social accompaniments of poverty." Cf. E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 194. Also See R. C. Cavan and K. H. Ranek, *The Family and the Depression*, University of Chicago Press, Chicago, 1938.



एक अपराध है। बेरोजगारी का परिणाम निर्धनता, बीमारी, भविष्य के सम्बन्ध तथा निराशा-वादिता होती है। इस प्रकार बेकार व्यक्ति रोजगार में लगे हुए आदमी की अपेक्षा अपनी नैतिकता को सरलता से खो बैठता है। भीख मांगने के अपमान की अपेक्षा वह चोरी करना अधिक उचित समझता है। एकाएक नौकरी छूट जाने पर व्यक्ति अपने सभी खर्चों को एकाएक कम नहीं कर पाता है और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध कर बैठता है। बेकार व्यक्ति जब हर तरफ से निराश और असफल हो जाता है तो शराव पीकर अपनी समस्त निराशाओं को भूलने का प्रयत्न करता है। और अपराध के रास्ते में बढ़ने के लिए आवश्यक तैयारी कर लेता है। यह भी हो सकता है कि बेकार व्यक्ति अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जुआ खेलना आरम्भ कर देता है जो कि स्वयं एक ही अपराध है।

अनेक विद्वानों ने बेकारी का अपराध के कारण के रूप में अध्ययन किया है अधिकतर अध्ययन से यह पता चलता है कि बेकारी, आचारागर्दी और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों को बढ़ाती है। इन अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि अनेक महीनों अथवा अनेक वर्षों तक लगातार नौकरी करने के बाद यदि आदमी बेकार हो जाता है या यदि उसे आंशिक समय की नौकरी (Part time employment) या मौसमी नौकरी मिलती है तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह अधिक हानिकारक होता है क्योंकि जब एक बार आदमी धन कमाने लगता है तो उसमें कुछ खर्चीली आदतें पड़ जाती हैं। इसके बाद यदि एकाएक आमदनी बन्द हो जाती है तो व्यक्ति के लिए एकाएक उन खर्चीली आदतों को त्याग देना असम्भव-सा होता है और उस अवस्था में वह उन आदतों की सन्तुष्टि करने के लिए चोरी आदि करने लगता है। यह बात उन लड़कों पर विशेष रूप से लागू होता है जो रात में देर तक नाइट क्लब, जुए के अड्डों, वेक्यालयों आदि के पास अखबार बेचते या काम करते हैं।

### व्यापार चक्र और अपराध

(Business cycle and Crime)

व्यापार चक्र तथा अपराध के बीच अनेक प्रकार से सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये हैं जिनका एक सामान्य निष्कर्ष यह है कि व्यापार चक्र जिस आर्थिक संकट को उत्पन्न करता है वह अपराध का कारण बन जाता है। उच्च अपराधशास्त्री ने यह प्रमाणित किया कि अनाज के भाव और इंग्लैण्ड, वेल्स तथा फ्रान्स में होने वाली सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध के बीच निकट सम्पर्क है। आपने उसी प्रकार का अध्ययन जर्मनी में भी किया। इन दोनों अध्ययनों से यह पता चलता है कि आर्थिक संकट के समय जब अनाजों का भाव गिर जाता है तो अपराध की दरें बढ़ती हैं और अन्य समय में उनके भाव बढ़ जाने से उनके अपराध की दरें घटती हैं। इस प्रकार श्री बोंगर के अनुसार अनाज के भाव तथा अपराध की दर में एक उल्टा अनुपात (inverse ratio) पाया जाता है।<sup>75</sup>

75. William A. Bonger, *Criminality and Economic Conditions*, Little, Brown and Co., Boston, 1916, pp. 564-571.



दूसरे अध्ययनों से भी यह पता चलता है कि गम्भीर अपराधों की दरें, विशेषकर सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों की दरें आर्थिक संकट काल (economic depression) में बढ़ने की प्रवृत्ति रखती है जब कि समृद्धिकाल में यह दरें गिरती है। श्री वैन कैन (Van Kan) ने लिखा है, “सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों का अधिकतर अप्रत्यक्ष कारण बुरी आर्थिक दशाएँ होती हैं, प्रत्यक्ष कारण अत्यन्त आवश्यकता और घोर दरिद्रता है। भौतिक समृद्धि साधारणतया महत्वपूर्ण मूल-प्रवृत्तियों को भड़काती है, मद्य सेवन को बढ़ाती है और इसीलिए इसके फलस्वरूप नैतिकता के विरुद्ध अपराध भी बढ़ते हैं।”<sup>76</sup>

व्यापार चक्र तथा अपराध की दरों में क्या सम्बन्ध है इसके बारे में जितने भी अध्ययन हुए हैं उनके आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं इस प्रकार हैं—<sup>77</sup>

(१) गम्भीर अपराध आर्थिक संकट काल में बढ़ते हैं जब कि समृद्धि काल में घटते हैं। डाक्टर डोरोथी थामस (Dr. Dorothy Thomas) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह दर्शाया है कि रात में चोरी, मकान और दुकान तोड़ कर चोरी और डकैती आदि अपराध आर्थिक संकट काल के समय में अधिक और समृद्धि काल में कम होते हैं।

(२) सामान्य अपराधों की दरें संकट काल में महत्वपूर्ण रूप में बढ़ती नहीं है।

(३) सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध जिसमें कि हिंसा का भी पुट होता है आर्थिक संकट काल में बढ़ जाता है परन्तु सम्पत्ति के विरुद्ध ऐसे अपराध जिसमें हिंसा बिल्कुल ही नहीं होती है आर्थिक संकट काल में बहुत कम बढ़ते हैं।

(४) शराब पीने की प्रवृत्ति समृद्धि काल में बढ़ जाती है। पर कुछ अध्ययनों के अनुसार ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

(५) व्यक्ति के विरुद्ध अपराध का कोई वास्तविक सम्बन्ध व्यापार चक्र से नहीं होता है। कुछ अध्ययनों से यह पता चलता है कि व्यक्ति के विरुद्ध अपराध समृद्धि काल में बढ़ जाता है।

(६) बाल अपराध समृद्धि काल में बढ़ता है तथा आर्थिक संकट काल में घट जाता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि आर्थिक संकट, समृद्धि, व्यापार चक्र आदि अपराध के कारक के रूप में महत्वपूर्ण अवश्य ही हैं परन्तु उन्हीं को सब कुछ मान लेना उचित न होगा क्योंकि अन्य अनेक परिस्थितियाँ या कारक इस दिशा में क्रियाशील हो सकते हैं।

76. “Crimes against property find in large measure their indirect causality in bad economic conditions; their direct causality in acute need and even more in chronic misery. Material well being generally exalts the vital instincts, increases alcohol consumption, and therefore increases crimes against morals.”

—Van Kan.

77. See E. H. Sutherland, *op. cit.*, pp. 192—193.



## आर्थिक प्रतियोगिता और अपराध (Economic Competition and Crime)

औद्योगिककरण के साथ-साथ उद्योग-वन्धों में जो क्रान्तिकारी विस्तार हुए हैं उससे आर्थिक प्रतियोगिता भी अत्यधिक बढ़ गई है। आज प्रत्येक व्यक्ति समाज में सम्मानित पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील है और यह चाहता है कि उसे किसी न किसी प्रकार से अधिक से अधिक सम्पत्ति और सामाजिक स्थिति प्राप्त हो जाय। इसके फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में प्रतियोगिता का आज बोलबाला है। प्रतियोगिता की प्रक्रिया का परिणाम हमेशा प्रगति और सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था नहीं होता है। अनेक बार सांस्कृतिक तत्वों की प्रतियोगिता प्रतिद्वन्द्विता (rivalry) और संघर्ष को बल देती है जो निश्चय ही अपराध को बढ़ा देती है। आर्थिक आधार पर इस प्रकार की प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष आज के गतिशील समाज की एक विशेषता है। इस प्रतियोगिता में जो व्यक्ति हार जाते हैं उनमें हीनता की भावना उत्पन्न होने की सम्भावनायें सदा ही रहती हैं। इस प्रकार की हीन भावना से पीड़ित व्यक्ति सदा ही यह प्रयत्न करता है कि व्यक्तित्व की उस कमी को किसी न किसी प्रकार से पूरा करे और इसी प्रयत्न में वह गैर-कानूनी और कानूनी कार्यों के बीच कोई अन्तर नहीं कर पाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति वैध तरीकों से प्रतियोगिता में सफल नहीं हो पाता है तो वह अवैध तरीकों को अपना आरम्भ कर देता है। इस स्थिति का एक प्रभाव आज बढ़ती हुई व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता है। प्रतिद्वन्द्विता का कटु रूप ही संघर्ष होता है जो केवल सैद्धान्तिक ही न रहकर हिंसात्मक कार्यों की ओर व्यक्ति को प्रभावित करता है।

भौतिकवाद की धारणाओं और सूल्यों के स्थापित हो जाने से आज के समाज में प्रतियोगिता का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि इसका क्षेत्र अब केवल आर्थिक विषयों तक ही सीमित नहीं रह गया है बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी इसका विस्तार हो चुका है। केवल इतना ही नहीं औद्योगिककरण के फलस्वरूप आर्थिक प्रतियोगिता का क्षेत्र भी अब व्यक्तिगत स्तर तक ही सीमित नहीं है, बल्कि विभिन्न आर्थिक समितियों और संगठनों के बीच भी प्रतियोगिता की प्रक्रिया समान रूप से बढ़ती चली जा रही है। इसलिए आज अपराध केवल व्यक्तिगत आधार पर ही नहीं बल्कि सामूहिक आधार पर भी घटित होता है। व्यापार व उद्योग के क्षेत्र में ट्रेडमार्क की नकल मिलावट, आमदनी तथा बिक्रीकर की चोरी आदि सामान्य अपराध अत्यधिक बढ़ते ही जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रतियोगिता व्यक्तिगत गुणों तथा क्षमताओं पर अधिक बल देता है जिसके फलस्वरूप व्यक्तिवाद का विकास होता है। यह व्यक्तिवाद स्वयं ही नाना प्रकार के अपराधों को जन्म देता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि प्रतियोगिता का रूप या स्वरूप समाज व संस्कृति के द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए प्रतियोगिता को ही अपराध का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं माना जाता है। वास्तव में प्रतियोगिता



के फलस्वरूप जिन परिस्थितियों का उद्भव होता है उनके फलस्वरूप व्यक्ति अपराध करता है।

### औद्योगीकरण—अपराध के एक कारक के रूप में (Industrialization as a Factor of Criminality)

औद्योगिकीय विकास के साथ साथ-साथ औद्योगीकरण का जो विस्तार हुआ है उसके फलस्वरूप समाज में अपराध की दरें बढ़ गई हैं। इसलिए अनेक विद्वानों ने औद्योगीकरण तथा अपराध के बीच एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि औद्योगीकरण ने अपराध को निम्न प्रकार से बढ़ावा दिया है :

(१) सामुदायिक जीवन का ह्रास करके—औद्योगीकरण का एक सादा प्रभाव समूह के आकार में अत्यधिक वृद्धि होना है जिसके फलस्वरूप वैयक्तिक सम्बन्धों का अन्त होता जा रहा है और सामुदायिक जीवन का पतन हुआ है। इन दोनों ही परिस्थितियों का प्रभाव अपराध पर इस प्रकार पड़ा है कि समूह के आकार में वृद्धि हो जाने से कोई भी व्यक्ति किसी को व्यक्तिगत रूप से नहीं पहचानता है और किसी भी प्रभाव किसी पर नहीं होता है। इससे व्यक्ति में स्वेच्छाचारिता पनपती है और वह शराब, जुआ, वेश्यावृत्ति आदि में संलग्न हो जाता है। जो कि उसे अपराधी व्यवहार की ओर निरन्तर घसीटता रहता है। जुआ, शराब और वेश्या में मग्न रहने पर भी किसी को भी यह डर नहीं रहता कि उसकी सामाजिक स्थिति घट जायेगी क्योंकि बड़े समूह में कोई किसी को व्यक्तिगत रूप से नहीं पहचानता है।

(२) धन का महत्व बढ़ाकर—औद्योगीकरण के साथ-साथ धन का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है क्योंकि आधुनिक औद्योगीकरण की सम्पूर्ण व्यवस्था धन पर ही आधारित है। औद्योगीकरण के अन्तर्गत इसीलिये व्यक्ति का महत्व व स्थिति धन पर ही निर्भर है। इसीलिए धन के प्रति प्रत्येक वस्तु का आकर्षण अत्यधिक बढ़ गया है। प्रत्येक व्यक्ति आज धन को चाहता है चाहे वह वैध तरीके से आये या अवैध तरीके से। यही कारण है कि औद्योगीकरण के बाद से आर्थिक अपराध इस प्रकार के समाजों में अत्यधिक बढ़ गया है।

(३) पूँजीवाद को विकसित करके—औद्योगीकरण के अन्तर्गत आर्थिक उत्पादन के सभी साधनों पर उन लोगों का नियन्त्रण हो गया है जिनके पास अत्यधिक पूँजी है। इसलिए आर्थिक ढाँचा अनेक समाजों में पूँजीवादी ही हो गया है। पूँजीवाद के अनेक आर्थिक परिणाम हैं जिनके फलस्वरूप अपराध को बढ़ावा मिलता है। उनमें सबसे प्रमुख है श्रमिकों का शोषण। श्रमिकों का शोषण पूँजीवाद का एक भयंकर सामाजिक परिणाम है। श्री कार्ल मार्क्स के अनुसार श्रमिक ही अपने श्रम से पूँजी या धन को बनाता है। पूँजीपति लोग जानते हैं कि श्रमिकों के पास रोटी कमाने के लिए श्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है।



से कम मजदूरी देते हैं जिससे कि श्रमिकों को न तो ठीक से खाने को मिलता है और न ही पहिने या रहने की उचित व्यवस्था वे अपने तथा अपने आश्रितों के लिए कर पाते हैं। अपनी आर्थिक तंगी के कारण उन्हें जो नारकीय जीवन बिताना पड़ता है उसके फलस्वरूप उनका नैतिक पतन हो सकता है और होता भी है।

(४) धन का असमान वितरण करके—औद्योगीकरण के फलस्वरूप जिस पूँजीवाद का विकास होता है उसमें, श्री कार्ल मार्क्स के अनुसार बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा एकाधिकार की प्रवृत्ति होती है। इसके फलस्वरूप न केवल सम्पत्ति ही कम से कम व्यक्तियों (पूँजीपतियों) के हाथ में इकट्ठा हो जाती है और इस प्रकार राष्ट्रीय धन का असमान वितरण होता है, बल्कि छोटे पूँजीपति भी बड़े पूँजीपतियों के सामने अधिक दिन टिक नहीं पाते हैं और वे भी श्रमिक वर्ग में मिलते जाते हैं। इसका सम्पूर्ण परिणाम यह होता है औद्योगीकरण के फलस्वरूप बनी दिन प्रतिदिन अधिक धनी होते जाते हैं और निर्धनों की आर्थिक दशा उत्तरोत्तर दयनीय होती जाती है। यह परिस्थिति अपराध को कितना अधिक प्रोत्साहित कर सकती है इसकी विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं।

(५) आर्थिक संकट को उत्पन्न करके—औद्योगीकरण के फलस्वरूप जो उत्पादन बड़े पैमाने में होने लगा है उससे कभी कभी ऐसा भी होता है कि उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि उसकी खपत असम्भव हो जाती है इससे समय-समय पर आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है। इससे अनेक श्रमिकों को काम से अलग कर दिया जाता है और देश में बेरोजगारी और निर्धनता बढ़ती है और ये दोनों ही अपराध के कारक के रूप में क्रियाशील हो सकती हैं या कम से कम उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर सकती हैं जिनमें अपराध घटित होना सरल हो जाये।

(६) आर्थिक समृद्धि को बढ़ाकर—औद्योगीकरण के फलस्वरूप जो बड़े पैमाने में उत्पादन, उद्योग-धंधे और व्यापार व वाणिज्य में उन्नति होती है उसके फलस्वरूप देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि केवल आर्थिक संकट से ही नहीं बल्कि आर्थिक समृद्धि से भी अपराध की दरें प्रभावित होती हैं। डा० डारोथी थामस (Dorothy Thomas) के अनुसार यौन अपराध विशेषकर बलात्कार समृद्धि काल में बढ़ता है। उसी प्रकार बाल अपराध भी समृद्धि काल में बढ़ता है। ये विचार कुछ विद्वानों ने अपने अध्ययन के आधार पर प्रगट किये हैं। इनका प्रमुख कारण यह है कि समृद्धि काल में लोगों के हाथों में अधिक पैसा रहता है और वे उस पैसे को जुआ, शराब, वेष्ट्या, नाइट क्लब, सिनेमा आदि में खर्च करते हैं और इनमें से प्रत्येक का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र पर प्रतिकूल ही पड़ता है।

(७) औद्योगिक झगड़े, बीमारी और दुर्घटनाओं को बढ़ाकर—औद्योगीकरण के फलस्वरूप जिस पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का विकास हुआ है उसके अन्तर्गत पूँजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण होता है। इस शोषण की प्रतिक्रिया यह होती है कि श्रमिक तथा उद्योगपतियों के बीच औद्योगिक संघर्ष प्रायः



खड़े हो जाते हैं। इन भगड़ों के फलस्वरूप मजदूरों में निर्धनता, बेरोजगारी आदि की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका कि बहुत ही प्रगतिकूल प्रभाव श्रमिकों के नैतिक स्तर पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त औद्योगीकरण के कारण अनेक प्रकार की औद्योगिक बीमारियाँ तथा दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। इससे भी श्रमिक तथा उसके परिवार को जिन आर्थिक संकटों या कष्टों का सामना करना पड़ता है उसके फलस्वरूप भी अपराध की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

(८) संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा को बढ़ाकर—ये औद्योगीकरण का परिणाम है कि समाज में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष अत्यधिक बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप समाज में अपराध और व्यभिचार आप से आप फैलता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं।

(९) स्त्रियों के लिए घर से बाहर नौकरी करने के अवसरों को उत्पन्न करके—औद्योगीकरण के फलस्वरूप न केवल पुरुषों के लिए, वरन् स्त्रियों के लिये भी नौकरी के पर्याप्त अवसर आज उपलब्ध हैं। इस कारण पुरुषों की भांति आज स्त्रियाँ भी घर से बाहर काम करने के लिए जाती हैं और नाना औद्योगिक प्रतिष्ठानों में साथ-साथ काम करती हैं। इसका प्रभाव अस्वस्थ भी हो सकता है। यही कारण है कि औद्योगीकरण के साथ-साथ एक ही औद्योगिक संस्थान में एक साथ काम करने वाले युवक व युवतियों में रोमान्टिक प्रेम बढ़ता जा रहा है जिसके फलस्वरूप यौन अपराध व पूर्व वैवाहिक यौन व्यभिचार समाज में फैलता है। इतना ही नहीं माताओं के घर से बाहर काम करने से बच्चों की देख-रेख व लालन-पालन ठीक से नहीं हो पाता है और बाल अपराधियों की संख्या बढ़ती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि औद्योगीकरण जिन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को उत्पन्न करता है, उससे अपराधी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि औद्योगीकरण सामाजिक, आर्थिक दृष्टिकोण से समाज के लिये हितकर नहीं है और अपराध को रोकने के लिए औद्योगीकरण की व्यवस्था को समाप्त कर देना होगा। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। औद्योगीकरण स्वयं अपराध का उतना कारण नहीं है जितना कि उससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम। अपराध को कम करने के लिए उन दुष्परिणामों को समाप्त करने की आवश्यकता है।

### नागरीकरण तथा अपराधी व्यवहार का सम्बन्ध (Relationship between Urbanization and Criminality)

जिस प्रकार औद्योगीकरण और अपराध का पारस्परिक सम्बन्ध है, उसी प्रकार नागरीकरण तथा अपराधी व्यवहार में भी सहसम्बन्ध स्पष्टतः पाये जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि आधुनिक समय में नागरीकरण बहुत कुछ औद्योगीकरण का भी परिणाम है। इसलिए ऊपर लिखे जिन प्रकारों से औद्योगीकरण अपराधी व्यवहार को प्रोत्साहित करता है, उन्हीं प्रकारों से नागरीकरण का भी प्रभाव अपराधी व्यवहारों पर पड़ता है। चूँकि उनके विषय में पहले ही विवेचन किया



जा चुका है, इसलिए उन्हें यहाँ फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल हम उपरोक्त तालिका में अन्य कुछ प्रभावक परिस्थितियों को जोड़ रहे हैं।

(क) संयुक्त परिवार का विघटन करके—औद्योगीकरण व नागरीकरण के फलस्वरूप संयुक्त-परिवार का विघटन हुआ है क्योंकि नगरों में नौकरी करने की सुविधायें अधिक प्राप्त होने के कारण गाँव के लोग अपना संयुक्त-परिवार छोड़कर नगर में आकर बस जाते हैं। पर चूँकि नगरों में मकानों की समस्या अत्यधिक गम्भीर होती है, इस कारण यहाँ संयुक्त-परिवार को बसाना सम्भव नहीं होता है। संयुक्त-परिवार का इस प्रकार विघटन होने से व्यक्ति पर ऐसे परिवारों का जो नियन्त्रणात्मक प्रभाव था, वह कम हो गया। इससे व्यक्तियों में स्वेच्छाचारिता का विकास होता है और वे नगर के प्रलोभनों जैसे, वेश्या, शराब, जुआ, सिनेमा आदि में फँसते जाते हैं जो कि उन्हें अपराध के रास्ते पर घसीट कर ले आता है। इतना ही नहीं, संयुक्त-परिवार में रहते हुए व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो दया, प्रेम, सहयोग, त्याग आदि सद्गुणों का विकास होता है, नागरीकरण व औद्योगीकरण के फलस्वरूप संयुक्त-परिवार के विघटन के पश्चात् उन सद्गुणों का समावेश व्यक्तित्व में कम होने लगा। इसके कारण भी अपराधी प्रवृत्ति का उद्भव सरल हो गया है। संयुक्त परिवार में विघटन का एक और अर्थ है व्यक्तिवादिता के विकास को प्रोत्साहन जिसका परिणाम होता है अपराध का विस्तार। इतना ही नहीं, संयुक्त-परिवार में पहले विधवाओं, उनके बच्चों, अनाथों, बेरोजगारों तथा बीमारों को आश्रय मिल जाता था जिसके कारण उनके बिगड़ने की सम्भावना कम होती थी। पर अब वह सम्भावना जाती रही। अब तो इन बे सहारों के लिए अपराध के पथ पर चले जाना सरल हो गया है।

(ख) निवास स्थान की कमी और गन्दी बस्तियों का विकास करके—औद्योगीकरण तथा नागरीकरण के फलस्वरूप नगरों की जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ती है, उस अनुपात में नये मकान नहीं बन पाते हैं। इससे नगरों में मकानों की समस्या बहुत अधिक होती है। साथ ही, नगरों में चीजें महंगी मिलती हैं और इसीलिए नगरों में परिवार बसाने का अर्थ है अधिक खर्चा। इन सब कारणों से ही अनेक व्यक्ति नगरों में अकेले रहते हैं और बीबी-बच्चों को गाँव के मकानों में छोड़ आते हैं। पत्नी और बच्चों से दूर परिवार के समस्त नियंत्रण से परे होटल, मेस आदि में रहने वाले इन व्यक्तियों के नैतिक पतन होने की संभावना अधिक होती है और ये लोग अति सरलता से नगर के प्रलोभनों जैसे सिनेमा, वेश्या, जुआ, शराब आदि के पंजे में फँसकर बिगड़ जाते हैं। इतना ही नहीं, मकानों की कमी के कारण नगरों में गंदी बस्तियाँ विकसित हो जाती हैं इन बस्तियों में लोगों को नारकीय जीवन बिताना पड़ता है—न हवा मिलती है, न रोशनी और न ही गोपनीयता (Privacy) को बनाये रखना सम्भव होता है। इन बस्तियों में एक-एक कमरे में पाँच से लेकर पन्द्रह व्यक्ति तक रहते हैं जिसके कारण न तो स्त्रियों की शीलता की रक्षा सम्भव होती है और न ही पुरुष का चारित्रिक विकास हो पाता है। इसके



विपरीत दोनों के लिए ही अपराध के अन्धकार को प्राप्त करना सरल हो जाता है।

(ग) गांव के लोगों को अपनी ओर खींचकर—नागरीकरण के साथ-साथ नागरिक जीवन के अनेक प्रलोभन बढ़ते जाते हैं। इसके अतिरिक्त नगरों में नौकरी की सुविधायें भी बहुत अधिक उपलब्ध होती हैं। इन सब कारणों से गांव के अनेक निवासी गांव छोड़कर नगरों में आ बसते हैं या बसने को बाध्य होते हैं। ऐसे लोगों के विषय में जो अध्ययन किये गये हैं उनसे पता चलता है कि गांव से शहर में आकर बसने वाले व्यक्तियों को नगरों में नये और आश्चर्यचकित करने वाले ऐसे नागरिक मूल्यों व लक्षणों का सामना करना पड़ता है जिनसे उनका पहले कभी भी परिचय न था और जो बहुधा उनके ग्रामीण पृष्ठभूमि के बिल्कुल प्रतिकूल होते हैं। इससे गांव वालों के लिए नागरिक पर्यावरण (environment) से अपना अनुकूलन करना अकसर कठिन हो जाता है और वे नगरों में एक प्रकार से 'अयोग्यों' (misfits) की भाँति रहते हैं जिसके फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का विघटन सम्भव होता है। इतना ही नहीं, गांव के भोले-भाले लोगों को नाना प्रकार का प्रलोभन दिखाकर या फुसलाकर चतुर नगरवासी उन्हें अपराध के रास्ते पर ले जाते हैं। उदाहरणार्थ वेष्ट्याग्री के एजेंट इन गांव वालों को अपने जाल में फँसाकर वेष्ट्यालय व शराब की दुकान में ले जाते हैं या जुए के अड्डों के इनका परिचय करवा देते हैं या धन का प्रलोभन देकर इनसे अपराधी-कार्य करवाते हैं।

(घ) ग्रामीणों का नाश करके—ग्रामीणों का नाश तथा नागरीकरण का एक साधारण दुष्परिणाम यह भी हो सकता है कि ग्राम-उद्योगों का ह्रास होता जाय। भारतवर्ष में ठीक यही हुआ है। इसका परिणाम अत्यधिक बुरा होता है क्योंकि ग्राम-उद्योगों के पतन से इन उद्योगों में लगे हजारों व्यक्ति बेरोजगार हो जाते हैं, गांव में निर्धनता व भुखमरी फैलती है और लंग चोरी, डकैती आदि को जीविका पालन के साधन के रूप में अपना लेते हैं। जो लोग गांव छोड़ कर नगरों में नौकरी की तलाश में आ जाते हैं उनमें से भी बहुतों को नौकरी नहीं मिलती है और वे भी नगर के दुरे लोगों के चक्कर में आकर अपराधी बन जाते हैं।

(ङ) अपराधी-प्रवृत्तियों को पनपाने का अवसर देकर—नगरों में पास-पड़ोस का प्रभाव या परिवार और पंचायत का दबाव नहीं रहता है। इससे लोग अपराध के पथ पर सरलता से उतर आ सकते हैं। दूनरी और नगरों में ऐसे अनेक प्रलोभन जैसे सिनेमा, थियेटर, नाइट-क्लब, जुए के अड्डे, वेष्ट्यालय, शराब की दुकानें, विलासपूर्ण जीवन के एकाधिक नमूने, फैशन, रोमान्स, धन का बहाव आदि होते हैं जोकि व्यक्ति को सरलता से ही अपने पंजों में फँसाकर भ्रष्ट कर देता है। उदाहरणार्थ, नगर में जब एक व्यक्ति दूसरों को विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुये देखता है तो उसमें से विलासिता की वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा होती है और जब उन्हें वह वैध रूप से प्राप्त नहीं कर पाता है तो अवैध उपायों को अपनाता है। उसी प्रकार नाइट-क्लब उसे यौन-अपराध व भ्रष्टाचार की ओर ले जाता है, फैशन की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए वह चोरी कर सकता है और धन के



बहाव में स्वयं भी हाथ धोने के लिए जालसाजी, गबन आदि के रास्ते को अपनाता है।

(च) स्त्री-पुरुष के अनुपात में भेद उत्पन्न करके—निवास स्थान की कमी और अन्य आर्थिक कठिनाइयों के कारण बहुत से पुरुष अपना परिवार नगरों में ला सकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि नगरों में पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या काफी कम होती है। स्त्रियों की इस कमी का प्रभाव नगरों में रहने वाले पुरुषों की नैतिकता पर पड़ता है और वे लोग बेइया-वृत्ति, जुआ, शराब आदि व्यभिचार की ओर अग्रसर होते हैं।

(छ) व्यापारिक मनोरंजन को बढ़ावा देकर—औद्योगीकरण व नागरीकरण के साथ-साथ मनोरंजन का भी व्यापारीकरण बढ़ता जाता है। चूंकि इन मनोरंजन के साधनों में पूँजीपति वर्ग करोड़ों रुपये लगाते हैं, इस कारण वे उस धन से अवि-काधिक लाभ उठाने के लिए अश्लील, कामोत्तेजक तथा मारकाट, हत्या आदि से भरपूर रोमांच उत्पन्न करने वाली विषय-वस्तु को मनोरंजन के साधनों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। नगरों में दिखाये जाने वाले सिनेमा, नाइट-क्लबों में होने वाले 'प्रोग्राम' आदि इसके उत्तम उदाहरण हैं। इन सब का बहुत ही खराब प्रभाव आम जनता पर, विशेषकर बच्चों पर पड़ता है फलतः यौन-अपराध और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध समाज में बढ़ता है।

(ज) स्त्रियों की गतिशीलता को बढ़ाकर—नागरीकरण और औद्योगीकरण के फलस्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन हुए हैं उनके फल-स्वरूप स्त्रियों को पहले की तुलना में अब काफी स्वतन्त्रता मिल गयी है। उनका कार्य-क्षेत्र अब केवल घर की चार दीवारों के अन्दर ही सीमित न रहकर पूरे समाज में फैल गया है। वे अब स्वतन्त्रता पूर्वक घर से बाहर निकलती हैं, सिनेमा जाती हैं, क्लब में हाजिर होती हैं, कालेज जाती हैं, पिकनिक तथा पार्टी में हल्लड़ करती हैं और पुरुषों के साथ कारखानों, दफ्तरों आदि में एक साथ काम करती हैं। स्त्रियों की इस प्रकार की गतिशीलता व स्वतन्त्रता जहाँ एक ओर लाभप्रद सिद्ध हुयी है वहाँ अपराधों को भी बढ़ने में सहायता मिली है। कुछ देशों में तो कुमारी माताओं तथा उनके अवैध बच्चों की समस्या दिन प्रति-दिन गम्भीर होती जा रही है। इसका प्रमुख कारण नगरों में पाये जाने वाले रोमान्स का वातावरण, नाइट-क्लब के प्रोग्राम आदि महत्वपूर्ण है साथ ही स्त्रियों की गतिशीलता व स्वतन्त्रता बढ़ने के कारण पति-पत्नी में सबसे पहले घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं बन पाता है। उनमें इसके फलस्वरूप आर्थिक, यौन सम्बन्ध तथा अन्य व्यक्तिगत विषयों में मतभेद या तनाव उत्पन्न होता है। घर से इस प्रकार असफल व्यक्ति बाहर यौन सन्तुष्टि करने की ओर प्रवृत्त होता है और यौन अपराध कर बैठता है। कभी-कभी पति-पत्नी में यह मतभेद व आपसी तनाव इतना अधिक कटु हो जाता है कि एक पक्ष आत्म-हत्या कर लेता है। इस रूप में भी अपराध को बढ़ावा मिलता है।

(झ) अपराधियों को आश्रय देकर—नागरीकरण के फलस्वरूप अपराध



को बढ़ाने में इस रूप में भी मदद मिली है कि नगरों में अपराधियों को बड़ा अच्छा आश्रय मिल जाता है। नगरों में भीड़-भाड़ अधिक होती है और यहाँ कोई किसी को पहचानता भी नहीं है इसका परिणाम यह होता है कि इस भीड़-भाड़ का फायदा उठाकर कुछ अपराधी जैसे गिरहकट, अपने स्वार्थों की पूर्ति कर लेते हैं। भीड़-भाड़ जेबकतरो के अनुकूल होती है और लोगों का सामान उठा लेने के लिए भी इसी प्रकार की परिस्थिति अनुकूल मानी जाती है, जैसे ट्राम या बस में या लोकल ट्रेन में भीड़-भाड़ का फायदा उठाकर लोग दूसरे का सामान चुराकर या उठाकर ले जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नागरीकरण के फलस्वरूप ही अपराध की दरें बढ़ गई हैं, इसका प्रमुख कारण जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है यह है कि नागरीकरण इस प्रकार की कुछ परिस्थितियों को उत्पन्न करता है जो कि अपराधी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के अनुकूल हैं।

### घर और परिवार-अपराध के कारक के रूप में (Home and Family as Factors in criminality)

समाज या व्यक्ति के जीवन में परिवार का महत्व अत्यधिक है। परिवार समाज की प्राथमिक और मौलिक इकाई है और व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में इसके महत्व के सम्बन्ध में दो मत कदापि हो ही नहीं सकते। प्रोफेसर एलमर (Elmer) का कथन है कि आज का मानव कितने ही अनोखे आविष्कार कर रहा है। फिर भी परिवार के अलावा ऐसे किसी दूसरे सुयोग्य संगठन का आविष्कार अब तक नहीं कर पाया है जिस पर कि व्यक्तित्व के निर्माण सम्बन्धी प्रारम्भिक कार्यों को निश्चिन्त व निर्भय होकर सौंपा जा सके। परिवार का एक प्राथमिक कार्य यह है कि वह प्रणिशास्त्रीय प्राणी के रूप में उत्पन्न होने वाले एक बच्चे को एक सामाजिक प्राणी के रूप में बदल दे। परिवार एक प्राथमिक समूह है, इस कारण इसके सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध अति घनिष्ट, आमने-सामने का, अधिक स्थायी तथा आन्तरिक होता है। इसीलिए यह पारस्परिक सम्बन्ध बच्चे को बनाने या बिगाड़ने में अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। परिवार में ही बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ, कानून का महत्व दूसरे की जान-माल के प्रति-श्रद्धा तथा अन्य अनेक धारणायें नमूने और आदर्श को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं परिवार में व्यक्ति को माँ की ममता, पिता का संरक्षण भाई बहनों की प्रीति, पत्नी का प्रेम, पति का प्यार प्राप्त होता है। इससे न केवल मानसिक विकास सन्तुलित ढंग से होता है बल्कि व्यक्ति के मन में एक अपूर्व भरोसा व सुरक्षा की भावना पनपती है जो कि उसे मानसिक शान्ति प्रदान करती है और एक सामंजस्य पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है। चीन में कहावत प्रसिद्ध है कि “सन्तान की अज्ञानता के लिए माता-पिता दोषी हैं,” “माता और पिता यह दोनों ही बच्चे के लिए प्रथम दो पुस्तकें हैं।” इतना ही नहीं परिवार व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण करने वाला एक प्राथमिक समूह है परिवार अपने आदर्शों तथा मूल्यों के द्वारा तथा परिवार के बड़े



बूढ़े सदस्य अपनी सत्ता तथा शासन के द्वारा अन्य लोगों के व्यवहारों को निरन्तर नियंत्रित करते रहते हैं। यही परिवार जब विघटित हो जाता है या अनैतिक वातावरण को प्रस्तुत करता है या अपने सदस्यों में गलत आदर्शों को पनपाता या बुरे मूल्यों को उनके व्यक्तित्व में भरता है तभी व्यक्ति अपराध की ओर प्रवृत्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति में लालच, प्रतिशोध, शक्ति की इच्छा आदि कुछ पाशविक प्रवृत्तियाँ होती हैं। परिवार अपने प्रेम, प्रीति, सहयोग, सुरक्षा, सन्तोष आदि द्वारा इन पाशविक प्रवृत्तियों पर व्यक्ति को विजय पाने की शिक्षा देता है। श्री कूले ने लिखा है कि पाशविक प्रवृत्तियों का मानवीकरण ही सम्भवतः सबसे बड़ी सेवा है जो प्राथमिक समूह या परिवार करते हैं। जब परिवार यह सेवा करना बन्द कर देता है तभी व्यक्ति के लिए अपराध के रास्ते में चला जाना सरल होता है। परिवार किस प्रकार से अपराध का एक कारण बनता है यह निम्नलिखित विवेचन से और भी स्पष्ट ही जायेगा।

### असन्तुलित परिवार और अपराध

(Unbalanced Family and Crime)

परिवार प्राथमिक समूह के रूप में व्यक्तित्व के विकास में तभी अपना योगदान दे सकता है जब कि वह परिवार सन्तुलित परिवार हो। सन्तुलित परिवार से तात्पर्य यह है कि उस परिवार के सभी सदस्यों की स्थिति तथा कार्य सुनिश्चित हों और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी स्थिति में रहते हुए अन्य सभी के साथ एक प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध को बनाये रखते हुए अपने-अपने पूर्व निश्चित कार्यों को उचित ढंग से करते रहें। यदि ऐसा न हुआ तो उसका बहुत अस्वस्थ प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है और एक असन्तुलित परिवार जिस असन्तुलित व्यक्तित्व का विकास करता है उसके लिए अपराध करना सरल होता है यह देखा गया है कि एक परिवार में कभी-कभी माता या पिता किसी एक का अनावश्यक आधिपत्य रहता है जिसके फलस्वरूप परिवार में कलह, तनाव, मन-मुटाव और इसी प्रकार की अशान्तियाँ सदा बनी रहती हैं जिसका कि प्रतिकूल प्रभाव परिवार के सदस्यों पर पड़ता है। इसी प्रभाव के कारण अनेक प्रकार के अपराधी व्यवहार पनप सकते हैं उदाहरणार्थ पत्नी से परेशान रहने वाला व्यक्ति हो सकता है कि शराब पीना शुरू कर दे या वेश्यालयों में उसका आना जाना शुरू हो जाय।

### टूटे परिवार और अपराध

(Broken Home and Crime)

टूटे परिवार से तात्पर्य उन परिवारों से है जब पति और पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाती है, जब विवाह-विच्छेद के द्वारा वे अलग हो जाते हैं या जब उनमें से कोई एक दूसरे को छोड़ कर चला जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का जीवन असन्तुलित हो जाता है। पति और पत्नी की मृत्यु से हो सकता है कि दूसरे पक्ष को भी मानसिक चोट पहुँचे और वह उस असन्तुलित मानसिक अवस्था में कोई अपराध कर बैठे। जैसे एक दूसरे का बिछाहन सहसकने के कारण हो सकता है कि व्यक्ति



आत्महत्या कर ले यह भी हो सकता है कि पति की मृत्यु के बाद युवती पत्नी-विराश्रय हो जाय और उस मजदूरी का फायदा उठा कर बुरे लोग उसे अपराध के रास्ते पर (जैसे वेश्यावृत्ति आदि) घसीट कर ला फेंके। आश्रय होते हुए भी यह देखा गया है कि कुछ युवती विधवायें यौन अपराध कर बैठती हैं और एक अपराध के कलंक को छिपाने के लिये दूसरा अपराध अर्थात् आत्महत्या करने को तत्पर होती हैं। उसी प्रकार विवाह-विच्छेद के द्वारा पृथक् हो जाने पर पति-पत्नी दोनों को ही जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों से नये तौर पर अनुकूलन करना पड़ता है। हो सकता है कि यह अनुकूलन की प्रक्रिया असफल हो जाय और व्यक्ति को गलत रास्ते में ले जाय। यह देखा गया है कि विवाह-विच्छेद के बाद व्यक्ति शराब पीने लगता है, यौन अपराध करता है या वेश्यागमन आरम्भ करता है। बहुत कुछ इसी प्रकार की परिस्थिति उस अवस्था में उत्पन्न होती है जब कि पति-पत्नी में से कोई दूसरे पक्ष को छोड़ देता है। कैदियों के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में जो अध्ययन किये गये हैं उनसे यह पता चलता है कि उनमें से अधिकतर कैदी टूटे परिवार के ही सदस्य हैं। श्री हीली (Healey) ने इस बात पर बल दिया है कि अनेक अपराधी अपने पारिवारिक जीवन में दुःखी और असन्तुष्ट व्यक्ति होते हैं।

### अनुशासनहीन परिवार और अपराध (Undisciplined Family and Crime)

श्री बर्ट (Burt) का निष्कर्ष यह है कि परिस्थिति के आधार पर अपराधी तथा गैर-अपराधी किशोरों में महत्वपूर्ण अन्तर पारिवारिक अनुशासन है। दोषपूर्ण अनुशासन गैर अपराधियों की तुलना में अपराधियों के परिवारों में ६.६ गुणा अधिक पाया गया। यह अनुशासन परिवारों में निम्न रूप में पाये गये—अनुशासन के प्रति माता-पिता की उदासीनता; माता-पिता की शारीरिक, बौद्धिक या नैतिक कमजोरियाँ जो कि अनुशासन को भी दुर्बल बना देती हैं; माता-पिता की अनुपस्थिति के कारण अनुशासन का अभाव अत्यधिक कठोर अनुशासन या अत्यधिक लाड़-प्यार। श्री बर्ट का कथन है कि बाल-अपराध के संदर्भ में निर्वनता से अनुशासनहीनता चार गुना अधिक महत्वपूर्ण है।<sup>78</sup> श्री ग्लुएक (Glueck) के अनुसार ६४ प्रतिशत बाल अपराधियों पर माता की देखरेख दोषपूर्ण पायी गयी जब कि यह प्रतिशत गैर बाल अपराधियों के सम्बन्ध में केवल १३ प्रतिशत थी।<sup>79</sup> उसी प्रकार यदि परिवार में बच्चे को उचित ढंग से प्रशिक्षण न मिले तो आगे चलकर वह बच्चा अपराधी बन सकता है। उचित अनुशासन तथा प्रशिक्षण के लिये यह आवश्यक है कि परिवार के सदस्यों पर न तो अधिक अनुशासन रक्खा जाय और न ही उन्हें इतनी छूट दी जाय कि वे स्वेच्छाचारी बन जायें। जो व्यक्ति यथार्थता और जिम्मेदारी से बचने की शिक्षा परिवार में पाते

78. Cyril Burt, *The Young Delinquent*, University of London Press, London, 1944, p. 169.

79. Glueck and Glueck, *Unraveling Juvenile Delinquency*, The Common wealth Fund, New York, 1950, pp. 113—131.



हैं वे शीघ्र ही गलत रास्ते में चले जाते हैं और उसमें सबसे सरल रास्ता धरा दमिना है। परिवार अकसर अपने सदस्यों को उत्तरदायित्व से बचने के लिए उत्साहित करता है और अपने परिवार के लोगों की गलती उसे दिखलाई नहीं देती। इस प्रकार हार न मानने के लिए और अपनी असफलताओं का उत्तरदायित्व दूसरों पर लादने के लिये परिवार अपने सदस्यों को उत्साहित करता है। अन्धविश्वास, खतरनाक ढंग से जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा, यौन शिक्षा देने में लापरवाही, धार्मिक व्यय, वर्ग पक्षपात आदि दुर्गुणों को अपने परिवार के सदस्यों में भरकर भी परिवार उनको अपराध के रास्ते में खींच ले जा सकता है।

### अपराधी परिवार और अपराध (Criminal Home and Crime)

जब परिवार, जिसका कि इतना प्रत्यक्ष प्रभाव उसके सदस्यों पर पड़ता है, स्वयं ही अपराधी परिवार होता है तो उसका कितना खतरनाक प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ सकता है। यह वायद समझाने की आवश्यकता नहीं है। विभिन्न सुधार गृहों तथा जेलखानों में कैदियों का जो अध्ययन किया गया है उससे यह पता चलता है कि अनेक कैदियों के परिवार में दूसरे सदस्य किसी न किसी रूप में अपराधी अवश्य ही हैं। श्री बर्ट (Burt) का अध्ययन यह दर्शाता है कि इंग्लैण्ड में अपराध तथा भ्रष्टाचार गैर-अपराधी की तुलना में अपराधी के परिवारों में पाँच गुना अधिक है।<sup>80</sup> श्री ग्लूक (Glueck) तथा उनके साथियों की रिपोर्ट से यह पता चलता है कि उनके द्वारा अध्ययन किये गये सुधार-गृह से छूटने वाले ८४८ प्रतिशत अपराधियों का लालन-पालन ऐसे परिवारों में हुआ है जिसमें कि दूसरे सदस्य भी अपराधी हैं।<sup>81</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि परिवार में दूसरे सदस्य भी अपराधी हैं तो उसका बहुत ही बुरा प्रभाव उन सदस्यों पर भी पड़ता है जो कि अपराधी नहीं हैं। वास्तव में जब परिवार में दूसरे सदस्य अपराधी होते हैं तो अपराध से सम्बन्धित उनके कार्यों को देखकर और सुनकर गैर अपराधी सदस्यों में भी अपराध के प्रति एक लापरवाही की भावना पनप जाती है और साथ ही दण्ड के सम्बन्ध में डर उनके दिल से जाता रहता है।

### अनैतिक परिवार और अपराध (Immoral Home and Crime)

केवल अपराधी परिवार ही नहीं अनैतिक परिवार भी व्यक्ति को अपराधी बनाने में एक कारक बन सकता है। अनैतिक परिवार से तात्पर्य यहाँ उन परिवारों से है जिनके सदस्यों में शराब पीने, व्यापार में बेईमानी बरतने, राजनैतिक भ्रष्टाचार में सम्मिलित होने, घूस लेने, काला बाजारी करने, अनैतिक कार्यों में भाग लेने आदि की आदतें पाई जाती हैं। ऐसे परिवारों में अन्य सदस्यों के लिए विगड़ जाने की

80. C. Burt, *op. cit.*, p. 190.

81. Sheldon and Glueck, *Five Hundred Criminal Careers*, Knopf, New York, 1930, pp. 111—112.



सम्भावना सदा ही यनी रहती है। उदाहरण के लिए शराब पीने की आदत पूरे परिवार के आर्थिक संतुलन को बिलकुल ही बिगाड़ सकती है और उस असन्तुलित अवस्था में अपनी रोटी-कपड़ों की व्यवस्था करने के लिए हो सकता है कि अन्य सदस्यों को अपराधी उपायों को अपनाना पड़े। उसी प्रकार यदि परिवार में बेईमानी बरतने की परम्परा चालू है तो सभी लोग उस परम्परा को बिना हिचकिचाहट के स्वीकार कर लेते हैं और मिलावट करना, काला-बाजारी करना, कम तौलना तथा अन्य प्रकार से दूसरों को धोखा देने के कामों में वे भी खूब अभ्यस्त हो जाते हैं।

### घर की सामान्य प्रक्रियायें तथा अपराध

(General Processes of Home and Crime)

उपरोक्त विवेचन से परिवार से सम्बन्धित पाँच प्रमुख प्रक्रियाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो कि अपराधी व्यवहार को प्रोत्साहित कर सकता है<sup>82</sup> — (१) बच्चे अपने माता-पिता तथा अन्य लोगों को अपराधी तथा अनैतिक व्यवहार प्रतिमानों, आदर्श, सिद्धान्तों तथा मनोवृत्तियों को देखकर व सुनकर उन्हें अपने व्यक्तित्व का एक अंग बना ले और इस प्रकार स्वयं भी अपराधी बन जायें। वह अपराधी इसलिए बनता है क्योंकि उसने अपराधी व्यवहारों को घर पर ही सीखा है। (२) माता-पिता यह निश्चित करते हैं कि परिवार के सदस्यों को किस मुहल्ले में रहना है। यदि परिवार अपराधी मुहल्ले में रहता है तो उस परिवार के सदस्यों के लिये अपराधी बनने की सम्भावना कुछ अधिक अवश्य ही होती है। (३) प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों के लिये सामाजिक सम्बन्ध के दायरे को निश्चित करता है। अर्थात् परिवार यह निश्चित करता है कि परिवार के सदस्यों को सामाजिक स्थिति के अनुसार किन लोगों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना है। यदि परिवार का ऐसे लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्ध है जो भ्रष्ट, अनैतिकतापूर्ण अपराधी, शराबी आदि हैं तो परिवार के सदस्यों के लिए अपराधी बनने की सम्भावना अधिक होती है। (४) घर में यदि अशान्तिपूर्ण वातावरण, कलह, अयोग्यतायें, नशा, संरक्षकों की उदासीनता आदि तत्व पाये जाते हैं तो परिवार के सदस्य घर को नरक समझने लगते हैं और उससे अपना पीछा छुड़ाने के लिए सदा जागरूक रहते हैं। इस प्रयत्न का परिणाम शराब खोरी, वेश्यागमन, नाइट क्लब में अधिक समय बिताना आदि हो सकता है जो कि अपराध का पथ प्रशस्त करता है। इस सम्बन्ध में अपने मत को व्यक्त करते हुए श्री दुर्खीम (Durkheim) ने लिखा है कि जब परिवार का सम्पूर्ण वातावरण व्यक्ति के लिये असहनीय हो जाता है तो वह आत्महत्या तक कर सकता है। (५) ये भी हो सकता है कि घर के सदस्यों में आदान-प्रदान की प्रक्रिया इतनी दोषपूर्ण हो कि उससे व्यक्ति को यह प्रशिक्षण न मिल पाए कि उसे जीवन की विभिन्न परिस्थितियों तथा कठिनाइयों से सफलतापूर्वक किस प्रकार सामना व अनुकूलन किया जा सकता है। उस स्थिति में भी व्यक्ति के बिगड़ जाने की सम्भावना अत्यधिक होती है क्योंकि वह अपने को कुछ परिस्थितियों से अनुकूलन



करने में असफल पाकर अपराधी व्यवहार के द्वारा उस नुकसान को पूरा करने का प्रयत्न कर सकता है।

घर या पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित कारकों में **बैवाहिक जीवन (marital status)** का उल्लेख किया जा सकता है। प्रायः आधे गम्भीर अपराधी पुरुष अविवाहित होते हैं। परन्तु इसका प्रमुख कारण यह है कि वे सभी युवक होने के कारण उनमें उत्साह और शक्ति अधिक होती है। अपराध की दरें विवाह-विच्छेद द्वारा पृथक् व्यक्तियों में या ऐसे लोगों में जिनके पति या पत्नी की मृत्यु हो गई है, अधिक होती हैं। इसका कारण यह होता है कि ऐसे लोग प्रायः अपने जीवन को विघटित पाते हैं और फिर से उसे व्यवस्थित करना उनके लिए कठिन होता है।

### अपराध के अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारक (Other Social and Cultural Factors of Crime)

उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त अपराध के कुछ अन्य कारकों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो कि अपराध के निर्धारण में महत्वपूर्ण हैं। उनमें से निम्न-लिखित कारक महत्वपूर्ण हैं :—

#### युद्ध (War)

अनेक विद्वानों का मत है कि युद्धकाल और उत्तर युद्ध काल में अपराध बढ़ जाते हैं। युद्ध के समय पुरुष लोग युद्ध-क्षेत्र में चले जाते हैं और पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाता है क्योंकि स्त्रियाँ पुरुषों की जगह जाकर मिलों, दफ्तरों आदि में काम करती हैं इससे पारिवारिक नियन्त्रण समाप्त हो जाता है और परिवार के सदस्य स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। समाज में पुरुषों की कमी के कारण और युद्ध-क्षेत्र में स्त्रियों की कमी के कारण यौन सम्बन्धी अपराध अधिक होने लगते हैं। साथ ही, युद्ध के समय वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होती है और इससे मुनाफाखोरी और चोर बाजारी बढ़ती है, देश में राशनिंग योजना लागू की जाती है जिससे अनाजों का भाव काफी चढ़ जाता है और अनाज से सम्बन्धित अपराध अधिक होते हैं। घूसखोरी खूब जोर पकड़ती है, युद्ध के समय बम वर्षा के फलस्वरूप उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं और बेरोजगारी बढ़ती है जिसके फलस्वरूप सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध समाज में बढ़ जाता है। वैसे भी युद्ध के पश्चात देश में अनेक आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण सामान्य जनता को निर्धनता तथा भुखमरी आ घेरती है इन सबके कारण भी अपराध बढ़ता है।

#### समाचार पत्र (Newspaper)

समाचार पत्र भी अपराध की दरों को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होते हैं। विभिन्न विद्वानों का मत है कि समाचार पत्र निम्नलिखित ढंगों से अपराध को बढ़ाते हैं :—

(१) **अपराध की विधि बतलाकर** :—समाचार पत्रों के द्वारा लोगों को



विविध अपराध की विभिन्न विधियाँ पता चलती रहती हैं। उदाहरण के लिए समाचार पत्र में इस ढंग के समाचार विस्तार पूर्वक छापे जाते हैं कि चोर किस रास्ते से मकान में घुसा, कमरे के अन्दर किस प्रकार गया, तिजोरी को किस ढंग से खोला तथा एक सदस्य के जग जाने से उसे किस प्रकार से हाथ पैर बांध कर चला गया आदि। उसी प्रकार अखबार में यह भी छपता है कि किस प्रकार की गलतियों के कारण अपराधी प्रायः पकड़े जाते हैं। इससे लोग न केवल अपराध की विधियों को सीख जाते हैं, बल्कि आवश्यक सावधानी बरतने के सम्बन्ध में भी सचेत हो जाते हैं।

(२) अपराध को अधिक लाभप्रद दर्शाकर—समाचार पत्रों में छोटी-मोटी चोरी या अपराध की घटनायें उतनी अधिक नहीं छपती हैं जितना कि ऐसे बड़े-बड़े अपराध जिससे अपराधी को खूब लाभ हुआ हो। इससे लोगों यह एक गलत धारणा पनप जाती है कि अपराध अत्यन्त लाभप्रद है। इससे अपराध करने के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ता है।

(३) अपराधियों को प्रतिष्ठा देकर—समाचार पत्र बड़े-बड़े अपराधियों के बारे में खूब विस्तारपूर्वक वर्णन निरन्तर छापते रहते हैं इससे अपराधी के नाम से लोग बहुत जल्दी परिचित हो जाते हैं और वह लोगों की एक आलोचना का विषय बन जाता है। इससे कुछ लोगों के दिल में यह एक गलत धारणा बन जाती है कि प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपराध करना एक अति सरल तरीका है इस प्रकार की उत्कट अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए अपने प्रशंसकों की संख्या बढ़ाने के लिए भी कुछ लोग अपराध करते रहते हैं।

(४) अपराध को एक आकर्षक उत्तेजना पूर्ण विषय बनाकर—ऐसे कुछ युवक और व्यक्ति भी होते हैं जिन्हें साधारण जीवन पसन्द नहीं होता है। वे तो रोमांचकारी और उत्तेजनापूर्ण जीवन को अधिक चाहते हैं। ऐसे लोग जब अखबारों में सनसनीपूर्ण और आकर्षक खबरें पढ़ते हैं तो उनमें भी उसी प्रकार के जीवन बिताने की इच्छा उत्पन्न होती है और वे अपराध के रास्ते पर आ जाते हैं।

(५) अपराध को एक सामान्य विषय बनाकर :—समाचार पत्र अपराधों के सम्बन्ध में इतना छापते रहते हैं कि अपराध एक सामान्य विषय बन जाता है। और लोग अपराध को विशेष महत्व नहीं देते हैं। प्रातः जलपान करते समय हम चाय और अपराध पर बात समान ढंग से करते हैं। इससे गैर-कानूनी कामों के प्रति हमारी जागरूकता कम हो जाती है।

(६) न्याय के हाथों अपराधियों को बचाकर—अन्त में समाचारपत्रों के विरुद्ध यह भी दोषारोपण किया जाता है कि अपराधी की गिरफ्तारी के लिए पुलिस की कार्यवाहियों को छापकर वे उसे गिरफ्तारी से बचाने का अवसर देते हैं। कुछ पुलिस अफसरों से समाचारपत्रों के रिपोर्टर ऐसा मिल-जुल जाते हैं कि पुलिस के कार्यक्रम पहले ही अखबार में छप जाते हैं। इससे न्याय के हाथों से अपराधी निकल भागने का अवसर पाता है।



## चलचित्र

### (Motion Picture)

चलचित्रों ने भी अपराध की दूरों को बढ़ाने में काफी योग दिया है। रोमान्टिक तथा अपराध से सम्बन्धित चलचित्रों का बहुत बुरा प्रभाव आम जनता पर पड़ता है। चलचित्रों में अपराधी और वेश्याओं तक को आदर्श रूप में उपस्थित किया जाता है। साथ ही, जिस आराम और विलासिता के जीवन का चित्र अधिकतर चित्रों में किया जाता है। वह वास्तविक जीवन में अधिकांश लोगों के लिए कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। परन्तु बहुत से लोग इस अवास्तविकता को वास्तविक जीवन में निखारने का प्रयत्न करते हैं अर्थात् आराम और विलासिता के उस स्तर को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जैसा कि उन्होंने सिनेमा में देखा है। अधिकतर लोगों के लिए वैध तरीके से उस स्तर को प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। इसलिए अवैध तरीकों को अपनाने में भी कुछ लोग संकोच नहीं करते हैं।

सिनेमा का प्रभाव व्यक्ति पर कैसा होगा, यह बहुत कुछ निर्भर करता है चित्रों की अन्तर्वस्तु (Content) पर। पर आज यह अन्तर्वस्तु अधिकतर चित्रों में बहुत ही विकृत रूप में प्रगट होती है। वास्तव में वास्तविकता को तोड़-मोड़कर ऐसे ढंग से विषय-वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें सत्यता का परस तक नहीं रहता है। बस कण्डक्टर (Bus conductor) या एक किसान को भी जिस तड़क-भड़क की पोशाक में दिखाया जाता है उसके लिए अनेक धनी लोगों के बच्चे और जमींदार भी तरसा करते हैं। अमेरिका के चित्रों का विश्लेषण करने पर पता चला कि उनमें तीन-चौथाई चित्रों की विषय-वस्तु अपराध और यौन थी। सिनेमा में धन प्राप्त करना, प्रेम हो जाना, यौन-सम्बन्धों को पनपाना आदि इतना सरल काम दिखलाया जाता है कि आम जनता भड़क जाती है और सिनेमा में बतलाए हुए ढंग से उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। तभी अपराध होता है। सर्व श्री ब्लूमर और हैजर (Blumer and Hauser) के मतानुसार चलचित्र पुरुष अपराधियों को अनेक अप्रत्यक्ष प्रकार से प्रभावित करता है जैसे अपराधों की विधि और विविध प्रकार के अपराधों को दिखलाकर, ऐश और आराम तथा धन की प्राप्ति की इच्छा को भड़का कर और उनकी प्राप्ति के सरलतम साधनों व विधियों को बतलाकर, वीरता, साहस तथा कठिन कार्यों को करने की भावना को जगाकर, सुप्त यौन इच्छाओं को भड़का कर आदि। इन सभी प्रकारों से समाज में अपराधों की संख्या बढ़ती जाती है। उसी प्रकार चलचित्रों का अभाव स्त्रियों द्वारा किए गए अपराधों पर भी पड़ता है। नये-नये खर्चिले फैशनों को प्रस्तुत करके यौन कामनाओं को भड़काकर, अशोभनीय वेश-भूषाओं के प्रति आकर्षण को बढ़ाकर, ऐश आराम और सुन्दर वेश-भूषा की कामना को भड़काकर और यह बतलाकर कि इन चीजों को किन विधियों से प्राप्त किया जाता है, सुन्दर बनने तथा प्रेम करने की विधियाँ दिखलाकर, सिनेमा स्त्री अपराधियों की संख्या बढ़ाता है। अगर सिनेमा का सामान्य स्तर ऊँचा नहीं हुआ तो आम जनता के नैतिक पतन का सदा ही डर रहता है।



**धर्म****(Religion)**

वास्तव में धर्म का उद्देश्य जनना के नैतिक स्तर को ऊँचा करना ही होता है। परन्तु कभी-कभी धर्म स्वयं अपराध का एक कारक बन सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कोई भी धर्म अपराध करने की शिक्षा देता है। धर्म तो सभी अच्छे होते हैं पर उसे लोग जब विकृत रूप में अपने स्वार्थों की पूर्ति के हेतु काम में लाते हैं तभी धर्म भी अपराध का कारण बन जाता है। धर्म की आड़ लेकर पाप करने वाले व्यक्तियों का अभाव किसी भी समाज में नहीं होता है। धर्म लोगों में कुछ अन्ध विश्वासों को पनपाता है जिसके आधार पर यह गलत धारणा पनप जाती है कि उन्हीं का धर्म सबसे अच्छा है और अन्य सभी धर्म और उनके मानने वाले दुराचारी हैं। इस अन्ध-विश्वास और गलत धारणा के फलस्वरूप एक धर्म के मानने वाले दूसरे धर्म के लोगों को धर्म के ही नाम पर कत्ल करने तक को हिच-किचाते नहीं हैं। दुनिया का इतिहास ऐसे ही कितने निर्दोष लोगों के खून से-कलंकित है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम फिर से इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि अपराध जटिल मानव व्यवहार की एक अभिव्यक्ति है और इसी कारण अपराध को किसी एक कारण के आधार पर समझाया नहीं जा सकता है। व्यवहारिक रूप में ऐसा होता है कि एकाधिक कारक एक साथ मिलकर कुछ ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं जिनके कारण व्यक्ति का नैतिक व चारित्रिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और वह अपराध कर बैठता है। इसलिए अपराध के कारण के किसी भी एक कारक पर अत्यधिक बल देना उचित न होगा क्योंकि हो सकता है कि एक विशेष कारक एक व्यक्ति को पतन के रास्ते पर खींचकर ले आये। पर वही कारक दूसरे व्यक्ति को किसी भी तरह से कुप्रभावित न कर सके। निर्धनता अपराध का कारण हो सकती है पर लाखों निर्धन व्यक्ति अपराधी नहीं होते हैं, इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि एक ही प्रार्थिक स्थिति में रहते हुए भी एक व्यक्ति अपराधी बन सकता है और दूसरा नहीं : यह कथन इस लिए सच है कि अपराध के एक नहीं अनेक कारक होते हैं और उन कारकों के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिक्रिया एक-सी नहीं होती है। किसी भी वैज्ञानिक विश्लेषण में इस सत्य को भूलना उचित न होगा।

**भारत में अपराध****(Crime in India)**

अपराध की अवधारणा समय, समाज तथा परिस्थिति से सम्बन्धित होती है और इसीलिए अपराध प्रत्येक समाज में एक तरह का नहीं होता है। और भी स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि अपराध की प्रकृति बहुत कुछ सामाजिक परिस्थितियों तथा मूल्यों पर निर्भर करती है। अमेरिका में बलात्कार के प्रतिदिन समाचार मिलते हैं परन्तु अफगानिस्तान में ऐसे अपराध कम होते हैं। वहां सम्पत्ति



के विरुद्ध अपराध अत्यधिक पाये जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि वहाँ की आर्थिक जीवन सम्बन्धी परिस्थितियाँ अत्यधिक प्रतिकूल हैं। भारत में भी सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध, यहाँ की निर्धनता के कारण ही अत्यधिक होते हैं। इसी प्रकार भारतवर्ष में यौन सम्बन्धी अपराध इस देश में पाये जाने वाले सामाजिक और धार्मिक अन्ध-विश्वासों के ही कारण अत्यधिक पाये जाते हैं।

## भारत में अपराध के कारण (Causes of Crime in India)

सामान्यतया भारतवर्ष में भी अपराध के वही कारण हैं जो कि अन्य देशों में क्योंकि उन कारकों की क्रियाशीलता इस देश में भी देखने को मिलती है फिर भी यह कहा जाता है कि भारतवर्ष में अपराधों के कारण मुख्य रूप से सामाजिक तथा आर्थिक हैं और मनोवैज्ञानिक बहुत कम। भारतवर्ष की अपराध परिस्थिति का अध्ययन करने वाले विद्वानों का यह भी मत है कि इस देश में सामाजिक कारण तथा परिस्थितियाँ अधिकतर अपराधों का प्रमुख कारण हैं। यहाँ पर हम उपरोक्त कथनों के औचित्य को दर्शाते हुए केवल उन्हीं कारणों के विषय में विवेचना करेंगे जो कि भारतवर्ष में विशेष रूप से अपराध की दरों को बढ़ाने में योगदान देते हैं।

### सामाजिक प्रथाएँ व विश्वास तथा अपराध (Social Customs and Beliefs and Crime)

भारतवर्ष एक प्रथाओं का देश है और यहाँ पर सामाजिक तथा धार्मिक अनेक प्रकार के विश्वास तथा प्रथाएँ देखने को मिलती हैं। इन प्रथाओं तथा विश्वासों के कारण भी अपराधी व्यवहारों को प्रोत्साहन मिलता है। इसे स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित प्रथाओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) कुलीन विवाह प्रथा — इस प्रथा के अन्तर्गत यह नियम है कि लड़की की शादी अपने बराबर या अपने से ऊँचे कुलों में करनी पड़ती है। इससे सभी लोग अपनी लड़की का विवाह ऊँचे से ऊँचे कुल में देने का प्रयत्न करते हैं। फल यह होता है कि सबसे ऊँचे कुल में लड़कों की अत्यधिक कमी हो जाती है जिसके फलस्वरूप उच्च कुल के अनेक माता-पिताओं को अपनी लड़की का विवाह देने के लिए कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता है। इस परीक्षा से अपना पीछा छुड़ाने के लिए पहले लोग लड़की पैदा होते ही उसे मार डालते थे जिससे कि विवाह करने की समस्या उनके सामने ही न आये। कुछ माता पिता जोकि अपनी लड़की को मार नहीं पाते थे लड़की की शादी ऐसे पुरुष के साथ कर देते थे जोकि उच्च कुल का होता था पर होता था पागल, या नष्ट चरित्र वाला या कन्या से दस गुना ज्यादा उम्र का। ऐसे पतियों के साथ अनुकूलन करना पत्नियों के लिये असम्भव हो जाता है और परिस्थिति से तंग आकर उन्हें अन्त में आत्म-हत्या ही करनी पड़ती थी।

(२) वर-मूल्य प्रथा :— भारतवर्ष में हिन्दू विवाह के अन्तर्गत वर-मूल्य या दहेज लेने देने का अत्यधिक प्रचलन है। इसे तो लोग विवाह के पहली शर्त के रूप में मानने लग गये हैं। इस प्रथा में भी भारतवर्ष में अपराध की दरों को बढ़ाने में



अपना योगदान दिया है। जब वर-मूल्य प्रथा अत्यधिक गम्भीर रूप धारण कर लेती है तो बहुधा अनेक माता-पिता अपनी लड़की को पैदा होते ही मार डालते थे। राजस्थान में लोग वर-मूल्य प्रथा की कठिनाइयों से बचने के लिये अपनी नवजात कन्याओं की हत्या कर डालते थे। वहाँ इस प्रकार की हत्या को कानून द्वारा ही रोकना पड़ा था। आजकल शिशु वध सम्बन्धी अपराध का अन्त हो गया है परन्तु उस का एक दूसरा और भी भयंकर रूप प्रगट हुआ है और वह है लड़कियों द्वारा आत्म-हत्या। लड़कियाँ अपने माता पिता के दुर्व्यवहारों या तानों से परेशान होकर या उन्हें योग्य वर की तालाश में दूर-दूर ठोकें खाते देख आत्महत्या को ही आत्म-रक्षा के साधन के रूप में चुन लेती है। बंगाल में प्रतिवर्ष ऐसी एकाधिक आत्म-हत्याएँ हो जाती हैं। इस अपराध का विकास वर मूल्य प्रथा का ही वरदान है। वर पक्ष की बढ़ती हुई माँगों को पूरा करने के लिए लड़की के माता-पिता महाजन से ऋण लेते हैं अथवा अपनी सम्पत्ति को बेचते या गिरवी रखते हैं। इससे परिवार निर्धनता के सागर में डूब जाता है और निर्धनता अपराधी व्यवहार को प्रोत्साहित करने का एक कारण बन जाती है। जिन माँ-बाप में दहेज की माँग को पूरा करने की क्षमता नहीं है, उन्हें अपनी लड़की के लिये योग्य वर नहीं मिल पाता है और वे अपनी लड़की का विवाह विधुर, बूढ़ या चरित्रहीन पुरुष से ही करने को बाध्य होते हैं। जब पति-पत्नी की आयु में बहुत ज्यादा अन्तर होता है तो उनमें यौन-अनुकूलन (sexual adjustment) नहीं हो पाता है जिसके फलस्वरूप पत्नियाँ यौन-अपराध कर बैठती हैं या जीवन से तंग आकर आत्म-हत्या करने का प्रयत्न करती हैं। इतना ही नहीं, दहेज की रकम पूरा अदा न कर सकने पर वधू को प्रतिशोध का शिकार बनना पड़ता है और उस पर नाना प्रकार के अत्याचार किये जाते हैं। इसका परिणाम भी कभी-कभी वधू द्वारा आत्म-हत्या ही होता है। कभी-कभी तो दहेज के लेन-देन के प्रश्न को लेकर दो परिवारों में तनाव बढ़ते-बढ़ते शत्रुता की सीमा तक पहुँच जाता है और अधिक स्तब्ध हुआ पक्ष दूसरे पक्ष की हत्या तक कर डालता है। अनेक परिवारों में दहेज की समस्या के कारण काफी उम्र तक लड़कियों का विवाह नहीं हो पाता है जो कि अवैध यौन-सम्बन्धों या यौन-अपराधों का कारण होता है।

(३) विधवा पुनर्विवाह पर निषेध की प्रथा :—भारतवर्ष में कन्यादान के आदर्श, पवित्रवादी धारणा, धार्मिक निषेध, भाग्यवादिता, विवाह के बंधन को अटूट मानने की भावना आदि के कारण यह प्रथा है कि स्त्रियाँ अपने पति की मृत्यु के बाद फिर से विवाह नहीं कर सकती हैं। ऐसा सोचना भी उनके लिये पाप समझा जाता है। आज भी हिन्दू समाज में पति की मृत्यु पत्नी के विगत जीवन के पापों का परिणाम समझा जाता है। जीवन-भर वैधव्य भोगना ही काफी सजा है, इस पर भी अब समाज या प्रथा विधवा से यह माँग करती है कि वह नारी जीवन की समस्त आशाओं और भावनाओं की बलि दे, तब ही अपराध की प्रवृत्ति का बीजारोपण होता है। बाल-विधवाओं की अवस्था सचमुच ही मर्मस्पर्शी है। वे 'विधवा' शब्द के अर्थ को समझने से पूर्व ही विधवा हो जाती हैं और उनसे सामाजिक प्रथाएं यह आशा



करती हैं कि उसी दिन से वे अपनी समस्त इच्छा, कामना और वासना को त्यागकर पत्थर की भाँति हो जायें। उन्हें अच्छे कपड़े तक पहनने का अधिकार नहीं और न ही आभूषण या अन्य किसी मुहाग की चीज का वह उपयोग कर सकती हैं। आजीवन दूसरों की गृहस्थी और बच्चों को संभालती रहें, पर अपनी एक छोटी सी गृहस्थी और एक हँसते-खेलते बच्चे की बात सोचना भी उनके लिये अक्षम्य अपराध है। वे परिवार पर बोझ समझी जाती हैं। इसीलिये बातों के ताने, व्यवहारों की तीक्ष्णता और किसी से न कहने योग्य मर्म पीड़ा ही उनके जीवन की एकमात्र साथी हो जाती है। उनके जीवन का अतीत धुंधला है, वर्तमान असहनीय तथा भविष्य अन्धकारमय है। वे समवेदना और मानवता के द्वार पर आजन्म भिखारिन ही बनी रहती हैं। ऐसी प्रथाओं से अपराध का उद्भव न हो, तभी आश्चर्य होने की बात है। इसीलिये विधवा-पुनर्विवाह पर रोक की प्रथा भी अन्याय व अपराध को जन्म देती है। यह निषेध अनुचित यौन-सम्बन्धों को प्रोत्साहित करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार ही यौन-सम्बन्धी वासनायें प्रत्येक पूर्ण वयस्का युवती में होती हैं, पर जब उसे जवर्दस्ती दबा देने का प्रयत्न किया जाता है तो यौन-सम्बन्धी अपराध को प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन ही मिलता है। इस प्रकार के यौन-सम्बन्ध के फलस्वरूप जब विधवा गर्भवती हो जाती है तो वह अपने या अपने परिवार के सम्मान की रक्षा के लिये आत्म-हत्या कर लेती है। जो विधवाएं ऐसा नहीं करती हैं वे अवैध सन्तान को जन्म देती हैं और फिर उस नवजात शिशु को कहीं फिकवा देती हैं या फिर उसकी हत्या कर दी जाती है। इन अपराधों के लिये कभी-कभी विधवाओं को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है और उस अवस्था में वे अपनी जीविका पालन के हेतु या तो वेश्यावृत्ति को अपनाती हैं या आत्म-हत्या कर लेती हैं। इतना ही नहीं, विधवा पुनर्विवाह पर निषेध सम्बन्धी प्रथा के कारण केवल विधवाओं की ही नहीं उनके बच्चों की भी बर्बादी हो जाती है। वे बाल-अपराधी और आगे चलकर अपराधी बन जाते हैं। जिन परिस्थितियों के मध्य विधवा माता को रहना पड़ता है, वे माता के जीवन के लिये ही दुःखद और आशा-विहीन हैं। ऐसी अवस्था में उन्हीं परिस्थितियों में उसके बच्चों का जीवन कितना अन्धकारमय होगा, इसका अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है ऐसे बच्चे प्रायः अपराधी बन जाते हैं।

(४) बाल-विवाह प्रथा :—इस प्रथा के अन्तर्गत लड़के और लड़कियों का विवाह वाल्यकाल में ही कर दिया जाता है। यह नियम विशेषकर लड़कियों पर अधिक लागू किया जाता है। इसके प्रचलन के कारण कभी-कभी पति और पत्नी की आयु में काफी अन्तर होता है और घर की छोटी-सी बहू पर केवल पति ही नहीं वल्कि सास ननद आदि भी अत्याचार करती हैं। भारतवर्ष की अदालतों के सम्मुख इस प्रकार के अत्याचार व निष्ठुरता के अनेक मुकदमें पेश होते हैं। पति-पत्नी की आयु में अधिक अन्तर होने से पत्नी यौनसम्बन्धी सन्तुष्टि के लिए पति के अलावा दूसरे पुरुष से भी अवैध सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। बाल-विवाह के प्रचलन के कारण योग्य विवाह-साथी मिलना पूर्णतया संयोग पर निर्भर करता है क्योंकि बचपन



में किसी भी लड़के या लड़की को देखकर उसके आगामी जीवन और व्यक्तित्व का कुछ भी पता नहीं लगाया जा सकता। यह हो सकता है कि आगे चलकर पति-पत्नी दोनों की ही आदत स्वभाव इत्यादि एक दूसरे के विरोधी हों और उन्हें उस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए आत्म-हत्या तक करनी पड़े। इस प्रथा का अपराध को बढ़ाने में एक अप्रत्यक्ष प्रभाव भी हो सकता है। बाल-विवाह के कारण बहुत ही अल्प-आयु में सन्तान पैदा होने लगती हैं जिससे देश में जनसंख्या की वृद्धि होने लगती है और देश में निवास स्थान की समस्या, खाने-पहनने की समस्या, निर्धनता और बेकारी की समस्या दिन प्रतिदिन कटु होती जाती है और यह समस्याएँ व्यक्ति को अपराध के रास्ते में घसीट कर ला फेंक सकती हैं।

(५) सती प्रथा :—इस प्रथा के अन्तर्गत विधवाओं के प्रति समाज का निर्देश है कि वे अपने पति के साथ उसी की चिता में जिन्दा ही जलकर अपने जीवन का अन्त कर दें। इस काम के लिए विधवाओं को यह लालच दिखाया गया कि यदि वे ऐसा करती हैं तो उन्हें सीधा स्वर्ग मिलेगा। भारतवर्ष में एक समय था जब कि यह प्रथा अत्यन्त अमानुषिक और हृदयस्पर्शी थी। किसी भी जिन्दा आदमी को जला देना कानून की दृष्टि से बहुत बड़ा अपराध प्रत्येक सम्य समाज में माना जाता है। पर भारत में एक समय था जब कि सती होना अर्थात् पति की चिता में जिन्दा जलकर मर जाना विधवाओं की इच्छा पर निर्भर न रहकर तथाकथित समाज के नेताओं के आदेश पर आधारित था। विधवा को अफीम खिलाकर बेहोश करके उसे जबर्दस्ती जलती हुई चिता में डाल दिया जाता था और अगर वह भागने की कोशिश करती थी तो बल्लम और बाँसों से कोंच-कोंच कर जिन्दा ही जलकर राख हो जाने को बाध्य किया जाता था। चिता को घेरकर ढोल, नगाड़ा, शंख, घण्टा आदि के साथ अनेक व्यक्तियों का इतना उल्लास-नृत्य होता था कि उस जलती हुई विधवा का समस्त हाहाकार उस कोलाहल में डूब जाता था। भारतीय प्रथा व्यक्ति को केवल अपराध करने को ही नहीं बल्कि उसे बर्बर और पाशविक रूप में भी व्यवहार करने को बाध्य कर सकती है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारतीय सती प्रथा है। पहले यह प्रथा इस देश में अत्यधिक उग्र थी, पर अब यह प्रायः समाप्त हो गई है। फिर समाचार पत्रों में सती होने के समाचार अब भी कभी-कभी पढ़ने को मिलते हैं।

(६) नरबलि की प्रथा :—पहले जमाने में भारतवर्ष में नरबलि देने की प्रथा भी प्रचलित थी। ऐसी नरबलि भारत के डाकू लोग अधिक दिया करते थे। कहीं भी डाका डालने से पहले उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए काली देवी की पूजा करते थे और उस देवी को प्रसन्न करने के लिए नरबलि दिया करते थे। कुछ वर्ष पहले अखबार में यह खबर छपी थी कि एक स्त्री ने चार वर्ष की एक लड़की को चण्डिका देवी के सम्मुख बलि इस विश्वास के साथ दिया था कि उससे देवी प्रसन्न होकर उसे एक लड़का देगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक विश्वास और प्रथा भी मिलकर व्यक्ति को अपराध करने के लिए प्रेरित कर सकता है।



(७) गंगा सागर में संतान बहाने की प्रथा — जनवरी के महीने के लगभग प्रतिवर्ष गंगा सागर का मेला होता है। उसमें कितने ही लोग पुण्य संचय करने के लिए जाते हैं पर उसी बीच अपराध की भी एक लहर धार्मिक विश्वास के आधार पर होती है। जिन औरतों के बच्चा नहीं होता है वे गंगा माता से यह मिन्नत करती हैं कि यदि उन्हें बच्चा हुआ तो प्रथम सन्तान को गंगा सागर को भेंट कर देंगी। कुछ को बच्चा होता भी है और वे इस धार्मिक विश्वास के साथ अपनी प्रथम सन्तान को गंगा सागर में बहा देती हैं कि गंगा माँ उनसे प्रसन्न होकर उनकी गोद को बार-बार भरती रहेंगी।

(८) देवदासी प्रथा— भारतवर्ष में एक समय था जबकि इस प्रथा का भी खूब प्रचलन था। इसके अन्तर्गत लड़कियों को देवताओं की सेवा करने के लिए मन्दिरों को दान कर दिया जाता था। इन लड़कियों को देवताओं की सेवा से कहीं अधिक सेवा मन्दिर के महन्तों और पृष्ठपोषकों की करनी पड़ती थी और वह भी उनके यौन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये। आज भी इस प्रथा की बिल्कुल समाप्ति नहीं हुई है। अनेक लड़कियाँ अब भी मन्दिरों और घर्म की छत्र-छाया में वेश्याओं का जीवन व्यतीत कर रही हैं। देवदासी प्रथा का एक दूसरा रूप भी है। भारतवर्ष में यह विश्वास किया जाता है कि यदि किसी स्त्री के पति का देहान्त हो गया है तो वह उसके ही दुर्भाग्य और पिछले जन्म के दुष्कर्मों का परिणाम है। वैधव्य विधवा के ही पापों का परिणाम है। इस पाप को धोने के लिए विधवाओं को अपना बाकी जीवन देवी देवताओं के पूजा-पाठ में व्यतीत करना चाहिये। इसलिए बंगाल, बिहार में यह प्रथा है कि विधवाओं को काशी में विश्वनाथ जी की सेवा करने के लिए बनारस में छोड़ दिया जाता है। इन विधवाओं में जो सुन्दरी और युवती विधवायें होती हैं वे अक्सर वहाँ के पन्डों तथा बुरे आदमियों के जाल में फँस जाती हैं और उन्हें वेश्यावृत्ति करने के लिए बाध्य किया जाता है। इतना ही नहीं इन युवती विधवाओं को लेकर दो स्वार्थ-समूहों या व्यक्तियों में दंगा-फसाद और हत्या तक घटित होती है। इस प्रकार देवदासी प्रथा से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में अपराध को बढ़ावा मिलता है।

(९) शिशु हत्या की प्रथा— प्रथा के दबाव से मासूम बच्चों की भी हत्या करने के लिए हाथ उठ सकते हैं, इसका उदाहरण भारत भूमि है। भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से लड़की का जन्म अच्छा नहीं माना जाता है क्योंकि लड़की आगे चलकर परिवार पर एक बहुत बड़ा बोझ बन जाती है और मङ्गला-पित्त के असीम कष्टों का कारण बनती है। इस गलत धारणा व पक्षपात के कारण भारतवर्ष में शिशु हत्या की प्रथा भी एक समय प्रचलित थी। राजपूत इस विषय में सबसे अधिक अपराधी थे, क्योंकि समाज में प्रचलित प्रथा के अनुसार ससुर व साला बनना बहुत बुरा माना जाता था। 'ससुरा' या 'साला' उनके यहाँ गाली के शब्द माने जाते हैं। इसीलिए वह लड़की पैदा होते ही उसे मार डालते थे ताकि उन्हें ससुर या साला न बनना पड़े। यह प्रथा एक समय इतनी कटु हो गयी कि अनेक गांवों में



लड़कियों का नाम निशान तक देखने को नहीं मिलता था। अन्त में १८७० में एक कानून पार करके और उसे दृढ़ता से लागू करके इस परिस्थिति को संभाला गया।

### धर्म और अपराध

(Religion and Crime)

भारतवर्ष में धर्म भी अपराध का एक कारण बन गया है। इस देश में धर्म का अत्यधिक महत्व है। इसलिए धर्म के आदेश तथा निर्देशों को किसी भी मूल्य पर इस देश के लोग पालन करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारतवर्ष में धार्मिक आदेश तथा निर्देश इस प्रकार के हैं कि उससे अपराध को बढ़ावा मिलता है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि धर्म पर अत्यधिक विश्वास कुछ ऐसे अन्व-विश्वासों तथा पक्षपातों को विकसित करते हैं जिससे कि अपराधी व्यवहार घटित होते हैं। यहाँ की जनता धर्म तथा धर्म से सम्बन्धित लोगों का बहुत आदर करती है और विश्वास भी। विशेषकर भारत की स्त्रियों में इस प्रकार के विश्वास और आदर की भावना अत्यधिक पायी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनके विश्वासों का गलत फायदा उठाकर चोर, ठग तथा बदमाश लोग साधू संन्यासी का भेष धारण करके अपने स्वार्थों की पूर्ति करते हैं। धार्मिक विश्वासों के कारण ही इस देश में देवदासी प्रथा देखने को मिलती है जो कि अपराध को जन्म देती है। उसी प्रकार धार्मिक विश्वासों के कारण ही चोर, डाकू, देवी-देवता को प्रसन्न करने के लिए नर-बलि चढ़ाते हैं। यह धार्मिक विश्वास है कि छुपे हुए खजानों को प्राप्त करने के लिए या दुरात्माओं को प्रसन्न करने के लिए नरबलि देने की प्रथा इस देश में प्रचलित थी। अनेक ऐसे बड़े-बड़े मन्दिर इस देश में आज भी हैं जिनके महान्त धर्म की आड़ में अनैतिक जीवन व्यतीत करते हैं। धर्म भाव के कारण ही इस देश में भिक्षावृत्ति एक पेशे के रूप में आज भी विद्यमान है। इन भिक्षारियों में अनेक हठे-कट्टे लोग भी सम्मिलित हैं जो कि धर्म की आड़ पर भिक्षावृत्ति करते हुए चोरी, पाकेट मारी तथा नाना प्रकार के यौन अपराध करते फिरते हैं। पहले जमाने में कोई भयंकर बीमारी होने की हालत में रोगी के माता-पिता या अन्य आत्म पण्डित अपने दायरे के किसी अंग को देवी-देवता को भेंट करने करने की कसम खाते थे और रोगी को अच्छा करने के लिए मन्त्रत करते थे। आज भी नवदुर्गों में कानपुर के तपेश्वरी देवी के मन्दिर में अपने-अपने प्रियजन के किसी रोग या विपदा से मुक्ति पाने बाद के अपनी जवान काटकर देवी की पूजा की जाती है। धार्मिक भावना के कारण इस देश में साम्प्रदायिक दंगे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तो बहुत ज्यादा हुआ करते थे। यह दंगे हिन्दू और इस्लाम धर्म के मानने वालों के बीच होते थे जिससे कि कितनी ही दुकान आदि लूट ली जाती थी और निरपराध व्यक्तियों को कत्ल कर दिया जाता था।

### आर्थिक परिस्थितियाँ और अपराध

(Economic Situations and Crime)

भारतवर्ष में अनेक ऐसी आर्थिक परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण इस देश में



अपराध होता है और उसकी दरें भी घटती या बढ़ती रहती हैं। निम्नलिखित विवेचन से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी :—

(क) फसलों की दशा (Condition of Crops)—डाक्टर हैकरवाल (Haikerwal) का कथन है कि भारत में अपराध के थर्मामीटर का पारा फसल की दशा के अनुसार ऊपर या नीचे जाता है। दूसरे शब्दों में बुरी फसल अपराधियों की संख्या में तत्काल वृद्धि कर देती है और अच्छी फसलें पर्याप्त कमी। डाक्टर हैकरवाल ने जिन आँकड़ों को प्रस्तुत किया है उनके विश्लेषण से यह पता चलता है कि साधारण सालों में भी अप्रैल के अन्त से वर्षा ऋतु के आरम्भ होने तक डकैती आदि सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध अधिक होते हैं, और जैसे ही वर्षा आरम्भ होती है वैसे ही अपराधों की संख्या भी घटती है। भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ प्रायः ७० प्रतिशत जनता अपनी आजीविका के लिये प्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। इस कारण अच्छी फसल न होने पर वे दाने दाने को तरस जाते हैं और नौकरी की खोज में आस-पास के नगरों में चले जाते हैं। परन्तु ये अकुशल श्रमिक नगर के किसी काम को भी नहीं करना जानते हैं। अतः शहर में भी उन्हें नौकरी नहीं मिलती और भूख से मरने की अपेक्षा चोरी आदि करना उनके लिये सरल होता है।

(ख) निर्धनता तथा बेकारी (Poverty and Unemployment)—भारतवर्ष में निर्धनता और बेकारी जितने अपराधों को जन्म देती है शायद उतना दुनिया के अन्य किसी भी देश में नहीं। यहां पर ये दोनों समस्याएँ ही अति गम्भीर हैं। भारत में प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आय सन् १९६३-६४ में केवल २६५ थी जबकि अमेरिका में १,५०६ रुपये, कनाडा में १,२३६ रुपए और आस्ट्रेलिया में १,०७० रुपये थी। इसी से भारतवर्ष में निर्धनता की समस्या का कुछ आभास होता है। यदि अप्रत्यक्ष रूप से आश्रित लोगों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो भारत की कुल जनसंख्या का ७५ प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है, पर यही कृषि उद्योग इस देश में इतना अधिक पिछड़ा हुआ है कि करोड़ों टन गेहूँ आदि हमें विदेशों से मंगवाना पड़ता है। यह देश वास्तव में निर्धन ही है। उसी प्रकार बेरोजगारी की समस्या, विशेषकर शिक्षित बेरोजगारों की समस्या इस देश में वास्तव में ही बहुत गम्भीर है। इस समय देश में प्रायः १२० लाख व्यक्ति बेकार हैं जो कि चौथी पंच-वर्षीय योजना के अन्त में बढ़कर १५० लाख हो जायेंगे। श्वेती उद्योग, ग्रामोद्योग आदि में आवश्यक उन्नति न होने के कारण बेकार व्यक्तियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। इससे देश में निर्धनता की समस्या का और भी गम्भीर हो जाना स्वाभाविक ही है। निर्धनता व बेकारी व्यक्ति के नैतिक जीवन को बिल्कुल ही खोखला बना देती हैं। जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुयें भी जब व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती हैं तो वह चोरी करता है, गबन व जालसाजी में प्रवृत्त होता है, घूस लेता है और अन्य अवैध रूप से धन पाने के लिए प्रयत्नशील होता है। भारत वर्ष में १०-२० नये पैसे के लिये भी लोग बेईमानी करते हैं, २०-३० पैसे की भी घूस लेते हैं। वास्तव में निर्धनता व बेकारी व्यक्ति के व्यक्तित्व से समस्त सद्गुणों को



छीन सकती है और उसे अपराधी बना सकती है। इस देश में पूर्ण बेकारी से भी भयंकर समस्या है मौसमी बेकारी (Seasonal unemployment)। कुछ महीने काम करने के बाद एकाएक आमदनी रुक जाने से व्यक्ति अपने सभी खर्चों को एकाएक कम नहीं कर पाता है और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध कर बैठता है।

(ग) औद्योगीकरण तथा नागरीकरण (Industrialization and urbanization) — (१) भारतवर्ष में औद्योगीकरण तथा नागरीकरण के फलस्वरूप भी अपराधों के प्रकार तथा दरों में काफी वृद्धि हुई है। औद्योगीकरण से पूर्व भारत मुख्य रूप से आत्म-निर्भर गाँवों का देश था। संयुक्त-परिवार, जाति-प्रथा तथा गाँव पंचायत इन तीनों संस्थाओं द्वारा समस्त सामाजिक व्यवस्था नियन्त्रित तथा व्यवस्थित थी। व्यक्ति का पारिवारिक जीवन सुखी तथा समृद्धिशाली था और बेकारी, बीमारी निर्धनता आदि की समस्याओं का आज जैसा कटु रूप न था। परन्तु औद्योगीकरण और उसी के साथ-साथ नागरीकरण की प्रक्रिया ने उक्त सभी परिस्थितियों को परिवर्तित कर दिया। औद्योगीकरण के कारण भारतीय गाँव की आत्म-निर्भरता नष्ट होती गई, ग्रामीण उद्योगों का विनाश हुआ, संयुक्त-परिवार का विघटन आरम्भ हुआ, जाति प्रथा दिन प्रतिदिन दुर्बल होती गई तथा पंचायत की शक्ति का ह्रास हुआ। गाँव में बेकारी और निर्धनता बढ़ने लगी। इनके फलस्वरूप गाँवों में अपराध की दरें निरन्तर बढ़ती जाती हैं।

(२) औद्योगीकरण तथा नागरीकरण के विकास के साथ-साथ नगरों में अधिक संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता मिल, कारखानों, बैंक, व्यापार तथा दफ्तर में हुई। उस आवश्यकता को पूरा करने के लिये केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी घर छोड़कर इन कारखानों, दफ्तर आदि में काम करने आने लगीं। जो श्रमिक नगरों में नौकरी करने के लिए आते हैं वे वहाँ अकेले ही रहते हैं और उन पर गाँव जैसे न तो परिवार का, न तो पड़ोस का और न ही पंचायत का कोई नियन्त्रण होता है। इस कारण वे प्रायः बुरी संगत में पड़ जाते हैं और जुआ, नशेबाजी तथा वेश्यावृत्ति में फँस जाते हैं जो कि भागे चलकर अपराधी व्यवहार को प्रोत्साहित करती है।

(३) औद्योगीकरण के साथ-साथ नौकरी का क्षेत्र पूरे देश में फैल गया है और संयुक्त परिवार के सदस्य अपना परिवार छोड़कर इधर-उधर छिटक गये हैं। इसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार का विघटन हो गया है जो कि भारतीय सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण पाठ्य अंश करता है संयुक्त परिवार शारीरिक या मानसिक असमर्थता या दुर्घटना होने पर अपने प्रत्येक सदस्य की रक्षा करता है। बीमार पड़ने पर सेवा सुश्रूषा मिलती है, बेकार हो जाने पर आश्रय मिलता है, खाने-पहिनने को मिलता है और किसी भी अवस्था में भूखों मरने का भय नहीं रहते। परन्तु अब संयुक्त परिवार के विघटन से लोगों को यह सुरक्षा नहीं मिल पाती है, निर्बल विधवाओं तथा अनाथों को सहारा नहीं मिल पाती है और ना ही पारिवारिक नियन्त्रण व्यक्ति के व्यवहारों पर उचित ढंग से हो पाता है। इन सबके फलस्वरूप भी अपराधी व्यवहारों को प्रोत्साहन



मिलता है।

(४) भारतवर्ष में औद्योगीकरण तथा नागरीकरण ने शहरों की जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही है उस अनुपात में नये मकान नहीं बन रहे हैं। शहरी क्षेत्रों में एक सौ चौदह लाख मकानों की कमी का अन्दाजा लगाया जाता है। सन् १९६१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार बृहत्तर बम्बई में २.४ प्रतिशत लोगों के पास कोई नियमित आवास या रहने के लिए मकान नहीं हैं, ७.२ प्रतिशत लोग १ कमरे वाले, १६.५ प्रतिशत लोग २ कमरे वाले, ५ प्रतिशत लोग ३ कमरे वाले, २.१ प्रतिशत लोग ४ कमरे वाले, तथा १.७ प्रतिशत लोग ५ या उससे अधिक कमरे वाले मकान में रहते हैं। कलकत्ते में यह प्रतिशत क्रमशः ०.४, ७.१, १३.२, ६.७, ३.६ तथा ४.२ है। देहली में यह प्रतिशत क्रमशः ०.७, ६.३, २३.५, ३.६, ३.३ तथा २.६ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मकानों की कमी के कारण नगरों में अनेक व्यक्ति अपनी पत्नी और बच्चों के साथ नहीं रह पाते हैं। इससे उनके नैतिक पतन होने की सम्भावना अधिक होती है। दूसरी ओर मकानों की कमी के कारण भारतीय नगरों में गन्दी बस्तियाँ विकसित हो गई जहाँ पर रहने से व्यक्ति नाना प्रकार के अपराधों में स्वतः ही फँस जाता है।

(५) नगरों में निवास स्थान की कमी और अन्य आर्थिक कठिनाइयों के कारण बहुत से पुरुष यहाँ होटल तथा मेसों में रहते हैं या दूसरे पुरुषों के साथ इकट्ठा रहते हैं। इसी का परिणाम यह हुआ है कि प्रति हजार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या कलकत्ते में ६०२, बम्बई में ५९६ और कानपुर में ६९६ है। स्त्रियों की इस कमी का प्रभाव पुरुषों की नैतिकता पर पड़ता है और श्रमिक वेश्यावृत्ति, जुआ, शराब आदि व्यभिचारों की ओर अग्रसर होता है।

(६) नगरों में गाँव की भाँति पास-पड़ोस का प्रभाव या परिवार और पंचायत का दबाव नहीं रहता है। नगर की भीड़-भाड़ में अपराधी सरलता से छिप भी सकता है और पकड़े जाने पर अपने लोगों के सामने अपमानित होने या पंचायत द्वारा गाँव या जाति से निकाल देने का भय उसे नहीं होता है। इस कारण भारतीय गाँव की अपेक्षा नगरों में अधिक अपराध होते हैं।

(७) भारतवर्ष के प्रायः सभी औद्योगिक नगरों में बच्चों में तथा वयस्कों के लिए स्वस्थ मनोरंजन का अभाव है। घर में जगह इतनी कम है कि बच्चों को रास्ते पर या गलियों में खेलना पड़ता है। निर्धनता के कारण अच्छे किस्म के मनोरंजन को वे उपलब्ध भी नहीं कर पाते हैं। उनके लिए मनोरंजन का सरलतम साधन शराब पीना और यौन सन्तुष्टि करना है।

अतः स्पष्ट है कि भारतवर्ष में औद्योगीकरण तथा नागरीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न वर्तमान परिस्थितियाँ अपराध तथा व्यभिचार का प्रमुख कारण हैं।

**अपराध के अन्य कारण**

(Other Causes of Crime)

भारतवर्ष में अपराध के जो अन्य कारण हैं, उनके विषय में भी संक्षेप में



विवेचन कर लेना उचित होगा —

(क) चल-चित्र (Motion Picture) — भारतवर्ष में सिनेमा ने भी अपराध की दरों को बढ़ाने में काफी योग दिया है। यहाँ अधिकतर जनता अशिक्षित या बहुत कम शिक्षित है। उन पर रोमान्टिक तथा अपराधी चित्रों (Crime Picture) का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सिनेमा के रोमान्स को जब वास्तविक जीवन में रूप में देने का प्रयत्न किया जाता है, तभी यौन-अपराध होते हैं। उसी प्रकार सिनेमा में दिखलाये गये भोग-विलास और आराम की वस्तुओं को जब निर्धन भारतवासी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तो उसका अर्थ होता है सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध क्योंकि वैध तरीके से उन्हें किसी भी रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(ख) विदेशी आक्रमण (Foreign attacks) — अपराध का यह कारण भारत के लिए नया है। भारत एक शान्ति-प्रिय देश है और अहिंसा की अमर वाणी को संसार तक पहुँचाने का इसने बीड़ा उठाया है। विश्व शान्ति उसका ध्येय है और विश्व-बन्धुत्व उसका सिद्धान्त। ऐसे देश का भी कोई शत्रु हो सकता है, यह पड़ोस के दो देशों—चीन तथा पाकिस्तान—ने अपनी अमानवीय करतूतों द्वारा प्रमाणित कर दिया है। सन् १९६२ में चीन ने और अभी हाल में (सन् १९६५) में पाकिस्तान ने भारत पर जो अनुचित और बर्बरतापूर्ण हमले किये हैं उनसे उत्पन्न परिस्थितियों से अपराध की दरों में प्रभाव पड़ा है। आक्रमण के दौरान में अनेक व्यक्तियों को चीन या पाकिस्तान के हित में इस देश में जासूसी करने के अपराध में गिरफ्तार किया गया है। अनाज को छिपाकर रखने, कालाबाजारी करने, मुनाफाखोरी, घूस आदि के अपराधों पर अनेक व्यक्तियों को भारतीय सुरक्षा कानून (Defence of India Rules) के अन्तर्गत सजाएँ दी गई हैं।

(ग) संयुक्त परिवार का विघटन तथा नये प्रकार के परिवार — भारतवर्ष में आधुनिक युग में औद्योगीकरण, यातायात के साधनों में उन्नति, पारिचात्य शिक्षा, व्यक्तिवाद की भावना, महिला शिक्षा व आन्दोलन, नागरीकरण आदि के कारण संयुक्त परिवारों का तेजी से विघटन हो रहा है और इस परिवार से पहले नियन्त्रणात्मक व सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी जो लाभ प्राप्त होते थे, उनसे अब वंचित हो जाने से व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवहार करता है और ऐसी परिस्थितियों में फँस जाता है जिनसे अपराध की प्रवृत्ति पनपती है। इस विषय में हम पहले ही विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। उसी प्रकार आज रोमान्स के आधार पर परिवार बसाने की प्रवृत्ति भारत में बढ़ रही है। पर वास्तव में प्रेम का एक विकृत रूप ही इससे सामने आता है और यौन अपराध बढ़ता है। रोमान्टिक प्रेम-विवाह इस देश की भूमि पर अभी नया है। इस कारण इसके साथ अभी हमारा अनुकूलन नहीं हो पाया है। फलतः पारिवारिक तनाव और अन्त में आत्महत्या तक लोग पहुँच जाते हैं।

(घ) जाति-प्रथा — भारतीय जाति-प्रथा एक अनोखी संस्था है जो कि हिन्दू समाज को छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित ही नहीं कर देती है, बल्कि उनमें ऊँच-नीच का एक संस्तरण भी कर दिया है। साथ ही, जाति-प्रथा ने विभिन्न जातियों



को कुछ सामाजिक और धार्मिक नियोग्यता या विशेषाधिकार भी प्रदान किये हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त हैं और सबसे अधिक नियोग्यतायें श्रद्धालुओं के लिए हैं। जातीय स्थिति के आधार पर ही कुलीन विवाह (Hypergamy) प्रथा का प्रचलन हमें देखने को मिलता है, जिसके फलस्वरूप बाल-विवाह वरमूल्य प्रथा, बेमेल विवाह, आदि सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है और इन समस्याओं के कारण एकाधिक प्रकार के अपराध समाज में पनपते हैं। जाति-प्रथा के अन्तर्गत जो अन्तरविवाह सम्बन्धी कठोर नियम हैं, उसके कारण भी बाल-विवाह, विधवा-विवाह पर रोक, दहेज प्रथा आदि समस्याओं का उद्भव इस देश में हुआ है। इनसे भी अपराध को प्रोत्साहन मिला है। इन सब के विषय में हम पहले ही विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि “प्रत्येक समाज में सामाजिक कारण और परिस्थितियाँ अधिकतर अपराधों के आधार हैं और उन्हें बाहरी संस्थाओं के द्वारा ही दूर किया जा सकता है।”<sup>83</sup>

### ग्रामीण तथा नागरिक अपराध (Rural and Urban Crime)

मानव-निवास के रूप में दो पर्यावरण गाँव और शहर—प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। ग्रामीण और नागरिक जीवन की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं और इन्हीं विशेषताओं के आधार पर हम इन दोनों प्रकार के जीवन को एक-दूसरे से पृथक् करने अथवा इनके तुलनात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। इन दो पृथक् जीवन की विशेषताओं के आधार पर प्रायः कहा जाता है कि ग्रामीण जीवन प्राचीन और प्राकृतिक है और इसका आधार परम्परा, रूढ़ि और धर्म है, इसके विपरीत नागरिक जीवन नवीन और कृत्रिम है और विज्ञान, व्यक्तिवादी धारणाओं तथा विभिन्नताओं पर आधारित है। एक सरल है दूसरा धूर्त; एक मानवीय है, दूसरा मशीन के समान; एक सादा है, दूसरा जटिल; एक कुछ है और दूसरा सब कुछ। इस समस्त तुलनात्मक विवरण से यह न समझ लेना चाहिए कि गाँव और शहर में रहने वाले लोग अलग-अलग होते हैं। वास्तव में अन्तर इन दोनों समुदायों के जीवन-प्रतिमान (life pattern) में होता है और उसी के आधार पर दोनों समुदायों के जीवन में हमें अलग-अलग विशेषतायें देखने को मिलती हैं। ये पृथक्ताएँ अपराध की प्रकृति तथा दरों में भी होती हैं। यह निम्नलिखित विवेचन से और भी स्पष्ट रूप में पता चल सकेगा :—

#### ग्रामीण तथा नागरिक अपराध की प्रकृति में अन्तर

(Difference between the Nature of Rural and Urban Crime)

यदि हम अपराध की प्रकृति के आधार पर गाँव तथा नगर की तुलना करें

83. “In every country social causes and circumstances account for the bulk of crime, and these can be removed through external agencies.”



तो हमें कुछ आधारभूत अन्तर देखने को मिलेगा। इस सम्बन्ध में अब तक जो अध्ययन हुए हैं, उससे पता चलता है कि गाँवों में नगरों की तुलना में, व्यक्ति के विरुद्ध अपराध (Crimes against persons) अधिक होते हैं, इसका प्रमुख कारण भी स्पष्ट है। ग्रामीण जनता अशिक्षित होती है और उस अशिक्षा के साथ स्फूर्ति भी उनमें अधिक होती है। दोनों का मिलन बहुधा खतरनाक सिद्ध होता है। अशिक्षा के कारण अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखना उनके लिये सम्भव नहीं होता है और छोटी-छोटी बातों को लेकर आपस में झगड़ा गाँववासियों में, यहाँ तक कि वहाँ की औरतों तक में, होता रहता है। बहुधा जोश में आकर इन झगड़ों की प्रतिक्रिया-स्वरूप वे व्यक्ति के विरुद्ध अपराध कर बैठते हैं। दूसरे शब्दों में, कभी-कभी मुंहजबानी झगड़ा बढ़ते-बढ़ते इतना उग्र रूप धारण कर लेता है कि उसमें हाथ को भी काम में लगाया जाता है और लाठी, बल्लम या बन्दूक तक चल जाती हैं। भारतीय गाँवों में इस प्रकार के अपराध खेत के अनाज या सीमा-रेखा को लेकर बहुत ज्यादा होते हैं। गाँवों में पुलिस संगठन उचित ढंग का नहीं होता है, इस कारण भी ऐसे अपराधों को पनपने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाता है। अशिक्षा के कारण इस प्रकार के अपराध के परिणामों के सम्बन्ध में सचेतता भी ग्रामवासियों में अधिक नहीं होती है। 'जोश में आये और लड़ बैठे', यही ग्रामीण अपराध की एक उल्लेखनीय विशेषता है। इसके विपरीत नगरों में लोग अधिक संख्या में शिक्षित होते हैं, अधिकतर समय उनका घर से बाहर कारखाने, मिल, दफ्तर आदि में काम करते हुए बीतता है और अन्य समय में भी उनका सारा समय अपनी-अपनी समस्याओं को सुलझाने में बीत जाता है। इसलिये लड़ाई-झगड़े को अधिक उग्र स्तर तक खींच ले जाने का अवसर उन्हें कम मिलता है। साथ ही, पुलिस का डर भी उन्हें ऐसा करने से रोकता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नगरों में लड़ाई-झगड़े या व्यक्ति पर आक्रमण होते ही नहीं हैं। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि गाँव की अपेक्षा शहरों में इस प्रकार की घटनाओं की सम्भावनाएँ कम होती हैं।

व्यवसायिक आँकड़ों (occupational data) से यह पता चलता है कि किसानों और खेतों में काम करने वाले मजदूरों की अपराध दर बहुत नीची है, यद्यपि नगरों में पेशेवर वर्गों (professional classes) की अपराध-दर और भी अधिक नीची है। फिर भी मकान और खेत में आग लगाना, पशुओं की चोरी, शिशु हत्या और भूमि सम्बन्धी अनेक अपराध गाँव में अधिक होते हैं। इसके विपरीत गर्भपात अपहरण, बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार, चोरी, ठगना, इकरोर भंग आदि अपराध शहर में अधिक होते हैं।

गाँवों में देशी शराब बनाई जाती है, जुआ खेला जाता है, गाँजा, चरस आदि का भी प्रयोग अधिक होता है। ये चीजें जहाँ पर मिलती हैं, वहाँ पर छोटे और अनाड़ी अपराधी लोगों का सम्पर्क 'गुरू' लोगों से अर्थात् अधिक सिद्धहस्त अपराधियों से स्थापित हो जाता है जो कि उन्हें अधिक शराबखोरी, नशेबाजी और यौन अनैतिकता की ओर घसीट कर ले जाते हैं।



भारतीय गाँवों में पर-पुरुष के साथ यौन-सम्बन्ध (Adultery) एक और उल्लेखनीय अपराध है। समाचार पत्रों में प्रायः ऐसे समाचार पढ़ने को मिलते हैं कि अमुक पुरुष ने अपने घर में या अन्यत्र अपनी पत्नी को किसी दूसरे पुरुष के साथ व्यभिचार करते हुए देखकर दोनों की ही हत्या कर डाली, या किसी पर पुरुष के साथ अपनी स्त्री का अनुचित यौन-सम्बन्ध है, इस सन्देह में पत्नी का गला या नाक काट दी। उत्तर प्रदेश के गाँवों में हत्या करने के लिए गंडासे का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है।

भारतीय गाँवों में होने वाले अपराधों में विशेषकर लड़ाई-भगड़ा या दंगा फँसाद करने के विषय में, पुस्तनी भगड़ों का भी विशेष उल्लेख किया जा सकता है। बाप-दादों के समय से चले आ रहे किसी दूसरे परिवार के साथ भगड़े को लोग उसी भाँति बफादारी से चलाते रहते हैं जैसे बाप-दादों के ऋण को ईमानदारी से अदा करने का रिवाज इस देश में, विशेषकर गाँवों में है। खेतों की मेड़ को ही लेकर दो दलों के बीच लाठी चल जाती है—दो चार का सिर फटता है और एक-दो की तकदीर। सभी मामलों का निपटारा लाठी से जल्दी हो सकता है यह धारणा भारतीय गाँवों की एक परम्परागत धारणा है।

भारत के जिन गाँवों में निम्न जाति के लोग जैसे कोरी, चमार आदि अधिक संख्या में रहते हैं, वहाँ नशीले पदार्थों का सेवन भी अधिक होता है। इस कारण ऐसे गाँवों में मार-पीट तथा यौन अपराध अधिक संख्या में देखने को मिलता है।

इसके विपरीत शहरों में यौन-सम्बन्धी नैतिकता कुछ ढीली होती है। इस कारण एक स्त्री के दूसरे पुरुष के साथ या एक लड़की के दूसरे लड़के के साथ अवाञ्छनीय सम्बन्ध को कुछ न कुछ सीमा तक सहन किया जाता है या फिर परिवार के लोग ही घर में सम्बन्धित व्यक्ति को डाँठ-फटकार कर या थोड़ा-बहुत मारपीट कर मामले की इति कर लेते हैं और उसके आधार पर हत्या या और कोई गम्भीर अपराध बहुत कम होता है। इसका सामान्य कारण यह है कि नागरिक पर्यावरण लोगों को विभिन्न आचार-विचार, नैतिकता आदि से परिचित करवाकर उसमें सहनशीलता को पनपा देता है। उसी प्रकार शहर में बाप-दादों के भगड़ों को लाठी से निपटारा करने की बात बहुत कम लोग सोचते हैं। यहाँ तो अगर शत्रुता है तो ऐसे अप्रत्यक्ष रूप में दूसरे पक्ष को हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है कि कानून की पकड़ में न आ सके। सभी मामलों का निपटारा लाठी से उतनी जल्दी नहीं हो सकता जितनी कि अक्ल से काम लेने से हो सकता है, यह दृष्टिकोण नगरवासियों का है।

गाँवों में जो हत्या का अपराध होता है उसका एक कारण महाजनों (Money lenders) द्वारा किये गये अन्धाय और अत्याचार भी हैं। अशिक्षित ग्रामवासियों की अज्ञानता से लाभ उठाकर गाँव के महाजन गलत कागजों पर अंगूठे के निशान लगवा लेते हैं, झूठी रकम लिख देते हैं या अदा की गयी रकम को लिखते ही नहीं। ऐसे ही अनेक रूप में वे किसानों को धोखा देते हैं और उनके खेत तथा अन्य सम्पत्ति को छीन लेते हैं। इस प्रकार का फर्जी काम करने के लिये कानूनी दृष्टिकोण से



महाजन तो अपराधी हैं ही, पर जब उनका अत्याचार बहुत बढ़ जाता है तो अक्सर कहीं-कहीं उनकी हत्या भी कर दी जाती है। इसके विपरीत नगरों में इस प्रकार के अपराध कम होते हैं क्योंकि नगरों में शिक्षा का विस्तार अधिक होने के कारण महाजनों को धोखा देने का अवसर बहुत कम मिलता है।

सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में पर-पुरुष गमन, हत्या, डकैती, गैर कानूनी तौर पर शराब बनाना, अनाज व पशुओं की चोरी, दंगा-फमाद, खेतों के विषय में मार-पीट, मकान और खेत में आग लगाना, शिशु हत्या, धर्म सम्बन्धी अपराध, घातक आक्रमण आदि अपराध अधिक होते हैं। इसके विपरीत, नगरों में राज्य के विरुद्ध अपराध, घातक भंग, छोटे बाट या तौल का प्रयोग, यौन अपराध, गर्भपात, बलात्कार, गवर्न, जाल-साजी ट्रेडमार्क का गलत प्रयोग, इकरार-भंग, विवाह-सम्बन्धी अपराध, मानहानि, पड़यंत्र, नगर पालिकाओं का नियम भंग, जान की धमकी, चोरी से माल ले जाना, ले आना, चोर बाजारी, घूस-खोरी, आत्म-हत्या का प्रयत्न, छोटे सिक्के या जाली नोट चलाने का अपराध, अप्राकृतिक व्यभिचार विस्वासघात आदि अपराध अधिक होते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात और यह स्मरणीय है गाँव में होने वाले अपराधों की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं और उनमें से सबसे प्रथम यह कि गाँव के अपराध उतने संगठित और आयोजित (Organized and planned) नहीं होते हैं जितना कि नगरों में होने वाले अपराध होते हैं। द्वितीयतः गाँव में कुछ निश्चित प्रकार के उपरोक्त अपराध ही अधिक होते हैं पर नगरों में अपराधों की विविधता के सम्बन्ध में कोई निश्चित कल्पना लगायी ही नहीं जा सकती है। ऐसे-ऐसे नये-नये प्रकार के अपराधों के विषय में सुनने को आता है जिन्हें सुनकर हैरान रह जाना पड़ता है। तृतीयतः गाँव में अपराध करने के ढंग क्रान्तिकारी रूप में नये नहीं होते हैं। अपराध के नये ढंगों को तो शहर के अपराधी ही खोज निकालते हैं। यहाँ हर रोज अपराध के रोमांचकारी तरीकों का आविष्कार होता है। चतुर्थतः गाँव में छोटे और अनाड़ी अपराधियों का ही अधिक्य होता है, जब कि नगर 'गुरू' लोगों का निवास स्थान होता है। यही कारण है कि गाँव के अपराधी अधिक पकड़े जाते हैं जब कि शहर के अपराधी साफ निकल जाते हैं और उन्हें पकड़कर दण्ड देना उतना सरल नहीं होता है जितना कि गाँव के अपराधियों को। पेशेवर अपराधी नगर में ही अधिक होते हैं। क्योंकि नगर की भीड़-भाड़ तथा अवैयक्तिक पर्यावरण (impersonal environment) उन्हें अपना काम करने और करके छुट जाने का अधिक अवसर देता है। पेशेवर अपराधी के लिए अज्ञात रहना आवश्यक है। यह काम गाँव में नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ सभी लोग एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जान-पहचानते हैं और अनजानों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। अन्त में, ग्रामीण क्षेत्रों में अपराधी-समूह (criminal gang) के अपराध करने के निश्चित ढंग नहीं पाये जाते हैं। इसके फलस्वरूप नये, अनाड़ी तथा छोटे अपराधी अपराध करने की अधिक अच्छी विधियों को सीख नहीं पाते हैं। इसके विपरीत, नगर में तो ऐसे अनेक अपराधी



समूह ऐसे होते हैं जो कि नये व अनाड़ी अपराधियों को अपने समूह का सदस्य बनाकर उन्हें आधुनिक अपराध-विधियों के सम्बन्ध में प्रशिक्षण देते हैं। कच्चे से पक्के अपराधी बनने में नगर में देर नहीं लगती है।

### ग्रामीण तथा नागरिक अपराध की दरों में भेद

(Difference between the incidence of Rural and Urban Crime)

जितने भी अध्ययन हुए हैं, सभी से यह पता चलता है कि गाँव की अपेक्षा नगरों में अपराधों की दर अधिक ऊँची है। आरम्भ में जो अध्ययन हुए हैं उनमें प्रोफेसर जार्ज वोल्ड (George Vold) का अध्ययन उल्लेखनीय है। उनके अध्ययन से पता चलता है कि हत्या तथा गम्भीर यौन-अपराधों में मिनेसोटा के नगरों और गाँवों में कोई विशेष अन्तर नहीं था परन्तु अन्य अपराधों में नगरों की दर गाँव की तुलना में बहुत ऊँची थी। परन्तु हाल ही में जो अध्ययन हुए हैं उनसे पता चलता है कि के विरुद्ध अपराध ग्रामीण क्षेत्रों में तेजी से बढ़ रहे हैं फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि ग्रामवासियों का नैतिक स्तर नगरवासियों की तुलना में अधिक ऊँचा होता है, इस कारण नैतिकता से सम्बन्धित अपराध जैसे धोखा देना, गबन करना, झकड़ार भंग, पड़ोस, चोरी से माल ले आना या ले जाना (smuggling), काला-बाजारी आदि अपराधों की दरें गाँव में नगरों की तुलना में कम हैं। गाँव की जनता नगरवासियों की तुलना में अधिक निर्धन तथा आर्थिक रूप में देबस होती है, फिर भी गाँवों में अपराध की दरें कम हैं।

गाँव में कम अपराध के कारण (Causes of lesser crime in rural areas) :—यह सच है कि गाँवों में पुलिस संगठन अधिक उत्तम ढंग का नहीं होता है। फिर भी वहाँ अपराध कम होते हैं। इसका एक कारण यह है कि ग्रामवासियों पर जाति, पंचायत या समुदाय का प्रभाव और नियंत्रण बहुत रहता है। इस नियंत्रण का प्रभाव यह होता है कि अपराधी व्यवहार पनप नहीं पाता है। दूसरा कारण यह है कि गाँव में सब लोग एक दूसरे को जानते पहचानते हैं और इस कारण प्रत्येक का प्रत्येक पर एक प्रत्यक्ष दबाव या देख-रेख बना रहता है। इसके फलस्वरूप अपराधी को छुपने का अवसर बहुत कम मिल पाता है। तीसरा कारण यह है कि गाँवों में धनी और निर्धन के बीच अन्तर कम होता है और साथ ही आर्थिक जीवन अत्यधिक अस्थिर व प्रतिस्पर्धापूर्ण (competitive) नहीं होता है। चौथा कारण ग्रामीण समुदाय में धर्म, जाति, रहन-सहन, स्वार्थ-समूह आदि में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं होता है और न ही सामाजिक गतिशीलता (social mobility) अधिक होती है। इस कारण भी संघर्ष की सम्भावना कम ही रहती है और जहाँ संघर्ष कम होगा वहाँ अपराध की दरें भी बहुत कम होंगी। पाँचवा कारण संयुक्त-परिवार प्रणाली है। ग्रामीण समुदाय में संयुक्त-परिवार न केवल व्यक्ति में सहयोग, प्रेम, न्याय, सहनशीलता आदि की भावना को पनपाता है, बल्कि परिवार को टूटने से भी बचाता है। टूटा परिवार (broken home) अपराध का एक प्रमुख कारण है और उसी



कारण का अभाव गाँव में होता है। प्रोफेसर वोल्ड (Vold) के अनुसार परम्परागत ग्रामीण संस्कृति अपराध को रोकने के एक उत्तम साधन के रूप में क्रियाशील रहती है। गाँव में काम करने का मूल्य व मर्यादा, पारिवारिक स्थिरता, भूमि का गरीबी के विरुद्ध एक बीम के रूप में तथा पद के द्योतक के रूप में देखा जाता तथा श्रमहीन जीवन को घृणा की दृष्टि से देखना, धार्मिक भावनाएं आदि परम्परागत ग्रामीण जीवन की ऐसी विशेषताएं हैं जिनके कारण अपराधी व्यवहार जल्दी पनप नहीं पाते हैं।

**नगरों में अपराध की ऊँची दरों के कारण (Causes of high crime rates in urban areas) :**—गाँवों की अपेक्षा नगरों में अपराध की ऊँची दरों (high rates) का प्रमुख कारण वही है जिनके विषय में हम इसी अध्याय में 'नागरीकरण अपराध के एक कारण के रूप में' शीर्षक के अन्तर्गत विवेचना कर चुके हैं। (१) नगरों में गन्दी बस्तियाँ अपराध को जन्म देती हैं। (२) धर्म, प्रथा, परम्परा, तथा सांस्कृतिक संघर्ष नगर में अधिक होते हैं, यहाँ मकान मालिक और किरायेदार में ही नहीं बल्कि मिल मालिक और श्रमिकों के बीच भी संघर्ष चलता रहता है। (३) नगरों में घनी आबादी, भीड़-भाड़, वेश्यालय, जुए के अड्डे आदि न केवल अपराध को प्रोत्साहित करते हैं बल्कि अपराधी को छुपने का भी अवसर प्रदान करते हैं। (४) श्री शाह (Shaw) के अनुसार नगर में अपराध अधिक होने का एक प्रमुख कारण सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में पड़ोस की अवनति है। जब पड़ोस, परिवार आदि प्राथमिक समूहों का नियंत्रण व्यक्ति पर कम हो जाता है तो अपराध का बढ़ना स्वाभाविक परिणाम है।

नगरों में, विशेषकर औद्योगिक केन्द्रों में, सस्ते और स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन का नितान्त अभाव होता है। साथ ही, मकानों की समस्या के कारण बहुत से लोग अपने बीबी बच्चों के साथ नहीं रह पाते हैं। अतः जुआ, शराब, वेश्यावृत्ति आदि ही मनोरंजन के मुख्य साधन बन जाते हैं। इसीलिए मद्य सेवन, नशेबाजी और वेश्यावृत्ति से जन्म लेने वाले अपराध नगरों में अधिक होते हैं।

नगरों में उद्योग-धन्धों का जाल-सा बिछा हुआ होता है और इनसे सम्बन्धित अनेक कानून भी होते हैं। नगरों में इन कानूनों को तोड़ने के अपराध भी बहुत अधिक होते हैं। ऐसे अपराध की दरें नगरों में ऊँची होती हैं।

इस प्रकार नगरों की भीड़-भाड़, मकानों की समस्या, गन्दी बस्तियाँ, व्यापारिक मनोरंजन (commercialized recreation), पारिवारिक नियंत्रण का अभाव, अपराधी-गिरोह का होना, धनी और निर्धन के बीच विशाल खाई, स्त्री-पुरुषों के अनुपात में भेद, उद्योग-धन्धे, सामाजिक गतिशीलता आदि ऐसे कुछ प्रमुख कारण हैं जिनके कारण नगरों में अपराध अधिक होते हैं।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि अपराध की प्रकृति या दरों के आधार पर गाँव और नगर एक दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं हैं और न ही उन्हें एक दूसरे से बिल्कुल अलग किया जा सकता है। ग्रामीण और नागरिक जीवन मानव जीवन के ही दो पहलू हैं और इसीलिये ये दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित तथा



एक दूसरे के द्वारा प्रभावित होने वाले जीवन हैं। आधुनिक युग में यातायात के साधनों में उन्नति और वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर गांव शहर के निकट सम्पर्क में आते जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप गांव में भी आज पड़ोस की भावना का पतन हो रहा है, बाहरी ठाट-बाट की प्रवृत्ति बढ़ रही है, सामाजिक गतिशीलता तथा प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हो रही है तथा धर्म, प्रथा, परम्परा व परिवार का महत्व उत्तरोत्तर घटता जा रहा है। इसीलिए आज अपराध की प्रकृति व दरों के आधार पर नगर और गांव के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। श्री ब्रूस स्मिथ (Bruce Smith) ने इसीलिए लिखा है कि “यातायात के नये साधनों ने नगर की सड़कों के व्यस्त जीवन को गांवों तक पहुँचा दिया है। खेत के मकानों और खड़ी हुई फसल को आग लगाकर नष्ट कर देना अब बहुत सामान्य बात हो गयी है। सड़क के किनारे बने हुए मकान पास से गुजरते हुए मोटर वालों को एक या दूसरे प्रकार का व्यापारिक दुराचार प्रदान करते हैं, और शहर के डकू गांवों में शरण लेते हैं।” आधुनिक गांव और नगर दोनों ही समाज हैं, और अपराध के दृष्टिकोण से कोई भी एक-दूसरे से न अधिक आगे है और न अधिक पीछे।

---



सेठ मुरलीधर अपने दफ्तर के चीफ एकाउण्टेंट (Chief accountant) से धीमे स्वर में कुछ बातचीत कर रहे हैं। बातचीत का विषय है इन्कम टैक्स रिटर्न (Income tax return) कब और कैसे भेजे जाएं ताकि सेठजी की तिजोरी का पैसा तिजोरी में ही बना रहे, फलता-फूलता रहे। एक तरफ उनका बैंक-एकाउंट बढ़ता रहे और दूसरी तरफ सेठ जी की तोंद फूलती रहे। कई लाख का फायदा हुआ है इस साल; पर आय-कर विभाग (Income tax department) के कारण तो सब फायदे नुकसान ही नुकसान नजर आ रहे हैं। अगर इन्कम टैक्स रिटर्न ईमानदारी से भरा गया तो लाभ का एक अच्छा-सा भाग तो सरकार के खजाने में चला जायगा—सेठ जी का खजाना खाली करके, उनके शरीर के मांस को नोच करके और दिल को दुखा करके। सरकार को क्या पता पैसा कमाने के लिये सेठ जी को कितना जोखिम (risk) उठाना पड़ता है। अपने कारखाने में बने माल में कितनी सफाई से मिलावट करनी पड़ती है, औद्योगिक नियमों को तोड़-मोड़ कर श्रमिकों को धोखा देना पड़ता है, दूसरी कम्पनी के ट्रेड मार्क की पताका-तले अपने माल को बाजार में ढकेलना पड़ता है, विभिन्न विभाग के अफसरों को इस सब काम के लिये घूस देनी पड़ती है, उन्हें घर पर 'बेबी' के 'बर्थ डे' का बहाना करके दावतें खिलानी पड़ती हैं, उनके घर पर शादी-विवाह के उपलक्षों में हजारों रुपये के मूल्य के उपहार देने पड़ते हैं, बाली परमिट बनवाना पड़ता है, भूठे विज्ञापन व लॉटरी की सहायता लेनी पड़ती है, कितनी ही तरकीब निकालकर इम्पोर्ट लाइसेन्स (Import licences) प्राप्त करने पड़ते हैं, चोरी-छिपे दूसरे देशों को माल भेजना तथा मंगवाना पड़ता है तथा दो-दस कानून-बिरोधियों को हर पग पर सलाह देने के लिए पालना पड़ता है। तब कहीं व्यापार चलता है, माख बिकता है, रुपया घर आता है, तिजोरी भरती है, नयी कोठियाँ बनती हैं, नई-नई मोटर-कार खरीदी जाती हैं, समाज में यश व प्रतिष्ठा बढ़ती है, कितने ही 'सोशल फन्क्शन्स' (Social functions) में सभापतित्व करने के लिये बुलाया जाता है, माला और मानपत्र दोनों ही मिलते हैं। पर सरकार को वह सब क्या पता, उसने तो 'इन्कम टैक्स रिटर्न' भेजने के लिये 'रिमाइण्डर' (reminder) भेज दिया है। इस 'रिटर्न' को भी 'उचित' स्तर पर लाने के लिये क्या मालूम कितने लोगों से सलाह लेनी पड़ेगी, कितनों को दावत खिलानी पड़ेगी और कितनों के घर उपहार भेजने पड़ेंगे। वह सब बातें किसी को क्या पता, न सरकार को और न ही अदालत को। और अगर पता भी है तो परवाह किसको



है, कम से कम सेठ जी को नहीं है। कोई नये तो हैं नहीं कि धोखा-खा जायें। सेठ जी कानून से बहुत कम डरते हैं। धन और प्रतिष्ठा उनकी कवच है। सेठ जी साधारण नहीं, अभिजात अपराधी हैं—अपने दृष्टिकोण से नहीं और न ही कानून के दृष्टिकोण से, बल्कि नैतिक दृष्टिकोण से, मानवता के दृष्टिकोण से, समाज-कल्याण के दृष्टिकोण से। यह अध्याय सेठजी जैसे जनता का खून चूसने वाले, नैतिकता को अंगूठा दिखलाने वाले, कानून को धोखा देने वाले और मानवता का गला घोटने वाले अनेकों अभिजात अपराधियों की 'कहानी' है जो घूस देते हैं, इन्कम टैक्स का रुपया हजम कर जाते हैं, ट्रेड मार्क का दुरुपयोग करते हैं, माल में मिलावट करते हैं, चोरी से दूसरे देशों को माल भेजते और मंगवाते हैं, डाक्टर के रूप में भ्रूण-हत्या (abortion) में सहायता करते हैं, सरकारी अधिकारी के रूप में उपहार और घूस लेकर असम्भव को सम्भव बनाते हैं और न्यायाधीश के रूप में न्याय का गला घोटते हैं, और यह सब करके भी धन, पद या प्रतिष्ठा के आचार पर न्याय के दण्ड से बचे रहते हैं। यह दुनिया की कहानी है, प्रत्येक आधुनिक, 'सम्य' व जटिल समाज की कहानी है—कहानी है समाज के अभिजात अपराधियों की।

### अभिजात अपराधी की अवधारणा

(Concept of white-collar criminals)

कानूनी दृष्टिकोण से जिन्हें हम अपराधी कहकर जानते हैं, उनमें वे व्यक्ति सम्मिलित हैं जिन्हें कि अदालत ने अपराधी करार कर दिया है और जोकि किसी ने किसी जेल या सुधार संस्थान में सजा भुगत रहे हैं। इन्हें हम अपराधी इसीलिये कहते हैं कि कानून ने इन्हें कानून-विरोधी व्यवहार करने के जुर्म में सजा के योग्य पाया। परन्तु ऐसे लोगों के अतिरिक्त भी प्रत्येक समाज में कानून के तथाकथित पालक तथा प्रतिष्ठित नागरिक भी निवास करते हैं जो कि ऐसे दुराचरणों को करते हैं जिन्हें कानून-अपराध कहकर ही परिभाषित करता है। परन्तु ऐसे लोगों का धन, पद और प्रतिष्ठा उनकी सत् रक्षा करता रहता है और वे कानून के जाल में फँसते नहीं हैं। न तो पुलिस उन्हें पकड़ पाती है और न ही अदालत उन्हें दण्डित कर पाती है। धन, पद और प्रतिष्ठा के आचार पर ऐसे लोग पुलिस और अदालत दोनों को ही धोखा देते रहते हैं। ऐसे ठूप्पे रस्तेमों को ही अभिजात अपराधी कहते हैं जो अपराध तो करते हैं और पकड़े जाने वाले अपराधियों से नहीं अधिक धृष्ट व गम्भीर अपराध भी करते हैं, पर अपने धन, पद या प्रतिष्ठा के कारण न तो पकड़े जाते हैं और न ही दण्डित होते हैं।

सन् १९३६ में डा० सदरलैण्ड (Dr. Sutherland) ने यह मत व्यक्त किया कि अपराधी मोटे तौर पर दो प्रकार के होते हैं—(१) निम्न वर्ग के अपराधी (Lower class criminals) जिनकी आर्थिक व सामाजिक दशा मुख्यतः खराब होती है और जो कि कानून विरोधी कार्य करने पर पकड़े जाते और सजा पाते हैं। (२) दूसरी श्रेणी में 'अभिजात अपराधी' आते हैं जो कि कानून का इतना अधिक तथा इस प्रकार से उल्लंघन करते हैं कि उन्हें वास्तव में गम्भीर अपराधी ही कहना



चाहिए। ये अभिजात अपराधी कानून को तोड़ते हैं और अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सरकार के उद्देश्यों तक को विकृत कर देते हैं, फिर भी इन्हें न तो कोई पकड़ता है और न ही इनको सजा भुगतनी पड़ती है। वास्तव में ये लोग समाज में उच्च प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं और इनका नियन्त्रण सरकारी कर्मचारियों पर ही नहीं, बल्कि सरकार की नीति-निर्माण पर भी होता है। सामान्यतः ये लोग बहुत ही धूर्त, बुद्धिमान तथा अपने स्वार्थों की सिद्धिकरने में पटु होते हैं। इन्हीं गुणों के बल पर वे सामाजिक आर्थिक संस्तरण में उच्च आसन पर अधिष्ठित होते हैं तथा ऐश-आराम और ठाट-बाट का जीवन व्यतीत करते हुए अपराध भी करते रहते हैं। इसीलिए श्री सदरलैंड ने इन्हें 'अभिजात अपराधी' (White collar criminals) कहा है।<sup>1</sup>

### अभिजात अपराध की परिभाषा

(Definition of White Collar Crime)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अभिजात अपराध की अवधारणा को प्रस्तुत करने का श्रेय डा० सदरलैंड को है। इसीलिए हम उनके द्वारा दी गयी परिभाषा का ही उल्लेख सबसे पहले करेंगे। उनके अनुसार, "अभिजात अपराध एक ऐसा अपराध है जिसे कि एक सुप्रतिष्ठित और उच्च सामाजिक पद वाला एक व्यक्ति अपने पेशे के दौरान में करता है।"<sup>2</sup>

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अभिजात अपराधों के कर्ता एक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं और वह इस रूप में कि सामाजिक, आर्थिक या राज-नैतिक क्षेत्र में उनका पद पर्याप्त ऊँचा होता है और वह पद व प्रतिष्ठा ही उनकी कवच होती है जिसकी आड़ में रहते हुये वे गम्भीर व घृण्य अपराध करने में भी हिचकिचाते नहीं हैं और उसी कवच के कारण ही शायद ही कभी पकड़े या जेल में भेजे जाते हैं और इसीलिए अपराधी कहे जाने से बच जाते हैं।

श्री सदरलैंड की परिभाषा से यह बात भी स्पष्ट है कि अभिजात अपराधी सामान्यतः सम्बन्धित व्यक्ति की व्यवसायिक कार्य प्रणाली (Occupational procedures) का ही एक अंग होता है। अर्थात् एक व्यक्ति जिस व्यवसाय या पेशे में लगा हुआ है उसी के दौरान में अपराध भी करता है। वह व्यवसाय उसके अपराध को छुपा लेने में मदद करता है। उदाहरणार्थ एक डाक्टर को ही लीजिए, उसका पेशा मरीज का इलाज करना तथा उसे नीरोग बनाकर उसे जीवन दान करना है। डाक्टर के इस सामाजिक महत्व के कारण ही समाज में उसकी प्रतिष्ठा व सम्मान होता है। हो सकता है इस प्रतिष्ठा, विश्वास या सम्मान का वह डाक्टर गलत फायदा उठाये और लोगों को भ्रूण हत्या (Abortion) करने में

1. E. H. Sutherland, "White Collar Criminality," *American Sociological Review*, Feb. 1940, Vol. 5, pp. 1-12.

2. "White-collar crime may be defined approximately as a crime committed by a person of respectability and high social status in the course of his occupation." E. H. Sutherland, *White-Collar Crime*, The Dryden Press, New York, 1949, p. 19.



सहायता करे। यह काम उसकी व्यवसायिक कार्य-प्रणाली का ही अंग है और वह इस अर्थ में कि (अ) अगर वह डाक्टर न होता तो उसके लिए भ्रूण हत्या करने के लिए सहायता करना बहुत आसान न होता क्योंकि उस अवस्था में उसे भ्रूण हत्या के सरलतम तरीकों का पता न होता और साथ ही (ब) डाक्टर होने के नाते लोग उस पर इस अपराधी व्यवहार के लिए सन्देह भी नहीं करते हैं क्योंकि उसका व्यवसायिक धर्म व कर्म तो जीवन देना है, जीवन लेना नहीं। इसके अतिरिक्त (स) भ्रूण हत्या का काम वह डाक्टरी करने अर्थात् दूसरों का इलाज करने के दौरान में ही करता है। उसका काम केवल भ्रूण हत्या करना नहीं है। इस प्रकार डाक्टर होना अर्थात् उसका व्यवसाय या पेशा उसका कवच है जिसकी आड़ में वह अपराध करता है और अपने को कानून के पंजों से बचाता रहता है। यह ही अभिजात अपराध है।

डा० सदरलैन्ड के अनुसार, यद्यपि अभिजात अपराध उच्च वर्गों के ही सदस्यों द्वारा किये जाते हैं, फिर भी उसमें उनके ऐसे अपराध सम्मिलित नहीं हैं जैसे कि हत्या, व्यभिचार और नशे के अधिकतर अपराध, क्योंकि ये सब अपराध सामान्यतः उनकी व्यावसायिक कार्य-प्रणाली का एक अंग नहीं हैं। उसी प्रकार विश्वासपात्रों के रूप में दूसरों को जुआ या ब्लैकमेल के द्वारा ठगने वाले धनी अपराधी भी इसमें सम्मिलित नहीं हैं क्योंकि वे प्रतिष्ठित और उच्च सामाजिक पद वाले व्यक्ति नहीं हैं।<sup>3</sup> इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक अपराध अभिजात अपराध तभी कहलायेगा जब (१) वह अपराध उस अपराध को करने वाले व्यक्ति के व्यावसायिक कार्य प्रणाली का एक अंग हो तथा (२) अपराधी प्रतिष्ठित और उच्च सामाजिक पद वाले व्यक्ति हों। अभिजात अपराध कहलाने के लिए इन दोनों शर्तों का पूरा होना आवश्यक है।

प्रो० टैफ्ट (Taft) ने भी लिखा है कि अभिजात अपराध वह अपराध है जो कि उच्च वर्गों के द्वारा किये जाते हैं। फिर भी अभिजात अपराध भी अपराध ही है। इसकी भी व्याख्या अन्य प्रकार के अपराधों से सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है; अपराध के किसी पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है; अभिजात-अपराध विशेषतया सामान्य संस्कृति से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होता है; और वह केवल अभिजात अपराध का स्वरूप (form) ही है जिसकी पृथक् व्याख्या आवश्यक है।<sup>4</sup> अभिजात अपराध कानून द्वारा दण्डनीय अपराध है

3. "It excludes many crimes of the upper class, such as most of their cases of murder, adultery and intoxication, since these are not customarily a part of their occupational procedures. Also, it excludes the confidence games of wealthy members of the under world, since they are not persons of respectability and high social status." E. H. Sutherland, *Ibid*, p. 20.

4. White-collar crime is "a type of crime committed by the upper classes..... But white-collar crime is a crime..... that (it) can be explained in terms of the major principles of our analysis; that no separate theory of crime is required; that white-collar crime is peculiarly closely related to the general



फिर भी इस प्रकार के अपराधियों को कोर्ट अन्य अपराधियों की तुलना में बहुत कम दण्ड दे पाती है और इसी आधार पर हम अभिजात अपराध और 'गैर-अभिजात अपराध,' ('no-collar crime') के बीच अन्तर कर सकते हैं। 'गैर-अभिजात अपराध,' निम्न वर्गों के द्वारा किये जाने वाले अपराध हैं जबकि अभिजात अपराधों को करने वाले मध्यम या उच्च वर्गों के सदस्य होते हैं। फिर भी श्री टैपट के अनुसार केवल वर्ग स्थिति (class position) के आधार पर किसी अपराध को अभिजात अपराध की संज्ञा नहीं दी जा सकती है क्योंकि उच्च वर्ग के एक व्यापारी द्वारा की गई हत्या को कानून अपराध समझता है और उसे दण्डित करता है। उसी प्रकार केवल व्यापार या पेशे की प्रकृति के आधार पर भी अभिजात-अपराध को पहचाना नहीं जा सकता है जैसे कि निम्न वर्ग के सदस्य के द्वारा विश्वास उत्पन्न करके दूसरों को ठग लेने की क्रिया अभिजात-अपराध नहीं है।<sup>5</sup> उसी प्रकार अभिजात-अपराध होने के लिए यह भी जरूरी नहीं है कि समाज के कितने लोग ऐसे व्यवहारों की निन्दा करते हैं। अभिजात अपराधी को कानून द्वारा उतने बुरे ढंग से दण्डित नहीं किया जाता है जितना कि 'साधारण अपराधी' को। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अभिजात-अपराध गम्भीर प्रकार के होते नहीं हैं। वास्तव में अन्य प्रकार के अपराधों की तुलना में अभिजात-अपराध से समाज या जनता को अधिक 'हानि' (harm) पहुँचता है। इस प्रकार न तो वर्ग स्थिति (Class status) और न ही व्यापार से सम्बन्धित कार्य या मनोवृत्ति या अपराध की गम्भीरता की मात्रा के आधार पर अभिजात-अपराध को अन्य अपराधों से पूर्णतया पृथक् किया जा सकता है।<sup>6</sup> साथ ही अभिजात-अपराध कानूनी तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से अपराध है।<sup>7</sup> फिर भी अभिजात-अपराध अधिक आकर्षक होता है क्योंकि इसके द्वारा बहुत कम या बिल्कुल ही पद-हानि (loss of status) के बिना ही अधिक भौतिक लाभ होता है। अभिजात अपराधी को उसके प्रति अदालत के अनुकूल मनोभाव के द्वारा भी संरक्षण (protection) मिल जाता है, जिससे कि गैर अभिजात अपराधी (no collar criminal) वंचित रहते हैं।

---

culture; and that it is only the form of white-collar crime which calls for separate explanation." D. R. Taft, *Criminology*, The Macmillan Co., New York, 1939, pp. 250—251.

5. 'No-collar crime' is the crime of the under-privileged; white-collar crime is upper or middle-class crime. Yet by itself class position does not mark out the white collar criminal, for murder by a business man is rated and punished as crime. Nor does the business nature of the act fully define white-collar crime, for confidence games by low-class men are not so considered." D. R. Taft, *Ibid*, p. 251.

6. "Thus nei her in terms of class status, business activity, attitudes, nor degree of seriousness can white-collar crime be wholly separated from other crimes." *Ibid*, p. 252.

7. *Ibid*, p. 253.



## अभिजात-अपराधियों की विशेषतायें

### (Characteristics of White Collar Criminals)

श्री सदरलैण्ड (Sutherland) ने अभिजात-अपराधियों की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकतर विशेषताओं का स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके हैं फिर भी एक क्रम से वे इस प्रकार हैं :—

(१) अभिजात-अपराधी उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग का सदस्य होता है जो कि व्यवसाय के दौरान में अपराधी-कानून (criminal law) को भंग करता है। (अ) उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग का सदस्य तथा (ब) व्यवसाय के दौरान में कानून को तोड़ना—ये दोनों ही अभिजात-अपराधी की आवश्यक विशेषतायें हैं, यद्यपि इन आधारों पर अभिजात तथा गैर-अभिजात अपराधियों को एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता है।

(२) उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग के सदस्य होने के कारण कानून भंग करने पर भी अभिजात अपराधी की पद और प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आने जाती है और समुदाय में उसकी इज्जत बनी रहती है। अपराध करते हुए भी वे सिर ऊँचा करके ही समाज में निवास करते हैं।

(३) अपनी उच्च स्थिति पर होने के कारण ही ऐसे अपराधी इस बात का निर्णय लेने में अपना दबाव डालते हैं कि किस प्रकार के कानून पास किये जायें जिनसे उन्हें लाभ हो। इसलिए अभिजात-अपराधी उन कानूनों के पास होने का विरोध करता है जिनसे उनके समाज-विरोधी कार्यों को अपराध की श्रेणी में लाया जा सके।

(४) अभिजात अपराधी ऐसा दिखलाते हैं कि उन्हें समाज-सेवा या जन-कल्याण से विशेष रुचि है। इसीलिए वे एकाधिक सार्वजनिक संस्थाओं के साथ अपना सम्पर्क रखते हैं; उन्हें काफी धन चन्दा, सहायता आदि के रूप में देते रहते हैं जिससे कि उनका मुँह बन्द रहे और अभिजात अपराधी के विरुद्ध कोई प्रतिकूल मनोभाव विकसित न हो सके।

(५) अभिजात अपराधी अपने धन पद और प्रतिष्ठा के द्वारा अदालत तथा न्यायाधीश तक को अपने कब्जे में रखने का प्रयत्न करते हैं और नाना प्रकार से उन्हें प्रभावित करते रहते हैं; जजों के साथ मेल-मिलाप रखते हैं, उन्हें डलिया भेजते हैं, उनकी हर 'समस्याओं' को हल करने में सबसे आगे रहते हैं। इसके फलस्वरूप अदालत या जजों का कोई प्रतिकूल मनोभाव ऐसे लोगों के प्रति नहीं पनप पाता है, यही कारण है कि अदालत में गैर-अभिजात अपराधी के साथ जैसा व्यवहार होता है उससे कहीं अधिक अनुकूल व्यवहार अभिजात अपराधियों को प्राप्त होता है। इस पक्षपात के कारण श्री सदरलैण्ड के अनुसार, तीन हैं— (अ) अभिजात-अपराधी, जज, संसद के सदस्य आदि एक ही सामाजिक वर्ग के सदस्य होते हैं; (ब) अभिजात-अपराधियों को दण्डित न करने के लिए अनेक प्रकार के दबाव जजों आदि पर पड़ते रहते हैं, और (स) अभिजात-अपराधियों



द्वारा किये गये शोषण के विरुद्ध संगठित कदम या आवाज का अभाव होता है। इस प्रकार के अपराधियों का विरोध दुर्बल प्रकार का इस कारण भी होता है कि ये लोग जिस तरीके से हमें हानि पहुँचाते हैं वह अत्यधिक कुटिल होती है और उनके द्वारा पहुँचायी गयी हानि समाज के अनेक व्यक्तियों में बँट जाती है। इसके अतिरिक्त, अभिजात-अपराधियों का समाचार-पत्रों पर भी नियंत्रण होता है। इसलिए उन्हें यह डर नहीं रहता कि उनके कारनामों का प्रचार भी होगा।

(६) जब कभी अभिजात-अपराधी को अदालत में जवाबदेही के लिए लाना आवश्यक हो जाता है तो उसे दीवानी अदालत (civil court) में, न कि फौजदारी अदालत (criminal court) में लाया जाता है जिससे कि वह अभिजात-अपराधी अधिक से अधिक हर्जाना देकर ही छूट जाये। इससे दूसरे पक्ष की क्षतिपूर्ति तो हो जाती है, पर अभिजात अपराधी को अपने गैर-कानूनी कामों में प्रोत्साहन मिलता है।

(७) अभिजात-अपराधों की प्रकृति मुख्यतः आर्थिक होती है, क्योंकि वे उच्च वर्ग के सदस्यों की व्यवसायिक कार्य-प्रणाली का ही एक अंग होते हैं।

(८) श्री हार्टुंग (Hartung) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि सामाजिक विघटन या सामाजिक विभेदीकरण (social differentiation) की स्थिति के कारण अभिजात-अपराध घटित नहीं होते हैं। आपके अनुसार एक विघटित समाज नहीं अपितु सामान्य आधारभूत मूल्यों वाला समाज तथा विविध मूल्यों वाले उप-समूह (sub-groups) अभिजात-अपराध को जन्म देते हैं।\*

#### अभिजात-अपराध के सामान्य स्वरूप

#### (General forms of White Collar Crimes)

श्री सदरलैण्ड के अनुसार अभिजात अपराध के सबसे सामान्य और व्यापक स्वरूपों में 'कॉरपोरेशन्स के आर्थिक-विवरणों (financial statements) में धोखेबाजी, स्टॉक एक्सचेंज में बेईमानी, व्यापार सम्बन्धी रिश्वत, अनुकूल ठेके और विधान प्राप्त करने के लिए सरकारी अफसरों को घूस, विज्ञापन तथा विक्री में धोखेबाजी, पूँजी का गबन और गलत स्तेमाल, तौलने और नापने में गड़बड़ी और वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करने में बेईमानी, कर (Tax) से सम्बन्धित जालसाजी, दिवा-लिया होने की घटनाओं में पूँजी का गलत प्रयोग" सम्मिलित हैं।

श्री सदरलैण्ड ने अमेरिका के ८५ कार्यों के कार्पोरेशन का अध्ययन किया और उनके द्वारा कानून के उल्लंघन की घटनाओं को ६ मोटे वर्गों के अन्तर्गत रखा है—(१) व्यापार में रूकावट उत्पन्न करता; (२) विज्ञापन में धोखेबाजी; (३) पेटेंट ट्रेडमार्क और कॉपी-राइट का उल्लंघन; (४) अनुचित श्रम-सम्बन्धी कार्य-वाहियाँ; (५) आर्थिक गबन तथा विश्वासघात; और (६) युद्ध सम्बन्धी नियमों का

8. 'Hartung concludes that social disorganization does not explain the prevalence of these white-collar crimes as well as does social differentiation. To Hartung, not a disorganized society, but a society with common basic values and with subgroups and their differing values integrated in terms of these basic values, generates white-collar crime.' *Ibid.*, p. 254.



उल्लंघन और अन्य अपराध ।<sup>१</sup>

**अभिजात अपराध के कारण**

(Underlying factors in White Collar Crime)

अभिजात अपराधों को प्रोत्साहित करने में एकाधिक कारकों का योगदान होता है जिनमें से निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण हैं:—

(१) लोगों की लापरवाही और अज्ञानता अभिजात-अपराध का सबसे महत्वपूर्ण कारण है। उदाहरणार्थ, अनेक व्यक्ति खरीदारी या उधार लेने वाले रुपये से सम्बन्धित एकरारनामों (contracts) को पढ़े बिना ही दस्तखत कर देते हैं। एजेन्ट, जिनका उद्देश्य स्वयं अत्यधिक लाभ उठाना होता है, एकरारनामों की केवल सामान्य शर्तें समझा देते हैं और जो महत्वपूर्ण बातें हैं उन्हें या तो पढ़ते ही नहीं हैं या उन्हें टाल जाते हैं जो बाद में ग्राहक के लिये हानिकारक सिद्ध होती हैं।

(२) लोगों का कानून से अनभिज्ञ होना भी अभिजात अपराध का एक कारण है। लोगों की अनभिज्ञता से फायदा उठाकर अनैतिक व्यापारी उन्हें खूब ठगते हैं। उदाहरणार्थ, यदि लोगों को यह पता नहीं है कि एक महाजन अधिकतम सूद कितना लेने का हकदार है, तो महाजन उनकी उस अज्ञानता से फायदा उठाकर खूब ऊँचे दर का सूद उनसे मांगता है। उसी प्रकार यदि श्रमिक को यह पता नहीं है कि काम करने के दौरान में उन्हें यदि चोट आदि लग जाती है या कोई अंगहानि होती है तो उसके लिये उन्हें मालिक से मुआवजे मिलेंगे या नहीं, तो इस अज्ञानता से मालिक फायदा उठाता है, और मुआवजा नहीं देता है, या देता है तो बहुत कम और कम देकर पूरे की रसीद लिखवा लेता है।

(३) व्यापारिक-विज्ञापन ने भी अभिजात अपराध को बढ़ावा दिया है। जोग इस प्रकार के व्यापारिक-विज्ञापनों तथा उनमें दिये गये कम्पनियों के विवरण (prospectus) पढ़कर बहुत प्रभावित हो जाते हैं और वे विवरण कहाँ तक सच है इस बात का पता लगाये बिना ही उन कम्पनियों का शेयर खरीदते हैं या उनमें धन लगा देते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि ये व्यापारिक विज्ञापन झूठ को कितना सच कहकर लोगों को धोखा देते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि एजेन्ट स्वयं ही एक तकली व्यक्ति होता है और अपने को किसी बहुत अच्छी प्रतिष्ठित फर्म का एजेन्ट बतला कर और अपने मीठे व्यवहार व बातों से छोटे व्यापारियों को मोहकर उनसे हजारों रुपयों का आर्डर और अग्रिम (advance) रुपया लेकर लापता हो जाता है। उसी प्रकार कभी-कभी लोग ऐसी फर्म में अपना धन लगाते हैं जिनका अस्तित्व केवल व्यापारिक विज्ञापन के अलावा और कहीं भी नहीं होता है अर्थात् व्यापारिक विज्ञापनों की आकर्षक शर्तों को पढ़ कर लोग बोगस कम्पनी (Bogus Company) में भी धन लगा देते हैं। इस प्रकार की लापरवाही अभिजात-अपराध को प्रोत्साहन देती है।

(४) ठगे जाने पर भी लोग अदालत के भ्रष्टों से बचने के लिये ठगने वालों के विरुद्ध अदालती कार्यवाही नहीं करते हैं, विशेषकर यदि उनकी हानि सामान्य है।



एक व्यक्ति अदालत के झंझटों से बचने के लिये ऐसा करता है, पर लोगों के इस मनोभाव से अभिजात, अपराधी पूरा फायदा उठाता है और एक के बाद दूसरे को ठगता रहता है क्योंकि वह जानता है कि जिनको वह ठग रहा है उनमें से अधिक लोग झंझट से बचने के लिये अदालती कार्यवाही नहीं करेंगे।

(५) औद्योगीकरण के साथ-साथ बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थान जैसे कार्पोरेशन आदि का विस्तार उत्तरोत्तर होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप व्यापार व वाणिज्य की प्रकृति अत्यधिक जटिल हो गयी है। इन औद्योगिक संस्थानों के जो नियम आदि होते हैं वे भी बहुत गूढ़ और पेंचीदे होते हैं जिनको विशेषज्ञों (experts) के अलावा बहुत कम लोग समझ पाते हैं। अतः आम जनता को धोखा देना अभिजात अपराधियों के लिये बहुत सरल होता है। ठगे जाने का पता लगने पर भी ग्राहक के लिए उसे प्रमाणित करना अत्यधिक कठिन होता है।

(६) कानून में आवश्यक परिवर्तन न होना भी अभिजात अपराध का एक सामान्य कारण है। औद्योगिक परिस्थितियों तथा संगठनों में जितनी तेजी से आज परिवर्तन हो रहे हैं, उतनी तेजी से कानून बदला नहीं जा रहा है और न ही जा सकता है। जो पुराने कानून हैं उनमें ऐसी अनेक बेईमानियों की कोई स्पष्ट परिभाषा उपलब्ध नहीं है। कानून की इस कमी का पूरा फायदा स्वार्थ-समूह (interest groups) उठाते हैं और देश में अभिजात-अपराध बढ़ता है।

(७) व्यापार सम्बन्धी नैतिकता (ethics) भी अभिजात-अपराध का एक कारण है। भौतिकवादी तथा व्यक्तिवादी समाजों में एक विचार व नैतिकता आज जड़ पकड़ता जा रहा है कि व्यापार में सफलता ईमानदारी और खरे व्यवहार (fair dealings) के आधार पर नहीं मिल सकती। यह सब बातें व्यक्तियों के आपसी व्यवहार में काम में लायी जा सकती हैं, न कि व्यापार में। घर और स्कूल में ईमानदारी आदि के सम्बन्ध में जो शिक्षा दी जाती है उसमें भी व्यापार, वाणिज्य आदि का कोई विशेष उल्लेख नहीं रहता है। इससे व्यापार आदि में ईमानदार होने की कोई खास जरूरत अनुभव नहीं की जाती है और न ही इन क्षेत्रों में बेईमानी करने वाले को किसी प्रकार का पश्चात्ताप आदि होता है, बेईमानी व्यापार का एक स्वाभाविक अंग बन गया है।

(८) अभिजात वर्गों के प्रति जनता का मनोभाव भी अभिजात-अपराध को प्रोत्साहित करता है। भौतिकवादी दुनिया में प्रत्येक चीज का मूल्य धन के आधार पर होता है। यहाँ तक कि धनवान चरित्रहीन नहीं होते हैं ऐसा भी विचार बहुत से लोग व्यक्त करते हैं। ये अभिजात वर्ग भी चन्दा देकर या अन्य प्रकार की आर्थिक सहायता करके अपने को जन-सेवक तथा जन-कल्याण संस्थाओं के साथ संयुक्त रखकर अपनी चारित्रिक उदारता का प्रचार करते रहते हैं। ऐसे लोग कुछ पिटुओं को भी पालते हैं जो कि अपने मालिक के सद्गुणों तथा चारित्रिक दृढ़ताओं का खूब ढिंढोरा पीटते रहते हैं। इससे जनता के मन में इन अभिजात वर्गों के सदस्यों के प्रति एक विश्वास और आदर की भावना पनप जाती है या कम से कम वे लोग इनके विरुद्ध



कभी अपना मुंह नहीं खोलते हैं जो कि इनके दान व अनुग्रह से अनुग्रहीत रहते हैं। इस सम्पूर्ण परिस्थिति का फायदा अभिजात-अपराधी लेता है।

(६) जजों, राज्य व केन्द्रीय विधायकों (legislators), मंत्रियों (ministers) का सहयोग या समर्थन भी अभिजात अपराध को प्रोत्साहित करते हैं। वास्तव में जज, विधायक, मंत्री और अभिजात-अपराध एक ही वर्ग के सदस्य होने के नाते एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और एक दूसरे की सहायता भी करते हैं। चूँकि अभिजात-अपराधी यह जानते हैं कि जज, विधायक व मंत्रों का हाथ उनकी पीठ पर है, इसलिए वह निःसंकोच मनमाने ढंग से अपराध करते जाते हैं।

वास्तव में अभिजात-अपराध एक समाज विशेष के सांस्कृतिक प्रतिमान का ही एक प्रतिफल होता है। इस कारण इसको प्रभावित करने वाले कारक भी प्रत्येक समाज में एक जैसे नहीं होते हैं।

### व्यापारी वर्ग—अभिजात-अपराधी के रूप में (Businessmen as White-Collar Criminals)

श्री सदरलैण्ड ने अमेरिका के सबसे बड़े ७० उत्पादन सम्बन्धी, खान सम्बन्धी तथा व्यापार सम्बन्धी कॉर्पोरेशन्स के गैर-कानूनी कार्यों का अध्ययन विनियारपूर्वक किया है, आपने १५ विजली और पावर कॉर्पोरेशनों का भी विशेष अध्ययन किया। इन समस्त ८५ कॉर्पोरेशन्स द्वारा किये गये गैर-कानूनी कार्यों में व्यापार में बाधा, असत्य विज्ञापन, पेटेन्ट, ट्रेडमार्क और कॉपीराइट का उल्लंघन, अनुचित श्रम-सम्बन्धी कार्य, आर्थिक ठगी और विश्वामघात तथा युद्ध-सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन उल्लेखनीय है। श्री सदरलैण्ड ने पाया कि १८० निर्णय (Judgements) विभिन्न अदालतों ने इन कॉर्पोरेशनों के विरुद्ध दिये थे जिनमें वे इन विभिन्न कानूनों के उल्लंघन के लिये दोषी ठहराये गये थे। इन कॉर्पोरेशनों की कार्यकारिणी (executives) के सदस्य स्वयं तो पर्याप्त वनराशि बोनस के रूप में लेते थे और साझेदारों (share holders) को कोई भी लाभ नहीं मिलता था। वार्षिक रिपोर्ट में कॉर्पोरेशन की आर्थिक हालत के सम्बन्ध में झूठी बातें छाप कर जनता को धोखा दिया जाता था। विज्ञापनों में असत्य कथन प्रकाशित किया जाता था। श्रमिकों को उनके उचित अधिकारों से वंचित किया जाता था और अपनी आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये युद्ध सम्बन्धी नियमों को खूब तोड़ा जाता था। युद्ध के समय इन कॉर्पोरेशनों ने अत्यधिक आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखकर व्यापार किया, यद्यपि वे युद्ध में विजय की भी आकांक्षा रखते थे। श्री सदरलैण्ड का कथन है कि इन कॉर्पोरेशन्स के विरुद्ध अदालत द्वारा दिये गये निर्णय, इनके द्वारा किये गये अभिजात-अपराधों का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है क्योंकि अनेक मुकदमों को इन कॉर्पोरेशनों की कार्यकारिणी के सदस्यों ने अपने धन, पद और प्रतिष्ठा के आधार पर आरम्भ में ही दवा दिया और उन पर अदालत ने कोई कार्यवाही नहीं की। बहुत से मामलों को तो अदालत तक पहुँचने का मौका ही नहीं दिया गया। इसी से पता चलता है कि व्यापारी वर्ग जितना अभिजात-अपराध करता है उसका सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है।



श्री सदरलैण्ड का कथन है कि अगर वास्तविक तथ्यों के आधार पर विश्लेषण किया जाय तो हम, यह पायेंगे कि उपरोक्त अभिजात-अपराधियों तथा पेशेवर अपराधियों में अनेक समानतायें हैं। आपके अनुसार ये समानतायें पांच हैं—(१) पेशेवर अपराधी अपराध को एक सामान्य कार्य के रूप में करता रहता है और इसी-लिये ऐसे अपराधी अपराध को बराबर करते रहते हैं। अभिजात अपराधी भी अपराध को अपराध के रूप में न मानकर एक साधारण कार्य के रूप में देखते हुए उसे बराबर करता रहता है। (२) पेशेवर अपराधी की भाँति अभिजात अपराधी भी उससे कहीं अधिक अपराध करता है जो उसके पुलिस या अदालत के रेकार्ड दिखाते हैं। अर्थात् ये दोनों ही प्रकार के अपराधी गैर-कानूनी कार्यों के लिये जितने बार पकड़े जाते हैं या सजा पाते हैं उससे कहीं अधिक संख्या में यह कानून को तोड़ते हैं। (३) पेशेवर अपराधी की भाँति, “वह व्यापारी जो व्यापार को नियमित करने वाले सरकारी कानूनों को तोड़ता है, अपने व्यापार-साथियों के बीच सामाजिक रूप से अपना पद या प्रतिष्ठा नहीं गंवाता है।”.....कानून का उल्लंघन आवश्यक रूप से व्यापार-नियम (business code) का उल्लंघन नहीं है। प्रतिष्ठा व्यापार-नियम के उल्लंघन करने पर नष्ट होती है, न कि कानून के उल्लंघन करने पर।<sup>10</sup> (४) पेशेवर अपराधी की भाँति अभिजात अपराधी के दिल में भी कानून, पुलिस, सरकारी वकील और जजों के विरुद्ध एक घृणा की भावना होती है। फिर भी वे इन लोगों से साँट-गाँठ रखने का प्रयत्न करते हैं जिससे कि वक्त आने पर उन्हें कानून के पंजों से छूटने का अवसर मिले। (५) अन्त में, पेशेवर अपराधी की भाँति अभिजात अपराधी के कार्य भी संगठित होते हैं, चाहे वह औपचारिक रूप में हों या अनौपचारिक रूप में हों। जोश या तैश में आकर तत्काल ही कोई अपराध ये लोग नहीं करते हैं। बहुत सोच-विचार कर योजना बना कर ही अपराध करना इनका ‘सिद्धान्त’ होता है।

इन समानताओं के होते हुए भी पेशेवर अपराधी तथा अभिजात अपराधी में कुछ आधारभूत भिन्नतायें भी हैं जो कि इस प्रकार हैं—(अ) पेशेवर अपराधी अपने को अपराधी समझता है और सामान्य जनता भी उसे ऐसा ही समझती है। इसके विपरीत, अभिजात अपराधी अपने को अपराधी नहीं, बल्कि एक प्रतिष्ठित नागरिक समझता है और सामान्य जनता की निगाहों में भी वह वैसा ही बना रहता है। परन्तु यह अन्तर पद (status) का अन्तर है, न कि कानून के दृष्टिकोण से अपराध की वास्तविकता का अन्तर। कानूनी दृष्टिकोण से तो दोनों ही समान अपराधी हैं। (ब) पेशेवर अपराधी तथा अभिजात अपराधी में एक और आधारभूत अन्तर यह है कि पेशेवर अपराधी के साथ अदालत कोई खास रियायत नहीं करती है और उसे अपने अपराधी-व्यवहार के लिए कानून के निर्देशानुसार ही दण्ड मिलता

10 “The businessman who violates the laws which are designed to regulate business does not customarily lose status among his business.....A violation of the legal code is not necessarily a violation of the business code. Prestige is lost by violation of the business code, but not by violation of the legal code.” E. H. Sutherland, *Ibid.*, p. 121.



है। इसके विपरीत, अभिजात अपराधी के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता है और बहुधा उसे दण्ड दिये बिना ही छोड़ दिया जाता है या अभिजात अपराधी अपने को कानून के पंजों से छुड़ा लेने में सफल होता है। (स) पेशेवर चोर या अपराधी को जनता घृणा की दृष्टि से देखती है और उसे अपराधी मानती है। परन्तु अभिजात अपराधी को सब लोग घृणा की दृष्टि से नहीं देखते हैं क्योंकि उसके पास धन, पद और प्रतिष्ठा होती है जिसके बल पर वह बहुतांश की हमदर्दी प्राप्त कर लेता है।

(द) पेशेवर चोर या अपराधी के विपरीत, अभिजात अपराधी जनता की निगाहों में कानून के पालक बने रहने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिये वे छुपे तौर पर कानून का उल्लंघन करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में वह धन, पद और प्रतिष्ठा के बल पर सफल भी हो जाते हैं; जब कि पेशेवर अपराधी कोशिश करने पर भी ऐसा करने में बहुधा सफल नहीं होता है। पुलिस, समाचार-पत्र आदि पर अभिजात अपराधियों का नियन्त्रण होने के कारण इनके कारनामों का प्रचार भी नहीं हो पाता है और वे अपने अपराध को छुपा लेने में सफल होते हैं। परन्तु पेशेवर अपराध के कारनामों को मोटे-मोटे अक्षरों में छाप कर उनका प्रचार किया जाता है।

### सरकारी अधिकारी अभिजात-अपराधी के रूप में (Public officials as White-Collar Criminals)

सरकारी अधिकारी भी अभिजात-अपराधी हो सकते हैं और होते भी हैं। यह कहा जाता है कि यदि केवल सरकारी अधिकारी ईमानदार बन जायें तो अभिजात अपराध ही नहीं, अपितु साधारण अपराध भी बहुत कम हो जायें। सरकारी अधिकारी घूस लेते हैं, उपहार ग्रहण करते हैं तथा अन्य प्रकार से अपराधी से सेवाएं प्राप्त करते हैं और ऐसा करते हुए अपराधियों को अपराध करने में प्रोत्साहन देते हैं, या अपराध-कार्य को सम्पन्न करने में बाधा नहीं डालते हैं या अपराधी को अपराध करते हुए देखकर भी उन्हें नहीं पकड़ते हैं या पकड़ने के बाद घूस लेकर छोड़ देते हैं। इसीलिये पेशेवर चोर सरकारी अधिकारी को घूस देकर अपना काम करता रहता है, ठेकेदार घूस देकर अनुकूल ठेका प्राप्त कर लेता है और सरकारी अधिकारियों को "खुश रखकर" ही अनैतिक व्यापार, जुए के अड्डे, गैर-कानूनी शराब का व्यापार, वेश्यालय आदि चलाये जाते हैं। ट्रैफिक नियम का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति भी पुलिस मैन के हाथ में दो-चार रुपये रखकर अपने को कानून के पंजों से छुड़ा लेता है। अभिजात अपराधी अपना सम्बन्ध अन्य अभिजात अपराधियों से बनाये रखता है। उदाहरणार्थ एक अनैतिक व्यापार करने वाला अभिजात अपराधी ऐसे पुलिस अधिकारी सरकारी वकील, जज आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखते हैं जो कि घस आदि लेते हैं और लेकर काम कर देते हैं।

### अभिजात-अपराधी के रूप में वकील (Legal practitioners as White Collar Criminals)

बहुत से वकील भी अभिजात-अपराधी हो सकते हैं। "वकील या अटॉर्नी



अपने मुवविकलों की पूँजी का अनुचित प्रयोग (misappropriation) करते हैं, गवाहों से झूठी शहादत दिलवाते हैं, और मोटरगाड़ी दुर्घटना का पता लगाकर उसमें फँसे हुए व्यक्तियों से चालवाजी से मुआवजे वसूल करते हैं, असली अपराधियों से घूस लेकर अपने मुवविकलों की तरफ से ठीक ढंग से अदालत में बहस नहीं करते हैं और जानते हुए भी कि एक व्यक्ति अपराधी है उसको दवाने की कोशिश करते हैं।” बहुत से वकीलों के तो दलाल होते हैं जो कि मुवविकलों को न केवल फाँसकर लाते हैं, बल्कि वकील साहब की ओर से उन मुवविकलों से नाना प्रकार के झूठे कारण दिखलाकर पैसा वसूल करते रहते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे भी कुछ वकील होते हैं जोकि अपने मुवविकलों में यह झूठा प्रचार करते हैं कि जज साहब से उनकी मित्रता है और अगर उन्हें ‘खुश’ कर दिया तो मुकदमे में सफलता अनिवार्य है। इस प्रकार से ‘खुश’ करने के लिये मुवविकलों से धन या अन्य चीजें लेकर वकील खुद जेबे हड़प जाता है।

### डाक्टर और अभिजात अपराध

#### (Doctors and White-Collar Crimes)

कुछ डाक्टर भी अभिजात अपराधी होते हैं। डाक्टर की एक सामाजिक प्रतिष्ठा होती है और रोग-मुक्ति करवाने वाले तथा इस प्रकार नव-जीवन दान देने वाले के रूप में डाक्टर का लोग सम्मान करते हैं और विश्वास भी। इसी सम्मान व विश्वास का दुरुपयोग करने वाले डाक्टरों का भी नितान्त अभाव समाज में नहीं होता है। सम्पत्ति पाने के लालच में एक व्यक्ति अपने किसी रिश्तेदार को मार डालना चाहता है। ऐसी अवस्था में एक डाक्टर उसकी मदद कर सकता है और उस रिश्तेदार को धीमे-धीमे काम करने वाला जहर (slow poisoning) दे सकता है या इंजेक्शन आदि के द्वारा उसे मार सकता है। अवैध भ्रूण-हत्या (abortions) में सहायता करना तो कई डाक्टरों का पेशा होता है। इसके लिये वे सम्बन्धित पक्ष (party) से कई सौ रुपये या डालर फीस के रूप में लेते हैं। झूठे प्रमाण-पत्र (certificates) देकर डाक्टर अपराधी को फाँसी के तख्ते पर जाने से बचा सकता है। शव-परीक्षा (post mortem) की रिपोर्ट में वास्तविकता को छुपाकर अपराधी को निरपराध प्रमाणित करने में भी डाक्टर मदद करते हैं। उसी प्रकार यह प्रमाणित करने के लिए कि घटना घटित होते समय अपराधी घटनास्थल पर था ही नहीं, डाक्टर उस अपराधी के नाम को अपने क्लिनिक के रजिस्ट्रों में फर्जी तौर पर लिख लेते हैं कि घटना होने के दो-चार दिन पहले और उस घटना के दो दस दिन बाद तक वह अपराधी मरीज के रूप में डाक्टर साहब के क्लिनिक में भर्ती था। इससे भी अपराधी छूट जाता है। इसके अतिरिक्त, शराबियों को तथा निद्राकारी द्रव्यों (narcotics) का प्रयोग करने वालों को झूठे तौर पर पर्चा (prescription) लिखकर भी डाक्टर अनैतिक कार्य करते हैं। मरीज को फाँसने के लिए कुछ डाक्टर दलालों को भी रखते हैं और इस प्रकार मरीजों का खूब आर्थिक शोषण करते हैं।



## अभिजात अपराध के दुष्परिणाम (Demoralizing Effect of White Collar Crime)

श्री सदरलैण्ड का मत है कि अभिजात-अपराध से समाज को केवल भीषण आर्थिक हानि ही नहीं वरन् नैतिक हानि भी होती है। जहाँ तक आर्थिक हानि का सम्बन्ध है अभिजात अपराध से समाज को सेंध लगाने, डकैती और चोरी की तुलना में कहीं अधिक आर्थिक हानि होती है। चोर या डकैत तो व्यवितगत रूप से लोगों को हानि पहुँचाते हैं अर्थात् इनसे तो एक समय में एक या कुछ लोगों को हानि ही आर्थिक हानि होती है पर अभिजात अपराधी सामूहिक रूप में एक ही समय में अनेक व्यक्तियों को एक-साथ आर्थिक हानि पहुँचाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी कम्पनी के कार्यकारिणी के सदस्य स्वयं लम्बे चौड़े बोनस लेते रहें और कम्पनी की वार्षिक रिपोर्ट में लाभ के स्थान पर हानि दिखलाते रहें तो उससे कम्पनी के सभी साझेदारों (share holders) को एक साथ नुकसान पहुँचेगा। चोर एक साथ कुछ हजारों की चोरी कर सकता है, पर अभिजात अपराधी तो एक साथ करोड़ों रुपयों का गवन कर बैठता है जिससे आम जनता को ही हानि होती है।

परन्तु अभिजात अपराध से आर्थिक हानि ही वहीं नैतिक हानि भी समाज को होती है और इस प्रकार की हानि का प्रभाव सामाजिक जीवन पर आर्थिक हानि से कहीं अधिक बुरा होता है। श्री सदरलैण्ड ने लिखा है, “अभिजात अपराध विस्वासघात करता है, और इसलिये अविश्वास उत्पन्न करता है। इससे समाज का नैतिक स्तर गिरता है और सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। अनेक अभिजात अपराध सामाजिक संस्थाओं के मौलिक सिद्धान्तों पर आक्रमण करते हैं। दूसरी ओर साधारण अपराध सामाजिक संस्थाओं या सामाजिक संगठन को बहुत कम प्रभावित करते हैं।”<sup>11</sup>

## भारत में अभिजात-अपराध (White-Collar Crime in India)

अभिजात-अपराध की व्यापकता आधुनिक भारतीय समाज में सबसे महत्वपूर्ण विकास है, जोकि काफी सीमा तक औद्योगीकरण का परिणाम है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों, व्यापार व वाणिज्य का जो जटिल रूप विकसित होता जा रहा है उसके फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में विशेषतया अभिजात अपराध बहुत ज्यादा बढ़ गये हैं। कोई भी पेशा या व्यवसाय ऐसा नहीं है। जिसमें आज अभिजात अपराध का प्रमाण न मिल सके और केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक, राजनीतिक व वैधानिक क्षेत्र में भी अभिजात-अपराध की व्यापकता कम नहीं है।

11. “White-collar crimes violate trust and therefore create distrust; this lowers social morale and produces social disorganization. Many of the white-collar crimes attack the fundamental principles of American institutions. Ordinary crimes, on the other hand, produce little effect on social institutions or social organization.” E. H. Sutherland, *Ibid.*



रोज ही समाचार-पत्रों में हमें व्यापारियों द्वारा की जाने वाली मिलावट, काला-बाजारी, सट्टा बाजार में अनैतिकता, बड़ी-बड़ी कम्पनियों में बेईमानी, प्रशासकीय विभागों में अनैतिकता, सार्वजनिक निर्माण विभाग में भ्रष्टाचार, डाक्टर व वकीलों के कारनामों, उद्योगपतियों द्वारा टैक्स बचाव, गैर-कानूनी व्यापार आदि के समाचार देखने को मिलते हैं। सरकार या कानून की आँखों में धूल भोंककर आर्थिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने की एक भीषण प्रतियोगिता भारतीय समाज में आज चल रही है। तीव्र गति से होने वाला नागरीकरण, संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन, व्यक्तिवादी आदर्शों का विस्तार, धर्म का घटता हुआ प्रभाव और जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों ने ऐसे सामाजिक संगठन के विकास में योग दिया है जिसमें भौतिक उन्नति पर बल दिया जाता है और इसीलिए धन का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। 'अधिकाधिक धन चाहिए' यही आधुनिक भारतवासियों का नारा है, चाहे वह धन कानूनी तौर पर कमाया जाय या गैर-कानूनी तौर पर। जब निम्न-स्थिति वाले लोग धन इकट्ठा करने का प्रयत्न करते हैं तो उनमें से अधिकतर लोग पकड़े जाते हैं, कानून के हवाले किये जाते हैं और सजा भुगतते हैं। पर वही काम जब उच्च स्थिति वाले तथाकथित 'अभिजात' वर्ग के सदस्य करते हैं तो वे वर्ग पक्षपात, अपने धन, पद व प्रतिष्ठा तथा अदालतों में इनके प्रति दिखाई जाने वाली रियायत के कारण शायद ही कभी पकड़े जाते या जेल भेजे जाते हैं। स्पेशल पुलिस इस्टैब्लिशमेंट, देहली (Special Police Establishment, Delhi) द्वारा समय-समय पर प्रकाशित रिपोर्ट से पता चलता है कि व्यभिचार और गैर-कानूनी कार्यों के मामलों में फँसे हुए व्यक्तियों में इन्जीनियर डाइरेक्टर आफ सप्लाई एवं डिस्पोज़ल्स, सेना के कमीशण्ड अधिकारी, वन अधिकारी आयात और निर्यात विभाग (Import and Export Department), सार्वजनिक निर्माण विभाग के अधिकारी, आयकर व बिक्रीकर अधिकारी आदि सम्मिलित होते हैं।

भारतवर्ष में उद्योगपति वर्ग के अनेक सदस्य अभिजात-अपराधियों के श्रेणी में आते हैं। उनका काम नाना प्रकार से श्रमिकों का आर्थिक शोषण करना होता है। बाल तथा स्त्री-श्रमिकों तक को वे नहीं छोड़ते हैं। उन्हें भी उचित वेतन नहीं दिया जाता है और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी हितलाभों (benefits) से वंचित किया जाता है। उदाहरणार्थ, स्त्री श्रमिक के गर्भवती होने का समाचार पाते ही उद्योगपति उसे काम से निकाल देता है ताकि मातृत्व हितलाभ न देना पड़े। उसी प्रकार कुमारियों के विवाह होजाने पर उन्हें काम से निकाल देते हैं या इस बात की धमकी देते हैं कि अगर वे हितलाभ मांगेंगी तो उन्हें काम से निकल दिया जायेगा। यही बात दुर्घटना आदि होजाने पर श्रमिकों को क्षतिपूर्ति (Compensation) देने के सम्बन्ध में कही जा सकती है। मालिक क्षतिपूर्ति देने से बचने का भरसक प्रयत्न करते हैं। श्रमिकों को यह कहकर धमकाया जाता है कि अगर वे हर्जाना मांगेंगे तो उन्हें काम से निकाल दिया जायेगा। कभी-कभी बहुत ही कम रकम देकर उनसे हर्जाने की पूरी रकम



पाने की रसीद पर हस्ताक्षर या अंगूठा लगवा लिया जाता है। मौसमी कारखानों में तो दुर्घटनाएँ चुपचाप दबा दी जाती हैं। उसी प्रकार कुछ बड़े-बड़े उद्योगपति अपने मिल या कारखाने में बने सामानों को छुपे तौर पर पाकिस्तान या अन्य देशों को भेजते हैं।

घड़ी, सोना, रेडियो आदि कीमती चीजों का छुपे तौर पर व्यापार करने वाले (smugglers) एक और अभिजात-अपराधी-श्रेणी है। ये लोग निषिद्ध वस्तुओं को बाहर से यहाँ लाते हैं अथवा यहाँ से बाहर ले जाते हैं। इनमें से अधिकतर लोग स्वतन्त्र बन्दरगाहों (free ports) जैसे हाँग-काँग, कराँची आदि से जेवर और अन्य मूल्यवान वस्तुओं को कस्टम अधिकारियों के आँखों में धूल भोंक कर या उनको भी अपने व्यापार का हिस्सेदार बनाकर अथवा घूस देकर इस देश में लाकर बेचते हैं।

इस देश के प्रतिष्ठित व्यापारी वर्ग के अधिकांश सदस्य अभिजात अपराधियों की श्रेणी में ही आते हैं। अवैध प्रतिस्पर्धा असत्य विज्ञापन पेटेन्ट, ट्रेडमार्क और कॉपी राइट के नियमों का उल्लंघन, मिलावट तथा काला बाजारी इस देश के बड़े व्यापारी ही करते हैं। अक्सर हमें समाचार-पत्रों में ऐसे समाचार पढ़ने की मिलते हैं कि इन अपराधों के लिए प्रतिष्ठित व्यापारी पकड़े गये हैं। पर मामला वहीं तक आगे बढ़ता है और बहुत कम व्यापारियों को सजा मिलती है। युद्ध, जैसे आपत्ति काल में भी ये व्यापारी अपनी हस्तगतों से बाज नहीं आते हैं और आवश्यक वस्तुओं की कृत्रिम कमी (artificial shortage) देश में उत्पन्न कर देते हैं ताकि कीमतें बढ़ जायें और उन्हें खूब आर्थिक लाभ हो। जब देश पर विदेशी शत्रुओं का आक्रमण होता है और संकट के बादल छाये होते हैं तब भी ये व्यापारी काला बाजारी करते हैं, नकली दवाइयाँ बेचते हैं, तथा खाने पीने की चीजों में अचिन्तनीय मिलावट करते हैं। अभी हाल में बरेली के एक आटा मिल्स के मालिक को आटे में मिट्टी या खड़िया मिलाकर बेचने के अपराध में पकड़ा गया था। उसी प्रकार देहली में मिठाई के एक अच्छे दुकानदार को मलाई के परतों के बीच सोखते (blotting paper) का प्रयोग करने के जुर्म में पकड़ा गया था। मिलावट के तो ये साधारण उदाहरण हैं। यह अपराध इस देश में अब इतना व्याप्त हो चुका है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार बड़े-बड़े उद्योग पतियों तथा व्यापारियों द्वारा आय कर या बिक्री कर के मामले में सरकार को धोखा देना और लाखों रुपये घोट जाना एक सामान्य घटना है। कुछ बड़े उद्योगपतियों के बारे में यह कहा जाता है कि उन लोगों ने अपने यहाँ अबसर-प्राप्त (retired) आय कर अधिकारी (Income tax officer) को केवल इसलिए नियुक्त कर लिया है कि वे आयकर से बचने के लिए आवश्यक सुझाव देते रहें।

अभिजात-अपराधियों की एक और श्रेणी इस देश के ठेकेदार वर्ग के सदस्य हैं। इस देश में इन्जीनियरिंग, सीमेंट, कागज, खान, बन्दरगाहों के उद्योगों में तथा केन्द्रीय व राजकीय सार्वजनिक निर्माण विभाग (P.W.D.) में अधिकतर काम ठेकेदारों के माध्यम से ही होता है। ये ठेकेदार अपने अनुकूल ठेका लेने के लिए सम्बन्धित



अधिकारियों को खूब घूस देते हैं और फिर उस घूस की रकम का चौगुना ठेके की रकम से वसूल करते हैं। इसीलिये जो कुछ भी काम वह करता है वह ठेके के नियमों के प्रतिकूल ही होता है पर जाँच करने वाले अधिकारी भी घूस लेकर ठेकेदार द्वारा बनायी गयी चीज को पास कर देते हैं। इससे राष्ट्र को कितनी हानि होती है, इसका अन्दाजा लगाना सरल नहीं है। श्रमिकों के हित व कल्याण के दृष्टिकोण से भी इन ठेकेदारों को अपराधी ही कहना उचित होगा। वे कम से कम वेतन देकर श्रमिकों से अधिक से अधिक काम लेते हैं और दुर्घटना आदि हो जाने पर कोई मुआवजा नहीं देते। कभी-कभी तो घातक दुर्घटना के बाद मुआवजा देने के उत्तरदायित्व से बचने के लिए ठेकेदार श्रमिकों की लाश तक गायब करवा देते हैं और साथ ही उनसे सम्बन्धित रजिस्टर आदि भी बदल देते हैं। बहुत से ठेकेदार श्रमिकों को रुपया उधार देकर उन्हें ऋण के काल में फाँस लेते हैं और फिर उनका खूब आर्थिक व नैतिक शोषण करते हैं। नैतिक शोषण स्त्री-श्रमिकों का विशेषकर होता है और उन्हें अपनी इज्जत तक बेच देनी पड़ती है।

सरकारी अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले अवैध कार्यों का भी उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा सकता है उनमें सबसे उल्लेखनीय है घूसखोरी। व्यापारी, अपराधी, आदि घूस देकर असम्भव को सम्भव बनाने की बात सोचते हैं। घूस के ही बल पर इस देश में अवैध व्यापार, चीजों में मिलावट, जुए के अड्डे, शराब का गैर कानूनी निर्माण व बिक्री, वेश्यालय आदि चलते रहते हैं। पुलिस के हाथों में आकर भी अच्छे-प्रच्छे अपराधी घूस के बल पर बेदाग छूट जाते हैं।

इस देश के अनेक वकील भी अभिजात-अपराधी की श्रेणी में आते हैं। यह जानते हुए भी कि एक व्यक्ति वास्तव में अपराधी है, वकील वन के लालच में पड़कर उसे बचाने के लिए कठोर परिश्रम करता है। असली अपराधियों से घूस लेकर अपने मुवक्किलों की तरफ से लापरवाह ढंग से अदालत में बहस करने में भी इस देश के कतिपय वकील हिचकिचाते नहीं हैं। गाँव के भोले-भाले मुवक्किलों को दलाल के द्वारा फाँसकर उनका खूब आर्थिक शोषण करना भी इस देश के कुछ वकीलों के लिए सामान्य विषय बन गया है।

डाक्टर वर्ग के कुछ सदस्य भी भारत में अभिजात-अपराध में लिप्त रहते हैं। ऐसे डाक्टरों में आपस में यह समझौता रहता है कि अगर जरूरत पड़ी तो वे अपने मरीजों को एक-दूसरे को देंगे। इस समझौते के अनुसार एक डाक्टर के पास एक मरीज अपने पर दो-चार दिन तो वह डाक्टर स्वयं उस मरीज का इलाज करता है और फिर यह कहता है कि इस रोग की उचित चिकित्सा के लिए किसी एक और डाक्टर की सलाह की आवश्यकता है। वह अन्य डाक्टर कौन होगा, इस बात का सुभाव भी वह स्वयं ही देता है। इस प्रकार मरीज को दोहरी फीस देने के लिए प्रायः बाध्य किया जाता है। उसी प्रकार बहुत से डाक्टर ऐसे भी होते हैं कि वे पहले तो मरीज को ऐसी दवा देते हैं कि उसे औरन कुछ आराम हो जाये और फिर मरीज के अच्छे हो जाने के सम्बन्ध में इस



प्रकार विश्वास उत्पन्न करके मर्ज को बहुत धीरे-धीरे ठीक होने देते हैं अर्थात् जब तक सम्भव होता है मरीजों का खूब आर्थिक शोषण करते हैं। ऐसे भी डाक्टरों का अभाव इस देश में नहीं है जो कि दो-एक रुपया लेकर बीमारी का झूठा सर्टीफिकेट देते हैं और शव-परीक्षा के बाद असत्य रिपोर्ट देकर वास्तविक अपराधियों को बचने में सहायता करते हैं। बड़े-बड़े शहरों में ऐसे कुछ डाक्टर भी पाये जाते हैं जिन्होंने अच्छा-सा एक नर्सिंग होम (Nursing home) खोल रक्खा है पर उसमें अवैध भ्रूण हत्या का काम ही भारी फीस के बदले में होता है। भारतीय अस्पतालों के डाक्टर तथा अधिकारी दवा, इन्जेक्शन आदि को बेच देते हैं और दवा के बदले में प्रायः पानी ही मरीजों को मिलता है। कुछ डाक्टर तो गाँव के मरीजों को ऐसी दुकानों से दवा खरीदने को प्रेरित करते हैं जहाँ नकली या खराब किस्म की दवा मिलती है क्योंकि दुकानदार डाक्टर को इस 'अनुग्रह' के बदले में नियमित रूप में पैसा देता रहता है।

भारतीय अभिजात-अपराधियों में अनेक प्राइवेट शिक्षा संस्थाओं के प्रबन्धक कमेटी के सदस्यों का भी उल्लेखनीय स्थान है। ये लोग स्कूल, कालेज की स्थापना पैसा कमाने के लिए करते हैं। लाइब्रेरी के लिए पुस्तक खरीदने, स्कूल या कालेज के लिए भवन निर्माण करने तथा शिक्षकों को वेतन देने के मामलों में इन संस्थाओं के प्रबन्धक कमेटी के सदस्य कितनी बेईमानी करते हैं, उसका कोई ठिकाना ही नहीं है। महीनों शिक्षकों को वेतन न देना, कम वेतन देकर उनसे अधिक रकम पर हस्ताक्षर करवा लेना तथा उनसे अनुचित सेवाएं लेना तो उन सदस्यों के लिए एक सामान्य चीज है। किन्हीं-किन्हीं संस्थाओं में तो हजारों रुपयों का गबन तक होता रहता है।

भारतीय अभिजात अपराधियों की यही है एक संक्षिप्त रूप-रेखा।

---



“अदालत के सामने मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं श्री अनन्त चौबे का बेटा वासुदेव हूँ। मेरी उम्र १७ वर्ष है। मैं शहर की एक श्रमिक बस्ती में रहता हूँ। मेरे घर पर मेरे सिवा मेरे पिता, सौतेली माँ तथा अन्य पाँच सौतेले भाई-बहन रहते हैं। मैंने जो कुछ किया है उसके सिवा मेरे सामने और कोई रास्ता नहीं था। मैंने चोरी की है—अपने ही दोस्त वंशी के घर में और चोरी करके जब भाग रहा था तब वंशी के पिता ने मुझे देख लिया था। उन्होंने मेरा पीछा किया। वह मुझे पकड़ लेते। इसीलिये मैंने सामने जो पत्थर का टुकड़ा मिला उसे उठाकर वंशी के पिताजी को फेंक कर मारा। उनका सिर फट गया—वह बेहोश होकर गिर पड़े। मैंने भाग निकलना चाहा, पर तब तक दूसरे लोगों ने मुझे घेर लिया था। मैं पकड़ा गया।... आप पूछते हैं मैंने चोरी क्यों की; चोरी न करता तो क्या करता? चोरी न करता तो भूखा मरता। सौतेली माँ खाने को नहीं देती है। पिताजी मिल में काम करते हैं। दो सौ रुपये के लगभग कमाते हैं, पर कमाई का रुपया घर आने के पहले ही बहुत कुछ खत्म हो जाता है शराब और कर्ज अदा करने में। जो कुछ बचता है वह सौतेली माँ अपने कब्जे में कर लेती है।... आप नहीं जानते हैं मेरी सौतेली माँ को। बहुत सैतान औरत है। उसे माँ कहने को भी जी नहीं चाहता है। माँ तो मेरी अपनी माँ थी। बहुत चाहती थी मुझे। पर जब मैं दस वर्ष का था तभी वह चल बसी। एक साल भी पूरा न हो पाया था कि पिताजी दूसरी शादी करके ले आये। पहले-पहल वह सौतेली माँ मेरा बहुत खयाल रखती थी। पर साल भर के पहले ही उसका अपना एक लड़का हुआ और उसी के बाद से मैं पराया हो गया। उसके बाद हर साल एक बच्चा होता रहा और मेरी दुर्दशा बढ़ती रही। मैं पढ़ने लिखने में काफी तेज था। पर सौतेली माँ पिताजी को ऐसा सिखा पड़ा देती थी कि न तो मेरी किताबें ठीक से खरीदकर दी जाती थीं और न ही पढ़ने लिखने के दूसरे सामान। मैं दूसरों से किताबें लेकर पढ़ता था और पास भी होता था, जबकि मेरे सौतेले छोटे भाइयों को एक कक्षा में कम से कम दो वर्ष लगते थे। इस कारण सौतेली माँ मुझसे और जलने लगी। मुझ पर गृहस्थी का सारा काम लाद दिया जिससे मुझे पढ़ने का समय न मिले और मैं पास न हो सकूँ। कुछ भी कहने पर वह मुझे खूब पीटती थी, भर पेट खाने को भी नहीं देती थी। घर मेरे लिये नरक हो गया। मैंने घर से बाहर रहना शुरू किया। पिता को मिल और नशे से ही फुर्सत



न थी, मेरी परवाह वह कब करते ! सौतेली माँ ने स्कूल की फ्रीस तक देना बन्द कर दिया और कुछ कहने पर कहती थी कि पिता तो शराब में सब रुपया उड़ा देता है, बेटा पढ़ लिख कर क्या लाटसाहब बनेगा ? अच्छा यह है कि पढ़ाई बन्द करके किसी रोजगार में लग जाये। मुझ से साफ़ कह दिया गया कि घर पर रोटी मुझे तभी मिलेगी जब मैं कमाकर लाऊँगा। मैं बे सहारा होकर रास्ते-रास्ते भटकता रहा। कई दिन तक तो मुझे भूख से तड़पना पड़ा। इसी दौरान कुछ दोस्त मुझे मिल गये। उन्हीं के साथ रहकर पहले मैंने सिनेमा का टिकट ब्लैक करना सीखा। उससे हर रोज तीन-चार रुपयों की आमदनी हो जाती थी। पर खर्चा भी उसी अनुसार बढ़ गया था। साथियों के चक्कर में पढ़कर ही चोरी करना भी सीख गया। सिनेमा में और शहर में बहुत से लोगों को ठाट-बाट से रहते देखकर खुद भी वैसे ही रहने की इच्छा होती थी। इस इच्छा की पूर्ति के लिए मैं चोरी करता था, पेट भरने के लिए मुझे चोरी करनी पड़ती थी, चोरी का पैसा सौतेली माँ खुशी से लेती थी। यह नहीं पूछती थी कि इतना पैसा आ कहाँ से रहा है। सौतेली माँ ने मुझे चोर बनाया, पिता की अवहेलना ने मुझे चोर बनाया, यह घर, ये दोस्त, ये सब मेरे दुश्मन हैं। मैं मानता हूँ मैं चोर हूँ।”

यह चोर अपराधी है—बाल अपराधी है। श्री अनन्त चौबे का अच्छा-खासा लड़का बिगड़ गया है। यही बात समाज के अनेक बच्चों के सम्बन्ध में कही जा सकती है जो कि गलत रास्ते में चले जाते हैं, समाज-विरोधी या कानून-विरोधी कार्यों को करते हैं और उनमें से बहुतों को किशोर न्यायालय के सामने आकर खड़ा होना पड़ता है। यह अध्याय ऐसे ही विषयगामी बच्चों के विषय में है।

### बाल अपराध का अर्थ

#### (Meaning of Child Delinquency)

बाल-अपराध के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। यहाँ तक कि कानूनी दृष्टि से भी कोई सर्वमान्य परिभाषा हमें नहीं मिलती। फिर भी विभिन्न राज्यों के कानूनों में दी गई बाल-अपराध की परिभाषा से इतना अवश्य मालूम होता है कि बाल-अपराधियों की एक अधिकतम आयु होती है, इससे कम आयु के बच्चे जब कोई ऐसा कार्य करते हैं जो लोक-कल्याण के लिए हानिकारक है तथा कानून द्वारा निषिद्ध है तो उसे बाल अपराध कहते हैं। ये अधिकतम आयु तथा न्यूनतम आयु और निषिद्ध कार्य विभिन्न देशों में तथा अधिनियमों में भिन्न-भिन्न रूपों में पाये जाते हैं।

डा० सेथना (Sethna) के अनुसार, “बाल-अपराध के अन्तर्गत एक राज्य विशेष में उस समय लागू कानून द्वारा निर्धारित एक निश्चित आयु से कम आयु के बच्चों या युवकों द्वारा किये गये अनुचित कार्यों का समावेश होता है।”<sup>1</sup> श्री न्यूमेयर

1. “Juvenile delinquency involves wrong doing by a child or a young person who is under an age specified by the law (for the time being in force) of the place concerned.”



(Neumeyer) के शब्दों में, "एक बाल-अपराधी निर्धारित आयु से कम आयु का वह व्यक्ति है जो समाज-विरोधी कार्य करने का दोषी है और जिसका दुराचरण कानून का उल्लंघन है।"<sup>2</sup>

### अपराधी और बाल-अपराधी में अन्तर

(Distinction between Criminal and Delinquent)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अपराधी और बाल-अपराधी में सर्व प्रमुख अन्तर आयु का है। इस प्रकार बाल-अपराध के अन्तर्गत ऐसे कार्य आते हैं, जो यदि वयस्कों के द्वारा किये जायें तो अपराध समझे जाते हैं।

दूसरा अन्तर अपराधी-कार्यों के आधार पर भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि बाल-अपराधी केवल वही होगा जो किसी प्रकार के कानून का उल्लंघन करेगा। यह भी हो सकता है कि कानून द्वारा आवारा-गर्द, दुष्ट और उद्दंड बालक और ऐसे बालक या नवयुवक भी जो चोरों, डाकुओं, गुण्डों, आवाराओं, वेद्व्याओं या अन्य बुरे आदमियों का साथ करते हैं, जुए के गड्डों और शराबखानों में आते-जाते हैं, जो बिना माता-पिता की आज्ञा के घर से अनुपस्थित रहते हैं और सड़कों पर रात में घूमते हैं, बाल-अपराधी माने जा सकते हैं। यहीं नहीं, यदि कोई बालक बेधरवार है अथवा जिसकी जीविका का कोई साधन नहीं है तो उसे भी बाल-अपराधी की तरह किशोर-न्यायालय के सम्मुख संरक्षण और सुधार के उद्देश्य से लाया जा सकता है। इसके विपरीत अपराधी केवल उसी को कहा जाता है जिसने किसी कानून का उल्लंघन किया है और उसके लिये अदालत द्वारा उसे दंडित किया गया हो।

श्री अलबर्ट के० कोहेन (Albert K. Cohen) का कथन है कि बाल-अपराध की कुछ विशिष्ट विशेषताएँ होती हैं जिनके आधार पर अपराधी और बाल-अपराधी को एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। बाल-अपराध की प्रथम विशेषता यह होती है कि यह अनुपयोगी (Non-utilitarian) होता है। दूसरे शब्दों में अपराधी-व्यवहार से बालक को कुछ लाभ न भी हो, फिर भी वह उन्हें करता है। प्रत्येक अपराध किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति किसी वस्तु को चुराता है या तो उसे बेचने के लिए, या व्यवहार करने के लिये या अन्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये। परन्तु बाल-अपराधी व्यवहार में प्रायः उद्देश्य के विषय में सचेत नहीं होता। जैसे, मिठाई चुराकर कुछ तो वे खायेंगे और कुछ जमीन पर बिखरा देंगे। बाल-अपराधी की दूसरी विशेषता यह है कि अनेक बालक अपने संगी-साथियों के साथ मिल कर हँसी-मजाक या द्वेष में ऐसे अनेक काम करते रहते हैं जो बाल-अपराध कहे जाते हैं। जैसे, रास्ते पर चलते हुए ढेला फेंक कर किसी मोटर-कार का शीशा तोड़ डालना, या किसी बच्चे को नदी में ढकेल देना आदि। तीसरी विशेषता यह है कि बाल-अपराधी सोच विचार कर या योजना

2. "A delinquent is a person under age who is guilty of antisocial act and whose misconduct is an infraction of the law."  
—Neumeyer



बनाकर संगठित रूप से कानून या सामाजिक नियमों का उल्लंघन प्रायः नहीं करते।

## बाल-अपराध के कारण

### • (Causes of Child Delinquency)

बाल-अपराध के कारणों की खोज करने के लिये जो अध्ययन विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये हैं उनसे पता चलता है कि एक बच्चे के अपराधी-व्यवहार की ओर त्रियाशील करने में एक से अधिक कारणों का योग होता है। इन अनेक कारणों को हम निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) परिवार-सम्बन्धी कारण—(क) टूटे-परिवार, (ख) अनैतिक परिवार, (ग) सौतेली माता या पिता, (घ) पक्षपात, (ङ) त्रुटिपूर्ण अनुशासन, (च) निर्धनता, (छ) अत्यधिक भीड़-भाड़, (ज) माताओं और बच्चों का नौकरी करना।

(२) व्यक्तिगत कारण—(अ) शारीरिक और मानसिक दोष, (ब) संवेगात्मक अस्थिरता।

(३) सामुदायिक कारण—(क) अपराधी क्षेत्र, (ख) बुरी संगत, (ग) दोषपूर्ण शिक्षा व स्कूल, (घ) स्वस्थ मनोरंजन के साधनों का अभाव, (ङ) युद्ध।

### (१) परिवार-सम्बन्धी कारण (The Familial Causes)

बाल-अपराध के कारण के रूप में परिवार का प्रभाव अन्य सभी प्रभावों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि बच्चा सर्वप्रथम परिवार में ही जन्म लेता है और उसके जीवन के प्रथम कुछ वर्ष का प्रत्येक क्षण परिवार के सदस्यों के, विशेषकर माता-पिता और भाई-बहन के व्यवहारों से निरन्तर प्रभावित होता रहता है। परिवार का सामान्य वातावरण, आर्थिक अवस्था, माता-पिता और भाई-बहन के चरित्र और व्यवहार आदि सभी कारकों का योग बालक को बनाने या बिगाड़ने में होता है। इसी कारण कहा गया है कि “अच्छे परिवार में जन्म लेना जीवन के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार को प्राप्त कर लेना है।” परिवार से सम्बन्धित निम्नलिखित कारण बालक को अपराधी-व्यवहार की ओर त्रियाशील कर सकते हैं :—

(क) टूटे परिवार (The Broken Home)—माता-पिता के बीच विवाह-विच्छेद अथवा उनमें से किसी का परिवार को छोड़ कर चला जाना अथवा उनमें से किसी की मृत्यु अथवा कारावास के कारण परिवार टूट सकता है। परिवार के इस प्रकार टूट जाने से एक ओर परिवार का संगठन बिगड़ जाता है और दूसरी ओर बच्चे को माता-पिता के स्नेह या प्यार से वंचित रहना पड़ता है। इससे बच्चे का समाजीकरण (Socialization) उचित ढंग से नहीं हो पाता। साथ ही ऐसे घरों में सदैव ही तनाव (tension) और अशान्ति रहती है, जो बच्चे के मन पर बुरा प्रभाव डालती है। इसी कारण बाल-अपराध के प्रायः सभी विद्यार्थियों ने अपने अध्ययनों में यह स्वीकार किया है कि अधिकतर बाल-अपराधी टूटे-परिवार के सदस्य होते हैं। सर्वश्री हीली तथा ब्रोनर (Healy and Bronner) ने प्रायः ४००० बाल-



अपराधियों का अध्ययन किया था । उनमें से ५० प्रतिशत बाल अपराधी टूटे-परिवार के ही थे ।<sup>3</sup>

(ख) अनैतिक परिवार (The Immoral Home)—कहा जाता है कि बच्चे कुम्हार की मिट्टी की भांति होते हैं । कुम्हार अपनी इच्छा और योग्यतानुसार मिट्टी को जैसा चाहें वैसा रूप दे सकता है । बच्चों का निर्माण भी अपने माँ-बाप या परिवार द्वारा उसी प्रकार होता है जैसे कुम्हार द्वारा मिट्टी के बरतनों या अन्य चीजों का । पर यदि परिवार का स्तर स्वयं ही अनैतिक है तो बच्चों का बिगड़ना स्वाभाविक ही है । माता-पिता तथा अन्य बड़े भाई-बहन बच्चों के आदर्श होते हैं और उनके व्यवहारों या आचरणों को देख कर या सुन कर ही बालक उनकी नकल करता है । संशय में, दुराचारी माता-पिता की सन्तान से सदाचार की आशा नहीं की जा सकती ।

(ग) सौतेली माता या पिता (Step-mother or father)—सौतेली माता या पिता के कारण भी बच्चे प्रायः बिगड़ जाते हैं । सौतेली माँ उसे सुबह से शाम तक डाँटनी-पटकारनी रहती है । इस कारण बच्चा शीघ्र ही घर से ऊब जाता है । पहले जो उसे प्यार मिलता था, वह भी सौतेली माँ के आते ही छिन जाता है । ऐसी परिस्थिति में बच्चे के मन में विद्रोह की आग जलती रहती है और वह सब से घृणा करने लगता है । इसका परिणाम यह होता है कि वह अपराध की ओर सरलता से बढ़ता जाता है ।

(घ) पक्षपात (Favouritism)—पक्षपात का भी बच्चों के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है । यदि घर में कई बच्चे हैं और उनमें से किसी एक को दूसरे से अधिक प्यार किया जाता है तो कम प्यार पाने वाला बच्चा प्रायः बिगड़ जाता है । उसके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है और बदले की भावना जागृत होती है । पक्षपात के कारण बच्चों को अधिक डाँटा और टोका जाता है । अतः बच्चा तंग आकर घर से प्रायः भाग जाता है और उसे सड़कें और गलियाँ अधिक आकर्षक मालूम पड़ने लगती हैं । पक्षपात तथा अन्याय से बच्चे अपने माता-पिता के प्रति आदर का भाव खो बैठते हैं । तभी वह कार्य करने की कोशिश करता है जो उसके माता-पिता को नापसन्द हैं ।

(ङ) त्रुटिपूर्ण अनुशासन (Defective Discipline)—जब परिवार का अनुशासन दोषपूर्ण होता है तब भी बालक अपराधी हो जाते हैं । ऐसे परिवारों में माता या पिता में से किसी एक का दूसरे पर या तो बहुत अधिक शासन होता है या कोई एकदम ही प्रभावहीन होता है । इससे पारिवारिक जीवन सन्तुलित नहीं हो पाता और माता-पिता के बीच सदैव झगड़े होते रहते हैं । इस प्रकार के झगड़ों का बच्चे पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है । घर में प्रायः झगड़ा होने से घर का वातावरण बहुत क्षुब्ध रहता है और उस क्षुब्ध वातावरण में बच्चा रहना पसन्द

3. Healy and Bronner, *Delinquents and Criminals, Their Making and Unmaking*, The Macmillan Co., New York, p. 121—125.



नहीं करता। परिणामस्वरूप वह घर से निकल कर रास्तों पर आवारगर्दी करता फिरता है, बुरी संगत में फँस जाता है और अपराध करना है। ऋद्धिपूर्ण अनुशासन का दूसरा स्वरूप अति-कठोर नियन्त्रण या अति-प्यार है। अति-कठोर नियन्त्रण से बच्चों का स्वाभाविक विकास रुक जाता है। माता-पिता के डर से घर में तो बच्चे सीधे रहते हैं, पर बाहर छिपकर अपराध करना सीख जाते हैं, क्योंकि अत्यधिक कठोर अनुशासन से दबी हुई अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने की चेष्टा वे बराबर करते रहते हैं। जिस प्रकार अति कठोर नियन्त्रण उचित नहीं, उसी प्रकार अति प्यार भी बच्चे को बर्बाद करना है। श्री बालेश्वरनाथ श्रीवास्तव ने उचित ही कहा है कि “इकलौता बच्चा, विधवा का बच्चा, बहुत आशा लगाने के बाद पैदा हुआ बच्चा, सबसे छोटा बच्चा, कई लड़कियों के बीच का लड़का, प्रायः बीमार रहने वाला लड़का, किसी शारीरिक दोष वाला लड़का और कई सन्तानों के मर जाने के बाद का लड़का भी अपने माता-पिता के बहुत अधिक प्यार का भागी बनता है और उसके बिगड़ने की भी अधिक सम्भावना रहती है। सौतेली मातायें भी कभी-कभी बदनामी से बचने के लिए बच्चों को बहुत अधिक प्यार करती हैं जिसके फलस्वरूप बच्चे बिगड़ जाते हैं।” ऋद्धिपूर्ण अनुशासन का तीसरा स्वरूप बच्चों की माता-पिता द्वारा उपेक्षा है। उपेक्षित बच्चों के प्रति घर में कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। अतः वह सोचने लगता है कि जब कोई मेरी परवाह ही नहीं रहता तो मैं ही क्यों अपनी परवाह करूँ? और यही सोच कर वह दुराचार में प्रवृत्त हो जाता है।

(च) निर्धनता (Poverty)—कुछ विद्वानों का मत है कि निर्धनता बाल-अपराध का मुख्य कारण है। यद्यपि यह अतिशयोक्ति है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि निर्धनता बच्चों के स्वस्थ विकास में बाधक सिद्ध होती है। एक निर्धन बच्चा जब अपने से अधिक सम्पन्न परिवारों के बच्चों को नाना प्रकार के आराम तथा विलासिता की वस्तुओं का उपयोग करते देखता है और चाहने पर भी अपनी निर्धनता के कारण उन वस्तुओं को प्राप्त नहीं कर पाता, तो उस निर्धन बच्चे में लालच, द्वेष अथवा जलन की भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं। पहले वह वैध तरीकों से उन वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और जब वह इन प्रयत्नों में असफल हो जाता है तो अवैध तरीकों जैसे चोरी आदि को अपनाता है। अधिक निर्धनता की स्थिति में बच्चों की प्राथमिक आवश्यकतायें भी पूरी नहीं हो पाती हैं और भूख से तंग आकर वे चोरी में प्रवृत्त हो जाते हैं। निर्धनता का दूसरे प्रकार से प्रभाव यह होता है कि माता-पिता दोनों को नौकरी करने के लिए निकलना पड़ता है और माता-पिता तथा बच्चे एक दूसरे से दूर रहते हैं और बच्चों पर नियन्त्रण ढीला पड़ जाता है। निर्धनता के कारण माता-पिता न तो अच्छे मकान में रह पाते हैं और न बच्चों को शिक्षा ही दे पाते हैं। जो बच्चे न तो स्कूल जाते हैं और न ही उनके खाली समय बिताने के लिये कोई स्वस्थ मनोरंजन के साधन उपलब्ध होते हैं, उनके लिये रास्ते पर खेलना या आवारगर्दी करना और बुरी संगत में फँस कर



बुरा काम करना स्वाभाविक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निर्धनता बाल-अपराध का एकमात्र कारण है। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकतर बाल-अपराधी निर्धन होते हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि अधिकतर निर्धन बच्चे बाल-अपराधी नहीं होते हैं। केवल निर्धनता को दूर कर देने से ही बाल-अपराध समाप्त नहीं हो जायेंगे क्योंकि बाल-अपराध के अन्य कारण तब भी उपस्थित होंगे। श्री बर्ट (Burt) के अध्ययन से पता चलता है कि आधे से अधिक बाल-अपराधी निर्धन परिवार के सदस्य होते हैं परन्तु श्री बर्ट का मत है कि इस बड़ी संख्या का मुख्य कारण यह है कि धनी परिवार के बच्चे अपनी आर्थिक शक्ति के कारण कानून के पंजे में सरलता से फँसते नहीं हैं। श्री बर्ट का निष्कर्ष है कि केवल निर्धनता अपराध का कारण नहीं होती।

(छ) छोटे घर तथा अत्यधिक भीड़-भाड़ (Slum Houses and Over-crowding)—नगरों में मकानों की समस्या अत्यधिक कटु होती है और अधिकांश श्रमिकों की गन्दी वस्तियों की छोटी-छोटी कोठरियों में रहना पड़ता है। एक छोटी-सी कोठरी में, जिसमें अनेक व्यक्ति एक साथ रहते हैं, बच्चों के चरित्रवान होने की आशा कैसे की जा सकती है? घर के अन्दर बच्चों के खेलने के लिये स्थान का नितान्त अभाव होने के कारण उनका अधिकांश समय गलियों और सड़कों पर बीतता है। यह दो प्रकार से उनके लिये हानिकारक होता है—प्रथम तो दिन भर घर से बाहर रहने के कारण बच्चों की गतिविधि पर माता-पिता का नियंत्रण या निरीक्षण शिथिल हो जाता है और बच्चे अपनी इच्छानुसार जो चाहें करते रहते हैं; दूसरे, रास्तों पर अधिक समय बिताने से वे सरलता से बुरी संगत में पड़ जाते हैं और अपराधी-व्यवहार सीखते रहते हैं।

(ज) माताओं और बच्चों का नौकरी करना (Employment of Mothers and Children)—अनेक बाल-अपराधी ऐसे पाये गये हैं जिनकी मातायें घर से बाहर नौकरी करती हैं। माताओं के बाहर जाकर काम करने से बच्चों की देख-रेख उचित रूप से नहीं हो पाती और वह गली-कूचे के बुरे लोगों के साथ पड़ कर तरह-तरह से बिगड़ जाते हैं और अपराध में प्रवृत्त हो जाते हैं। प्रो० बोगार्डस (Bogardus) ने इसीलिए कहा है कि “जब मातायें प्रतिदिन घर से बाहर रहती हैं, चाहे काम करने के लिए या ताश खेलने के लिये, तो निश्चय ही परिवार का संगठन बिगड़ता है और बच्चे बर्बाद होते हैं।” श्री न्यूमेयर (Neumeyer) ने इसी सत्य को और भी रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। आपका कथन है, “जब पिता रात में ड्यूटी देते हैं और माता दिन में अथवा दोनों रात या दिन में ड्यूटी देते हैं तो बच्चे प्रायः रास्ते पर ही ड्यूटी देते हुए मिलते हैं।”<sup>4</sup> उसी प्रकार बच्चों की नौकरी, विशेषकर सड़कों पर वस्तुयें बेचने का काम और मिलों या कारखानों में काम करना, उनके नैतिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद होता है। बच्चों के नौकरी

4 “With the father on a night shift and mother on a day shift or both on day or night shifts, children were often on the ‘street shift’.” Martin H. Neumeyer, *Juvenile Delinquency in Modern Society*, D. Van Nostrand Co., New York, 1955, p. 161.



करने से उनकी शिक्षा रुक जाती है और शिक्षा के अभाव के कारण वे कुशल श्रमिक नहीं हो पाते हैं। इससे भविष्य में उनकी आय कम होती है, उन्हें निर्धनता घेरती है और वे समाज-विरोधी कार्य करने लगते हैं।

## (२) व्यक्तिगत कारण

### (Personal Causes)

परिवार सम्बन्धी उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्तिगत कारण भी होते हैं जो कि बालक को अपराधी-व्यवहार की ओर प्रेरित करते हैं। इन व्यक्तिगत कारणों में निम्नलिखित दो कारण विशेष उल्लेखनीय हैं :—

#### (अ) शारीरिक तथा मानसिक दोष (Physical and Mental Defects)—

शारीरिक तथा मानसिक दोषों का प्रभाव भी बालक के आचरण पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है या कोई विशेष रोग है तो वह स्कूल में ठीक से पढ़ाई नहीं कर पाता है और बार-बार फेल होने के कारण माता-पिता और संगी-साथियों की नजर में गिर जाता है। खेल-कूद में भी वह सबसे पीछे रह जाता है। इन सब कारणों से बच्चे में हीनता की भावना दृढ़ होती रहती है और उसमें द्वेष और प्रतिशोध की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। फलतः इन कमियों को वह बच्चा अनेक असामान्य व्यवहारों के द्वारा पूरा करने का प्रयत्न करता है। इसी से वह बाल-अपराधी बनता है।

जो बच्चे काने, अन्धे, लूले, लंगड़े, बहरे या किसी अन्य शारीरिक विकार से ग्रस्त होते हैं, उनके संगी-साथी, पड़ोसी और यहाँ तक कि माता-पिता भी उनकी उपेक्षा करने लगते हैं, उनका उपहास करने लगते हैं। ऐसे बच्चे एक ओर समाज के अन्य व्यक्तियों से अपने को हीन समझने लगते हैं और दूसरी ओर उनमें एकाकी की भावना उत्पन्न होती है। साथ ही, जो लोग उनकी उपेक्षा और उपहास करते हैं उनके प्रति बच्चे के हृदय में प्रतिशोध की भावना जागृत होती है। वह इन सबका मुँह-तोड़ जबाब देना चाहता है। वह समाज को दिखा देना चाहता है कि वह भी अपना कुछ अस्तित्व रखता है। फलतः वह अच्छे-बुरे का कुछ भी ध्यान न रखते हुए काम करता है और शीघ्र ही बाल-अपराधी बन जाता है।

शारीरिक रोग भी अपराध की प्रेरणा देते हैं। रोगी बालक चिड़-चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं और उनका शारीरिक स्वास्थ्य भी गिर जाता है। रोगी बालक के खाने-पीने, खेलने-कूदने तथा अन्य स्वाभाविक कार्यों पर प्रतिबन्ध लग जाता है। इन प्रतिबन्धों से मुक्ति पाने के लिए बालक प्रायः चुपके-चुपके अनैतिक तथा अक्रांतिक साधनों का सहारा लेते हैं। बीमारी मानसिक दुर्बलता को भी उत्पन्न करती है और इस प्रकार विचार शक्ति मन्द होने के कारण बच्चा दूसरों के सुभाव को शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है और यदि सुभाव देने वाला दुराचारी हुआ तो बच्चा भी धीरे-धीरे अपराधी हो जाता है।

ग्रन्थियों (Glands) की खराबी के कारण भी बच्चे में अनेक शारीरिक तथा मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, थाइ-



रॉयड ग्रन्थियों (Thyroid glands) से आवश्यकता से कम स्राव होने पर बच्चों में मिक्सेडिमा (Myxedema) नामक रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे बच्चे का सामान्य शारीरिक तथा मानसिक विकास रुक जाता है। ऐसे बच्चों को भी परिवार, स्कूल आदि में उचित स्थान नहीं मिल पाता है और उन्हें प्रायः यह कहकर टोका और धिक्कारा जाता है कि “बारह वर्ष का बाल हो गया है, अभी तक अक्ल नहीं आई।” इसके प्रतिक्रियास्वरूप बच्चा सबसे, विशेषकर उससे जिससे कि जब-तक उसकी तुलना की जाती है, घृणा तथा शत्रुता की भावना रखने लगता है और इसकी अभिव्यक्ति अपराधी-आचरण ही होती है।

उसी प्रकार जिन बच्चों का उनकी आयु की अपेक्षा अधिक विकास हो जाता है उनमें भी अपराध की दरें अधिक होती हैं। यह भी ग्रन्थियों की खराबी के कारण होता है। जैसे थाइरॉयड स्रावों की अधिकता का परिणाम अत्यधिक उद्योगशीलता, उत्तेजना, आदि की उत्पत्ति होती है जो बच्चे को समाज-विरोधी कार्यों की ओर प्रेरित करती है। उसी प्रकार आवश्यकता से अधिक यौन स्रावों से बच्चे में कामुकता बहुत शीघ्र तेज हो जाती है और वह यौन अपराध की ओर बढ़ता है।

बालकों को अपराधी बनाने में मन्द बुद्धि तथा मानसिक रोगों का भी बड़ा हाथ होता है। मन्द बुद्धि वाले बालक अच्छे-बुरे का विचार ठीक से नहीं कर सकते और न ही अपराधी-आचरणों के परिणामों को सोच सकते हैं। इसके साथ ही बुद्धि की कमी के कारण वह समाज-विरोधी तत्त्वों के प्रभाव में शीघ्र आ जाते हैं। दुष्ट लोग ऐसे ही बालकों से अपराध करने में मदद लेते हैं। उसी प्रकार जो बालक कम आयु में ही हिस्टिरिया, न्यूरेस्थेनिया, क्लेप्टोमेनिया आदि रोगों के शिकार हो जाते हैं वे भी अपराधी-व्यवहार की ओर शीघ्र ही बढ़ जाते हैं।

(ब) संवेगात्मक अस्थिरता (Emotional Instability)—कुछ विद्वानों ने संवेगात्मक अस्थिरता को बाल-अपराध का सबसे प्रमुख कारण माना है। जब बच्चे की मूल मानसिक इच्छायें या आकांक्षायें और आशायें सन्तुष्ट नहीं हो पातीं, तो उस से बच्चे में संवेगात्मक अस्थिरता तथा असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है और बच्चा उस अस्थिर तथा असन्तुलित अवस्था में ऐसे अनेक कार्य कर बैठता है जो समाज-विरोधी या गैर-कानूनी होते हैं। सर्वश्री हीली तथा ब्रोनर (Healy and Bronner) ने अपने अध्ययन में देखा है कि प्रायः ६१ प्रतिशत बाल-अपराधी ऐसे थे जो अपने जीवन में अप्रसन्न और असन्तुष्ट थे अथवा मानसिक रूप से परेशान थे। इनके अध्ययन में ६६ बाल-अपराधियों में संवेगात्मक अस्थिरता के निम्नलिखित स्वरूप उपस्थित थे (एक ही व्यक्ति में एक से अधिक स्वरूप पाये गये<sup>५</sup>)—(१) ४६ बाल-अपराधियों में अत्यधिक तिरस्कृत, अस्वीकृत, असुरक्षित, हीन होने की तथा ठीक से न समझे जाने की भावना उपस्थित थी। (२) २८ बाल-अपराधियों में यह भावना उपस्थित थी कि उनकी सामान्य इच्छाओं का बिना किसी स्नेह-ममता के विरोध किया गया।



(३) ४६ बाल-अपराधियों में पारिवारिक जीवन, स्कूल, साथियों अथवा खेल-कूद में हीनता अथवा अपर्याप्तता की भावना उपस्थित थी। (४) ३४ बाल-अपराधियों में पारिवारिक असंतुलन, माता-पिता के दुराचरण या चरित्रहीनता, पारिवारिक जीवन की अन्य अस्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ अथवा पारिवारिक अनुशासन तथा संगठन में माता-पिता की त्रुटियों के कारण अत्यधिक मानसिक क्लेश या अशान्ति की भावना पाई गई। (५) ३१ बाल-अपराधियों में परिवार के अन्य बच्चों के प्रति कटु द्वेष की भावना या यह भावना कि उनके साथ पक्षपात हो रहा है, पाया गया। (६) १७ बाल-अपराधियों में भ्रान्तिमूलक अप्रसन्न जीवन की भावना पायी गई जिनका कारण कुछ पूर्व-अनुभव था। (७) बाल-अपराधियों में पिछले अपराधी-अनुभवों के कारण चेतन अथवा अचेतन रूप में आत्मश्लाघा अथवा अपराधी-भावना (sense of guilt) वर्तमान थी।

### (३) सामुदायिक कारण

#### (Community Factors)

सामुदायिक परिस्थितियाँ भी बच्चों के लिये उतनी ही आवश्यक एवं प्रभाव-शाली होती हैं जितनी कि पारिवारिक तथा व्यक्तिगत कारक। बच्चों को बनाने या बिगाड़ने में पड़ोस, स्कूल, संगी-साथी आदि का भी पर्याप्त योग होता है। बाल-अपराधी के कारण के रूप में निम्न उल्लेखनीय हैं:—

(क) अपराधी क्षेत्र (Delinquency Areas)—पड़ोसी का प्रभाव बच्चे पर अत्यधिक पड़ता है। किसी प्रकार की बुराई यदि पड़ोस में है तो आस-पास के लोगों पर, विशेषतः बच्चों पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। रात-दिन जब बच्चे उन बुराइयों के सम्पर्क में रहते हैं तो स्वयं भी उन बुराइयों में फँस जाते हैं। यदि पड़ोस में व्यभिचार होता है, जुआ होता है, शराब की दुकान होती है या शराबी, जुआरी, चोर, बदमाश और गुण्डे बसते हैं तो निश्चित रूप से इन सब का प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। अनेक पड़ोस में ऐसे दुष्ट लोग भी होते हैं जो अपने स्वार्थ-सिद्धि या आर्थिक लाभ के हेतु बालकों को चोरी करने और जेब काटने आदि की शिक्षा देते हैं। यदि बालकों का ऐसे लोगों के साथ सम्पर्क हो जाता है और उनके हाथ में रुपये आने लगते हैं तो बच्चों को उन दुष्ट लोगों के प्रभाव से मुक्त करना कठिन हो जाता है। इसलिये सर्वश्री शॉ और मैके (Shaw and McKay) यह मानते हुए भी कि बाल-अपराध के अन्य अनेक कारण होते हैं, यह विश्वास करते हैं कि बाल-अपराध का सबसे महत्वपूर्ण कारण अपराधी क्षेत्र (delinquency areas) हैं, जिनमें अपराध परम्परागत चले आ रहे हैं।

(ख) बुरी संगत (Bad Company)—संगत का असर भी बच्चों पर ही नहीं, प्रौढ़ों पर भी गहरा पड़ता है। श्री न्युमेयर (Neumeyer) ने उचित ही कहा है कि “मित्रों का चुनाव ही एक बच्चे को बनाता या बिगाड़ता है।” यदि संगत खराब हुई तो बच्चा खराब आचरणों की ओर प्रवृत्त होने लगता है। साथ ही लड़के और लड़कियाँ शायद ही कभी अकेले बाल-अपराध करते हों। सामान्यतः



- वे दूसरों के साथ में ही ऐसे कार्य करते हैं। की टैफ्ट (Taft) का मत है कि बुरे संगी-साथी दूसरे बच्चों को ऊधम-वाजी करना, दूसरों की वस्तुओं का नाश करना और अपराध करने की विधियों को सिखलाते हैं।

(ग) दोषपूर्ण शिक्षा व स्कूल (Defective Education and School)—बच्चे उस स्थिति में भी अपराधी हो जाते हैं जब शिक्षा दोषपूर्ण हो या जब स्कूल की परिस्थितियाँ अनुकूल न हों। यदि स्कूल की परिस्थितियाँ इस प्रकार की हैं कि बच्चा शिक्षा के प्रति अरुचि रखने लगता है तो बच्चे में स्कूल छोड़कर भाग जाने (truancy) की आदत पड़ जाती है। माता-पिता के डर से वे घर नहीं लौटते, पर बाहर आवागारवादी करते रहते हैं या यार-दोस्तों के साथ सिनेमा का मैटनी शो देखते और रास्ते पर चलते हुए नाना प्रकार का दुराचरण करते रहते हैं। अध्यापकों का क्रूर व्यवहार, पाठ्यक्रम का बालकों की रुची के अनुकूल न होना, मनोवैज्ञानिक परीक्षण की कमी, पढ़ाई-लिखाई में कमजोर बच्चों के प्रति व्यक्तिगत ध्यान न देना आदि ऐसे कई कारण हैं जिनसे बच्चों में स्कूल से भागने की आदत पड़ जाती है और बाल-अपराधियों की संख्या बढ़ती जाती है। उसी प्रकार यदि बच्चों को नैतिक शिक्षा देने की व्यवस्था नहीं है तो भी उनका चरित्र निर्माण नहीं हो पाता है।

(घ) स्वस्थ मनोरंजन के साधनों का अभाव (Absence of Healthy Means of Recreation)—अनेक विद्वानों का मत है कि स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन के साधनों का अभाव बाल-अपराध का एक महत्वपूर्ण कारण है। जिन समुदायों में बच्चों के लिये खेल-कूद या अन्य मनोरंजन के साधन उपलब्ध नहीं हैं वहाँ बच्चे अपने खाली समय का सदुपयोग नहीं कर पाते हैं और तभी वे अपराधी-आचरणों की ओर आकृष्ट होते हैं, बड़े नगरों में परिस्थिति और भी दयनीय होती है और बच्चे गलियों और सड़कों पर खेलते रहते हैं और खेल-खेल में बहुत-सी बुरी आदतें सीख लेते हैं। नगरों में सिनेमा भी अनेक बच्चों को बिगाड़ देता है।

(ङ) युद्ध (War)—युद्ध के छिड़ने पर स्कूल की शिक्षा में बाधा पड़ती है। अनेक पिता युद्ध क्षेत्र में चले जाते हैं और माता को घर से बाहर जाकर काम करना पड़ता है। इससे परिवार का संगठन तथा बच्चों पर नियंत्रण शिथिल हो जाता है। जहाँ बम गिराये जाते हैं वहाँ टूटे फूटे मकानों और दुकानों में घुसकर सामान लूटने का उत्तम अवसर बच्चों को मिल जाता है।

#### (४) नागरीकरण तथा बाल अपराध (Urbanisation and Delinquency)

प्राचीन समाजों में सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप सादा और सरल होता था। परिवार सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई होता था जो कि व्यक्ति की अधिकतर सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। इसलिये व्यक्ति को बाहरी दुनिया से बहुत कम सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता होती थी। स्वयं समुदाय का स्वरूप भी सरल होता था और प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप में



जानता पहचानता था। इसीलिये ऐसे समुदाय में प्राथमिक नियन्त्रण की प्रचीनता थी। अर्थात् ऐसे समुदाय में प्रथा, परम्परा, धर्म और पंचायत, पड़ोस और परिवार के द्वारा ही व्यक्ति के व्यवहार को सरलता से नियन्त्रित किया जा सकता था। सामाजिक गतिशीलता का अभाव था और सामाजिक जीवन, व्यवसाय, सामाजिक पद आदि में बहुत अधिक भिन्नताएँ नहीं पायी जाती थीं। धन का महत्व कम था, आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा अधिक न थी, घर की माताएँ घर से बाहर काम करने के लिये नहीं जाती थीं और न ही परिवार की गन्दी-बस्तियों (slums) में रहने की आवश्यकता होती थी। इन सब कारणों से बच्चों तथा किशोरों के लिये बिगड़ जाने की सम्भावना भी बहुत कम होती थी।

परन्तु औद्योगीकरण के साथ-साथ नगरों का भी विकास जब तेजी से होने लगा तो नगर-समुदायों में उपरोक्त विशेषतायें भी समाप्त होने लगीं। नगरों ने अपनी विशेषताओं से एक पृथक् पर्यावरण का सृजन किया जिसमें कि सामाजिक विभिन्नता (social heterogeneity), घनी आबादी, पेशों में विभिन्नतायें, गन्दी बस्तियाँ, खर्चीला जीवन, कृत्रिमता और बाहरी ठाट-बाट, व्यक्तिवादिता, परिवार का कम महत्व, परिवार की अस्थिरता, मनोरंजन का व्यापारीकरण, अव्यक्तिगत (impersonal), सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक गतिशीलता, प्रतिस्पर्धा (competition) आदि विलक्षणताएँ स्पष्टतया नगरवासियों के जीवन को प्रभावित करने लगीं। इनके शिकार बालक और किशोर भी हुए और उनके लिये बाल-अपराधी बनना सरल हो गया। बाल-अपराध के कारण के रूप में नागरीकरण का अन्य कारकों की तुलना में क्या महत्व है, यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी :—

(१) नागरिक परिस्थिति तथा बाल-अपराध (Urban set up and delinquency) :—आधुनिक नागरिक समाज में सामान्य परिस्थिति ही कुछ ऐसी होती है जिसमें कि बच्चों के लिये बिगड़ जाना सम्भव होता है। उनमें से सबसे प्रथम उल्लेखनीय परिस्थिति सामाजिक विभिन्नताएँ हैं। नागरिक जीवन में एकरूपता का नितान्त अभाव होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भिन्नता दिखाई देती है। नाना प्रकार के उद्योग-धन्वे, धर्म, परम्परा, रीति-रिवाज, वेष-भूषा, रहन-सहन सब नागरिक जीवन में समा जाते हैं। नगर में विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, प्रान्त तथा देश के लोग बसे होते हैं और इनमें से प्रत्येक की कुछ सामाजिक विशेषतायें होती हैं। इसीलिये नगरों में रीति-रिवाजों, प्रथा व परम्पराओं, धर्म तथा आदर्शों में इतनी अधिक भिन्नताएँ देखने को मिलती है और उन भिन्नताओं के बीच बच्चे के लिए यह कठिन होता है कि वह किस व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) को चुन ले। जब यह चुनाव उचित ढंग से नहीं हो पाता है तभी बच्चा बिगड़ता है।

वास्तविकता तो यह है कि नगरों में परिवार के पर्यावरण तथा परिवार के बाहर के पर्यावरण में पर्याप्त अन्तर होता है और पर्यावरण के इन दो पाठों के बीच फँसकर अनेक बच्चों के व्यक्तित्व का संतुलित विकास नहीं हो पाता। श्री सेल्लिन (Sellin) ने लिखा है कि एक समूह के सदस्य के रूप में एक व्यक्ति को केवल उस



समूह के नियमों के ही नहीं, अपितु उन नियमों के भी अनुकूल व्यवहार करना पड़ता है जो कि वह समूह दूसरे समूहों के साथ अपनाता है। ऐसी अवस्था में हो सकता है उसका अपना समूह उसे एक प्रकार से व्यवहार करने का निर्देश दे और अन्य समूह दूसरे प्रकार से। उदाहरणार्थ, परिवार समूह के अनुसार बच्चों के लिए सिनेमा जाने की मनाही हो, परन्तु स्कूल के अन्य साथी-समूह के अनुसार सिनेमा जाने में कोई बुराई न हो तो बच्चा अपने को एक जटिल परिस्थिति में पाता है कि उसे वास्तव में क्या करना चाहिए। अगर वह परिवार के नियमों को तोड़ता है तो उसे माता-पिता से दण्ड प्राप्त होगा और अगर वह परिवार के नियमों को न तोड़कर साथी-समूह के अनुरोध को ठुकराता है तो साथी-समूह उसका बहिष्कार करता है या उसका मजाक उड़ाता है। दोनों ही स्थितियाँ बच्चे के लिए जटिल हैं और उन जटिल स्थितियों का सफलतापूर्वक सामना न कर सकने पर बच्चे के लिये बिगड़ जाना ही सरल होता है।

श्री न्यूमेयर (Neumeyer) ने भी लिखा है कि नागरीकरण की प्रक्रिया ने सभी समूहों को प्रभावित किया है, परन्तु किशोरों को उसने पर्याप्त मात्रा में विघटित कर दिया है।<sup>6</sup> विशेषकर वे बच्चे जो गाँव से आकर शहर में बस जाते हैं, उनके लिये नागरिक परिस्थितियों से अनुकूलन करना सरल नहीं होता है।

(२) नगरों की सामाजिक गतिशीलता तथा बाल-अपराध (Social mobility of the cities and delinquency) :—औद्योगीकरण तथा नागरीकरण का एक उल्लेखनीय प्रभाव सामाजिक गतिशीलता की तीव्र गति है। इस सामाजिक गतिशीलता तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप जनरीतियों, रुढ़ियों तथा सामाजिक संस्थाओं में जो भारी उलट-फेर हुआ है उससे न केवल सानूहिक जीवन में बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी विघटन के लक्षण स्पष्ट हो गये हैं। बाल-अपराध इसी विघटन की ही एक अभिव्यक्ति है।

नगरों में सामाजिक गतिशीलता अत्यधिक होती है। यहाँ व्यक्ति तथा समूह के एक स्तर से दूसरे स्तर को, एक पेशे से दूसरे पेशों को, एक स्थिति से दूसरी स्थिति को और एक स्थान से दूसरे स्थान को आना-जाना या चढ़ना-उतरना होता रहता है। इन परिवर्तनों से अनुकूलन करना प्रत्येक बच्चे के लिये सम्भव नहीं होता है और उनके लिए बिगड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है। इसी सामाजिक गतिशीलता के कारण संयुक्त-परिवार का विघटन तेजी से हो रहा है। अतः संयुक्त-परिवार बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में तथा व्यवहारों के नियन्त्रण में अपना जो योगदान करता था वह अब नहीं कर पाता है। उसी प्रकार सामाजिक गतिशीलता के फलस्वरूप व्यक्ति के पद तथा कार्यों में भी तेजी से परिवर्तन होता रहता है जिसके साथ अनुकूलन करना प्रत्येक बच्चे के लिये सम्भव नहीं होता है।

भारतवर्ष में सामाजिक गतिशीलता का एक स्पष्ट स्वरूप शरणार्थियों का पूर्वा तथा पश्चिमी पाकिस्तान से आगमन है। विभाजन के बाद ८६ लाख व्यक्ति पाकिस्तान से बेघर-बार होकर भारतवर्ष आये थे। उसके बाद जनवरी, सन् १९६४ में जो



साम्प्रदायिक गड़बड़ियाँ (Communal disturbances) पूर्वी पाकिस्तान में हुई उसके फलस्वरूप जनवरी से मई सन् १९६४ तक पूर्वी पाकिस्तान से प्रायः ३.८७ लाख शरणार्थी भारतवर्ष में और आये हैं और अब भी उनका आना बन्द नहीं हुआ है। इन सब शरणार्थियों के बच्चों के लिये भारतवर्ष का पर्यावरण बिल्कुल नया है। उनमें से अनेकों को स्कूल छोड़कर नौकरी की तलाश करनी पड़ी है। नये तोर पर नयी भाषा, प्रथा, परम्परा, सामाजिक रीति-नीति को सीखना पड़ा है, नये रूप में दरिद्रता के विकराल रूप को देखना पड़ा है। अनेक बच्चों को तो माता-पिता या संरक्षकों की मृत्यु हो जाने से अनाथ बनना पड़ा है। इन सभी परिस्थितियों का प्रतिकूल प्रभाव अनेक बच्चों पर पड़ा है और वे गलत रास्ते में चले गये हैं।

(३) नगरों की गन्दी बस्तियाँ और बाल-अपराध (Slums of Cities and delinquency) :—श्रीछोगीकरण और नागरीकरण का एक और अभिशाप नगरों में गन्दी बस्तियों का पनपना है। इन बस्तियों में सीलन से भरे एक छोटे से कमरे में परिवार के सभी लोग रहते हैं। इसी एक कमरे में गृहस्थी के सब सामानों को रक्खा जाता है, उसी में भोजन बनता है, रात को सोया जाता है और उसी कमरे में श्रमिक के परिवार की भावी पीढ़ी जन्म लेती है और वर्तमान सिसकती तथा दम तोड़ती है। वही उसका एक मात्र कमरा है, पर इतना छोटा है कि सुविधाजनक लेटने की भी जगह उसमें नहीं है। इसीलिए बच्चों को घर से बाहर गलियों में खेलने का स्थान ढूँढना पड़ता है जहाँ कि बुरी संगत में पड़कर वह बहुत कम उम्र में ही बीड़ी, सिगरेट पीना, आवागारवादी करना, गाली देना, मारपाट करना, जुआ खेलना तथा यौन-सम्बन्धी अनुचित व्यवहारों को करना सीख जाता है। गन्दी बस्तियों के मकानों में जहाँ पूरे परिवार को प्रायः एक कमरे में रहना पड़ता है, वहाँ गोपनीय स्थान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इस कारण माता-पिता तथा अन्य वयस्क व्यक्तियों के यौन-व्यवहारों को बच्चे देखते और सीखते रहते हैं। इसका बहुत बुरा प्रभाव बच्चों के नैतिक विकास पर पड़ता है और उनमें असमय ही यौन-शुबा पनप जाती है जिसके फलस्वरूप नाना प्रकार का यौन-अष्टाचार जन्म लेता है। घर में वयस्कों को यौन-व्यवहार में लिप्त रहते देखने का एक बहुत बुरा प्रभाव बच्चों पर यह पड़ता है कि स्त्रियों के प्रति श्रद्धा व सम्मान-भाव बच्चों के दिल से जाता रहता है और वे उन्हें यौन-सुख के एक साधन के रूप में समझने लगते हैं जो कि आगे चलकर बच्चों को यौन-अपराध के रास्ते पर घसीट लाता है।

साथ ही, इन गन्दी बस्तियों में बच्चों पर माता-पिता का नियन्त्रण भी क्षिण ही होता है क्योंकि स्थानाभाव के कारण बच्चों का अधिकतर समय घर से बाहर ही बीतता है और माता-पिता स्वयं भी जीविका पालन करने के लिये प्रायः घर से बाहर रहते हैं।

गन्दी बस्तियों में बच्चों को अच्छे लोगों की संगत भी प्राप्त नहीं हो पाती है। वहाँ पर घनी आवादी और चिचपिच का आधिक्य होने के कारण बुरे प्रकृति के और अपराधी व्यक्तियों के छिपने के लिये ऐसे स्थान आदर्श होते हैं। ये लोग इन क्षेत्रों में



अपना प्रभाव विस्तार करते हैं और किशोर आयु के लोग इनके जाल में सरलता से फँस जाते हैं और गलत रास्ते में चले जाते हैं।

इतना ही नहीं, इन गन्दी बस्तियों के क्षेत्रों में शराब की दुकानें, जुए के अड्डे, वैश्यालय आदि भी होते हैं जो कि किशोरों को निरन्तर अपनी तरफ आकर्षित करते रहते हैं। कुछ बच्चे तो इन शराब की दुकानों, जुए के अड्डों तथा वैश्यालय में 'बाँय' (Boy) का काम करते हैं और धीरे-धीरे अपने को अपराध के पथ पर ले आते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नागरीकरण के फलस्वरूप पनप गयी गन्दी बस्तियाँ बाल-अपराध को जन्म देने में एक महत्वपूर्ण कारक हैं फिर भी, जैसा कि प्रो० एलबर्ट (Albert Cohen) ने लिखा है, आधुनिक सर्वेक्षणों से पता चलता है कि अनेक गन्दी बस्तियों में सामाजिक संगठन का विलकुल अभाव नहीं होता है। गन्दी बस्तियों में संगठन ऊँचा स्तर का तो नहीं होता है, पर गन्दी बस्तियाँ आवश्यक रूप में जंगल नहीं होते हैं। फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गन्दी बस्तियाँ बच्चों के लालन-पालन और व्यक्तित्व के विकास के लिये आदर्श स्थान नहीं है।

(४) नगरों में मनोरंजन का व्यापारीकरण तथा बाल-अपराध (Commercialization of recreation in cities and delinquency) :—नागरीकरण का एक और दुष्परिणाम अधिकाधिक लाभ उठाने के उद्देश्य से किया गया मनोरंजन के साधनों का व्यापारीकरण और बच्चों के लिये स्वस्थ मनोरंजन के साधनों तथा स्थानों का नितान्त अभाव है। धनी आवादी के कारण नगरों में बच्चों के खेलने-कूदने या मनोरंजन प्राप्त करने के लिये खेल के मैदानों तथा अन्य साधनों का अभाव होता है जिसके फलस्वरूप बच्चों के खाली समयों का सदुपयोग नहीं हो पाता है और उन खाली समयों में वे सड़कों पर खेलते हैं या आवारागर्दी करते हैं या अन्य समाज-विरोधी कार्यों को करने में प्रेरित होते हैं। सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliot and Merrill) ने उचित ही लिखा है, "बच्चे, किशोर तथा वयस्क लोग मनोरंजन के विकृत स्वरूपों को इसलिये नहीं अपनाते हैं कि वे वंशानुगत रूप में दुराचारी हैं बल्कि इसलिये कि उन्हें और कुछ अच्छा मनोरंजन करने को नहीं मिलता है।"<sup>7</sup>

श्री सुल्लेंगर (Sullenger) के अध्ययन से पता चलता है कि १० प्रतिशत से भी अधिक अपराधियों का घर निकटवर्ती खेल के मैदान से आधा मील या उससे भी अधिक दूरी पर था और उनके अनुसार नगर के कम से कम २५ प्रतिशत बाल-अपराधियों को रोका जा सकता है यदि केवल बच्चों के खेलने के लिए खेल के मैदान उपलब्ध हों। श्री सुल्लेंगर का कथन है कि वह समुदाय जो कि बच्चों को खेलने की सुविधायें प्रदान करने में असफल हैं उन बच्चों से अधिक गैर-सामाजिक (unsocial) है जो कि सड़कों पर खेलते रहते हैं।

7. "Children, adolescents and adults do not engage in descriptive forms of recreation because they are inherently vicious but because they have nothing better to do." Elliott and Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros., New York, 1950, p. 84.



जितने भी अध्ययन अब तक हुए हैं, सभी से इस सत्यता की पुष्टि होती है कि सिनेमा के द्वारा जो मनोरंजन नगरों में बच्चों को प्राप्त होता है उसका बुरा प्रभाव बच्चों पर पड़ता है और उन्हें बाल-अपराधी बनाने में सहायक सिद्ध होता है। श्री न्यूमेयर (Neumeyer) ने लिखा है कि ३६८ पुरुष अपराधियों में केवल १० प्रतिशत ने यह मत व्यक्त किया कि उनके चरित्र-निर्माण में सिनेमा का कोई योगदान रहा है। अन्य सभी ने यह स्वीकार किया कि सिनेमा का कुछ न कुछ बुरा प्रभाव उन पर पड़ा है। उसी प्रकार २५२ महिला बाल-अपराधियों में, विशेषकर १४ से १६ वर्ष आयु की लड़कियों में, २५ प्रतिशत का कथन था कि उन्होंने कामुक प्रेम चल-चित्रों द्वारा जाग्रत यौन-वासनाओं से प्रेरित होकर ही पुरुषों के साथ यौन-सम्बन्धों को स्थापित किया था; ४१ प्रतिशत के विचारानुसार सिनेमा के प्रभाव के कारण ही उनमें हड़दंगा करने की आदत पनप गयी थी, ३४ प्रतिशत सिनेमा से प्रभावित होकर ही अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करना चाहती थीं और ३३ प्रतिशत घर से भाग जाना चाहती थीं। इनमें से आधे से अधिक लड़कियाँ सिनेमा देखने के लिए स्कूल से भाग जाया करती थीं।<sup>१</sup>

उसी प्रकार नगरों में बच्चों को ऐसे घटिया-किस्म के उपन्यास, पत्रिका आदि पढ़ने को मिल जाते हैं जो कि उनमें रोमान्स, यौन-सम्बन्ध आदि से सम्बन्धित विकृत मनोभाव को पनपाने में सहायक होते हैं और साथ ही नाना प्रकार के अपराध के सम्बन्ध में उन्हें ज्ञान करवाते हैं।

इसके अतिरिक्त नगरों में जो नाइट-क्लब, नाच-घर आदि होते हैं उनके चक्कर में पड़कर भी बच्चे बिगड़ जाते हैं विशेषकर उनमें यौन-अपराध, जुआ खेलने की आदत तथा बाहरी ठाट-बाट करने की उत्कट इच्छा पनप जाती है।

(५) नागरीकरण, काम करने वाली मातायें तथा बाल-अपराध (Urbanization, Working Mothers and delinquency) :—नागरीकरण के साथ-साथ माताओं को घर से बाहर काम करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त हो गये हैं क्योंकि नगरों में उद्योग-धन्धे, व्यापार व वाणिज्य, दफ्तर आदि अधिक होते हैं और उनमें केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी नौकरी कर सकती हैं। जब मातायें घर से बाहर काम करने की जाती हैं तो उसका बहुत बुरा प्रभाव बच्चों के लालन-पालन तथा व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। घर में रहते हुए माताएँ हर पल अपने बच्चों पर निगाह रखती हैं जिससे बच्चों के दिल में एक डर रहता है और उन्हें अवांछनीय व्यवहार करने का अवसर बहुत कम मिल पाता है। इसके विपरीत जब माताएँ नौकरी करने के लिए अधिकतर समय घर से बाहर रहती हैं तो बच्चों के इच्छानुसार व्यवहार करने का अवसर मिल जाता है। अगर बच्चों को नौकरों के हवाले करके माताएँ नौकरी करने जाती हैं तो भी बच्चों का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता है क्योंकि नौकरों के पास अधिकतर रहने के कारण बच्चे उन नौकरों के ही व्यवहार प्रतिमान का अनुकरण करते रहते हैं। इसीलिए ऐसे बच्चों के लिए भी बिगड़ जाने की सम्भाव-



नाएँ पश्चात्ति मात्रा में होती हैं। श्री ग्लूके (Glueck) तथा उनके साथियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि जिन १००० बाल-अपराधियों का अध्ययन किया गया था उनमें ऐसे बाल-अपराधियों की संख्या चार गुना अधिक थी जिनकी माताएँ घर से बाहर काम करने जाती थीं, यदि इस संख्या की तुलना उन बाल अपराधियों की संख्या से की जाय जिनकी माताएँ नौकरी नहीं करती थीं। जो माताएँ नौकरी करती हैं उनका लड़कियों पर लड़कों की तुलना में अधिक बुरा प्रभाव उनके नौकरी करने का पड़ता है। माताएँ बहुधा परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए ही घर से बाहर नौकरी करने को जाती हैं, पर ऐसा करके वे परिवार तथा समाज के लिए नयी समस्याओं को उत्पन्न करती और जेलखानों व सुधार गृहों में अपराधियों की संख्या को बढ़ाने में सहायक होती हैं।

(६) नागरीकरण, बाल-श्रमिक तथा बाल-अपराध (Urbanization, child labour and delinquency) :—नागरीकरण और औद्योगीकरण के साथ-साथ न केवल पुरुष तथा महिलाओं के लिए नौकरी पाने की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं, बल्कि बाल-श्रमिकों की माँग में भी वृद्धि होती है। यह वृद्धि बाल-अपराधियों की संख्या में भी वृद्धि करती है। श्री वी० वी० गिरी (V. V. Giri) ने उचित ही लिखा है कि 'बाल-श्रमिक' शब्द की व्याख्या सामान्यतः दो तरह से की जाती है—प्रथमतः एक आर्थिक व्यवसाय (Economic Practice) के रूप में और द्वितीयतः एक सामाजिक बुराई (Social evil) के रूप में।<sup>१</sup> प्रथम सन्दर्भ में 'बाल-श्रमिक' का अर्थ है परिवार की आय को बढ़ाने के उद्देश्य से बालकों को ऐसे कामों में लगाना जिनसे कि कुछ आमदनी हो सके। दूसरे सन्दर्भ में 'बाल-श्रमिक' उन बुराइयों या शोषणों की अभिव्यक्ति है जो कि बालकों को रोजगार में लगाने के फलस्वरूप पनपती है। बाल-श्रमिकों को रोजगार में लगाकर जिस रूप में उनका शोषण किया जाता है, व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक सुविधाओं से उन्हें वंचित किया जाता है और जिस रूप में उनके नैतिक पतन का पथ प्रशस्त किया जाता है, वह वास्तव में एक भयंकर सामाजिक बुराई है। यह स्थिति "श्रम दशाओं पर एक काला घन्ना" बन जाता है। यह कलंक देश की प्रगति को कलुषित करता है, राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि पर बोझ बन जाता है तथा बालकों को बुरे रास्ते में घसीट कर उन्हें बाल-अपराधी-समूह का सदस्य बनने को बाध्य करता है।

बाल-श्रमिकों के स्वास्थ्य पर कष्टसाध्य और अधिक घण्टों के काम का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। विकृत स्वास्थ्य विकृत व्यवहार-प्रतिमानों को पनपाने में सहायक सिद्ध होता है। बचपन में शरीर और मन दोनों ही कोमल होते हैं, परन्तु कम आयु से ही कठोर कामों में लग जाने से वह कोमलता नष्ट हो जाती है। यह स्थिति बालक के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में बाधक होती है और वह कठोर दण्ड से भी डरना भूल जाता है। साथ ही बचपन से ही बालकों को रोजगार



घर लगा देने का अर्थ उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के अवसरों से वंचित करना है। अशिक्षित बालक समाज तथा कानून द्वारा मान्य कार्यों के महत्व को समझ नहीं पाता है और न ही एक अच्छा नागरिक बन पाता है। इतना ही नहीं, वयस्क श्रमिकों के साथ मिलकर काम करने से उनकी अनेक बुरी आदतें बच्चे भी सीख जाते हैं। विभिन्न अनुसंधानों से पता चला है कि इन बुरी आदतों में तीन आदतें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक तो बीड़ी या सिगरेट पीने की आदत, दूसरी जुआ खेलने की आदत और तीसरी विकृत यौन-कार्य-कथन सम्बन्धी आदत। देखा गया है कि वयस्क श्रमिक मजक-मजक में बच्चों को बीड़ी या सिगरेट का एक कश लगाने को कहते हैं और कभी-कभी मजक में जबरदस्ती भी करते हैं। इसी रूप में बच्चों में बीड़ी-सिगरेट पीने की आदत का श्रीगणेश होता है और यहीं से उसके व्यक्तित्व में विकृति आनी आरम्भ होती है। उसी प्रकार अवकाश के समय में जब वयस्क श्रमिक आपस में जुआ खेलते हैं तो बच्चों को भी सम्मिलित कर लेते हैं। बाद में जुआ खेलने की यह आदत किन्हीं-किन्हीं बच्चों में इतनी जड़ पकड़ लेती है कि कभी-कभी अपनी पूरी मजदूरी जुए में फूँककर वे अपने घर लौटते हैं और आगे चलकर पक्के जुआरी बन जाते हैं। उसी प्रकार वयस्क श्रमिक आपस में जो भड़े मजक, यौन सम्बन्धी बातें आदि करते हैं उससे भी बच्चों में यौन के सम्बन्ध में विकृत मनोभाव पनप जाता है। इतना ही नहीं जो बालक नाइट-क्लब-नाटक या नृत्य कम्पनी, वैश्यालय, होटल, शराब की दुकान आदि में काम करते हैं उनमें यौन-व्यभिचार ठाट-बाट की जिन्दगी व्यतीत करने की उत्कट अभिलाषा, तथा बुरी आदतें पनप जाती हैं जो कि उन्हें बाल-अपराधी बनाने में महत्वपूर्ण कारण बन जाते हैं।

(७) नागरीकरण, अपराधी-समूह तथा बाल-अपराध (Urbanization criminal gang and delinquency) :—नगरों में अधिक भीड़-भाड़ तथा अवैयक्तिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। इस कारण नगरों में अनेक संगठित अपराधी-समूह पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, बाल-अपराधियों का भी अपना गिरोह नगर में जितना स्पष्टतया पाया जाता है उतना और कहीं नहीं। ये समूह या गिरोह नाना प्रकार से अपनी सदस्यता को बढ़ाने के लिए नये बालकों को आकर्षित करते रहते हैं। नगरों के स्कूल तथा कॉलेजों में भी बिगड़े लड़के-लड़कियों का अपना गिरोह होता है जो कि हर मामले में (पढ़ाई-लिखाई को छोड़कर) अपने को आगे रखने का प्रयत्न करते हैं। सनके क्रिया-कलातों तथा चमक-दमक से आकर्षित होकर कुछ अच्छे बच्चे भी उनके गिरोह में सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार नगरों में अपराधी समूहों का होना भी बाल-अपराध का एक उल्लेखनीय कारण है।

(८) नगरों का भोग-विलासपूर्ण जीवन तथा बाल-अपराध (Luxurious life of cities and delinquency) :—नगरों का जीवन भोग-विलासपूर्ण होता है। यहाँ पर केवल धन पर अधिकार होना ही पर्याप्त नहीं होता है बल्कि उसका बाहरी प्रकाश भी आवश्यक है। यह बाहरी ठाट-बाट बच्चों के मन को स्वतः ही



आकर्षित करता है और उनमें भी उसी प्रकार का जीवन बिताने की इच्छा दिन प्रतिदिन प्रबल होती जाती है। बच्चा जब स्कूल तथा कालेज में, मोहल्ले तथा शहर में इस भोग-विलासपूर्ण जीवन की अभिव्यक्तियाँ बारम्बार देखता रहता है तो वह भी भोग-विलास की चीजों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परन्तु अनेक बच्चों के लिये समाज द्वारा मान्य तरीकों से ऐसा करना सम्भव नहीं होता है। तब वह अवैध उपायों को अपनाता है और बाल-अपराधी बन जाता है। भोग-विलास-पूर्ण जीवन का एक दूसरे रूप में भी बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परिवार में सदस्य यदि भोग-विलासपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं तो इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि माता-पिता दोनों ही क्लब, पार्टी, सिनेमा, शराब आदि में इतने अधिक तल्लीन हैं कि उन्हें अपने बच्चों पर आवश्यक नियन्त्रण व निगरानी रखने की फुर्सत नहीं है और बच्चे मनमाने ढंग से कुछ भी करने में स्वतन्त्र हैं। इसका तात्पर्य यह भी है कि बच्चों को इच्छानुसार सिनेमा, चार दोस्तों आदि पर व्यय करने के लिये खूब पैसा मिल रहा है जिसके फलस्वरूप उनमें बुरी आदतें पनप रही हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में बच्चों के लिये बिगड़ जाने की सम्भावना बहुत अधिक होती है।

(६) नागरीकरण, शिथिल पारिवारिक नियन्त्रण तथा बाल-अपराध (Urbanization, weakening family control and delinquency) :— नगरों में व्यक्ति के लिये परिवार का महत्व कम होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहाँ परम्परागत रूप में निर्धारित परिवार के अनेक कार्यों को परिवार नहीं अपितु बाहरी समितियाँ करती हैं। उदाहरण के लिये नगरों में कपड़े धोने के लिये लाण्ड्रियाँ, रोगियों की सेवा के लिये अस्पताल, बच्चों की देख-रेख के लिये नर्सरी-होम, शिक्षा के लिये स्कूल और कालेज, कपड़ा सीने के लिये टेलरिंग हाउस, यहाँ तक कि खाने-पीने और जलपान की आवश्यकता की पूर्ति के लिए होटल और रेस्टोरेंट तथा मनोरंजन के लिए सिनेमा, थियेटर, क्लब इत्यादि होते हैं। स्वभावतः ही परिवार का महत्व उसके सदस्यों के लिए घट जाता है और परिवार उन पर आवश्यक नियन्त्रण नहीं रख पाता है। साथ ही, नगरों में परिवार के बड़े-बूढ़ों को परिवार से बाहर के काम-काजों में अधिक व्यस्त रहना पड़ता है। इस कारण वे बच्चों पर उचित नियन्त्रण नहीं कर पाते हैं। साथ ही, चूँकि बच्चे भी पढ़ने-लिखने, मनोरंजन आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए घर से बाहर रहते हैं। इस कारण भी परिवार का नियन्त्रण उन पर शिथिल ही होता है। इसके अतिरिक्त नगरों में संयुक्त परिवार का विघटन हो जाता है। इस कारण बच्चों की देख-रेख और उनमें सदगुणों का विकास उचित ढंग से नहीं हो पाता है। नगरों में इस शिथिल नियन्त्रण के कारण बाल-अपराध को प्रोत्साहन मिलता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि बाल-अपराध के जितने भी कारण हैं उसमें नागरीकरण सापेक्षिक रूप में अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि इस सम्बन्ध में

— यह है कि नागरीकरण स्वयं बाल-अपराध का एकमात्र कारण न भी हो



सकता है। क्योंकि नगर में हजारों ऐसे बच्चे तथा युवक रहते हैं जो कि बाल-अपराधी नहीं हैं। इसीलिए बाल-अपराध के कारक के रूप में बहुकारक दृष्टिकोण को अपनाना ही अधिक वैज्ञानिक होगा। आधारभूत रूप में बाल-अपराध वैयक्तिक तथा सामाजिक विघटन का ही परिणाम होता है। जिसका कि जन्म जटिल परिस्थितियों से हुआ करता है। हम इस निष्कर्ष को फिर से दोहरा सकते हैं कि बाल-अपराध कोई एक अकेला कारण नहीं है।

**क्या निम्न वर्ग के बच्चे अधिक अपराधी होते हैं ?**

(Is Lower-Class boys are more delinquents ? )

पुलिस तथा अदालत से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर यह पता चलता है कि निम्न वर्ग के बच्चे ही अधिक बाल-अपराधी होते हैं और इस आधार पर यह कहा जाता है कि बाल-अपराध का एक वर्गीय विभाजन (class distribution) होता है अर्थात् बाल अपराधियों की सबसे अधिक संख्या निम्न वर्ग में पाई जाती है। परन्तु आधुनिक अध्ययनों से यह स्पष्टतया पता चलता है कि वैज्ञानिक आधार पर इस प्रकार का कोई भी निष्कर्ष उचित नहीं है कि निम्न वर्ग के बच्चे ही अधिक अपराधी होते हैं। सर्व श्री वार्नर तथा लुन्ट (Warner and Lunt) के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि उच्च वर्ग के माता-पिता अपने बाल-अपराधी बच्चों को घन तथा सामाजिक स्थिति के आधार पर पुलिस तथा अदालत के हाथों से रक्षा करने में सफल होते हैं। श्री वाटेन वर्ग (Watten berg) का अध्ययन यह दर्शाता है कि बाल-अपराधियों की अधिक संख्या अच्छे मुहल्लों के अच्छे घरानों से सम्बन्धित होता है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि निम्न वर्ग के बच्चों को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के उतने अवसर प्राप्त नहीं होते हैं। जितना कि मध्यम वर्ग के बच्चों के होते हैं। दोनों प्रकार के वर्गों में बच्चों के समाजीकरण की प्रक्रिया अलग-अलग है और इसीलिए इन दोनों वर्गों में बाल-अपराधियों की संख्या भी एक समान नहीं होती है। प्रोफेसर एलवर्ट कोहेन (Albert Cohen) ने लिखा है कि मध्यम वर्ग में समाजीकरण की प्रक्रिया, निम्न वर्ग की तुलना में अधिक सचेत (Conscious), तार्किक (Rational), विचारपूर्ण (deliberate) तथा दावेदार (demanding) होती है। संयोग पर बहुत कम चीजों को छोड़ा जाता है। माता-पिता अपने बच्चों के सम्बन्ध में अधिक सोचते तथा चिन्तित रहते हैं और बच्चे भी इस सम्बन्ध में निरन्तर सचेत रहते हैं कि उनके माता-पिता उनसे 'क्या होने' और 'क्या बनने' की आशा करते हैं। माता-पिता बच्चों के पढ़ने और खेलने कूदने के सामानों को जुटाते हैं तथा उनके कार्य-कलापों व यार दोस्तों के सम्बन्ध में अधिक हचि रखते हैं और प्रत्येक कार्य के लिए एक निश्चित समय तथा स्थान को निश्चित करते हैं। इसके विपरीत निम्न वर्ग में बच्चों का समाजीकरण अपेक्षाकृत सरल होता है। बच्चे का कार्य-कलाप और पालन-पोषण माता-पिता की सुविधानुसार तथा घन की उपलब्धि पर निर्भर करता है। निम्न वर्ग के माता-



पिता जीविका पालन के कार्य में ही इतने ज्यादा व्यस्त रहने को बाध्य हो जाते हैं कि बच्चों पर उनका नियन्त्रण शिथिल ही रहता है। दिनभर के थकान के बाद उन्हें बच्चों के सम्बन्ध में अधिक दिलचस्पी रह भी नहीं जाती है। इतना ही नहीं निम्न वर्ग के माता-पिता जिस पर्यावरण में निवास करते हैं वह बच्चों के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए अनुकूल नहीं भी हो सकता है। ऐसे परिवार जिस मुहल में रहते हैं वहाँ की सामाजिक सांस्कृतिक दशायें बच्चों को अपराध के रास्ते में घसीट सकती है। निर्धनता बच्चों को स्कूल से छुटाकर अस्वस्थकर रोजगार में लगा सकता है। उन्हें गन्दी बस्तियों में रहने के लिए बाध्य कर सकती है। उसी प्रकार गरीब परिवार के लड़के की आवश्यकताओं की पूर्ति उचित ढंग से नहीं हो पाती है। आर्थिक मामलों को लेकर निर्धन परिवार के वयस्कों में जो लड़ाई-भगड़ा प्रायः होता रहता है उसका बहुत बुरा प्रभाव बच्चों के मस्तिष्क पर पड़ता है और उनमें अपर्याप्तता की भावना कटु होती जाती है। जिसे दूर करने के लिए वह अवैध तरीकों को भी अपना सकता है। इतना ही नहीं निम्न वर्ग के बच्चों को अपने माता-पिता की निम्न सामाजिक स्थिति का हिस्सेदार बनना पड़ता है और ऐसा करने में हो सकता है कि उसे लज्जा का अनुभव हो और अगर ऐसा होता है तो, जैसा कि मार्ग्रेट मीड (Margaret Mead) ने लिखा है, उसके सामने अनुकूलन की एक समस्या आ खड़ी होती है और यदि उसका अनुकूलन उचित ढंग से नहीं हो सका तो वह बाल-अपराधी बन जाता है।

### बाल-अपराध निरोध

#### (Prevention of Child Delinquency)

हमारे देश में बाल-अपराधियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। राष्ट्र के लिये यह चिन्ता का विषय है क्योंकि राष्ट्र का भविष्य अधिकाधिक उत्तर-दायी और सच्चरित्र नागरिकों पर ही निर्भर करता है। इस कारण बाल-अपराध को रोकने का प्रयत्न करना ही होगा। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि किन कारणों से बच्चे बिगड़ जाते हैं या अपराधी बनते हैं, और किस प्रकार उन्हें बिगड़ने से बचाया जा सकता है, इसकी जानकारी हम सबको होनी चाहिए। किन कारणों से बच्चे अपराधी बनते हैं, उनकी विवेचना हमने “अपराध तथा बाल-अपराध के कारणों” की विवेचना करते हुए की है। अब हम संक्षेप में यह बतायेगे कि बाल-अपराध की इस बढ़ती हुई संख्या को कैसे रोका जा सकता है।

(१) बच्चों का उचित ढंग से पालन-पोषण (Proper rearing of children) :—बाल-अपराध निरोध में परिवार का उत्तरदायित्व और महत्व अकथनीय है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि उसका लालन-पालन किस वातावरण में और किस प्रकार हुआ है। इसके लिये माता-पिता दोनों को ही बच्चों के लालन-पालन की कला (art of rearing children) से निपुण होना होगा और साथ ही बच्चे के सम्बन्ध में उन्हें एक मत



होना भी आवश्यक है। जहाँ तक सम्भव हो बच्चों का विकास स्वभाविक रूप से होना चाहिए। रातों-रात मार-पीट कर बच्चे को एक “आदर्श बच्चा” बनाने का प्रयत्न करने पर फल उल्टा ही होगा। बच्चे को स्वयं प्रयोग करने, गलतियाँ करने और फिर सुधारने और सीखने का अवसर देना चाहिए। प्रेम-पूर्वक उनसे अनुशासन का पालन कराना चाहिए। अगर बच्चे में कोई बुरी आदत पड़ गई है तो उसे एकदम न रोकना चाहिए, बल्कि बहुत धीरे-धीरे बच्चे को उससे दूर ले जाना ही उचित होगा। वातावरण के विपरीत कुछ सिखाने का प्रयत्न करना दुःप्रयत्न मात्र ही सिद्ध होगा। यदि माता-पिता यह चाहें कि उनके बच्चे शराब न पीयें तो आवश्यकता इस बात की है कि उस घर में शराब न आए अथवा कम से कम बालक को इस बात का ज्ञान न हो कि उसके घर में शराब पी जाती है। बालक में यदि कुछ अच्छी आदतें हों तो उनकी प्रशंसा भी करनी चाहिए। बच्चे के लाड़-दुलार में सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अगर बच्चा कोई अपराध करता है तो बाद में एकान्त में उसे समझा देना चाहिए, न कि जब उसे ज़िद्द चढ़ी हो उस समय उसे मारना-पीटना और भला-बुरा कहना चाहिए। ऐसा करने से बच्चे ढीठ हो जाते हैं। माता-पिता के लिए सबसे अधिक बुद्धिमानी का काम यही है कि वे जानें कि बच्चे को कब सजा और इनाम देना चाहिए क्योंकि यह जाने बिना बच्चों में अच्छी आदतें नहीं डाली जा सकती। लड़के-लड़कियों को दस-बारह वर्ष की आयु तक किसी भी बोझिल हाउस में न रखना चाहिए। इस आयु में घर ही सर्वोत्तम स्थान है। दो से चार वर्ष की आयु में सभी बच्चों में बहुत अधिक जिज्ञासा होती है और वे तरह-तरह के प्रश्न पूछते रहते हैं। उनकी उस जिज्ञासा को दबाना न चाहिए, बल्कि उनके प्रश्नों का उचित उत्तर देकर उनकी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए। माता-पिता को अपने बच्चों का पालन-पोषण और चरित्र-निर्माण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिए। उन्हें याद रखना होगा कि बच्चे उपदेश से कभी नहीं सीखते। वे प्रायः उपदेश की अवहेलना करते हैं, परन्तु उदाहरण से प्रेरणा लेते हैं; वे व्यवहार से सीखते हैं। जो माता-पिता स्वयं सच बोलते हैं केवल वे ही बच्चों को सच बोलना सिखा सकते हैं। यदि बच्चों को सुधारना है तो माता-पिता को स्वयं उसके लिए एक नमूना, एक उदाहरण, एक आदर्श बनना होगा।

(२) उचित शिक्षा (Proper Education)—बाल-अपराध को रोकने के लिए उचित शिक्षा का प्रसार अति आवश्यक है। जो कुछ बच्चा घर में सीखता है, उचित शिक्षा के द्वारा उसकी नींव और भी दृढ़ की जा सकती है। इस दृष्टि से केवल किताबी शिक्षा ही पर्याप्त न होगी, बल्कि बच्चों की सामाजिक शिक्षा देने की आवश्यकता है। दूसरों की सम्पत्ति और अधिकारों के प्रति आदर-भाव रखने की शिक्षा दी जानी चाहिए। साथ ही नैतिक शिक्षा की भी आवश्यकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना होगा कि सीधे ढंग से उपदेश देने पर बच्चे उन्हें ग्रहण न भी कर सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि उपदेशों को रोचक ढंग से छोटे



छोटे भाषण या कहानियों के माध्यम से बच्चों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। बच्चों के चरित्र-निर्माण के विषय में स्कूलों का उत्तरदायित्व परिवार से कम नहीं है। परन्तु स्कूल इस कर्तव्य का पालन तभी कर सकता है जब स्कूल के अधिकारीगण दो-तीन बातों का ध्यान रखें। प्रथम तो यह कि स्कूल में जो शिक्षक नियुक्त हों उन्हें बाल-मनोविज्ञान (Child Psychology) का पर्याप्त ज्ञान हो और वे अपने विषय को अच्छी तरह जानते हों। दूसरे, स्कूल का पाठ्यक्रम इतना विविध और इस प्रकार का हो कि वह बालकों की रुचि के अनुकूल हो। तीसरी आवश्यक बात यह है कि स्कूल में बच्चों के लिए खेल-कूद तथा अन्य मनोरंजन के साधन, पाठागार, कॉमन रूम (Common Room) आदि उपलब्ध होने चाहियें ताकि खाली घण्टों में बच्चों को सड़कों पर जाकर खड़े होने या आवारागर्दी करने का अवसर न मिले। चौथी आवश्यक बात यह है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण की उचित व्यवस्था होनी चाहिए और उसी के अनुसार बच्चे को कौन सा विषय पढ़ना है, निर्दिष्ट करना चाहिए। साथ ही जो पढ़ने-लिखने में अधिक कमजोर हैं उनका विशेष ध्यान रखना भी आवश्यक है। अगर इतना किया जाय तो बाल-अपराधियों की संख्या निस्सन्देह ही घटती जायेगी।

(३) मनोवैज्ञानिक क्लिनिक (Psychological Clinic) — डा० बर्ट (Burt) का मत है कि बाल-अपराध को रोकने के लिए मनोवैज्ञानिक अस्पतालों को खोलना ही होगा। इन अस्पतालों में बच्चों के मनोवैज्ञानिक या मानसिक दोषों को दूर किया जा सकेगा और इन अस्पतालों के विशेषज्ञ मानसिक संघर्ष या अशान्ति से पीड़ित बच्चों को उचित परामर्श देकर उनके मानसिक सन्तुलन को पुनः स्थापित करने में उनकी सहायता कर सकेंगे। इस प्रकार बाल-अपराध के लिए एक प्रमुख कारण को दूर करना सरल होगा।

(४) स्वस्थ मनोरंजन के साधन (Wholesome Means of Recreation) — बच्चे के समाजीकरण और नैतिक प्रशिक्षण (moral training) में खेल-कूद तथा मनोरंजन के अन्य साधनों के महत्व को स्वीकार किये बिना बाल-अपराधों को रोका नहीं जा सकता है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक नगर के हर मोहल्ले में सार्वजनिक बाल-पार्क हों और उनमें खेल-कूद की सभी सामग्रियाँ उपलब्ध हों। स्कूलों में भी इस प्रकार की व्यवस्था का होना आवश्यक है।

(५) अभ्यागत अध्यापक (Visiting Teacher) — प्रत्येक विद्यालय में अभ्यागत अध्यापक की नियुक्ति के द्वारा बाल-अपराधों को रोकने की चेष्टा विदेशों में बढ़ती जा रही है। इन अध्यापकों के माध्यम से घर और स्कूल में अच्छा सहयोग स्थापित हो सकेगा और इस प्रकार बच्चे के जीवन से सम्बन्धित ये दो महत्वपूर्ण संस्थायें एक दूसरे के अधिक निकट आ सकेंगी। ये अध्यापक समय-समय पर विद्यार्थियों के घर पर जाकर उनके घरेलू जीवन के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और माता-पिता को उनके बच्चों के स्कूल के जीवन के



## बाल अपराध

सम्बन्ध में अवगन करायेंगे और उनके साथ बैठकर बच्चों से सम्बन्धित समस्याओं का हल ढूँढ़ने का प्रयत्न करेंगे। इससे बच्चों को समझना तथा उन पर उचित ढंग से नियन्त्रण रखना सरल हो जायेगा।

(६) संयुक्त परिषद् (Co-ordinating Councils)—कुछ प्रगतिशील देशों में बाल-अपराधों को रोकने के लिये संयुक्त परिषदों का भी निर्माण किया जा रहा है। इस परिषद् का निर्माण किशोर न्यायालय, प्रवेशन विभाग, स्कूल, पुलिस विभाग, समाज कल्याण संस्थाएँ तथा अभिभावकों (guardians) के प्रतिनिधियों को लेकर होता है। इस परिषद् का प्रमुख कार्य व्यक्तिगत जीवन के अध्ययनों द्वारा बच्चों को अपराधी बनाने वाले कारकों को दूर करने के उपायों को सुझाना, घर के स्तर को उन्नत करना तथा सामुदायिक परिस्थितियों को सुधारने का प्रयत्न करना है।

(७) अन्य उपाय (Other Measures)—अन्य उपायों में सर्वप्रमुख यह है कि परिवारों को टूटने से रोकना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि रोमांस को रोका जाय तथा जीवन-साथी का चुनाव उचित ढंग से और विवेकपूर्वक हो। बच्चे का पालन-पोषण ठीक से होसके इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार की ओर से परिवार को आर्थिक सहायता (children allowance) प्राप्त हो। साथ ही, परिवार-नियोजन (Family Planning) को भी अपनाना होगा ताकि प्रत्येक परिवार में उतने ही बच्चे हों जितने का लालन-पालन ठीक से हो सके। प्रत्येक माता-पिता को बच्चों के लालन-पालन सम्बन्धी शिक्षा मिलनी चाहिए। यह याद रखना होगा कि बच्चों के व्यक्तित्व और चरित्र का स्वस्थ विकास तभी सम्भव है जब माता-पिता का आपसी सम्बन्ध मधुर और प्रेमपूर्ण हो। माता और पिता तो बच्चे के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली दो महत्वपूर्ण शक्तियाँ हैं— यदि उनमें ही आपस में तनाव (tension) रहा तो बच्चे के व्यक्तित्व या चरित्र का निर्माण भला कैसे हो सकता है? माताओं को जहाँ तक सम्भव हो घर से बाहर काम करने नहीं जाना चाहिए; बच्चों का ठीक से लालन-पालन करना उनका सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य होना चाहिये।

डा० एम० जे० सेथना (M. J. Sethna) ने बाल-अपराध में आदर्श-शिक्षा व्यवस्था के महत्व पर अत्यधिक बल दिया है। उनका कहना है कि आदर्श-शिक्षा व्यवस्था की कोई भी योजना बनाते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना परमावश्यक है।<sup>10</sup>

(अ) योग्य और प्रेरणा देने योग्य शिक्षकों को चाहिये कि वे अपनी देख रेख में रहने वाले छात्रों में आत्म-निरीक्षण (introspection) को उत्साहित करें। विद्यार्थियों को इस बात के लिये उत्साहित किया जाना चाहिये कि वे स्कूल और



घर में अपनी प्रगति पर विचार करने, अपने चरित्र का विश्लेषण करने, अपनी अच्छाई बुराई को समझने की आदत डालें जिससे कि वे स्वयं ही अपनी गलतियों को सुधारने के योग्य बन जायें। यह काम नाना प्रकार से किया जा सकता है।

जैसे कोई उपन्यास या नाटक पढ़ते समय एक विद्यार्थी को चाहिये कि वह उसके नायक आदि से अपनी तुलना करे और यह देखे कि उसके अपने व्यक्तित्व में क्या कमियाँ हैं।

(ब) नैतिक शिक्षकों को चाहिए कि वे छात्रों में स्वयं अपनी सहायता करने की आदत डलवायें और यह देखें कि स्कूल में हर समय छात्रों का व्यवहार सुन्दर और निर्दोष है।

(स) अभ्यागत अध्यापक के द्वारा छात्रों पर घर पर भी निगरानी रखने की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि माता पिता सहयोग दें तो अभ्यागत अध्यापक के माध्यम से घर और स्कूल के बीच एक बहुत अच्छा सहयोग स्थापित किया जा सकता है।

(द) स्कूल कालेजों में समय-समय पर परीक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए और यह परीक्षा केवल शारीरिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक भी होनी चाहिए जिससे शुरू में ही दोषों को दूर किया जा सके। शिशु-पथ-प्रदर्शन चिकित्सालय भी खोजे जाने चाहिए ताकि बच्चे गलत रास्ते पर न जा सकें।

श्री इलियट ने अनेक विधियाँ बताई हैं जिसके द्वारा स्कूल बाल-अपराध निरोध कर सकता है। वे विधियाँ इस प्रकार हैं—(१) शिक्षकों में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वे बच्चों के व्यक्तित्व में पनपने वाले उन लक्षणों को पहचान सकें जो उन्हें बाल अपराधी बना सकते हैं। (२) स्कूल का पाठ्यक्रम तथा कार्य कलाप इतना रोचक और आकर्षक बना देना चाहिए कि बच्चे कक्षा और स्कूल से भागने की आदतों को विकसित करने की बात सोच भी न सकें। (३) स्कूल को चाहिए कि वह बच्चों को उनके समुदाय के बारे में कुछ सामान्य ज्ञान करवायें जिससे कि समुदाय के बारे में जानने की उनकी इच्छा की पूर्ति हो जाय और उनमें सामुदायिक उत्तरदायित्व की भावना पनपे। (४) स्कूल को बच्चों के जीवन की समवेदनात्मक स्थिति से निरन्तर परिचित रहना चाहिए और उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए अक्सर बच्चा स्कूल में इसलिए अनुत्तीर्ण (Fail) होता है क्योंकि वह घर की परिस्थितियों से परेशान है, घर में तलाक या शराबी पिता के कारण चिन्तित है, आदि। स्कूल को चाहिए कि बच्चों की ऐसी समवेदनात्मक परिस्थितियों में उनकी यथासाध्य सहायता करें। (५) परेशानियों में पड़े हुए बच्चों की सहायता करने के लिए परामर्श देने की प्रभावपूर्ण योजना होनी चाहिए। इसके लिए अधिक वेतन प्राप्त और प्रशिक्षित शिक्षकों को रखने की आवश्यकता है। (६) जिन स्कूलों में इसी प्रकार की सुविधा बच्चों को नहीं दी जाती है वहाँ पर शिक्षकों को चाहिए कि परेशानी में फसे बच्चों को वे उपचार गृहों में भेजने का प्रबन्ध करें। (७) स्कूल को चाहिए कि वे बच्चों में ईमानदारी और सौजन्यता की आदतें डलवायें और जिम्मेदार नागरिकता की आवश्यकता पर जोर दें।



उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि बाल-अपराध को रोकने के लिए बच्चों का उचित ढंग से पालन-पोषण, उचित शिक्षा संस्थाओं में उचित शिक्षा, स्वस्थ मनोरंजन तथा सामुदायिक प्रयत्नों की आवश्यकता है जिनके बिना देश के भविष्य के नागरिकों को गलत रास्ते पर जाने से रोका नहीं जा सकता है।

## बाल-अपराधियों का सुधार

### (Reformation of Delinquents)

पहले प्रौढ़-अपराधियों और बाल-अपराधियों दोनों के ही साथ एकसा व्यवहार किया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि बाल-अपराधियों की समस्याएँ प्रौढ़ अपराधियों से पर्याप्त भिन्न हैं, इस कारण यदि इन दो प्रकार के अपराधियों को सुधारने के पृथक्-पृथक् उपायों को अपनाया न गया तो परिणाम उल्टा होगा। जैसे यदि बाल-अपराधियों को पेशेवर तथा पुराने अपराधियों के साथ ही जेल में रक्खा जाय तो उनकी संगत में बच्चे जो नहीं जानते हैं वह भी सीख जाते हैं और जेल के पक्के अपराधी बन कर निकलते हैं। इस कारण बाल-अपराधियों से सम्बन्धित सुधारात्मक संस्थाओं को प्रौढ़ों से सर्वथा भिन्न रूप से संगठित किया गया है। ये संस्थायें निम्न हैं:—

(१) किशोर न्यायालय (Juvenile court)—इसका संगठन और स्वरूप साधारण अदालतों से बिल्कुल भिन्न होता है। इस न्यायालय का उद्देश्य दण्ड देना नहीं, बल्कि वैज्ञानिक ढंग से यह जानना होता है कि किन कारणों से बालक ने अपराध किया है और उसे सुधारने का सर्वोत्तम उपाय क्या हो सकता है। इस कारण किशोर न्यायालय में साधारण जज और जूरी के स्थान में चिकित्सक, मनोविश्लेषक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री आदि होते हैं। इसका अध्यक्ष एक वेतन प्राप्त मजिस्ट्रेट होता है जो कि एक अथवा दो अवैतनिक (Honorary) स्त्री-मजिस्ट्रेट की सहायता से कार्य करता है। किशोर न्यायालय में 'मुकदमा' नहीं चलता, बल्कि अधिकतर बालक की बात सुनी जाती है। बाल-अपराधी न तो बाँध कर लाये जाते हैं और न ही उन्हें हथकड़ी लगाई जाती है। पुलिस के लोग भी सादी पोशाक में आते हैं जिससे कि बच्चे के दिल में अपराधी होने की छाप न पड़ सके। बालक की बात को बहुत ही सहानुभूति से सुना जाता है और सारी परिस्थितियों का बड़े ध्यान से अध्ययन किया जाता है और उसी के आधार पर उसे सुधारने के लिये आवश्यक कदम उठाया जाता है। दोषी पाये जाने पर बाल-अपराधी को या तो माता-पिता के सुपुर्द कर दिया जाता है, या प्रोबेशन अधिकारी की देख-रेख में छोड़ दिया जाता है या सुधार-गृह में भेज दिया जाता है। इस प्रकार किशोर न्यायालय बाल-अपराध के कारणों का पता लगा कर तथा उसके सुधारने के लिये किस प्रकार का कदम उठाया जाय इसे निश्चित करके बाल-अपराधियों के सुधार कार्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण योग देता है।

(२) प्रोबेशन (Probation)—बाल-अपराधियों को सुधारने की दूसरी



संस्था प्रोवेशन प्रणाली है। प्रगतिशील देशों में इसका प्रचलन दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। प्रोवेशन अधिकारी के संरक्षण में रखकर बच्चों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। इन प्रोवेशन अधिकारियों को बाल-मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान होता है। इस कारण वे बाल-अपराधियों की समस्याओं को अच्छी तरह समझ पाते हैं और उनके साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करके उन्हें सही रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते हैं। प्रोवेशन अधिकारी बाल-अपराधी के लिए अच्छे मित्रों को ढूँढते हैं और आवश्यकता होने पर उसे अनैतिक पड़ोस या परिवार से दूर हटाकर स्वस्थ परिस्थितियों में रखते हैं। संक्षेप में, प्रोवेशन प्रणाली के अन्तर्गत बाल-अपराधियों को हर सम्भव उपाय से समाज का सुन्दर नागरिक बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

(३) सुधार-गृह (Reformatories)—बाल-अपराधियों को सुधार-गृहों में भी रखकर सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। इन सुधार-गृहों में सामान्य शिक्षा, शारीरिक तथा नैतिक शिक्षा के साथ-साथ नाना प्रकार के औद्योगिक प्रशिक्षण देने का भी प्रवन्ध होता है जिससे बालक को अपने पैरों पर खड़े होने में सरलता हो और वे अपनी जीविका ईमानदारी से कमा सकें।

(४) बोस्टल संस्था (Borstal Institution):—यह एक ऐसी सुधारक संस्था है जहाँ सामान्यतया १५ और २१ वर्ष के अपराधियों को इस प्रकार की अनुशासन-युक्त परिस्थितियों में रखा जाता है जो कि उनको सुधारने में सहायक सिद्ध हो सके। इन संस्थाओं में भी सुधार-गृहों की भाँति अपराधियों को नाना प्रकार के काम सिखाये जाते हैं और साथ ही सामान्य शिक्षा, शारीरिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा, मनोरंजन आदि की भी व्यवस्था रहती है। यहाँ के शिक्षक अत्यन्त कुशल होते हैं और वे हर प्रकार से यह प्रयत्न करते हैं कि बाल-अपराधियों पर इस प्रकार के प्रभावों को डाला जाय कि वे संस्था से निकलने के पश्चात् अच्छे नागरिक बन सकें।

**भारत वर्ष में बाल-अपराधियों का सुधार:**

(Reformation of Delinquents in India)

भारतवर्ष में सरकारी तौर पर बाल-अपराध सुधार आन्दोलन १८५० में आरम्भ हुआ था जबकि शिक्षार्थी अधिनियम, १८५० (The Apprentices Act, 1850) पास हुआ। इस कानून के अनुसार १० से १८ वर्ष के बालकों को ७ वर्ष के लिए कोई उद्योग सीखने के उद्देश्य से कहीं भी अनुबन्ध के रूप में इनके माता-पिता रख सकते थे। यह अधिनियम उन उद्योग के मालिकों और उनके बाल-श्रमिकों के सम्बन्धों पर नियन्त्रण करता है। इस अधिनियम को १९३३ के 'बालक (श्रम-अनुबन्ध) अधिनियम' (The Children pledging of Labour Act, 1933) के द्वारा रद्द कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार कोई भी ऐसा समझौता, चाहे वह लिखित हो या अलिखित, अवैध होगा जिसके अन्तर्गत किसी बालक के माता-पिता या उसके संरक्षक किसी लाभ या धन के बदले में उस बालक की सेवा या श्रम को किसी भी रोजगार में उपयोग करने की अनुमति देकर उसके श्रम को मालिक के



पास गिरवी रख देंगे। इस अधिनियम के अनुसार उनको बालक माना जायेगा जिनकी आयु १५ वर्ष से कम है। इसके बाद 'बाल रोजगार अधिनियम' (The Employment of Children Act, 1938) पार किया गया जिसके अनुसार व्यवसायों में १५ वर्ष से कम आयु के बालकों को कार्य पर लगाने का निषेध किया गया है। इस प्रकार बाल-अपराधियों को कानूनी सुरक्षा प्रदान करके उनकी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि इसे बाल-अपराधियों को सुधारने का प्रत्यक्ष प्रयत्न नहीं कहा जा सकता है, फिर भी इसके द्वारा उन्हें सुधारने के लिए एक आवश्यक पृष्ठ-भूमि अवश्य ही प्राप्त हो जाती है।

(१) सुधार-गृह:—सन् १८६७ में 'भारतीय सुधार-गृह अधिनियम' (Indian Reformatory Schools Act, 1897) पार हुआ जो कि बाल-अपराधियों, को सुधारने की दिशा में सबसे पहला कदम था। इस अधिनियम के अनुसार न्यायालयों को यह अधिकार दिया गया कि बम्बई राज्य में १६ वर्ष से कम आयु के बाल-अपराधियों को तथा अन्य राज्यों में १५ वर्ष से कम आयु के बाल-अपराधियों को कारावास न देकर सुधार-गृहों में भेजने की व्यवस्था की जाय। इस अधिनियम में इस बात की भी व्यवस्था है कि १८ वर्ष से अधिक आयु के बालकों को सुधारगृहों में नहीं रखा जायेगा और १४ वर्ष से अधिक आयु के बाल-अपराधियों को उचित व्यवसाय दिलाने में मदद की जायेगी। सन् १८५७ का यह अधिनियम बाल-अपराध सुधार आन्दोलन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अधिनियम माना जाता है। यह अधिनियम बाल-अपराधियों को एक विशिष्ट श्रेणी के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करता है। इसके अनुसार बाल-अपराधी कोई ऐसा किशोर है जोकि ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराया गया है जिसका दण्ड कारावास अथवा देश से निर्वासन है और जिसकी आयु उस समय १५ वर्ष से अधिक नहीं है। इस अधिनियम के अनुसार राज्य सरकार ऐसे सुधारगृहों या स्कूलों को स्थापित कर सकती है जिसकी स्वीकृति यह अधिनियम देती है। ऐसी संस्थाओं में निम्नलिखित प्रबन्ध होना आवश्यक है—(अ) स्कूल में रहने वालों के लिए रात में अलग व्यवस्था; (ब) वहाँ के लड़कों के लिये खेल, भोजन, वस्त्र, विस्तर और स्वच्छता का उचित प्रबन्ध; (स) औद्योगिक शिक्षा देने के लिए उचित व्यवस्था, और (द) रोगियों की चिकित्सा के लिए एक चिकित्सालय।

भारतवर्ष में इस प्रकार के अनेक सुधार गृह अब तक खोले गये हैं। बम्बई में डेविड सेन्स औद्योगिक स्कूल, पूना में यवदा औद्योगिक स्कूल, सतारा में श्री साहू छत्रपति बोर्डिंग हाउस, नासिक में सेवा सदन, दिल्ली में दिल्ली सुधार गृह आदि इस दिशा में सहायकीय कार्य कर रहे हैं। पूर्वी-हिन्दुस्तान में एक सुधार गृह है जो कि पूर्वी बंगाल, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश राज्यों के लिये सामान्य है। हजारी बाग में जो सुधार गृह है वह पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा के राज्यों के लिए सामान्य है। जबलपुर में भी एक सुधार गृह है जो कि अदालत द्वारा दण्डित अपराधियों के सुधार का कार्य करता है। उत्तर प्रदेश में लखनऊ तथा बरेली में इस



प्रकार के सरकारी सुधार गृह खोले गये हैं ।

**किशोर सदन, बरेली :**—भारतवर्ष में राज्य सरकार द्वारा स्थापित सुधार गृहों में उत्तर प्रदेश के बरेली नगर में स्थापित किशोर सदन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । यह बरेली के इज्जत नगर मोहल्ले में १८८७-८८ में महिला कारागार (female prison) के रूप में व्यवहार में लाने के लिए बनाया गया था । पर इसे उस रूप में कभी काम में नहीं लगाया गया था । इसे बाल-अपराधियों के लिये सुधार गृह के रूप में ही व्यवहार किया गया । पहले-पहल इसका नाम 'किशोर कारागार' (Juvenile Jail) था । इस संस्था में सुधार का काम १९३६ में आरम्भ किया गया था । इसके पश्चात् इसका नाम 'किशोर कारागार' से बदल कर किशोर सदन कर दिया गया । इस संस्था में बाल-अपराधियों के रहने के लिये पाँच भवन—प्रताप भवन, हर्ष-भवन, अशोक-भवन, शिवाजी-भवन तथा गाँधी-भवन हैं । इनमें १६८ बाल-अपराधियों के रहने का स्थान है । प्रत्येक भवन में एक-एक बाल-अपराधी के रहने के लिये पृथक् कमरे हैं । इस संस्था में अपना एक स्कूल तथा अस्पताल है । साथ ही साथ बच्चों के मनोरंजन के लिये एक ड्रामा हॉल (Drama Hall) है । बच्चों को नाना प्रकार के खेल खिलवाने के लिये किशोर सदन के अन्दर ही एक बहुत बड़ा खेल का मैदान है । इसमें अखाड़ा भी है । बच्चों को विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में प्रशिक्षित करने के लिये सिलाई, बुनाई, बढ़ई गिरी, छापाखाना, जूते बनाने तथा खिलौने बनाने के अलग-अलग विभाग हैं । इसके अतिरिक्त खाली समय में रचनात्मक काम करने के लिये एक अलग कमरा है । पुस्तकालय तथा वाचनालय की व्यवस्था भी किशोर सदन में है जिससे कि बच्चों के खाली समय का सदुपयोग, मनोरंजन तथा बौद्धिक प्रगति उचित ढंग से हो सके ।

किशोर सदन को संचालित करने का उत्तरदायित्व योग्य तथा अनुभवी अधिकारियों पर है जो कि बाल-अपराधियों की समस्या, मनोविज्ञान तथा आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझते हैं और उन्हें हल करने के लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं । सेन्ट्रल-जेल (जोकि किशोर सदन की वगल में ही स्थापित है) सुपरिन्टेण्डेंट (Superintendent) श्री पाठक लालता प्रसाद चतुर्वेदी किशोर सदन के भी सुपरिन्टेण्डेंट हैं । आप एक सुयोग्य, सहानुभूतिशील, सदा-हँसमुख जेल अधिकारी ही नहीं बल्कि समाजशास्त्र के एक गम्भीर विद्यार्थी भी हैं । आपके सुयोग्य निदेशन में किशोर सदन का सुधारवादी कार्यक्रम सफलतापूर्वक दिन प्रतिदिन प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता जा रहा है । आपके अलावा दो डिप्टी जेलर, दो सहायक जेलर (Assistant Jailors), एक मेडिकल आफिसर, चार प्रशिक्षित अध्यापक, विभिन्न उद्योगों को सिखलाने वाले प्रशिक्षक तथा योग्य वार्डन किशोर सदन के सुधारात्मक कार्यक्रम में अपना योगदान करते हैं ।

किशोर सदन के बच्चों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना (healthy spirit of competition) को विकसित करने के हेतु यहाँ 'हाउस सिस्टम' (House system) को लागू किया गया है । बच्चों को उनकी आयु, योग्यता तथा प्रवृत्तियों



के आधार पर एक-एक 'हाउस' में बाँट दिया जाता है। जिस 'हाउस' के सदस्य एक माह में एक निश्चित संख्या से अधिक अपराध करता है, उस 'हाउस' पर पंचायत एक काना-झण्डा लगवा देती है और उसकी स्थिति गिर जाती है। इस कारण प्रत्येक 'हाउस' के सदस्य यह प्रयत्न करते हैं कि उनका व्यवहार अधिक से अधिक उत्तम हो। प्रत्येक हाउस की एक पंचायत होती है जिसमें चार सदस्य होते हैं। इन चार सदस्यों में सबसे उच्च स्थान 'सीनियर' (Senior) का होता है। यह पंचायत प्रत्येक 'हाउस' से सम्बन्धित विषयों की देख-रेख करती है।

पूरे किशोर सदन की भी अपनी एक निर्वाचित 'पंचायत' होती है और इस पंचायत में सभी बच्चे भाग लेते हैं। इसमें पाँच पंच होते हैं। इन पंचों में से एक सरपंच चुना जाता है। पंचायत को किशोर सदन से सम्बन्धित कुछ प्रशासनिक (Administrative) तथा न्यायिक (Judicial) अधिकार प्राप्त हैं जिससे कि बाल-अपराधियों के उत्तरदायित्व को समझने, अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाने तथा उचित नेतृत्व को विकसित करने की शिक्षा प्राप्त होनी रहे।

जिससे कि किशोर सदन के बच्चों को अपने रोज की आवश्यकता की चीजों को खरीदने में कठिनाई न हो, इस उद्देश्य से बच्चों के द्वारा ही संचालित एक सह-कारी कैन्टीन (Cooperative Canteen) की भी व्यवस्था किशोर सदन में है। यहाँ उन्हें सस्ती चीजें ही नहीं मिलती हैं, बल्कि कैन्टीन से प्राप्त लाभ में भी उन बच्चों का हिस्सा होता है जो इसके साझेदार (share holders) हैं। इसके अतिरिक्त, सहकारिता के आधार पर काम करने की भावना भी उनमें पनपती है।

सन् १९४१ में किशोर सदन में एक बाजा दल (Band Party) भी प्रारम्भ किया गया था जो कि अब शहर का एक उच्च कोटि का बाजा दल माना जाता है। इस दल को सामाजिक उत्सव, बरात आदि में बाजा बजाने के लिए शहर के लोग बुलाते हैं। ऐसे लोगों से एक निश्चित धन लिया जाता है।

किशोर सदन से छूटने के बाद जिनमें बच्चे अपने को किसी लाभप्रद पेशे में लगा सकें इस उद्देश्य से उपरोक्त उद्योगों में बच्चों को प्रशिक्षित किया जाता है। कुछ किशोरों को तो शहर के अन्य कारखानों में काम करने के लिए किशोर सदन से बाहर जाने की भी आज्ञा दी जाती है।

किशोर सदन का अपना एक स्कूल है पर जो बच्चे उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें शहर के कालेजों में भी पढ़ने की आज्ञा दी जाती है और उसके लिए आवश्यक सुविधायें भी प्रदान की जाती हैं।

औद्योगिक तथा सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त नैतिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था किशोर सदन में है। जो बच्चे किशोर सदन में या संस्था से बाहर किसी कारखाने में काम करते हैं उनके वेतन से कुछ कटौती करके एक किशोर फण्ड सन् १९४४ में चालू किया गया था। इस कोष (fund) से बच्चों को किशोर सदन से छुटकारा पाने के बाद अपने को बसाने के लिए आवश्यक सहायता प्रदान की जाती है। किशोर सदन में एक निश्चित अवधि तक रह लेने के बाद जब बच्चे को छोड़ दिया



जाता है, तब भी बहुत से बच्चे या तो घर लौटना नहीं चाहते हैं या लौटने के लिए घर उनका होता ही नहीं है। ऐसी अवस्था में यह सुधारात्मक संस्था उनके लिए आवश्यक नौकरी आदि दिलवाने की व्यवस्था करती है ताकि वे अपने जीवन में एक अच्छे नागरिक बन सकें। जो लोग घर लौटते हैं, उनके सम्बन्ध में भी बीच-बीच में खबर ली जाती है और अगर उनकी कोई समस्या है तो उसे सुलझाने में सहायता की जाती है। जिन बच्चों को किशोर सदन से छूटने के बाद शहर में ही नौकरी मिल जाती है और जिनके पास रहने की कोई व्यवस्था नहीं है, उनके रहने के लिए भी किशोर सदन में आवश्यक प्रबन्ध है।

इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक बाल-अपराधियों की समस्याओं को समझ कर, सहानुभूति और अनुभव के आधार पर उन्हें सुलझाकर तथा बच्चों की बुरी आदतों को तोड़कर उनमें सदगुणों का विकास करके बाल-अपराधियों के सुधार कार्य में किशोर सदन अपना महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है।

(२) बोस्टल स्कूल :—भारतवर्ष में उपरोक्त सुधार गृह अधिनियम के अतिरिक्त बोस्टल स्कूल अधिनियम (Borstal School Act) भी कई राज्यों के द्वारा सन् १९२१ के पश्चात् पास किये गये हैं। इस अधिनियम के अनुसार १५ और २१ वर्ष के बीच के किशोर अपराधियों को एक सुधारात्मक संस्था (बोस्टल स्कूल) में रखने की व्याख्या की जाती है। यह अधिनियम मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बम्बई, मैसूर तथा द्रावनकोर सरकार द्वारा पास किया गया है। इन बोस्टल स्कूलों में अपराधियों को एक निश्चित अवधि के लिए रखकर उन्हें आधुनिकतम उपायों से सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। यहाँ उन्हें ऐसे वातावरण में रखा जाता है और उनको इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि उनकी बुरी आदतें छूट जायें, वे इमानदारी से अपनी जीविका उपार्जन करने के योग्य बन जायें, तथा एक अच्छे नागरिक के रूप में देश की प्रगति में हाथ बँटा सकें।

(अ) बाल अधिनियम :—सन् १९२० के पश्चात् बाल-अपराध के सुधार के लिए राज्य सरकारों ने जिन अधिनियमों को पास किया उनमें 'बोस्टल स्कूल अधिनियम, के अतिरिक्त 'बाल-अधिनियम' (Children Act) का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार का अधिनियम सबसे पहले सन् १९२० में मद्रास में (Madras children Act) पास हुआ। इसके पश्चात् बंगाल और बम्बई में बाल अधिनियम क्रमशः सन् १९२२ और १९२४ में पास हुए। बाल अधिनियम वास्तव में सुधार गृह अधिनियम (Reformatory Schools Act) के ही विस्तृत रूप थे। इस बाल अधिनियमों के अन्तर्गत केवल बाल अपराधियों पर ही नियन्त्रण और उनके सुधार का प्रबन्ध न था, बल्कि साधनहीन, निराश्रित बालकों की रक्षा, सुधार और पुनर्वास का भी प्रबन्ध था। बाल-अपराधियों पर मुकदमें चलाकर उनके अपराध का फैसला किया जाता था और फिर उन्हें जूनियर या सीनियर सर्टिफाइड स्कूल (Junior or Senior Certified School) में रख दिये जाते थे। आज इस प्रकार का बाल अधिनियम आन्ध्र प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी



बंगाल, पंजाब, मैसूर और केरल में लागू है। मद्रास और बम्बई राज्यों के बाल अधिनियमों के अन्तर्गत न्यायालयों को यह अधिकार दे दिया गया है कि वे अपराधियों को प्रोबेशन अधिकारी (Probation Officer) के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की संरक्षता में भी छोड़ सकते हैं। दिल्ली में 'बम्बई बाल अधिनियम, १९३८ (The Bombay Children Act, 1938) लागू है। इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्न-लिखित कार्यों को अपराध माना गया है—(क) बच्चे को बुरी तरह मारना, उसके साथ दुर्व्यवहार करना, उसके प्रति लापरवाही दिखाना अथवा उसे त्यागना; (ख) उचित भोजन, वस्त्र, दवा अथवा रहने का स्थान देने में बच्चे के साथ लापरवाही करना जिससे बच्चे को मानसिक और शारीरिक कष्ट हो; (ग) किसी बच्चे को भीख माँगने के लिए नौकर रखना या उस कार्य के लिए प्रेरित करना; (घ) ग्राम स्थान पर अथवा सार्वजनिक स्थान पर बच्चे को साथ लेकर मद्यपान करना; और (ङ) किसी सार्वजनिक स्थान पर बच्चे को कोई नशीली वस्तु देना।

(ब) बाल धूम्रपान अधिनियम :—बाल अधिनियमों के अतिरिक्त राज्य सरकारों ने बालकों को समाज-विरोधी कार्यों या हानिकारक आदतों से दूर रखने के लिए भी अधिनियम बनाये हैं। उनमें 'बाल-धूम्रपान अधिनियम' (Juvenile Smoking Act) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार का अधिनियम आसाम, मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, पंजाब, मैसूर और राजस्थान में लागू है। इस अधिनियम के अनुसार पुलिस किसी बच्चे को सार्वजनिक स्थान में धूम्रपान करते हुए देखकर उससे धूम्रवस्तु को छीन सकती है।

(स) प्रोबेशन अधिनियम :—कुछ राज्यों में 'प्रोबेशन अधिनियम' (Probation Act) भी पास किये गये हैं जिसके अन्तर्गत अपराध प्रमाणित होने पर दण्ड को स्थगित करके अपराधी को जेल भेजने के बजाय एक प्रोबेशन अधिकारी के संरक्षण में रखकर उसे सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५८ में 'अपराधियों का प्रोबेशन अधिनियम' (Probation of Offenders Act) पास किया है जो सभी राज्यों में धीरे-धीरे लागू हो रहा है। यह अधिनियम केवल १६ वर्ष की आयु तक के ही बाल-अपराधियों को सुधारने के लिए आवश्यक प्रबन्ध नहीं करता बल्कि इस आयु से अधिक उम्र के अपराधियों पर भी लागू होता है। इसके विषय में हम अगले एक अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

**निष्कर्ष**

(Conclusion)

आज अन्य प्रगतिशील देशों की भाँति भारत में भी बाल-अपराधियों की संख्या को घटाने के लिए अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं, पर वास्तविक आवश्यकताओं को देखते हुए वे सब प्रयत्न न के बराबर हैं। इस ओर हम सबको और कहीं अधिक प्रयत्नशील होना होगा क्योंकि आज का बालक ही राष्ट्र का भावी कर्णधार है। अगर वे ही भ्रष्ट और अपराधी हुए तो राष्ट्र का कल्याण कदापि सम्भव नहीं। इसलिए राष्ट्र तथा समाज की उन्नति एवं कल्याण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कल



का नागरिक बनने वाला आज का बालक ईमानदार और सचरित्र हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम सबको एक साथ मिलकर बाल-अपराध को रोकने तथा बाल-अपराधियों को सुधारने के लिए ठोस कदम उठाना होगा। आज हमें सर्व प्रकार से इस भ्रान्त धारणा से मुक्त होना होगा कि अपराधी-प्रवृत्ति जन्मजात होती है और अपराधियों को सुधारा नहीं जा सकता। श्री रूसो ने उचित कहा है कि “कोई व्यक्ति बन्म से बुरा नहीं होता; हम ही उसे आगे चलकर बुरा बना देते हैं; उसके अन्दर बुरी आदतों को लाने की जिम्मेदारी हमारी ही है।” अतः उन बुरी आदतों से उसे विमुक्त करने की जिम्मेदारी भी हम ही को लेनी होगी।

—: • :—



पन्ना बाई के यहाँ आज रात मजलिस खूब जमकर बैठी है। आज महेशगढ़ के राजकुमार सदल आये हुए हैं। इसीलिए आज की महफ़िल मजेदार ही होगी। पातर के पैर का पायल आज कितनों को ही पागल करेगा और उस पायल के भँकार के साथ पुलकित राजकुमार पुरस्कृत करेंगे नोटों की नौकरानी पन्ना बाई को। पन्न-बाई भी जानती है कि कुमार साहब को और वैसे ही कितने ही अन्य कुमारों को पन्ना-बाई से कोई लगाव, कोई प्रेम नहीं है, प्रेम है पन्ना-बाई के रूप और यौवन से, शरीर और सहवास से, साज और आवाज से, नपुर और नृत्य से। इसीलिए पन्ना बाई भी पैसे को ही पहचानती है, पैसे के लिए ही प्रेम का नाटक खेलती है, पायल को पैरों में पहनती है, शरीर को अन्य पुरुषों की कामाग्नि में डालकर जलाती रहती है— निर्विकार, निर्विरोध तथा निर्विवाद। पहले-पहल कुछ संकोच सा होता था इन पागल पुरुषों को पथ-भ्रष्ट करने में, दवादी के व्यापार में उन्हें व्याधित करने में, प्रतारणापूर्ण प्रेम के सम्बन्ध में प्रतिक्षण झूठी कसमें खाने में और पैसे के लिए बिना भेद-भाव के पुरुषों के बाजार में बिक जाने में— शरीर और शीलता को, नाज और नारीत्व को, राग और रागनी को बेच देने में। पर अब पन्ना बाई पथरा गई हैं—बीते हुए एक दिन जिसकी सुन्दरता, पवित्रता व परिशुद्धता को देखकर माता-पिता ने प्यार से नाम रक्खा था 'प्रतिमा', वही प्रांजल, प्राणवन्त प्रतिमा आज पथरा गयी है— प्रतिमा पन्ना बाई बन गयी है। बड़े प्यार से पाला था माता, पिता ने अपनी दुलारी दुहिता को। अच्छा घर और बर देखकर ढेरों दहेज के साथ लड़की को विदा किया था घर से। उस दिन माता-पिता के साथ प्रतिमा भी खूब रोई थी, रो-रो कर आँखों को फुला लिया था। पर उस दिन क्या पता था कि उसके जीवन के रोने के 'इतिहास' का वह प्रथम पृष्ठ था— केवल भूमिका थी सुहागवती को भोगवती बनाने की, खिले हुए फूल को निर्दयता से कुचल देने की माता-पिता की मणिका को गणिका बनाने की। माँ के महल से विदा लेते समय प्रतिमा को यह सब कुछ भी पता न था। पता चला सुहाग-रात में उस समय जब शराब में चूर होकर पति-देवता प्रतिमा के कमरे में पधारे। उसी दिन से बिनाश का बीजारोपण हुआ। भविष्य का सब सुन्दर सपना सहम गया, सहगामी हुआ पति का अत्याचार और आँखों के आँसू। यह भी सहन था प्रतिमा को। पर उस दिन वह स्तब्ध हो गयी जिस दिन उसे यह पता चला कि घुड़दौड़ में उसके पति सर्वस्व गंवाकर घर लौटे हैं। उस दिन प्रतिमा बहुत रोयी थी। सर्वस्व खोने के कारण नहीं, अपने पति के पतन की चिन्ता करके। पर उस समय उससे भी गम्भीर



पतन उसके लिए अपेक्षा कर रही थी। पति ने सब खोकर फिर सब कुछ पाने की आशा से जुआ खेलना प्रारम्भ किया और उसके लिए रसद जुटाना पड़ता था प्रतिमा को ही अपने शरीर के एक-एक अंग के आभूषण को उतार कर पति के हवाले करके। जिस दिन उसने इन्कार किया उस दिन उसके भाग्य में जुटा निर्दयतापूर्ण प्रहार। जुए ने कुछ दिया नहीं, ले गया सब कुछ—सोना, सोभाग्य, सुख और शान्ति। शराबी की शराब बढ़ी और उसके साथ प्रतिमा पर अमानुषिक अत्याचार भी। पर चरम अत्याचार तो उस दिन हुआ जिन जुए में पति देवता दासी प्रतिमा को भी दाँव में लगाकर हार गये और हार कर पति होकर भी पत्नी को दूसरों के हवाले कर दिया। उसी दिन से घर छूटा घरवाली का, प्रतिमा का प्यार घृणा में बदल गया, समस्त पुरुष जाति के प्रति असीम घृणा-भाव ने प्रतिमा की समस्त कोमलता को हर लिया। पुरुष को पत्थर समझकर प्रतिमा उस पत्थर से टकराने के लिए स्वयं भी पथरा गयी—प्रतिमा पन्ना बाई बन गयी। हंसती, डठलाती पन्ना बाई, प्रेम का नाटक खेलने वाली पन्ना बाई, पुरुष के जीवन में विष घोलकर उसे पग-पग परपतन की ओर ढकेल कर मन ही मन निगूँर हँसी, हँसने वाली पन्ना बाई आज दिल खोल-कर बदला ले रही है पुरुष जाति से—उसे घर से रास्ते में ला खड़े करने वाले पुरुषों से, उसे एक छोटा, स्वस्थ परिवार बसाने के अधिकार से वंचित करने वाले पुरुषों से, पुरुषों द्वारा शासित समाज से, यहाँ तक कि अपने रूप और यौवन से भी बदला ले रही है पन्ना बाई—उन्हें बाजार में बेचकर, उन्हें पैसे के बदले में लुटा कर और सच्चे प्रेम, प्यार व सहानुभूति के लिए उन्हें हर पल तरसा कर। यही निगूँर नारी की कहानी है—जिसे समाज 'वेश्यावृत्ति' कहता है। यही नारी की प्रकृति नहीं, विकृति है और यह अध्याय उसी विकृत नारी का विश्लेषण है।

### वेश्यावृत्ति का अर्थ तथा परिभाषा

(Meaning and definition of Prostitution)

“यद्यपि वेश्यावृत्ति का प्रारम्भ एक रहस्यपूर्ण बात है, फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि यह एक अति पुरातन बुराई है। जब से आदमी समूह में रहा है। तब से यह बुराई सदैव एवं प्रत्येक स्थान पर रही है।” इसका तात्पर्य यही है कि वेश्यावृत्ति का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मानव के सामूहिक जीवन का इतिहास। यह सभ्यता के प्रत्येक स्तर पर तथा प्रत्येक समाज में विद्यमान रही है। इसीलिए कुछ समाजशास्त्री तथा समाज मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि वेश्यावृत्ति भी एक प्रकार की सामाजिक आवश्यकता है और यह इस बात का प्रमाण है कि अन्य पशुओं की भाँति मनुष्य में भी प्रबल यौन-इच्छा होती है और उस इच्छा की पूर्ति के लिए वह वैवाहिक सम्बन्ध के बाहर भी अन्य साधनों को ढूँढ़ता है। इसके दुष्परिणामों को लोग बिलकुल नहीं जानते या समझते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है, फिर भी लोग इस पथ के पथिक होने से अपने को रोक नहीं पाते हैं। यही कारण है कि वर्तमान काल में जिन राज्यों में कानून बनाकर वेश्या-



वृत्ति को दूर करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ भी इसमें आशानुरूप सफलता नहीं मिल सकी है। फिर भी इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह यौन-इच्छा की पूर्ति का एक विकृत साधन है और केवल व्यक्तिगत ही नहीं सामाजिक विघटन की भी अभिव्यक्ति है। वेश्यावृत्ति वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में विष घोलता है और नैतिक पतन का कारण बनता है। पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम वेश्यावृत्ति के अर्थ को समझ लें।

सर्व श्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) के अनुसार, “वेश्या-वृत्ति एक भेद रहित और धन के लिए स्थापित किया गया अवैध यौन-सम्बन्ध है जिसमें उद्वेगात्मक उदासीनता होती है।”<sup>1</sup>

श्री जी० स्काट (G. R. Scott) ने वेश्या की परिभाषा इस प्रकार दी है, “एक व्यक्ति (पुरुष अथवा स्त्री) जो किसी प्रकार की (आर्थिक अथवा किसी अन्य प्रकार की) आय के लिए अथवा और किसी प्रकार के व्यक्तिगत संतोष के लिए, पूर्ण समय अथवा आंशिक-समय के व्यवसाय के रूप में, बहुत से व्यक्तियों के साथ, जो उसी लिंग के अथवा दूसरे लिंग के हों, सामान्य अथवा असामान्य यौन-सम्बन्ध स्थापित करने में व्यस्त हो, उसे वेश्या कहते हैं।”<sup>2</sup> वेश्या के व्यवसाय को ही वेश्यावृत्ति कहते हैं।

डा० चौवे ने लिखा है, “अपने रूप और यौवन के आधार पर अपनी जीवन वृत्ति चलाना वेश्यावृत्ति कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति पैसे के लिए बिना भेद-भाव के यौन-सम्बन्ध स्थापित करता है, वह वेश्यावृत्ति के अन्तर्गत आता है।” डा० चौवे के अनुसार ‘व्यक्ति’ का तात्पर्य यहाँ पुरुष और स्त्री दोनों से है, अर्थात् वेश्यावृत्ति पुरुष और स्त्री दोनों करते हैं। ‘बिना भेद-भाव’ का अर्थ ऊँच, नीच, युवा, बालक, वृद्ध, स्वस्थ तथा रोगी आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों से है। “पैसे के लिए” का अर्थ “केवल धन के लिए” है, अर्थात् वेश्यावृत्ति किसी सेवा या वस्तु के उपलक्ष में न करके केवल पैसे के लिए करना।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेश्यावृत्ति उद्बन्धीन अवैध यौन सम्बन्ध पर आधारित वह आजीविका है जो कि एक व्यक्ति (पुरुष अथवा स्त्री) धन के बदले में स्वेच्छा से तथा बिना किसी भेद-भाव के दूसरे को अपना रूप, यौवन या शरीर बेचकर प्राप्त करता है।

1. “Prostitution is an illicit sex union on a promiscuous and mercenary basis with accompanying emotional indifference.” M. A. Elliott and F. E. Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros., New York, 1950, p. 155.

2. “An individual (male or female) who for some kind of reward (monetary or otherwise) and or for some other form of personal satisfaction and as a part or full time profession, engages in normal or abnormal sexual intercourses with various persons who may be of the same sex or of opposite sex, is a prostitute.” G. R. Scott, *History of Prostitution*, Torrestrem Books London, 1954, p. 8.



### वेश्यावृत्ति का स्वरूप

#### (The Nature of Prostitution)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर वेश्यावृत्ति के स्वरूप का विश्लेषण सरलता से किया जा सकता है। प्रथमतः वेश्यावृत्ति मूल रूप में एक आजीविका ही है। जो लोग इस वृत्ति को अपनाते हैं वे इससे आनन्द, सुख या यौन-इच्छा की पूर्ति नहीं चाहते बल्कि अपनी जीविका चलाना चाहते हैं। वेश्यावृत्ति वेश्याओं को जीवित रहने के साधनों को प्रदान करता है और उन्हें जीवित रखता है। जिन वेश्याओं की यह वृत्ति खूब फल-फूल जाती है, वे तो बहुत ही शान-शोकत का जीवन व्यतीत करती हैं।

वेश्यावृत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी विशेषता यह है कि इस आजीविका का आधार उद्वेगहीन अवैध यौन-सम्बन्ध होता है। इस विशेषता के दो पक्ष हैं— प्रथम उद्वेगहीनता और दूसरा अवैधता। वेश्यावृत्ति एक प्रकार का अवैध यौन-सम्बन्ध है परन्तु इस यौन-सम्बन्ध में एक खास बात यह होती है कि इसमें प्रेम, प्रीति, लगाव आदि उद्वेगों का नितान्त अभाव होता है। यही उद्वेगहीनता है। साथ ही साथ जो यौन-सम्बन्ध दो पक्षों (parties) में स्थापित किया जाता है उसकी कोई वैधानिक मान्यता नहीं होती है। इसीलिये वेश्याओं के साथ स्थापित किये गये यौन-सम्बन्ध अवैध होते हैं। इस प्रकार अवैधता तथा उद्वेगहीनता वेश्यावृत्ति की दो उल्लेखनीय सामान्य विशेषतायें हैं। इसीलिए सर्व श्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है कि वेश्यावृत्ति और दो प्रेमियों के बीच के अवैध यौन-सम्बन्ध को एक समझने की गलती नहीं करनी चाहिए।<sup>3</sup> इसका कारण भी स्पष्ट है। दो प्रेमियों के बीच का यौन-सम्बन्ध अवैध हो सकता है पर उसमें उद्वेगहीनता नहीं होती है अर्थात् उसमें प्रेम, प्रीति और एक दूसरे के प्रति लगाव होता है। साथ ही इस प्रकार के यौन-सम्बन्ध को जीविका उपार्जन का साधन नहीं माना जाता है। उसी प्रकार यदि एक पति अपनी पत्नी को वश में करने के लिये धन या उपहार देकर उससे यौन-सम्बन्ध स्थापित करता है तो वह औरत वेश्या कदापि नहीं है क्योंकि न तो यह यौन-सम्बन्ध अवैध है और न ही पूर्णतया उद्वेगहीन है। वेश्यावृत्ति में उद्वेगहीनता एक सामान्य विशेषता है। इस विशेषता के सम्बन्ध में लिखते हुए डा० चौवे ने लिखा है कि “वेश्या के साथ यौन-सम्बन्ध में संवेगहीनता (उद्वेगहीनता) होती है। इस प्रकार के सम्बन्ध में पहले अथवा बाद में कोई लगाव का भाव नहीं रहता। केवल सहवास के समय ही कुछ भाव का होना सम्भव है, और इसकी सम्भावना पुरुष पक्ष में अधिक हो सकती है। वेश्या के पास केवल शरीर होता है और इस कार्य में वह प्रायः संवेगहीन होती है। वह केवल एक प्रणाली (technique) का प्रयोग करती है। वह जो कुछ करती है उसके आधार में पैसा ही कमाना रहता है।”

इस प्रकार वेश्यावृत्ति के स्वरूप की तीसरी उल्लेखनीय विशेषता धन या पैसा कमाना है। वेश्या यौन-सम्बन्ध का उपयोग आर्थिक लाभ या आर्थिक उद्देश्य



की पूर्ति के लिये अर्थात् धन कमाने के लिये करता है। दूसरा पक्ष जब पैसा खर्च करता है तभी उसे वेश्या का साहचर्य तथा उससे संभोग करने का अवसर मिलता है। इस साहचर्य या संभोग में वेश्या का कोई लगाव या प्रेम दूसरे पक्ष से नहीं होता है। उसको तो पैसा मिलता है इस कारण अपने रूप, यौवन या शरीर को दूसरे के हवाले कर देती है। वह तो पैसे से बिकती है, पैसे से खरीदी जाती है।

वेश्यावृत्ति के स्वरूप की चौथी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें वेश्या दूसरों को अपना रूप, यौवन व शरीर बेचकर अपनी आजीविका प्राप्त करती है अर्थात् वेश्यावृत्ति में वेश्या का अपना रूप, यौवन व शरीर वह साधन होता है जिसे कि आजीविका या पैसा कमाने के लिए काम में लगाया जाता है। इसी साधन के बल पर अर्थात् अपने रूप, यौवन और शरीर के आधार पर वेश्या केवल एक प्रविधि (technique) का प्रयोग करती है और वह जो कुछ करती है उसका उद्देश्य होता है धन कमाना।

वेश्यावृत्ति के स्वरूप की पाँचवीं विशेषता यह होती है कि वेश्या दूसरे को जो अपना रूप या यौवन, शरीर बेचती है उसमें बाध्यता नहीं होती है। अर्थात् वह स्वेच्छा से ही ऐसा करती है। यद्यपि यह बात उन वेश्याओं के लिए लागू नहीं होती है जिन्हें कि अपने मालिकों के निर्देशानुसार अपने को दूसरे के हवाले करना पड़ता है।

वेश्यावृत्ति के स्वरूप की अन्तिम विशेषता यह है कि वेश्यावृत्ति में जाति, वर्ग, प्रजाति, प्रान्त आदि का भेद-भाव वेश्या के लिए अर्थहीन है। वेश्या तो बिना किसी भेद-भाव के ऊँच-नीच ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू-ईसाई, श्वेत, क्याम, युवा, बालक, वृद्ध, स्वस्थ तथा रोगी सभी प्रकार के व्यक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करती है बशर्ते कि उसे उसके लिए पैसा मिलता रहे।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने आधिपत्य (dominance) और आधीनता (Subordination) के आधार पर वेश्यावृत्ति की समाजशास्त्रीय व्याख्या की है। अधिकतर समाजों में पुरुष ही स्त्रियों पर शासन करते हैं इसका प्रमुख कारण पुरुषों की अधिक शारीरिक शक्ति तथा कुछ परम्परागत सामाजिक व्यवस्था है। स्त्री-समाज में पुरुषों के बराबर स्थान प्राप्त करने के लिए पुरुषों का ध्यान अपनी और आकर्षित करने और उसे निरन्तर बनाये रखने का प्रयत्न करती है। इस कार्य के लिए स्त्री अपनी एक मात्र शक्ति यौन-प्रेरणा और सन्तुष्टि (sexual stimulation and satisfaction) का प्रयोग करती है। अपने और अपने बच्चों के लिये भोजन और निवास-स्थान की व्यवस्था करने के लिये उसे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ता है। पुरुष के आधिपत्य में रहने वाली स्त्रियों के जीवन में जिस परिस्थिति का उद्भव होता है उसके प्रत्युत्तर (response) में उन्हें जिन मौलिक सम्बन्धों को स्थापित करना पड़ता है वे वेश्यावृत्ति की ही विशेषताएं हैं। डेविस के शब्दों में, “आधिपत्य की एक व्यवस्था में स्त्री गैर-यौन सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति



के लिए यौन-प्रेरणा को काम में ला रही है।'<sup>4</sup>

डेविस का कथन है कि अप्रत्यक्ष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यौन-प्रेरणा का प्रयोग केवल समाज द्वारा तिरस्कृत (condemned) यौन-व्यवहारों तक ही सीमित नहीं है। वास्तव में यौन-प्रेरणा तथा यौन-आकर्षण (sexual stimulation and sex appeal) का प्रयोग समाज द्वारा स्वीकृत अनेक सम्बन्धों में भी किया जाता है। मनोरंजन की संस्थायें, विक्री के केन्द्र और चन्दा एकत्रित करने वाली अनेक समितियाँ सुन्दर लड़कियों को नौकर रखती हैं जो आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु अपनी यौन-आकर्षण शक्ति को काम में लाती हैं। बहुत कुछ भद्र रूप में नाना प्रकार का यौन-आकर्षण वैध विवाह में भी एक केन्द्रीय कारक (central factor) होता है। यद्यपि विवाह प्रत्यक्षतः एक यौन-मिलन (sexual union) है, फिर भी विवाह की सन्तुष्टि के अन्तर्गत सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन समा जाता है। विवाह में यौन-सम्बन्ध सुखी वैवाहिक जीवन के लिये महत्वपूर्ण या आधारभूत भी होता है; परन्तु ऐसे सम्बन्ध वास्तव में पारिवारिक जीवन के एकाधिक उद्देश्यों की पूर्ति के साधन ही होते हैं। इसके विपरीत, वेश्यावृत्ति में "यौन" सम्बन्ध-व्यवस्था का केन्द्रीय तथ्य (central fact) और स्वयं साध्य (end in itself) बन जाता है।<sup>5</sup> दूसरे शब्दों में, एक वेश्या तथा उसके ग्राहकों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होता और बना रहता है उसका एक मात्र आधार "यौन" ही होता है और उसी यौन के आधार पर वेश्या का एक मात्र उद्देश्य यौन को पैसे के बदले में बेचना होता है और ग्राहकों का उद्देश्य उसी यौन को खरीदकर यौन-इच्छा की सन्तुष्टि करना होता है। दोनों ही पक्ष यौन के अलावा और कुछ भी नहीं सोचते हैं।

### भारतवर्ष में वेश्यावृत्ति

#### (Prostitution in India)

यद्यपि भारतवर्ष में वेश्यावृत्ति अति प्राचीन काल से चली आ रही है और इसका उल्लेख वेदों में भी मिलता है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-वैदिक काल (Post Vedic Period) में ही वेश्यावृत्ति को एक वैधानिक संस्था के रूप में मान्यता मिली थी। इस काल में आर्य लोग इस देश में पर्याप्त रूप में फैल चुके थे और उत्तरी भारत में कई राज्यों की स्थापना कर ली थी। इस देश के घन-धान्य ने उन्हें विलासपूर्ण जीवन बिताने में सहायता की। राजाओं ने अपने महल तथा सभाओं में सुन्दरी युवतियों को स्थान दिया जो कि त्यौहारों, सामाजिक उत्सवों आदि के अवसर पर अपने गीत तथा नृत्य द्वारा लोगों का मनोरंजन करती थीं। इन राजाओं के अतिरिक्त देश के धनी लोग भी ऐसी सुन्दरी युवतियों को आश्रय देते थे और

4. "In this natural response to a life situation, the female is entering into the basic relationship which characterizes prostitution. She is using sexual stimulation in a system of dominance to attain non-sexual ends." Kingsley Davis, "The Sociology of Prostitution," *American Sociological Review*, Vol. 2, October, 1937, pp. 745-756.

5. <sup>40</sup>*id.*



अपने मनोरंजन के लिए उनकी सेवाओं का प्रयोग करते थे। इस माँग को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था कि सुन्दरी युवतियों की पूर्ति होती रहे। अतः ऐसी स्त्रियों को लेकर भी व्यापार होना आरम्भ हुआ। अर्थात् सुन्दरी युवतियों को बेचने तथा खरीदने का काम शुरू हुआ। ऐसी स्त्रियों के 'मालिक' (खरीदार) इनके रूप तथा यौवन को अपने यौन-इच्छा की तृप्ति के लिये भी उपयोग करने लगे। चूँकि ऐसी श्रौतों को धनी वर्ग तथा राजाओं के महलों में खूब ऐसा व आराम से रहने को मिलता था, इसलिये ऐसे जीवन के प्रति स्त्रियों का भी आकर्षण बढ़ता गया। इतना ही नहीं, वास्तव में सुन्दरी युवतियों के लिये चूँकि राजा-महाराजा लोग भूँह माँगा मूल्य चुकाने को तैयार रहते थे, इस कारण सुन्दरी युवतियों को फुमलाकर घर में निकालकर उन्हें बेच देने के व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। उस समय विशेष अवसरों पर नाचने-गाने के लिये तथा राजा-महाराजाओं का मनोविनोद करने के लिये जो बाहर से सुन्दरियाँ आती थीं उन्हें भी भूँह माँगा दाम मिलता था। 'जातक' में ऐसी सुन्दरी युवतियों को एक रात के लिये एक हजार मोहरे मिलते थे। 'तरंग कथा' में तो लिखा है कि एक सुन्दरी ने एक रात के लिये पाँच-सौ हाथियों की माँग की थी। इन उदाहरणों से पता चलता है कि इस देश में वेश्यावृत्ति एक बहुत प्राचीन संस्था रही है। 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने लिखा है कि राज-दरबारों के लिये गणिकाएँ अपरिहार्य थीं। दरबार में एक अधिकारी ऐसा भी होता था जिस का एक मात्र काम यह था कि वह उच्च वेतन पर अच्छी से अच्छी सुन्दरी युवतियों को नियुक्त करे। जैसे ही इन युवतियों के रूप या यौवन में किसी भी प्रकार की विकृति या खराबी उत्पन्न हो जाती थी, वैसे ही उन्हें राज-नौकरी से निकाल दिया जाता था। राजा या धनी लोगों द्वारा तिरस्कृत ये स्त्रियाँ फिर बाजार में आम लोगों को अपने रूप व यौवन को बेचने लगती थीं। इसी प्रकार धीरे-धीरे इनका एक पृथक वर्ग विकसित होता गया।

'कामसूत्र' में प्राचीन काल की वेश्यावृत्ति का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार सुतारों, शिल्पकारों आदि की पत्नियों के साथ पर-पुरुष सहवास कर सकते थे। राजा और उनके दरबारी, जमींदार और अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देते थे। 'काम सूत्र' के अनुसार जिस स्त्री को अपनी सीतों से नीचा स्थान प्राप्त था, जो युवती और विधवा थी, जो सुन्दरी थी, पर जिसका पति विदेश में रहता था, जिसका पति बदनूरत या रोगग्रस्त होता था उसके साथ अन्य व्यक्ति सहवास कर सकते थे। 'पद्मपुराण' से पता चलता है कि सुन्दर कन्याओं को खरीदकर मन्दिर को दान किया जाता था जहाँ पुजारी उनके साथ सम्भोग भी करते थे। भारत में यह देवदासी प्रथा अति प्राचीन है। देवदासी का सैद्धांतिक कार्य तो देवता की सेवा करना, भजन-पूजन करना तथा मन्दिर के काम में आत्म-नियोग करना था। परन्तु व्यवहारिक रूप में मन्दिरों और धर्म की छत्रछाया में उन्हें वेश्याओं का जीवन ही व्यतीत करना पड़ता था। उसी प्रकार इस देश में धर्म-भाव से प्रेरित होकर विधवाओं को उनके जीवन के पाप को (जिस पाप के कारण उन्हें विधवा बनना



पड़ा) घोने के लिए काशी में विश्वनाथ के सेवार्थ छोड़ देने की भी प्रथा है। पर वास्तव में इनमें से अनेक विधवाएं अपने पापों को जितना धोती नहीं हैं, उससे कहीं अधिक पापों को एकत्रित करती हैं, बुरे लोगों के चंगुल में फँसकर वेश्यावृत्ति को अपनाकर।

मुसलमानी युग में भारत में वेश्यावृत्ति को मुगल-शासकों और उनके दरबारियों द्वारा अत्यधिक बढ़ावा मिला क्योंकि ये लोग अत्यधिक भोग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। इस काल में विधवा-विवाह पर निषेध अत्यधिक कठोरता से लागू किया गया। इसके फलस्वरूप युवती विधवाओं में अनेकों के लिये यौन इच्छाओं को दबाना सम्भव न हो सकने के कारण यौन व्यभिचार फैलने लगा। कुछ विधवाएं तो अद्वैत रूप से गर्भवती हो जाती थीं। इन विधवाओं का समाज जब बहिष्कार कर देता था तो उनके लिए वेश्यावृत्ति ही जीवित रहने का एक सरल रास्ता रह जाता था।

उसके बाद इस देश में अंग्रेजी शासन और औद्योगिकरण के साथ-साथ वेश्यावृत्ति का चरम विकास हुआ। औद्योगिक केन्द्रों में मिल तथा कारखानों में काम करने वाले अधिकतर श्रमिक गाँव के होते हैं और नगरों में खर्चीला जीवन तथा मकानों की समस्या के कारण ये श्रमिक यहाँ परिवार से दूर अकेले रहते हैं। दिन भर के थके-मादे श्रमिकों के लिए मनोरंजन का बहुत सरल साधन शराब और वेश्याएं औद्योगिक केन्द्रों में बहुत मिल जाती हैं। इन भोले-भाले ग्रामीण श्रमिकों को अपनी चटक-मटक तथा चपलता से मोहित करके खूब पैसा ऐंठ लेना वेश्याओं के लिए बहुत सरल हो गया। धन कमाने के इस सरल उपाय ने भी वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित किया और संगठित रूप से यह व्यापार इस देश में पनपने लगा। बहुत से 'मालिकों' ने तो काफी संख्या में सुन्दरी युवतियों को बाजार में वेश्यावृत्ति करने के लिये शहर के विभिन्न भागों में बैठाना आरम्भ किया। आमदनी का अधिकतर भाग मालिकों को मिलता है और वेश्याओं को खाने, पहनने तथा रहने की सुविधा के अतिरिक्त सामान्य जेब-खर्च ये मालिक देते हैं। अनेक युवतियों को इस वृत्ति को बाध्य होकर अपनाना पड़ता है। कुछ दुश्चरित्र पति अपनी पत्नी को वेश्यावृत्ति करने को बाध्य करते हैं। उसी प्रकार कुछ आधुनिक "प्रेमी" लड़कियों को बहकाकर घर से निकाल लाते हैं और फिर उनका सर्वनाश करके उन्हें अकेले छोड़कर भाग जाते हैं। ऐसी लड़कियों को भी वेश्यावृत्ति को अपनाते हुए देखा जाता है। उसी प्रकार शहर के शानदार जीवन से आकर्षित होकर शहरों में आकर और दुश्चरित्रों के चंगुल में फँसकर अनेक युवतियों को बाध्य होकर इस वृत्ति को अपनाना पड़ता है। भारतवर्ष में अत्यधिक निर्धनता भी अनेक भले घरों की लड़कियों को इस रास्ते में घसीट कर ले आती है और उन्हें रोटी-कपड़े के लिए छुपे तौर पर इस राह पर चलना पड़ता है।

हमारे देश में अधिकतर वेश्याएं अविवाहिता, युवती (यह आवश्यक नहीं कि सुन्दरी भी हो) तथा चटुल होती है। वे वेश्याओं के मोहल्ले में छोटी-छोटी कोठरियों



में रहती हैं। एक मकान के हर मंजिल के हर कमरे में एक या एकाधिक वेश्याओं का रहना भी अस्वाभाविक नहीं है। वे इस प्रकार के वस्त्रों को पहनती हैं कि उन्हें अर्ध-नग्न ही कहना अधिक उचित होगा। ऐसा करने का उद्देश्य हाव-भाव, इशारा, वस्त्र सब कुछ से कामुकता टपके और पुरुष उनके प्रति आकर्षित हो। इनमें से अधिकतर वेश्यायें गाँवों से भागी या भगाई गई लड़कियाँ होती हैं। वेश्यालयों में भी बहनों का जन्म हुआ होगा। बहुत छोटी लड़कियों से वेश्यावृत्ति नहीं करवाई जाता है, पर जैसे ही वे सयानी हो जाती हैं वैसे ही बड़े धूम-धाम से एक उत्सव मनाया जाता है और उसी दिन से लड़की को वेश्यावृत्ति में कदम रखवाया जाता है। उस दिन से उस लड़की को कमाने वाली माना जाता है और पुरुष उसे इस काम में सहायता करते हैं। ये पुरुष ही वेश्याओं के संरक्षक होते हैं और वे इन वेश्याओं को वेश्यावृत्ति कभी त्यागने नहीं देते हैं अर्थात् वेश्याओं की अपनी इच्छा या अनिच्छा का फिर कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता है और एक बार इस रास्ते पर आ जाने के बाद वेश्यावृत्ति को छोड़ना उनके लिए बहुत कठिन हो जाता है। गाहकों को अधिक आकर्षित करने के लिये अनेक वेश्याओं को नाचना और गाना भी सीखना पड़ता है।

घाघ वेश्या नैतिक रूप में ही नहीं बल्कि मानसिक रूप में भी विकृत मनोभावों को प्रस्तुत करती हैं। उसे न तो शीलता की परवाह होती है और न ही स्नेह की। वह न तो प्रेम को सम्मान की दृष्टि से देखती है और न ही पुरुष को। वह न अपने जीवन के पतन के बारे में सोचती है और न ही अपने गाहकों के। वह आलसी, विलास प्रिय, चटुल, चतुर, अनुत्तरदायी (irresponsible) और चिरन्तर असंतुष्ट एक प्राणी मात्र होती है।

दूसरी श्रेणी में वे वेश्याएँ आती हैं जो कि धार्मिक प्रथाओं और परम्पराओं के द्वारा इस राह में लायी गयी हैं। उन्हें 'मन्दिर की वेश्या' (temple Prostitutes) कहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण देवदासी प्रथा है जिसका कि उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। बनारस में जिन विधवाओं को वेश्यावृत्ति करनी पड़ती है उनमें से अधिकतर वेश्यायें धार्मिक प्रथाओं और विश्वासों के ही शिकार बन कर इस राह में चली आयी हैं।

हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में 'रीत' नामक एक प्रथा का प्रचलन है जिसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति दूसरी पत्नी लाना चाहता है तो वह अपनी पहली पत्नी को बेचकर दूसरी पत्नी को खरीद सकता है। इससे भी वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

भारतवर्ष में 'रखेल' (Concubine) रखने की प्रथा भी काफी दिनों से चलती आ रही है। यह भी वेश्यावृत्ति का ही एक रूप है। ये रखेल जमींदार, व्यापारी, बिधुर आदि की कृपा पर पलती हैं और उसके बदले में उन्हें अपने रूप व यौवन को निछावर करना पड़ता है।

यह अनुमान है कि भारतवर्ष में वेश्याओं की संख्या ८०,००० से कम नहीं है। यह आँकड़ा भी इस बुराई के विस्तार को ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं करता है



योंकि आज परिस्थितियों से विवश होकर कितनी युवतियाँ छुपे तौर पर वेश्यावृत्ति को अपना चुकी हैं, यह बताना कठिन है। इसके सम्बन्ध में कोई भी आंकड़ा प्राप्त नहीं है।

### वेश्याओं का वर्गीकरण

#### Classification of Prostitutes)

‘कामसूत्र’ में वेश्याओं को तीन भागों में बाँटा गया है—(१) गणिका जो क ६४ कलाओं में दक्ष ऐसी सुन्दर स्त्री होती थी जिसे राजा और उच्च अधिकारियों से सम्मान मिलता था। (२) रूपजीवी जिसका रंग अत्यन्त सुन्दर था अंग-विन्यास अति आकर्षक होता था जिसके कारण देखने वाले में यौन-च्छा उत्पन्न हो जाती थी। (३) सामान्य वेश्या जो कि सदैव अपने रूप, यौवन व शरीर को बेचने के लिये तथा यौन-सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार रहती है।

वेश्यावृत्ति के क्षेत्र में वेश्याओं की वैयक्तिक स्थिति को ध्यान में रखकर अगर उनका वर्गीकरण किया जाय तो उन्हें तीन श्रेणियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है:— प्रथम वे वेश्याएँ जो कि अपने मालिकों की इच्छानुसार वेश्यावृत्ति करने को बाध्य होती हैं और अपनी कमाई का सब कुछ मालिक के हवाले करती हैं। वे चाहते पर भी अपनी इच्छा से वेश्यावृत्ति को छोड़ नहीं सकती हैं। द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत स्वतन्त्र वेश्याएँ आती हैं जोकि अपनी इच्छानुसार अपने रूप, यौवन या शरीर को बेचती हैं और उससे प्राप्त मूल्य को स्वयं ही भोगती हैं। तृतीय श्रेणी में आकस्मिक वेश्याएँ आती हैं। ये वे वेश्याएँ हैं जिनकी जीविका अन्य साधन होते हुए भी वे अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिये अपने शरीर को बेचती हैं। दूसरे शब्दों में, निर्धनता के दानव के जिकार होकर जो कि वेश्यावृत्ति को अपनाने को बाध्य होती हैं वे वेश्याएँ इस तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं।

डा० चौवे ने वेश्याओं के चार प्रकारों का उल्लेख किया है। पहला प्रकार उन वेश्याओं का है जो पैसा लेकर पुरुषों से यौन-सम्बन्ध स्थापित करती हैं। बहुधा इसी प्रकार की वेश्याएँ अधिक होती हैं। अतः ये ही समाज के लिये एक समस्या होती हैं। समाज-शास्त्रियों द्वारा ऐसी वेश्याओं का ही विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है। दूसरी प्रकार की वेश्या में वे पुरुष आते हैं जो अपने जीवन-निर्वाह के लिये पैसा लेकर अन्य पुरुषों से यौन-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। ऐसे पुरुष-वेश्याओं की संख्या बहुत ही कम है और ऐसे लोग इस वृत्ति को बहुत देन तक चला भी नहीं पाते। इसलिये ये लोग समाज के लिये कोई समस्या नहीं उपस्थित करते। तृतीय प्रकार उन स्त्री-वेश्याओं की कही जा सकती है जो पैसा लेकर दूसरे पुरुषों से यौन-सम्बन्ध स्थापित करती हैं। ऐसी वेश्याओं की संख्या भी बहुत कम है। अतः इनकी भी कोई विषम समस्या नहीं है। चौथे प्रकार में वे स्त्री-वेश्याएँ आती हैं, जो पैसा लेकर अन्य स्त्रियों को वेश्यावृत्ति के लिये बहकावाती हैं। इस प्रकार की वेश्याओं की भी संख्या बहुत ही कम होती है।



## वेश्यावृत्ति के कारण

### (Causes of Prostitution)

अन्य सामाजिक समस्याओं की भाँति वेश्यावृत्ति के भी अनेक कारण हो सकते हैं और एक स्त्री या पुरुष को वेश्या बनाने में प्रायः एकाधिक कारकों का योगदान होता है। पुरुषों की दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है जैसे कि वेश्यावृत्ति के बने रहने का मुख्य कारण पुरुषों की यौन इच्छा का होना और उस इच्छा की पूर्ति के लिये स्त्रियों की माँग। विवाहित पुरुष वेश्यागमन इसलिए करते हैं कि वहाँ उन्हें विविध प्रकार के यौन-अनुभव होते हैं। अविवाहित पुरुष वेश्याओं को संरक्षण इसलिये देते हैं कि वे यौन-इच्छा की तृप्ति के सरलतम साधन हैं। कुछ यह सोचकर वेश्यागमन करते हैं कि वेश्याओं द्वारा उनकी यौन इच्छाओं की तो संतुष्टि हो जाती है पर सन्तानों का बोझ उन्हें उठाना नहीं पड़ता है।

वेश्यावृत्ति के कारणों के रूप में उपरोक्त सभी कारण महत्वपूर्ण होते हुए भी असम्पूर्ण तथा एक-तरफा प्रतीत होते हैं। वेश्यावृत्ति में केवल पुरुषों की यौन-इच्छा को आवश्यकता से अधिक महत्व देना उचित न होगा। यौन-इच्छा स्त्रियों की भी हो सकती है, यद्यपि उनकी इस इच्छा की बाहरी अभिव्यक्ति पुरुषों की भाँति उतनी स्पष्ट नहीं होती है। स्त्रियाँ स्वभाव से ही कुछ दबी हुई प्रकृति की होती हैं। फिर भी यह भूल न जाना चाहिए कि स्त्रियाँ भी यौन-इच्छा की पूर्ति करने के सम्बन्ध में इतना ललचा जा सकती हैं कि पुरुषों को उन्हें भ्रष्ट करने का अवसर मिले। अनेक युवतियाँ आज वेश्यायें इसलिए हैं कि किसी एक समय वे अपनी यौन इच्छा को दबा न सकीं और पुरुषों के फुलाने में आ गयीं।

अधिकतर वेश्यायें ऐसी पायी गयी हैं जो इस पेशे को अपनाते से पूर्व अवैध शारीरिक सम्बन्धों को स्थापित करती रही थीं। अक्सर यह देखा गया है कि इन वेश्याओं में अनेक भले घरों की लड़कियाँ थीं, परन्तु पहले के अवैध यौन-सम्बन्धों के कारण वे इतनी अधिक हतोत्साहित हो गयीं तथा स्वयं अपनी दृष्टि में इतनी गिर गयीं कि उनको यह विश्वास हो गया कि वे अपना “सब कुछ” खो चुकी हैं, इसलिए वेश्यावृत्ति के अन्तर्गत आने वाले अवैध यौन सम्बन्धों से आगे उन्हें और कुछ भी खोने का डर ही क्या हो सकता है। अपने पूर्व-यौन-अनुभव की बात सोच करके जिस लड़की के दिल में नैतिक पतन की भावना घर कर जाती है उसके लिए वेश्यावृत्ति को अपनाना कठिन नहीं होता है।

6. A. C. Kinsey, *Sexual Behaviour in the Human Male*, W. B. Saunders Co., Philadelphia, 1948, pp. 606-609.

7. “Most prostitutes have already been initiated into illicit sex experiences before entering commercialized vice. Occasionally they have come from respectable home backgrounds, but in these instances have usually become so demoralized through prior sex experience that they feel they have “lost all” hence have nothing further to suffer from illicit relations.” Elliott and Merrill, *op. cit.*, p. 160.



सर्व श्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है कि मानसिक दुर्बलता या कम बुद्धि तथा अज्ञानता को भी वेश्यावृत्ति के कारण बताया गया है। अक्सर बुरे लोग गाँव की भोली-भाली लड़कियों को नौकरी दिलाने का या उनके नाते-रिश्तेदारों से उन्हें ले जाकर मिला देने का आश्वासन देकर शहर में ले आते हैं फिर और उनका सर्वनाश करके उन्हें वेश्या बनने को बाध्य करते हैं। अनेक बड़े-बड़े शहरों में समाचार पत्रों में नौकरी के लिये भूठे विज्ञापन छपते हैं जिनको पढ़कर अनेक लड़कियाँ जब विज्ञापनदाता के घर नौकरी पाने के लालच से जाती हैं तो उन्हें कमरे में बन्द कर दिया जाता है और उन्हें वेश्यावृत्ति के रास्ते में घसीट बाया जाता है। इसके अतिरिक्त अक्सर टैक्सी या अन्य प्रकार की किराये की बन्द गाड़ियों में स्टेशन या अन्य स्थानों से उन सुन्दरी युवतियों को उड़ा लाया जाता है जो अपनी अज्ञानता के कारण उन गाड़ियों में इस आशा से बैठती हैं कि वे अपने घरों में सकुशल पहुँच जायेंगी।

उपरोक्त सामान्य कारणों के अतिरिक्त वेश्यावृत्ति के निम्नलिखित कारकों का भी उल्लेख किया जा सकता है—

### आर्थिक कारक

(Economic Factor)

(१) निर्धनता वेश्यावृत्ति का एक महत्वपूर्ण कारण बताया जाता है। निर्धनता के कारण जब आधारभूत आर्थिक आवश्यकताओं तक की पूर्ति नहीं हो पाती है तो अनेक स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति को अपना देने के लिये विवश हो जाती हैं। वास्तव में घन के बदले में अपने शरीर को दूसरे के हाथ बेच देना ही वेश्यावृत्ति है अर्थात् वेश्यावृत्ति में भी 'घन' प्रधान है और इसीलिये निर्धनता को इसका मुख्य कारण माना जा सकता है। ऐसी अनेक बेवस लड़कियाँ व स्त्रियाँ हैं जोकि गरीबी के आघात से अपने को बचाने के लिये छिप-छिपकर वेश्यावृत्ति का घन्वा चलाती हैं क्योंकि जीवन धारण करने के लिये या केवल पेट भरने और तन ढँकने के लिये जिस घन की आवश्यकता है वह भी इन बेचारियों को अन्य किसी भी उपाय से जब मिल नहीं पाता है तब उनके लिये शरीर बेचने के अलावा और दूसरा कोई उपाय नहीं होता। अनेक अध्ययनों से पता चलता है कि अनेक वेश्यायें इस वृत्ति को पसन्द नहीं करती और उसे छोड़ना चाहती हैं पर भूखे मरने के डर से छोड़ नहीं पाती हैं। ऐसा भी देखा गया है कि घर में रोगी पति या बच्चे के कारण, अथवा परिवार के एक मात्र कमाने-वाले की मृत्यु हो जाने के कारण, कोई दुर्घटना के कारण और बच्चों के पालन पोषण की उचित व्यवस्था परिवार में न होने के कारण कुछ स्त्रियाँ अपने परिवार के मोह से, उसे मिट जाने से बचाने के लिये वेश्यावृत्ति को अपना लेती हैं।

(२) जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का लोभ भी व्यक्ति को वेश्यावृत्ति को अपनाने के लिये प्रेरित करता है। कुछ लोगों में अच्छा खाने-पीने और पहनने का



लोभ इतना ज्यादा उत्कट होता है कि वे उसके लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। बहुत सी लड़कियाँ इसलिये भी यौन-सम्बन्ध करवा लेती हैं क्योंकि उनके पास सिनेमा का टिकट खरीदने या एक अच्छी साड़ी खरीदने के लिये पैसे नहीं हैं। अनेक वेश्यायें घरेलू नौकरों के वर्ग की होती हैं जिन्हें खाने-पहिनने को तो मिलता है पर उनका जीवन नीरस तथा आकर्षणहीन होता है। उस जीवन को सरस तथा आकर्षक बनाने के लिये, अच्छे वस्त्र तथा जेवर को प्राप्त करने के लिये वे वेश्या-वृत्ति को अपना लेती हैं। कुछ माता-पिता अपनी बुरी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये अपनी युवती लड़कियों से वेश्यावृत्ति कराते हैं। कुछ पति भी अपनी पत्नी से ऐसा ही करवाते हैं।

(३) सरलता से अधिक धन कमाने की इच्छा भी वेश्यावृत्ति को जन्म देती है। मिल, कारखाना, स्टोर आदि में लम्बे घण्टों तक कम वेतन पर काम करने वाली लड़कियाँ यह हिसाब लगाती हैं कि जितना धन नौकरी से वे एक हफ्ते में कमाती हैं उतना वे वेश्यावृत्ति के द्वारा एक रात में कमा सकती हैं और उसके लिये उन्हें किसी प्रकार का परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होगी। ऐसी अनेक 'कॉल गर्ल्स' (Call girls) होती हैं जो होटल के बाहकों द्वारा बुलाये जाने पर उनकी यौन-क्षुधा की तृप्ति करने पहुँच जाती हैं और एक-रात में ही पर्याप्त धन कमा कर घर लौटती हैं क्योंकि यह युवतियाँ अत्यन्त घूर्त, चपल और सुन्दरी होती हैं और अपने रूप, यौवन तथा शरीर को बहुत ऊँचे मूल्य पर बेचती हैं।

(४) स्त्रियों के लिये नौकरी की खराब दशाएँ भी वेश्यावृत्ति का एक कारण माना जाता है। भारतवर्ष में स्त्रियों के काम करने की दशाएँ बहुत असन्तोषजनक हैं और उनके लिये उचित वेतन भी उन्हें नहीं मिलता है। स्त्रियों से कठोर परिश्रम करवाया जाता है और न करने पर नौकरी से निकाल देने की धमकी दी जाती है या अन्य प्रकार से उनके साथ बहुत दुर्व्यवहार किया जाता है। घरेलू नौकरानियों के सम्बन्ध में यह बात विशेषकर सच है। श्री टैफ्ट (Taft) ने लिखा है कि एक वेश्या ने, जो पहले घरेलू नौकरानी थी, यह बतलाया है कि रसोई घर में मालकिन की ठोकरें खाने की अपेक्षा उसने इस पतित मार्ग को अपनाना अधिक अच्छा समझा। भारत में मिल, कारखाना, खान आदि में स्त्री-श्रमिकों को एक स्त्री-मुखिया के आधीन काम करने को रक्खा जाता है जो कि स्वयं दुश्चरित्र होती है और अपने मालिक या अन्य अधिकारियों को खुश करने के लिये उसके आधीन काम करने वाली सुन्दरी युवतियों को मालिक या अन्य अधिकारियों की कामान्ति में जलाकर उन्हें अनैतिक रास्ते पर घसीट लाती है।

(५) स्त्रियों को व्यापार करने की एक वस्तु या साधन के रूप में समझना भी वेश्यावृत्ति का एक कारण है। कुछ लोग यह समझते हैं कि युवतियों को धन कमाने के एक साधन के रूप में प्रयोग करके बड़ी सरलता से धन उपार्जन किया जा सकता है। इसीलिये कुछ स्त्री और पुरुष पैसा कमाने के लिये इधर-उधर से



लड़कियों को भगा कर उनसे वेश्यावृत्ति करवाते हैं। इस प्रकार प्राप्त धन का अधिकांश वे स्वयं लेते हैं और उसका बहुत थोड़ा सा हिस्सा उन लड़कियों को दिया जाता है जो कि अपना 'सब कुछ लुटाकर' अपने तथाकथित "मालिक" के लिये धन कमाती हैं। कुछ लोग तो केवल लड़कियों को भगाकर दूसरों के हाथ बेच देते हैं जिसके फलस्वरूप वेश्यावृत्ति के लिये लड़कियों की कमी नहीं रहती है। इस प्रकार की वेश्यावृत्ति को चलाने वाले कुछ गिरोहों को बीच-बीच में पुलिस पकड़ने में सफल होती है। यह सत्य आज किसी से भी छिपा हुआ नहीं है कि स्त्रियों और लड़कियों का अन्तर्प्रान्तीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार करने वाले गिरोह देश में क्रियाशील हैं जोकि लड़कियों का अपहरण करके या खरीद कर एक राज्य से दूसरे राज्य को भेजते रहते हैं। ऐसे कार्य करने वाले गिरोह अत्यधिक संगठित होते हैं और छुपे तौर पर अपना कार्य करते रहते हैं। स्त्रियों का इस प्रकार अनैतिक व्यापार करने वाले गिरोहों को वेश्यावृत्ति का एक बहुत महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है। यद्यपि सबसे अधिक लोकप्रिय और रोमान्टिक धारणा यही है कि लड़कियाँ अपने भोलेपन और अज्ञानता के कारण पुरुषों के जाल में फँस जाती हैं और ये पुरुष जब उनका 'सब कुछ' लूट कर उन्हें बर्बाद करके भाग जाते हैं तो ऐसी लड़कियों को बाध्य होकर वेश्यावृत्ति को अपनाना पड़ता है। कुछ वेश्याओं के विषय में यह बात सच हो सकती है पर अधिकांश के विषय में नहीं। अधिकांश वेश्याएँ तो अपनी आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों और स्त्रियों का अनैतिक व्यापार करने वाले गिरोहों की शिकार होती हैं।

### सामाजिक सांस्कृतिक कारक

#### (Socio-cultural Factor)

(क) परिवार स्वयं ही वेश्यावृत्ति का एक महत्वपूर्ण कारक हो सकता है। अध्ययनों से पता चलता है कि अनेक वेश्याएँ टूटे परिवार (broken home) तथा अनैतिक परिवार (immoral home) से आई हैं। ऐसे परिवार जहाँ पिता, माता या पति का देहान्त हो गया है, जहाँ परिवार का संरक्षक या प्रमुख कमाने वाला बहुत बीमार रहता है, जहाँ माँ घर से बाहर काम करने जाती है, जहाँ विवाह-विच्छेद द्वारा माता-पिता या पति-पत्नी में विवाह सम्बन्ध टूट गया है, जहाँ परिवार के सभी सदस्यों को एक ही कमरे में रहना और सोना पड़ता है जिससे यौन सम्बन्धी व्यवहार कोई गुप्त विषय नहीं रह जाता है, जहाँ परिवार गन्दी वस्तियों में निवास करता है, जहाँ परिवार में शराब, जुआ, अपराध, यौन-व्यभिचार आदि पाये जाते हैं, ऐसे परिवार वेश्याओं को जन्म देने के अनुकूल स्थान हैं। जिस परिवार का नैतिक स्तर हेय होता है, परन्तु अपराध का स्तर ऊँचा होता है वहाँ की स्त्रियों को वेश्यावृत्ति अपनाने के लिये प्रोत्साहन मिलता है। श्री स्कॉट (Scott) ने लिखा है कि बहुत सी घटनाओं में स्वयं माँ वेश्या होती है व पिता दलाल और संचालक होता है और वे बिना किसी संकोच व अनुताप के अपनी कन्या को सड़कों पर भेज देते हैं और प्रायः दूसरों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के लिये स्वयं उसे प्रेरित



करते हैं। नशेबाज या जुएबाज पिता अथवा अन्य संरक्षक अपने नशे या जुए के लिए घन जुए के लिये अपनी कन्या या पत्नी को वेश्यावृत्ति के रास्ते पर ला खड़ा करता है। उसी प्रकार माता अथवा पिता के या माता-पिता दोनों के मर जाने पर कुमारी अनाथ लड़कियों को इस वृत्ति में फँस जाने का बड़ा डर रहता है।

(ख) पारिवारिक परम्परा भी वेश्यावृत्ति को बढ़ा देती है। डा० चौबे ने लिखा है कि कुछ स्त्रियों का परम्परावश इस वृत्ति को अपनाना पड़ता है, चाहे प्रारम्भ में उनकी इसमें रुचि हो या न हो। प्रायः यह देखा गया है कि समाज में बहुत से व्यक्ति एक विशिष्ट व्यवसाय इसलिये अपनाते हैं क्योंकि उनके परिवार में कई पीढ़ियों से यह व्यवसाय चला आ रहा है। यही बात कुछ वेश्याओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बहुधा वेश्याओं की पुत्रियों को विवश होकर इस वृत्ति को अपनाना पड़ता है क्योंकि उनके सामने जीवन धारण करने तथा समाज में प्रतिष्ठा पाने का कोई रास्ता खुला नहीं मिलता है। वेश्याओं की लड़कियों को समाज सम्मानजनक स्थिति प्रदान नहीं करता है। न ही कोई युवक उनसे विवाह करके स्वस्थ पारिवारिक जीवन बिताने का कोई अवसर उन्हें प्रदान करने को तैयार होता है। अतः वेश्या की कन्या वेश्या ही बन जाती है।

(ग) बुरा पड़ोस भी वेश्यावृत्ति का एक कारण है। गन्दी बस्तियों (slums) में जहाँ कि मकान बहुत पास-पास बने रहते हैं और जहाँ भीड़-भाड़ अधिक होने के कारण बुरे लोगों को छुपने का स्थान मिल जाता है वहाँ वेश्यावृत्ति अधिक फैलती है। गन्दी बस्तियाँ गन्दे मनोभाव को ही जन्म देती हैं। उसी प्रकार जिन पड़ोसों में खुलेतौर पर व्यभिचार होता है, मद्यपान और जुआ का बोलबाला रहता है तथा भीर-विलासपूर्ण जीवन की खूब बाहरी अभिव्यक्तियाँ होती हैं, वहाँ लड़कियों के लिये यौन-सम्बन्धी बुराइयों में फँस जाने की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं जो आगे चल कर लड़कियों को वेश्यावृत्ति के पथ पर ला खड़ा करता है।

(घ) विधवा पुनर्विवाह पर निषेध ने भारतवर्ष में वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित किया है। अनेक विधवायें युवती होती हैं और उनसे समाज यह आशा करता है कि वे अपनी समस्त यौन-इच्छाओं को दबाकर पत्थर की भाँति जीवन बिता दें। प्राकृतिक नियम के अनुसार यौन-सम्बन्धी वासनायें प्रत्येक पूर्ण वयस्का युवती में होती हैं और जब उसे जबरदस्ती दबा देने का प्रयत्न किया जाता है तो यौन-सम्बन्धी व्यभिचार को केवल प्रोत्साहन देना ही होता है। इन्हीं स्वाभाविक यौन-प्रवृत्तियों को दबा न सकने के कारण विधवायें भी प्रायः घर या बाहर के किसी पुरुष से अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं और चूँकि समाज ऐसे कार्यों को मान्यता नहीं देता, इस कारण प्रायः उन विधवाओं का समाज से बहिष्कार हो जाता है और अपनी जीविका पालन का अन्य कोई रास्ता न देखकर वे वेश्यावृत्ति को अपनाती हैं। अनेक विधवायें द्वारा विवाह न कर सकने पर और नाते रिश्तेदारों से



भी सहायता प्राप्त करने में असफल होने पर अपने बच्चों का पालन-पोषण करने से लिए बाध्य होकर वेश्यावृत्ति को अपनाती हैं।

(ङ) दहेज प्रथा ने भी अप्रत्यक्ष रूप से वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। प्रत्येक माता-पिता के लिये कन्या के विवाह में देने के लिये आवश्यक दहेज उचित समय पर जुटाना सम्भव नहीं होता है। इस कारण लड़कियाँ अधिक आयु तक अविवाहित रहती हैं। इससे अनेक लड़कियाँ अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। इतना ही नहीं, दहेज की मांग को पूरा न कर सकने पर योग्य वर नहीं मिल पाता है। पर कन्या का विवाह होना भी आवश्यक होता है। अतः लड़की के माता-पिता अक्सर किसी भी उम्र वाले और किसी भी प्रकार के चरित्र वाले वर से विवाह करने को तैयार हो जाते हैं। यदि पति और पत्नी की आयु में बहुत अन्तर है, विशेषकर जबकि पति की आयु पत्नी से बहुत ज्यादा है, तो उस परिस्थिति में पत्नी अपने पति से यौन-सम्बन्धी विषयों में सन्तुष्ट नहीं हो पाती है और पुरुषों से अवैध यौन-सम्बन्ध स्थापित करती या किसी पुरुष के साथ घर से भाग जाती है। ऐसा भी हो सकता है कि कन्या का विवाह दहेज से बचने के लिए एक शराबी या जुआरी से कर दिया गया हो जिसके कारण भी लड़की का विगड़ना सम्भव है।

(च) धार्मिक प्रथाएं भी वेश्यावृत्ति का कारण हो सकती हैं। 'देवदासी' प्रथा आदि का उल्लेख करके इस सम्बन्ध में हम पहले ही बहुत कुछ लिख चुके हैं। धार्मिक प्रथाओं के कारण ही हमारे देश में अनेक स्त्रियों को देवी-देवताओं को अर्पित कर दिया जाता है। जिन लोगों के बच्चे नहीं होते हैं वे माता-पिता देवी-देवता से यह कहकर सन्तान की भिक्षा चाहते हैं कि अगर उनको सन्तान हुई तो वे उसे देवी देवता को ही अर्पित कर देंगे। ऐसे बच्चों के लिये विवाह निषिद्ध होता है। इसीलिये युवा होने पर वे यौन-व्यभिचार में फँस जाते हैं। जो देवदासी मन्दिरों में रहती हैं उन्हें मन्दिर के महन्त तथा पुजारियों की यौन-इच्छाओं की सन्तुष्टि करनी पड़ती है। वास्तव में धर्म की आड़ में वे भी वेश्यायें ही होती हैं।

#### प्राणीशास्त्रीय कारक

(Biological factor)

वेश्यावृत्ति के प्राणीशास्त्रीय कारक के अन्तर्गत बहुत कम स्त्रियाँ आती हैं। अपनी विशिष्ट शारीरिक रचना और विकास के कारण कुछ स्त्रियों में यौन-इच्छा इतनी अधिक होती है कि उन्हें अपने पति से सन्तुष्टि नहीं मिलती है। अतः स्त्री को अपनी प्रबल यौन-इच्छा की सन्तुष्टि के लिये वेश्यावृत्ति का सहारा लेना पड़ता है जिसमें कि एक ही दिन में अनेक पुरुषों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करना उनके लिये सम्भव होता है। ऐसी स्त्रियों के लिये अपनी यौन-इच्छा की सन्तुष्टि ही सर्वोपरी होती है और इसके लिये वे केवल परिवार का भी परित्याग नहीं करतीं बल्कि कभी कभी तो पुरुषों को धन देकर उनसे यौन-सम्बन्ध स्थापित करती हैं। कुछ स्त्रियों में समयौन सम्बन्ध (homosexuality) की भी तीव्र इच्छा पायी जाती है



जोकि वेश्यावृत्ति से ही सरलतापूर्वक सन्तुष्ट हो सकती है ।

### मनोवैज्ञानिक कारक

#### (Psychological Factor)

डा० चौबे के अनुसार कुछ स्त्रियों के वेश्यावृत्ति अपनाने के मनोवैज्ञानिक कारक में उनकी मन्द-बुद्धि तथा किसी मानसिक विकृति का उल्लेख किया जा सकता है । कुछ अध्ययनों द्वारा यह स्पष्ट हुआ है कि मानसिक विकृति के कारण कुछ युवतियाँ अपने यौन-वेग पर नियंत्रण नहीं कर पाती हैं और वे बहक कर वेश्यावृत्ति को अपना लेती हैं । कुछ युवतियाँ अपनी मन्द बुद्धि के कारण वेश्यावृत्ति के दुष्परिणाम को नहीं समझ पातीं और बुरे लोगों के बहकावे में आकर पतन की राह में आ जाती हैं । एक बार वेश्यावृत्ति को अपना लेने के बाद इसे त्यागने का प्रयत्न करने पर भी यह साथ नहीं छोड़ती । डा० एडवर्ड ग्लोवर (Edward Glover) का कथन है कि जिन स्त्रियों को पुरुष ने धोखा दिया है, जिनको बल पूर्वक पतन की राह पर घसीट कर ला फँका है, जिनसे पुरुषों ने प्रेम के विषय में छल किया है और उन स्त्रियों को एक स्वस्थ और सुन्दर पारिवारिक जीवन बिताने तक के अधिकार से सदा के लिये वंचित किया है—उन स्त्रियों के मन में समस्त पुरुष जाति के लिये असीम घृणा, अशुद्धा व अविश्वास की भावना इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसी भावना के आधार पर समस्त पुरुष जाति से बदला लेने की एक अचेतन इच्छा उनमें घर कर जाती है । इसीलिए वेश्या बनकर वे बदला लेने की इस इच्छा की सन्तुष्टि करती हैं और जो भी पुरुष उनके सम्पर्क में आता है उसका वे निर्दयतापूर्वक खूब शोषण करती हैं क्योंकि एक दिन इसी पुरुष से दारम्वार दया की भीख मांगने पर भी उसे नहीं मिला था । उस पुरुष के जीवन में वह निरन्तर विष घोलती रहती है क्योंकि पुरुष ने ही उसके जीवन को भी विषमय कर दिया है, उस पुरुष को उसके पारिवारिक जीवन से वह छीन कर अपने कदमों पर ला गिराती है क्योंकि पुरुष के कारण ही वह भी एक स्वस्थ-सुन्दर पारिवारिक जीवन से सदा के लिये वंचित हो गयी है । पुरुषों से बदला लेने की यह इच्छा ही उन्हें वेश्या बना देती है ।

#### पुरुषों के वेश्यागमन के कारण

#### (Causes of males' visiting Prostitutes)

डा० चौबे ने पुरुषों के वेश्यागमन के कतिपय आर्थिक, प्राणिशास्त्रीय, सामाजिक, व्यक्तिगत तथा मनोवैज्ञानिक कारणों का उल्लेख किया है जोकि संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) आर्थिक कारण—अपनी गिरी हुई आर्थिक स्थिति के कारण कुछ पुरुष विवाह नहीं कर पाते या नहीं करना चाहते हैं । इस प्रकार के कुछ पुरुष अपनी यौन-इच्छा की पूर्ति के लिये वेश्यागमन का सहारा लेते हैं । उसी प्रकार घर से दूर बड़े-बड़े शहरों में जाकर नौकरी करने वाले कुछ मजदूर तथा एजेंट आदि वेश्यागमन की लत में फँस जाते हैं । जो लोग विवाह करने के बाद भी सन्तानों का उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहते हैं वे भी अपनी स्त्री से यौन-इच्छा की पूर्ति न करके



वेश्यागमन का सहारा लेते हैं।

(२) प्राणीशास्त्रीय कारण—कुछ पुरुषों का अपनी शारीरिक कुपक्षता, आयु तथा किसी रोग के कारण विवाह नहीं हो पाता है। ऐसे पुरुषों में से कुछ लोग वेश्यागमन द्वारा अपनी यौन-इच्छा की पूर्ति करते हैं। कुछ पुरुषों का शारीरिक विकास ऐसा होता है कि उनमें यौन-इच्छा बहुत अधिक होती है। ऐसे लोग भी वेश्यागमन करते हैं।

(३) व्यक्तिगत तथा मनोवैज्ञानिक कारण—कुछ वेश्यागामी पुरुषों का कहना है कि वे अपनी सीधी-साधी पत्नियों में वे लोच और रस नहीं पाते जो उन्हें वेश्याओं में मिलता है। अतः वे परिवर्तन के लिये इस कुपथ की ओर मुड़ते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वे वेश्याओं के यहाँ उनके नृत्य संगीत, हाव-भाव तथा सुगन्ध के मोह में जाते हैं। वे व्यक्ति भी वेश्यागमन करते हैं जो अपनी पत्नियों में सरसता का अभाव पाते हैं। कुछ लोग मानसिक विकृतियों के कारण विवाह को पसन्द नहीं करते हैं और वेश्यागमन के द्वारा यौन-इच्छा की पूर्ति करना उन्हें अधिक अच्छा लगता है। कुछ पुरुष इस प्रकार से मानसिक रोगी होते हैं कि उन्हें अपनी सुन्दर पति-परायण पत्नी अच्छी नहीं लगती है। उन्हें वेश्याओं की चपलता, दुर्व्यवहार आदि अधिक पसन्द होते हैं।

(४) सामाजिक कारण—कुछ पुरुषों की स्त्रियाँ रोगग्रस्त रहती हैं, परन्तु समाज के भय से दूसरा विवाह करने का साहस नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी यौन-इच्छा की तृप्ति के लिये वेश्यागमन करते हैं। कुछ रोगग्रस्त पत्नियाँ तो स्वयं भी। अपने पति को ऐसा करने की अनुमति देती हैं। उसी प्रकार कुछ पुरुषों का विवाह ऐसी स्त्रियों से हो जाता है जिनमें वे विलकुल पसन्द नहीं करते हैं, पर समाज के डर से उसे त्याग भी नहीं सकते हैं। ऐसे पुरुषों को भी वेश्यागमन की लत लग जाती है। १७-१८ वर्ष का हो जाने पर युवकों में यौन सम्बन्ध की कामना प्रबल हो जाती है, पर सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण उन्हें यौन-इच्छा की तृप्ति का कोई साधन नहीं मिलता है। अतः वे भी वेश्यागमन के द्वारा ही अपनी यौन-इच्छा की सन्तुष्टि करते हैं।

संक्षेप में, यह सच ही कहा गया है कि वेश्यावृत्ति विविधता की इच्छा, असामान्य यौन-इच्छा, रहस्यमय और भड़काने वाले वातावरण की इच्छा तथा सभ्य बहाना बनाने की इच्छा की तृप्ति करता है।<sup>४</sup>

### वेश्यागमन के कुप्रभाव

(Evil consequences of Prostitution)

वेश्याओं पर जो अध्ययन किये गये हैं उन अध्ययनों को देख कर यह कहा

8. "Prostitution satisfies the craving for variety, for perverse gratification, for mysterious and provocative surroundings, for intercourse free from entangling cares and civilized pretends." Quoted in American Social Hygiene Association, *Social Hygiene Legislation Manual*, 1920, p. 48.



जा सकता है कि अधिकांश वेश्यायें उपदंश (Syphilis) और प्रमेह (Eonorrhea) आदि गुप्त रोगों से पीड़ित होती हैं। इन रोग ग्रस्त वेश्याओं से जो पुरुष शरीर सम्बन्ध स्थापित करते हैं वे भी इन रोगों के शिकार हो जाते हैं। इतना ही नहीं, यदि ये पुरुष विवाहित हुए तो इनकी स्त्री व बच्चों तक को ये रोग लग जाते हैं। इन गुप्त रोगों का बच्चों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है उनमें उपदंश (Syphilis) और प्रमेह (Eonorrhea) रोग तो आ ही जाते हैं। साथ ही साथ उनके आँख, कान की कमजोरी, कुष्ठ या क्षय रोग होने का भी डर रहता है। समय समय पर वेश्याओं की डाक्टरों की परीक्षा होने के बाद भी वे इन रोगों से अपने को बचा न सकीं। यह कहना उचित न होगा कि इन रोगों को जन्म देने वाली वेश्यायें हैं क्योंकि यह रोग केवल वेश्याओं के यहाँ ही नहीं बल्कि अन्य स्थलों पर भी पैदा होते हैं पर इतना अवश्य ही कहना पड़ेगा कि इन रोगों की अधिकता वेश्याओं में अधिक पाई जाती है।

जो व्यक्ति इन रोगों से पीड़ित हैं वे शक्ति हीन हो जाते हैं। किसी काम में उनका मन नहीं लगता। इस रोग से छुटकारा पाने के लिए पीड़ित व्यक्ति बहुत सा पैसा डाक्टरों को दे देते हैं, पैसा नष्ट हो जाता है पर रोग से मुक्ति नहीं मिलती। जिन देशों में वेश्यावृत्ति वैधानिक बना दी गई है वहाँ की सरकार काफी पैसा वेश्याओं के स्वास्थ्य पर खर्च कर रही है।

वेश्यावृत्ति की प्रवृत्ति अन्य अपराधों को बढ़ाने में मदद करती है जैसे शराब, जुआ, चोरी, हत्या आदि। ये वेश्यायें धनी व्यक्तियों को अपने जाल में फँसा लेती हैं और वह धनी व्यक्ति इस माया जाल में फँस कर धनी से निर्धन हो जाता है। यहाँ तक कि अपने धन को लुटाकर जब कुछ नहीं बचता तो वेश्या को धन देने के लिए चोरी करता है, बेईमानी करता है और इस छल कपट के द्वारा इकट्ठा किये हुए पैसे को रात में तोटों की नोकरानी के चरणों पर चढ़ा देता है। वेश्या के यहाँ से ही वह शराब पीना व जुआ खेलना सीखता है। इस प्रकार वेश्यावृत्ति से एक नहीं अनेक दुर्व्यसन व अपराध को बढ़ावा मिलता है।

वेश्याओं के यहाँ का दरवाजा सबके लिए खुला रहता है, चाहे वह चोर हो या हत्यारा, अपराधी हो या श्रमचारी। वेश्यालय इन अपराधी, श्रमचारी, चोर व डाकुओं को पुलिस के हाथों से बचा देते हैं क्योंकि वे अपने को बचाने के लिये वेश्यालयों में घुस जाते हैं। वेश्यायें भी पैसे के लालच में आकर इन अपराधियों को छिपाने में मदद करती हैं। इस प्रकार वेश्यालय चोर, लुटेरों के भूँडे बन जाते हैं। मुजरिम व अपराधी को बचाने के लिए वेश्या कचहरी व जेल तक जाती हैं।

वेश्यावृत्ति को रोकने के लिए कुछ सरकारी अधिकारी नियुक्त किये गये। पर इन वेश्याओं ने रुपये-पैसे का लालच दिखाकर घूस देकर चाहे वह पैसे का हो या शरीर का, उन सरकारी अधिकारियों को भी पथ भ्रष्ट कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार के व्यक्ति अपनी सरकार द्वारा बनाये गये नियमों को न मान कर वेश्याओं को और बढ़ावा देते हैं। उनमें घसखोरी, चोरी व भ्रष्ट



बोलने की आदत पड़ जाती है।

जो वेश्यायें बूढ़ी हो जाती हैं वह पैसे कमाने के लालच से भोली-भाली लड़कियों को मीठी-मीठी बातें करके या उन्हें अपने जाल में किसी तरह फंसा लेती हैं। एक बार बहकावे में आकर लड़की यदि गलत कदम उठा लेती है तो जीवन पर्यन्त उसे इस वेश्यावृत्ति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

वेश्यायें परिवार के जीवन को नरक बना देती हैं क्योंकि कुछ पुरुष वेश्याओं के माया जाल में फंस कर अपनी विवाहित पत्नी तक को तिलांजलि दे देते हैं या उनसे दासी जैसा व्यवहार करते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से पूरा परिवार विघटित हो जाता है।

वेश्यावृत्ति के उपरोक्त कुप्रभावों को देखकर यह मानना पड़ेगा कि वेश्यावृत्ति समाज के लिये अभिशाप है।

### वेश्यावृत्ति के नियन्त्रण के उपाय

#### (Measures for the control on Prostitution)

डा० चौबे ने वेश्यावृत्ति पर नियन्त्रण पाने के कुछ उपायों को प्रस्तुत किया है जो निम्नलिखित हैं :—

(१) कुछ स्त्रियाँ आर्थिक कठिनाई के कारण वेश्यावृत्ति को अपनाती हैं। इसलिए यदि हम वेश्यावृत्ति पर नियन्त्रण चाहते हैं तो इसके लिए हमें इन अवलाओं के लिए सुदृढ़ आर्थिक स्थिति की व्यवस्था करनी होगी। सरकार को चाहिए कि वह कुछ ऐसा प्रबन्ध करे ताकि ये स्त्रियाँ अपनी जीविका के साधन जुटा सकें।

(२) कुछ स्त्री-पुरुषों को पहले वेश्यावृत्ति के दुष्परिणामों के बारे में मालूम नहीं होता। वह अपनी यौन व शारीरिक संतुष्टि के लिए वेश्याओं से सम्पर्क बढ़ाते हैं और बाद में जब उस जाल में फंस जाते हैं तब उन्हें अपने किये पर पछतावा होता है। इसलिए नवयुवक और नवयुवतियों को वेश्यावृत्ति के दुष्परिणामों के बारे में बताना चाहिए तथा समुचित यौन शिक्षा देनी चाहिए ताकि भविष्य में वे इस गर्त में गिरने से बच जायें।

(३) कुछ वेश्यायें अपनी लड़कियों को भी अपने ही पेशे में लगा लेती हैं। इसे रोकने के लिए वेश्याओं की लड़कियों को शिक्षित करना चाहिए। शिक्षा इस प्रकार की दी जानी चाहिए ताकि वह जीविकोपार्जन कर सकें। अर्थात् शिक्षा के साथ ही साथ अन्य कौशल भी सिखाया जाय। ऐसी लड़कियों से विवाह करने के लिये नवयुवकों को उत्साहित करना चाहिए।

(४) कभी-कभी स्त्री-पुरुष का विवाह हो जाने पर जीवन-साथी यौनेच्छा संतुष्टि करने में अपने को असमर्थ पाता है। उस स्थिति में दोनों में से कोई भी वेश्यागमन वेश्यावृत्ति का सहारा लेता है। इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा न हो इसके लिए विवाह से पूर्व ही स्त्री और पुरुष की डाक्टरी परीक्षा करा लेनी चाहिए। दोनों ही जब पूर्ण रूप से स्वस्थ हों तभी विवाह करना चाहिए अन्यथा नहीं।

(५) समाज में कुछ धन लोलुप व्यक्ति होते हैं जो धन पाने के लालच से



भोली-भाली लड़कियों को वेश्यावृत्ति के चक्कर में लाकर डाल देते हैं। ऐसे लोगों की आजीविका का कोई समुचित प्रबन्ध कर देना चाहिए ताकि वे इस बुरे कर्म को छोड़ दें।

(६) जो वेश्यायें अपने पेशे से ऊब कर उसे छोड़ना चाहती हैं और समाज में रहकर सम्मानित जीवन व्यतीत करना चाहती हैं ऐसी वेश्याओं को समाज द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए कि वे मन के अनुसार पेशे को चुन सकें तथा शिक्षा ग्रहण कर सकें। सरकार को चाहिए कि वे इस प्रकार की वेश्याओं को कुछ कला कौशल सिखाये ताकि वे अपनी जीविका कमा सकें।

(७) श्री चौवे का कहना है कि जो व्यक्ति अपनी मानसिक विकृति के कारण वेश्यावृत्ति या वेश्यागमन का सहारा लेते हैं उनकी मानसिक चिकित्सा के लिए सरकार को मन चिकित्सालयों की स्थापना करनी चाहिए।

(८) नवयुवकों व युवतियों को समुचित यौन शिक्षा देना, आत्म संयम करने के लिए उत्साहित करना तथा उचित आयु में यथासंभव शीघ्र विवाह कर देना बहुत आवश्यक है जिससे कि वेश्यागमन पर नियंत्रण पाया जा सकता है। स्त्रियों को थोड़ा बहुत संगीत तथा कला में रुचि रखना चाहिए जिससे कि संगीत और कला के मोह में कोई पुरुष वेश्यागमन की ओर न झुके। साथ ही पुरुषों की इस मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है कि बाहरी सुन्दरता ही सब कुछ नहीं है। इस प्रकार के परिवर्तन से अपनी स्त्रियों के सुन्दर न होने के कारण पुरुषों के वेश्यागमन पर रोक लगायी जा सकती है।

### भारत में वेश्यावृत्ति पर संविधान

#### (Legislation on Prostitution in India)

समाज में व्याप्त वेश्यावृत्ति की कुप्रथा को नष्ट करने के लिए समय-समय पर विभिन्न राज्य सरकारों ने अलग-अलग अधिनियम पास किये। परन्तु इससे कोई विशेष लाभ न हुआ और औद्योगिक क्षेत्रों में खुले आम वेश्यावृत्ति व्यापक रूप में चलती रही, साथ ही स्त्रियों तथा कन्याओं का अनैतिक व्यापार, जैसे लड़कियों को भगा ले जाकर बेचना या खरीदना आदि भी खूब चलता रहा। इसे रोकने के लिये केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने २४ दिसम्बर सन् १९५५ को “सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य-विज्ञान समिति” (Social and Moral Hygiene Committee) की स्थापना की जिसका काम स्त्रियों तथा बच्चों के अनैतिक व्यापार के सम्बन्ध में जाँच करके अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करना था। इस कमेटी की रिपोर्ट सितम्बर सन् १९५५ में प्रकाशित हुई। इसकी सिफारिशों के आधार पर सन् १९५६ में केन्द्रीय सरकार द्वारा “स्त्री तथा कन्याओं का अनैतिक-व्यापार निरोधक अधिनियम” (Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Act, 1956) पास हुआ जो कि १ मई १९५७ से समस्त देश में लागू किया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) अब तक इस सम्बन्ध में जो अधिनियम बने थे वे अलग-अलग राज्यों



में अलग-अलग थे । वह अधिनियम सारे देश पर लागू होगा जिससे प्रत्येक स्थान में यह अलग-अलग न होकर एकसा हो ।

(२) वेश्यालय रखने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों को १ से १५ साल तक क्री कैद तथा २ हजार रुपये तक का जुर्माना किया जा सकता है ।

(३) 'वेश्या' और 'वेश्यावृत्ति' की परिभाषा इस अधिनियम में इस प्रकार है—“कोई भी स्त्री जो धन या वस्तु के बदले में अवैध यौन-सम्बन्ध के लिए अपने शरीर को अर्पण करती है, वह 'वेश्या' है और अपने शरीर को इस प्रकार यौन-सम्बन्ध के लिए अर्पण करना 'वेश्यावृत्ति' है ।”

(४) इस अधिनियम के अन्तर्गत वह सभी स्त्रियाँ जो २१ वर्ष से कम आयु की हैं 'लड़की' समझी जायेंगी । इस परिभाषा के अनुसार अधिनियम के लागू हो जाने पर वेश्यालयों की तलाशियाँ ली गईं और अनेक लड़कियाँ जो २१ वर्ष से कम की थीं, गिरफ्तार करके सुरक्षा-गृहों में भेज दी गईं ।

(५) इस अधिनियम के अनुसार किसी वेश्या के अपने लड़के या लड़की को छोड़कर अगर कोई १८ वर्ष से अधिक आयु का व्यक्ति पूर्णतः या अंशतः उसकी आय पर निर्भर करता है तो उसे २ वर्ष की सजा या १ हजार रुपये तक जुर्माना किया जा सकता है ।

(६) वेश्या के साथ रहना, उस पर नियन्त्रण रखना, उसे इस कार्य के लिए बाध्य करना, वेश्यावृत्ति के लिए स्त्रियों या लड़कियों को फुसलाना या उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान में वेश्यावृत्ति के लिए ले जाना कैद और जुर्माने के रूप में दण्डनीय होगा । उसी प्रकार शब्द या इशारे से या अपने किसी अंग के प्रदर्शन से लोगों का ध्यान अपनी तरफ वेश्यावृत्ति के लिए आकर्षित करना या सार्वजनिक स्थान में इसी उद्देश्य से इस प्रकार घूमना फिरना कि असलीलता तथा बेहूदगी प्रकट हो तो उसके लिए भी कैद और जुर्माने की सजा मिलेगी ।

(७) इस अधिनियम में इसके अन्तर्गत वेश्यावृत्ति में लगी स्त्रियों और लड़कियों के पुनर्वास और सुधार के लिए सुरक्षा गृहों की स्थापना का भी प्रस्ताव है ।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वेश्यावृत्ति की इस सामाजिक बुराई को रोकने के लिए सरकार प्रयत्नशील है और इस उद्देश्य से प्रत्येक राज्य में सुरक्षा-गृहों की स्थापना कर दी गई है । परन्तु कानून और सुरक्षा-गृह बन जाने से वास्तविक अर्थ में वेश्यावृत्ति का अन्त नहीं हो सकता जब तक कि वेश्यावृत्ति के कारणों को दूर न किया जायेगा । इसके लिए आवश्यक है कि सामाजिक परिस्थितियों को बदलने की और आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन लाने की जिससे कि किसी भी लड़की या स्त्री को कम से कम रोटी कपड़े के लिए अपने शरीर का व्यापार न करना पड़े । रोटी कपड़े के लिए जहाँ नारीत्व विक जाता है वहाँ नारी का स्थान भी पुरुषों की निगाह में नीचे स्तर का ही होता है । दोनों ही स्थिति समाज के लिए कलंक का विषय है, इसलिए लज्जास्पद भी ।



## आत्महत्या (Suicide)

आज की लाजा खबर । आज की दुःखद खबर । मोहल्ले के सबसे मिलनसार दिल और दिमाग में सबसे तेज, सेवापरायण, होनहार नीजवान लड़का अनिल कल रात खुद फाँसी लगाकर मर गया है । चला गया है । रुठ कर इस दुनिया से छोड़ गया है एक पत्र उसी दुनिया के लिए, दुनियावालों के लिए । गरीब घर का लड़का था अनिल । कितनी परेशानी भेजकर उसकी विधवा माँ ने उसे पढ़ाया था । पढ़ने-लिखने में बहुत तेज था वह । स्कूल से कालेज तक की सभी परीक्षाओं में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हुआ था वह । सपना देखता था अनिल अपने भविष्य का— अच्छी नौकरी, प्रच्छी आमदनी, आर्थिक चिन्ता से विमुक्त एक सुन्दर परिवार जिसमें वह होगा और होंगी बड़ी माँ और स्कूल, कालेज में पढ़ते हुए उससे छोटे-छोटे भाई-बहन । उसकी पढ़ाई के लिए जो कुछ भी ऋण उसकी माता जी ने लिया है सब कुछ वह अदा कर देगा । भाइयों को खूब पढ़ायेगा और बहनों की शादी बड़े धूम-धाम से करेगा । माँ के लिए ऐसी कपड़े खरीदकर ले आयेगा उसी दिन जिस दिन उसे पहली तनख्वाह मिलेगी । माँ कितनी खुश होगी । उसे गले से लगा लेगी । सोचेंगी लड़का आज उनका लायक हो गया है और अब उनके दुःख के दिन खत्म हो गये हैं । यह विचार माँ के मन में आयेगा, उन्हें कितना सन्तोष होगा और उस सन्तोष की अभिव्यक्ति होगी माँ की आँखों के आँसू—आनन्द के आँसू सन्तोष के आँसू । पर सब सपना बिखर गया । कालेज से डिग्री लेने के बाद एक वर्ष बीत गया । अनिल को कोई नौकरी नहीं मिली । कर्ज को अदा करने के लिए महाजन का तगादा बढ़ता गया और उसी के साथ बढ़ता गया दरिद्रता के दानव का दहाड़ना । उस गर्जन को सुन कर, उस दानव के भयानक रूप को देखकर अनिल चौंक उठा, चौंक उठी उसकी माँ भी । दाने-दाने को तरस गया पूरा परिवार, भाई बहनों का स्कूल जाना बन्द हो गया, जीवन के सब सपनों का अन्त हो गया । इसी लिए केवल जीवन को बचाकर ही अब क्या करेगा अनिल, इसीलिए जीवन का भी अन्त कर रहा है वह । ‘माँ, तुम मुझे क्षमा कर देना । तुम्हारा अनिल हार गया है ; हार कर ही तुम सब को छोड़ कर जा रहा है । क्षमा कर देना माँ ।’ अनिल ने अपने पत्र में लिखा है—यही लिखकर इति किया है पत्र और अपने जीवन का भी ।

देवाशिष ने घर पर आकर जब उपरोक्त दुःखद समाचार सुनाया तो सब



लोग स्तब्ध रह गये। उस स्तब्धता के बीच ही माँ को, पिता जी को, बड़े भैया को यहाँ तक कि स्वयं देवाशिष को भी याद आयी, ऐसी ही कितनी घटनायें। फिर क्या था, शुरू हुई उन सब घटनाओं की पुनरावृत्ति। पिता जी ने सुनाई सेठ वीरूमल की कहानी। लाखों रुपयों का मालिक वीरूमल सट्टेवाजी में जब भिखारी बन गया तो सब को बहुत आश्चर्य हुआ था। पर लोगों को उससे भी अधिक आश्चर्य हुआ था उस दिन जिस दिन कोठी नीलाम हो जाने के बाद भी वीरूमल अपने बीबी-बच्चों के साथ किराये के एक मकान में हंसते हुए चले गये। लोग कहते हैं कि वह हंसी नहीं, रोना था उनका। कुछ भी हो वीरूमल ने हंसा था उस दिन, पर उनकी हंसी धीरे-धीरे उस समय खत्म हो गयी जिस दिन उनकी हालत पर उनके ही नौकर-चाकर हंसने लगे, वे लोग हंसने लगे जो कि एक दिन सेठ जी के ही दया के भिखारी थे। वह भी सहन था सेठ वीरूमल को, पर असहनीय हो गया तब जब कि घर में बीबी बच्चे तक उन पर हंसने लगे, उन्हें ताना देने लगे उनकी अदूरदर्शिता तथा दुष्कृति के लिए। सेठ वीरूमल सट्टेबाज थे—दाव लगाना खूब आता था उन्हें। इस बार उन्होंने दाव लगाया पूरे अपने जीवन का—ताने के बदले सहानुभूति पाने के लिए, हंसी के बदले आँसू देखने के लिए। पर इस दाव में वह हार गये या जीत गये इसका उत्तर सेठ वीरूमल से लोगों को सुनने को नहीं मिला—मिली केवल दूसरे दिन पंलग पर उनकी लाश। डाक्टर ने ऐलान किया कि अत्यधिक मात्रा में सोने की गोली खा लेने के कारण मृत्यु हुई है। खोजने पर गोलियों की शीशी भी मिली और मिली एक लाइन की एक परची—“मैं सट्टेबाज था। दाव लगाना ही मेरा काम है। सब दाव हार कर जीवन का दाव लगा रहा हूँ। इसके लिए भी मैं ज़िम्मेदार हूँ।”

पर सुधा और सुनील ने तो कमाल कर दिखाया था—भैया जी ने कहा हमारे ही कालेज में पढ़ते थे दोनों। सुधा गरीब ब्राह्मण घर की लड़की थी और सुनील धनी कायस्थ घर का लड़का। कालेज जीवन में ही प्यार हो गया दोनों में—न तो ‘जाति’ रोक सकी उन्हें और न ही ‘धन’ रोक सका उन दोनों को। पर दोनों के ही माता-पिता ने उनके विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। एक का दूसरे से मिलना वन्द कर दिया उन लोगों ने। सोचा था दूर रहने से प्रेम भी दूर भागेगा पर हिमाव में कुछ गलती रह गयी थी। एक दिन सुधा के नाम एक पत्र आया। भेजने वाले का जो पता लिफाफे के ऊपर लिखा था उससे पता चलता था कि सुधा की देहली वाली सहेली साधना ने पत्र भेजा है। पिता ने पत्र को पुत्री के हवाले कर दिया। इसके बाद दो दिन सही सलामत बीत गये। फिर एक सुबह काफी दिन ढल जाने के बाद भी जब सुधा ने कमरे का दरवाजा नहीं खोला तो दरवाजा तोड़ा गया। सुधा मर चुकी थी, पाम ही पड़ा था एक पत्र। लिखा था, “पिता जी आप मुझे रोक नहीं सके। मैं सुनील से मिलने जा रही हूँ।” खबर लेने पर पता चला उसी रात सुनील ने भी वही किया था जो कि सुधा ने किया था। दोनों ने ही तेज विष पान किया था। बाद को यह भी पता चला कि वह पत्र साधना का



नहीं मुनील का ही था। उसी पत्र में विप भेजा था मुनील ने मुधा के लिए और उसी में लिख भेजा था एक ही रात एक ही साथ मृत्यु को अलिप्त करने का निर्देश—महामिलन के उपदेश।

पर सब लोग सुना-मुनील नहीं होते हैं—माँ ने दुःखद स्वर से कहा। बेचारी बेला के साथ जो बेईमानी सैतान शैलेन्द्र ने की थी, वह बात सोचती हूँ तो आज भी मुझे रोना आता है। बीस-इक्कीस वर्ष की बेला वास्तव में सुन्दरी युवती थी। पर थी विधवा। धनी पिता ने बेटी को अपने घर पर रखकर उसे घर पर पढ़ाने-लिखाने के लिए शैलेन्द्र को नियुक्त किया था उसने अपने को अविवाहित तथा उच्च कुल का लड़का बताया और धीरे-धीरे बेला को अपनी और आकर्षित किया। सहज हृदय से बेला ने उसका विश्वास किया, पर विद्वान् शैलेन्द्र ने उसी विश्वास को काम में लगाया और बेला का सब कुछ लूट लिया, शारी करने का आश्वासन देकर। पर इसके कुछ ही दिन बाद बेला की एक सहेली दूसरे शहर से बेला से मिलने आयी। एक सहेली ने दूसरी सहेली को शैलेन्द्र की बुराई-फोटो दिखावाई। बेला के हाथ में शैलेन्द्र का फोटो देखकर सहेली चौंक उठी। अभागिन तूने यह क्या किया है, किसको अपना सब निछावर किया है। शैलेन्द्र तो बीबी-बच्चे वाला है। बेला निस्तब्ध रह गयी। फिर रात को उस बजे शैलेन्द्र के घर गयी अकेले नहीं, पिता जी के रिवाजवर के साथ। शैलेन्द्र के सामने खड़े होकर कुछ प्रश्न किया और फिर एक साथ दो गोलियाँ मार कर शैलेन्द्र के विश्वास-घात का बदला लिया। इसके ठीक आठ घण्टे बाद बेला के घर के सब लोग चौंक उठे गोली दागने की आवाज सुनकर। दौड़कर आये, पर तब तक सब कुछ खत्म हो चुका था। बेला ने गोली अपने पेट में मारी थी—खुद मरने से पहले अपने शरीर में पलने वाली शैलेन्द्र की निशानी तक को समाप्त करने के लिए। बेचारी बेला मर गयी, पर पत्र लिखकर सब कुछ बता गयी सब को। अन्त में लिखा था, “मुझे शायद समाज से क्षमा न मिले, पर शैलेन्द्र को तो भगवान भी कभी क्षमा नहीं करेगा।”

ये सभी स्वयं के द्वारा स्वयं को मारने की कथाएँ हैं—ये सभी आत्महत्याएँ हैं। यह अध्याय लेखिका की लेखनी के माध्यम से आत्महत्या की ही आत्म-कथा है।

**आत्महत्या क्या है**

(What is Suicide)

श्री प्रभात त्यागी का कथन है कि ‘हँमते-हँमते जीना’ सुन्दर जीवन का आदर्श है और ‘हँमते-हँमते मरना’ शौर्य व आत्म-वृद्धता का परिचायक है। पर बहुत कम लोग ऐसे हैं जो वास्तव में जीना अथवा मरना जानते हैं। जिन्हें जीना आता है, उन्हें मरना नहीं आता और जो मरना जानते हैं, वे जीना नहीं जानते और आत्म-हत्या करने वाले तो न जीना ही जानते हैं और न मरना ही। जीवन उन्हें बोझ प्रतीत होता है और इसीलिए वे कतिपय अस्वाभाविक उपायों द्वारा मृत्यु को बुला



कर अपने बोझ को उसके हवाले करना चाहते हैं। यह तो जीवन की वास्तविकताओं से पलायन की प्रवृत्ति है। आत्महत्या पलायनवाद की अति है। जीवन की समस्याओं का डटकर सामना करने के स्थान पर उनके सामने से भागना अथवा उनसे हार मान लेना निश्चय ही कायरता है, और कायरता भी निम्न कोटि की। अब तक लोगों को कहते हुए सुना है कि व्यक्ति मौत से डरता है, किन्तु समाज में बढ़ती हुई आत्महत्यार्ये आज यह सिद्ध कर रही हैं कि व्यक्ति मौत नहीं अपितु जीवन से डरता है। जीवन से, जीवन की वास्तविकताओं से अथवा जीवन की वास्तविक समस्याओं से डर कर जब व्यक्ति स्वयं अपने जीवन को समाप्त कर देता है तो उसे ही आत्म-हत्या कहते हैं।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britannica) के अनुसार “आत्महत्या अपनी इच्छा से तथा जानबूझकर किया गया आत्महनन है।”<sup>1</sup>

सर्वे श्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है, “आत्महत्या वैयक्तिक विघटन का दुःखद तथा अरिवर्तनीय अन्तिम परिणाम है। यह व्यक्ति के दृष्टिकोणों में होने वाले उस क्रमिक परिवर्तनों का अन्तिम स्तर है जिसमें व्यक्ति के मन में जीवन के प्रति अभावनीय प्रेम के स्थान पर घृणा की भावना उत्पन्न हो जाती है।”<sup>2</sup>

श्री महावीर अधिकारी के अनुसार, “हत्या से भी बड़ा अपराध आत्महत्या को माना गया है, इसलिए कि इससे हर जीने वाले का जीवन पर से विश्वास उठने लगता है और शायद इसलिए भी कि आत्महत्या करने की इच्छा उस मनःस्थिति में पैदा होती है जब आदमी अपने गुनाह के प्रति प्रायश्चित्त की अग्नि में तपकर जीने के लिए सर्वथा उपयुक्त होकर भी जीवन का अन्त करना चाहता है।”

### आत्महत्या कौन करते हैं (Who commit suicide)

आत्महत्या के आँकड़े यह सिद्ध कर चुके हैं कि पढ़े-लिखे व्यक्ति आत्महत्या अधिक करते हैं, जबकि अशिक्षित व्यक्तियों में आत्महत्या के प्रति एक भय-सा होता है। पशु बुद्धहीन होकर भी शान्ति से जीते हैं। भूख या प्राकृतिक कोप आदि समस्याओं से डरकर वे कभी आत्महत्या नहीं करते। यह देखकर मन में प्रश्न उठता है कि क्या हमारी अत्यधिक बौद्धिकता ही हमारे पतन का कारण नहीं है।

आत्महत्या के आँकड़ों से यह भी विदित होता है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष तीन गुनी अधिक आत्महत्या करते हैं। शायद इसका कारण यह है पुरुष स्त्रियों की

1. “Suicide is the act of voluntary and intentional self destruction.”

—Encyclopaedia Britannica.

2. “Suicide represents the final tragic and irreversible culmination of personal disorganization. It is the last stage in a series of progressive changes in attitudes, from the blind and unthinking love of life at birth to a hatred of life and all that it means.” M. A. Elliott and F. E. Merrill, *Social Disorganization*, New York, 1950, pp. 302-303.



अपेक्षा सामूहिक जीवन या बाहरी प्रतियोगिता में अधिक भाग लेते हैं। इसलिये उनमें निराशा, सफलता आदि की भावनाओं के पनपने की सम्भावना भी अधिक होती है। परन्तु यदि असफल आत्महत्याओं के आँकड़ों की विवेचना की जाय तो हम यह पायेंगे कि जब कि “सफल” आत्महत्याओं (successful suicides) की संख्या पुरुषों में अधिक है, “असफल” आत्महत्याओं (unsuccessful suicides) की संख्या स्त्रियों में पर्याप्त अधिक होती है। स्त्रियों द्वारा आत्महत्याओं का प्रयत्न असफल होने के कुछ सम्भावित कारण ये हैं कि (अ) स्त्रियों में मरने की इच्छा (wish to die) दुर्बल होती है; (ब) स्त्रियाँ आत्महत्या की जिन विधियों को चुनती हैं वे सहज और सरल होती हैं, इसलिये कम प्रभावपूर्ण भी होती हैं; (स) किस चीज की कितनी मात्रा लेने से मृत्यु हो सकती है, इस सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम होता है; (द) जो स्त्रियाँ आत्महत्या करती हैं, उनमें से अधिकतर ३० वर्ष से कम आयु की होती हैं और यह कहा जाता है कि इस आयु में होने वाली आत्महत्याएँ स्त्रियों और पुरुष दोनों के ही मामले में कम असफल होती हैं; (य) कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि स्त्रियाँ जानबूझ कर आत्महत्या की अधिक प्रभावपूर्ण विधियों या साधनों को इसलिए नहीं चुनती हैं कि बच जाने के बाद उन्हें प्रेमी या पति की सहायुभूति अधिक मिल सकेगी।

आयु का भी आत्महत्या की दर से सम्बन्ध बताया जाता है। कहा जाता है कि आयु के बढ़ने के साथ-साथ आत्महत्या की दर भी बढ़ती है। अर्थात् कम आयु की अपेक्षा अधिक आयु वाले व्यक्ति आत्महत्याएँ अधिक करते हैं। आधे से अधिक आत्महत्याएँ ४५ वर्ष या उससे अधिक आयु के व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं। इसका एक सामान्य कारण यह हो सकता है कि बूढ़ों की अपेक्षा बच्चों पर सामूहिक जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव कम पड़ता है।

सैनिक लोग आम जनता की अपेक्षा अधिक आत्महत्या करते हैं। अविवाहित, विवाह-विच्छेद द्वारा पृथक्, विधवा तथा विधुर लोगों में आत्महत्या की दर अधिक ऊँची है। विवाहितों में बच्चों वाले व्यक्तियों में कम आत्महत्या होती है, पर निःसन्तान दम्पति अधिक आत्महत्या करते हैं क्योंकि इन पर परिवार का वह स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता है जो उन्हें परिवार के साथ बाँधकर आत्महत्या करने से उन्हें विमुख रख सके।

नगर निवासियों की अपेक्षा गाँव के लोग आत्महत्याएँ कम करते हैं इसके निम्नलिखित कारण बताए जाते हैं—गाँव में अपेक्षाकृत अधिक सुखी व स्थिर (stable) पारिवारिक जीवन, कम विवाह-विच्छेद, रोमान्स तथा आर्थिक अटकप, अधिक बच्चों तथा प्रथा, परम्परा, धर्म आदि में किसानों का अधिक विश्वास है।

### आत्महत्या करने की विधियाँ

#### (Methods of Committing Suicide)

आत्महत्या करने की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं जिनमें अपने को गोली मार लेना अत्यधिक “लोकप्रिय” है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष इस विधि का अधिक प्रयोग



करते हैं। दूसरी लोकप्रिय विधि गले में रस्सी बांध कर फाँसी लगा लेना है। आत्म-हत्या करने वाले पुरुषों में प्रायः ३० प्रतिशत इसी विधि का प्रयोग करते हैं। स्त्रियाँ आत्महत्या करने के जितनी विधियों को अपनाती हैं उनमें फाँसी लगाना सबसे अधिक लोकप्रिय है। विपैले गैस का प्रयोग करके भी लोग आत्महत्या करते हैं। इस विधि का प्रयोग गाँव से शहर के लोग अधिक प्रयोग करते हैं। पोटासियम साइनाइड या ऐसे ही दूसरे विषैले पदार्थ खाकर मरना आत्महत्या की चौथी विधि है जहाँ तक कि पुरुषों का सम्बन्ध है। स्त्रियों के लिये यह दूसरी लोकप्रिय विधि कही जाती है। ७ प्रतिशत पुरुष तथा २० प्रतिशत स्त्रियाँ इस विधि का प्रयोग करती हैं। भारतवर्ष की स्त्रियों के लिए आत्महत्या करने की एक और सामान्य विधि वस्त्रों में तेल छिड़क कर आग लगा लेना है। उसी प्रकार कुएँ, नदी, तालाब में कूद कर आत्महत्या कर लेना भारतीय स्त्रियों को खूब आता है। भारतीय गाँवों में कुएँ का प्रयोग बहुत किया जाता है। उसी प्रकार नगरों में सोने की गोलियाँ अधिक मात्रा में खा लेना उच्च वर्ग के पुरुष व स्त्रियों में आत्म-हत्या करवे की एक और लोकप्रिय विधि है। अन्य प्रचलित विधियों में रेल के इंजन के सामने कूद कर या लेटकर कटके मर जाना, ऊँचे मकान की छत से कूद कर जान दे देना, डी० डी० टी०, अफीम आदि खा लेना, कमरा बन्द करके अंगीठी आदि सुलगा लेना तथा बिजली का करंट छूकर मरना आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

वास्तव में आत्महत्या करने की विधियाँ तो अनेक हैं, पर किस विधि का प्रयोग एक व्यक्ति करेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह व्यक्ति किस विधि को ठीक और आसान समझता है।

### आत्महत्या के सिद्धान्त (Theories of Suicide)

आत्महत्या की प्रक्रिया व्यक्ति के जीवन में किस प्रकार क्रियाशील होती है इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपना-अपना मत व्यक्त किया है। उनमें सर्वश्री कैवन (Cavan), मैनिन्जर (Menninger) तथा दुर्खीम (Durkheim) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके विचारों को हम यहाँ अलग-अलग प्रस्तुत करेंगे।

#### कैवन का सिद्धान्त

##### (Theory of Cavan)

श्री कैवन ने आत्महत्या की प्रक्रिया पर सबसे अधिक विस्तारपूर्वक तथा वैज्ञानिक ढंग से विचार प्रकट किये हैं।<sup>3</sup> आपके मतानुसार आत्महत्या की प्रेरणा देने वाले आन्तरिक संकटों (internal crises) को पाँच सामान्य श्रेणियों (general categories) में विभाजित किया जा सकता है। वास्तव में ये संकट वैयक्तिक विघटन के ही विभिन्न रूप या अभिव्यक्तियाँ हैं जोकि जीवन संरचना (life structure) के बिखर जाने को ही सूचित करते हैं। आत्महत्या इसी बिखरे हुए जीवन संरचना की ही चरम

3. R. S. Cavan, *Suicide*, University of Chicago Press, Chicago, 1928, pp. 148-177.



अभिव्यक्ति या अन्तिम स्तर है। आन्तरिक संकटों की पाँच श्रेणियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) अज्ञात इच्छा (Unidentified craving)—यह वह मानसिक अवस्था (state of mind) है जबकि व्यक्ति अपने जीवन से पूर्णतया ऊब जाता है, और वह संसार के सुख और दुःख के प्रति उदासीन हो जाता है। यह भावना उस अवस्था में उत्पन्न होती है जबकि व्यक्ति की अज्ञात इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती है और वह यह अनुभव करने लगता है कि उसकी जिन्दगी नीरसता से बीत रही है—न उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन है और न ही जीवन में कोई नवीनता। इस नीरस जीवन के कारण जो दुःख उसे होता है उसके फलस्वरूप न तो वह सुख का उपभोग कर पाता है और न ही खूब रोकर दिल हल्का करने योग्य रह जाता है। इस मानसिक स्थिति में ही व्यक्ति आत्महत्या करता है।

(२) परिचित इच्छा (Recognized wish)—आत्महत्या को प्रेरित करने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क की दूसरी संकट अवस्था परिचित इच्छा है। मस्तिष्क की इस अवस्था में व्यक्ति किसी गम्भीर मौलिक आवश्यकता की वस्तुओं के लिये विशेष उद्देगात्मक भावना या प्रबल इच्छा का अनुभव करता है। इन वस्तुओं में हम मकान, पत्नी, सन्तान, नौकरी, धन, पद-प्रतिष्ठा आदि का उल्लेख कर सकते हैं। इन चीजों को जब कोई व्यक्ति अपने जीवन के आधार के रूप में गम्भीरतापूर्वक स्वीकार कर लेता है या उन वस्तुओं को जीवित करने की एक आवश्यक शर्त मान बैठता है उस अवस्था में यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है या यह धारणा उसके मन में घर कर जाती है कि किसी भी प्रकार वह इनमें से किसी भी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता है तो उस व्यक्ति के लिये जीवन मूल्यहीन हो जाता है और उस मूल्यहीन जीवन को समाप्त कर देने में भी इसीलिए उसे संकोच नहीं होता है।

(३) विशेष इच्छा (Specific wish) :—किसी-किसी व्यक्ति में कोई विशेष इच्छा कभी-कभी गम्भीर रूप में प्रगट होती है और वह यह चाहता है कि उसकी उस विशेष इच्छा की पूर्ति हो जाए। जैसे कि एक व्यक्ति एक विशेष लड़की से ही विवाह करना चाहता है या किसी विशेष पद को प्राप्त करने की विशेष इच्छा है। चूँकि इच्छा 'विशेष' है, इसीलिये व्यक्ति के लिये उसका महत्त्व भी विशेष या अत्यधिक है। परन्तु यदि इस विशेष इच्छा के साथ व्यक्ति के मन में यह दुःख छिपा हुआ है कि उसकी उस विशेष इच्छा की पूर्ति की बहुत कम सम्भावना है तो जीवित रहने का कोई भी अर्थ वह व्यक्ति ढूँढ़ नहीं पाता है। और भी स्पष्ट रूप में, विशेष इच्छाओं की पूर्ति न होने पर व्यक्ति में जीने की इच्छा भी नहीं रहती है और वह आत्महत्या करने को प्रेरित होता है।

(४) मानसिक संघर्ष (Mental conflict) :—जब व्यक्ति के सामने दो विरोधी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और व्यक्ति यह निश्चय नहीं कर पाता है कि वह किसका त्याग करे और किसको ग्रहण करे, तब व्यक्ति अपने को एक मानसिक संघर्ष की परिस्थिति में पाता है जो कि उसे आत्महत्या करने के लिए प्रेरित



कर सकता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति एक लड़की से अत्यधिक प्रेम करने के कारण उससे विवाह करना चाहता है, पर उसके माता-पिता जिन्हें भी वह व्यक्ति अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति तथा प्यार करता है, उस विवाह का विरोध करते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने को एक मानसिक संघर्ष की स्थिति में पाता है कि वह किसका ख्याल रखे—माता-पिता का या प्रेमिका का। यदि वह प्रेमिका का ख्याल करता है तो माता-पिता की दृष्टि से वह अपने को दोषी पाता है और यदि माता-पिता का ध्यान रखता है तो वह प्रेमिका के प्रति अन्याय करता है। इसीलिये किसी के प्रति अन्याय न करने के लिए वह स्वयं अपने जीवन के प्रति अन्याय करता है और आत्महत्या करके अपने को उस मानसिक संघर्ष की स्थिति से छुटकारा देता है।

(५) बाहरी परिस्थितियों द्वारा जीवन संगठन का भंग होना (The break down of the life organization by external circumstances) :—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति के नियंत्रण से परे कुछ बाहरी परिस्थितियाँ उसके जीवन-संगठन को बिल्कुल ही छिन्न-भिन्न कर दें। उदाहरणार्थ असफलता, तलाक, प्रेमी या प्रेमिका की मृत्यु, पागलपन, अधिक मद्यपान, गिरफ्तारी, बुरा स्वास्थ्य आदि के कारण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे व्यक्ति का जीवन-संगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है और वह आत्महत्या करता है। उसी प्रकार व्यक्ति तथा उसकी बाहरी दुनिया के बीच प्रत्येक प्रकार से विरोध और असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होने पर व्यक्ति के मन में यह भावना घर कर लेती है कि उसकी हर बात दुनिया को नापसन्द है और इसलिए आत्महत्या करके उसे अपने को दुनिया से दूर ले जाना चाहिए। ऐसी अवस्था में भी व्यक्ति आत्महत्या करता है।

### मैनिन्जर का सिद्धान्त (Theory of Menninger)

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आत्महत्या का विश्लेषण कई विद्वानों ने किया है उनका कथन है कि मनुष्यों में केवल 'जीने की इच्छा' (the will to live) ही एक मात्र मूलप्रवृत्तात्मक प्रेरक (instinctive urge) नहीं है अपितु जीने की इच्छा के साथ ही मरने की इच्छा भी स्पष्ट किन्तु अचेतन रूप में होती है। एक व्यक्ति के जीवन का नाटक इन दोनों शक्तिशाली मूलप्रवृत्तियों के बीच एक दूसरे का नाश करने के लिये होने वाले निरन्तर युद्ध में देखा जा सकता है। कुछ परिस्थितियों में 'मरने की इच्छा' 'जीने की इच्छा' पर विजय प्राप्त कर सकती है। यह हो सकता है कि मृत्यु की इच्छा इतनी दुर्बल हो कि वह जीने की इच्छा पर विजय प्राप्त करने में केवल कुछ अंश में ही सफल रहे। ऐसी स्थिति में व्यक्ति धीरे-धीरे और दुःखदायक ढंग से अपने प्राण दे सकता है, जैसे कि अत्यधिक मद्यपान करके, जानबूझ कर छोटी-मोटी दुर्घटनाओं का शिकार होकर आदि। इसके विपरीत, ऐसा भी हो सकता है कि मरने की इच्छा इतनी प्रबल हो कि वह जीने की इच्छा को बिल्कुल ही कुचल दे। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अत्यधिक घातक कदम उठाता है और आत्महत्या कर



लेता है। जीवन पर मृत्यु विजयी होती है (Death triumphs over life)।<sup>4</sup>

श्री मैनिन्जर के मतानुसार आत्महत्या को मृत्यु के एक अत्यन्त जटिल स्वरूप के रूप में (as a highly complex form of death) ही पूर्णतया समझा जा सकता है जिसमें तीन स्पष्ट तत्वों का समावेश होता है—(१) मारने की इच्छा (the wish to kill,) (२) मारे जाने की इच्छा (the wish to be killed)। दूसरे शब्दों में, आत्महत्या करने वाले व्यक्ति में सबसे पहले हत्या करने या मारने की इच्छा जागृत होती है जो कि चाहे अपने ऊपर अथवा दूसरे व्यक्तियों के ऊपर बाह्य रूप में प्रगट हो सकती है। इसके बाद उस व्यक्ति को अपनी इन मारने की इच्छाओं को स्वयं की हत्या करने के हिंसात्मक कार्य में अपनी ही ओर प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रित करना पड़ता है। और अन्त में, उस व्यक्ति में समस्त अचेतन मानसिक प्रेरणाओं सहित मरने की सचमुच ही इच्छा होनी चाहिये। तभी वह आत्महत्या में पूरी तरह सफल हो सकता है।<sup>5</sup>

श्री मैनिन्जर के अनुसार इस सम्बन्ध में एक अनोखी बात यह है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि 'मारने जाने की इच्छा' तो व्यक्ति में प्रबल है, पर 'मरने की इच्छा' बहुत ही क्षीण है इसका परिणाम यह होता है कि मारे जाने की इच्छा के आधार पर व्यक्ति स्वयं की हत्या करने के लिए घातक कदम उठा तो लेता है पर ऐसा करने के बाद ही 'मरने की इच्छा' अति क्षीण होने के कारण सचमुच मरता नहीं चाहता है। ऐसी अवस्था में यह देखा गया है कि व्यक्ति आत्महत्या के लिए प्रयास करके भी वह जीवित रहने के लिए बँचेन हो उठता है, डाक्टर के पास दौड़कर जाता है या डाक्टर को बुलाने को कहता है और डाक्टर के आने पर उससे प्राण बचाने की प्रार्थना करता है। अतः जब एक इच्छा प्रबल होती है, दूसरी गौण तब आत्महत्या करने वाला व्यक्ति वास्तव में मरना नहीं चाहता। उसी दुनिया में वह फिर से जीना चाहता है जिससे पीछा छुड़ाने के लिए वह पहले व्याकुल हो उठा था। मनुष्य के मरने और जीने की अभिव्यक्तियाँ भी अनोखी हैं।

### दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त (Durkheim's theory of suicide)

श्री दुर्खीम की Le Suicide नामक पुस्तक आत्महत्या पर एक अनुपम पुस्तक मानी जाती है। 'इस पुस्तक में आत्महत्या से सम्बन्धित कितने ही अंकों

4 Karl A. Menninger, *Man Against Himself*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1938.

5. "In other words, the suicide must first entertain murderous desires which may take overt form either upon himself or upon other persons. He must then direct these impulses directly upon his own person in the violent act of self-murder. Finally, he must truly wish to die, with all the forces of his unconscious psychic drives. Only then can the suicide be fully consummated." *Ibid.*, Part II.

6. Emile Durkheim, *Suicide* (1897), translated by Spaulding and iSmpson, Free Press, Glencoe, 1947.



को एकत्रित करके आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आत्महत्या निश्चित रूप से एक सामाजिक घटना है।

श्री दुर्खीम ने आत्महत्या से सम्बन्धित अधिकांश स्वीकृत सिद्धान्तों को अस्वीकार किया है। आपका कथन है कि मानसिक कारण, वंशानुसक्रमण, निर्धनता, निराशा, प्रेम में अमफलता आदि के आधार पर आत्महत्या की वास्तविक व्याख्या कदापि सम्भव नहीं क्योंकि ये सभी कारक वैयक्तिक हैं, जबकि आत्महत्या मूलरूप में एक सामाजिक घटना है। यह सच है कि कुछ लोग उपरोक्त वैयक्तिक कारणों से भी आत्महत्या करते हैं परन्तु आत्महत्या की सामान्य व्याख्या इन कारणों के आधार पर नहीं की जा सकती। आत्महत्या व्यक्ति पर समाज या समूह का एक अस्वस्थ दबाव (Negative pressure) का ही फल होता है जिसके कारण व्यक्ति के मन में आत्महत्या करने की अनुकूल भावनायें उत्पन्न होती हैं।

इस सम्बन्ध में श्री दुर्खीम के दृष्टिकोण का हम अपने ढंग से इस प्रकार स्पष्टीकरण कर सकते हैं—व्यक्ति पर समाज या समूह का विशेषकर प्राथमिक समूहों का, जिनका कि वह सदस्य होता है, प्रभाव या दबाव दो प्रकार का हो सकता है—एक तो अस्वस्थ दबाव और दूसरा स्वस्थ प्रभाव (Positive Pressure)। सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति के सम्बन्ध में दो अन्य आधारभूत सत्य यह हैं कि (क) सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की अनेक प्रकार की आवश्यकतायें—मानसिक 'आर्थिक' सामाजिक आदि होती हैं, और (ख) इन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति वह स्वयं अकेला नहीं कर पाता है। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है। ये आवश्यकतायें एक दूसरे को एक सूत्र में बाँधती हैं। यह बन्धन प्रभाव या दबाव 'सबका' प्रत्येक पर होता है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक की मानसिक, शारीरिक, आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है जिससे जीवन के प्रति वितृष्ण जागृत नहीं हो पाती है। यही व्यक्ति पर समाज का स्वस्थ प्रभाव या दबाव है जिसके कारण व्यक्ति अपने को समूह के साथ एक ऐसे बन्धन में जकड़ा हुआ पाता है कि वह स्वभावतः इस धारणा का पोषण करता है कि, "जिन्दगी जीने के लिए है।" परन्तु यदि ऐसा न होकर व्यक्ति पर समाज का कोई विपरीत प्रभाव या दबाव पड़ने लगता है तभी व्यक्ति आत्महत्या करने की बात सोचता है या आत्महत्या करता है। समाज या समूह, जिसका कि एक व्यक्ति सदस्य है, उस व्यक्ति के जीवन में या तो (क) ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जो कि उस व्यक्ति को उसके सामूहिक जीवन से उखाड़ फेंकती हैं और व्यक्ति अकेलापन, निराशा, असुखी और अतृप्ति की भावनाओं से पीड़ित हो जाता है और यह सोचने लगता है कि इस इतने बड़े संसार में उसका कोई नहीं है या (ख) समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व को उस सीमा तक निगल जाता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता और समाज जैसा भी चाहता है वैसा ही व्यक्ति करने लगता है। ऐसी अवस्था में समाज व्यक्ति से आत्महत्या तक करने की माँग कर सकता है और किसी सीमा तक करता भी है। उक्त दोनों ही



अवस्थाओं में समाज का व्यक्ति पर जो प्रतिकूल प्रभाव या दबाव पड़ता है उसी के फलस्वरूप व्यक्ति आत्महत्या करता है।

श्री दुर्खीम ने आत्महत्या के सामाजिक कारक पर अत्यधिक बल देते हुए लिखा है, 'सामाजिक पर्यावरण की कुछ अवस्थाओं का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध अत्यधिक प्रत्यक्ष तथा स्थायी है, जब कि आत्महत्या का प्राणीशास्त्रीय तथा भौतिक कारकों के साथ सम्बन्ध उतना ही अनिश्चित तथा अस्पष्ट होता है।.....इन समाजशास्त्रीय कारकों की सहायता से हमें आत्महत्या की दरों की भी व्याख्या मिलती है, जिनको अब तक भौतिक कारणों का प्रभाव बतलाया जाता था। यदि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम आत्महत्यायेँ करती हैं तो इसका कारण यह है कि वे पुरुषों की अपेक्षा सामूहिक जीवन में बहुत कम भाग लेती हैं, इसलिए वे इसके अच्छे या बुरे प्रभाव को भी कम अनुभव करती हैं। यही बात अधिक आयु के व्यक्तियों तथा बच्चों के सम्बन्ध में लागू होती है, यद्यपि इन पर सामूहिक जीवन का कम प्रभाव कुछ अन्य कारणों से पड़ता है। अन्त में, यदि जनवरी से जून तक आत्महत्याओं की दरें बढ़ती हैं और उसके बाद घटनी शुरू हो जाती हैं तो इसका कारण यह है कि सामाजिक क्रियाओं में भी इसी के अनुरूप मौसमी उतार-चढ़ाव देखने में आता है। इसलिए यह स्वभाविक ही है कि सामाजिक क्रियाओं के विभिन्न प्रभाव भी ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ समान लय (rhythm) से बदलें, और इसके फल-स्वरूप इन दोनों कालों में से प्रथम काल में (जनवरी से जून तक) सामाजिक प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक निश्चित या स्पष्ट हों, आत्महत्या भी इनमें एक है।"

श्री दुर्खीम ने आगे और लिखा है कि "इन सभी तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज में होने वाली आत्महत्या की दर की व्याख्या केवल समाजशास्त्रीय आधारों पर ही की जा सकती है। एक निश्चित समय पर समाज का नैतिक-विधान ऐच्छिक मृत्तुओं के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर विशेष शक्ति की मात्रा लिए हुए एक सामूहिक शक्ति का दबाव अनुभव करता है जोकि उसे आत्महत्या करने को बाध्य करती है। आत्महत्या करने वाले के कार्य जोकि पहले-पहल केवल उसके वैयक्तिक स्वभाव (Temperament) को व्यक्त करते प्रतीत होते हैं, वास्तविक रूप में एक सामाजिक अवस्था के पूरक और विस्तार होते हैं जिनकी कि बाहरी अभिव्यक्ति आत्महत्या के रूप में होती है।"

इसलिए श्री दुर्खीम के मतानुसार "यह कथन रूपक मात्र नहीं है कि प्रत्येक मानव समाज में अधिक या कम रूप में आत्महत्या की प्रवृत्ति पाई जाती है, यह कथन वास्तविक तथ्यों पर आधारित है। वास्तव में प्रत्येक सामाजिक समूह में इस कार्य (आत्महत्या) के लिए अपने ढंग की एक सामूहिक प्रवृत्ति (Collective inclination) पायी जाती है जो कि वैयक्तिक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती हैं, न कि इन वैयक्तिक प्रवृत्तियों का परिणाम होती है। सम्पूर्ण सामाजिक समूह की ये प्रवृत्तियाँ व्यक्तियों को प्रभावित करके, उन्हें आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती हैं। जिन निजी अनुभवों को साधारणतया आत्महत्या का सर्वप्रमुख कारण माना जाता है, वे तो केवल ऐसे प्रभाव मात्र



हैं जिनको आत्महत्या करने वाले व्यक्ति की नैतिक प्रवृत्ति से लिया गया है; यह नैतिक प्रवृत्ति स्वयं समाज की नैतिक स्थिति की एक प्रतिध्वनि (echo) होती है। व्यक्ति जीवन से अपनी उदासीनता को समझाने के लिए अपने चारों तरफ की तात्कालिक परिस्थितियों को दोषी ठहराता है; उसका जीवन दुखी है क्योंकि वह दुखी है। वास्तव में वह, एक अर्थ में बाहरी परिस्थितियों के कारण दुखी है, परन्तु ये बाहरी परिस्थितियाँ उसके जीवन की यह या वह घटना नहीं बल्कि वही समूह है जिसका कि वह सदस्य है। यही कारण है कि ऐसी कोई सामाजिक परिस्थिति नहीं है जोकि आत्महत्या के लिए अवसर का काम न कर सके। यह सब तो इस बात पर निर्भर करता है कि आत्महत्या की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले कारण कितनी तीव्रता से व्यक्ति को प्रभावित करते हैं।”

श्री दुर्खॉम के उपरोक्त कथन से आत्महत्या सम्बन्धी उनके सिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने इस विषय पर प्रचुर आँकड़े एकत्रित किये हैं। इन आँकड़ों के विश्लेषण के आधार पर आपके निष्कर्ष इस प्रकार हैं—(१) आत्महत्या की दर प्रत्येक वर्ष लगभग एक-सी रहती है। (२) सदियों की तुलना में गमियों में आत्महत्या अधिक होती हैं। (३) स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक आत्महत्याएँ करते हैं। (४) कम आयु वालों की अपेक्षा अधिक आयु के व्यक्तियों में आत्महत्या की दर अधिक पाई जाती है। (५) गाँवों की तुलना में शहरों में अधिक आत्महत्या होती हैं। (६) सैनिक लोग आम जनता की अपेक्षा अधिक आत्महत्याएँ करते हैं। (७) कैथोलिक धर्म के मानने वालों की अपेक्षा प्रोटेस्टेन्ट धर्म के मानने वाले अधिक आत्महत्याएँ करते हैं। (८) अविवाहित, विवाह-विच्छेद द्वारा पृथक्, विधवा तथा विधुर लोगों में विवाहितों की अपेक्षा आत्महत्या की दर अधिक पाई जाती है। (९) विवाहितों में भी बच्चे वाले व्यक्तियों की तुलना में वे लोग अधिक आत्महत्याएँ करते हैं जिनके यहाँ बच्चे पैदा नहीं होते या पैदा होकर मर जाते हैं। इन निष्कर्षों को और अच्छी तरह समझने के लिए इनमें से दो-एक की विस्तृत विवेचना यहाँ आवश्यक है जोकि निम्नवत् है—

ऐसा देखा गया है कि अविवाहित, विवाह-विच्छेद द्वारा पृथक् विधवा, विधुर और वे लोग जिनका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं है अधिक आत्महत्याएँ करते हैं। ऐसा इस कारण होता है कि ऐसे व्यक्तियों पर परिवार-समूह का वह स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ पाता है जोकि वास्तव में उन पर पड़ना चाहिए। एक स्वभाविक पारिवारिक जीवन प्रेम, स्नेह, वात्सल्य आदि भावनाओं के आधार पर सदस्यों को एक सूत्र में बांधे रखता है और आत्महत्या द्वारा उस बन्धन को तोड़ने का विचार उनके मन में जागृत हो ही नहीं पाता है। विवाहित पुरुषों को प्रायः यह कहते सुना जाता है कि घर में “कोई” उनका रास्ता देखती रहती है; इस कारण अधिक समय तक उनके लिए घर से बाहर रहना सम्भव नहीं होता। यह तो स्वस्थ और सुखी पारिवारिक जीवन का केवल एक पक्ष है; इस प्रकार कितने ही अन्य रूप में परिवार व्यक्ति को इस तरह स्वस्थ भावनाओं से घेरे रहता है कि उसके मन में आत्महत्या की भावना पनप ही नहीं पाती



हैं। अतः स्पष्ट है कि एक स्वस्थ और स्वभाविक परिवार व्यक्ति को आत्महत्या करने की भावनाओं का पोषण करने से निरन्तर रोकता रहता है। श्री दुर्खीम का मत है कि ऐसा इस कारण नहीं होता है कि परिवार में व्यक्ति पर कोई जादू करने की शक्ति निहित है; परन्तु ऐसा इसलिए होता है कि स्वस्थ और सुखी पारिवारिक जीवन व्यक्ति को परिवार-समूह के साथ इस प्रकार एक मूत्र में बाँध देता है तथा इस प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है कि व्यक्ति का ध्यान आत्महत्या की ओर जाता ही नहीं है।

उसी प्रकार दुर्खीम का मत है कि धर्म भी आत्महत्या को रोकने में सफल होता है। धर्म का यह नियन्त्रणात्मक प्रभाव धार्मिक धारणाओं के कारण या अधिक-तर लोगों द्वारा मान्य यह धार्मिक विश्वास कि आत्महत्या पाप और धर्म द्वारा निषिद्ध है, के कारण नहीं होता है। धर्म व्यक्तियों को आत्महत्या करने से रोकने में सफल इस कारण होता है कि धार्मिक जीवन समग्र सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति है, और इसमें (धर्म विशेष में) विश्वास करने वाले सभी व्यक्ति आपस में एक नैतिक समुदाय में संयुक्त हो जाते हैं। जिसके कारण उसका (धर्म का) एक वाध्यतामूलक तथा नियन्त्रात्मक प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर होता है। परन्तु इस प्रभाव की मात्रा कितनी होगी यह एक धर्म विशेष के नैतिक आदर्शों पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में आत्महत्या को रोकने के सम्बन्ध में प्रत्येक धर्म का व्यक्ति पर प्रभाव समान नहीं होता है। यही कारण है कि कैथोलिक धर्म के मानने वालों की अपेक्षा प्रोटेस्टेंट धर्म के मानने वाले अधिक आत्महत्याएँ करते हैं। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि प्रोटेस्टेंट धर्म प्रमुख रूप से एक वैयक्तिक धर्म (Individualistic religion) है और इसीलिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता है। इस धर्म के अन्तर्गत व्यक्ति को इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि वह विभिन्न विषयों को स्वतन्त्रतापूर्वक सोचे व अपना अर्थ लगाये और तर्क करने के उपरान्त ही किसी निर्णय को स्वीकार करे। ये सब चीजें व्यक्ति को अधिकाधिक वैयक्तिक प्रयत्न या उद्योग करने को प्रेरित करती हैं, चाहे वह व्यापार के क्षेत्र में हों या धर्म के क्षेत्र में। इन वैयक्तिक प्रयत्नों में सफलता की आशा जितनी अधिक होती है उतनी ही असफलता की भी गुंजाइश रहती है। असफल रहने पर वैयक्तिक विघटन (Individual dis-organization) और वैयक्तिक विघटन से आत्महत्या कर लेने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। उसी प्रकार प्रोटेस्टेंट धर्म में स्वतन्त्रतापूर्वक विचार (Free thinking) करने का अधिकार निस्सन्देह ही वैज्ञानिक आविष्कारों का मार्ग प्रशस्त करता है, परन्तु दूसरी ओर व्यक्ति को अनिश्चितता के अथाह समुद्र में भी डकेलता है। इन्हीं सब कारणों से प्रोटेस्टेंट धर्म को मानने वालों में आत्महत्या की दर अधिक है।

प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी अधिक आत्महत्याएँ करते हैं इस बात को प्रमाणित करने के लिये श्री दुर्खीम ने अनेक प्रान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने तीन समूहों में—(क) जहाँ मुख्यतः कैथोलिक ही थे; (ख) जहाँ प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक का मिश्रण था और (ग) जहाँ मुख्यतः कैथोलिक



थे—धर्म और आत्महत्या की दर में सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है परन्तु जैसा कि श्री दुर्खीम का कथन है, इस तुलना में ऐसे समूह लिए गये हैं जिनकी भिन्न सामाजिक दशाएँ या परिस्थितियाँ हैं। इसलिए धर्म और आत्महत्या के बीच सम्बन्ध पर विचार करते समय सामाजिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिए। बावेरिया, प्रशा और प्रशान प्रान्तों का जो अध्ययन श्री दुर्खीम ने किया उसके आधार पर उनका निष्कर्ष है कि जहाँ पर जितने अधिक प्रोटेस्टेंट लोग रहते हैं वहाँ पर उतनी ही अधिक संख्या में आत्महत्याएँ होती हैं और जहाँ पर जितने अधिक कैथोलिक लोग रहते हैं वहाँ पर उतनी ही कम संख्या में आत्महत्याएँ होती हैं। स्विट्जरलैण्ड में आत्महत्या पर धर्म के प्रभाव का अध्ययन करते हुए श्री दुर्खीम ने भाषा तथा राष्ट्रीयता के निरन्तर प्रभावों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्म और आत्महत्या का वास्तविक सम्बन्ध तभी स्पष्ट होता है जब राष्ट्रीय अन्तरो पर भी विचार कर लिया जाय।

श्री दुर्खीम ने आत्महत्याओं के तीन प्रकार बतलाये हैं, जोकि निम्न हैं—

(१) **अहमवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)** :—इस प्रकार की आत्महत्या तब होती है जब व्यक्ति तथा समाज का पारस्परिक सम्बन्ध इतना ढीला अव्यवस्थित या बन्धनयुक्त होता है कि व्यक्ति अपने को अपने सामूहिक जीवन से पृथक् या उखाड़ फेंका हुआ पाता है। यह परिस्थिति अति व्यक्तिवाद या अहमवाद के कारण होती है जब कि सब लोग अपने-अपने कार्यों में या स्वार्थ सिद्धि हेतु इतना अधिक व्यस्त रहते हैं कि कोई किसी की परवाह नहीं करता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को एकाकीपन अनुभव होता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि उसकी उपेक्षा या भ्रवहेलना की जा रही है या इस 'संसार' में (चाहे उसका यह 'संसार' केवल परिवार हो या अन्य कोई समूह अथवा समग्र समाज) उसका 'अपना' कोई नहीं है जो उसके साथ सहानुभूति रखता हो। यह परिस्थिति 'अहम' के लिए अपमानजनक है और वह व्यक्ति इस प्रकार के अपमान से बचने के लिए आत्महत्या का सहारा लेता है।

आधुनिक युग में इस प्रकार की आत्महत्याएँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही हैं क्योंकि आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता व्यक्तिवादिता, अवैयक्तिक सम्बन्ध तथा स्वार्थी मनोभाव है। आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इतना अधिक व्यस्त होता जा रहा है कि उसे दूसरे का कुछ भी ध्यान नहीं रहता है। यहाँ तक कि पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध में भी 'हम' की भावना का बहुधा अभाव होता है। वे भी तू-तू मैं-मैं के चक्कर में इतना अधिक फँस जाते हैं कि उन्हें एक दूसरे का ध्यान बिलकुल नहीं रह जाता है और प्रत्येक के द्वारा प्रत्येक की उपेक्षा की जाती है। इस अपमानजनक परिस्थिति से "अहम" की रक्षा आत्महत्या करके की जाती है। व्यक्तिवाद व्यक्ति को समाज के प्रति ही नहीं स्वयं अपने प्रति भी लापरवाह बना देता है।

(२) **परायणवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)** :—मोटे तौर पर



इस प्रकार की आत्महत्या उर्यक्त प्रथम प्रकार की आत्महत्या का विपरीत रूप है। परार्थवादी आत्महत्या तब होती है जब व्यक्ति और समाज या समूह का सम्बन्ध इतना अधिक घनिष्ठ हो जाता है कि समाज या समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से निगल जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रह जाता और वह जो कुछ भी देखता है, सोचता है या करता है, वह सब कुछ समाज की दृष्टि से करता है। वह केवल समूह का सदस्य रह जाता है और कुछ भी नहीं। इस कारण समूह के लिए उसे आत्मबलि देने के लिए भी बाध्य किया जा सकता है। इस प्रकार की आत्महत्या का अविद्य दो आधारों पर स्थिर किया जाता है—प्रथम, नैतिक आधार और द्वितीय मनोवैज्ञानिक आधार। नैतिक आधार पर इस प्रकार की आत्महत्या किसी महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति के जीवन को लेती है और मनोवैज्ञानिक आधार पर यह व्यक्ति का अपना कर्तव्य-ज्ञान होती है जोकि उसे हमारे के हितार्थ अपने को बलि देने के लिए अनुप्राणित करता है। उदाहरणार्थ, एक पति को अपनी पत्नी से नहीं एक अन्य लड़की से प्रेम है परन्तु पत्नी उन दोनों के मिलने के रास्ते में बाधक है। पत्नी अनुभव करती है कि उसी के कारण उसका पति सुखी नहीं हो पा रहा है। ऐसी अवस्था में पति के सुख के लिये अथवा नित्य-प्रति के पारिवारिक झगड़ों तथा अशांति से सबको मुक्ति करने के हितार्थ पति आत्महत्या करती है। यह परार्थवादी-आत्महत्या का उदाहरण है। उसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति ने कोई ऐसा निन्दनीय या घृणित कार्य कर लिया है जिससे समूह, विशेषकर परिवार का सर नीचा होता है तो वह व्यक्ति ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसका वह समूह उससे आत्महत्या की माँग कर रहा है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति यह सोचकर आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होता है कि उसके आत्महत्या कर लेने पर उसके समूह को उसके द्वारा किये गये कार्य की लज्जा से मुक्ति मिल जायेगी। इसी मनोभाव से प्रेरित होकर कितनी ही राजपूत स्त्रियाँ अपने सतीत्व तथा राजपूत परम्परा के गौरव की रक्षा करने के लिये आत्मबलि (जोहर) दे देती थीं। सामूहिक दबाव के फलस्वरूप इस प्रकार की समस्त आत्महत्याओं को परार्थवादी-आत्महत्या कहा जाता है।

(३) अस्वाभाविक आत्महत्या (Anomign Suicide):—इस प्रकार की आत्महत्या तब होती है जब व्यक्ति के सामूहिक या सामाजिक जीवन में कोई आकस्मिक तथा अस्वाभाविक परिवर्तन से व्यक्ति के सम्मुख कुछ अप्रत्याशित तथा नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और व्यक्ति को उनसे अनुकूलन करना होता है। यदि वह अनुकूलन करने में असफल होता है तो जिस आर्थिक या मानसिक अशांति अथवा तनाव का वह अनुभव करता है। उससे अपने को विमुक्त करने के लिए आत्महत्या करता है। एकाएक दिवालिया हो जाने पर अथवा भारी लाटरी आ जाने पर अति गम या खुशी में व्यक्ति द्वारा आत्महत्या कर लेना अस्वाभाविक आत्महत्या का ही उदाहरण है। इस सम्बन्ध में श्री दुर्लभ का विशेष कथन यह है कि एकाएक निर्धन हो जाने पर ही केवल व्यक्ति आत्महत्या नहीं करता है अपितु एकाएक



घनी हो जाने पर भी वह आत्महत्या करता है। क्योंकि दोनों परिस्थितियों में ही व्यक्ति की जीवन-दशा में एकाएक परिवर्तन हो जाता है और उन नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन न कर सकने पर ही व्यक्ति आत्महत्या करता है। अतः श्री दुर्खीम के अनुसार, व्यक्ति के जीवन में सम्पन्नता (Prosperity) तथा विपन्नता (depression) दोनों ही समान रूप से आत्महत्या के कारण हो सकते हैं क्योंकि दोनों स्थितियों में व्यक्ति का जीवन-संगठन (life organization) अव्यवस्थित या विघटित हो जाने की सम्भावना रहती है। उदाहरणार्थ, एकाएक व्यापार (business) के डूब जाने से व्यक्ति के सामने ऐसी अनेक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसकी कि उसने कभी आशा तक न की थी; जैसे, जिनको कि वह पहले कुछ नहीं समझता था वही लोग आज उसे करुणा की दृष्टि से देखते हैं उसकी हँसी उड़ाते हैं और ताना देते हुए उपदेशों की वर्षा करते हैं। एक सम्मानित व्यक्ति के लिये यह परिस्थिति असहनीय होती है और वह आत्महत्या करके इससे अपना पीछा छुड़ाता है। उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में एकाएक सम्पन्नता आने पर भी अनेक बातें जिनका कि वह कभी सपना भी नहीं देखता था अब यथार्थ हो जाती हैं। वह समझ नहीं पाता कि उसे क्या करना चाहिये, किसे पहले और बाद में करना चाहिए, क्या उचित है और क्या अनुचित। वह यह भी नहीं जानता है कि जो धन, सम्पत्ति या साधन उसे आज प्राप्त हो गया है उसे किस ढंग से उपयोग में लाया जाये। जीवन के लक्ष्य तथा साधनों के सम्बन्ध में जितनी ही अस्पष्ट और अव्यवस्थित धारणाएँ होंगी, वैयक्तिक विघटन की सम्भावनाएँ भी उतनी अधिक होंगी। आत्महत्या इसी की बाहरी अभिव्यक्ति है।

संक्षेप में श्री दुर्खीम ने आत्महत्या को एक सामाजिक घटना कहकर पारिभाषित किया और उसी के अनुसार उसकी व्याख्या भी प्रस्तुत की। व्यक्ति का सामूहिक जीवन या वह समूह जिसका कि वह सदस्य है, आत्महत्या का कारण होता है। व्यक्ति का सामूहिक जीवन जितना असंगठित होगा, उसके लिये आत्महत्या करने की सम्भावना भी उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत, सामाजिक समूहों, जिसका कि व्यक्ति एक अंग होता है, में जितना अधिक संगठन होगा, आत्महत्या की दर उतनी ही कम होगी। व्यक्ति का व्यवहार सामूहिक-व्यवहार की ही प्रतिध्वनि मात्र है। समूह और सामूहिक परिस्थितियों से पृथक् व्यक्ति के किसी भी व्यवहार की व्याख्या अवैज्ञानिक तथा अर्थहीन है।

### आत्महत्या के कारण (Causes of Suicide)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, आत्महत्या व्यक्तिगत विघटन की ही चरम व अन्तिम अभिव्यक्ति है। इसीलिये व्यक्तिगत विघटन की भांति इसे भी किसी एक कारण के आधार पर पूर्णतया समझाया नहीं जा सकता है। आत्महत्या के एकाधिक कारण होते हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—



## मौसम और आत्महत्या (Weather and Suicide)

आत्महत्या की दर मौसम के अनुसार घटती और बढ़ती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे अधिक आत्महत्याएँ वसन्त ऋतु में हुई हैं। जनवरी से दर बढ़ना शुरू होती है और मई में चरम सीमा पर पहुँच जाती है। जून महीने में आत्महत्या की दर अपने आप धीरे-धीरे घट जाती है। यहाँ तक पता लगा है कि दिसम्बर में आत्महत्या की दर करीबन न के बराबर हो जाती है।

## आत्महत्या और पारिवारिक विघटन (Suicide and family disorganization)

परिवार के विघटन का प्रभाव व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी इतना गम्भीर हो जाता है कि व्यक्ति की आत्महत्या का कारण बन जाता है। सर्व श्री कैवन और इविजन समाजशास्त्रियों के अनुसार आत्महत्या की सबसे उच्च दर तलाक प्राप्त लोगों में, उससे कुछ कम नीची दर विधवाओं या विधुरों में, उससे कम अविवाहितों में और सबसे कम विवाहितों में पाई जाती है। विवाहित स्त्री व पुरुष के बारे में श्री दुर्खिम का कहना है कि ये लोग पारिवारिक दबावों और अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करते हैं जिस कारण आत्महत्या करने में हिचकिचाते हैं। परिवार का प्रेम, स्नेह, बन्धन उसे जीने के लिए बाध्य करता है। विवाहित पुरुष व स्त्री आत्महत्या करना चाहते हुए भी नहीं कर सकते। परन्तु जब परिवार का विघटन हो जाता है तो परिवार के समस्त बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। व्यक्ति एकान्तता, यौन क्षुधा, भ्रष्ट, उद्देगत्मक तनाव, प्रेम में निराशा आदि परिस्थितियाँ उसे निराश कर देती हैं उसकी सोचने की शक्ति का ह्रास हो जाता है उसे केवल एक ही रास्ता दिखाई पड़ता है और वह रास्ता है आत्महत्या।

## व्यवसाय और आत्महत्या (Occupational Aspects of Suicide)

कुछ व्यवसाय व्यक्तियों की आत्महत्या का कारण बन जाते हैं। ऐसे व्यवसाय जिनमें व्यक्तिगत गतिशीलता (Mobility) अधिक होती है व्यक्ति को आत्महत्या की तरफ अभिसित करते हैं। फेरिस (Faris) ने कहा है कि इंग्लैण्ड में सबसे अधिक आत्महत्याएँ सराय वालों तथा होटल चलाने वालों में होती हैं क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का स्थानीय समुदाय के साथ व्यवसायिक सम्बन्ध होता है, व्यक्तिगत नहीं। व्यक्तिगत सम्बन्ध न होने के कारण सामाजिक दृढ़ता नहीं आ पाती। वे बराबर एक समुदाय से दूसरे समुदाय में जाते रहते हैं इस कारण उनका जीवन बहुत ही गतिशील होता है। यही कारण है कि कृषक वर्ग की अपेक्षा पत्रकार, वैज्ञानिक वर्ग और साहित्यिक वर्ग में आत्महत्या की दरें अधिक हैं। श्री लुन्डन (Lunden) का कहना है कि मिलिट्री अफसरों में आत्महत्या की दर बौद्धिक लोगों से थोड़ी ही कम है। इनकी आत्महत्या का कारण इनकी आत्मसम्मान की भावना है, कभी-कभी अपनी ही बन्दूक से अपनी आत्महत्या कर लेते हैं। बन्दूक आदि जैसे अस्त्रों का रखना और उसका प्रयोग करना



भी आत्महत्या से सम्बन्ध रखता है।

**धर्म और आत्महत्या**

(Religion and Suicide)

धर्म के पीछे अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक शक्ति होती है। इसीलिए लोग धर्म की बातों को मानते हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं जो आत्महत्या को केन्द्रीय कार्य बतलाते हैं उनका यह विद्वान है कि जो जीवन दे नहीं सकता उसे जीवन लेने का कोई अधिकार नहीं। अर्थात् ईश्वर को ही जीवन को देने और लेने का अधिकार है। जो व्यक्ति इस लोक और परलोक पर विश्वास करते हैं वे आत्महत्या करने से डरते हैं। कैथोलिक और यहूदियों में आत्महत्या करना तो दूर रहा विचार करने मात्र से डरते हैं। यहाँ तक कि कैथोलिक धर्म आत्महत्या किये हुए व्यक्ति की अन्तिम क्रिया ईसाई रीति से नहीं करते। प्रोटेस्टेन्ट धर्म एक व्यक्तिवादी धर्म रहा है। वह व्यक्ति को इस बात के लिए प्रोत्साहित करता है कि जिस तरह चाहे वह मुक्ति प्राप्त करें। प्रोटेस्टेन्ट धर्म एक तरफ व्यक्ति के जीवन में सफलता और गर्व की भावना भरता है परन्तु दूसरी तरफ असफलता, पश्चाताप, लज्जा आदि के कारण उसके जीवन में विघटन भी लाता है। प्रोटेस्टेन्ट धर्म में एक बार अपराध कर लेने पर किसी भी प्रकार की क्षमा उसे नहीं मिल सकती, यह भावना आत्महत्या को बढ़ावा देती है क्योंकि व्यक्ति पाप करने के बाद सोचता है कि शायद मरने के बाद ही पापों का प्रायश्चित्त हो सकेगा। प्रोटेस्टेन्ट धर्म उस मात्रा में आत्महत्या की निन्दा नहीं करता जिस मात्रा में कैथोलिक चर्च या यहूदी धर्म करते हैं। इसी कारण यहूदी और कैथोलिक की अपेक्षा प्रोटेस्टेन्ट धर्म के मानने वाले अधिक आत्महत्याएँ करते हैं। एक समय था जब सती-प्रथा को धार्मिक स्वीकृत प्राप्त थी परन्तु इस्लाम धर्म ने हमेशा ही आत्महत्या का विरोध किया। आज हिन्दू धर्म में सती-प्रथा को न तो धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है और न ही वैधानिक।

**नगर और आत्महत्या**

(Urbanism and Suicide)

गाँव की अपेक्षा शहरों में आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। इसका मुख्य कारण प्राथमिक समूहों में घनिष्ट सम्बन्ध का न होना है। नगरों में पड़ोस व परिवार के साथ अधिक घनिष्ट सम्बन्ध नहीं होते जितने कि गाँव में पड़ोसियों व परिवार के साथ होते हैं। गाँव के जीवन में बहुत ही सरलता, विचारों में एकता तथा सामूहिक मूल्यों में भी बहुत कम अन्तर पाया जाता है। गाँव के व्यक्तियों के सम्बन्ध आपस में बहुत ही घनिष्ट होते हैं। वे अपने परिवार और मित्रों के बीच में ही रहते हैं। कभी भी वे जीवन के प्रति उदासीन नहीं होते इसलिए आत्महत्या का विचार उनके दिमाग में कभी नहीं आता।

शहरों का जीवन बहुत कम स्थिर होता है। आये दिन पतियों व पत्नियों में तलाक दिया जाता है, विचारों में एकता का अभाव होता है, व्यक्तिगत स्वार्थों की प्रधानता होती है। इन सब कारणों से शहर के व्यक्ति अपने जीवन के प्रति उदासीन



रहते हैं। इन्हीं सब कारणों से शहरों में आत्महत्या की दर अधिक होती है।

### अपकर्ष और आत्महत्या (Depression and Suicide)

व्यापार में होने वाले लाभ और हानि आत्महत्या की दर को प्रभावित करते हैं सन् १९३२ में आत्महत्या की दर सभी देशों में अधिक थी, क्योंकि उस समय संसार भर में आर्थिक अपकर्ष अपनी चरम सीमा पर था। सम्पूर्ण सम्पत्ति का अचानक नष्ट हो जाना, जीवन भर की संक्ति की हुई धन-राशि का चुर जाना या नष्ट हो जाना, भविष्य के लिए किसी प्रकार का सहारा न होना आदि आत्महत्या को प्रोत्साहित करते हैं।

धनी वर्ग में आत्महत्या की दर सबसे अधिक पाई जाती है, क्योंकि व्यापार में यदि सफलता मिलती जाती है तो आत्महत्या की दर घट जाती है परन्तु अचानक सम्पत्ति का नाश हो जाना या पद से अचानक नीचे उतर जाना आदि ही आत्महत्या को बढ़ावा देते हैं। व्यापारिक अपकर्ष के समय आत्महत्या की दर बढ़ जाती है।

सर्व श्री इलियट और मैरिल (Elliott and Merrill) ने आर्थिक आत्महत्याओं को तीन भागों में विभाजित किया :—

(i) पद की हानि (Loss of Status)—व्यक्ति के लिए जब पद की हानि बहुत ही असहनीय हो जाती है उस समय व्यक्ति उस यन्त्रणा से बचने के लिए मृत्यु का आलिङ्गन करता है। इस प्रकार की आत्महत्याएँ बड़े-बड़े कॉरपोरेशन के प्रेसीडेंट, खजान्ची, बैंक के गर्वनर आदि ही करते हैं। जब कि उन्हें उनके पद से हटा दिया जाता है और गबन आदि के मामले में उन्हें चोरों की भाँति जेल में डाल दिया जाता है। यह अवस्था बहुत ही कष्टदायी होती है, इससे सुखद मौत लगती है इसलिए वे आत्महत्या कर लेते हैं।

(ii) आराम की हानि (Loss of comfort)—व्यक्ति के मन में यह विचार आना कि अब वह पद छिन जाने के कारण समाज के सभी सुखों को पाने में अप्रमर्ष है। जीवन उसका नरक बन गया है। जीवन में कुछ भी नहीं रहा, इस निराशा भावना के पनपने के साथ ही वह आत्महत्या कर लेता है। आराम की हानि का ज्ञान ही आत्महत्या का कारण बन जाता है।

(iii) सुरक्षा की हानि (Loss of Security)—व्यक्ति तभी आत्महत्या करने को अप्रसित होता है जब उसके जीवन में किसी भी प्रकार की सुरक्षा नहीं रह जाती। व्यक्ति के जीवन में बेकारी, घोर दरिद्रता, बेघरबार आदि ऐसी अवस्थाएँ हैं जोकि जीवन में असुरक्षा की भावना को पनपाती हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के सामने केवल दो ही रास्ते होते हैं या तो जीवन को धुला-धुला कर समाप्त कर दे या धुल-धुल कर मरने के बजाय आत्महत्या कर ले। अधिकतर व्यक्ति जिनके जीवन में सुरक्षा नहीं है वे आत्महत्या के द्वारा जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।



### युद्ध और आत्महत्या (War and Suicide)

युद्ध ने भी आत्महत्या की दर बढ़ाने में मदद की है। जिस समय युद्ध दो देशों में होता है उस समय आत्महत्या की दर कम होती है क्योंकि लोगों को आशा रहती है कि हमारा पति, पुत्र या पिता विजयी होकर लौटेगा। उस समय उसका ध्यान आत्महत्या की ओर नहीं जाता बल्कि देश की भलाई में लगा रहता है। परन्तु जब युद्ध के बाद या मध्य में उसे पता चलता है कि उसकी मांग का सिन्दूर लुट गया या उसकी गोद खाली हो गई। अब उसके ऊपर किसी का छत्र-छाया नहीं रहा उस समय उसे चारों तरफ असुरक्षा और अन्धकार ही दिखाई पड़ता है क्योंकि जो वीर युद्ध में काम आ गये हैं वह उनके बिना जीवित नहीं रह सकता उन तक पहुँचने का केवल एक ही रास्ता दिखाई पड़ता है और वह रास्ता है आत्महत्या। खुशी-गुमी वह आत्महत्या को आमन्त्रित करता है। इस प्रकार युद्ध आत्महत्या की दरों को बढ़ाने में मदद करता है।

### रोमान्टिक आत्महत्या (Romantic Suicide)

रोमान्टिक आत्महत्याएँ केवल प्रेम के असफल होने से ही नहीं होतीं बल्कि यदि दो व्यक्तियों के बीच का घनिष्ठ सम्बन्ध किसी कारण नष्ट हो जाता है तब भी व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार की आत्महत्याएँ प्रेमियों पतियों और पत्नियों के बीच कलह, विवाहित पति-पत्नी के बीच तलाक तथा माता-पिता की सन्तान की अकाल व अचानक मृत्यु के कारण होती है। जिस व्यक्ति से हम जितनी अधिक आशा करते हैं उससे हमें उतनी ही अधिक निराशा मिलने के कारण या मन में यह भाव घर कर जाना कि अमुक पत्नी या प्रेमिका ही हमें अधिक सुखी बना सकती है। उसकी मृत्यु हो जाने के बाद व्यक्ति का आत्महत्या कर लेना स्वाभाविक ही है क्योंकि उसका जीवन खोखला हो जाता है। जीवन का सम्पूर्ण आकर्षण समाप्त हो जाता है इसी कारण वह अपनी जीवन लीला को भी अपने ही हाथों से समाप्त कर देता है।

### शारीरिक रोग और आत्महत्या (Physical disease and Suicide)

शारीरिक रोग भी आत्महत्या की दर को बढ़ाते हैं। जब व्यक्ति किसी ऐसे रोग से ग्रसित हो जाता है जिसका कि इलाज किसी डाक्टर के पास नहीं होता तो मरीज के पास उस रोग से छुटकारा पाने का एक ही इलाज रह जाता है और वह इलाज है आत्महत्या। मृत्यु को वरण करके रोग को छोड़ पाता है। अनेक व्यक्ति इसीलिए आत्महत्या करते हैं क्योंकि वे ऐसे रोग के शिकार बन गये हैं जिससे छुटकारे की आशा उन्हें इस जीवन में नहीं है। ऐसे रोगों में कैंसर, सिफलिस आदि का उल्लेख किया जा सकता है। उसी प्रकार टी० बी० रोग से ग्रस्त व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार के कार्यों, सम्बन्धों और वस्तुओं से वंचित करके उसके घर वाले



या नाते रिश्तेदार उसके जीवन को असहनीय बना देते हैं और ऐसे जीवन से मर जाना ही उसके लिए अधिक श्रेय प्रतीत होने लगता है।

### सामाजिक प्रथायें और आत्महत्यायें (Social Customs and Suicide)

भारतवर्ष में आत्महत्यायें सामाजिक प्रथाओं के कारण घटित होती हैं। इन प्रथाओं में सबसे पहले विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध का उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रतिबन्धन के कारण अनेक युवती विधवाओं का भी विवाह नहीं हो पाता है परन्तु स्वाभाविक यौन इच्छाओं को सर्वथा दबा न सकने के कारण कुछ विधवायें परिवार के किसी सदस्य या बाहर के किसी पुरुष से अनुचित यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं और इसके फलस्वरूप जब गर्भवती हो जाती हैं तब उनके लिए अपने तथा अपने परिवार के सम्मान रक्षा का जो सीधा तरीका वे चुनती हैं वह है आत्महत्या। उसी प्रकार दहेज प्रथा के कारण भी आत्महत्या होती है। दहेज प्रथा के कारण ही माता-पिता लड़कियों को बौद्ध समझते हैं और उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं। लड़कियाँ अपने माता-पिता के दुर्व्यवहार या तानों से परेशान होकर या उन्हें योग्य वर की तलाश में दर-दर ठोकर खाते देव आत्महत्या को ही आत्म-रक्षा के साधन के रूप में चुन लेती हैं। वे इसी विश्वास से आत्महत्या करती हैं कि उनके मर जाने से उनके माता-पिता की रक्षा दहेज के दानव से हो सकेगी। सामाजिक प्रथाओं में एक और प्रथा कुलीन विवाह प्रथा है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी लड़की का विवाह अपने ऊँचे या बराबर कुल में करना होता है। चूँकि प्रत्येक माता-पिता ऊँचे कुल से वर को ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं इसलिए ऊँचे कुल में वर की कमी होती है और दहेज प्रथा खूब पनपती है। इन दोनों से बचने के लिए माता-पिता अपनी लड़की का बाल विवाह कर देते हैं या फिर किसी बड़े कुलीन के साथ अपनी लड़की का विवाह करके अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा करते हैं। ऐसे पति से पत्नी का अनुकूलन नहीं हो पाता है और वे तंग आकर आत्महत्या करती हैं। साथ ही ऐसे बड़े वर अपनी जवान पत्नियों की यौन इच्छा की पूर्ति नहीं कर पाते हैं और पत्नी पर-पुरुष के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं जिनके फलस्वरूप अन्त में उन्हें आत्महत्या करनी पड़ती है। उसी प्रकार बाल विवाह प्रथा के कारण जब बहुत कम उम्र की बधू घर आती है तो सास ननद आदि उस पर खूब अत्याचार करती हैं जिससे तंग आकर बधू कभी-कभी आत्महत्या भी कर लेती है।

### विविध कारण

#### (Miscellaneous causes)

आत्महत्या के अन्य कुछ गौण कारण भी हो सकते हैं। यदि कोई सम्मानित व्यक्ति किसी परिस्थितिवाश गिरपतार हो जाता है या गिरपतार होने की सम्भावना देखता है तो शर्म से और पद हानि के भय से आत्महत्या कर सकता है। कुछ लोग अत्यधिक नशे की हालत में भी आत्महत्या कर लेते हैं। भारतवर्ष में युवक आत्म-



हत्या का एक सामान्य कारण परीक्षा में फेल हो जाना है। भारत का दुर्भाग्य है कि हमारी दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण, विशेषकर मई और जून के महीने में कितने ही विद्यार्थी बलि देते हैं।

**निष्कर्ष**

(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि आत्महत्या के अनेक कारण हैं। आत्महत्या इनमें से कोई भी अकेला कारण आत्महत्या के लिए उत्तरदायी नहीं है जब तक कि वह व्यक्ति पहले से ही किसी गम्भीर उद्देगात्मक संघर्ष से परेशान न हो। आमतौर से बाहरी घटनाएँ या परिस्थितियाँ आन्तरिक या मानसिक तनाव में और अधिक गम्भीरता उत्पन्न कर देती हैं जिसका तत्काल परिणाम आत्महत्या ही होता है। पर किसी भी अवस्था में आत्महत्या को उचित नहीं माना जा सकता। व्यक्ति समाज की धरोहर है और समाज की सम्पत्ति भी। उस सम्पत्ति को नष्ट करने का अर्थ है समाज के विरुद्ध अपराध। इसीलिए कानूनी तौर पर आत्महत्या को अपराध माना गया है। आत्महत्या आत्मा का हनन है। इसीलिए इसे जो लोग परमात्मा का प्रसाद मानते हैं वे न तो अपने को पहचानते हैं और न ही परमेश्वर को परख पाते हैं।



भीखू मेरा नाम है और भीख मांगना मेरा काम है। मैं कहीं नौकरी नहीं करता ; मैं किसी का नौकर नहीं हूँ। पर आप सब मेरे मालिक हैं क्योंकि आप जब मुझे देते हैं तभी मेरी रोटी चलती है। हर रोज आप ही नहीं देते मुझे, पर कोई न कोई देता ही है, वस मुझे केवल हाथ पसारना पड़ता है, आप से दया की भीख मांगना पड़ता है और वह भी गाकर तो कभी रोकर। आप शायद आश्चर्य कर रहे हैं मेरी बात सुनकर और सोच रहे हैं, यह कैसे हो सकता है ? मैं सच बता रहा हूँ बाबू जी यह हो सकता है और यही होता है। मांग कर दूसरे की जेब से पैसा निकालना या गृहस्थी के भण्डारे से आटा या चावल को अपनी भोली तक खींच लाना कोई आसान काम नहीं है बाबू जी। चोरी नहीं, जेब कतरना भी नहीं, डरा-धमाकर पैसा ऐंठ लेना भी नहीं, मांग कर लेना और लेकर जीना बहुत कठिन काम है। इसके लिए आदत होनी चाहिए, मांगने की आदत, दूसरों के दिल को पिघला देने की आदत, हाथ पसार कर धीरजपूर्वक खड़े होने की आदत, मोका पड़ने पर गाली या दुर्व्यवहार तक सहन करने की आदत और लाचार बनने की आदत होनी चाहिए। इसीलिए तो कहता हूँ भीख मांगना भी एक कला है। हर एक भीख भी नहीं मांग सकता है। भिल्लारी को कभी रोकर और कभी गाकर भीख मांगनी पड़ती है। हम सब भिखारी बहुकपिया हैं। भीख पाने के लिए कभी मैं अन्धा बन जाता हूँ और छोटी बहन के कंधे पर हाथ रखकर गली-गली घूमता हूँ। अन्धी दुनिया को अन्धों पर दया जरूरी आती है। किन्तु कभी-कभी दुनिया वालों की दृष्टि से भी पैसा मिलता है। मेरा ही एक दूसरा साथी अपने सड़े-गले कोढ़ की दिवाकर भी खूब पैसा मांग लाता है। पर मैं भी किसी से कम नहीं। मेरे पास एक हारमोनियम है— आप लोगों के ही पैसे से खरीदा था तीन साल पहले। मेले-ठेले में उसे काम में लाता हूँ। मैं बजाता हूँ और छोटी बहन नाचती-गाती है। खूब भीड़ इकट्ठी हो जाती है, खूब पैसा भी आता है। पर धार्मिक त्यौहारों, गंगा नहान आदि के मौके पर डोंगी साधू बनने पर भी खूब कमाई होती है। गाँव वाले विशेषकर औरतें हम जैसे साधुओं को भी खूब मानती हैं और इसीलिए उनको मानने में हमें देर नहीं लगती है। दान से भोली भर जाती है। मेरा एक साथी तो साधू बनकर लोगों को ठगता भी है। कई बार पकड़ा भी गया है। लोगों ने मार-पीट कर छोड़ दिया पुलिस के हवाले नहीं किया। पर मेरे माँ-बाप ने मुझे ठगना



नहीं सिखाया है। वे भिखारी नहीं थे। पर मौत ने हम दोनों भाई बहनों को भिखारी बना दिया। माँ-बाप दोनों को एक साथ हमसे छीनकर। जिस कोठरी में हम सब रहते थे उसकी छन एक बरसात की रात में टूट कर गिर गयी उसी में दबकर माँ-बाप दोनों एक साथ मर गये, पर हम दोनों भाई-बहन को कुछ भी नहीं हुआ—भिखारी जो बनना था हमको। बारह साल की उम्र थी मेरी उस समय, बहन नौ साल की थी—आज चौदह साल की है वह। इतने दिन भीख ही मांगता रहा हूँ। पहले-पहल शर्म लगती थी, भूख से तड़पने पर भी हाथ पसारने को जी नहीं चाहता था पर अब आदत पड़ गई है मांगने की—लोगों के गुस्सा होने पर भी उनसे कुछ देने को कहता हूँ, गाली देने पर भी गिड़गिड़ाता हूँ, उनके ताने को जीवन का बाना समझता हूँ—भिखारी जो हूँ मैं। पर माँ-बाप का बनाया नहीं किस्मत का बनाया हूँ। पर बाबू जी माँ-बाप भी भिखारी बनाते हैं। मेरे साथी सिद्धू को ही देखिये, तीन पीढ़ी से भिखारी हैं सिद्धू के घर वाले। भीख मांगना उसने अपने माँ-बाप से सीखा है। सिद्धू का बड़ा भाई कहीं कुछ समय के लिए नौकरी भी करता है पर पुरखों का पेशा तब भी छोड़ नहीं पाया है। खाली समय में भीख मांगता है। कहता है आमदनी बढ़ा रहा हूँ। भिखारी का लड़का भिखारी ही होता है। सरकार के लोग दो चार बार उन्हें आश्रम में ले गये हैं, रहने और काम करने का मौका दिया है पर वह भाग आता है दूसरों को साथ लेकर। कहता है क्या रक्खा है इन आश्रमों में। नौकरों से जो कुछ मिलेगा उससे चार गुना भीख मांगकर कमा लूँगा। सिद्धू की तरह और कितने ही भिखारी इसीलिए इस धन्धे को नहीं छोड़ते हैं। यह तो हम जैसे ही किस्मत के मारे लोग हैं जो कि न तो पूरी तौर पर भिखारी बन पाते हैं और ना भोगी ही। हमें तो किस्मत ने बहुरूपिया बना कर छोड़ दिया है, बहुतों की दुनियाँ में, जिन्दगी से जूझने के लिए—दुःख में जीने और दुःख में ही मरने के लिए। हम भिखारी भीख ही मांगते हैं, आप सब बाबुओं से पैसे की, किस्मत से करुणा की और भगवान से भूखा न रहने की। यही भीखू एक भिखारी के जीवन का भेद है बाबू जी।

यह अध्याय में इसी भेद का भाष्य है।

भिक्षावृत्ति क्या है

(What is Beggary)

“मैसूर भिक्षावृत्ति प्रतिबन्ध अधिनियम १९४४” (The Mysore Prohibition of Beggary Act) में कहा गया है कि भिक्षावृत्ति के अन्तर्गत भीख मांगते हुए दर-दर घूमना और भिक्षा दान करने वाले के मन में दया-भाव को जाग्रत करने के लिए फोड़ा, घाव, शारीरिक पीड़ा या विकृतियों को दिखाना तथा उनके सम्बन्ध में गलत बहाना बनाना आता है।<sup>1</sup>

1. “Begging includes wandering from door to door, soliciting alms, exhibiting or exposing sores, wounds, bodily ailments or deformities, or making false pretences of them for exciting pity for securing alms.”



‘बम्बई भिक्षावृत्ति कानून, १९४५’ (The Bombay Beggary Act, 1945) के अनुसार भिक्षावृत्ति एक ऐसे व्यक्ति की वृत्ति है जिसके पास जीविका-उपाजन के लिए कोई साधन नहीं है और जो कि दर-दर घूमता है या सार्वजनिक स्थानों पर देखा जाता है या भोज मांगने के हेतु अपने को दूसरों के द्वारा दिखाये जाने की अनुमति देता है।<sup>2</sup>

डा० चौबे के अनुसार, “अपनी रोटी स्वयं न कमा कर दूसरे से अपनी जीविका के लिए मांगना अथवा स्वयं परिश्रम न करके अपनी किसी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरे के सामने हाथ पसारना भोज मांगना या भिक्षावृत्ति कहा जाता है।” भिक्षावृत्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हुए डा० चौबे ने आगे और लिखा है कि भिक्षावृत्ति में प्रायः स्वार्थ साधन की गन्ध निहित होती है। यदि किसी सामाजिक कार्य के लिए अथवा लोक-कल्याणार्थ दूसरों से कुछ मांगा जाय तो वह भिक्षावृत्ति नहीं कहा जायगी। विद्यालय या धर्मशाला की स्थापना, बाढ़ से पीड़ित लोगों की सहायता तथा अन्य ऐसे ही कार्यों के लिए याचना करने में लोग गौरव का अनुभव करते हैं। परन्तु जब याचना में स्वार्थ की गन्ध आ जाती है तो उस याचक को लोग घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसे लोगों को ही भिखारी कहते हैं और उनकी वृत्ति को भिक्षावृत्ति।

अतः भिक्षावृत्ति जीविका उपाजन के लिए कोई प्रत्यक्ष साधन विहीन व्यक्ति की वह वृत्ति है जो कि दर-दर घूमकर या सार्वजनिक स्थानों में उपस्थित होकर अपनी दयनीय अवस्थाओं को दिखाकर या गिड़-गिड़ाकर दूसरों में दया का उद्वेग करके उनके सामने हाथ पसार कर उनसे पैसा, भोजन, कपड़ा आदि प्राप्त करता है।

### भिखारियों का वर्गीकरण

(Classification of Beggars)

डा० (मिस) कामा (Dr. Miss Cama) ने भारतीय भिखारियों को पन्द्रह प्रकार का बतलाया है—

(१) बाल-भिक्षुक (The Child beggars) :—बाल-श्रमिकों की भाँति बाल-भिक्षुकों का भी भारत में खूब शोषण होता है। बाल-भिक्षुक भिक्षा मांगने के काम में प्रायः अपने माता-पिता या अन्य किसी व्यक्ति की सहायता करते हैं। कुछ लोगों का जीविका-उपाजन का तरीका यह है कि वे एकाधिक अनाथ बच्चों को पाल लेते हैं और उनसे भोज मंगवाने का काम लेते हैं। जो कुछ बालक को मिलता है वह सब कुछ या अधिकांश मालिक का होता है। भिखारी माता-पिता के अगर कोई बच्चा अपंग या शारीरिक विकृतिओं सहित पैदा होता है तो वह उनके लिए सहज अर्जन का एक उत्तम साधन बन जाता है क्योंकि उस बच्चे को वह दिखाकर उसके

2. Beggary refers to the “occupation” of “a person without means of subsistence and wandering about or found in public places or allowing himself to be used as an exhibit for the purpose of begging.”



माता-पिता दूसरों के दिल में दया का भाव सरलता से उत्पन्न करने में सफल होते हैं और उन्हें खूब भीख मिल जाती है। इस स्वार्थ-सिद्धि के लिए कुछ भिखारी माता-पिता जानबूझकर बच्चे के पैदा होते ही उसे लूना लंगड़ा बना देते हैं। इन बच्चों को ठीक से खाने तक की नहीं दिया जाता है ताकि वे रोगी बने रहें और लोग दया में आकर भीख दे दें। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी बाल-भिक्षु लूने-लंगड़े या रोगी होते हैं। वे अन्य सामान्य बच्चों की भाँति भी होते हैं और सड़कों पर, ट्राम, बस व रेलगाड़ियों में, मिट्टे-गृहों के सामने तथा रेलवे स्टेशनों पर खुले तौर पर भीख मांगते हैं। उन्हें खूब गिड़-गिड़ाना आता है, प्रावश्यकता पड़ने पर वे पैर भी पकड़ लेते हैं, जमीन में माथा टेक लेते हैं, पीछे-पीछे भागते हैं और तब तक नहीं टलते हैं जब तक उन्हें कुछ दे न दिया जाये। इन बाल-भिक्षुओं का व्यापार होता है तथा उन्हें बेचा, बदला अथवा गिरवी तक रखता जा सकता है। इन्हें केवल भीख मांगने का ही नहीं, अपितु अन्धे, गूंगे और बहरे बनने का भी प्रशिक्षण दिया जाता है।

(२) शारीरिक रूप से दोषयुक्त भिखारी (The physically defective beggars) :—अन्धे, गूंगे, बहरे, लूले लंगड़े आदि भिखारी इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इसमें वे भिखारी भी आते हैं जोकि शारीरिक दृष्टिकोण से बहुत दुर्बल होते हैं तथा जिनमें किसी न किसी प्रकार की शारीरिक विकृति या अस्वाभाविकता पायी जाती है। जैसे हाथ या पैर टेढ़ा होना, एक पैर या हाथ अस्वाभाविक रूप से पतला होना, आधा चेहरा विकृत होना आदि। ये विकृतियाँ लोगों का ध्यान जल्दी आकर्षित करने में सफल होती हैं और लोग तरस खाकर भिखारी को भीख दे देते हैं। चूँकि शारीरिक रूप से दोषयुक्त भिखारी को सरलता से भीख मिल जाती है, इस कारण कुछ भिखारी तो जान बूझकर अपाहिज बन जाते हैं या अपाहिज बनने का स्वांग करते हैं।

(३) मानसिक रूप से दोषयुक्त तथा मानसिक रोग से पीड़ित भिखारी (The mentally defective and mentally ill beggars) :—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे भिखारी आते हैं जो मन्द-बुद्धि (feeble minded) होते हैं और जो किसी न किसी मानसिक रोग से पीड़ित होते हैं। मन्द-बुद्धि वाले व्यक्तियों को सामान्य लोगों के साथ अनुकूलन करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है और उसी एक कारण के कारण उनके लिए कोई नियमित जीविका उपाजन के साधन को ढूँढ़ निकालना भी सरल नहीं होता है। इसलिए वे अपनी रोटी कमाने के लिए भिक्षावृत्ति को अपनाते हैं। मन्द-बुद्धि के कारण आत्म सम्मान ज्ञान उन्हें बहुत कम होता है और इसी कारण भीख मांगने में जरा सा भी शर्म का अनुभव नहीं करते हैं। बहुत कुछ यही अवस्था मानसिक रोगों से पीड़ित लोगों की होती है। सामान्य रूप से ऐसे लोगों को पागल कहकर लोग पुकारते हैं और पागल के रूप में ही उनके साथ दया का बर्ताव किया जाता है और उनकी हालत पर तरस खाकर उनको भीख दी जाती है। इस प्रकार के भिखारी जब अपने मानसिक



सन्तुलन को पूर्णतया खो बैठने हैं तो सड़क या किसी सार्वजनिक स्थान के एक कोने पर मल-मूत्र से सना हुआ पड़ा रहता है और उम पर मच्छर या मक्खियाँ भिनकती रहती हैं। उन्हें न तो कोई देखने वाला होता है और ना ही उनका कोई उपचार ही हो पाता है। रास्ता चलते समय यदि किसी व्यक्ति को दया आ जाती है तो वह ऐसे लोगों के लिए खाने पीने की कोई व्यवस्था कर देता है या दो चार पैसे दान दे देता है। उसी से उनका पेट पलता है।

(४) रोगग्रस्त भिखारी (The diseased beggars):—पागल भिखारियों से भी अधिक दयनीय दशा उन भिखारियों की होती है जोकि निःकण्ट गुप्तरोग, कोढ़, अपस्मार (मिर्गी), तपेदिक तथा घृणास्पद चर्म रोगों से पीड़ित होते हैं। ऐसे भिखारियों के पास जाने तक की इच्छा नहीं होती है फिर भी उनकी दयनीय दशा पर लोगों को सहज ही दया आ जाती है और उसी दया के फलस्वरूप ही ऐसे भिखारियों को भीख मिल जाती है। ऐसे रोगग्रस्त भिखारियों की अच्छी आमदनी होते देख कुछ हट्टे-कट्टे और स्वस्थ भिखारी भी कोढ़ आदि के नकली निशान अपने शरीर पर बनाकर फुटपाथ पर पड़े कराहते रहते हैं जिससे कि अधिकाधिक लोगों का ध्यान उनके प्रति आकर्षित हो और उन्हें खूब भीख मिल सके। परन्तु वास्तव में जो रोगग्रस्त भिखारी होते हैं वे जन स्वास्थ्य के लिए खतरा ही उत्पन्न करते हैं क्योंकि सार्वजनिक स्थानों पर स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने फिरने से कोढ़, चर्म रोग आदि बीमारियाँ जनता में भी फैल जाती हैं।

(५) स्वस्थ भिक्षुक (The able bodied beggars):—भारतवर्ष में ऐसे भिक्षुकों की कमी नहीं है जो कि खूब हट्टे-कट्टे होते हैं और यदि वे चाहें तो परिश्रम करके अपना पेट पाल सकते हैं। परन्तु ऐसा न करके भीख माँगना ही उनके लिए सहज प्रतीत होता है। वे यह सोचते हैं कि भीख माँगना ही उनका परम्परागत पेशा है और उसे अपनाने में किसी प्रकार की शर्म की बात नहीं है। दूसरे प्रकार के स्वस्थ भिखारी वे हैं जो काम तो करना चाहते हैं पर पढ़ना लिखना कुछ न जानने के कारण या अन्य किसी कारणवश रोजगार न पा सकने के कारण भिक्षावृत्ति के अतिरिक्त पेट पालने का और कोई उपाय ढूँढ़ नहीं पाते हैं। जो लोग शरीर से हट्टे-कट्टे होते हुए भी भीख माँगने को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं वे देश के पौरुष को नीचे गिराते हैं और जो भिखारी काम करना चाहते हुए भी काम नहीं पाते हैं वे समाज के लिए एक बोझ बनकर रह जाते हैं।

(६) धार्मिक भिक्षुक (Religious mendicant):—इनको भारत में अनेक नामों से पुकारा जाता है जैसे साधु, वैरागी, बाऊल, संन्यासी, योगी, फकीर, दरवेश आदि। इस देश में इनके फलने-फूलने का एक मात्र कारण यहाँ के लोगों की धार्मिक प्रवृत्तियाँ हैं। हिन्दू हो चाहे मुसलमान, सिख हो या ईसाई त्योहारों और मेलों या अन्य धार्मिक अवसरों पर दान करना तथा भिक्षुकों को भीख देना पुण्य का काम समझते हैं। धार्मिक साधु, संन्यासी, फकीर, आदि लोगों के इन मनोभावों को खूब जानते हैं और इसीलिए ऐसे अवसरों पर अपना उल्लू सीधा करने



के लिए इकट्ठा हो जाते हैं। वैसे भी रोज ये धार्मिक भिक्षुक दर-दर घूमते रहते हैं और देवी-देवताओं के नाम पर भीख माँगते रहते हैं। कुछ धार्मिक भिक्षुक तो धार्मिक गीत गाते चलते हैं और गीत सुनाकर लोगों के मन को पिघलाकर पैसा, अनाज, वस्त्र आदि प्राप्त कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में बंगाल के गांवों में पाये जाने वाले धार्मिक भिक्षुक 'बाऊल' का नाम विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। ये बाऊल एक-तारा नामक वाद्ययंत्र बजाकर धार्मिक लोकगीत गाते हुए एक गृहस्थी से दूसरी गृहस्थी में तथा एक गांव से दूसरे गांव में घूमते-फिरते हैं। इनके द्वारा गाये गये गीत वास्तव में बहुत ही श्रुत-मधुर और आकर्षक होते हैं। इसीलिए लोग अपनी तरफ से इन्हें बुलाकर इनका गाना सुनते तथा भीख देते हैं। यही बात बंगाल, काशी, मथुरा, वृन्दावन के वैरागियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। बाऊल वैरागियों के गीतों के धुन की नकल आज बम्बई, कलकत्ता, आदि के उच्च कोटि के संगीत निर्देशक (music director) करते हैं। इसी से गीत के सम्बन्ध में इन धार्मिक भिक्षुओं के ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ भी हो, लोगों की इन धार्मिक भावनाओं के कारण बेकार और काहिल व्यक्तियों को साधु अथवा फकीर बनने के लिए काफी प्रोत्साहन एवं प्रेरणा मिलती है।

(७) बनावटी धार्मिक साधु (Bogus religious mendicant):—उपरोक्त साधुओं, वैरागियों, फकीरों आदि के सम्मानित जीवन तथा सहज आमदनी के साधन को देखकर इस देश में बहुत से लोग बनावटी धार्मिक भिक्षुक बन जाते हैं। साधु या फकीर के समान पोशाक पहन लेने के अतिरिक्त इन लोगों में साधु या फकीर के और कोई गुण देखने को नहीं मिलते हैं। ये लोग तो भिक्षावृत्ति के साथ-साथ लोगों को ठगने तथा अन्य अनैतिक कार्य करने का काम भी करते रहते हैं। ये लोग विशेषकर गांवों में अपना अड्डा जमाते हैं क्योंकि गांव के लोग अत्यधिक धार्मिक मनोभाव वाले होने के साथ-साथ अशिक्षित व भोले-भाले भी होते हैं। ग्रामीण लोगों की इन विशेषताओं का पूरा-पूरा फायदा ये बनावटी धार्मिक साधु लोग उठाते हैं और उन्हें बुरी तरह ठगते हैं। भीख माँगने के साथ-साथ चोरी करना, राह चलते हुए लोगों को ठगना या लूट लेना, लड़कियों को भगा ले जाना या उनसे अवैध यौन सम्बन्ध स्थापित करना इन तथाकथित साधुओं का काम होता है। इन कुकर्मों के कारण कभी-कभी ये लोग पुलिस द्वारा पकड़े भी जाते हैं।

(८) जनजातीय भिक्षुक (The tribal beggars):—ये लोग कुछ विशेष जनजातीय समुदाय से सम्बन्धित होते हैं। उत्तर प्रदेश के नट, कंजर, बावरिया, भीना, बेरिया, टागू आदि जनजातीय भिक्षुक के ही उदाहरण हैं। इनका कोई सुस्थिर निवास-स्थान नहीं होता है। ये लोग खानाबदोश होते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा करते हैं। इसी दौरान में ये गाना गाकर, नाच दिखाकर या नट का खेल दिखाकर लोगों से भीख मांगा करते हैं। इन जनजातीय भिक्षुओं में कुछ लोग तो कठपुतली का नाच दिखाकर भी पैसा, भोजन, कपड़ा आदि प्राप्त कर लेते हैं। शहरों में जनजातीय समुदाय की स्त्रियाँ व जवान लड़कियाँ दर-दर



भूम कर, ऊंगलियाँ बजाकर, गाना गाकर भीख माँगती हैं और मोका देखकर अपने खरीद तक को बेचकर पैसा, अनाज, कपड़ा आदि प्राप्त कर लेती हैं। कुछ स्त्रियाँ जो दिन में भीख माँगती हैं और रात में नियमित रूप से वेश्यावृत्ति करती हैं। कुछ जनजातीय समुदाय के लोग रस्सी बनाना, लोहे के बर्तन और औजार बनाना, शहद बेचना आदि छोटा-मोटा काम घन्घा भी करते हैं और भीख भी माँगते हैं। ये लोग भुण्ड के भुण्ड एक स्थान पर जाकर स्टेशन के पास अपना डेरा डाल देते हैं और फिर उस स्थान पर भीख माँगने और अपने द्वारा बनाई चीजों को बेचने के लिए फैल जाते हैं। कुछ दिन एक स्थान पर रहने के बाद उस स्थान को त्यागकर दूसरे स्थान को चले जाते हैं।

(९) रोजगार में लगे भिक्षुक (The employed beggars):—भारत के नगरों में अनेक स्त्री और पुरुष इस प्रकार के भी हैं जो रात में मिलों तथा कारखानों में काम करते हैं और दिन में भीख माँगते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र जैसे बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, दिल्ली, अहमदाबाद आदि नगरों में रोजगार में लगे भिक्षारियों की संख्या वास्तव में अधिक है। इन लोगों द्वारा भीख माँगने का मुख्य कारण इनकी कम आमदनी तथा निर्धनता है। बड़ा परिवार है, मिल या कारखाने में काम करने से जो कुछ मिलता है वह अपर्याप्त है, मिर पर कर्ज का बोझ भी सदा हुआ है, इसलिए बाध्य होकर दूसरों के सामने हाथ पसार कर उन्हें भीख माँगना ही पड़ता है। कुछ लोग इस काम के लिए अपने बीबी-बच्चों की सहायता लेते हैं जोकि अपनी दुर्दशाओं के सम्बन्ध में लोगों के सामने गिड़गिड़ाकर उनसे पैसा आदि प्राप्त करने में सहाज ही सफल होते हैं।

(१०) छोटा व्यापारी भिक्षुक (The small trade beggar):—कुछ भिक्षुक ऐसे भी होते हैं जो कि पान, बीड़ी-सिगरेट, साग सब्जी, आटा चावल आदि की दुकान करते हैं। पर इन घन्घों से उन्हें इतनी कम आमदनी होती है कि उससे उन छोटे व्यापारियों तथा उनके परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण होना सम्भव नहीं होता है। इसीलिए ऐसे लोगों को भी खाली समय में भीख माँगना पड़ता है। छोटे व्यापारी भिक्षुकों का एक अन्य रूप यह है कि दिन भर वे दर-दर आटा, चावल आदि माँगते फिरते हैं और फिर शाम को श्रमिक या गरीब बस्तियों के पास रास्ते के किनारे बैठकर उन सामानों को बेच देते हैं। कानपुर, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े शहरों में इस प्रकार के भिक्षारियों की काफी संख्या है। दैनिक मजदूरी करने वाले गरीब लोग तो इन भिक्षारियों से आटा-चावल आदि खरीदते ही हैं, पर कुछ होटल वालों को भी इन भिक्षारियों के पास से सस्ते दाम पर आटा आदि खरीदते हुए देखा जाता है। कुछ होटल के मालिकों से तो इन भिक्षारियों का पहले से ही तय रहता है कि वे रोज शाम को होटल पर आकर दिन-भर इकट्ठा किये हुए आटा-चावल दाल, आदि बेच जायेंगे।

(११) अस्थायी रूप से बेकार, पर काम करने योग्य भिक्षुक (The temporarily unemployed but employable beggar):—इस देश में स्थायी तथा



अस्थायी रूप से बेकार लोगों की संख्या अत्यधिक है। स्थायी से अस्थायी रूप से बेकार व्यक्तियों की समस्या भारत में वास्तव में गम्भीर है। यहाँ कितने ही लोग ऐसे हैं जो कि काम करने-करते एकाएक बेकार बना दिये जाते हैं या नौकरी से निकाल दिये जाते हैं। एकाएक आमदनी का जरिया बन्द हो जाने से ऐसे लोगों को अपना तथा अपने आश्रितों का पेट पालने के लिये भिक्षावृत्ति को ही अपना पड़ता है। गांवों में फसल काटने के समय, खेत को जोतने बोनो के समय भी इन्हें अस्थायी रूप से काम मिल जाता है, पर शीघ्र ही यह काम समाप्त हो जाने पर ऐसे लोगों को भीख मांगकर ही पेट भरना पड़ता है। भीख मांगने के कारण ऐसे लोग धीरे-धीरे अपना अन्तस्मान खो बैठते हैं और वे भीख मांगकर खाने में कोई लज्जा का अनुभव नहीं करते हैं। इसी प्रकार एक ऐसी स्थिति भी उनके जीवन में आती है जबकि भीख मांगने के वे इतने आदी हो जाते हैं कि नौकरी करना उन्हें फिर पसन्द नहीं आता है। वे पूरे तौर पर भिखारी बन जाते हैं।

(१२) अस्थायी रूप से बेकार पर काम करने के अयोग्य भिक्षुक (The temporarily unemployed beggars who are unemployable) :—कुछ श्रमिक अस्थायी तौर पर बेकार हो जाने के बाद इस प्रकार रोगग्रस्त या अन्य किसी तरह से इस भांति अयोग्य हो जाते हैं कि उन्हें फिर किसी भी प्रकार की नौकरी नहीं मिल पाती है और उस अवस्था में वे उदरपूर्ति के लिये भिक्षावृत्ति का सहारा लेते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, कुछ लोग अस्थायी रूप से बेकार हो जाने पर भीख मांगना शुरू कर देते हैं, पर बाद को भीख मांगने के इतने आदी हो जाते हैं फिर कोई परिश्रम का काम करने की अपेक्षा वे दूसरों के दान पर निर्भर रहना अधिक पसन्द करते हैं।

(१३) लगभग स्थायी रूप से बेकार पर काम करने योग्य भिखारी (The somewhat permanently unemployed beggars who are employable) :— इस श्रेणी के भिखारी लगभग स्थायी रूप से बेरोजगार हो जाने की स्थिति में भिक्षावृत्ति के द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करने को बाध्य होते हैं। बेरोजगार व्यक्ति आर्थिक कष्टों के बीच परिवार के अन्य सदस्यों को भूख से तड़पते हुए देखता है। एक सीमा के बाद यह दृश्य उसके लिए असहनीय हो जाता है और इसे सहन करने की अपेक्षा भीख मांगना उसके लिए सरल होता है। पर इस श्रेणी के भिखारी भिक्षावृत्ति को बुरा ही मानते हैं और इसीलिये रोजगार प्राप्त करके सम्मानित व्यक्ति की भांति नौकरी करके जीविकोपार्जन करने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं।

(१४) स्थाई रूप से बेकार और काम न दिए जाने योग्य भिखारी (The permanently unemployed and unemployable beggar) :— इस श्रेणी के अन्तर्गत वे भिखारी आते हैं जो कि स्थायी रूप से बेकार होते हैं और बेकार इस लिये होते हैं कि उनमें मन्द बुद्धि, अथवा शारीरिक या मानसिक दोष के कारण नौकरी करने के लिए आवश्यक योग्यता, कार्य-कुशलता या बुद्धिमत्ता नहीं होती है।



इस कारण पेट पालने के लिए भिक्षावृत्ति को ही अपना लेना उनके लिये एकमात्र रास्ता रह जाता है। भारत में प्रत्येक मालिक यह चाहता है कि जिसे वह नौकरी दे उसमें शारीरिक और मानसिक दृष्टिकोण से कोई दोष या कमी न हो। इसीलिये दोषयुक्त व्यक्तियों को नौकरी मिलना बहुत कठिन हो जाता है और उन्हें भीख माँग कर ही उदरपूर्ति करनी पड़ती है।

(१५) स्थायी रूप से बेकार और काम करने के लिए सर्वदा अनिच्छुक भिखारी (The permanently unemployed beggars who are viciously and incorrigibly unwilling to work) :—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे भिखारी आते हैं जो स्थायी रूप से बेकार तो होते हैं पर किसी भी शर्त पर जिन्हें काम करने को राजी नहीं करवाया जा सकता है। अर्थात् काम करने की तुलना में ऐसे लोगों को भीख माँगना ही अधिक अच्छा व सरल प्रतीत होता है। यही कारण है कि जब ऐसे भिखारियों को सरकार द्वारा 'भिखारी बस्तियों' (beggars' colonies) में बसाने, काम देने और सुधारने का प्रयत्न किया जाता है तो उन्हें वहाँ का वातावरण व काम-काज अच्छा नहीं लगता है और वे मोका पाते ही उन बस्तियों से जान छुड़ाकर भाग निकलते हैं। ऐसे भिखारी काम से वास्तव में डरते हैं क्योंकि भीख माँगकर खाने के ही वे आदी हो जाते हैं और ऐसा करने में उन्हें तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता है। भिक्षावृत्ति को वे अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं और उस अधिकार को किसी भी कीमत पर छोड़ने को राजी नहीं होते हैं। वे तो यह समझते हैं कि 'भिक्षा देना पुण्य का काम है' और भिक्षावृत्ति को अपना कर वे दूसरे लोगों को पुण्य कमाने में मदद कर रहे हैं। अतः उनका 'पेशा' भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

उपरोक्त वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए डा० कामा ने हमारा ध्यान इस सत्य की ओर भी आकर्षित किया है कि भिखारियों की यह सूची सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि प्रत्येक श्रेणी के अन्तर्गत अनेक उप-विभाग भी हो सकता है और होता भी है फिर भी यह सूची भिक्षावृत्ति की समस्या की जटिलता व गम्भीरता को समझने में तथा उसे सुधारने के लिये आवश्यक कदम उठाने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

### भिक्षावृत्ति के कारण (Causes of Beggary)

डा० राधा कमल मुकर्जी (Radha Kamal Mukherjee) के अनुसार, "भिक्षावृत्ति सामाजिक विघटन का एक लक्षण है और व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा भीख देने की यह विस्तृत प्रथा वह विधि है जिसके द्वारा भिखारियों की असमर्थता, असहायता तथा सामाजिक अपर्याप्तता को छिपाने या कम करने का प्रयत्न किया जाता है।"<sup>3</sup> अतः स्पष्ट है कि भिक्षावृत्ति एक जटिल व व्यापक सामाजिक समस्या

3. "Beggary is a symptom of social disorganization and the widespread custom of alms-giving by individuals and institutions is the method



है जिसमें न केवल भिखारी वर्ग बल्कि साधारण जनता व संस्थाओं का भी उत्तरदायित्व कम नहीं है। इसीलिये डा० चौबे ने भी लिखा है कि भिक्षावृत्ति में दो प्रकार के व्यक्तियों का सहयोग होता है—एक तो भोख मांगने वालों का और दूसरा भोख देने वालों का। इन दोनों में से किसी एक के भी अभाव में भिक्षावृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इसीलिए यह आवश्यक होगा कि हम भिक्षा मांगने और देने के कारणों पर विचार कर लें।

### भोख मांगने के कारण

#### (Causes of Begging)

एक भिखारी भोख क्यों मांगता है, इस प्रश्न का उत्तर किसी एक कारण के आधार पर देना उचित न होगा। प्रायः भोख मांगने के भी एकाधिक कारण होते हैं। उनमें से प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(१) वास्तविक गरीबी :—डा० चौबे के अनुसार भोख मांगने के कारणों में व्यक्ति की आर्थिक विवशता प्रधान स्थान रखती है। सम्यता के आदिकाल में जब व्यक्ति अपनी जीविका के लिये जंगल के फल-फूल और पहाड़ियों के कन्द-मूल पर निर्भर रहता था तो उसे भिक्षावृत्ति नहीं अपनानी पड़ती थी। क्योंकि तब उसे अपने लिये आवश्यक वस्तुएं प्रकृति से मिल जाया करती थी। परन्तु सम्यता के विकास के साथ-साथ उत्पादन और वितरण के साधनों की विषमता बढ़ती गयी और राष्ट्रीय घन कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होने लगा। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कुछ लोग इतने अधिक निर्धन हो गये कि उन्हें अपनी उदरपूर्ति के हेतु दूसरों की कृपा पर निर्भर रहने के अलावा अन्य कोई रास्ता न रहा। भारत-वर्ष में तो बेरोजगारी की समस्या वास्तव में बहुत ही गम्भीर है। बेकारी के फल-स्वरूप देश में निर्धन व्यक्तियों की संख्या बढ़ती है और उसी के साथ व्यक्ति का नैतिक स्तर भी गिर जाता है। वह भोख मांगने से शरमाये या अपनी आंखों के सामने अपने बीबी-बच्चों को भूख से तड़पते देखे ? इस संघर्षमय परिस्थिति में व्यक्ति प्रथम को ही ग्रहण करता है और समस्त लज्जा को त्याग कर दूसरों के सामने हाथ फैला देता है।

(२) कृषि का पिछड़ा होना तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि :—भारत एक कृषि प्रधान देश है और अगर पाश्चात्य देशों की भाँति इस देश में भी कृषि की उन्नत दशा होती तो यहां भी भिक्षावृत्ति की समस्या इतनी गम्भीर न होती। पर इस देश में कृषि उद्योग की दशा वास्तव में दयनीय है जिसके कारण खेती से सभी लोगों का पेट पल नहीं पाता है और कुछ लोगों को भिक्षावृत्ति को अपनाना पड़ता है। साथ ही, भूमि का उचित वितरण न होने के कारण पिछली कई दशान्दियों में भूमिहीन श्रमिकों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। इन सभी

by which the disabilities, helplessness or social inadequacy of the beggars has been sought to be mitigated." Dr. Radha Kamal Mukherjee, *Our beggar Problems*, p. 9.



भूमिहीन श्रमिकों को जब न तो खेतों पर और न ही किसी उद्योग में काम मिल पाता है तब वे लाचार होकर भिक्षावृत्ति को अपना लेते हैं। डा० राधा कमल मुकर्जी के अनुसार भारत में भिक्षावृत्ति का सबसे प्रमुख कारण किसानों को भूमि से बेदखल करना और उन्हें खेतों करने के काम से वंचित रखना है। जब तक इन भूमिहीन कृषि श्रमिकों की समस्या का समाधान न किया जावेगा तब तक भारत में भिक्षावृत्ति को भी कम करना असम्भव ही होगा।

(३) आकस्मिक विपत्ति:—डा० चौबे के अनुसार कभी-कभी आकस्मिक विपत्तियाँ व्यक्ति को भोजन मांगने के लिए मजबूर कर देती हैं। उस परिस्थिति में व्यक्ति को अपनी जीविका के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार की आकस्मिक घटनायें भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड और दंगे आदि हैं। जब व्यक्ति इन आकस्मिक परिस्थितियों में फँस जाता है तो जीवित रहने के लिये चाहे पहले वह गरीब रहा हो या अमीर सभी को भिक्षावृत्ति को अपनाना पड़ता है। लड़ाई भगड़े में फँस कर पूर्वी पाकिस्तान के अनेक व्यक्ति बेघर-बार हो गये तथा आज से ८-१० साल पहले तक भोजन माँगते हुए दिखाई पड़ते थे। क्योंकि जीवन में कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं जिनको पूरा करना बहुत ही आवश्यक है। चाहे चोरी से करे या डाका डाले या भोजन माँगे। पर इन अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा अवश्य करना पड़ता है। ये अनिवार्य आवश्यकतायें कपड़ा, मकान और भोजन हैं। आकस्मिक आपत्ति के जाल में फँस कर जो व्यक्ति भोजन माँगते हैं, उनकी आर्थिक स्थिति में जैसे ही सुधार हुआ वे इस भिक्षावृत्ति को छोड़ देते हैं।

परन्तु इस आकस्मिक विपत्ति का कुछ व्यक्ति फायदा उठाते हैं। समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिन पर कि कोई विपत्ति नहीं आई और नाहीं किसी प्रकार से पीड़ित हैं। पर इस समय वे भी भिक्षुक वर्ग में मिल जाते हैं और अनेक प्रकार के रूप रखकर जनता की सहानुभूति अपनी ओर खींचते हैं और जनता से काफ़ी पैसा ले लेते हैं। यह काम केवल युवक ही नहीं कहीं-कहीं पर युवतियाँ भी इस काम को करती हैं। ये युवतियाँ इस प्रकार के मोके की ताक में रहती हैं कि मनुष्य को पथ भ्रष्ट करके उनसे पैसा लें। समाज में इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाने से समाज का नैतिक पतन हो जाता है।

(४) शारीरिक असमर्थता और रोग:—कुछ भिखारी अपने शरीर की असमर्थता को दिखा कर भोजन माँगते हैं। वास्तव में वे बिलकुल शरीर से ठीक होते हैं पर शरीर को इस तरीके से पेन्ट करवाते हैं कि देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये शरीर से असमर्थ हैं या इस प्रकार का रोग इसके शरीर में है कि कुछ काम नहीं कर सकता। इन सब बातों को देखकर लोगों को दया आ जाती है और वे इन बने हुए हट्टे-कट्टे लोगों को भोजन दे देते हैं। इस बहुरूपिये के काम में स्त्रियाँ पुरुषों से कम नहीं हैं वे अर्द्धनग्न अवस्था में दरवाजे-दरवाजे डोलती हैं। बनावटी आँसू डालती हैं। इस प्रकार के जाल में घर की माँ-बहनें बहुत आसानी से आ जाती हैं। वे इस स्थिति को देखकर द्रवित हो उठती हैं और इन बहुरूपिया औरतों को शरीर



ढकने को कपड़ा तथा पेट भरने को भोजन भिक्षा के रूप में दे देती हैं। इन लोगों के पास भिक्षावृत्ति से प्राप्त किया हुआ इतना अधिक सामान हो जाता है कि उसे देने वालों की आँखों से बचाकर बेच देती हैं। अक्सर देखा गया है कि जो भिक्षुक दिन में इन्नादे-इन्नादे घूमकर भीख माँग रहा था वही रात को घरों में जाकर चोरी करता है। दिन में घर-घर जाकर उसका उद्देश्य भीख माँगने का नहीं बल्कि भेद लेने का होता है।

(५) मानसिक विकृति और रोग :—डा० चौवे के अनुसार कुछ व्यक्ति भिक्षावृत्ति केवल मानसिक विकृति के कारण अपनाते हैं। इन व्यक्तियों को खाने-पीने की कोई भी कमी नहीं रहती और परिवार के सदस्यों की आर्थिक स्थिति भी खूब अच्छी होती है। पर ये लोग अपने कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस पेशे को ग्रहण करते हैं। जैसे भाँग, गाँजा, शराब इत्यादि के लिए घर से पैसे नहीं लेते। इस प्रकार की आवश्यकताओं को भिक्षावृत्ति के द्वारा पूरा करते हैं। घर से पैसा लेना प्रतिष्ठा के खिलाफ समझते हैं पर भीख माँगना या चोरी करना प्रतिष्ठा के खिलाफ नहीं है। यह सोचना ही मानसिक विकृति को और बढ़ावा देता है।

(६) परम्परावश :—कुछ व्यक्तियों ने भिक्षावृत्ति को परम्परागत मान लिया है और उसी रूप में वे बराबर जीवन-पर्यन्त भीख माँग कर ही बिता देते हैं। ये व्यक्ति इसलिये भीख नहीं माँगते हैं कि कोई रोग है या शरीर से असर्थ हैं या फिर उन्हें परिस्थितियों ने जबरदस्ती भीख माँगने को विवश कर दिया है बल्कि वे इसलिये भीख माँगते हैं कि उनके दादा, परदादा, पिता आदि सभी ने भीख माँगकर जीवन व्यतीत कर दिया है इसलिए वह भी ऐसा ही करेंगे। कभी-कभी परिवार के किसी सदस्य को भीख माँगने की कला नहीं आती तो परिवार के जो अन्य सदस्य भीख माँगने में कुशल या चतुर हैं वे उसे सिखाते हैं कि किस प्रकार शरीर को रोगी दिखाकर या रोकर भीख माँगेंगे। इस प्रकार के वंश परम्परागत भिखारियों से यदि कोई काम करने को कहा जाय तो वे कभी भी काम को स्वीकार नहीं करेंगे। काम करके खाना उनके लिए लज्जा की बात है। झूठ बोल कर या बहाना बना कर पैसे या भिक्षा माँगते हैं। कुछ तो बहुत चतुर व चालाक स्त्रियाँ होती हैं वह कफन के लिये पैसे माँगती हैं। आँसू बहा कर या कल्पित कहानी कह कर। लोग इस प्रकार के भिखारियों पर दया करके भिक्षा दे देते हैं। यही भिखारी परम्परावश भिखारी बन जाते हैं।

(७) आलस्य :—दुनियाँ में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो बहुत ही आलसी हैं। काम करके रोज़ो कमाना जानते ही नहीं। बस एक ही जगह बैठ गये तो उठने का नाम नहीं लेंगे। यहाँ तक कि शरीर के चारों तरफ मक्खियाँ घूमती रहेंगी आँख में, नाक में, कान में पर आलस्यवश वे उन मक्खियों को नहीं हटाते। जब भूख लगी तो उठ कर मुश्किल से दो-चार घर भिक्षा माँग लाये, जो रूखी-सूखी मिल गई खा कर फिर वहीं लेट कर सो गये। यही इन आलसी भिखारियों की दिनचर्या है। इसी प्रकार पूरा जीवन पड़े-पड़े और माँग कर खा कर बिता देते हैं।



(८) भिक्षा के व्यापारी :—संसार में अनेक वस्तुओं का व्यापार होता है पर पाठकों तुम लोग सुनकर ताज्जुब करोगे कि भिक्षावृत्ति भी एक प्रकार का व्यापार है। समाज में कुछ लोग भिक्षा का व्यापार करते हैं। वे लोग दीन हीन व्यक्तियों को फाँस कर उनके शरीर का कोई अंग-भंग करके उन्हें भीख माँगने के लिए विवश कर देते हैं। इस प्रकार के भिखारियों की स्थिति बहुत ही दयनीय होती है। वे बिचारे दिन भर जो भिक्षावृत्ति से प्राप्त करते हैं उसका केवल थोड़ा सा अंश या भाग उनके भाग्य में पड़ता है, बाकी सब उनके मालिक ले लेते हैं उस थोड़े से भाग में जरूरी नहीं है कि उनका पेट भर ही जाय। कभी पेट भर खा लेते हैं कभी आधा पेट ही सो जाते हैं। यह आधे पेट खाना तब नसीब होता है जिस दिन भीख माँगकर अपने मालिक को देते हैं। दुर्भाग्यवश यदि किसी दिन भीख न मिली तो भूखे पेट ही सोना पड़ता है इन भिखारियों को। इन भिखारियों के द्वारा ही इनका मालिक धन कमाता है। इस प्रकार की भिक्षावृत्ति का व्यापार स्त्री, पुरुष व बच्चे सभी करते हैं। इन्हीं के दिन भर की भीख को जोड़-जोड़ कर मालिक अमीर बनता जाता है पर दिन भर धूम-धूम कर भीख माँगने वाला जीवन पर्यन्त भिखारी ही बना रहता है।

(९) सामाजिक, धार्मिक, तथा शिक्षा सम्बन्धी कारण :—जिन व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती और वे समाज में कुछ सामाजिक, धार्मिक अथवा शिक्षा सम्बन्धी काम करना चाहते हैं। इस काम की पूर्ति के लिए उन्हें भीख तक माँगनी पड़ती है। इस प्रकार की भीख को आदर्श भिक्षा की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार का कार्य लोक कल्याणार्थ होता है। श्री महामना मदन मोहन मालवीय ने विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए चन्दा लिया था। डा० चौबे के अनुसार समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो भिक्षा अथवा चन्दे के बल पर बड़े-बड़े धार्मिक अथवा सामाजिक कार्य करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि धार्मिक कार्यों के लिए बहुत रुपए होने चाहियें। पर सभी पुरुष ईमानदार नहीं होते। कुछ ऐसे व्यक्ति भी समाज में होते हैं जो धार्मिक अथवा सामाजिक कार्यों के लिए जनता से भीख माँगते हैं या चन्दा लेते हैं पर उस चन्दे या भीख से इकट्ठी की गई धन-राशि का अधिकांश भाग अपनी स्वार्थ पूर्ति में लगाते हैं।

समाज में कुछ व्यक्ति धार्मिक कार्यों की आड़ में खूब पैसा ऐंठते हैं। जैसे पण्डा, पुरोहित, पाखण्डी, साधु इत्यादि धार्मिक कार्यों को करके जनता को विश्वास दिलाते हैं कि वह इस प्रकार के कार्य करेंगे कि उनको स्वर्ग मिले या पुण्य हो। उनकी बातें सुनकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे वही स्वर्ग लोक के ठेकेदार हैं और स्वर्ग को दिलाना या नर्क में भेजना उनके दायें हाथ का खेल है। ये लोग चिकनी-चुपड़ी बातों से जनता को विशेषकर औरतों को भुलावे में डाल देते और खूब कमाते हैं। इनकी इस प्रकार की आदत भी भिक्षावृत्ति ही कहलायेगी। ऐसे लोग धार्मिक कार्य जैसे पूजा-पाठ, जप-तप, कथा-वार्ता, यज्ञ तथा व्रत आदि के बहाने जनता से खूब पैसा कमाते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज के लिए बहुत ही खतरनाक सिद्ध होते हैं



क्योंकि समाज में ये जनता को अन्धकार की तरफ खींचते हैं उनमें अन्धविश्वास, अज्ञानता आदि को फैलाने हैं।

(१०) माता-पिता या संरक्षक द्वारा छोड़ दिया जाता या उनकी मृत्यु के बाद :—माता-पिता या संरक्षक के द्वारा छोड़ दिये जाने पर निराश्रय बच्चा जब भूख से लड़पने लगता है तो बरबस ही उसके मुँह से निकल जाता है कि भूख लगी है पैसा दे दो या खाने को दे दो। बस इस शब्द के निकलने के बाद ही बच्चा अपने आप ही भीख माँग कर और खाकर जीवन व्यतीत करने लगता है। कभी-कभी परिवार टूट जाने पर या परिवार में अधिक अशान्ति रहने के कारण, या बच्चे की कुछ अपनी ही कमी के कारण जब वह घर छोड़ कर बाहर भाग जाता है और जीविकोपार्जन का कोई साधन न मिलने पर वह भीख माँगने के लिये विवश हो जाता है। पति किसी कारणवश जब अपनी पत्नी को छोड़ कर चला जाता है या पारिवारिक परेशानी से तंग आकर आत्महत्या कर लेता है उस समय पत्नी पर अपने जीवन का भार आ जाता है। दुर्भाग्यवश यदि पत्नी अशिक्षित है तो वह अनैतिकता की ओर अग्रसर होगी क्योंकि उसके सामने अन्य कोई साधन जीविकोपार्जन का नहीं रहता। इस पर भी जब वह अपने पेट को पालने में असमर्थ रहती है तब उसे विवश होकर भीख माँग कर अपना पेट भरना पड़ता है। इस प्रकार माता-पिता, संरक्षक आदि भी भिक्षावृत्ति को बढ़ाने में मदद करते हैं।

### भीख देने के कारण

#### (Causes of alms-giving)

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है भिक्षावृत्ति के चक्र के दो स्पष्ट पहलू हैं—एक तो भीख माँगना और दूसरा भीख देना। भिक्षावृत्ति में भीख माँगना ही पर्याप्त नहीं है जब तक कि लोग उस भीख माँगने वाले को वास्तव में कुछ न दें। अपना 'कुछ' दूसरों को माँगने पर लोग क्यों देते हैं यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर देना भी यहाँ आवश्यक है। निम्नलिखित विवेचना इसी प्रश्न का उत्तर है :—

(१) धार्मिक भावनायें :—श्री सक्सेना के अनुसार भारतीय जनता अधिक धार्मिक भावनायें मन में रखती हैं। यही धार्मिक प्रवृत्ति भिक्षावृत्ति को अधिक प्रोत्साहन देती है। भारतीय जनता दरिद्रों, साधु-सन्तों को दान देना बहुत ही पुण्य का काम समझती है। उनका विश्वास है कि दान देकर या भिक्षा देकर वे अपने पापों को कम करते हैं या पापों को धोते हैं और पापों को धोकर परलोक बनाते हैं। अर्थात् इस लोक में किये गये पाप दान देने या भिक्षा देने से धुल गये, साथ ही साधु परलोक को भी बना लिया गया। अपना पाप धोने तथा परलोक बनाने की इच्छा से वे भिक्षा देते हैं।

समाज में कुछ व्यक्ति केवल नाम कमाने के लिये या समाज में प्रतिष्ठा पाने की इच्छा से भी वे भिखारियों को भीख देते या उन्हें खाना खिलाते हैं। जनता यह विचार बना लेती है कि अमुक व्यक्ति धर्मनिष्ठ दानी तथा परोपकारी है। पर वास्तव में न वह दानी है, न धर्मनिष्ठ है और न ही परोपकारी है, वह केवल नाम



कमाने या प्रतिष्ठा पाने के लिए भीख व दान देता है।

(२) संवेग के आवेग में :—व्यक्ति के अन्दर दो प्रकार के संवेग पाये जाते हैं सुख और दुःख। कभी व्यक्ति दुःखी होता है और कभी व्यक्ति सुखी होता है। दोनों ही भावनायें या संवेग भिखारियों को भीख दिलाने में मदद करती हैं। एक भिखारी जो शरीर से काम करने में असमर्थ है, उसके शरीर में कुछ रोग है साथ ही बहुत ही दुबला-पतला है, चल-फिर नहीं सकता, इस प्रकार के भिखारी को देखकर व्यक्ति को दया आती है और उसी दया के संवेग में आकर वह भिखारी को भीख दे देता है। इस प्रकार दुःख का भाव भिखारी को भीख दिलाने में सहायता पहुँचाता है।

इसके विपरीत जब व्यक्ति अधिक सुखी होता है या खुश होता है उस समय यदि कोई भिखारी आकर भीख माँगता है तो उसे भीख अवश्य मिल जाती है। क्योंकि व्यक्ति जब प्रसन्न मुद्रा में होता है तो वह गरीबों व भिखारियों पर विशेष कृपा करता है।

(३) प्रतिष्ठा के भाव वश—कभी-कभी व्यक्ति को ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जिन को करने की उसकी बिल्कुल इच्छा नहीं होती। पर उसे प्रतिष्ठा रखने के लिए इच्छा न होते हुये भी वैसा करना पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि रेल के डिब्बे के अन्दर कोई भिखारी भीख माँगने आ जाता है, उसकी दयनीय दशा देखकर डिब्बे में बैठे सभी यात्री उसे भिक्षा के रूप में कुछ न कुछ दे रहे हैं तो जो व्यक्ति उस भिखारी को एक पैसा भी देना नहीं चाहता या जो उस भिखारी के डिब्बे में आते ही उसने सोच लिया था। पर सबको भिक्षा देते देखकर उसे मन में संकोच होता है और इच्छा न रहते हुए भी पसं से दो पैसे का सिक्का निकाल कर देना पड़ता है। इस प्रकार प्रतिष्ठा रखने के लिए भी कभी-कभी भीख देनी पड़ती है। इस प्रकार के अवसर मुहल्ले, स्कूल तथा किसी समारोह में देखने को मिलते हैं।

(४) अपना पीछा छुड़ाने के लिए—कुछ भिक्षुक या भिखमंगे इतने हठी होते हैं कि जब तक कुछ भिक्षा ले नहीं लेते दरवाजे से हट नहीं सकते, आप चाहे जो कुछ कहें। इस प्रकार के हठी भिखमंगों में सबसे अधिक संख्या बच्चों व स्त्रियों की होती है। इस प्रकार के हठी भिखमंगे बच्चे यदि आपको रास्ते में मिल जायें तो फिर आप आगा पीछा छुड़ाने के लिए बढ़ते जाइये और वह आपके पीछे-पीछे 'बाबू जी एक पैसा दे दो तुम्हारा बच्चा बना रहे' वाक्य का उच्चारण करते-करते आपके साथ ही साथ आगे बढ़ता जायेगा और फिर भी यदि आपने ध्यान नहीं दिया तो आपके पैर पकड़ कर या पैरों पर सिर रखकर बैठ जायेगा। बताइये उस समय आप क्या करेंगे ? आपको पीछा छुड़ाने का केवल एक ही रास्ता नज़र आयेगा और वह रास्ता है भीख देकर पीछा छुड़ाने का। इस प्रकार कभी-कभी केवल पीछा छुड़ाने के लिए भीख देनी पड़ती है।



### भीख माँगने के प्रभाव (Effects of Beggary)

भिक्षावृत्ति चक्र के दो स्पष्ट पहलू हैं एक तो भीख लेने वाले भिखारी और दूसरे भीख देने वाले अर्थात् समाज के सदस्य। भीख माँगने का प्रभाव केवल भिखारी पर ही नहीं पड़ता है बल्कि समाज पर अधिक पड़ता है। क्योंकि समाज के सदस्य भी भीख देकर समाज में भिखमंगों की संख्या में वृद्धि करते हैं। भीख माँगने वाला भीख माँगकर खाने में इतना कुशल हो जाता है कि यदि उसे कमाकर या काम करके खाने को कहा जाय तो वह कभी भी तैयार न होगा। उसी की देखा देखी समाज के अन्य सदस्य भी भीख माँग कर खाना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार एक भिक्षुक खुद तो दुःखी जीवन बिताकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है पर बाद में अन्य भिक्षुकों को उसी प्रकार दुःखी जीवन बिताने के लिए छोड़ जाता है।

भिखारी अपनी ही तरह अन्य व्यक्तियों या बाल-वच्चों को भी भीख माँगना सिखाता है। वह कभी-कभी अपने बच्चे या पास-पड़ोस के बच्चों की बहुत ही दयनीय हालत बना देता है ताकि उस बच्चे को अधिक से अधिक भीख मिल सके। इस प्रकार भिक्षुक भोले-भाले ना समझ बच्चों के जीवन को भी अन्धकारमय बना देता है। वे बच्चे जीवन में भीख माँगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते हैं।

भिक्षुक केवल भीख ही नहीं माँगता बल्कि नशीली चीजों का भी सेवन करता है जैसे भाँग, गाँजा, चरस इत्यादि। इस प्रकार नशे की स्थिति में ऐसे कार्य कर बैठता है जो समाज के लिए हानिप्रद सिद्ध होते हैं। इसके अलावा जो भी इनकी संगत में आता है उसे भी बुरी आदतों में डाल देते हैं अर्थात् उसे भी भाँग, गाँजा आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करना सिखा देते हैं।

अधिक भिक्षुकों की संख्या समाज में शांति और सुव्यवस्था कायम नहीं रहने देती। क्योंकि ये भिक्षुक दिन में भीख माँगते हैं, भीख माँगने के दौरान में ही घरों का भेद भी लेते रहते हैं। रात्रि को मौका मिलने पर चोरी करते हैं, डाका डालते हैं, यदि जरूरत समझी तो हत्या भी कर डालते हैं। किसी भी समाज के लिए भिक्षुकगण कलंक के समान हैं। इसीलिये समाज को चाहिए कि वह कुछ इस प्रकार का प्रबन्ध करे कि समाज से भिक्षावृत्ति बिल्कुल ही समाप्त हो जाये। नीचे उन्हीं सब कारणों की विवेचना की जायेगी जोकि भिखारियों की भिक्षावृत्ति को कम कर सकें।

### भिक्षावृत्ति को दूर करने के उपाय (Measures for Eradicating Beggary)

भिक्षावृत्ति को रोकने तथा दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) मनोवैज्ञानिक विधि से भिक्षावृत्ति को कम किया जा सकता है। जनता की भावनाओं और मनोवृत्तियों में परिवर्तन करना तथा उनको यह बताना



कि भिखारी को भीख देकर हम उसके प्रति न्याय नहीं कर रहे हैं और न ही कोई पूज्य तथा नैतिक कार्य कर रहे हैं बल्कि भिखारियों को अनैतिक बना रहे हैं। यह भावना कि भिखारी को दान देकर स्वर्ग मिल जाता है यह भी बिल्कुल कल्पित बात है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक तरीके से भिक्षावृत्ति को रोका जा सकता है।

(२) ऐसे भिखारी जो छूत के रोग से पीड़ित हैं कोई कार्य नहीं कर सकते उन्हें तब तक अस्पताल में रखा जाय जब तक बिल्कुल ठीक न हो जायें और काम न करने लगें।

(३) भिखारियों के बच्चों को उनके मां-बाप से अलग करके स्कूलों में शिक्षा लेने के लिए भेज देना चाहिए। ताकि बच्चे अपने माता-पिता की नकल न कर सकें। क्योंकि बच्चा भी वही करने की कोशिश करता है जो कि उसके माता-पिता करते हैं। बच्चों को अलग करने से यह होगा कि भिक्षुकों की संख्या बढ़ न पायेगी।

(४) भिक्षावृत्ति को रोकने के लिये धन का संतुलित वितरण होना चाहिए। अर्थात् समाज में समाजवाद को अपनाना होगा। इससे व्यक्ति भिक्षा मांगने के लिए विवश न होगा।

(५) ऐसे भिखारी जो शारीरिक असमर्थता के कारण भीख मांगते हैं इस प्रकार के भिखारियों के लिए सरकार का विशेष प्रबन्ध होना चाहिये अर्थात् उनकी आवश्यकता की चीजें उन्हें देने की व्यवस्था करनी चाहिये ताकि वे भीख न मांग सकें।

(६) कुछ भिखारी ऐसे होते हैं जो आकस्मिक विपत्ति के कारण भिक्षा मांगने के लिए विवश हुये। ऐसे भिखारियों का प्रबन्ध सरकार को करना चाहिये ताकि वे भीख मांग कर नहीं बल्कि काम करके जीविकोपार्जन करें।

(७) कुछ भिखारी भीख मांगना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते हैं। इस प्रकार के भिखारियों के लिए समुचित शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि वे अपनी जीविका भीख मांग कर नहीं बल्कि काम करके प्राप्त कर सकें। इस प्रकार के भिखारियों की भिक्षावृत्ति छुड़ाने के लिए उन्हें कला-कौशल से सम्बन्धित शिक्षा देनी चाहिए, खेती के लिए जमीन देनी चाहिये ताकि काम के आगे भीख मांगने की बात ही न सके।

(८) ऐसे व्यक्ति जो धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यों को करना चाहते हैं तो सरकार को चाहिये कि वे इस कार्य में सहायता करें, ताकि भिक्षा या चन्दे से प्राप्त धन को गलत कामों में प्रयोग न किया जाये।

(९) ऐसे भिखारी जो मानसिक विकृति के कारण भीख मांगते हैं उनके लिए सरकार को चाहिए कि सुधार गृह स्थापित करे। ऐसे भिखारियों की मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता है।

(१०) ऐसे भिखारी जो भीख मांग कर केवल धन इसलिये संचय करते हैं कि उनको तीर्थ यात्रा करनी है। सरकार को चाहिये कि तीर्थ यात्रा के इच्छुक व्यक्तियों के सहायताार्थ एक सरकारी कोष की स्थापना करनी चाहिये। इस प्रकार के कोष के



बन जाने से इस कार्य के लिए भिक्षा नहीं मांगनी पड़ेगी।

(११) ऐसे भिक्षुक जो आलस्य वश काम करना नहीं चाहते उन्हें सरकार के द्वारा कठोर दण्ड देकर व्यवहारिक तथा व्यवसायिक कार्य सिखाने चाहियें। तभी आलस्य का त्याग करके स्वयं जीविकोपार्जन करेंगे।

(१२) जो भिक्षुक भिक्षा का व्यापार करते हैं उन्हें सरकार की ओर से कठोर दण्ड तथा जुर्माना होना चाहिए ताकि दुबारा अबोध व्यक्तियों व बच्चों तथा स्त्रियों को गुमराह न कर सकें।

### भिक्षावृत्ति को रोकने से सम्बन्धित अधिनियम (Legislations for checking Beggary)

भिक्षावृत्ति हमारे देश के लिए एक सदियों पुराना अभिशाप है। इसको दूर करने के लिये राज्य सरकारें तथा स्थानीय संस्थाएँ प्रयत्न कर रही हैं। सबसे पहले इस कुप्रथा को बड़े शहरों, तीर्थ स्थानों और पर्यटक केन्द्रों से हटाने का प्रयत्न हो रहा है। बाल भिक्षावृत्ति की समस्या पर भी अत्यधिक ध्यान दिया जा रहा है क्योंकि भीख माँगने वाले बच्चे ज्यादातर शोषक गिरोहों के चंगुल में फँसकर ही यह काम करते हैं। जो भिखारी, बीमार, असमर्थ, वृद्ध या कमजोर हैं, उन्हें स्वयं सेवी कल्याण संगठनों द्वारा इस काम के लिए निर्धारित की गई संस्थाओं में रखकर उनकी देखभाल की जा रही है। हट्टे-कट्टे भिखारियों को काम पर लगाने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। अधिकतर राज्यों ने कानून बनाकर सार्वजनिक स्थानों पर भीख माँगना अपराध घोषित कर दिया है। महाराष्ट्र और गुजरात में २,००० भिखारियों को बसाने के लिए १८ संस्थान हैं। पश्चिमी बंगाल में २,०५० भिखारियों के लिए ८ भिखारी शिविर (beggar homes) हैं। उत्तर-प्रदेश में भी ऐसे शिविर हैं।

भिक्षावृत्ति को रोकने के लिये सरकारों ने जो कानून बनाया है उनमें सन् १९४१ का वह अधिनियम उल्लेखनीय है जिसके अनुसार रेलवे अहातों में भीख माँगना एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। उसी वर्ष हैदराबाद भिक्षावृत्ति निरोधक अधिनियम (The Hyderabad Prevention of Beggary Act, 1941) पास हुआ था। सन् १९४३ में बंगाल में एक ऐसा ही कानून पास हुआ। इसके बाद सन् १९४५ में मैसूर, बम्बई, मद्रास, कोचीन तथा ट्रावनकोर राज्यों ने भिक्षावृत्ति निरोधक अधिनियम पास किया। सन् १९४७ में भोपाल तथा सन् १९५२ में बिहार राज्यों में भी इसी प्रकार के कानून बनाये गये। कुछ प्रदेशों में नगरपालिका अधिनियम के अनुसार भी भिक्षावृत्ति वर्जित है। इन प्रदेशों में उत्तरप्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पंजाब हैं। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास के पुलिस अधिनियम में भिक्षावृत्ति का निषेध कर दिया गया है।

स्मरण रहे कि केवल अधिनियमों को पास करके ही भिक्षावृत्ति का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है, जब तक कि उन कारकों को दूर न किया जाय जिनके कारण देश में भिक्षावृत्ति पनपती है। कानून के समर्थक प्रायः यह राय देते हैं कि भिक्षा-



वृत्ति निरोधक अधिनियमों को कठोरता से लागू करने पर सफलता की आशा की जा सकती है। जो भिखारी कानून को तोड़ कर भीख मांगे उसे जेलखाने में सजा काटने वा जुर्माना देने को बाध्य किया जाय। परन्तु ये लोग यह भूल जाते हैं कि जेलखाने में भिखारियों की भीड़ बढ़ाने से भीख मांगना उतना कम नहीं होगा जितना कि भिखारियों को जेल के अन्दर खिलाने और रखने की समस्या सरकार के लिए गम्भीर होती जायेगी। यदि उन पर अत्यधिक कठोर जुर्माना अदा करने का उत्तरदायित्व लाद दिया जायेगा तो भिखारी जुर्माना भी भीख मांगकर ही देगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि भिक्षावृत्ति के मूल कारणों को पहले दूर किया जावे। आज के भारत को भिखारियों की अपेक्षा मेहनतकश नागरिकों की आवश्यकता अधिक है; आज तो हमें देश के पुनर्निर्माण के लिए कर्मठ जनता की जरूरत है। समाज पर लदे हुए भिक्षावृत्ति के बोझ को किसी भी मूल्य में हमें हल्का करना है। यह उत्तरदायित्व जनता और सरकार का समान रूप से है। पर जब तक भारत स्वयं विदेशों के द्वार पर भोजन के लिए भिखारी बना रहेगा तब तक जनता का भिखारीपन भी दूर नहीं हो सकता।



सुचित्रा रो रही है—मिन्नक-मिन्नक कर रो रही है। बहुत सहन किया है उसने, पर आज सहन-सीमा भी पार कर गयी है सुचित्रा का दुःख। शरीर से एक-एक करके ज्वर उतारकर ले गये हैं उसके पति। हर बार सुचित्रा ने हाथ पकड़ा है पति का, हाथ जोड़े हैं, पति के सामने। बदले में मिलीं हैं केवल गहिँत गालियाँ और प्रचण्ड प्रहार। पर प्रतिकार की प्रत्याशा कभी प्रत्यक्ष नहीं हुई। सुचित्रा का मिन्नक-मिन्नक बेकार हुआ, आँखों के आँसू आँखों में ही सूख गये, पर सुमति नहीं आयी, सुहागिन सुचित्रा के सुशिक्षित पति को। एक भी नशा नहीं छोड़ा है उसने। पढ़ा-लिखा आदमी भी बुरी संगत में पड़कर कितना बिगड़ सकता है इसका जीता-जागता उदाहरण है सुचित्रा का पति। पिता काफी धन इकलौते पुत्र के लिये छोड़ कर मरे थे। पर इकलौते पुत्र को इतना लाड़-प्यार से पाला था कि यह सिखाना भी भूल गये थे कि धन को खर्च कैसे किया जाता है। पिता के मरते ही पुत्र ने धन उड़ाना शुरू किया। कुछ “ऊँचे दर्जे” के दोस्त भी जुट गये जिन्होंने ऊँचे किस्म के नशों के साथ जीवन का परिचय करवाया। इसके बाद देखते ही देखते धन गया, मान गया, दोस्त गये और दुशाले भी। मकान तक गिरवी रख दिया गया। अन्त में, हाथ लगा सुचित्रा के शरीर पर माता-पिता और ससुर के दिये गहनों पर वह भी एक-एक करके सब चला गया। रह गया था केवल गले का मंगल-मूद्र—सुचित्रा के सुहाग का अन्तिम चिन्ह। सुचित्रा ने कितनी ही बार समझाया है जीवन को—शराब छोड़ देने के लिये, नशा त्याग देने के लिये। कहा है सब कुछ तो चला गया है, अब तो आँखें खोलो—अपने को देखो, अपने परिवार की मर्यादा को देखो, अपने बीबी बच्चों पर तरस खाओ। तुमने शराब को, नशे को पकड़ा है, इसलिये सब कुछ तुम्हें छोड़कर चला गया। अब तुम शराब और नशे को छोड़ दो, फिर से सब कुछ तुम्हारा हो जायेगा। पर कौन सुनता है किसकी? नहीं सुना, इसका दुःख नहीं सुचित्रा को, पर मंगल मूत्र देने को भी वह राजी नहीं थी। इन्कार करते ही शुरू हुआ अमानुषिक अत्याचार; जबरदस्ती छीन लिया हार को गले से, ले गया सुहाग-वती का सुहाग-चिन्ह शराब के प्याले में सदा के लिये गला घोटकर नष्ट करने के लिये। आज सुचित्रा का सब कुछ खो गया, आज ही सर्वप्रथम उसके मन में यह भावना दृढ़ हुई कि शराबी पति की पत्नी या शराबी पिता की सन्तान होने से मर जाना अधिक अच्छा है। शराबखोरी या नशेबाजी में व्यक्ति परिवार के जीवन,



सुख, शान्ति और समृद्धि की भी बाजी हार जाता है और सर्वस्व हार कर हाहाकार करता है अपनी हालत को देखकर। तब फिर लौट जाता चाहता है बीते हुए जीवन में। पर उस समय उसके लिये सब द्वार बन्द होते हैं। उस बन्द द्वार पर उसका निराम हृदय धाकृत होकर मिर पटकता है और अपनी निराशाओं और असफलताओं को भूलने के लिए लौटकर फिर आश्रय लेता है शराब की ही गोद में—शान्ति की खोज में, सात्वता की खोज में। पर क्या उसे शान्ति और सात्वता वास्तव में मिलती है ?

यह अध्याय इसी प्रश्न का उत्तर है।

## मद्यपान (Alcoholism)

मद्यपान वैयक्तिक विषयन का ही सूचक है और इसी कारण इसे एक व्यक्ति-गत समस्या न समझकर एक सामाजिक समस्या माना जाता है क्योंकि अत्यधिक मद्यपान केवल व्यक्ति के जीवन को ही नहीं अपितु परिवार तथा समाज के जीवन को भी विषयन करता है। मद्यपान से व्यक्ति का नैतिक स्तर गिरता है और किसी भी प्रकार का व्यवहार या अपराध करना उसके लिये सरल होता है। व्यक्ति जब अपनी सारी बसाई शराब पर लुटा देता है तो परिवार की आर्थिक स्थिति दिगड्ढती है जिसका कि बहुत बुरा प्रभाव परिवार के सदस्यों के स्वस्थ विकास पर पड़ता है। और जब परिवार नष्ट होता है तो उससे समाज को भी नुकसान पहुँचता है। इस प्रकार मद्यपान को एक सामाजिक समस्या ही कहना उचित होगा।

## मद्यपान का सामाजिक वितरण (Social Distribution of Alcoholism)

मद्यपान का एक सामाजिक वितरण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में प्रत्येक वर्ग, जाति, धर्म तथा प्रजाति के लोग समान रूप से मद्यपान नहीं करते हैं। इनमें कुछ न कुछ अन्तर प्रत्येक समाज में देखने को मिलता है। यह अन्तर सांस्कृतिक भिन्नता के आधार पर होता है। उदाहरण के लिये भारत में स्त्रियों में मद्यपान बहुत ही कम देखने को मिलता है जब कि कुछ पाश्चात्य देशों में स्त्री और पुरुष दोनों में ही मद्यपान का व्यापक विस्तार है।

(१) लिंग (Sex) :—सामान्यतः स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में मद्यपान का विस्तार अधिक देखने को मिलता है। अन्य देशों की भाँति भारत में भी अब स्त्रियों में मद्यपान का विस्तार दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। विशेषकर उन स्त्रियों में जो कि 'ताइट क्लब' आदि के कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेती हैं। कुछ बड़े शहरों में तथाकथिक अभिजात वर्ग में स्त्रियों का शराब पीना उनकी सांस्कृतिकता व कुलीनता का परिचायक माना जाता है। वैसे भारतवर्ष में नीच जातियों की स्त्रियों तथा वेश्याओं में शराब पीने की आदत पहले भी देखने को मिलती थी। कहा जाता है कि पंजाबी तथा सिन्धी स्त्रियों में बहुत दिनों से मद्यपान का विस्तार है।



देश विभाजन के बाद जब ये स्त्रियाँ पूरे भारत में फैल गयीं तो उनके सम्पर्क में आने के फलस्वरूप तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण स्त्रियों में, विशेषकर उच्च वर्ग की स्त्रियों में मद्यपान का विस्तार दिन प्रतिदिन होता जा रहा है।

(२) वर्ग (Class) —मद्यपान का एक वर्गीय अन्तर (class difference) भी होता है। श्री डॉलर्ड (Dollard) के मतानुसार मद्यपान का विस्तार उच्च वर्ग के सदस्यों में अधिक तथा निम्न वर्ग में कम होता है। अर्थात् हम निम्न वर्ग से उच्च वर्ग की ओर जैसे-जैसे बढ़ने जाते हैं मद्यपान का प्रतिशत भी उम्मी अनुपात में बढ़ता है। उच्च वर्ग में स्त्री और पुरुष दोनों शराब पीने हैं और उनके वर्गीय प्रतिष्ठा व सम्मानित पद के कारण उनके इस काम को बुरा भी नहीं कहा जाता है। परन्तु भारत में श्री डॉलर्ड का सिद्धान्त पूर्णतया लागू नहीं होता है। यहाँ निम्न वर्ग में शराब पीने की आदत बहुत अधिक देखने को मिलती है। इस देश के औद्योगिक केन्द्रों में आठ दस घन्टा अत्यधिक असन्तोषजनक काम करने की दशाओं में कठिन परिश्रम करने के बाद श्रमिक इतना थक जाता है कि उस थकावट को दूर करने के लिये वे शराब व ताड़ी की दुकानों में भीड़ करते हैं। इतना ही नहीं, इस देश के निम्न वर्ग के सदस्यों की आर्थिक स्थिति इतनी अधिक खराब है कि जीवन उनके लिये बोझ लगता है। ये लोग जीवित रहने से सम्बन्धित चिन्ताओं को भूलने के लिये और जीवन की असफलताओं को दिल से निकालने के लिये भी शराब पीते हैं।

(३) जाति (Caste) :—वर्ग की भांति जाति के आधार पर भी मद्यपान के विस्तार की विवेचना की जा सकती है। सामान्य रूप से ब्राह्मण जाति में मद्यपान का विस्तार बहुत ही कम देखने को मिलता है, यद्यपि आज जाति प्रथा के नियमों के दुर्बल हो जाने के कारण बहुत से ब्राह्मण शराब पीते हैं। हमारे देश में निम्न जातियों जैसे कोरी, चमार, भंगी, कुर्मी, धोबी आदि में मद्यपान का प्रतिशत अत्यधिक ऊँची है। जातीय दृष्टिकोण से कायस्थों में भी शराब पीने की आदत अत्यधिक पायी जाती है। कहा जाता है कि मुगल काल से ही इस जाति का शासक वर्ग से प्रत्यक्ष सम्पर्क इस कारण स्थापित हो गया क्योंकि ये लोग मुन्शीगोरी या प्रशासकीय कार्य से सम्बन्धित थे। मुगल बादशाह आदि की संगत में रहने के फल-स्वरूप कायस्थों में मद्यपान का विस्तार हुआ है और अनेक कायस्थ परिवार तो शराब को मंगल-सगुन मानते हैं। इस कारण मंगल अवसरों पर इसका उपयोग विशेष रूप से करते हैं।

(४) पेशा (Occupation)—कुछ विद्वानों का मत है कि जिन पेशों में व्यक्ति को कठोर परिश्रम करना पड़ता है, उन पेशों को करने वाले लोग मद्यपान भी अधिक करते हैं। कुछ दूसरे विद्वानों का मत है कि जिन पेशों की प्रकृति अनिश्चित होती है, उनके करने वालों में भी शराब का प्रचलन अधिक देखने को मिलता है। इसीलिए व्यापार एक ऐसा पेशा है जो अत्यधिक मद्यपान से सम्बन्धित है। व्यापार में लाभ या हानि के बारे में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती है। व्यापारी को सदा ही व्यापार के सम्बन्ध में शंका और चिन्ता रहती है। शराब पीकर उन



चिन्ताओं से बचने की कोशिश की जाती है। व्यापार में हानि होने पर उस हानि को भूलने के लिये भी शराब पी जाती है। उसी प्रकार लाभ होने पर शराब पीकर खुशियाँ मनायी जाती हैं। सेल्समैनों (Salesmen) में, जो कि एक शहर से दूसरे शहर को घूमा करते हैं, मद्यपान का विस्तार अधिक होता है क्योंकि इन पर परिवार का नियन्त्रण नहीं होता है। साथ ही ग्राहक को फांसने के लिए भी इन्हें पाटियाँ देनी पड़ती हैं और ग्राहक के साथ उन्हें खुद भी शराब पीनी पड़ती है। पानी के जहाजों पर काम करने वाले, सैनिक विभाग में काम करने वाले तथा वेश्यावृत्ति में लिप्त लोगों में मद्यपान का विस्तार अधिक होता है। हमारे देश में ठूक डाइवरो तथा मिल व कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों में मद्यपान का प्रतिशत अधिक है। जीवन की नीरसता और कठोर परिश्रम इस आदत के लिये उत्तरदायी हैं।

(५) धर्म (Religion) — धार्मिक भिन्नताओं के आधार पर भी मद्यपान के विस्तार की विवेचना की जा सकती है। अमेरिका में किये गये अध्ययनों से पता चलता है कि यहूदियों में मद्यपान का प्रतिशत सबसे अधिक है। उसके बाद क्रमशः कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायियों का स्थान है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात यह उल्लेखनीय है कि यहूदी धर्म के मानने वालों में यद्यपि प्रायः सभी लोग मद्यपान करते हैं क्योंकि जन्म, मृत्यु, धार्मिक त्यौहार आदि में मद्यपान करना उनके धर्म और परम्परा का एक अंग है, फिर भी जहाँ तक शराब की मात्रा का सम्बन्ध है यहूदियों में अत्यधिक मद्यपान की दर कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट लोगों की तुलना में सबसे कम है। यहूदी परम्परा अत्यधिक मद्यपान की निन्दा करती है। हमारे देश में जैन व बौद्ध धर्म के अनुयायियों में शराब वर्जित है। कट्टर आर्यसमाजियों में भी मद्यपान कम है पर आज उच्च पदस्थ आर्यसमाजियों में शराब का प्रचलन बढ़ रहा है। वैसे सामान्य रूप से भारत में ईसाइयों में सबसे अधिक शराब का प्रयोग होता है। इसके बाद पारसियों का स्थान है।

(६) सामाजिक उत्सव (Social ceremonies) — हमारे देश में सामाजिक उत्सव, त्यौहार आदि का मद्यपान के साथ अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। जन्म, विवाह आदि के अवसर पर शराब का प्रयोग अधिक किया जाता है। उसी प्रकार त्यौहारों के अवसर पर विशेषकर होली, दिवाली, ईद आदि में शराब खूब पी जाती है। इन त्यौहारों में भी होली का नाम इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

## मद्यपान के कारण

### (Causes of Alcoholism)

शराब का प्रयोग सामाजिक धार्मिक, आर्थिक तथा वैयक्तिक कारणों से किया जाता है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में ऐसे अनेक (१) धार्मिक व सामाजिक उत्सव, त्यौहार आदि हैं जिन अवसरों पर शराब पीने की एक तरंग-सा उठती है और उस समय मद्यपान बुरा भी नहीं माना जाता है। नाते-रिश्तेदारों में तथा दोस्तों में ऐसे अवसरों पर दूसरे को शराब पिलाने की प्रथा बहुत पुरानी है। कुछ जातियों



मे तो शराब को मंगल-मंगुल माना जाता है और उस रूप में भी उसका प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। कुछ समाजों में मेजबान (host) द्वारा दिया शराब का प्याला पीने से प्रतिधि (guest) इन्कार नहीं कर सकता है। उसी प्रकार कुछ लोगों में मद्यपान को अभिजात्यता का सूचक माना जाता है और इसीलिए स्त्री और पुरुष दोनों ही शराब पीते हैं। इस अभिजात वर्ग द्वारा आयोजित पार्टियों में, तथा इसके द्वारा संचालित साधारण तथा नाइट क्लबों में मद्यपान कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बन जाता है।

(२) कुछ आर्थिक कारण भी मद्यपान के लिए उत्तरदायी होते हैं। जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, कुछ विशेष पेशा करने वाले व्यक्तियों में शराब पीने की आदत पनप जाती है। उदाहरण के लिए सैनिकों को ही लीजिए। इनका जीवन नीरस तथा एकाकी होता है विशेषकर जब वे युद्ध क्षेत्र में तैनात रहते हैं। इसके अलावा सैनिकों को अपने पारिवारिक जीवन से भी प्रायः दूर ही रहना पड़ता है जिसके कारण उन पर पारिवारिक नियंत्रण कम होता है। इतना ही नहीं युद्ध के भीषण दृश्यों, कठोर परिश्रम तथा कभी-कभी युद्ध क्षेत्र की अत्यधिक ठण्डक को सहन करने के लिए भी सैनिकों के लिए शराब पीना आवश्यक हो जाता है। जीवन की नीरसता और एकाकीपन को भुनाने के लिए भी वे शराब पीते हैं। उसी प्रकार सेल्समैनों को ग्राहक फाँसने के लिए न केवल दूसरों को शराब पिलानी पड़ती है बल्कि खुद भी शराब पीनी पड़ती है। लोगों का कहना है कि ट्रक ड्राइवर यदि शराब न पियें तो उनके लिए हजारों मील भारी ट्रक चलाना असम्भव हो जाये। उसी प्रकार बेकार तथा निर्धन व्यक्तियों में भी मद्यपान का प्रतिशत अत्यधिक पाया जाता है। गरीब व्यक्ति जब अपने बीबी-बच्चों को अपनी ही आँखों के सामने भूख में तड़पते हुए देखता है तो वह उस दृश्य को सहन नहीं कर पाता है और शराब पीकर मानसिक तनाव को कम करने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार बेकार व्यक्ति रोजगार की तलाश में दर-दर ठोकर खाकर भी जब असफल होता है तो उसे निराशा आ घेरती है। हर तरफ से निराशा और असफल व्यक्ति शराब पीकर अपनी समस्त निराशाओं व विफलताओं को भूलने का प्रयत्न करता है और अपने परिवार के लिए अधिकतर बर्बादी को आमन्त्रित करता है।

(३) अज्ञानता भी मद्यपान का एक कारण हो सकता है। यह देखा गया है कि अनपढ़ व्यक्तियों में मद्यपान का प्रतिशत अधिक होता है। बौद्धिक दृष्टिकोण से पिछड़े होने के कारण ऐसे लोगों में मद्यपान के दुष्परिणामों को समझने, जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने तथा समस्याओं का हल खोजने की क्षमता शिक्षित लोगों की तुलना में कम होती है। इस कारण वे बिना सोचे समझे शराब का प्रयोग करते हैं। भारतवर्ष में कोरी, चमार, भंगी, कुर्मी, धोबी तथा मिल व कारखानों के श्रमिक जिनमें मद्यपान का प्रतिशत अत्यधिक होता है, अधिकतर बौद्धिक दृष्टि से अपेक्षाकृत निम्नकोटि के ही होते हैं।

(४) व्यक्तिगत कारण भी मद्यपान के कारण के रूप में कम महत्वपूर्ण नहीं



हैं। कुछ लोग तो बुरी संगत में पड़कर शराब पीना सीख जाते हैं। पहले-पहल तो शराब का 'जायका' लेने मात्र के लिए शराब की एक चुस्की ली जाती है पर बाद की धीरे-धीरे शराब पीने की आदत बन जाती है। उसी प्रकार कम भूख लगने वाले व्यक्ति अपनी भूख बढ़ाने के लिए तथा अधिक परिश्रम करने वाले व्यक्ति थकान को दूर करने के लिए या शारीरिक पीड़ा को भगाने के लिए शराब पीते हैं। उसी प्रकार प्रेम में असफल व्यक्ति, व्यापार में असफल व्यापारी, प्रेम, स्नेह या प्रीति से वंचित व कुसंग व्यक्ति, विवाह-विवाद या परित्रयाग द्वारा असंग किया गया व्यक्ति, तनावपूर्ण जीवन से असुखी व्यक्ति, सीतेले माता-पिता द्वारा अवहेलित व्यक्ति आदि भी अपने जीवन की निराशाओं, विफलताओं तथा कमियों को भूलने के लिए शराब का कम या अधिक प्रयोग करता है। कुछ लोग जुए या घुड़-बोड़ में बाजी हार कर भी खूब शराब पीकर घर लौटते हैं।

**मद्यपान के दुष्परिणाम**

(Evil Consequences of Alcoholism)

मद्यपान की व्यक्तिगत, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक या नैतिक किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता है। इसमें न केवल व्यक्तिगत जीवन पतन के राह का राही बनता है बल्कि परिवार तथा समाज के जीवन को भी खतरा उत्पन्न होता है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट होगी—

(१) **मद्यपान तथा वैयक्तिक विघटन (Alcoholism and Individual dis-organization):**—मद्यपान करने के कुछ कारण एकदम व्यक्तिगत होते हैं जैसे कि कभी-कभी व्यक्ति अपनी भूख बढ़ाने के लिए थोड़ी सी शराब ले लेता है। पर यही शराब की मात्रा लेना उसकी आदत बन जाती है और व्यक्ति धीरे-धीरे इतना आदी हो जाता है कि उसकी बुद्धि कम हो जाती है, उसे भले बुरे का ज्ञान नहीं रहता ना ही उसे अपने बच्चों का कुछ ध्यान रहता है। धीरे-धीरे उसकी आर्थिक स्थिति भी खराब होती जाती है। वह गन्दी व टूटी, फूटी वस्तुओं में रहता है। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत परेशानियों को दूर करने व उनका हल निकालने के लिए शराब पीता है पर उससे हल तो कुछ निकलता नहीं, धीरे-धीरे व्यक्ति का वैयक्तिक विघटन होने लगता है। वह मामूली से मामूली बात के लिए अधिक से अधिक चिन्तित रहता है, सोचता अधिक है। इस प्रकार उसका चरित्र कमजोर हो जाता है। वह संसार के साथ संघर्ष नहीं कर सकता बल्कि उन परिस्थितियों से भागने की कोशिश करता है। इस प्रकार शराब अफीम या गाँजा जो भी नशीली वस्तुयें हैं वह व्यक्ति के वैयक्तिक विघटन में सहायक होती हैं।

(२) **मद्यपान और पारिवारिक विघटन (Alcoholism and Family Dis-organization):**—मद्यपान केवल व्यक्ति को ही नहीं विघटित करता है बल्कि पूरे परिवार को विघटित कर देता है। परिवार में केवल एक व्यक्ति ही शराब पीने वाला होता है और धीरे-धीरे शराब के प्याले को ही केवल याद रखता है बाकी सभी बातों को भूलता जाता है। केवल बढ़ती है उसकी शराब। आये दिन परिवार में तनाव



होता है आर्थिक तंगी के कारण यही तनाव इतना अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है, कि पति-पत्नी में से या तो एक दूसरे को तलाक दे देते हैं या फिर दोनों में से एक आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार एक के भी तलाक दे देने से या आत्महत्या कर लेने से पारिवारिक विघटन हो जाता है। योरूप में अनेक तलाक पतियों के अत्यधिक शराबी होने के कारण दिये जाते हैं। इस प्रकार देखने से पता चलता है की नशीली वस्तुयें परिवार के विघटन में सहायक होती हैं।

(३) मद्यपान और सामाजिक विघटन (Alcoholism and Social Disorganization):—वैयक्तिक विघटन के साथ ही साथ अत्यधिक शराब पीना, अफीम खाना, कोकीन खाना ये सभी सामाजिक विघटन के अनेक स्वरूपों से सम्बन्धित हैं। जिस समाज में अधिक संख्या ऐसे व्यक्तियों की है जो शराब पीते हैं या नशीली वस्तुओं का सेवन करते हैं। ऐसे समाज में अनेक परिवार ऐसे मिलेंगे जो कि विघटित हैं। शराब के दुष्परिणामों के ही कारण सब अलग-अलग हो गये हैं। अधिक विघटित परिवार समाज को भी विघटित कर देते हैं। क्योंकि समाज का विघटन तभी होगा जब व्यक्ति अपनी जगह रहकर अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझेगा। समाज व्यक्तियों के द्वारा ही बना है। जब व्यक्ति और परिवार का विघटन होने लगेगा तो उसी के साथ ही साथ समाज का विघटन अवश्य ही होगा क्योंकि व्यक्ति और समाज को अलग नहीं किया जा सकता। क्योंकि समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए वह अपने सदस्यों पर नियन्त्रण करता है। पर शराबी व्यक्ति उन नियन्त्रणों को नहीं मानता उसे तोड़ना चाहता है तभी सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है।

(४) मद्यपान और नैतिकता (Alcoholism and Morality):—एक शराबी से हम नैतिकता की बात कर ही नहीं सकते। शराब व्यक्ति के दिमाग, बुद्धि को इतना कमजोर बना देती है कि व्यक्ति शराब के नशे में सोच ही नहीं सकता कि नैतिकता क्या है और अनैतिकता क्या है। क्योंकि वह शराबी असंगठित हो जाता है। उसका मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है। सलीबन का कहना है कि ऐसे पागल आत्महत्या, डकैती, बलात्कार के अनैतिक व्यवहारों को करते हुए पकड़े गये हैं। जब इस प्रकार के अनैतिक कार्यों को करता है उस अवस्था में वह चेतन नहीं रहता। कभी-कभी अपने किये गये कार्यों पर पश्चात्ताप करता है। इस प्रकार एक शराबी या अफीमची से नैतिकता पूर्ण व्यवहार की आशा करना व्यर्थ है। केवल शराबी का ही नैतिक पतन नहीं होता बल्कि शराबी के परिवार के सदस्यों की आर्थिक, मानसिक और नैतिक हानि भी होती है।

(५) मद्यपान और आर्थिक जीवन (Alcoholism and Economic life):—शराबियों का आर्थिक जीवन बहुत ही कष्टमय होता है। आधुनिक युग में पैसे की वैसे ही बहुत तंगी है उस पर शराब, व अफीम जैसी यदि सुन्दर आदत पड़ जाये तब तो आर्थिक जीवन में चार चांद लग जायेंगे। नशीली वस्तुओं की आदत इतनी बुरी होती है कि व्यक्ति घर-बार, रुपया-पैसा यहाँ तक की आखिर में बीबी



के शरीर में गड़ने उतार कर गराव पी लेता है। धन का अधिक से अधिक भाग मदिरालय में दे देता है। अखिर में एक एक पैसे के लिए दूसरों का मुंह देखता है। तथा किसी भी प्रकार का कर्मान्ना हो व्यक्ति के आर्थिक जीवन को खोखला कर देता है। यहाँ तक कि परिवार के सदस्यों को दर-दर की टोकरे खाने को विवश कर देता है। गराव जैसी नर्सी वस्तुओं का व्यक्ति के आर्थिक जीवन पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है, जिसको कि व्यक्ति भोगते-भोगते दम तोड़ देता है।

(६) मद्यपान और अपराध (Alcoholism and Crime) — मद्यपान कर लेने के बाद वह अपनी मानसिक स्थिति में ठीक नहीं रहता। मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। घातक आक्रमण ही शराबी का सामान्य अपराध है। अत्यधिक मद्यपान से व्यक्ति का मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है और वह अपराध कर बैठता है। मानसिक संतुलन खोने के बाद व्यक्ति आत्म-हत्या, डकैती, बलात्कार के अपराधों को करता है। इन कार्यों को करते समय उसके चेतन उद्देश्य का अभाव होता है। यहाँ तक की वह अपराध करने के बाद भूल जाता है कि उसने अपराध किया था या नहीं।

(७) मद्यपान और स्वास्थ्य-स्तर (Alcoholism and Standard of Health) — मद्यपान का बहुत ही बुरा प्रभाव स्वास्थ्य स्तर पर पड़ता है, विशेषकर जब शराब का अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है। अत्यधिक शराब पीने से स्वास्थ्य पर उतना ही बुरा प्रभाव पड़ता है जितना कि विषपान करने से होता है। अत्यधिक मद्यपान करने से असाध्य ऐन्ट्राइटिस लिवर की खराबी, गठिया, चमड़ा फटने का रोग (Pellagra) आदि हो जाते हैं। शराब आदमी को बहुत ही दुर्बल बना देती है और दुर्बल व्यक्ति अपनी रक्षा अन्य बीमारियों से भी नहीं कर पाता है, क्योंकि उसमें निरोधात्मक शक्ति विलकुल नहीं रहती है। अत्यधिक मद्यपान से केवल शारीरिक ही नहीं, अपितु मानसिक बीमारियाँ भी हो जाती हैं। शराबी का मस्तिष्क संतुलित नहीं होता है जिसके कारण निर्णय लेने, आत्म-संयम करने तथा दिमाग को किसी काम में केन्द्रित करने की शक्ति नहीं रह जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक सभी दृष्टिकोण से मद्यपान एक गम्भीर समस्या है।

### मादक द्रव्य-व्यसन या नशाखोरी (Drug Addiction)

नशा करने वाले केवल शराब पीकर ही नशा नहीं करते हैं। नशाखोरी के अन्य अनेक माधन हो सकते हैं जैसे गाँजा, चरस, भांग, अफीम, कोकीन, माजून, मारफीन (Morphine), पैथीडीन (Pethidine), एस्पिरिन (Aspirin) आदि।

शराब का प्रयोग आधुनिक सभ्य समाजों में तथा आदिम समाजों में भी होता है, परन्तु मादक द्रव्यों का प्रयोग एशिया में, विशेषकर चीन में ही अधिक किया जाता है। योरोप आदि देशों में केवल दवा के रूप में इसका थोड़ा बहुत प्रयोग



होता है। कुछ देशों में तो मादक द्रव्यों के सेवन को तो उत्साहित किया जाता है। उदाहरण के लिये दक्षिणी अमेरिका में मजदूरों के बीच कोकीन के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाता है जिससे उनका अधिक से अधिक शोषण किया जा सके।

### भारत में मादक द्रव्य व्यसन

(Drug Addiction in India)

भारत में मादक द्रव्यों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। कहा जाता है कि आर्य लोग सोमरस नामक मादक द्रव्य का सेवन करते थे। भाँग का उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। अफीम का प्रयोग भारत में नवीं शताब्दी में शायद मुस्लिम व्यापारियों द्वारा आरम्भ हुआ था। मुस्लिम राज्यकाल में अफीम, गाँजा, भाँग, चरस, कोकीन आदि का प्रयोग काफी बढ़ गया था। अब अफीम, गाँजा, भाँग विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। इन चीजों का प्रयोग हमारे देश में पाण्डे, साधु, मयरे, नट और भूतपूर्व अपराधी जातियों के सदस्य विशेष रूप से करते हैं। उसी प्रकार इन मादक द्रव्यों का नीच जाति के लोग जैसे भंगी, कोरी, चमार आदि भी काफी मात्रा में करते हैं। इन चीजों के प्रयोग के सम्बन्ध में भारत में कुछ सीमा तक वास्तविक स्वीकृति भी लोगों को प्राप्त है। उदाहरण के लिए गाँजा और भाँग को शिवजी का प्रिय पेय माना जाता है।

भारतवर्ष में लोग अफीम की छोटी-छोटी गोलियाँ बनाकर या पानी में घोल कर पीते हैं। कुछ लोग तो इसको दवा के रूप में लेते हैं। क्योंकि उनका कहना है कि अफीम से पाचन सम्बन्धी कष्ट, कफ, दर्द, पीड़ा और निद्रा सम्बन्धी परेशानियाँ कम हो जाती हैं। कुछ मातायें अपने रोने वाले बच्चों को सुलाने के लिये अफीम देती हैं, विशेषकर वे मातायें जिन्हें कि बच्चे को घर पर छोड़कर काम पर जाना होता है। भाँग का प्रयोग तो इससे भी कहीं ज्यादा लोकप्रिय है। सामाजिक उत्सव त्यौहार आदि में इसका खूब प्रयोग होता है। होली में भाँग की बर्फी बनाकर भी लोगों को खिलाई जाती है। शिव-रात्रि में तो शिवजी को भाँग का प्रसाद चढ़ाया जाता है और उसी भाँग का प्रसाद के रूप में खूब सेवन किया जाता है। कुछ विशेष अवसरों पर भाँग की कचौड़ी, लड्डू, हलुआ और कुलफी आदि बनायी जाती है। गाँजा और चरस को चिलम सुलगाकर दम लगाने से पहले और बाद में यह कहते भी जाते हैं कि 'जिसने न पी गाँज की कली, उस लडके से लडकी भली।' इस युक्ति से ही इसके विस्तार को समझा जा सकता है। साधु पण्डे आदि इसका प्रयोग विशेष रूप से करते हैं। कोकीन का प्रयोग पहले उच्च वर्गों, जमींदारों तथा मुस्लिम बादशाहों व नवाबों द्वारा किया जाता था पर अब इसे लाइसेंस प्राप्त दुकानदार ही दवाई आदि में प्रयोग करने के लिये बेच सकते हैं।

आज भारतवर्ष में जनमत इस ओर अधिक क्रियाशील हो रहा है कि शराब तथा मादक द्रव्यों के प्रयोगों को सरकारी तौर पर बन्द कर दिया जाय। सरकारी क्षेत्र में भी इसके पक्ष में अनेक लोग हैं। इसीलिए इस देश में नशा-निषेध (prohibition) आन्दोलन दिन प्रतिदिन जड़ दकड़ता जा रहा है। एक केन्द्रीय संस्था भारत



सरकार द्वारा स्थापित की गई है जोकि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की मादक द्रव्यों के उपभोग को नियन्त्रण करने वाली नीतियों में समन्वय स्थापित करता है। यह संस्था (Narcotics Intelligence Bureau) उपरोक्त हानिप्रद मादक द्रव्यों के अवैध व्यापार को नियन्त्रित करने का काम करती है। इस सम्बन्ध में भारतवर्ष में नशा-निषेध आन्दोलन में जो प्रगति अब तक हुई है उसके विषय में भी ज्ञान लेना आवश्यक होगा। निम्नलिखित विवेचना इसी को सम्बन्ध में है।

### नशा-निषेध (Prohibition)

नशा-निषेध क्या है ?

(What is Prohibition) ?

नशा-निषेध का तात्पर्य शराब तथा अन्य मादक द्रव्यों जैसे अफीम, भाँग, गाँजा, चरस तथा नशीली औषधियों के उपभोग विक्री तथा निर्माण को औपधायी प्रयोजनों के अतिरिक्त, कानून द्वारा निषिद्ध करना है। जैसा कि आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा, नशीली चीजों का अत्यधिक सेवन अनेक राष्ट्रीय, सामाजिक तथा आर्थिक दुष्परिणामों को जन्म देता है। नशा करने वालों का जीवन तो बर्बाद होता ही है, साथ ही पारिवारिक जीवन भी खोखला हो जाता है। इस भयंकर परिस्थिति से समाज, राष्ट्र, परिवार और व्यक्ति की रक्षा के हेतु राज्य को नशीली वस्तुओं के भोग को कानून द्वारा रोकना पड़ता है। परन्तु केवल उपभोग पर ही रोक लगाने से समस्या का हल नहीं हो पाता जब तक कि ऐसी मादक वस्तुओं का किसी भी रूप में बनाना और बेचना भी निषिद्ध न कर दिया जाय। इस कारण नशा-निषेध की सम्पूर्ण धारणा के अन्तर्गत स्वास्थ्य के लिए हानिकारक समस्त मादक वस्तुओं और औषधियों के उपभोग, विक्री तथा निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाया है। नशा-निषेध के कानूनों को तोड़ना दंडनीय अपराध घोषित कर दिया जाता है। हाँ, इस सम्बन्ध में इतनी छूट दी जा सकती है कि स्वास्थ्य की दृष्टि से जिन लोगों के लिए ऐसी चीजें नितान्त आवश्यक हैं, उनको तथा दवा के रूप में रोगियों के लिए प्रयोग में लाने के लिए डाक्टरों, वैद्यों आदि को इन मादक वस्तुओं को प्राप्त करने की आज्ञा दी जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि नशा-निषेध का वास्तविक स्वरूप देश में उस समय के प्रचलित कानून पर निर्भर है और इस कारण नशा-निषेध की धारणा स्थिर न होकर गतिशील धारणा है। जैसा, हो सकता है कि आज धार्मिक कार्यों में लिए आज्ञा लेकर शराब प्राप्त की जा सकती है, पर यह भी हो सकता है कि कल इस प्रकार की आज्ञा को रद्द कर दिया जाय।

नशा खोरी से हानियाँ

(Evils of Intoxication)

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि नशीली चीजों के उपभोग से अनेक सामाजिक, आर्थिक तथा वैयक्तिक हानियाँ होती हैं और इसी कारण राज्य को नशा



निषेध करना पड़ता है। संश्लेष में ये हानियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) नशा खोरी व्यक्तिगत जीवन को विघटित करती है (It results in individual disorganization)—नशा करने की आदत भट्टी और फूहड़ है। इससे जीवन का संतुलन बिगड़ जाता है। नशे में लोग कितने गन्दे, पापी और फूहड़ हो जाते हैं यह बात लिखी भी नहीं जा सकती। शराब पी लेने के बाद शायद ही कोई शान्त और गम्भीर रह पाता हो। “हर वह चीज बुरी है जो हमारे आचार-विचार एवं व्यवहार को अस्वाभाविक और अनाचारपूर्ण बनाती है। नशे से यही होता है। परन्तु शराबी व्यक्ति दुनिया की चिन्ता नहीं करता है। वह पीता है और पीता रहता है, परिणाम-स्वरूप चाहे उसका सर्वनाश ही क्यों न हो जाय।” वास्तव में ऐसे व्यक्ति का सर्वनाश ही भी जाता है।

(२) स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है (It affects the health most adversely)—मादक वस्तुयें धीरे-धीरे व्यक्ति को भीतर ही भीतर जलाती और राख करती रहती हैं। दूसरे शब्दों में नशाखोरी का बहुत बुरा प्रभाव नशा करने वाले व्यक्ति के स्वास्थ्य पर पड़ता है। इससे उसका व्यक्तिगत जीवन अत्यधिक दुःखद हो जाता है। इस प्रकार के लोगों की संख्या जब समाज में अधिक होती है तो उसका अन्तिम परिणाम राष्ट्र के स्वास्थ्य-स्तर पर पड़ता है। नशाखोरी देश के स्वास्थ्य-स्तर को गिरा देती है।

(३) समाज में अपराध बढ़ते हैं (It increases crime)—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, नशे की दशा में लोग विचार या तर्कशक्ति प्रायः खो बैठते हैं। उनके मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ जाता है और ऐसी हालत में व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। नशाखोरी से अपराध आप से आप बढ़ता है। नशे की हालत में व्यक्ति क्या नहीं करता? वारुणी के बाद वेश्या आती है। कितनी दुर्घटनायें, कितने व्यभिचार, कितने भगड़े और कितने अपराध नशाखोरी के कारण होते हैं यह सबको विदित है।

(४) श्रमिक की कार्य-कुशलता घटती है (Efficiency of labour declines)—नशा करने वाले व्यक्ति का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन खराब होता जाता है और उसी के साथ-साथ उसकी कार्य-कुशलता भी घटती जाती है। अधिक नशा करने के बाद नशा उतरने पर भी शरीर में अत्यधिक सुस्ती छाया रहती है। उसका दिमाग उचित ढंग से काम नहीं करता। फलतः वह काम से जी चुराता है और इस कारण किसी भी काम को वह ठीक ढंग से नहीं सीख पाता। उसकी कार्य-कुशलता घटती रहती है। श्रमिक की कार्य-कुशलता घटने का अर्थ उत्पादन का घटना है और उत्पादन घटने का अन्तिम परिणाम देश की आर्थिक दशा का बिगड़ना, निर्धनता आदि होता है।

(५) पारिवारिक जीवन दुखी होता है (It makes family life unhappy)—नशाखोरी सुखी पारिवारिक जीवन के लिए घातक है। नशाखोरी का एक स्वाभाविक परिणाम पारिवारिक तनाव और पारिवारिक विघटन होता है। इसके



तीन प्रमुख कारण हैं—प्रथम तो यह कि नशा करने वाले व्यक्ति से नशा न करने वाले व्यक्ति, साधारणतया घृणा करते हैं। उदाहरणार्थ यदि पिता शराबी है और शराबी पिता या पति को अगर उसके बच्चे और सभी घृणा की दृष्टि से देखें तो वह परिवार नरक हो जायगा। पारिवारिक संगठन और मुख्य पारिवारिक प्रेम, सद्भाव और सहयोग पर निर्भर है न कि घृणा और वितृष्णा पर। दूसरी बात यह है कि अधिक नशा करने वाला व्यक्ति साधारणतया असमर्थ, अशान्त और बिड़बिड़ा होता है और इस कारण ही उसका अनुकूलन परिवार के अन्य सदस्यों के साथ नहीं हो पाता। तीसरे, नशे का खर्चा बहुत अधिक होता है और उसे पूरा करने में परिवार के अन्य सदस्यों की प्राथमिक आवश्यकताएँ तक पूरी नहीं हो पाती, पेट भर खाना और पहनने को कपड़े तक नहीं मिल पाते। महाजनों के यहाँ कर्ज बढ़ता जाता है। बच्चे की पढ़ाई-लिखाई बन्द करनी पड़ती है, उनका जीवन बर्बाद हो जाता है। फिर भी नशा बन्द नहीं होता, नशा उतरने पर भी अपनी सुखता का अन्दाजा नहीं लग पाता। इसीलिए पहले पत्नी के जेवरों पर आक्रमण किया जाता है, उन्हें गिरवी रखकर या बेचकर नशे की माँग को पूरा किया जाता है, फिर बर्तन इत्यादि बेचने की नीवत आती है, किराया और कर्ज दोनों चढ़ता रहता है; अन्त में एक दिन मकान मालिक या महाजन आकर बचा हुआ सामान भी उठा ले जाता है या मकान खाली करवाने के लिए उन सामानों को उठाकर रास्ते पर फेंक देता है। इतना ही नहीं, इस प्रकार की आर्थिक तबाही की परिस्थिति में स्त्री या जवान लड़की दुष्ट जनों के पंजे में जा फँसती है और दो-चार रुपये में ही उसका सब-कुछ लुट जाता है। नशा-खोरी का इससे बड़ा दुष्परिणाम और क्या हो सकता है और इस पर भी अगर हम उससे सौ हाथ दूर न रहें तो इससे बढ़कर अज्ञानता और क्या हो सकती है ?

**नशा-निषेध से लाभ**

(Merits of Prohibition)

नशाखोरी के दुष्परिणामों की विवेचना के पश्चात् नशा-निषेध के लाभ स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं। हमारे शब्दों में, नशा निषेध से नशाखोरी के दुष्परिणामों का अन्त हो जाता है। भारत जैसे निर्धन देश के लिए विशेषकर भारत के उस श्रमिक वर्ग के लिए जिन्हें ऐसे ही आधा पेट खाकर और आधा तन ढक कर जीवन बिताना पड़ता है, नशा-निषेध एक महान् आर्थिक सामाजिक सुधार (Socio-economic reform) है। संक्षेप में, इस सुधार से व्यक्ति, परिवार और समाज को निम्न लाभ हुए हैं —

(१) नशा-निषेध से व्यभिचार, अपराध आदि घट जायेंगे (Prohibition will decrease crime etc) :—नशा-निषेध से कम से कम व्यभिचार, अपराध आदि के एक कारण पर कुटाराघात होता है। कुछ अपराधशास्त्रियों का मत है कि कभी-कभी नशे की हालत में लोग भयंकर अपराध कर बैठते हैं क्योंकि उस अवस्था में विवेक या बुद्धि काम नहीं करती और व्यक्ति के एक उत्तेजक मानसिक परिस्थिति में रहने के कारण एक तो उसे क्रोध अधिक आता है और दूसरे उसकी सुभाव ग्रहण



करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। अतः नशा-निषेध से व्यक्ति और समाज की इन परिस्थितियों में रक्षा की जा सकेगी।

(२) नशा-निषेध व्यक्तिगत जीवन को संगठित तथा सम्मानपूर्ण बनाता है (Prohibition makes individual life organized and respectful) :—जो लोग शराब पीते हैं, नशा करते हैं, उनका कोई भी आदर सत्कार नहीं करता; सभी उन्हें पृथा की दृष्टि में देखते हैं। यह समझा जाता है कि जो व्यक्ति नशेवाज है वह कभी अच्छा नहीं हो सकता। यद्यपि यह असत्य भी हो सकता है, फिर भी सामान्य रूप में नशेवाजों को सामाजिक सम्मान नहीं मिल पाता। नशा-निषेध उन्हें इस परिस्थिति से छुटकारा पाने का अवसर देता है। जैसे ही वे नशा करना छोड़ देते हैं उनके विचार, व्यवहार धीरे-धीरे स्वाभाविक तथा आचारपूर्ण होने लगते हैं और वे समाज की एक उपयोगी इकाई बन आते हैं। परिणामस्वरूप घर में और बाहर भी उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है और उन्हें सबसे यथोचित आदर-सत्कार मिलता है। मानव जीवन में इसका अत्यधिक महत्व है।

(३) भावी पीढ़ी की रक्षा होती है (Future generation is protected) :—नशा-निषेध का एक महत्वपूर्ण और स्वस्थ प्रभाव बच्चों के जीवन पर पड़ता है। आज की सन्तान ही कल के समाज की नींव है। नशा-निषेध इसी नींव की रक्षा करता है। बड़ों की, विशेषकर परिवार में माता-पिता, बड़े भाई आदि की नकल छोटे बच्चे बहुत ज्यादा करते हैं। पिता अगर शराबी है तो बच्चे के शराबी होने की सम्भावना अत्यधिक है। नशा-निषेध इस सम्भावना को बहुत कुछ पलट देता है। नशा-निषेध से नशाखोरी बन्द हो जायेगी और बच्चों के सम्मुख उनके बड़ों का एक ऐसा आदर्श उपस्थित हो सकेगा जिससे वे नशीली चीजों से सदा अपने को बचाने की प्रेरणा पा सकेंगे। साथ ही नशा छोड़ देने से धन की बचत होगी और उस धन से बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था हो सकेगी अर्थात् भावी पीढ़ी का निर्माण होगा।

(४) जन-स्वास्थ्य और कार्य-कुशलता का स्तर ऊंचा उठेगा (It will ensure better standard of public health and efficiency) :—नशाखोरी का जो अत्यधिक बुरा प्रभाव व्यक्ति के स्वास्थ्य पर पड़ता है उससे उनकी रक्षा करना नशा-निषेध का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। जब स्वास्थ्य अच्छा रहेगा तो प्रत्येक कार्य को उत्साहपूर्ण करने की प्रेरणा स्वतः ही व्यक्ति को अपने आप से मिलेगी। काम से जी न चुराने पर और मन लगाकर, मेहनत से काम करने पर कार्य-कुशलता बढ़ेगी। व्यक्ति और समाज दोनों की ही उन्नति के लिए यह परमा-बद्धक है।

(५) पारिवारिक जीवन सुखी होगा (It will make family life happy) :—जो व्यक्ति नशा करना छोड़ देते हैं परिवार में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती है और उनका अनुकूलन परिवार के अन्य सदस्यों से सरल हो जाता है जिससे परिवार में पारस्परिक प्रेम, सद्भावना और सहयोगिता बढ़ती है। पारिवारिक जीवन को सुखी



बनाने में इन सब नशों का अत्यधिक महत्व है । केवल इतना ही नहीं, अनेक अनु-सन्धानों ने यह भी सिद्ध किया है कि जो परिवार नशा करना छोड़ देते हैं वे अब तक नशे पर खर्च होने वाले काफी रुपये बचा लेते हैं । इन रुपये को कपड़ा, भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को खरीदने में खर्च करने पर पारिवारिक जीवन के अनेक अभाव कम हो जाते हैं । आर्थिक अभाव और कठिनाइयों के बीच परिवार में जो लड़ाई-भण्डा अब तक प्रत्येक दिन लगा रहता था वह भी बन्द हो जाता है और सुखी पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक दानि का वातावरण रहता है ।

(६) नशा-निषेध श्रमिक-वर्ग के लिए बरदान है (Prohibition is a blessing for labour class) :—नशा-निषेध का प्रभाव श्रमिक-वर्ग पर क्या पड़ा है, इसकी जाँच करने के लिए अनेक सर्वेक्षण हुए हैं । सभी का एक ही निष्कर्ष है कि सामान्य रूप में नशा-निषेध के कारण श्रमिकों की अवस्था में पर्याप्त सुधार हुआ है । बम्बई सरकार ने इस विषय में नशा-निषेध जाँच कमेटी (Prohibition Enquiry Committee) के सम्मुख अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि “शराब तथा अन्य नशीली चीजों के न मिल सकने के कारण श्रमिकों का जो रुपया बच जाता है उसका बड़ा अच्छा परिणाम निकल रहा है । उस बचे हुए रुपये से अब श्रमिक अपना कज चुकाता है, मकानों की मरम्मत करवाता है, मिट्टी के बर्तनों के स्थान पर वह ताँबे और पीतल के बर्तन खरीदने के योग्य हो गया है । जो अब तक नशा करते थे, वे नशा छोड़कर उत्तम भोजन पर खर्च कर रहे हैं, अच्छे कपड़े पहनने लगे हैं, परिवार की स्त्रियों के लिए जेवर बनवाने लगे हैं, बच्चों के लिए खिलौने लाते हैं, उनकी शिक्षा की व्यवस्था करते हैं । जो किसान अब तक खेतों से अपना नाता ही तोड़ बँटे थे वे अब खेती के लिए नये औजार, नये हल-बैल खरीद रहे हैं और खेती की उन्नति हो रही है ।” उक्त कमेटी का यह अनुमान है कि देश में नशा-निषेध होने पर क्रय-शक्ति (Purchasing Power) १८० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगी और इसमें से ६४ करोड़ रुपया उपयोगी और उत्पादक कार्यों में लगाया जा सकेगा । बम्बई तथा मद्रास में किये गये अन्य सर्वेक्षणों से भी यह पता चलता है कि नशा-निषेध के पहले जिन मजदूर परिवारों में खाने के भी लाले पड़े रहते थे वे परिवार आज सम्पन्न जीवन बिता रहे हैं । पहले नशा करने वाले व्यक्ति अपनी आय का ३० से ४५ प्रतिशत रुपया केवल नशे में ही बहा देते थे । नशा-निषेध के पश्चात् यह रुपया उनके पास बचने लगा है और भोजन तथा वस्त्र पर पहले से प्रायः दुगुना खर्च किया जाता है । ऐसे परिवारों के केवल नशे पर खर्च होने वाले रुपये ही नहीं बचने लगे अपितु उन रुपये की भी अब बचत होने लगी जो पहले नशा करने के फलस्वरूप बीमारी आदि पर खर्च होते थे । इतना ही नहीं, पहले शराब आदि पीकर घर में या वेष्ट्यालय में पड़े रहने के कारण, और उसके फलस्वरूप प्रायः बीमार रहने के कारण, श्रमिक अपने काम से अनुपस्थित रहता था जिससे उसके वेतन से काफी कटौती हो जाती थी । पर नशा-निषेध के पश्चात् उपस्थिति की दरें पहले से बढ़ गई



हैं और इस कारण श्रमिक को अब वेतन भी अधिक मिलने लगा है। संक्षेप में, श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में नशा-निषेध अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है।

इस सम्बन्ध में पूज्य बापू की वाणी सदैव अमर रहेगी। उनका कथन था—  
‘लाल-पानी (शराब) की ओर लपकना प्रज्वलित अग्नि-कुण्ड या जल-प्लावित नदी की ओर लपकने से कहीं अधिक खतरनाक है। द्वितीय क्रिया से केवल शरीर ही नष्ट होता है, प्रथम क्रिया तो शरीर और आत्मा दोनों को ही नष्ट करने वाली है।’<sup>1</sup>

### नशा-निषेध से हानि

#### (Demerits of Prohibition)

कुछ विचारकों ने नशा-निषेध की हानियों की ओर भी हमारा ध्यान आकषिप्त किया है। उनके अनुसार नशा-निषेध से प्रमुख रूप से चार प्रकार की हानि होती है—(१) सरकार की आय का एक अच्छा साधन बन्द हो जाता है। (२) नशा-निषेध सम्बन्धी नियमों को लागू करने और उनका पालन करवाने के लिए बहुत बड़ा सरकारी स्टाफ रखना पड़ता है। (३) गैर-कानूनी तौर पर शराब बनने लगती है और (४) स्प्रिट तथा अन्य वस्तुयें भी शराब के नाम पर बाजार में बेची जाती हैं या शराब के स्थान पर पी जाती हैं जो कि स्वास्थ्य के लिए और भी हानिकारक होती हैं।

उपर्युक्त बातें कुछ अंश तक सत्य प्रतीत होती हैं, परन्तु स्वार्थी वर्ग इन पर आवश्यकता से अधिक बल देकर उनकी उस सत्यता का भी हनन करते हैं। कहा गया है कि नशा-निषेध से सरकार की आय का एक अच्छा साधन बन्द हो गया है। वह ठीक है, पर क्या ऐसी आय सरकार के लिए उचित है जो व्यक्तिगत, पारिवारिक और राष्ट्रीय बर्बादी के बदले में आती है? क्या वह आय वास्तव में उचित होगी जिसके लिए कितने ही परिवारों में चिराग तक न जल सकें, कितनी ही स्त्रियों को अपनी लाज ढकने तक के कपड़े न मिलें, कितने ही सुकुमार बच्चों के जीवन खिलने से पहले ही नष्ट हो जायें? क्या उस आय की आशा सरकार को करनी चाहिये जिसके कारण राष्ट्रीय जीवन अन्दर ही अन्दर खोखला होता रहे? निश्चय ही इन सबका उत्तर ‘नहीं’ में होगा।

कहा गया है कि नशा-बन्दी लागू करने के लिए बहुत बड़ा सरकारी स्टाफ रखना पड़ता है और उस पर सरकार का बहुत सारा धन खर्च हो जाता है। खर्च के दृष्टिकोण से नहीं राज्य के वास्तविक कर्तव्य के दृष्टिकोण से इस प्रश्न का उत्तर पाना सरल होगा। सरकार का कर्तव्य है कि वह जनता के अधिकाधिक कल्याण के लिए प्रयत्न करे और उन अवस्थाओं को सुधारे जो जनता, समाज या राष्ट्र के

1. “Rushing to red-water is far more dangerous than rushing to a ragging furnace or a flooded stream. The latter destroys only body, the former destroys both body and soul.”  
—Mahatma Gandhi



लिए अहितकर, अनुपयोगी या हानिकारक है। नशाखोरी की अवस्था भी उसी प्रकार की एक आर्थिक-तन्त्रिक परिस्थिति है जिसके अनेक आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिकोणों से हम सब परिचित हैं। फिर ऐसी परिस्थिति को सुधारना तो सरकार का कर्तव्य है, इसके लिए अधिक या कम खर्च का प्रश्न ही कहाँ उठता है। खर्च तो पचवर्षीय योजनाओं में भी होता है तो क्या खर्च के भय से उन योजनाओं को बन्द कर दिया जाए ? और जहाँ तक सरकारी स्टाफ का प्रश्न है, तो हम सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि हमने कहीं अधिक सरकारी स्टाफ की देश की प्रतिरक्षा के लिए या शिक्षा सम्बन्धी कानूनों को लागू करने के लिये रखना पड़ता है। जनता के कल्याण और सुरक्षा की दृष्टि से जिस प्रकार हम बृहत् सरकारी स्टाफ की आवश्यकता होती है उसी प्रकार नशाबन्दी के लिए भी सरकारी स्टाफ रखना उचित होगा।

कहा जाता है कि लोग अर्बुद गराव बनाने लगे हैं। पर कौन-सा कानून है जो तोड़ा नहीं जाता है और जिसके विरुद्ध कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया नहीं होती ? क्या रिश्वत, मिलावट और भ्रष्टाचार की बन्दी या मनाही नहीं है ? क्या ये चीजें आज बुरी तरह नहीं बढ़ रही हैं ? इस वृद्धि को रोकने का कुछ भी प्रयास न करके, इस सम्बन्ध में कानूनों को अधिक तोड़ा जा रहा है। केवल यह देखकर कानूनों को ही रद्द कर दिया जाय, यह तो कोई युक्ति नहीं है। विघटित अवस्था को सुधारना होगा, उसे विघटन कह देंगे मात्र से ही समस्या सुधर नहीं जायेगी। उसी प्रकार स्मिट आदि का बिकना तथा प्रयोग होने की समस्या को भी स्वस्थ और अनुकूल जनमत के निर्माण या जन-शिक्षा के प्रसार से धीरे-धीरे हल किया जा सकता है।

## भारत में नशा-निषेध आन्दोलन का क्रमिक विकास

### (Evolution of Prohibition Movement in India)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)—भारत में नशीली वस्तुओं का प्रयोग और प्रचलन किसी न-किसी रूप में बहुत प्राचीनकाल से ही होता रहा है और हिन्दू-जिन्हीं अवस्थाओं में तो इसे धार्मिक आचारों पर मान्यता भी दे दी गई थी। उदाहरणार्थ यह विश्वास किया जाता है कि गाँजा, चरस, भाँग आदि शिवजी की अत्यन्त प्रिय वस्तुएँ थी और उनके द्वारा ही उनका प्रचलन हुआ है। इस कारण इनका सेवन करना शिवजी का ही प्रसाद पाना है। नाच-नर्याही ही नहीं, साधारण लोग भी चिलम में दम लगाने या भाँग छानने के पूर्व जिस भक्ति-भाव से "बम भोले" कहते हैं, उसे सचमुच "प्रसाद पाना" कहना उचित होगा। शायद इसी लिए भारत के धार्मिक स्थानों में इनका प्रचलन-प्रवर्धित है। परन्तु आर्थिक अर्थों में सोमरस आदि के अनिश्चित शराब या सुरा का उल्लेख नहीं मिलता। सुरा राक्षसों का पेय था। मध्यकाल में मुसलमानों के आ जाने के बाद शराब का प्रचलन स्पष्ट हुआ। परन्तु अलाउद्दीन बिलगी जैसे कुछ मुसलमान राजा भी नशाखोरी के विरुद्ध ही थे। भारतीय जनजातियों में भी नशीली वस्तुओं का प्रचलन है। वे ताड़, महुआ अथवा चावल से बने मादक द्रवों का उपयोग रोज और उत्सव आदि में विशेषकर



करते हैं। परन्तु इनमें विटामिन 'बी' और 'सी' अधिक मात्रा में होने के कारण ऐसे मादक द्रव्यों में उन्हें हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है। इस कारण इस क्षेत्र में यह कोई विशेष समस्या नहीं है।

अपेजों के भारत में आने के पश्चात् परिस्थिति बिल्कुल पलट सी गयी। नशीले द्रव्यों पर कर लगाने की नीति अपनाई गई और इसे सरकारी आय का एक अच्छा साधन सा मान लिया गया। आबकारी (Excise) महकमा खोला गया जिसका काम शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं से अधिक-से-अधिक कर वसूल करना था। इस कारण इस दिशा में लोगों को प्रोत्साहित किया गया और शराब बनाना एक प्रकार का गृह-उद्योग समझा गया। इतना ही नहीं, प्रति वर्ष हजारों गैलन शराब विदेशों से आने लगी। उदाहरणार्थ, १९०४-५ में विदेशों से १२,९७,६११ गैलन शराब भारत में आयी थी।

७ सितम्बर, सन् १९०५ को भारत सरकार ने अपनी आबकारी नीति को एक प्रस्ताव के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। प्रस्ताव में कहा गया था—“भारत सरकार उन लोगों के मामले में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहती जो कम मात्रा में शराब का सेवन करते हैं।.....उनकी यह निश्चित नीति है कि शराब जो नहीं पीते हैं उनके लिए पीने का प्रलोभन कम किया जाय और जो अधिक पीते हैं उन्हें निरुत्साहित किया जाय।.....इस नीति को क्रियात्मक रूप देने का उपाय यही है कि शराब पर अधिक-से-अधिक कर लगाया जाय.....शराब की दुकानों की संख्या भी कम कर दी जाय.....” परन्तु यह प्रस्ताव केवल कागजों तक ही सीमित रहा। इसे कार्यान्वित करने के लिए न तो जनमत को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया और न ही कोई कानून बना। इसका परिणाम यह हुआ कि ‘कम मात्रा’ में शराब आदि सेवन करने वालों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गयी और उसी के साथ-साथ इससे प्राप्य सरकारी आय भी। सन् १९१२-१३ में नशीली चीजों पर लगाये गये कर से सरकार को १३.२ करोड़ की आमदनी हुई थी जोकि सन् १९४४-४५ में बढ़कर ४३.४२ करोड़ हो गयी।

**प्रारम्भिक नशा-निषेध आन्दोलन (Preliminary Prohibition Movement)**—प्रारम्भ में भारत के कुछ धार्मिक सम्प्रदाय जैसे रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज आदि ने नशा-निषेध आन्दोलन को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। परन्तु इनका प्रभाव केवल उन तक ही सीमित रहा जो इनके अनुयायी थे, आम जनता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सन् १९२० में नशा-निषेध आन्दोलन को एक राजनैतिक आधार मिला जबकि अखिल भारतीय काँग्रेस ने नशा-निषेध को अपनी नीति घोषित करते हुए सरकार से शराब तथा अन्य मादक द्रव्यों को बेचने वाली दुकानों को बन्द कर देने की मांग की। इसके बाद सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन के समय गाँधी जी ने स्वयं नशा-निषेध आन्दोलन की बागडोर को सम्भाला और शराब की दुकानों पर धरना देने के कार्यक्रम को चालू किया।



सन् १९३० में गांधी-इंग्लिश समझौता हुआ। लार्ड इंग्लिश के सम्मुख जो स्वारह मांग प्रस्तुत की गयी, उनमें नशा-निषेध भी एक थी। सन् १९३१ में कांग्रेस की कार्य-कारिणी ने नशा-निषेध आन्दोलन में भाग लेना प्रत्येक नागरिक का जन्म-सिद्ध अधिकार घोषित किया। सन् १९३७ में देश के कुछ प्रांतों में मांसन की बागडोर मोक्षत्रिय कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के हाथ आई। इससे कांग्रेस की नशा-निषेध की क्रियात्मक रूप देने का अवसर मिला और मद्रास, मध्य प्रान्त, बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा सीमा प्रदेश में नशा-निषेध के कानून पान किये गए। पहले-पहल सारे प्रान्त में नशा-निषेध कानून को लागू न करके प्रान्त के कुछ भागों को इसके लिये चुन लिया गया। मद्रास सरकार ने इस विषय में पहला कदम उठाया और १ अक्टूबर, सन् १९३७ से सनैस जिले को नशा-निषिद्ध क्षेत्र घोषित किया गया, सन् १९३८ में चित्तूर और कुड्डपा जिले तथा सन् १९३९ में उत्तरी अरकाट में भी नशा-निषेध का कानून लागू किया गया। जुलाई, सन् १९३८ में बम्बई के अहमदाबाद जिले के औद्योगिक क्षेत्रों में और कुछ समय पश्चात्, वृहत्तर-बम्बई में नशा-निषेध का कानून लागू किया गया। यू० पी० में सन् १९३८ में पहले-पहल दो जिलों में यह कानून लागू किया गया और अगले वर्ष चार और जिलों को नशा-निषिद्ध क्षेत्र घोषित कर दिया गया। मध्य-प्रान्त में सन् १९३९ तक सारे प्रान्त का लगभग पाँचवा भाग नशा-निषिद्ध क्षेत्र हो गया। नितम्बर, सन् १९३९ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र दे देने से नशा-निषेध आन्दोलन भी रुक गया और भारत के स्वतन्त्र होने तक इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई।

### वर्तमान भारत में नशा-निषेध (Prohibition in Present India)

देश के स्वतन्त्र होने पर नशा-निषेध आन्दोलन का एक प्रातिकारी अध्याय प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस सरकार ने पूज्य बापू के आदर्शों को पूर्ण रूप से साकार करने के लिए नए तौर पर नशा-निषेध आन्दोलन को सरकारी नीति का एक अंग बनाया और उसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति भारत के नये संविधान में हुई। इस संविधान में “राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त” (Directive Principles of State Action) के अन्तर्गत अनुच्छेद ४७ में कहा गया है—“राज्य अपने लोगों के पोषण स्तर (level of nutrition) और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा जन-स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में से मानेगा और विशेषकर स्वास्थ्य के लिये हानिकारक नशीले पद्यों और औषधियों के, औषधीय प्रयोजनों के अतिरिक्त, उपभोग को रोकने का प्रयास करेगा।”

नशा-निषेध कार्य-क्रमों में प्रगति (Progress of Prohibition programmes)—उपरोक्त ‘राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त’ के अन्तर्गत अनुच्छेद ४७ को क्रियान्वित करने तथा उस आदर्श को ठोस रूप देने के उद्देश्य से योजना आयोग ने दिसम्बर, सन् १९५४ में एक ‘नशा-निषेध जाँच कमेटी’



(Prohibition Enquiry Committee) नियुक्त की। इस कमेटी की प्रमुख सिफारिश यह थी कि नशा-निषेध कार्यक्रम को देश को विकास योजना का एक अभिन्न अंग मान लिया जाय। इस सिफारिश को ३१ मार्च, सन् १९५३ से लोकसभा ने स्वीकार कर लिया और इसी आधार पर देश-भर में नशा-निषेध आन्दोलन चलाया गया।

इस मोर्चा को कार्यान्वित करने के लिए राज्य सरकारें अपने-अपने राज्यों में स्वतन्त्र प्रयास करने लगीं। कुछ राज्यों ने पूर्ण नशा-निषेध (Total prohibition) को अपनाया था। ऐसे राज्य चार हैं—बम्बई, मद्रास आन्ध्र और सौराष्ट्र। अन्य आठ राज्यों ने आंशिक नशा-निषेध (Partial Prohibition) को अपनाया। ये आठ राज्य निम्न हैं—पंजाब, मध्य-भारत, मैसूर, आसाम, उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा, त्रावण्कोर-कोचीन तथा हिमाचल-प्रदेश। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे राज्य भी हैं जिनका लक्ष्य तो नशाबन्दी करना है परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण वहाँ नशा-निषेध कानून लागू नहीं किया जा सका है। ये राज्य हैं—पश्चिमी बंगाल, बिहार, राजस्थान, पेश्मू आदि। दिल्ली में अगस्त सन् १९५६ से नशाबन्दी शुरू हो गई। होटलों आदि में शराब का चलन बन्द कर दिया गया है। अब एक 'केन्द्रीय नशा निषेध कमेटी' (Central Prohibition Committee) की स्थापना की गई है जोकि नशा-निषेध के कार्यक्रमों में हुई प्रगति की समीक्षा करती है, विभिन्न राज्यों के कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करती है तथा राज्यों की व्यवहारिक कठिनाइयों पर गौर करती है। यह कमेटी नशा-निषेध कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए सुझाव देती है, इस सम्बन्ध में शोध कार्य (research work) करती है, प्रचार की व्यवस्था करती तथा स्वयंसेवी संगठनों को सहायता देने तथा उनका अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने के सम्बन्ध में सौच-विचार करती है। गैर-सरकारी संस्थाओं में 'नशा-बन्दी लोक कार्य-क्षेत्रों' (Nasha Bandi Lok Karya Kshetras) को सक्रिय बनाया गया है जोकि नशा-निषेध से सम्बन्धित सामाजिक व आर्थिक परिणामों के सम्बन्ध में जनता को निश्चित करता है।

जनवरी, सन् १९६३ में राज्यों के मुख्यमंत्रियों (Chief Ministers of States) ने एक अनौपचारिक बैठक में नशा-निषेध के विभिन्न पक्षों पर विचार-विमर्श किया और इस निष्कर्ष पर आए कि वर्तमान व्यवस्था में कोई ढिलाई नहीं होनी चाहिए। अप्रैल, सन् १९६० में पंजाब हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री टेकचन्द की अध्यक्षता में एक 'अध्ययन दल' (Study Team) की नियुक्ति की गई जिसका काम नशा-निषेध की सरकारी नीति की सफलता की जाँच करना तथा नशा-निषेध के सम्बन्ध में अपने सुझाव देना था। इस दल ने यह सिफारिश की कि ३० जनवरी, सन् १९७० तक या अधिक-से-अधिक सन् १९७५ तक तो अवश्य ही सारे देश में नशा-बन्दी हो जानी चाहिए। नशा-निषेध सम्बन्धी जो कार्यक्रम विभिन्न राज्यों में चल रहा है उनमें स कुछ निम्न प्रकार हैं—

(१) आन्ध्र प्रदेश में नशा निषेध कार्यक्रम (Prohibition Programme in Andhra Pradesh) :—इस राज्य के अतलतलुर, चित्तौर, कुड्डप्पा, पूर्व



गोदावरी नुतुर कृता कुतल, नेलीर, नीलुपुल, चिन्नापुरम तथा पश्चिम गोदावरी जिलों में पूर्ण नशा-निषेध लागू कर दिया गया है जिसके अन्तर्गत राज्य के कुल क्षेत्र का ५८ प्रतिशत तथा कुल जनसंख्या का ६४ प्रतिशत आ गये हैं।

(२) गुजरात में नशा-निषेध कार्यक्रम (Prohibition Programme in Gujarat) :—सम्पूर्ण गुजरात राज्य में पूर्ण नशा-निषेध है। एक 'राज्य नशा-निषेध मण्डल' (State Prohibition Board) की स्थापना की गई है जोकि राज्य स्तर पर नशा-निषेध कार्यक्रम को लागू करता है। उसी प्रकार जिला स्तर पर काम को, सभासने के लिए 'जिला नशा-निषेध मण्डल' है। १ अप्रैल सन् १९६३ में राज्य में पचास राज की स्थापना हो जाने के बाद में नशा-निषेध सम्बन्धी प्रचार का काम गाँव-पंचायतों की शिक्षा-समिति को सम्पन्न करने कर दिया गया है।

(३) महाराष्ट्र में नशा-निषेध कार्यक्रम (Prohibition Programme in Maharashtra) :—१ अप्रैल सन् १९६१ से महाराष्ट्र में भी पूर्ण नशा-निषेध है। गुजरात की भाँति यहाँ भी राज्य तथा जिला स्तर पर नशा-निषेध मण्डल स्थापित किये गये हैं। अब इसी प्रकार के मण्डलों की स्थापना गाँव स्तर पर भी करने का प्रयत्न किया जा रहा है। 'संस्कार केन्द्रों' को नशा-निषेध सम्बन्धी प्रचार कार्य को करने के लिए अधिक सहायता दी जाती है।

(४) मसूर में नशा-निषेध :—इस राज्य के जिला गुलबर्गा व रायचूर तथा बंगलूर के कुछ जिले तालुकों को छोड़कर सम्पूर्ण राज्य में नशा-निषेध है। पूर्ण नशा-निषेध के अन्तर्गत राज्य के कुल क्षेत्र का ८१.१ प्रतिशत तथा कुल जनसंख्या का ७६ प्रतिशत आ जाते हैं। दवा आदि के रूप में प्रयोग होने को छोड़कर सम्पूर्ण राज्य में गाँजा और अफीम की बिक्री पूर्णतया बन्द कर दी गई है।

(५) केरल में नशा-निषेध :—कोचीकोड, पालघाट, कंतानूर तथा त्रिवेन्द्रम जिलों में, कुडलीन व त्रिचूर जिलों के पाँच तालुकों में तथा एरनाकुलम जिले के फोर्ट कोचीन क्षेत्र में पूर्ण नशा-निषेध लागू कर दिया गया है जिसके अन्तर्गत राज्य के कुल क्षेत्र का ५८ प्रतिशत तथा कुल जनसंख्या का ५६ प्रतिशत आ जाते हैं। राज्य की समस्त गाँजा तथा अफीम की दुकानों को १ अप्रैल सन् १९५६ से बन्द कर दिया गया है।

(६) मध्य-प्रदेश में नशा-निषेध :—सागर, डामोह, नरसीमपुर, झोसराबाद खण्डवा तथा विदिशा जिलों में तथा गिरीरापुर, रायपुर व दुर्ग जिलों में कुछ भागों में नशा-निषेध लागू कर दिया गया है। इससे राज्य के कुल क्षेत्र का केवल १६.४ प्रतिशत तथा कुल जनसंख्या की १६.८ प्रतिशत जनता प्रभावित हुई है। सम्पूर्ण राज्य में अफीम का प्रयोग बन्द कर दिया गया है।

(७) राजस्थान में नशा-निषेध :—सिराही जिले के आबू तालुक में केवल नशा-निषेध है परन्तु अन्य अत्यन्त नियमों तथा प्रचार के द्वारा नशाखोरी को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(८) मद्रास में नशा-निषेध कार्यक्रम (Prohibition Programme in



Madras) :—मद्रास राज्य में नशा निषेध कार्यक्रम १ अक्टूबर, सन् १९४६ को प्रारम्भ किया गया जबकि आठ जिलों में नशा-निषेध कानून लागू किया गया। सन् १९४७ में इस नियम को आठ अन्य जिलों में विस्तृत कर दिया गया और २ अक्टूबर, सन् १९४८ में शेष ती जिलों को भी नशा-निषेध कानून के अन्तर्गत ले आया गया। इस प्रकार मद्रास में इस समय पूर्ण नशा-निषेध है। इस राज्य में भी परमिट पर शराब आदि मिल सकती है।

(६) उत्तर-प्रदेश में नशा-निषेध कार्यक्रम (Prohibition Programme in U. P.)—पहले उत्तर-प्रदेश के ५१ जिलों में से फर्रुखाबाद, एटा, मैनपुरी, बदायूँ, प्रतापगढ़, मुल्तानपुर, जौनपुर, उन्नाव, कानपुर, फतेहपुर और रायबरेली इन ११ जिलों में तथा ३ तीर्थस्थानों हरिद्वार, ऋषिकेश और वृन्दावन में पूर्ण नशा-निषेध था। परन्तु १ दिसम्बर सन् १९६२ से केवल उपरोक्त तीन तीर्थ स्थानों में पूर्ण नशा-निषेध तथा सम्पूर्ण राज्य में आंशिक नशा-निषेध है। इस राज्य में नशा निषेध का कार्यक्रम सन् १९४७-४८ में प्रारम्भ किया गया था जबकि सात जिलों को नशा-निषिद्ध क्षेत्र घोषित किया गया था। सन् १९४९ में दो और सन् १९५० में दो और जिलों में भी नशा-निषेध लागू कर दिया गया था। कुछ आर्थिक तथा अन्य कठिनाइयों के कारण नशा-निषेध के उक्त कार्यक्रम को अधिक विस्तृत नहीं किया जा सका। १ जुलाई, सन् १९५६ से राज्य-भर में गाँजा की बिक्री तथा अफीम के उपभोग पर रोक लगा दी गई है। उत्तर-प्रदेश सरकार का अन्तिम लक्ष्य पूर्ण नशा-निषेध करना है। इस कारण सिनेमाओं के बारों, रेलवे भोजनालयों तथा नाचघरों के शराब प्राप्त करने के लाइसेन्स राज्य-भर में रद्द कर दिये गये हैं। मादक-द्रव्यों को बेचने वाली दुकानों के खुलने के घण्टों में कमी कर दी गई है तथा कर बढ़ा दिये गये हैं। समूचे राज्य में प्रमुख राष्ट्रीय-दिवसों को तथा अन्य ४७ दिनों को सूखा दिन (dry days) घोषित कर दिया गया है। साथ ही नशे के विरुद्ध जनता में प्रचार पर भी विशेष बल दिया जा रहा है और इसके लिए कैम्पों, मेलों, सभाओं तथा प्रदर्शनों का संगठन करके उनमें नशाखोरी के दुष्परिणामों को बताने वाले चार्ट, चित्र और फिल्में दिखाई जाती हैं तथा लोगों से शराब न पीने की प्रतिज्ञायें करवाई जाती हैं। सिनेमा घरों में स्लाइडें दिखला कर भी नशे के विरुद्ध जनमत को जागृत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भजन और कीर्तन मंडलियों के द्वारा भी प्रचार कार्य किया जाता है। मनोरजन-केन्द्र भी खोले गये हैं। इसके अतिरिक्त जाति पंचायतों को भी प्रचार के साधन के रूप में काम में लाया जाता है और इस सम्बन्ध में नियमों के तोड़ने वालों को दण्ड देने के लिए कहा जाता है। लखनऊ के धोबियों और भंगियों की पंचायतों ने, कानपुर के पासी जल्लादों, और कोरियों ने तथा इलाहाबाद और लखीमपुर-खेरी के भंगियों ने इस दिशा में सहायनीय प्रयत्न किया है। कानपुर की कुछ प्रमुख श्रमिक-वस्तियों में नशाखोरी के विरुद्ध प्रचार करने के लिए विशेष प्रबन्ध किये गये हैं।

उक्त प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इस राज्य में नशाखोरी के विरुद्ध धीरे-धीरे जनमत जागृत हो रहा है और शराब तथा अन्य मादक-द्रव्यों की खपत में भी कमी



होती जा रही है। सन् १९४७-४८ में शराब, अफीम आदि की जितनी खपत राज्य में थी अब उससे कम खपत रह गई है। अतः स्पष्ट है कि उत्तर-प्रदेश सरकार को नशा-निषेध के कार्यक्रम में काफी सफलता मिली है, फिर भी, इस सफलता को केवल सरकारी आँकड़ों तथा रिपोर्टों के आधार पर अतिना उचित न होगा। सफलता आभासुरूप नहीं है। आभासुरूप न होने का कारण दोषपूर्ण सरकारी नीति और आधिकारी अभिराजियों में घूसखोरी का आधिक्य होता है।

उक्त प्रश्नोत्तरों का तात्पर्य यह कदापि न समझा जाय कि नशा-निषेध के विरुद्ध कोई आपत्ति है या यह कहा जा रहा है कि इस सम्बन्ध में कानूनों को रद्द कर दिया जाय। सरकारी नीति विफल हुई है, ऐसा भी नहीं है। परन्तु अधिकाधिक सफलता के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के प्रत्येक जिले में नशा-निषेध को विस्तृत किया जाय और जिन पर इन कानूनों को लागू करने और अपराधियों को पकड़ने का दायित्व सौंपा जाय, वे घूसखोरी से दूर रहें।

**नशा-निषेध जाँच कमेटी सन् १९५५**

(Prohibition Enquiry Committee, 1955)

नशा-निषेध के कार्यक्रम को और अधिक सफल और क्रियात्मक बनाने के लिए सुझाव या सिफारिशें प्रस्तुत करने के लिए दिसम्बर सन् १९५४ में योजना आयोग (Planning Commission) ने श्री श्रीमन्मन्मन् की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की।<sup>2</sup> इस कमेटी ने १० सितम्बर, सन् १९५५ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशों की गई थी—(१) नशा-निषेध को द्वितीय पंचवर्षीय योजना का अभिन्न अंग माना जाय। (२) १ अप्रैल, सन् १९५८ तक सारे देश में नशा-निषेध लागू कर दिया जाय। इस कार्य के लिए, और विभिन्न राज्य के नशा-निषेध कार्यक्रमों में समन्वय लाने के लिए, एक 'केन्द्रीय समिति' (Central Committee) की स्थापना की जाय। (३) १९५५-५६ की समाप्ति से पहले केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें यह घोषणा कर दें कि नशा-निषेध राष्ट्रीय नीति है और १ अप्रैल सन् १९५८ से पहले प्रत्येक राज्य सरकार नशा-निषेध को राष्ट्रीय कानून का रूप दे दे। (४) जिन राज्यों में नशा-निषेध प्रारम्भ नहीं हुआ है या जिन राज्यों के कुछ भागों में अभी तक नशा-निषेध नहीं है, उनमें १ अप्रैल, सन् १९५६ से होटल, बार, रेस्टोरान, क्लब, सिनेमा, पाटियों, सामाजिक और धार्मिक उत्सवों में शराब का सेवन बिल्कुल बन्द कर दिया जाय। इस बीच में, उन होटलों में जहाँ विदेशी यात्री आते हैं, शराब पीने के लिए एक अलग कमरा निश्चित कर दिया जाय। (५) १ अप्रैल सन् १९५६ से नशीली चीजों से सम्बन्धित विज्ञापन तथा आकर्षण बन्द कर दिये जायें। (६) १ अप्रैल सन् १९५६ से पूर्ण नशा-निषेध लागू होने की तारीख (१ अप्रैल १९५८) तक इस दिशा में निम्न कदम उठाये जायें—गाँवों और शहरों में शराब की दुकानों की संख्या निरन्तर कम

2. See Report of the Prohibition Enquiry Committee, Planning Commission, Govt. of India, 1955.



कर दी जाय; इन दुकानों को धीरे-धीरे कम माल दिया जाय और इन्हें सप्ताह में अधिक दिन बन्द रक्खा जाय, औद्योगिक केन्द्रों तथा सामूहिक योजनाओं के आस-पास शराब की दुकानें न रहने दी जायें; गाँव और शहरों की दुकानें निवास-स्थानों (Residential areas) से दूर हों तथा शहरों में ये दुकानें भरे-वाजारों में भी स्थित न हों, ताकि हर-कोई शराब पीने वालों को न देख सके। (७) सरकारी नौकरी के नियमों में यह शर्त बढ़ा दी जाय कि कोई सरकारी नौकर शराब नहीं पी सकेगा। (८) अफीम, गाँजा, चरस, भाँग आदि के लिए यह व्यवस्था की जाय कि धीरे-धीरे दुकानों की संख्या को घटाया जाय और इन दुकानों को क्रमशः बेचने को कम माल दिया जाय। (९) पूर्ण नशा-निषेध योजना के अन्तर्गत स्वास्थ्य के आधार पर भी कोई परमिट न दिया जाय। (१०) नशा-निषेध कार्यक्रम को लागू करने के लिए जनमत को जागृत करने का प्रयत्न करने के लिए शिक्षणात्मक तथा कानूनी दोनों साधनों का प्रयोग किया जाय। प्रत्येक राज्य, जिले तथा गाँव और शहर में सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों के नशा-निषेध बोर्ड आदि स्थापित किए जायें, आकर्षक तथा सुलभ जलपान-गृह और मनोरंजन केन्द्र खोले जायें तथा नशा-निषेध सम्बन्धी कानूनों का पालन करवाने और गैर-कानूनी तौर पर शराब बनाने को रोकने के लिए विशेष पुलिस स्टाफ और बढ़ा दिया जाय।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त कमेटी के एक सदस्य श्री कोदण्डराव ने कमेटी की कुछ सिफारिशों से सहमत न होते हुए अपने कुछ सुझाव उपस्थित किये थे। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है—(क) जो लोग नशा करने के अत्यधिक आदी हैं, उनके लिए पूर्ण नशा-निषेध के स्थान पर राशन-निग की योजना अधिक उचित होगी। इसके अन्तर्गत लोग बिना स्वास्थ्य को हानि पहुँचाये, वैज्ञानिक तौर पर तैयार की गई कम कीमत पर, नियन्त्रित मात्रा में स्वच्छ शराब प्राप्त कर सकेंगे। ऐसा न करना अत्यन्त महँगी और अधिक हानिकर अवैध शराब को प्रोत्साहन देना होगा। (ख) राशन-पद्धति से देश में बेकारी भी नहीं बढ़ेगी, क्योंकि आबकारी ठेकेदारों को सरकार राशन-निग की योजना में काम पर लगा सकती है। (ग) नशा-निषेध के सम्बन्ध में जो भी नीति अपनायी जाय वह समस्त भारत में, कम से कम प्रशासन सम्बन्धी बातों में एक-सी होनी चाहिए। (घ) नशीली चीजों पर निषेध एक के बाद दूसरा लागू करना चाहिए। सबसे पहले डिस्टिल्ड शराब और सबसे अन्त में खमीर उठाकर बनाई गई शराब को लेना चाहिए। (ङ) राशन-निग की योजना में मुनाफ़ा/होरी की प्रवृत्ति सरकार को त्यागनी चाहिए। (च) अभी तक स्वास्थ्य के आधार पर दिए गए परमिटों को आजीवन परमिटों में बदल देना चाहिए। (छ) जनजातीय लोगों के द्वारा परम्परागत तरीके से घर में बनाई गई शराब के पीने पर कोई निषेध न होना चाहिए। साथ ही जनजातीय क्षेत्रों में डिस्टिल्ड शराब का प्रवेश किसी के भी द्वारा या किसी भी परिस्थिति में न होना चाहिए। (ज) नशा-निषेध लागू करने पर जिन राज्यों को अधिक आर्थिक हानि होगी, और जो इन आर्थिक कठिनाइयों के कारण नशा-निषेध को लागू नहीं कर पा रहे हैं, उन्हें केन्द्रीय



सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

अन्त में श्री कोदंडराव ने कहा है कि "यदि संसार के प्रगतिशील राष्ट्रों में कम माद्य में शराब पीना स्वाभाविक और अहानिकर माना जाता है और उनकी नैतिक भावना को उसमें कोई रोल नहीं पहुँचती, यदि वह ऐसे उपभोग के साथ सब दिशाओं में उन्नति कर सकने है, यदि विदेशी और भारतवासी विदेशों में शराब पी सकते हैं और भारत में विदेशी भी ऐसा कर सकते हैं, केवल भारत में भारतवासी ही ऐसा नहीं कर सकते; यदि कुछ अति सम्मानित सरकारी और गैर-सरकारी भारतवासी बिना किसी नैतिक बाधा के शराब पी सकते हैं, यदि कुछ धर्मों में शराब पीने का कार्य में शराब का उपयोग किया जा सकता है—तो कम-से-कम नशा निषेध की नैतिक उच्चता का दावा तो निश्चय ही कुछ दुर्बल पड़ जाता है।".....मद्यपान को नैतिक-रतन दुःकर्म या पाप कहना अनुचित है। मविधान ने नशा-निषेध की एक स्वास्थ्य समस्या के रूप में ही कल्पना की है।

श्री कोदंडराव की उपरोक्त युक्तियाँ (arguments) में पर्याप्त बल होते हुए भी उन्हें बिल्कुल उचित नहीं कहा जा सकता। अन्य राष्ट्रों के साथ तुलना करते हुए जो युक्ति श्री कोदंडराव ने प्रस्तुत की है वह दुर्बल प्रतीत होती है। विदेशों में शराब का उपभोग होता है; यह सच है और यह भी सच है कि उन देशों में शराब का प्रयोग होते हुए भी वे उन्नति के मार्ग पर बढ़ते जा रहे हैं। पर यह भूलना उचित नहीं है कि उनमें से अनेक प्रगतिशील देशों में विशेष भौगोलिक परिस्थितियों के कारण थोड़ा-बहुत शराब का उपभोग आवश्यक है। इसके अतिरिक्त आर्थिक दशाओं के अन्तर को भी ध्यान में रखना होगा। अगर अमेरिका में शराब का प्रचलन है, तो वहाँ के और भारत के लोगों की आर्थिक दशाओं में महान् अन्तर है। यहाँ महीने में साठ ८० कमाने वाला मजदूर तीन-चौथाई रुपया नशे में फूँक देता है, शेष एक-चौथाई में नशे के साथ जो भोजन चाहिए उसको वह प्राप्त नहीं कर पाता है। इस कारण अपने स्वास्थ्य और शरीर को जलाता रहता है, उसी एक-चौथाई में न वह अपने आश्रितों को पेट भर खाना खिला पाता है और न उनके लिए कपड़ा खरीद पाता है न अपने बच्चों को स्कूल भेज पाता है और न ही जिस भीपड़ी में वह रहता है उसका किराया तक अदा कर पाता है। यह एक-दो या दो-चार हजार व्यक्तियों की कहानी नहीं, नशा करने वाले ६० प्रतिशत भारतवासियों की कहानी है। प्रगतिशील देशों में नशा करने वाले ६० प्रतिशत व्यक्तियों की कहानी भारत जैसी करण नहीं है भारत भी जब उन प्रगतिशील देशों की भाँति प्रगति के समान स्तर पर होगा, तब शायद श्री कोदंडराव के द्वारा प्रस्तुत तुलना से सहमत होना सरल होगा। श्री बेकन (Bacon) ने लिखा है, 'संसार की सारी सेनायें इतने मानवों और सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचा सकती जितनी कि शराब पीने की आदत।' श्री बेकन भी उन प्रगतिशील राष्ट्रों में से एक राष्ट्र के नागरिक हैं। इसके अतिरिक्त अमेरिका, फिनलैंड, आइसलैंड आदि देशों में कभी न कभी नशा-बन्दी रही है और प्रत्येक देश में नशा-बन्दी के दौरान में आर्थिक और सामाजिक उन्नति को प्रोत्साहन मिला है। संक्षेप में, प्रत्येक



दृष्टिकोण से नशाखोरी की समस्या को समझकर, देश की आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सम्बन्धित परिस्थितियों तथा परिणामों के आधार पर हमें नशा-निषेध के कार्यक्रम को वांछित आदर्श की ओर ले जाना है।

### टेकचन्द मद्य-निषेध अध्ययन दल

(Tek Chand Study Team on Prohibition)

योजना आयोग ने २९ अप्रैल, सन् १९६३ को पंजाब हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री टेकचन्द की अध्यक्षता में श्री एल० एम० श्रीकान्त तथा डा० ए० एम० खुसरो की एक अध्ययन दल की नियुक्ति की थी जिसका काम अवैध रूप में शराब बनने की सीमा का पता करना, वर्तमान नशा-निषेध सम्बन्धी कानूनों की परीक्षा करना, नशा-निषेध के आर्थिक पक्षों का अध्ययन करना, नशा-निषेध की सरकारी नीति की सफलता की जांच करना तथा ऐसे सुझाव देना था जिससे कि यह कार्यक्रम अधिक सक्रिय व सफल हो सके। इस दल की रिपोर्ट ६ मई, सन् १९६४ में प्रकाशित हुई थी।

दल ने इस बात की निफारिश की है कि ३० जनवरी सन् १९७० तक या अधिक से अधिक सन् १९७५ तक तो अवश्य ही समस्त देश में शराब बन्दी हो जानी चाहिए। इसके लिए दल ने चार चरणों का एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है—पहले चरण में जिन राज्यों में मद्य-निषेध नहीं है वहाँ सबसे कम असर वाली शराब की खपत की अनुमति दी जाय। दूसरे चरण में देशी शराब की शक्ति घटा दी जाय तथा उसमें १० प्रतिशत मद्य-सार रक्खा जाय। विलायती शराब में मद्य-सार (alcohol) १४.२९ प्रतिशत से अधिक न रहने दिया जाय। इसी प्रकार उत्तरोत्तर चरणों में शराब की खपत को धीरे-धीरे कम किया जाय और सन् १९७५ तक सम्पूर्ण देश में शराब-बन्दी कर दी जाय।

उपरोक्त दल के अनुसार इस देश में साल में १४६ करोड़ रु० की शराब पी जाती है, जिसमें से अवैध रूप में बनने व पी जाने वाली शराब ५८ करोड़ रु० की है। जिन राज्यों में नशा-निषेध है, वहाँ कुल प्रति वर्ष ४०.१ करोड़ रु० का नुकसान राज्य सरकारों को हो रहा है तथा आवकारी विभाग तथा पुलिस आदि प्रशासनीय कार्यों पर ५.४ करोड़ रु० वार्षिक व्यय हो रहा है। पर इसके साथ ही लोगों की शराब पीने की आदत कम हो जाने से ३१ करोड़ रु० वार्षिक बचत भी हो रही है। इस तरह नशा-निषेध से होने वाला घाटा पूरा हो सकता है। अगर सन् १९७५-७६ तक पूर्ण शराब-बन्दी कर दी जाय तो विभिन्न राज्यों को ८० करोड़ रु० का घाटा होगा जो कि सेल्स-टैक्स, लगजरी-टैक्स आदि से पूरा हो जायेगा।

दल ने अपनी रिपोर्ट में जो सुझाव दिया है उनमें प्रमुख सुझाव ये हैं—(क) शराबीपन की जाँच के लिए नवीन उपकरणों का उपयोग, (ख) उच्च स्तर के लोगों में शराब को प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता है, इस मनोवृत्ति को दूर करना, (ग) स्प्रिट आदि पीने के दुरुपयोग पर रोक लगाना तथा (घ) ताड़ी का नियन्त्रित प्रचार करना।



टेकचन्द दल की रिपोर्ट पर राज्य-सरकारों से उनकी राय माँगी गई थी, परन्तु मार्च सन् १९६५ के एक समाचार के अनुसार अधिकतर राज्य सरकारों ने यह मत प्रगट किया है कि इस मामले में हमें जल्दबाजी नहीं करने चाहिए और नशा-निषेध के प्रत्येक पक्ष पर अधिक सावधानी से गौर करने की आवश्यकता है। इस प्रकार अधिकतर राज्यों ने सन् १९७५ तक सम्पूर्ण नशा-निषेध की नीति को स्वीकार नहीं किया है।

### पंचवर्षीय योजनाओं में नशा निषेध (Prohibition in Five Year Plans)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह निश्चय किया गया था कि नशा-निषेध के बारे में विभिन्न राज्य एक ही नीति का पालन करें और जितनी प्रगति हो, उसकी बराबर समीक्षा की जानी रहे। लेकिन योजना में यह भी उल्लेख है कि यह आवश्यक नहीं है कि भारत संघ के सब राज्य एक जैसे उपाय करें या किसी विशेष समय में सब एक ही साथ नशा-निषेध को लागू करें। राज्य सरकारों से कहा गया है कि प्रारम्भ में निम्नलिखित आधारों पर कार्यवाही की जा सकती है—(१) मादक पद्यों के सम्बन्ध में विज्ञापनों और सार्वजनिक आकर्षण के साधनों को समाप्त कर दिया जाये, (२) मर्दान्जलि मन्दिरों, होटलों, जलदान-गृहों, बलबों आदि में शराब पीना बन्द कर दिया जाय, (३) प्रत्येक राज्य में नशा-निषेध के हेतु क्रमिक कार्यक्रम बनाने के लिए समितियाँ नियुक्त की जायें, (४) समुचित अवधि में नशे का पूर्ण निषेध करने के अभिप्राय से कार्यक्रम बनाये जायें और (५) ऐसी कोशिश की जाये कि जिन क्षेत्रों में नशा-निषेध किया गया है, वहाँ फिर से यह बुराई फैलने न पाये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उपरोक्त आधारों पर पर्याप्त कार्य हुआ है और तृतीय योजना के अन्तर्गत इस कार्यक्रम को और भी विस्तृत किया जायेगा और नशा-निषेध के आदर्श की प्राप्ति करने के प्रयास भी किये जायेंगे।

इसके लिए योजना आयोग के द्वारा निम्नलिखित सुझाव दिये गए हैं—

(क) मद्य-निषेध कार्यक्रम को सार्वजनिक नीति के रूप में स्वीकार किया जाये और इस नीति को वास्तविकता का रूप देने के लिए ठोस प्रशासनिक कदम उठाये जायें, (ख) जनता के बड़े भाग का समर्थन तथा बड़ी संख्या में सामाजिक कार्यकर्ताओं और स्वयं सेवी संगठनों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाय, (ग) मध्य-निषेध की समस्याओं के व्यावहारिक हल निकाले जायें, (घ) मद्य-निषेध कार्यक्रम के फलस्वरूप राज्य-सरकारों को होने वाले राजस्व के घाटे की पूर्ति की व्यवस्था की जाय। योजना में यह कहा गया है कि राज्यों से यह आशा नहीं की जाती कि वे पूर्ण नशा-निषेध करने के लिए कोई निश्चित तिथि का निर्धारण करें क्योंकि व्यवहार में इन लक्ष्यों पर अमल करना या चलना कठिन होता है। परन्तु अगर देशव्यापी कदम उठाये जायें तो सब राज्यों के लिए अपनी योजनाओं को पूरा करना तथा गैर-कानूनी व्यापार या तस्करी को रोकना सरल होगा। जिन राज्यों में कुछ जिलों में नशा-निषेध लागू किया गया है, उन राज्यों को चाहिए कि वे अपने



राज्य के अन्य क्षेत्रों में भी धीरे-धीरे नशा-निषेध कर दें। अगर मद्य-निषेध को लागू करने का काम मुख्यतः पुलिस और आवकारी कर्मचारियों पर ही छोड़ दिया जायेगा तो स्पष्ट है कि अधिक प्रगति नहीं हो पायेगी। इसीलिए यह आवश्यक है कि (अ) मद्य-निषेध की सार्वजनिक हिन का एक समाज-कल्याण कार्यक्रम मानते हुए इसके पक्ष में जनमत को अधिकाधिक तैयार किया जाए, (ब) स्वयं सेवी संगठनों को आवश्यक सहायता और अनुदान दिया जाए, (स) शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज-कल्याण आदि के क्षेत्रों में सरकारी विभागों द्वारा किए जाने वाले विकास कार्यों की पूर्ति में मद्य निषेध पर जोर दिया जाए, और (द) कैन्टीनों में मस्ते और पोपक लाइनों और गैर-नशीले पेय पदार्थों की उपलब्धि तथा सामुदायिक आधार पर खेलों और मनोरंजन कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जाय ताकि नशाखोरी की ओर से श्रमिकों का ध्यान हट जाये। इन दशाओं में अधिक प्रगति करने के लिए जनता में शिक्षा सम्बन्धी और अन्य उन्नयन कार्य करने वाली स्वयं सेवी संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना और मद्य-निषेध की गति में सहायक अन्य कार्यक्रमों को बढ़ावा देना लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

### निष्कर्ष

#### (Conclusion)

प्राप्त रिपोर्टों के अध्ययन करने तथा अन्त सूत्रों को छानबीन करने के पश्चात् ऐसा अनुभव होता है कि देश में अनुकूल वातावरण या परिस्थितियों का निर्माण किये बिना केवल कानून से नशाबन्दी लागू करना लगभग असम्भव है। जब तक समूचे देश में नशाबन्दी लागू नहीं हो जाती तब तक कुछ क्षेत्रों में नशाबन्दी लागू करने से पूर्ण सफलता की आशा नहीं की जा सकती। नशा-निषेध और बिना नशा-निषेध वाले क्षेत्र ऐसे मिले-जुले हैं कि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को आना जाना सम्भव ही नहीं, अत्यन्त सरल है। इससे नशीली वस्तुओं का अवैध व्यापार बढ़ता है और जनता के लिए प्रलोभन भी घटता नहीं है। नशा-निषेध की सफलता के लिए निःसंदेह यह आवश्यक है कि जो भी कानून हों उन्हें सारे देश में एक साथ लागू कर दिया जाये। श्रमिकों में नशाखोरी कम करने के लिए डा० शिव राव (Shiva Rao) का सुझाव यह है कि श्रमिकों के काम करने की तथा रहने की दशाओं में उन्नति करनी चाहिए।<sup>3</sup> किसी भी अवस्था में नशा-निषेध को सफल बनाने का उत्तरदायित्व केवल सरकार पर ही नहीं लादा जा सकता है क्योंकि सरकार को जब तक इस सम्बन्ध में जनता का सहयोग प्राप्त नहीं होगा तब तक नशा-निषेध ही क्यों, किसी भी योजना की सफलता की आशा नहीं की जा सकती है। जनता के प्रत्येक अंग को इस दिशा में अत्यधिक जागरूक होने की आवश्यकता है। हम सबको यह स्मरण रखना है कि योजना की सिद्धि से ही जनता की समृद्धि सम्भव होगी।



**तृतीय खण्ड**  
**पारिवारिक विघटन**  
**(Family Disorganization)**



## इस खण्ड के अध्याय

१४—आधुनिक परिवार में परिवर्तन

१५—पारिवारिक तनाव

१६—पारिवारिक विघटन



## आधुनिक परिवार में परिवर्तन (Changes in Modern Family)

देखते ही देखते सब बदल गया। मुश्किल में बीमारीयों साल में ही सब उलट गया। सोचने पर भी आश्चर्य होता है आज अनुराधा को। अब उम्र पचास वर्ष की हो गयी है, पर जब इस घर में बड़ी बहू बनकर आयी थी तो केवल पन्द्रह वर्ष की थी। आदमियों से भरा हुआ था यह परिवार उस समय—सास, समुर, समुर के दो भाई और उनके बीबी बच्चे, देवर, ननद और उनकी बूढ़ी नानी। पन्द्रह लोगों का खूब बड़ा-सा, भरा-सा परिवार था। संयुक्त परिवार था। समुर परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य थे। इसीलिए परिवार के संचालक और सम्पत्ति के व्यवस्थानक भी वही थे, वही परिवार के जज और जूरी दोनों ही थे और पारिवारिक झगड़ों का निपटारा करते थे। समुर के बाद सास का स्थान था। परिवार के आन्तरिक मामलों में सास ही राज्य करती थी। परिवार की अन्य स्त्रियों को अगर कोई बात या शिकायत कर्ता तक पहुँचानी होती थी तो यह काम सास ही करती थी। देवर जी को तो अनुराधा के पास ही आना पड़ता था, अपनी भाभी के सम्मुख अपनी समस्याओं को रखना पड़ता था। अनुराधा पहले देवरों को खूब झिंकाती थी, फिर बहुत खुशामद करने पर उनकी समस्या या कठिनाई को सास से कहती थी और उनसे देवरों के बारे में सफारिश भी करती थी। तब कहीं सास उस मामले को समुर तक पहुँचाती थी। देवर की पेशी होती थी, मामला सुना जाता था, सास और भाभी की सफारिशें उन गौर किया जाता था, फिर कहीं राय दी जाती थी। अधिकतर कपड़े घर पर ही मिलते थे, कपड़ों को घर पर ही धोया जाता था, घर ही में गाय भैंस थीं, उन्हीं के दूध से दूध-घी की व्यवस्था होती थी। अन्न, मसाला आदि को औरतें घर पर ही कूटती-पीसती थीं। खाना भी वे ही पकाती थीं। बड़े लड़के के साथ-साथ बड़ी बहू की भी काफी इज्जत थी परिवार में। पर माता-पिता का स्थान सर्वोच्च होता था। बड़े लड़के की शादी के बाद भी उसे माता-पिता और घर के दूसरे बड़े-बूढ़ों का रूपाल रखना पड़ता था। यह नहीं था कि जब चाहे अपनी पत्नी अनुराधा से बातें कर लीं या और कोई 'शैतानी' कर ली। रात को जब सास-समुर तथा अन्य बड़े-बूढ़े सोने चले जाते थे, तब ही अनुराधा अपने पति के कमरे में जाती थी, उसमें बात-चीत करती थी। पर सुबह सास-समुर के नींद से उठने के पूर्व ही अनुराधा को अपने कमरे से निकल जाना पड़ता था। कभी-कभी 'बहू' शैतानी करके हाथ या आँचल पकड़ लेते थे और अनुराधा विस्तर नहीं छोड़ पाती थी। बहुत गुस्सा आता था उस समय अनुराधा को। कभी-कभी तो झगड़कर ही कमरे से



बाहर निकल आना पड़ता था। अनुराधा को धर्म लगती थी, क्या सोचेगे मास-समुर' यह चिन्ता ही खाये जाती थी। मास-समुर उसके बहुत अच्छे थे पर दोनों ही ननदें बहुत तीखे मिजाज की थीं। भोजाई के प्रति ननदों का कटु वचन आज भी अनुराधा को याद आता है तो रोना आता है। कभी-कभी तो अनुराधा की कुटी चुगली करती थीं ननदें मास-समुर तथा पति से। बहुत दुरा लगता था अनुराधा को; पर उतनी ही खुशी होती थी जब देवरीं ने बात-चीत करती थी अनुराधा। अनेक लोगों के बीच अनुराधा भाभी ही एक ऐसी सम्बन्धी थी जिससे कि देवर सब कुछ निःसंकोच कह सकने थे। अनुराधा ही अपने देवरों की माता, बहन, परामर्श-दात्री तथा बान्धवी थी। जो बात किसी से नहीं कही जा सकती उस देवर निःसंकोच भाभी से कह सुनाते थे। अनुराधा देवरों की बातों को दिल लगाकर सुनती थी, पर दिल्लगी भी नहीं करती थी, ऐसी बात नहीं थी। दोनों में मजाक का रिश्ता था। कभी-कभी तो देवर जी अपने को 'दूसरा वर' घोषित करके अनुराधा से वर के सब अधिकारों की माँग कर बैठते थे, दौड़कर आकर एकाएक लिपट जाते थे अनुराधा से। फिर तो दो चार स्नेह भरे चपत रसीद करके ही उनसे पिण्ड छूटता था अनुराधा का। कितना स्नेह, प्रीति, प्रेम, व सहयोग के आधार पर बँधा हुआ था वह परिवार — सम्मिलित आय-व्यय थी, सम्मिलित वास तथा भोजन था और सामान्य था सामाजिक व धार्मिक कर्तव्य। पर देखते ही देखते सब कुछ बदल गया है। सब अपना-अपना सोचने लगे हैं अब। इसीलिए परिवार छिटक गया, छोटा हो गया। पन्द्रह लोगों का परिवार अब पाँच का रह गया है। मास-समुर और उनके भाई-भोजाई परलोक सिधारे और उनके जाते ही सब भाइयों में रोज कलह होने लगी। एक-एक भाई अपने बाल बच्चों के साथ अलग घर बसाने लगा। दूम्रों का क्या कहें अनुराधा के अपने दो लड़के भी तो माँ-बाप को छोड़कर अलग हो गये हैं। कोई रोक-टोक, कोई पर्दा नहीं मानते थे वे लड़के और उनकी बहनें। न माँ का ख्याल था और न पिता का लिहाज। निःसंकोच हैंसी-मजाक करते थे, सिनेमा, क्लब जाते थे और अपनी कमाई अपनी बीबी-बच्चों पर ही खर्च करना अधिक पसन्द करते थे। नाते-रिश्तेदारों को सहन नहीं कर पाते थे, उन्हें बोझ समझते थे। मझने लड़के ने तो शादी करते समय भी नहीं पूँछा अपने माँ-बाप से। अपने कालिज की ही एक भिन्न जाति की लड़की से कोर्ट में विवाह किया। अनुराधा सोचती है कि अब लड़के-बहनों की शादी इतनी देर से होने का ही यह परिणाम है। पर अनुराधा को उस दिन और भी आश्चर्य हुआ था जिस दिन उसने विधवा ननद की शादी की बात सुनी थी। अब विधवा विवाह भी होता है। पर आज घर पर कुछ नहीं होता है। यह आवश्यक नहीं कि घर पर ही शादी हो, खाना घर में पके, कपड़ों की सिलाई घर में हो और कपड़ों को घर पर ही धोया जाय। घर के सिले कपड़े या घर पर धुले कपड़े अब बच्चों को पसन्द नहीं आते हैं। इन कामों के लिए अब तो वे दर्जों की दुकानों और लाण्ड्रियों को दौड़ते हैं। परिवार का बच्चा भी आज अधिकार माँगता है, पर नाते रिश्तेदारों से दूर रहना चाहता है। अनुराधा



यह अनुभव करती है कि परिवार में 'हम' का अर्थ नहीं रहा। उसके स्थान पर 'मे' का राज्य है। समितिकु परिवार का काम काज घट गया। प, आकार छोटा हो गया है, सहयोग की भावना कम हो गई। भोजन उठ गया है। जोन का पूजने का दिन भी अब चला गया है। अर्थ भी कुछ सुतरां सुदृढ़ हो गया है। जो जमाना है, कुछ माना-गिना की बात आज नाउ नशा मुलगा है और नशा उनके मन में सीजना है। सब बदल गया है आज—बढ़त गया है। विज्ञान-तुल्य या सम्यक्-संविधानों का सम्बन्ध मन-मनजाइ का सम्बन्ध, मर्यादों का बदलना, प, ज, व्यवसायों का सधुर सम्बन्ध भी।

ये सब आधुनिक परिवार की परिचयन है।

अतुराधा साबित हो और साधने-साधने को जाना है जमाने के परिवर्तन की रति में। जमाना बदल रहा है और तेजी से बदल रहा है। उसी के साथ बदल रहा है अतुराधा जैसी कमसय 'मा' का घर, बहनों की गृहस्थी और भावियों का परिवार उसी पारिवारिक परिवर्तन का परिचय है यह अध्याय।

## परिवार में आधुनिक परिवर्तन के कारण

(Causes of Modern Changes in Family)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है और चूंकि समाज और उसके विभिन्न भाग भी प्रकृति के ही एक अंग हैं, इस कारण इनमें भी परिवर्तन हो जाता स्वाभाविक है। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ परिवार के स्वरूपों में भी परिवर्तन हो सकता है और हुआ भी है। इसीलिए डा० मजुमदार (Majumdar) ने उचित ही लिखा है कि "परिवार आज भी है जैसा कि पहले था, परन्तु ऐसा नहीं था जैसा आज है।"

आधुनिक परिवार में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। इसका कारण यह है कि आज कुछ ऐसी शक्तियाँ क्रियाशील हैं जिनके कारण ये परिवर्तन स्वाभाविक ही हैं। परिवार में आधुनिक परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) औद्योगीकरण (Industrialization) — पारिवारिक युग में औद्योगीकरण ने परिवार को परिवर्तित करने में जितना योगदान दिया है उतना किसी और कारक ने नहीं। औद्योगीकरण ने पहले परिवार एक उत्पादक इकाई के रूप में ही कार्य करता रहा है। मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की वस्तु परिवार में ही उत्पन्न की जाती थी या बनाई जाती थीं। जैसे खाना, कपड़ा, मूल, साधन, फर्नीचर आदि सभी जरूरत की चीजें घर पर ही बनाई जाती थीं। पर औद्योगीकरण के बाद परिस्थितियाँ बिल्कुल ही बदल गई हैं। सभी कार्य आज बाहर की समस्याओं के द्वारा होते हैं। परिवार आज अपने उत्तरदायित्व को बाहरी समस्याओं को हस्तांतरित करता जा रहा है। सभी कार्य बाहर की समितियाँ ही करनी हैं। यहाँ तक कि परिवार का जो मुख्य काम बच्चों को पालना या उन्हें शिक्षित करना था वह भी आज आया या नौकरानियों को दे दिया गया है।

(२) श्रमों की आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Independence of



women):—प्राचीन काल में केवल पुरुष ही घर के बाहर काम करने का अधिकारी था। स्त्रियाँ घर में रहकर गृहस्थी देखती थीं और बच्चों का लालन-पालन करती थीं। पर आज औद्योगिकीकरण के कारण स्त्री-पुरुष दोनों ही बाहर काम करने जाते हैं। औद्योगिकीकरण ने केवल पुरुषों को ही नहीं बल्कि स्त्रियों को भी वे सभी सुविधायें प्रदान की हैं कि वे घर से बाहर काम करने जा सकती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में आज स्त्रियाँ काम करनी दिखाई पड़ती हैं। मिल, कारखाना, दफ्तर आदि सभी जगहों पर स्त्रियों को काम करने की सुविधा उपलब्ध है। इस नौकरी का प्रभाव औरतों पर यह पड़ा है कि औरतें आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो गई हैं। पति पर अब वे भार स्वरूप नहीं रहती। ज्यादातर अपनी आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा करती हैं। नौकरी करने से एक ओर स्त्रियाँ आर्थिक मामलों में स्वतन्त्र हो गई हैं पर दूसरी ओर उनकी घर के काम से दिन प्रति दिन लगाव कम होता जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि परिवार की हालत दिन पर दिन गिरती जाती है। घर की समस्त चीजें इधर उधर पड़ी रहती हैं। घर का इन्तजाम नौकरों के हाथ में होता है। जिसको कि नौकर सुचारु रूप से नहीं चला पाता।

(३) राज्य का महत्व व कार्य का विस्तार (Extension of State's function and importance):—राज्य भी एक संस्था है। आधुनिक युग में राज्य का महत्व दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रहा है। क्योंकि राज्य एक नहीं अनेक कार्यों को करता है। इसके अलावा आधुनिक युग में राज्य के कार्यों का विस्तार विस्तृत हो गया है, पहले जो कार्य परिवार करता था आज अनेक कार्य हैं जो कि राज्य करता है। उदाहरणार्थ जैसे बच्चों को शिक्षा देने का उत्तरदायित्व अब परिवार का नहीं रहा बल्कि राज्य का हो गया है। विवाह का नियमन आज परिवार के द्वारा ही होता है। इसीलिए परिवार का कार्य बहुत बढ़ गया है कार्य बढ़ने के साथ ही साथ राज्य का महत्व भी बढ़ गया है राज्य जनता की एक अपनी प्रमुख संस्था बन गई है।

(४) नागरीकरण (Urbanization):—आधुनिक युग की एक प्रमुख विशेषता यह है कि आज नगरों की दिन प्रति दिन वृद्धि होती जा रही है। नगरों की तरफ जनसंख्या अधिक आकर्षित होकर उसी तरफ बढ़ रही है। इस कारण नगरों की जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। इसका कारण यह है कि नगरों में आकर्षण बिन्दु एक नहीं अनेक हैं जैसे नगरों में नौकरी की अधिकता, मजदूरी पैसे के रूप में अधिक मिलना, मनोरंजन के साधनों का होना, शहरों की तड़क-भड़क का जीवन आदि। व्यक्ति अपने मन के अनुसार पेशों को चुन सकता है। यही सब कारण हैं जो कि जनसंख्या को अधिक घनी करते हैं। एक तरफ तो शहरों में जनसंख्या घनी होती जाती है और दूसरी तरफ मकान की गम्भीर समस्या दिन प्रति दिन और गम्भीर होती जाती है। इन सभी बातों का प्रभाव परिवार के आकार पर पड़ता है। संयुक्त परिवार का आकार दिन प्रति दिन छोटा होता जाता है। नगरों में तो बहुत ही कम संयुक्त परिवार देखने को मिलते हैं। नगरों के मकान भी बहुत छोटे-छोटे



होते हैं। इस प्रकार के मकानों में २.४ प्राणियों से अधिक व्यक्ति अच्छी तरह नहीं रह सकते।

(५) आधुनिक औषधियाँ (Modern medicines):—आधुनिक औषधियों का भी परिवार पर प्रभाव पड़ा है। पहले परिवार के सदस्यों को रोगों से बचाना बहुत ही कठिन होता था क्योंकि औषधियाँ ही नहीं थी कि उनको बचाया जाता। पर आज वर्तमान युग में इस प्रकार की औषधियों का आविष्कार किया गया है कि मौत के मुँह से भी हम अपने परिवार के प्यारे सदस्यों को बचा लेते हैं। बच्चों की मौत की दर भी पहले से बहुत कम हो गई है। पर ही जिसे भगवान लेना ही चाहता है उसे बचाने के लिए आज तक कोई औषधि का आविष्कार नहीं हो पाया है। आधुनिक युग में इस प्रकार की दवायें हैं कि आज बच्चे भगवान के दिये फल नहीं हैं बल्कि व्यक्ति अपने आप जितने फलों को चाहें ले सकता है। सन्तानोत्पत्ति को कम किया जा सकता है और जरूरत पड़ने पर बढ़ाया भी जा सकता है। आधुनिक औषधियों के कारनामे बहुत चमत्कारपूर्ण हैं। जिन कारनामों को देख कर व्यक्ति को खुद विश्वास नहीं होता कि उसने इतनी महत्वपूर्ण दवाइयों की खोज की है।

(६) विवाह के धार्मिक आधारों का दुर्बल होना (Weakening of religious basis of marriage):—प्राचीन समय में विवाह एक धार्मिक बन्धन था। जिसे कि भगवान अपनी मर्जी से जोड़ता था और वही जब चाहता था तो तोड़ सकता था। जनता में या किसी में भी हिम्मत नहीं थी कि वह उस धार्मिक बन्धन को तोड़ दे। पर आज विवाह को एक धार्मिक बन्धन न मानकर एक शिष्ट या सामाजिक समझौता (Contract) माना जाता है। विवाह का धार्मिक पक्ष कमजोर हो जाने के कारण परिवार की स्थिरता में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा है। विवाह को केवल एक समझौते के रूप में लिया है इसलिए दोनों पक्षों (पति-पत्नी) में से यदि किसी एक पक्ष को यह समझौता पसन्द न आया तो वह उसी समय उसे तोड़ सकता है। परिवार का ढाँचा वहीं छिन्न-बितर हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि परिवार के प्रति लोगों का उत्तरदायित्व भी घटता जा रहा है। कोई किसी के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता है क्योंकि परिवार का सम्बन्ध स्थिर नहीं है। क्या मालूम किस दिन यह समझौता समाप्त हो जाय।

(७) व्यक्तिवादी आदर्श (Individual ideals):—प्राचीन काल में व्यक्ति अपने लिए नहीं बल्कि समूचे परिवार के बारे में सोचता था, वही उसका आदर्श था। पर आधुनिक युग में व्यक्तिवादी आदर्श का बोलबाला है। परिवार का प्रत्येक सदस्य केवल अपने ही बारे में सोचता है। पिता को बेटे से कुछ सम्बन्ध नहीं, बेटा भी अपनी ही उन्नति की बात सोचता है उस उन्नति को या आदर्श को प्राप्त करने में चाहें उसे पिता या भाई को धोखा देना पड़े या झूठ बोलना पड़े। माँ के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता और न सोचा ही जा सकता है पर बाकी परिवार के सदस्य केवल अपनी उन्नति के बारे में सोचते हैं। पूरे परिवार के सदस्यों के बारे में वह भूल कर भी नहीं सोचता। इस प्रकार के व्यवहार से परिवार के सहयोगी



वातावरण में परिवर्तन आ गया है क्योंकि परिवार का प्रत्येक सदस्य केवल अपनी स्वयं पूर्ति में लगा हुआ है।

### आधुनिक युग में परिवार में परिवर्तन

(Changes in Family in Modern Age)

आधुनिक युग औद्योगिक युग है। इसके पहले परिवार कृषि युग में था। कृषि युग की संस्कृति, सम्पत्ता, आकार विचार आदर्श आदि आज जैसी नहीं थीं। पर आधुनिक युग में औद्योगीकरण के कारण इन सबमें काफी परिवर्तन हो गये हैं और इन परिवर्तनों का काफ़ी प्रभाव परिवार के स्वभाव पर पड़ा है क्योंकि परिवार सामाजिक जीवन की ही एक प्राथमिक और मौलिक इकाई है। आधुनिक युग में परिवारों में निम्नलिखित परिवर्तन हो गये हैं:—

(१) परिवार के कार्यों में परिवर्तन (Changes in family functions):—पहले परिवार स्वयं में पूर्ण था वह अपनी आवश्यकताओं के लिए किसी पर आश्रित नहीं था। जरूरत का सभी सामान खुद ही तैय्यार करता था। प्राथमिक व द्वितीयक सभी आवश्यकतायें परिवार के द्वारा ही पूर्ण होती थीं। अनाज, साग-भाजी सब घर पर ही उगाये जाते थे, अपने पहनने के लिए कपड़ा स्त्रियाँ स्वयं बुनती थीं और उन्हें सीतीं भी थी, अनाज का कूटना, पीसना तथा खाना पकाना सभी कार्य स्वयं स्त्रियाँ ही करती थीं। घर पर ही तेल, साबुन, कंधी आदि बनाती थीं, दूध व घी की व्यवस्था घर के स्त्री-पुरुष मिल कर करते थे। जीवन की बड़ी से लेकर छोटी आवश्यकता सभी घर या परिवार के सदस्य पूरा करते थे। पर आज परिवार के कार्य में बहुत ही अन्तर आ गया है विशेषकर आर्थिक कार्यों में। आर्थिक सभी कार्य आज बाहरी समितियाँ करती हैं। रोटी बनाने का कार्य आज होटल और कैन्टीनो ने ले लिया है, कपड़े सिलने का काम टेलरिंग हाउस तथा कपड़े धोने का काम लॉन्ड्रियों ने ले लिया है। बच्चों के पालन-पोषण के लिए नर्सरीज तथा शिक्षा के लिए स्कूल और कालेज बन गये हैं। रोगी की सेवा के लिए अस्पताल खुल गये हैं। संक्षेप में परिवार पहले जिन कार्यों को करता था आज वे सभी कार्य परिवार खुद न करके दूसरी संस्थाओं या समितियों से करवाता है। संक्षेप में हम यह भी कह सकते हैं कि परिवार के परम्परागत सभी मुख्य कार्य अब बाहर की समिति व संस्थाओं के हाथ में चले गये हैं।

(२) परिवार के आकार में परिवर्तन (Changes in the size of the family):—पहले परिवार में जितने भी बच्चे पैदा होते थे सबको भगवान की देन, प्रसाद या फल कह कर लेते चले जाते थे। यहाँ तक कि बच्चों के तन को ढँकने के लिए कपड़ा व पेट भरने के लिए सूखी रोटी भी नहीं जुटा पाते थे। पर हर साल एक बच्चा भगवान के प्रसाद के रूप में ग्रहण करते थे। यह गलत धारणा प्राचीन काल के लोगों में थी क्योंकि उनका कहना था कि उसमें उनका कुछ भी हाथ नहीं है जो भगवान की मर्जी होती है वहीं होता है। पर यह गलत धारणा आज मिटती जा रही है। वैज्ञानिक शिक्षा, बर्थ कंट्रोल की विधियों का प्रयोग, देर से विवाह



आदि अनेक ऐसे कारण हैं जो कि बच्चों की जन्म दर को कम करने में सहायक होते हैं। बच्चों का जन्म कम होने के कारण ही परिवार का आकार भी कम होना जा रहा है। आज अधिकतर लोग आदर्श परिवार को ही पसन्द करते हैं। आदर्श परिवार का अर्थ है पति-पत्नी और उनके दो बच्चे। बच्चों की जन्म दर कम होने का एक कारण व्यक्तिवादी आदर्श भी है। प्रोफेसर होडार्ड (Hodard) ने उचित ही लिखा है कि आज के माता-पिता एक बेबी की अपेक्षा एक "बेबी आस्टीन" को लेना अधिक पसन्द करते हैं। क्योंकि बच्चा या बेबी दोनों पति और पत्नी पर अनेक प्रकार के उत्प्रेरकों को डालता है जब कि बेबी-आस्टीन मोटर कार उनके आराम को बढ़ा देती है। व्यक्ति उत्तरदायित्व में दूर भागता है और आराम को हासिल करना चाहता है। इसी सब कारणों से आज परिवार का आकार दिन प्रतिदिन छोटा हो रहा है।

(३) परिवार के सहयोगी आधार में परिवर्तन (Change in the Cooperative basis of the family) :—परिवार के सहयोगी आधार में आज परिवर्तन हो रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि परिवार में व्यक्तिवादी भावना दिन-प्रति दिन बढ़ती जा रही है। प्राचीन समय के परिवार में व्यक्ति अपने स्वार्थ को परिवार के स्वार्थ के सामने त्याग देता था या प्रत्येक सदस्य अपने बारे में नहीं बल्कि अन्य सदस्यों के बारे में सोचता था। पर आज परिवार की स्थिति पहले जैसी नहीं है। आज व्यक्ति केवल अपने बारे में सोचता है दूसरों के बारे में नहीं। अपना स्वार्थ ही सब कुछ है, उसे पूरा करने के लिए वह बड़े से बड़े परिवार के स्वार्थ को मिटा सकता है। उसे हमेशा के लिए कुचल सकता है। आखिर इसका कारण क्या है? कारण और कुछ नहीं है केवल व्यक्तिवादी भावना की प्रधानता है। आज समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसके गुणों पर आधारित है। इसीलिए आज परिवार का प्रत्येक सदस्य सम्पूर्ण परिवार के बारे में नहीं बल्कि अपने बारे में सोचता है। आज सभी व्यक्ति प्रतिष्ठा के इच्छुक हैं और वह प्रतिष्ठा केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिल सकती है जिनमें कुछ विशेष गुण हैं। उन विशेष गुणों को ही हासिल करने में व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है। यहाँ तक कि अपने माँ-बाप, भाई-बहन तक को भूल जाते हैं, केवल याद रहता है अपने में किसी तरह विशेष गुणों को पैदा करके स्वार्थ की पूर्ति करना और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना। यही अनेक कारण हैं जो परिवार के सहयोगी आधार में परिवर्तन उत्पन्न कर रहे हैं।

(४) पति-पत्नी के सम्बन्ध में परिवर्तन (Change in husband-wife relations) :—प्राचीन काल में पति-पत्नी का सर्वस्व होता था। वही उसका देवता वही उसका मालिक था। चाहे पति अत्याचारी, शराबी, जुआरी, चोर, डाकू या भ्रष्टाचारी क्यों न हो पर पत्नी को उसके प्रति वफ़ादार रहकर उसकी सेवा करनी पड़ती थी। पर आज वह भावना कि पति-पत्नी का देवता या उसका मालिक है धीरे-धीरे समाप्त होनी जा रही है। पति की निरंकुशता का तेजी से अन्त हो रहा है। आज पति केवल नाम-मात्र का प्रधान रह गया है। आज पति-पत्नी का सम्बन्ध



सहयोगिता की ओर बढ़ रहा है। अब पत्नी पति की दासी नहीं साथी बन गई है। इसलिए साथी के रूप में दोनों के अधिकार भी समान हो गये हैं।

(५) विवाह और यौन-सम्बन्ध में परिवर्तन (Change in marriage and sex relation):—पहले विवाह जितनी जल्दी कर दिया जाता था उतना ही अच्छा माना जाता था। माता-पिता अपनी लड़की का विवाह छोटी-से-छोटी उम्र में कर देते थे। उनका कहना था कि रजोदर्शन से पूर्व ही लड़की के पैर पूजना बहुत ही पुण्य कमाना है। इसी भावना को लेकर ही कम से कम आयु में वे अपनी लड़की के पैर पूज देते थे। आज देर से विवाह अन्तर्जातीय विवाह और प्रेम विवाह की दरें (Rates) दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं और बाल-विवाह प्रथा धीरे-धीरे कम होती जा रही है। आज लड़का जब पूर्णरूप से अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है तभी वह शादी करने के लिये राजी होता है। शादी-विवाह में पहले जो जाति-प्रथा का बन्धन था आज अन्तर्जातीय विवाह ने जाति-पाँति के बन्धन को दिन प्रतिदिन शिथिल कर दिया है और बराबर करता जा रहा है। सभी जातियाँ आपस में विवाह कर सकती हैं। जाति-प्रथा आज विवाह के मामले में रोड़ा या रूकावट नहीं बन सकती। पहले विधवाओं और अविवाहित लड़कियों के प्रति समाज के मनोभाव अच्छे नहीं थे पर अब परिस्थिति विलकुल विपरीत हो गई है, आज लोगों के मनोभाव विधवाओं तथा अविवाहित लड़कियों के प्रति बहुत ही सहानुभूति के हो गये हैं। पहले वर का चुनाव माता-पिता अपनी इच्छा से करते थे, पर आज युवक व युवती पूर्णरूप से स्वतन्त्र हैं कि वे अपने जीवन साथी का चुनाव अपने मन के अनुसार करें। वर-वधु का चुनाव अब माता-पिता या अन्य संरक्षक के द्वारा न होकर स्वयं युवक व युवती के द्वारा होता है। राज्य या समाज एक से अधिक विवाह करने का आदेश नहीं दे सकता है जब तक कि वह पत्नी जीवित है। एक विवाह ही आदर्श विवाह माना जाता है। आज विवाह में रोमांस का तत्व जुड़ता जा रहा है और एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह भी हो रहा है कि पहले एक हजार में से शायद एक पति-पत्नी में तलाक दिया जाता था पर आज तलाक या विवाह-विच्छेद की दरें खूब बढ़ रही हैं।

(६) राज्य द्वारा परिवार के कार्यों का होना (Function of family is being taken over by the State):—परिवार पहले प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के कार्यों को स्वयं ही करता था। औद्योगीकरण के कारण आज समस्त द्वितीयक कार्य राज्य के हाथों में पहुँचते जा रहे हैं। परिवार का कार्य पहले नियन्त्रण करना था। आज परिवार के दोनों कार्य, सहयोग और नियन्त्रण राज्य के हाथों में आ गये हैं। सहयोगी कार्य के अन्तर्गत राज्य निम्न प्रकार के कार्यों को करता है—मकानों की व्यवस्था, चिकित्सा व सेवा व्यवस्था, पेन्शन, बच्चों के लालन-पालन की व्यवस्था करना, प्रावीडेंट फण्ड की व्यवस्था, शिक्षा, बेकारी आदि के समय सामाजिक सुरक्षा आदि। यह सभी कार्य पहले परिवार करता था। परिवार का यदि कोई सदस्य बीमार हो जाता था तो उसकी देखरेख सेवा-सुश्रुषा परिवार के ही सदस्य करते थे। बच्चों के लालन-पालन का भार भी परिवार पर ही था, यदि परिवार का



कोई व्यक्ति काम नहीं कर सकता था, शरीर में लाचार हो जाता था या कुछ दिनों के लिए उसकी नीकरी छूट जाती थी तो इस अवस्था में परिवार के ही सदस्य उसे नीकरी दिलाने थे या जीवनरहित परिवार के लाचार सदस्य को बैठ कर खिलाने व कपड़े की व्यवस्था करना थे। आज ये सभी कार्य राज्य के हाथ में आ गये हैं। परिवार के नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य जैसे विवाह की आयु और जीवन साथी के चुनाव को नियन्त्रित व नियमित करना, विवाह-विच्छेद की समस्या को तय करना, सम्पत्ति सम्बन्धी प्रश्नों को निश्चित करना आदि कार्यों की भी राज्य करता है। विवाह सम्बन्धी, सम्पत्ति सम्बन्धी या विवाह-विच्छेद सम्बन्धी नियन्त्रण परिवार ही करता था। आज सभी कार्य राज्य के ही हाथों में आ गये हैं। परिवार के कार्यों के हस्तान्तरित हो जाने में परिवार का आज बड़ा महत्त्व नहीं रहा जो पहले था।

(७) स्त्रियों, बच्चों और युवकों की स्थिति व अधिकार में परिवर्तन (Change in the status and rights of women, children and youths) :— परिवार में पहले स्त्रियों की दशा बहुत ही दयनीय थी। चाहे परिवार में उनका स्थान माँ का हो या पत्नी या लड़की और बहू का। स्त्रियों के बारे में पहले लोगों के मनोभाव बहुत ही हेय प्रकार के थे। समाज में उनके साथ दासी की तरह व्यवहार किया जाता था। स्त्रियाँ परिवार में भार स्वरूप समझी जाती थीं। परन्तु आज स्त्रियों की स्थिति पहले से बहुत कुछ सुधर गई है। अब उन्हें दासी न समझ कर साथी समझा जाता है।

जिस प्रकार से स्त्रियों के प्रति एक गलत धारणा पुरुषों के मन में थी उसी प्रकार की एक गलत धारणा बच्चों के प्रति माँ-बाप के दिल में थी कि बच्चे को अगर उचित रास्ते पर लाना है या उसकी बुरी आदतों को छुटाना है तो एक ही रास्ता है और वह है मारना। पर आज के शिक्षित माता-पिता के मन से यह बात बिल्कुल निकल गई है या उन्हें यह मालूम हो गया है कि बच्चे को मार-पीट कर नहीं ठीक किया जा सकता, बल्कि बच्चे को प्यार-दुलार से या सम्मान-सुझाव उचित रास्ते पर ला सकते हैं। बच्चों की इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहिए, इस कारण उनके मनोभाव व विचारों को मान्यता दी जाती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि बच्चों का व स्त्रियों का स्थान अब वह नहीं रहा जो पहले था।

स्त्री व बच्चों की स्थिति में ही केवल परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि युवकों की स्थिति में भी परिवर्तन हो गया है। अब पूरे परिवार का आर्थिक भार केवल युवक पर ही नहीं रहा बल्कि आज आर्थिक सहायता परिवार की स्त्रियाँ भी कर रही हैं। इससे पुरुषों के उत्तरदायित्व कम हो गए हैं। पहले जितनी तानाशाही परिवार में उनकी चलती थी अब वह नहीं रही। अब स्त्री व पुरुष के परिवार में समान अधिकार हो गए हैं।

(८) रक्त सम्बन्धों का महत्त्व कम होना (Lesser importance of kinship relations)—प्राचीन काल का परिवार इस बात का प्रयत्न करता था कि नाते-रिस्तेदार नाराज न होने पाएँ और सम्बन्धों में घनिष्टता बनी रहे। पर आज के



परिवार के सदस्य रिश्तेदारों से दूर भागने की कोशिश करते हैं। आज सिद्धान्त यह है 'हम रिश्तेदारों से जितना दूर रहें उतना ही अच्छा है, कुछ लोग तो अपने रिश्तेदारों से इतना ऊब गये हैं कि उनके सम्बन्ध में उनका यह कहना है कि रिश्तेदारों से वास्तविक अर्थ में पिण्ड छुड़ाना वास्तव में कठिन है। वे सीधे और उल्टे दोनों तरफ से आघात करते हैं। यही मनोभाव भैर्या जी के इस कथन में और भी स्पष्टतया अभिव्यक्त होता है जब वह कहते हैं कि रिश्तेदार वे लकड़ियाँ हैं जो मिलें तो जलें और दूर रहें तो धुआँ दें। इसी से स्पष्ट है कि रक्त सम्बन्धियों के सम्बन्ध में अनुकूल मनोभाव आज वास्तव में विरल है। इसका कारण कुछ तो नाते रिश्तेदारों का स्वार्थी मनोभाव है और कुछ व्यक्तिवादी आदर्श।

(६) स्नेह, प्रीति व प्रेम के लिए परिवार पर अधिक निर्भर (Greater dependency on family for affection and love)—मनुष्य के जीवन में द्वैतीयक समूहों का ही बोलबाला है। ये द्वैतीयक समूह 'शीत जगत' कहलाते हैं। इस कारण द्वैतीयक समूह में सहानुभूति, सद्भावना, स्नेह, प्रेम और प्रीति नहीं मिल पाती है। इसलिए आज व्यक्ति स्नेह, प्रीति, प्रेम को परिवार से पाना चाहता है। पहले ये सभी हमें पड़ोस, रिश्तेदारों से मिल जाती थीं। सब एक ही बन्धन में बंधे थे। इसलिए प्यार, प्रेम, प्रीति को पाने के लिए परिवार पर इतने ज्यादा आश्रित नहीं थे, पर व्यक्तिवादिता ने इन सभी को बहुत दूर कर दिया है इसलिए परिवार का महत्व इस सम्बन्ध में अधिक बढ़ गया है। आज हम पड़ोसी व रिश्तेदारों से प्रेम, प्रीति या सहानुभूति का व्यवहार नहीं पाते हैं। स्वार्थपरता, चालाकी, धोखेबाजी इत्यादि। इसलिए आज ये सब कोमल भाव परिवार में आकर केन्द्रित हो गए हैं। 'शीत जगत' के विस्तार के साथ ही साथ इस विषय में परिवार का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ जिस भाँति अन्य चीजों में परिवर्तन हो रहा है उसी प्रकार परिवार के संगठन और कार्यों में भी परिवर्तन हुआ है। यह सच है कि परिवार आज का नहीं है बल्कि आदिकाल से ही मनुष्य के साथ ही साथ परिवार का जन्म हुआ पर उस सत्यता के साथ ही साथ हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार का परिवार प्राचीन काल में था आधुनिक काल में उस प्रकार का परिवार नहीं रहा। उसके संगठन और कार्य में परिवर्तन हो गया है और समय के परिवर्तन के साथ ही साथ आधुनिक परिवार में भी परिवर्तन होगा। अर्थात् परिवार जिस रूप में पहले था उस रूप में आज नहीं है और जिस रूप में आज है उस रूप में भविष्य में नहीं रहेगा।

### आधुनिक परिवार की समस्याएँ (Problems of Modern Family)

पहले परिवार कृषि स्तर पर था पर आज वह औद्योगिक स्तर में से गुजर रहा है। आज के युग की सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परिस्थितियाँ कृषि स्तर से



वित्कुल भिन्न हैं। इसीलिए समय की यह माँग है कि बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल करना। परिवार प्रयत्न भी इसी बात का कर रहा है कि परिवर्तित परिस्थितियों से वह अनुकूलन करले। परन्तु इस अनुकूलन के दौरान में कुछ नवीन समस्याएँ परिवार के सम्मुख आ खड़ी हुई हैं। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) आधुनिक परिवार की अस्थिरता (Instability of modern family) —आधुनिक परिवार का अस्थिर होना, आधुनिक परिवार की एक प्रमुख समस्या है और इसका सम्बन्ध अन्य समस्याओं के साथ है। पिता की नियन्त्रण शक्ति का घटना, धार्मिक आदर्शों का बोलबाला, विवाह के धार्मिक आधारों का दुर्बल होना, श्रम विभाजन के कारण आर्थिक स्वतन्त्रता, स्त्रियों के आर्थिक और राजनैतिक अधिकार व स्वतन्त्रता की प्राप्ति आदि कारणों से परिवार की स्थिरता घट गई है। आज जब विवाह धार्मिक व सामाजिक कर्तव्य के रूप में नहीं, बरन् अपने व्यक्तिगत सुख व जीवन-नृप्ति के उद्देश्य के एक ठेकेदारी बन्दोबस्त के रूप में देखने को मिलता है तो परिवार की अस्थिरता का अन्दाजा लगाना कठिन नहीं है।

(२) आधुनिक परिवार का घटना हुआ आकार (Decreasing size of the family) — परिवार की दूसरी प्रमुख समस्या यह है कि आज परिवार का आकार उत्तरोत्तर घटता जा रहा है। देर में विवाह करने की प्रवृत्ति, शिक्षा का प्रभाव, बर्ष कंट्रोल की व्यवस्था, व्यक्तिवादी आदर्श, आनन्दसुख की अभिलाषा आदि ही बच्चों के कम पैदा होने के प्रमुख कारण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कम बच्चे पैदा होने में परिवार की आर्थिक दशा अच्छी बनी रहती है और बच्चों का लालन-पालन भी अच्छे ढंग से हो पाता है, फिर भी एक सीमा के बाद जन्म-दर (Birth-rate) का घटना राष्ट्र की प्रगति के लिए घातक सिद्ध होता है। क्योंकि इससे कम जनसंख्या (Under population) की समस्या उत्पन्न हो जाती है और कुछ देशों में हो भी गई है।

(३) रोमांस का आधिक्य (Prominence of romance) —रोमांस की समस्या आधुनिक परिवार के लिये दिन प्रतिदिन गम्भीर होती जा रही है। सामाजिक गतिशीलता बढ़ने के कारण लड़के-लड़कियों के आपस में मिलने की स्वतन्त्रता उनका एक साथ मिल, कारखाना, दफ्तर आदि में काम करना, मिनेमा, क्लब आदि का प्रभाव कुछ ऐसे कारक हैं जिनके कारण रोमांस का विस्तार उत्तरोत्तर होता जा रहा है।

(४) स्त्रियों का घर से बाहर काम करना (Employment of women outside home) —आधुनिक युग में न केवल पुरुषों के लिए बरन् स्त्रियों के लिए भी नौकरी के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हैं। इस कारण अनेक स्त्रियाँ घर से बाहर नौकरी करने को जानी हैं। इसमें स्त्रियाँ पारिवारिक प्रतिबन्धों से अपने को विमुक्त समझने लगती हैं और प्रायः परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को अधिक गम्भीरतापूर्वक नहीं सोचती हैं। साथ ही स्त्रियों के बाहर काम करने से परिवार की देख-रेख (Management) तथा संगठन बिगड़ जाता है। पति पत्नी में घनिष्ठ



सम्बन्ध वहीं पनप पाता, उनमें आर्थिक, यौन-सम्बन्धी तथा अन्य व्यक्तिगत विषयों में मतभेद या तनाव उत्पन्न होता है और बच्चों की देख-रेख या लालन-पालन उचित ढंग से नहीं होता है।

(५) सन्तानों के पालन-पोषण की समस्या (Problem of upbringing of children)—बच्चों का पालन-पोषण किस रूप में हो और कैसे हो, यह समस्या भी आधुनिक परिवार की एक प्रमुख समस्या है। पहले जिस ढंग या विधि से बच्चों का लालन-पालन होता था, अब वह ढंग काफी पुराना हो चुका है और साथ ही उन विधियों के दोष भी आज स्पष्ट हो गये हैं। परन्तु अनेक माता-पिता अब भी पुराने ढंग से मार-पीट कर बच्चों को नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न करते हैं। इसके फलस्वरूप आज अनेक सन्तानों तथा माता-पिता के बीच तनाव की सृष्टि होती है। साथ ही उनका व्यक्तित्व का विकास युग की माँग के अनुसार नहीं हो पाता है। आधुनिक परिवार में सन्तानों के पालन-पोषण की समस्या तब और भी गम्भीर होती है जब कि माँ घर से बाहर काम करने को जाती है। उस अवस्था में सन्तानों के लालन-पालन का दायित्व नौकरानियाँ संभालती हैं जोकि माँ के आदर्शों के अनुसार बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में कदापि मदद नहीं कर पाती हैं। इससे प्राथमिक रूप में परिवार और अन्तिम रूप में समाज को हानि पहुँचती है।

(६) परिवार में व्यक्तिवादिता (Individualism in family):—आधुनिक समाज की एक और समस्या यह है कि आज परिवार में व्यक्तिवादी आदर्शों ने अपना घर कर लिया है। आज परिवार का प्रत्येक सदस्य दूसरों के लिए नहीं बल्कि अपने लिए अधिक सोचता है जिसके फलस्वरूप परिवार में भी एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा (Competition) विभिन्न सदस्यों के बीच चलता रहता है। इससे परिवार का सामूहिक संगठन नष्ट हो जाता है और सब की प्रगति व समृद्धि सम्भव नहीं होती है।

(७) विवाह-विच्छेद की दर में वृद्धि (Increasing divorce rate):—यह समस्या परिवार की नींव को हिला देने वाली समस्या है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता, सामाजिक गतिशीलता, रोमांस, व्यक्तिवादिता, समानता, का विचार बढ़ने के साथ-साथ तलाक दर भी दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। ऐसा अनुमान है कि अमेरिका के कुछ नगरों में प्रत्येक ७ विवाह में से ३ विवाह का अन्त विवाह-विच्छेद के रूप में ही होता है। विवाह-विच्छेद से केवल पति और पत्नी के लिए ही गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न नहीं हो जाती हैं, बल्कि बच्चों के पालन-पोषण की समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। ऐसे यच्चे जिनके माँ-बाप ने विवाह-विच्छेद कर लिया है वे अधिकतर अपराधी, चोर, जुआरी, नशेबाज आदि होते हैं। क्योंकि इन बच्चों के ऊपर से माता-पिता दोनों का ही हाथ उठ जाता है अर्थात् इन पर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं रहता। कभी-कभी माँ इस बात की कोशिश करती है कि विवाह-विच्छेद के बाद बच्चों के ऊपर से नियन्त्रण कम न हो ताकि वे आगे चल कर अच्छे नागरिक



बन सके। परन्तु क्या ऐसा हो पाना है ? नहीं, क्योंकि विवाह विच्छेद या तलाक के बाद ही जीविकोपार्जन का भार माँ के ऊपर ही पड़ता है। वह कहीं दिन में काम पर चली जाती है, बच्चे फिर स्वतन्त्र हो जाते हैं और मनमाना करने हैं। इसलिए विवाह-विच्छेद के बाद पति-पत्नी की समस्या तो गम्भीर हो ही जाती है पर उसका दुष्परिणाम बच्चों पर बहुत ही गम्भीर रूप में पड़ता है। यह देखा गया है कि अनेक अपराधी, जुआरी, शराबी, बाल अपराधी तथा आत्महत्या करने वाले व्यक्ति विवाह-विच्छेद द्वारा टूटे हुए परिवार (broken home) के ही सदस्य होते हैं।

### निष्कर्ष

#### (Conclusion)

उपरोक्त समस्याओं को यदि सुलझाना है तो युवक और युवतियों को स्वस्थ पारिवारिक जीवन बिताने के लिए आवश्यक शिक्षा दी जाय। आधुनिक युग में जो रोमान विवाह से पहले ही शुरू हो जाता है उसे कम किया जाय। यदि हम आदि काल के परिवारों को फिर से बसाना चाहते हैं तो उनके लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि स्त्रियों से केवल घर का काम लिया जाय, बाहर वे नौकरी न करने जायें। स्त्रियों के बाहर काम करने से परिवार का संगठित स्वरूप टूट जाता है सब असंगठित हो जाता है। विवाह-विच्छेद को कम करना होगा। यह तभी कम हो सकता है जब विवाह केवल समझौता न समझा जाय बल्कि विवाह को पवित्र व धार्मिक बन्धन माना जाय। धर्म के पीछे सम्पूर्ण समाज की शक्ति अप्रत्यक्ष रूप से होगी, इसलिए धर्म का या धार्मिक बन्धन को तोड़ना इतना आसान नहीं होगा जितना समझौते को तोड़ना। यदि हम समाज और समाज के सदस्य व्यक्ति की उन्नति चाहते हैं तो हमें परिवार की इन समस्याओं को सुलझाना होगा तभी व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं।



शोभा अब घर की शोभा नहीं रह गई है। पति से पट नहीं रही है आज-कल। न ही माम-समुर खुश हैं शोभा से, शोभा के पति से। शोभा वैसे घर की लड़की नहीं है, जैसे घर में उसके मां-बाप ने विवाह में कन्या-दान करके भेजा है उसे। सुरेन्द्र से शोभा की पहली मुलाकात हुई थी। एक दिन सहेलियों के साथ पिकनिक से लौटते समय रास्ते में। मुलाकात न होती, अगर आधे रास्ते में शोभा की 'कार' खराब न हो गई होती। सुरेन्द्र भी गुजर रहा था उसी तरफ से। किसी मोटर कम्पनी में काम करता था, इसीलिए मोटर के बारे में सामान्य जानकारी थी। सहायता मांगने पर सुरेन्द्र ने मोटर ठीक कर दी। तभी से जान-पहचान हुई। सुरेन्द्र का आना-जाना आरम्भ हुआ शोभा के घर। शोभा उस समय कॉलेज में अध्यापिका का काम करती थी, एम० ए० दो विषय में पास कर चुकी थी। सुरेन्द्र केवल इन्टर पास था। पर मोटर का काम अच्छा जानता था। इसीलिये नौकरी मिल गई थी एक मोटर कम्पनी में। शोभा का वेतन सुरेन्द्र से बहुत ज्यादा था। पर सुरेन्द्र सज्जन और सुन्दर दोनों ही था। इन्हीं दो गुणों ने पिताजी को मोह लिया और उनकी लड़की को भी। धन, विद्या और सांस्कृतिक आधारों में दोनों परिवार में पर्याप्त भिन्नता के होने पर भी शोभा-सुरेन्द्र का विवाह हो गया। कमाती हुई काली बहू शोभा को सुरेन्द्र के घर वालों ने भी घर की शोभा बढ़ाने के लिये सादर ग्रहण किया। पर शीघ्र ही सब सुख सपना बन गया। पहले-पहल खटपट शुरू हुई सास-बहू में ही। सास की शिकायत थी कि जो बहू नौकरी करती है, वह घर गृहस्थी का कोई काम नहीं करेगी, यह नियम कहीं नहीं है और बहू का कहना था, कि उसने अपने पिता के घर में कभी कोई काम नहीं किया है, इसलिये यहाँ भी काम नहीं कर सकती है। सास ने तिनक कर उत्तर दिया था, कि जब काम करना ही नहीं जानती है तो शोभा को अपने पिता के घर ही रहना चाहिये था। इस घर को नरक बनाने क्यों आई? बस चिनगारी वहीं से सुलगी। उसमें थी और पड़ा तब जब तनख्वाह मिलने पर बहू ने सब रुपया अपने खर्च के लिये रख कर केवल सौ रुपया सास के हाथ में दिये। "बया जखरत थी, यह सौ रुपये भी देने की?" सास ने गुस्से में कहा। "यह भी अपने ही पास रख लो बहू, तुम्हारे ही कोई काम आयेगे। अब तक तुम कमा कर नहीं लाती थीं, तब भी हम लोग भूखों नहीं मरते थे और अब तुम कमा कर ला रही हो तो उससे हलुआ पूड़ी भी नहीं खाऊंगी।" यही से भंग हुई परिवार की शान्ति। शोभा ने भी परवाह नहीं की।



छिप-छिप कर सहेलियों के साथ मिलेमा जाती रही, सामान खरीदकर मायके भेजती रही अन्तर् भाई-बहनों को। एक दिन मिलेमा में जब इन्टरवल (Interval) के समय हाल में रोगी हुई तो गोभा चौंक उठी। आगे के 'रो' में सुरेन्द्र और गोभा के जेठ दोनों बैठे हुये थे। दोनों ने दोनों को देखा। पर किसी ने भी किसी से कुछ न कहा। केवल दोनों ही पक्षों का चेहरा बदल गया, एक का गुस्से से और दूसरे का घबड़ाहट से। घर आने ही सुरेन्द्र ने हुक्म जारी किया कि कल से गोभा नौकरी करने नहीं जायेगी। नौकरी करने नहीं जायेगी तो स्वर्ण कैसे गोभा... गोभा ने पूछा। बात बढ़ती गई। अन्त तक सुरेन्द्र की शिक्षा व आय की कमी तथा मास-समुद्र व जेठ के श्रमिक शान्तिवादी वाली दृष्टिकोण की कटु आलोचना गोभा के मुह से सुनकर सब दग नष्ट गये। अब तक गोभा का पक्ष लेकर सुरेन्द्र, माँ और छोटे भाई से झगड़ा करता था, पर गोभा के आज के व्यवहार से सुरेन्द्र के मन में गोभा के प्रति भी विष डकड़ा हो गया। सुरेन्द्र अब बहुत कम बोलता है गोभा से। जेठ ने तो बिल्कुल ही बोलना छोड़ दिया और मास ने बड़ के हाथ का पानी तक पीने से इन्कार कर दिया। सुरेन्द्र कुछ कहने जाता है उनसे तो वे लोग सुरेन्द्र को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं कि वह जायद बीबी की तरफ़वारी करने आया है। इसी बात को लेकर मा-बेटे में या भाई-भाई में वाक-मुद्ध हो जाता है बीच-बीच में। इसके फलस्वरूप एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। परिवार में—परिवार का सामान्य उद्देश्य अब कुछ नहीं रह गया है, न कोई किसी के बारे में सोचता है और न ही किसी बात में सहयोग प्रदान करता है। पति-पत्नी का सम्बन्ध भी खिचा-खिचा सा हो गया है। परिवार में अशान्ति का वातावरण निरन्तर छाया रहता है—एक दूसरे की गलती को पकड़ने के लिये ताक लगाये बैठे रहते हैं। गलती मिलने ही या तो कटुक्ति की जाती है या ताने सुनाये जाते हैं। पुरुषों के दफ्तर से लौटने ही औरतें दिन-भर की घटनाओं पर रंग चढ़ाकर एक दूसरे की चुगली करती हैं। दिन भर का थका-मादा पुरुष सुनते-सुनते झुंझला उठता है और फिर भाई-भाई में या पिता-पुत्र में झगड़ा होने लगता है, कभी कभी तो गाली-गलोच तक की नौबत आ जाती है। परिवार का सब काम होता है, पर बिना ताल और लय के। ऐसा लगता है, जैसे कि परिवार को एक सहयोगी स्नेहपूर्ण सूत्र में बाँधने वाला ताना-बाना टूट गया है।

यही पारिवारिक तनाव है। यह अध्याय इसी तनाव का विश्लेषण तथा विवरण है।

**पारिवारिक तनाव क्या है ?**

(What is Family Tension)

पारिवारिक तनाव पारिवारिक जीवन की वह अवस्था है जब कि परिवार के सदस्यों में आपसी सद्भावना के स्थान पर अशान्ति तथा कलेश का वातावरण बना रहता है। यह अवस्था परिवार के सदस्यों के विरोधी मनोभाव, दृष्टिकोण तथा आदर्श के कारण उत्पन्न होती है। यह विरोध जब पति-पत्नी के मनोभाव,



विचार आदि में पनप जाता है तब पारिवारिक तनाव की स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में तनाव की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब कि पारिवारिक जीवन में कोई आन्तरिक संघर्ष पनप जाये, जिसके कारण सहयोगी वातावरण बनाये रखना सरल न हो। जैसे-जैसे तनाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे संघर्ष भी स्पष्ट हो जाता है और उसकी बाहरी अभिव्यक्ति वास्तव में कटु हो जाती है।

सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliot and Merrill) ने लिखा है कि “पारिवारिक तनाव से हमारा तात्पर्य किसी संघर्षपूर्ण स्थिति से है, जो परिवार के सदस्यों में, विशेषकर पति और पत्नी में विरोधी मनोवृत्तियों को पनपाता है।”<sup>1</sup>

डा० ई० टी० क्रुएगर (E. T. Krueger) के अनुसार पारिवारिक तनाव के कुछ स्पष्ट पक्ष इस प्रकार हैं—(१) पारिवारिक विघटन की स्थिति में एक सामान्य उद्देश्य नहीं रह जाता है और पारिवारिक लक्षों के स्थान पर व्यक्तिगत लक्षों (Aims) की प्रधानता होती है। (२) समस्त सहयोगी प्रयत्न समाप्त हो जाता है। (३) पारस्परिक सेवायें बन्द कर दी जाती हैं। (४) पति और पत्नी के सम्बन्धों को सम्बद्ध या परिभाषित नहीं किया जाता है। (५) दूसरे सामाजिक समूहों के साथ बाहरी सम्बन्धों के विषय में परिवार की स्थिति (Status) बदल जाता है। दूसरे शब्दों में, आन्तरिक अशान्ति या तनाव के कारण परिवार दूसरे सामाजिक समूहों के साथ पहले जैसा सम्बन्ध बनाये रखने में असफल रहता है। (६) पति और पत्नी का उद्देशात्मक मनोभाव या तो संघर्षपूर्ण हो जाता है या वे एक दूसरे के प्रति उदासीन मनोभाव रखने लगते हैं।<sup>2</sup>

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि पारिवारिक तनाव वास्तव में एक अवांछनीय स्थिति या अवस्था है जबकि परिवार के सदस्यों, विशेषकर पति-पत्नी का पारिवारिक जीवन स्वाभाविक गति को छोड़कर एक क्लेशपूर्ण या अशान्तिपूर्ण परिस्थिति में से होकर गुजरता है। उस स्थिति में परिवार के सामान्य हित के विषय में कोई नहीं सोचता है, बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थों को अधिक प्रधानता दी जाती है। चूँकि सब अपनी-अपनी बात सोचते हैं, इस कारण कोई किसी के साथ सहयोग नहीं करता है। परिवार सदस्यों के पारस्परिक कर्तव्य-बोध पर आधारित होता है,

1. “By a Family tension we mean any conflict situation which generates opposing attitudes between its members, particularly between husband and wife.” M. A. Elliott and F. E. Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros, New York, 1950, p. 385.

2. “First, there is a disappearance of common objective, and individual aims are substituted for family aims. Second, all co-operative effort ceases. Third, mutual services tends to be withheld. Fourth, the relationships of husband and wife are no longer co-ordinated or defined. Fifth, the status of the family in its outer relations to other social groups is altered. Sixth, the emotional attitudes of husband and wife either becomes antagonistic or are replaced by attitudes of indifference.” E. T. Krueger, “A Study of Family Incompatibility.” *The Family*, Vol. IX, pp. 53-60.



पर पारिवारिक तनाव की स्थिति में परिवार के सदस्य अपने कर्तव्यों को भूल जाते हैं और किसी भी प्रकार के उत्तरदायित्व को निभाने से इनकार कर देते हैं। पारिवारिक तनाव के कारण परिवार का संगठन टूट जाता है। संगठन ही शक्ति होती है। जब यह शक्ति ही क्षीण हो जाती है तो परिवार की स्थिति दूसरे समूह को निगाहों में गिर जाती है क्योंकि परिवार दूसरे सामाजिक समूह के साथ पहले जैसा सम्बन्ध बनाये रखने में असफल रहता है। पारिवारिक तनाव वास्तव में पारिवारिक सम्बन्धों का तनाव होता है और इन सम्बन्धों में पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध सर्व से ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। पारिवारिक तनाव की स्थिति में पति-पत्नी का स्वाभाविक सम्बन्ध विकृत हो जाता है और उनमें या तो खुले तौर पर संघर्ष होने लगता है या वे एक-दूसरे के प्रति उदासीन हो जाते हैं। संघर्ष में, ये ही पारिवारिक विघटन के कुछ स्पष्ट पक्ष हैं।

### प्राथमिक तनाव

#### (Primary Tensions)

पारिवारिक तनाव के दो स्पष्ट रूप या प्रकार होते हैं—प्राथमिक तनाव तथा द्वैतीयक तनाव। और भी स्पष्ट शब्दों में, पारिवारिक तनाव के लिये उत्तरदायी कारकों को हम दो मोटे भागों में बाँट सकते हैं। एक तो प्राथमिक कारक और दूसरा द्वैतीयक कारक। प्राथमिक कारकों के अन्तर्गत हम उन कारकों को सम्मिलित करते हैं जो कि परिवार के सदस्यों, विशेषकर पति और पत्नी के अपने निजी व्यक्तित्व की उपज है, जैसे जीवन के आदर्शों में भेद, व्यक्तिगत व्यवहार में अन्तर, मानसिक विकार, यौन-सम्बन्ध के सम्बन्ध में मतभेद आदि। इसके विपरीत द्वैतीयक कारकों के अन्तर्गत उन बाहरी परिस्थितियों, कारकों या शक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व से बाहर हैं जैसे पेशों में अन्तर, सांस्कृतिक अन्तर, सामाजिक स्थिति में भेद आदि। हम पहले प्राथमिक तनावों या कारकों की विवेचना करेंगे।

विवाह और परिवार जीवन की एक विधि (A way of life) है जिसमें निरन्तर प्रयत्नशीलता होती है। इसी प्रयत्नशीलता के कारण अनुकूलन सम्भव होता है। पर यह प्रयत्नशीलता तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि परिवार के सभी सदस्य, विशेषकर पति और पत्नी के व्यक्तित्व में अनुकूलन करने के लिये आवश्यक गुण हों। परिस्थितियों में अनुकूलन की दृष्टि से घातक विशेषतायें हैं तो पारिवारिक विघटन अवश्यम्भावी है। ये विशेषतायें इस प्रकार हैं—

### संघर्षमय स्वभाव

#### (Clashing of Temperaments)

यदि पति-पत्नी का स्वभाव या मिजाज एक-दूसरे के विरोधी है, तो उनके संघर्षमय स्वभावों का परिणाम पारिवारिक विघटन ही होगा। अधिक आलोचना करने वाली, निराशावादी, निरन्तर उलझने वाली पत्नी अपने सुखी, मस्त पति



के जीवन को नरक बना सकती है। पति का स्वभाव इस प्रकार है कि वह कमाता है, खर्च करने के लिये तथा जीवन के उपभोग करने के लिये। इसके विपरीत पत्नी का स्वभाव है, पति से एक-एक पैसे का हिसाब लेना और खर्च के आधार पर ही जीवन की व्ययनाओं को आँकना। ऐसी अवस्था में दोनों में तलाक उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। उसी प्रकार यदि पति को पक्के गाने, तो पत्नी को सिनेमा के हल्के-फुल्के गाने पसन्द हैं; यदि पति को गम्भीर पुस्तकें और पत्नी को नाटक और उपन्यास पसन्द हैं, यदि पति को अध्ययन से आनन्द मिलता है तो पत्नी को सहेलियों के साथ क्लब में हुल्लड़ करने में मज़ा आता है तो निश्चय ही वे दोनों स्वस्थ एवं सुखी पारिवारिक जीवन बिताने में असमर्थ हो रहेंगे और उनमें तनाव की स्थिति अवश्य उत्पन्न हो जायेगी।

उसी प्रकार यदि एक जल्दी गुस्सा होने वाला या क्रोधी है, और दूसरा शान्त और ठण्डे दिमाग का तो उनमें एक-दूसरे को समझने की शक्ति और प्रशिक्षण कितना ही अधिक क्यों न हो, वे एक-दूसरे से कभी न कभी टकरायेंगे जरूर ही। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि पति का स्वभाव इस प्रकार हो कि वह घर की बात घर तक ही सीमित रखना चाहता है, पर पत्नी का स्वभाव कुछ विपरीत ही हो, और वह मित्रों तथा सम्बन्धियों में पति की शिकायत करने में या उसके दोषों के उल्लेख करने में ही अपनी शान्त समझती हो। ऐसी दशा में भी उनमें तनाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

श्री टरमैन (Terman) तथा उनके साथियों के विस्तृत अध्ययन से पता चलता है कि अमुखी पति-पत्नी में स्वभाव सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं—चिड़चिड़ापन, शीघ्र ही क्रोधित होना, अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए भगड़ना, दूसरे के दोषों को ढूँढ़-ढूँढ़कर निकालना, दूसरे की भावनाओं की परवाह न करना, अनुशासन को न मानना या आदेश के विरुद्ध आवाज उठाना, दूसरों के प्रति घृणा प्रदर्शित करना, प्रशंसा या दोषारोपण से शीघ्र प्रभावित होना, आत्म-विश्वास में कमी, बिना कारण उत्तेजित हो उठना, सुख या दुःख में दूसरे का साथ देने से इन्कार करना, या उदासीन रहना, दूसरों को नीचा दिखाने में या दूसरे के दोषों का प्रचार करने में आनन्द का अनुभव करना आदि।<sup>3</sup> इन विशेषताओं के कारण पति-पत्नी में तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है।

### जीवन-दर्शन

#### (Philosophy of Life)

एक स्वस्थ, सुखी व संगठित परिवार के लिये यह आवश्यक है कि पति-पत्नी के जीवन-दर्शन में साम्य या एकरूपता हो। यदि ऐसा है तो उनमें पारस्परिक अनुकूलन की प्रक्रिया वास्तव में सरल हो जायेगी। जीवन-दर्शन से यहाँ तात्पर्य व्यक्तियों के पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित उन मूल्यों (Values) से है, जो कि

3. Lewis M. Terman and others, *Psychological Factors in Marital Happiness*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1938, p. 369.



उनकी कार्य-विधियों को नियन्त्रित करता है। इसीलिये जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूत्रों में असमानता होने पर घर में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। यदि कोई पति समाज-विरोधी या अन्तः-विरोधी कार्य करता है, बाला बाजार, या चोरी, चुरा, धूम लेने आदि में व्यस्त रहता है और उसके लिये वह तनिक भी अनुत्पन्न नहीं है; पर इसके विपरीत उसकी पत्नी पति की इस जीवन-पद्धति को अन्यायपूर्ण व अनुचित मानकर उसे अस्वीकार करती है तो पति-पत्नी में तनाव की स्थिति उत्पन्न होने में देर नहीं हो सकती है। उसी प्रकार यदि पत्नी के दृष्टिकोण से जीवन की मार्थकता क्लब में, नाच की मण्डली में, राजनैतिक सम्मेलनों तथा जत्नों में उच्च स्थान प्राप्त करने में है, जब कि पति के दृष्टिकोण से विज्ञान कला, तथा साहित्य के क्षेत्र में अपनी कीर्तियाँ छोड़ जाने में ही जीवन की वास्तविक मार्थकता है। उस अवस्था में भी दोनों में तनाव ही उत्पन्न होगा। हो सकता है कि पत्नी जीवन को धर्म व ईश्वर पर आधारित करना चाहती है और उसी के अनुसार देवी-देवताओं को मानती व पूजती है, व्रत रखती है, धार्मिक नियमों तथा संस्कारों को मानती है और भगवान से डरती है। इसके विपरीत पति केवल विज्ञान को ही वास्तविक मानता है, और इस कारण देवी-देवता, व्रत, धार्मिक संस्कार आदि सबको अन्ध-विश्वास और कुसंस्कार कहता है, पत्नी को व्रत रखते हंसता है और उसके विश्वासों का मजाक उड़ाता है। वह स्थिति भी तनाव को जन्म दे सकती है। अतः स्पष्ट है कि यदि पति-पत्नी के जीवन-दर्शन में आधारभूत अन्तर है तो पारिवारिक तनाव उत्पन्न होने में देर नहीं लगती है।

### व्यक्तिगत-व्यवहार प्रतिमान

#### (Personal Behaviour Patterns)

व्यक्ति के व्यक्तित्व में समझी हुई छोटी-मोटी बातें, आदतें तथा व्यवहार करने के ढंग भी पारिवारिक जीवन में भयंकर परिणाम ला सकते हैं। कोई पत्नी सड़क पर इतने जोर से बोलती है कि केवल आस पास के लोगों का ध्यान ही उसके तरफ आकर्षित नहीं होता है, बल्कि उसके साथ चलने वाले पति को भी इतना बुरा लगता है कि वह मन ही मन परेशान होता है। उसी प्रकार पति की छोटी-मोटी लापरवाही पत्नी को इतनी बुरी लग सकती है कि वह दोनों साथ रहने में अपने को असमर्थ पाते हैं। एक पति में ट्यूबेस्ट के ट्यूब में मजून लेने के बाद उसके डबकन को बन्द न करने की आदत थी। यह बात पत्नी को इतनी बुरी लगती थी कि उसने अपने पति को तलाक दे दिया। उसी प्रकार एक पति मेज कुर्सी पर खाना खाना पसन्द करता है। जबकि उसकी पत्नी ऐसे घर में पजी है जहाँ पर जमीन पर आसन बिछाकर खाना खाना ही सम्भ्यता है। इस भिन्नता को लेकर भी दोनों में तनाव पैदा हो सकता है। इसी प्रकार पति के दृष्टिकोण से कभी-कभी शराब पी लेना बुरी आदत नहीं है। जबकि पत्नी को शराब के नाम तक से चिढ़ है, या पत्नी को बाहर के हर किसी के सामने निकलना, बानें और हँसी मजाक करने की आदत है, जिसे कि पति को बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है।



यह भी हो सकता है कि पत्नी को दिन में सोने की आदत है जब कि पति इसे बुरी आदत समझता है और दिन को क्रियात्मक व रचनात्मक कार्य में लगाना अच्छा समझता है। पति को सिगरेट और तम्बाकू पीने की आदत है पर पत्नी को सिगरेट या तम्बाकू की महक सबसे ज्यादा बुरी लगती है और इस कारण वह पति के पास घनिष्ट रूप में बैठने से इन्कार करती है। उसी प्रकार पत्नी को हर दस मिनट के बाद पान खाने की आदत है, पर पति को अधिक पान खाने से ओंठ तथा दाँतों में बन जाने वाले घब्रों से सख्त नफ़रत है। इन सब विरोधी व्यवहार प्रतिमानों के कारण भी पति-पत्नी के सम्बन्ध में चौड़ी खाई बन जा सकती है। दिन-भर का थका-मादा पति जब घर लौटता है तो पत्नी को उपन्यास में इतना तल्लीन पाता है कि उसे स्वयं ही जाकर अपने लिए चाय बनाना पड़ता है, या घर लौटकर अक्सर ही टेबिल पर पत्नी का एक 'नोट' मिलता है कि वह अमुक महेली के साथ सिनेमा देखने जा रही है। यह सब छोटी-छोटी बातें भी पति-पत्नी में तनाव की स्थिति उत्पन्न कर सकती हैं।

ऐसा भी हो सकता है कि पति प्रत्येक विषय में अपने पतित्व को प्रदर्शित करने का आदी है और यह आशा करता है कि पत्नी को उसकी हर बात मान लेना चाहिए। इसीलिए पति जो यह चाहते हैं कि हर विषय में जो वह कहें वही अन्तिम निर्णय हो और सब लोग उसी के अनुसार काम करें। पर हो सकता है कि पत्नी भी अपने मत को व्यक्त करना चाहती है और वह आशा करती है कि अगर वह मत उचित है तो उसे स्वीकार किया जाये। किन्तु पति में तो निरंकुश शासक के रूप में शासन करने की आदत है जिसके कारण उनका विरोध पत्नी से स्वभावतः ही हो सकता है। उसी प्रकार बहुत से पतियों में यह आदत होती है कि वे पत्नी के व्यक्तित्व के प्रति उचित सम्मानसूचक मनोभाव नहीं रखते हैं और बाहर के लोगों के सामने भी नौकरानी की भाँति उसे डाँटते-फटकारते हैं या उसके दोषों का विश्लेषण करते हैं या उसकी मजाक उड़ाते हैं। हो सकता है उस समय अतिथियों के सामने पति के ऐसे व्यवहारों को पत्नी हँसकर टाल जाये, पर बाद में इसी बात को लेकर उनमें अनबन तथा तनाव की सृष्टि हो। यह भी हो सकता है कि पत्नी को फिज़ूलखर्च करने की बुरी आदत हो और पति को उसकी यह आदत बहुत बुरी लगती है। क्योंकि परिवार की सुख-सुविधा के बारे में सोचे बिना ही उसकी पत्नी सिनेमा चली जाती है, क्लब में घूमती फिरती है, साड़ी गहने खरीदकर ले आती है। और उसका "बिल" पति को चुकाना पड़ता है। पति या पत्नी की ऐसी आदतें जोकि परिवार के सामान्य हित के प्रतिकूल हैं। दूसरे पक्ष (पति या पत्नी) के मन में असन्तोष की भावना पनपा सकती है और उसी असन्तोष के आधार पर पारिवारिक तनाव उत्पन्न हो सकता है।

### स्नेह तथा यौन सम्बन्ध में तनाव (The Response Tensions)

चूँकि आज प्यार पाने के लिये ही विवाह किया जाता है, इस कारण यदि



किसी भी अवस्था में सहातुभूति या प्यार पाने में कोई कमी होती है। तो पति-पत्नी प्रायः आराम में एक गम्भीर तनाव की सृष्टि कर लेते हैं। जब पति-पत्नी के बीच, विवाह के कुछ दिन बीत जाने के बाद, प्रेम ठण्डा पड़ जाता है और यौन इच्छाओं में शक्ति व शिथिलता उत्पन्न हो जाती है तो पति-पत्नी दोनों ही एक दूसरे के प्रति कुछ उदासीन हो जाते हैं। इससे दोनों ही पक्ष यह गलत धारणा बना लेते हैं कि दूसरे पक्ष को 'अब हम से लगाव व प्यार' नहीं रहा। इसी बात को लेकर दोनों में तनाव उत्पन्न हो सकता है क्योंकि यौन सम्बन्धों को ही वैवाहिक प्रेम की वास्तविक अभिव्यक्ति मान लिया जाता है।

अनेक विवाहित पुरुष अपने यौन सम्बन्धों को पत्नी तक ही सीमित नहीं रखते हैं, अपितु अन्य स्त्रियों के साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। हो सकता है कि पत्नी के निरन्तर बीमार रहने के कारण या उसके अन्य किसी शारीरिक या मानसिक दोष के कारण ही पुरुष को ऐसा करना पड़ता है, फिर भी विवाहित पत्नी के अलावा अन्य किसी भी स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित करना विवाह के आदर्श के प्रतिकूल समझा जाता है। और पत्नियों के लिए दुःख का विषय बन सकता है। कुछ पत्नियाँ तो इस दुःख को चुपचाप पी जाती हैं पर कुछ खुले तौर पर इसका विरोध करती हैं, पति से लड़ती हैं, उस स्त्री के घर जाकर उसे भी खूब जली-कटी सुनाकर आती हैं, जिसके साथ पति का अवैध यौन सम्बन्ध है। भारत-वर्ष में अनेक विवाहित पति या पत्नी के अलावा अन्य किसी स्त्री या पुरुष से यौन सम्बन्ध स्थापित करना कानूनी दृष्टिकोण से विवाह-विच्छेद का एक स्वीकृत कारण है और किसी भी पक्ष के विरुद्ध इस प्रकार की शिकायत आने और वह प्रमाणित हो जाने पर दूसरे पक्ष को तलाक देने की अनुमति अदालत दे सकती है। अमेरिका के कुछ राज्यों में विवाहित पति या पत्नी से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने से इन्कार करना भी विवाह विच्छेद का एक कारण है। यदि विवाह-विच्छेद वास्तव में नहीं भी होता है। तो भी इसके आधार पर पारिवारिक तनाव की सृष्टि हो सकती है।

उसी प्रकार पति-पत्नी का एक दूसरे को यौन-इच्छाओं की सन्तुष्टि के लिए सन्तुष्ट न कर सकना भी पारिवारिक तनाव का एक गम्भीर कारण बन जाता है। यह हो सकता है पति या पत्नी में से किसी एक पक्ष में यौन-इच्छाएं अत्यधिक प्रबल हों और वह उनकी तृप्ति दूसरे के द्वारा करना चाहे, पर दूसरे पक्ष का सहयोग प्राप्त न हो, या दूसरा पक्ष ऐसे कामों में रुचि न रखता हो या प्रस्ताव सुनते ही अपनी भुंझलाहट व्यक्त करता हो। तो उस अवस्था में भी दोनों पक्षों में तनाव उत्पन्न हो सकता है। किसी-किसी पति या पत्नी में अत्यधिक यौन-संनिधित्व होने के कारण वह दूसरे पक्ष के स्वाभाविक यौन-इच्छाओं के प्रति उदासीन रहता है। जिसके फलस्वरूप भी उनमें तनाव की स्थिति पैदा हो सकती है। कुछ पति या पत्नी ऐसे भी होते हैं कि यौन के सम्बन्ध के विषय में भी इनीलता तथा सौम्यता बनाये रखने के पक्ष में होते हैं जब कि दूसरा पक्ष (पति या पत्नी) इस विषय में पूर्णतया आदिम मानव-पन और सामंजस्य को अपनाते पर उतारू हो जाता है। इससे



भी पति-पत्नी में यौन-सम्बन्धी अनुकूलन नहीं हो पाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति-पत्नी के बीच पेशा, संस्कृति, विभेद, अभिरुचि, शिक्षा, आयु आदि के आधार पर असमानता होने के कारण भी उनमें यौन सम्बन्धी अनुकूलन नहीं हो पाता है और पारिवारिक तनाव पनपता है। ऐसा भी देखा गया है कि पत्नी बाहर नौसरी करने जाती है और दिन भर काम करने के बाद इतनी थक जाती है कि रात में बिना किसी प्रकार की परेशानी के निश्चिन होकर सोना ही अधिक पसन्द करती है। और इसीलिए पति के यौन-सम्बन्धी प्रस्तावों को या तो ठुकरा देती है या टावने का प्रयत्न करती है या फिर चिड़चिड़ा जाती है।

उसी प्रकार परिवार नियोजन के सम्बन्ध में, जन्म निरोध की विधियों (Contraceptives) के प्रयोग के सम्बन्ध में, एक निश्चित संख्या में सन्तान प्राप्ति के सम्बन्ध में एक निश्चित अवधि से पहले गर्भवती होने के सम्बन्ध में पति और पत्नी में मतभेद या विरोध हो सकता है, जिसके फलस्वरूप पारिवारिक तनाव की सृष्टि हो सकती है।

पति और पत्नी दोनों ही एक दूसरे से स्नेह और सहयोग की अपेक्षा करते हैं और जब उनकी यह आशा पूरी नहीं होनी है तो उनका परिणाम पारिवारिक तनाव ही होता है।

### मानसिक विकार युक्त व्यक्तित्व (Psychopathic Personalities)

अनेक पति अथवा पत्नी में ऐसे मानसिक विकार पाये जाते हैं, जिसके कारण उनका व्यक्तित्व स्वाभाविक न होकर विकृत ही होता है। इन विकारों के कारण ही वे अति क्रूर और राक्षसी प्रकृति के होते हैं, उनमें हिंसा का भाव अत्यधिक होता है तथा वे खुले तौर पर मारपीट गाली-गलौज इत्यादि करने से हिचकिचाते नहीं हैं ऐसे विकार युक्त व्यक्तित्व के साथ किसी भी पति या पत्नी का वैवाहिक अनुकूलन नहीं हो पाता है और पारिवारिक जीवन विपस्य हो जाता है। यदि कोई पति या पत्नी यह अनुभव करता है कि उसने विवाह से पहले ऐसा कोई अपराध किया है जो कि वह दूसरों को बतलाने का साहस नहीं करता है या बतलाने में लज्जा का अनुभव करता है तो अपराध की इस भावना (Sense of guilt) के कारण भी उसमें मानसिक विकार उत्पन्न हो सकता है जो कि अन्त तक पति-पत्नी के अनुकूलन की प्रक्रिया में एक रोड़ा बन सकता है।

### वैवाहिक भूमिकाएँ (Marital Roles)

विवाह और परिवार दोनों में ही कुछ भूमिकाओं को अदा करना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक परिवार में सदस्यों की एक स्थिति होती है और उस स्थिति के अनुरूप प्रत्येक को कुछ भूमिकाओं को निभाना पड़ता है। जब परिवार के सदस्य विशेषकर पति और पत्नी अपनी-अपनी भूमिकाओं को अदा करने में असफल रहते हैं तो उससे भी पारिवारिक तनाव उत्पन्न होता है। पति अपनी पत्नी से सामान्य



देख-भाल तथा सेवाओं की आशा करना है। उसी प्रकार पति में पत्नी अपनी आर्थिक सुरक्षा व संरक्षा की उम्मीद करती है। वही पारिवारिक जीवन अधिक सुखी हो सकता है जिसमें कि उन आशाओं या उम्मीदों की अधिकतम पूर्ति होती रहे। जहाँ पति या पत्नी अपनी भूमिकाओं को आशानुसार नहीं निभा पाते हैं वही पर पारिवारिक तनाव उत्पन्न होता है।

### द्वितीयक तनाव

#### (Secondary Tensions)

अभी तक हम उन तनावों की विवेचना कर रहे थे जो कि व्यक्तिगत कारकों के द्वारा ज़िदाग़ील होता है। प्रत्येक विवाह में दो विभिन्न परिवार के स्त्री और पुरुषों का मिलन होता है और इन दोनों को एक दूसरे के साथ अपना अनुकूलन करना पड़ता है। यह अनुकूलन प्रक्रिया उस दशा में गलत रास्ते में भटक जाती है जबकि पति-पत्नी के आन्तरिक स्वभावों, जीवन दर्शन, मूल्य, विचार, मन, मनोवृत्ति आदि में अत्यधिक विरोध हों। परन्तु इन आन्तरिक विरोधों के अलावा भी कुछ बाहरी परिस्थितियाँ, कारक या शक्तियाँ भी ऐसी हो सकती हैं जो कि पारिवारिक सम्बन्धों को विघटित कर दें और सदस्यों में एक तनाव की स्थिति उत्पन्न कर दें। अब हम उन्हीं द्वितीयक तनावों के सम्बन्ध में विवेचना करेंगे।

#### आर्थिक तनाव

##### (Economic Tensions)

आर्थिक तनाव एक नहीं अनेक कारणों से हो सकता है। बहुत अधिक निर्धनता होने पर, व्यापार में हानि हो जाने से या स्त्री की आर्थिक निर्भरता आदि से आर्थिक तनाव उत्पन्न होता है। नीचे इन सभी पर संक्षिप्त विचार करेंगे —

(i) निर्धनता (Sheer poverty) — जिस परिवार में आर्थिक विषमता पाई जाती है या वह परिवार इतना अधिक निर्धन है कि पति-पत्नी बराबर आर्थिक विषय को लेकर ही चिन्तित बने रहते हैं। यह आर्थिक विषमता या निर्धनता विवाह के सुन्दर सम्बन्ध को नष्ट कर देता है। यह आर्थिक विषमता उस समय और भी दुःखायी होती है जब कि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति पहले अच्छी हो और बाद में खराब होती जाय। दुःख के बाद यदि सुख आता है तो दुःख के दिन भूल जाते हैं पर सुख पहले यदि मिलता है और दुःख बाद में तो सुख के दिन स्मरण करके दुःख और भी दूना हो जाता है। वही स्थिति आर्थिक तनाव की होती है जबकि अमीरी के बाद गरीबी आती है। यह परिस्थिति तभी उत्पन्न होती है जबकि कमाने वाला नौकरी छोड़ देता है या किसी कारणवश उसकी नौकरी अपने आप अचानक छूट जाय और नौकरी पाने के लिए उसे सड़कों पर घूमना पड़े ऐसी स्थिति में परिवार में तनाव उत्पन्न हो जाता है। अक्सर मनुष्य की गरीबी व निर्धनता के बढ़ने के साथ-साथ क्रोध की मात्रा भी बढ़ती जाती है, परिवार की स्थिति दिन पर दिन गिरती जाती है। तबलों के साथ ही क्रोध के कारण वे अपने आप अपने ही घर में भी



तक को कुछ नहीं रह जाता है। उस स्थिति में पत्नी के दिमाग में यही बात आती है कि यदि ठीक में नौकरी ढूँढी जाय तो क्या कारण है कि नौकरी न मिले। इसी प्रकार की चिन्तायें वैवाहिक जीवन को अशुखी बना देती हैं। परिवार में गम्भीर तनाव उत्पन्न हो जाता है और वह तनाव इस सीमा तक भी पहुँच सकता है कि पति अपने परिवार व बीबी-बच्चों को छोड़ कर कहीं चला जाय शान्ति की खोज में।

(ii) व्यापारिक विपर्यस्त (Business reverses):—बड़े-बड़े व्यापारी अपना लाखों रुपये व्यापार में लगा देते हैं। यह जानते हुए कि व्यापार एक प्रकार का जुआ है। व्यापार में किसी प्रकार की निश्चितता नहीं होती। दुर्भाग्यवश यदि व्यापार में घाटा हो जाता है तो लाखों रुपये की चोट दे जाता है। उस गम्भीर परिस्थिति से अनुकूलन करना बहुत ही कठिन हो जाता है। क्योंकि व्यापार में घाटा हो जाने से परिवार के सभी सदस्यों के वे टाट-बाट नहीं रहते, सभी का जीवन स्तर पहले की भाँति ऊँचा नहीं रह जाता। इन सभी कारणों से परिवार के व्यक्तियों का जीवन तो दुःखमय हो ही जाता है पर पति व पत्नी दोनों का वैवाहिक जीवन अत्यन्त दुःखमय प्रतीत होता है। क्योंकि पहले की भाँति त तो नौकर-चाकर ही लगे रहते हैं और न ही वे अपने को वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो रख सकती है। ये सभी बातें पति को दृष्टिकट लगती हैं। पति पहले से जब से व्यापार में घाटा हुआ थोड़ा सा क्रोधी हो जाता है। इधर पत्नी अपनी सभी आवश्यकताओं को मनचाहे तरीके से पूरा नहीं कर पाती। इस कारण उसके मन में भी झल्लाहट बराबर ही रहती है। इसलिए जरा-जरा सी बात पर भगड़ा होने लगता है। यह भगड़ा क्रोध, झल्लाहट आदि तत्व परिवार में तनाव उत्पन्न करते हैं।

(iii) पत्नी की आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic independence of the wife):—आज स्त्री व पुरुष दोनों को ही समान अधिकार मिले हैं। पहले जीविकोपार्जन का भार केवल पुरुषों पर ही था। पर आज शिक्षा के कारण जहाँ लड़कियाँ अपनी शिक्षा पूरी कर लेती हैं, नौकरी के लिए चल पड़ती हैं। इतना ही नहीं नौकरों में सफलता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार की ट्रेनिंग उस विषय पर लेती हैं, जो स्त्रियाँ या लड़कियाँ विवाह से पहले कार्य करना शुरू कर देती हैं वे शादी होने के बाद भी काम को नहीं छोड़तीं। परन्तु शादी के बाद कुछ पति अपनी पत्नियों से नौकरी नहीं कराना चाहते। उनका यह कहना है कि एक समय में घर की सम्पूर्ण उचित रूप से व्यवस्था करना और नौकरी करना दोनों कार्य ठीक प्रकार से नहीं किये जा सकते, फिर पत्नी की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करना पति का उत्तरदायित्व है, पत्नी का नहीं। विशेषकर यह तनाव उस समय और भी गम्भीर रूप-धारण करता है या कर सकता है जबकि पति-पत्नी दोनों एक ही विभाग में हों और पत्नी पति से ज्यादा कमा रही हो। यह परिस्थिति पति के बर्दाश्त के बाहर होती है। अध्ययनों से पता चलता है कि व्यवसायिक ईर्ष्या वैवाहिक सम्बन्धों को नष्ट कर देती है।



गया है कि पत्नी शादी से पहले अधिक मात्रा में रुपये अर्जित करती रही है पर विवाह के बाद बिना उसकी इच्छा के उसने दबाव में आकर नौकरी छोड़ दी तो नौकरी छोड़ने के बाद उसे अपने पति पर पूर्णरूप से निर्भर रहना पड़ता है जो कि उसे अच्छा नहीं लगता, इससे भी परिवार में तनाव होता है। यह तनाव तब और भी गम्भीर हो जाता है, जब पति की आय कम होती है और पत्नी को अपनी सभी आवश्यकताओं को अपूर्ण रूप में ही त्यागना होता है, उसे पग-पग पर या एक-एक वस्तु के लिए भीकना पड़ता है या कष्ट उठाना पड़ता है। उस समय पत्नी का जीवन बहुत ही दुखी हो जाता है और परिवार में घोर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

### व्यावसायिक तनाव

#### (Occupational Tensions)

कुछ व्यवसाय इस प्रकार के होते हैं जोकि तनाव को बढ़ावा देते हैं। जैसे उन पतियों में तनाव की स्थिति ज्यादा उत्पन्न होगी जिनके पति नौकरी या व्यवसाय के लिए घर से बाहर रहते हैं। अब हम उन पेशों की विवेचना करेंगे जो कि तनाव को प्रोत्साहित करते हैं।

(i) अस्थायी व्यवसाय (Unstable occupations)—इस प्रकार के पेशे जिनकी प्रकृति अस्थायी होती है ऐसे पेशों को करने वाले व्यक्तियों को कुछ समय के बाद ही दूसरे प्रकार के व्यवसाय या पेशों से अपने को फिर से सामंजस्य करना पड़ता है। क्योंकि बीच-बीच में नौकरी छूटती रहती है, छुट्टी लेने से बेतन कट जाता है। इस प्रकार की बातें परिवार में शान्ति के नहीं बल्कि तनाव और संघर्ष के बीज बोती हैं। क्योंकि जो परिवार में कमाने वाला सदस्य है वह नौकरी के अस्थायी होने के कारण न खुद ही आर्थिक सुरक्षा महसूस करता है और न ही वह भावना वह अपने परिवार के सदस्यों में उत्पन्न कर पाता है। आर्थिक सुरक्षा के न मिलने के कारण परिवार में आये दिन अशान्ति व तनाव की स्थिति रहने लगती है।

(ii) व्यवसाय का अरुचिकर होना (Occupational misfit):—व्यक्ति को जब अपने मन के अनुकूल कार्य नहीं मिलता है तो वह कार्य तो करता है पर मन लगाकर नहीं। अरुचिकर व्यवसाय में वह मन जमा नहीं पाता, उसका मन उलझा-उलझा रहता है। अधिक दिन तक इसी प्रकार की यदि परिस्थिति रहती है तो उसमें ऐसे उद्दिग्नता पूर्ण भाव पैदा होने लगते हैं जो परिवार के लिए बहुत ही घातक मिड होते हैं। इस प्रकार की बातें परिवार में सामंजस्य स्थापित करने में बाधक के रूप में सामने पाती हैं। उस समय उसके आदर्शों और कार्यों में संघर्ष होता है जो पारिवारिक विघटन का कारण बन जाता है। उस समय उसके दिमाग में यही आता है कि यदि बीबी-बच्चों का चक्कर न होता तो मनचाही नौकरी ढूँढ लेता। इस प्रकार के विचार जैसे ही मन में उठते हैं शादी एक अभिशाप मानूँ पड़ती है।

(iii) कुछ व्यवसायों की अदभुत विशेषतायें (Peculiar features of given occupations):—कुछ व्यवसाय व्यक्ति के मन के होते हुए भी परिवार में



तनाव पैदा कर देते हैं। यह विशेषता कुछ व्यवसायों की होती है। व्यवसायिक समूहों में यौन सम्पर्कों की अधिक सम्भावना रहती है। शहर में तलाक दर अधिक है अपेक्षाकृत गाँवों के। इसका कारण यही है कि शहर के स्त्री व पुरुष सामाजिक जन समूहों में एक दूसरे से मिलते हैं। इसके अलावा शहर के व्यक्तियों को तलाक के कायदे व कानून के बारे में पूर्ण ज्ञान होता है। इस कारण भी तलाक की दर शहर में अधिक होती है। उदाहरणार्थ चिकित्सकों व वकीलों के व्यवसाय ही इस प्रकार के हैं जिनमें विपरीत लिंग के लोगों के सम्पर्क में आने का अधिक अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार के सम्पर्क परिवार के तनाव व विघटन की स्थिति को उत्पन्न करते हैं।

### सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि का अन्तर

(Differences in Cultural Background)

पति-पत्नी यदि पूर्ण रूप से शिक्षित हैं और उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अन्तर है तो उस समय तक कोई भी गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक कि पति व पत्नी दोनों के विचारों में समानता पाई जाती है। वास्तविकता तो यह है कि चाहे कोई कितना ही शिक्षित क्यों न हो सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि के अन्तर के कारण कुछ न कुछ विचारों में असमानता अवश्य पाई जाती है। यही विचारों की विभिन्नता परिवार में विषमता की स्थिति को जन्म देती है। उदाहरण के लिए यदि कोई सुन्दर फ्रांसीसी लड़की किसी मैनिक के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर विवाह कर लेती है बिना यह सोचे कि हम दोनों की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि में जमीन आसमान का अन्तर है। कुछ दिन तो दोनों का वैवाहिक जीवन बहुत ही सन्तोषपूर्ण व सुख से बीतता है पर कुछ समय के बाद ही दोनों के विचारों में अन्तर स्पष्ट होने लगता है। ये विचारों का अन्तर पति और पत्नी के जीवन में तनावपूर्ण परिस्थिति को उत्पन्न कर देता है, जिससे वैवाहिक जीवन दुःखमय हो जाता है।

### पद

(Status)

समाज का प्रत्येक सदस्य अपने जीवन में यश या प्रतिष्ठा को प्राप्त करने का इच्छुक होता है। पति अपने व्यवसाय में यश प्राप्त करना चाहता है, पत्नी चाहती है कि समाज उसे आदर दे या समाज में उसकी व्यक्तिगत-विशेषता या पति के पद के कारण एक-अच्छी स्थिति हो। पर कभी-कभी इसका प्रभाव विपरीत दिशा में भी पड़ता है। उदाहरणार्थ पत्नी को इज्जत, प्रतिष्ठा व पद देने के लिए पति इतना व्यस्त हो जाता है कि वह अपने बीबी व बच्चों के लिए अजनबी सा बन जाता है। वह केवल पत्नी की प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा को ही सर्वोपरि मान कर शेष सभी इच्छाओं की ओर ध्यान नहीं दे पाता या ये कहिए कि पत्नी की शेष सभी इच्छाओं को पूरा करने में अपने को असमर्थ पाता है। यहीं से परिवार में विषमता उत्पन्न हो जाती है। वही पत्नी, जिसको प्रतिष्ठा व आदर देने के लिए वह अपने



स्थापित करने का विनम्र प्रयत्न नहीं करती और इसके बाद वे स्त्रियाँ यह कहती हुई अपने भाग्य को काँसती हैं कि हमसे तो मजदूर की पत्नी ज्यादा भार-भार-भार है जिसका पति अपने बीबी-बच्चों के दुख-सुख में तो शामिल रहता है। हम जैसे श्रीमंती में वे विवाह निश्चय अधिक सुधी हैं।

### आय का अन्तर

#### (Difference in Age)

यदि पति और पत्नी की आयु में अधिक अन्तर होता है तो यह सानी हुई बात है कि दोनों के मनोभाव व रुचियों में अबदा ही अन्तर होगा। डा० हार्ट और मिस शिल्ड्स (Dr. Hart and Miss Shields) के विवाह के अध्ययन से यह पता चलता है कि विवाह उस समय के अधिक सकल हुए हैं जब पति व पत्नी दोनों ही वयस्क हों। यदि पत्नी छोटी उम्र की है तो उसका पति उसे धोखा दे सकता है या उसके साथ बुरा व्यवहार कर सकता है। उन लोगों का कहना है कि विवाह को सफल उम्र २४ वर्ष और २६ वर्ष की है। अर्थात् पत्नी २४ वर्ष की हो और पति २६ वर्ष का हो। कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि ऐसे विवाह अधिक असफल रहे हैं जो २० वर्ष से कम आयु के हुए हैं क्योंकि यह उम्र ऐसी है जब पति व पत्नी दोनों ही जीवन के उत्तरदायित्व को सम्भालने में असमर्थ होते हैं। दोनों में ही बचपन की अधिकता रहती है और प्रौढ़ता की कमी। उसी बचपन में आवर कभी-कभी पति व पत्नी दोनों पक्षों में से एक पक्ष से उस प्रकार की गलती हो जाती है जो कि परिवार में तनाव का कारण बन जाती है। चाहे इस तनावपूर्ण स्थिति को लाने का कार्य विरुद्ध ही बचपन व अनजाने में ही क्यों न हुआ हो। इसलिए इन सब बातों व परिस्थितियों से बचने के लिए यही आवश्यक होगा कि विवाह तभी हो जब पति व पत्नी के हृदय में लड़का व लड़की वयस्क हो जाय और जीवन के उत्तरदायित्व को भली प्रकार से चला ले।

### बुरा स्वास्थ्य

#### (Ill Health)

कभी-कभी व्यक्ति इतना अधिक बीमार रहने लगता है कि महीने बीत जाते हैं पर बिस्तर उसका नहीं छूट पाता। बीमारी का बहुत ही बुरा प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है। व्यक्ति बहुत ही दुर्बल और कमजोर हो जाता है। उनका ही नहीं उसके बीमारी पड़ने के कारण परिवार का खर्चा बढ़ जाता है और आमदनी कम हो जाती है। क्योंकि निश्चित खर्चों में उसकी दवा व फल का खर्चा और जुड़ जाता है। फलतः खर्चों की अधिकता, पँजी की कमी परिवार में भगड़े का जन्म देती है। मरीज बात-बात पर चिड़चिड़ा उठता है। बीमारी के कारण उधर परिवार के सदस्य भी जरा-जरा सी बात पर झगड़ पड़ते हैं। गरीबी के कारण परिवार में खूब तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बुरा स्वास्थ्य केवल शारीरिक शक्ति में व्यक्ति को ही कमजोर नहीं करता बल्कि व्यक्ति की आयु को भी प्रभावित करता है। परिवार में



### माता पिता और सन्तान के सम्बन्ध (Parent-child relationship)

माता-पिता तथा उसकी सन्तान में बहुत अधिक सम्बन्ध पाया जाता है। यदि विवाह के बाद पत्नी बच्चे को जन्म देने में असफल रहती है तो इस प्रकार का विवाह अधूरा विवाह या सफल विवाह नहीं माना जाता है। कभी-कभी तो व्यक्ति सन्तान के लिए दूसरा विवाह करते हैं। कभी-कभी बच्चे न होने के कारण परिवार में तनाव व संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत ऐसा भी देखा गया है कि बच्चे स्वयं संघर्ष व तनाव का कारण बने हैं, क्योंकि बच्चों की शिक्षा, ट्रेनिंग, पेशा, सामाजिक कार्य आदि को लेकर पति-पत्नी में मन मुटाव हो जाता है। कारण कि दोनों के विचार एक से नहीं बल्कि अलग-अलग होते हैं। पति को पत्नी से इस बात की हमेशा शिकायत रहती है कि जब से बच्चे हो गये हैं उसको उतना प्यार नहीं मिलता जितना पहले मिलता था। वह बच्चों को अधिक प्यार करती है। इसके विपक्ष में पत्नी को पति से इस बात की शिकायत रहती है कि वह पुत्री को अधिक स्नेह करता है, उसी का पक्ष लेकर पुत्रों को अक्सर डाँट पड़ जाती है। माँ को यह सहन नहीं होता क्योंकि वह पुत्रों को अधिक प्यार करती है। अर्थात् सन्तानों को लेकर अक्सर परिवार में लड़ाई-भगड़े व संघर्ष होते रहते हैं। असली संघर्ष सन्तानों की उचित देख-भाल के ढंग के सम्बन्ध में होता है। योरूप में यदि पिता दुराचारी, शराबी व व्यभिचारी है, तो पत्नी अपनी सन्तानों को उस कुसंग से बचाने के लिए पति को तलाक तक दे देती है और पूरे बच्चों का भार अकेले दम उठाती है।

### सास ससुर का हस्तक्षेप (Interference of in-laws)

प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चे को सुखी देखना चाहता है इसलिए उसको सुखी रखने के लिए हर प्रकार के कार्य वह करता है। माता-पिता अपने जीवन के सफल-अनुभवों के बारे में अपने बच्चों को बता कर उनके जीवन को अधिक से अधिक सुखी करना चाहता है। यहाँ तक कि अपने वैवाहिक भगड़ों तक में वे हस्तक्षेप करते हैं जो कि उनको नहीं करना चाहिए। वे अपने बच्चों की गल्ती पर ध्यान नहीं देते या ये कहिये कि अपने बच्चों की गलतियाँ उन्हें दिखाई नहीं पड़तीं। पर वह व दामाद की अक्सर निन्दा करते रहते हैं। और साथ ही यह भी कहते हैं कि उनके लड़के के साथ वह और लड़की के साथ दामाद का व्यवहार अच्छा नहीं है या दुर्यवहार किया जा रहा है। सासों का हमेशा इस बात का रोना रहता है कि उनकी वह न तो काम करना जानती है और न पैसा बचा सकती है और न ही अपने बच्चों की देख-रेख उचित ढंग से करती है। बहुत ही असहयोगी है। किसी से बात ठीक से नहीं करती। ये सब वह की बुराईयाँ उसी घर में दिखाई पड़ती हैं जिस घर में सास व ससुर उपस्थित रहते हैं और यही सब बातें भगड़े का कारण बनती है। सास अपने लड़के की गल्ती होने पर भी अपने लड़के का ही पक्ष लेती है।



ही समझा बुझा कर करवाया है। उनका लड़का तो इतना सीधे-साधा व भोला-भाला है कि इस प्रकार के गलत कार्यों को वह नहीं कर सकता। जब से वह आ गई है उसने हमारे लड़के को खराब कर दिया या बर्बाद कर दिया है। बहुत सी मातायें यह चाहती हैं कि शादी के बाद भी लड़का उनके साथ उनके ही समय रहे जितना विवाह से पहले रहता था। अक्सर पुत्र-प्रेम और उनके सुख की इच्छा सास-बहूओं में ईर्ष्या के रूप में प्रकट हो कर देती है और नाम वह में तनाव उत्पन्न हो जाता है। इन सास-बहू के झगड़ों से बचने के लिए अनेक आदिवासी समाजों में 'सास-ससुर सम्बन्धिक निषेध (Parent-in-law taboo) पाये जाते हैं। इस निषेध के अनुसार सास और ससुर अपने दामाद से न मिल सकते हैं और न ही उनका नाम ले सकते हैं। इन प्रकार के निषेध से यह लाभ होता है कि जो सास और दामाद के कारण परिवार में तनाव उत्पन्न होता है या हो सकता है वह नहीं हो पायेगा।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि परिवारिक तनाव के अनेक प्राथमिक तथा द्वितीयक कारण हैं। ये कारक वे शक्तियाँ हैं जो कि पारिवारिक जीवन की स्वस्थ गति को रोक कर उसमें इस प्रकार गड़बड़ियाँ उत्पन्न कर देती हैं। जिसके फलस्वरूप पारिवारिक जीवन असन्तुलित हो जाता है और पति-पत्नी तथा परिवार के अन्य सदस्यों का सम्बन्ध एक तनावपूर्ण स्थिति से गुजरता है। यही तनाव बढ़कर या उग्र रूप धारण करके पारिवारिक विघटन के रूप में प्रकट हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि वही कारण जोकि पारिवारिक तनाव को उत्पन्न करते हैं। पारिवारिक विघटन के भी कारण है अतः स्मरण रहे कि पारिवारिक विघटनों की विवेचना करते समय पारिवारिक तनाव के उपरोक्त कारणों का भी उल्लेख अति आवश्यक है।



## पारिवारिक-विघटन (Family Disorganization)

प्रीति को घर छोड़ना पड़ा—बाध्य होकर ही छोड़ना पड़ा। बहुत कहने सुनने पर भी माता-पिता राजी नहीं हुए प्रियतोप से प्रीति की शादी कर देने को। उनका अपना कहना यह है कि उनके वंश में कमी अन्तर्जातीय विवाह नहीं हुआ है इसलिए ब्राह्मण होकर वैश्य के लड़के के साथ लड़की का विवाह वे नहीं कर सकते चाहें लड़का कितना ही धनवान और पढ़ा लिखा क्यों न हो। प्रीति के चाचा ने समझाया कि आज जमाना बदल गया है, आज अन्तर्जातीय विवाह कोई दोष या अपराध नहीं है। फिर जब प्रीति और प्रियतोप दोनों ही एक दूसरे को चाहते हैं तो माता-पिता को उसमें बाधक बनना नहीं चाहिए। इस पर प्रीति के माता-पिता अटल रहे अपनी जिद पर। स्पष्ट कह दिया है कि अगर प्रीति को प्रियतोप से ही विवाह करना है तो उसे घर छोड़ना पड़ेगा सदा के लिये। बड़े मां बाप ने बहुत-कुछ सहन किया है, यह भी कर लेंगे। बत्तीस साल का जवान लड़का ट्रेन दुर्घटना में मारा गया, यह सहन किया है। मां बाप ने चार वर्ष पहले जिसकी शादी करके लाये थे वह बड़ी बहू विधवा हो गयी, वह भी सहन किया था। स्नेहवश ही उसे पढ़ने-लिखने भेजा गया था। पर पढ़ते-पढ़ते ही एक दिन घर लौट कर नहीं आयी—पत्र द्वारा सूचित किया कि समुद्र के घर पर अच्छा नहीं लग रहा है, मायके जा रही हैं। उस क्षति को भी चुपचाप सहन किया था प्रीति के बड़े मां-बाप ने। उसकी क्षतिपूर्ति के हेतु सभले लड़के की शादी की थी धनी घर की पढ़ी-लिखी लड़की से। पर कुछ दिन में ही सभली बहू के रंग खुलने लगे। दिन भर उसका गुजरना था अपने ही कमरे में, नाटक, उपन्यास तथा पत्रिकाओं को पढ़ने में। जो कुछ समय बाकी बचता था वह भी खर्च हो जाता था रोसाक बदलने तथा 'मैक-अप' करने में। नौकर को बात-बात में डांटती थी। साम-नन्द का पकाया हुआ खाना उसे अच्छा नहीं लगता था। इसीलिए रात का खाना अकसर वह होटल में ही खाती थी। पार्टी पिकनिक अकेले ही जाती थी। पति को साथ ले जाना बोझ-सा लगता था, क्योंकि पति बहुत पुराने 'टाइप' के थे। पहले छिप-छिप कर फिर खुले तौर पर संघर्ष आरम्भ हुआ, पति से, मास-मसुर और नन्द से। अन्त में वह भी एक दिन चली गयी अपने पिता के घर और वहां से विवाह-विच्छेद के लिये प्रार्थना-पत्र पेश किया स्थानीय अदालत में। प्रार्थना पत्र में लगाये गये इल्जामों को, सभी दोषों को पति ने अदालत के सामने स्वीकार किया। विवाह-विच्छेद हो गया। एक उदासी लिए मँझला लड़का घर लौट



संतुलन बिगड़ गया है। उस आघात को भी माना-गिना ने सहन किया है चुपचाप। आज प्रीति के चले जाने पर भी वे चुपचाप ही हैं। हरे-भरे एक परिवार को टूटना देख कर भी वे चुप हैं, असहाय हैं। उनके लिये कुल मर्यादा बड़ी है, कुल-सन्मान नहीं। इसी कारण संघर्ष है और इसी कारण विघटन भी।

यह पारिवारिक विघटन है। यह अध्याय इसी के विषय में है।

### आधुनिक समाज व पारिवारिक विघटन

(Modren Society and Family Disorganisation)

आधुनिक सभ्यता का एक स्वाभाविक परिणाम पारिवारिक विघटन है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आधुनिक सभ्यता के फलस्वरूप सामाजिक ढाँचे, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं, विश्वासों, रहन-सहन, ज्ञान-प्रवृत्तियों, संश्लेष में, जीवन के प्रत्येक पहलू में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है जिसके कारण एक नवीन सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण का निर्माण हुआ है। अतः स्पष्ट है कि आधुनिक युग में परिवर्तन मानव जीवन के सभी पक्षों में छूटा हुआ है। परिवार उसी मानव जीवन या समाज की एक मौलिक व आधारभूत इकाई है। जब आधुनिक सभ्यता के फलस्वरूप मानव जीवन या समाज का प्रत्येक अंग बदल गया है या बदल रहा है तो यह कैसे सम्भव है कि उसी समाज का एक मौलिक व आधारभूत अंग परिवार अपरिवर्तित रह जाये। इसीलिये परिवार में भी परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। आधुनिक सभ्यता के प्रभावों के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण या परिस्थितियों के साथ परिवार अपनी अनुकूलन करने का प्रयत्न कर रहा है। पारिवारिक विघटन उसी प्रयत्न का एक असफल परन्तु स्वाभाविक पक्ष है। स्वाभाविक उस अर्थ में कि आधुनिक समय में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप जो बिल्कुल नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं उन सब से एकदम अनुकूलन कर लेना परिवार तो क्या किसी के लिये भी सम्भव नहीं है। स्वभावतः ही कुछ न कुछ विघटन अवश्य ही होगा। इस विघटन को समझने से पहले पारिवारिक विघटन के अर्थ को समझ लेना उचित होगा।

### पारिवारिक विघटन का अर्थ

(Meaning of Family Disorganisation)

परिवार विघटन पारिवारिक संगठन की विपरीत अवस्था या दशा है। पारिवारिक संगठन से हम आमतौर से यह समझते हैं कि एक परिवार में पति-पत्नी, बच्चों तथा अन्य सदस्यों में आपस में प्रेम, सहयोग तथा हितों व उद्देश्यों की एकता है जिसके कारण वह परिवार अपने सभी कार्यों को भली-भाँति करने में और पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने में सफल होता है। जब परिवार की अवस्था या दशा इनके विपरीत होती है तभी उसे पारिवारिक विघटन कहते हैं अर्थात् पारिवारिक विघटन वह अवस्था है जिसमें परिवार के सदस्यों में हितों उद्देश्यों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं की एकता के अभाव से उनमें प्रेम, सहयोगिता तथा आत्म-त्याग की भावनाएँ नहीं हैं जिससे कारण वह परिवार अपने समस्त कार्यों को करने में



असफल है और पारिवारिक जीवन सुखी नहीं है। श्री मार्टिन न्यूमेयर (Martin Neumeier) ने लिखा है, "विस्तृत अर्थ में पारिवारिक विघटन का अर्थ एकमत्य और निष्ठा का भंग होना पहले के सम्बन्धों का टूट जाना, पारिवारिक चेतना का नाश तथा उदासीनता का विकास है।"<sup>1</sup> श्री न्यूमेयर ने आगे और लिखा है कि संकुचित अर्थ में पारिवारिक विघटन उस प्रक्रिया का बोध करवाना है जिसका अन्त एक टूटे परिवार (broken home) में होता है। जब वैवाहिक सम्बन्ध पृथक् हो जाने, छोड़ देने या प्रिय-हृदय-विच्छेद के कारण विचलित व विच्छिन्न हो गया है या मृत्यु के कारण समाप्त हो गया है तो उस अवस्था में परिवार टूट जाता है, यद्यपि बचे-खुचे परिवार के सदस्य तब भी एक घर बनाये रखते हैं।<sup>2</sup>

सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Illiot and Merrill) के अनुसार विस्तृत अर्थ में, पारिवारिक विघटन को विभिन्न प्रकारों से परिवार विघटन को विभिन्न प्रकारों के परिवार के किसी में किसी भी प्रकार के प्रकायात्मक असन्तुलन के रूप में सोचा जा सकता है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन के अन्तर्गत केवल पति और पत्नी के बीच पाये जाने वाले तनावों का ही नहीं, अपितु माता-पिता व बच्चों के बीच पाये जाने वाले तनावों को भी सम्मिलित किया जा सकता है।<sup>3</sup>

### पारिवारिक विघटन की प्रकृति

#### (The Nature of family Disorganization)

एक परिवार विवाह, रक्त सम्बन्ध या गोद लेने के बन्धनों से बंधा हुआ पति-पत्नी, माता-पिता, लड़का-लड़की, भाई-बहन आदि का एक घनिष्ठ समूह होता है। इस समूह के सदस्य पारिवारिक स्वार्थ कर्तव्य-बोध के आधार पर समान होने की चेतनता या भावना रखते हैं, तभी पारिवारिक व्यवस्था या संगठन बना रहता है। स्वस्थ रूप में परिवार एक संगठन ही है। जिसमें सदस्यों में उद्देश्यों की व्यक्तिगत आकांक्षाओं (personal ambitions) तथा अभिरुचियों (interests) की एकता होती है। इसी एकता के कारण सम्पूर्ण परिवार के लिये यह सम्भव होता है। कि वह उन प्राथमिक व द्वैतीयक कार्यों को कर सके जिसके लिए समाज में उसका महत्व व स्थान है। परिवार जब इन कार्यों को ठीक से करता है तभी उसके सदस्यों के सामान्य उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति सम्भव होती है। यही पारिवारिक

1. "In the broad sense, family disorganization means the breakdown of consensus and loyalty, often the disruption of previous existing relationship or the loss of family consciousness and the development of detachment." Martin H. Neumeier, D. Van Nostrand Co., New York, 1953, p. 189.

2. *Ibid.*, p. 189.

3. "In the broadest sense, family disorganization may be thought to include any sort of nonharmonious functioning within any of the several types of family. Family disorganization might thus be presumed to comprise not only the tensions between husband and wife but those arising between children and parents as well." M. A. Elliott and F. E. Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros., New York, 1950, p. 332.



संगठन की स्थिति तथा परिवार की सार्थकता है। एक संगठित परिवार में लोग परिवार सम्बन्धित सामान्य विषयों को (जैसे पारिवारिक बजट, बच्चों की देख-भाल, उनकी शिक्षा, विवाह, मनोरंजन के साधन, मकान, वस्त्र, सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि) को इस समान दृष्टिकोण से देखते हैं और विचारते हैं तथा सामान्य प्रयत्नों द्वारा उनका एक उचित हल ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। इसीलिए परिवार से सम्बन्धित प्रत्येक काम में वे परस्पर सहयोग प्रदान करते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे के लिए अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की बलि चढ़ाने की भी तैयार रहते हैं, जब पारिवारिक जीवन में यह अवस्था नहीं होती है तभी पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। उस अवस्था में प्रत्येक सदस्य परिवार से सम्बन्धित विषयों को अपने-अपने ढंग से सोचता है, उन विषयों को लेकर एक दूसरे के साथ मन-विरोध की मूठि करता है, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिये पारिवारिक सामान्य स्वार्थों की अवहेलना करता है तथा अपनी दया-दुस्मय परिवार से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करने को तैयार रहता है या वास्तव में सम्पूण-विच्छेद कर लेता है। यह स्थिति पारिवारिक विघटन की ही स्थिति है। पारिवारिक विघटन पारिवारिक तनाव (tension) का ही उग्र रूप है। तनाव में से ही विघटन होता है। यह तनाव केवल पति-पत्नी के बीच ही नहीं अतु परिवार के अन्य सदस्यों के बीच भी हो सकता है। उदाहरणार्थ माता-पिता तथा बच्चों के बीच यदि तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उसमें ऐसी गम्भीर समस्याओं का जन्म हो सकता है। जिसके कारण सम्पूर्ण पारिवारिक संगठन को ही आघात पहुँचे। उदाहरणार्थ, हिन्दू परिवार का एक लड़का माता-पिता के उच्छा के विपरीत एक मुसलमान या ईसाई युवती से विवाह करके घर ला सकता है। उसके घर में आते ही सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन का अब तक जो स्वभाव गति थी वह रुक सकती है और सांस्कृतिक भिन्नता के आधार पर परिवार के सदस्यों तथा बहू के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। यहाँ तक कि अन्त में बहू प्रात्म-हत्या कर सकती है, लड़के को आजीवन कागवास हो सकता है, उसी मीक में माँ का देहान्त हो सकता है और इस प्रकार सम्पूर्ण परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है।

वास्तव में परिवार कुछ आन्तरिक सम्बन्धों विशेषकर पति-पत्नी तथा माता-पिता व बच्चों के बीच पाए जाने वाले पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर ही एक सूत्र में बंधा रहता तथा कार्य करता है। जब यह सूत्र ही टूट ही जाता है तो परिवार भी बिखर जाता है। जब यह बिखराव बहुत विस्तृत होता है तभी सामाजिक विघटन की स्थिति भी उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से पारिवारिक विघटन वास्तव में सामाजिक विघटन का ही सूचक है।

पारिवारिक विघटन में यह आवश्यक नहीं है कि उसकी बाहरी अभिव्यक्ति पृथक्करण, विवाह विच्छेद, मृत्यु, मारपीट, भगड़ा आदि के ही रूप में हो। यह भी हो सकता है कि इनमें से कुछ भी नहीं हुआ है पर पारिवारिक विघटन की स्थिति हो। ऐसा इसलिए सम्भव है कि मतों, आदर्शों, मूल्यों आदि में आन्तरिक विरोध,



के कारण भी पारिवारिक विघटन सम्भव हो सकता है। बाहरी तौर पर सभी सदस्य एक साथ रह रहे हैं। खा-पी रहे हैं। और बोल-चाल रहे हैं। पर आन्तरिक रूप में एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। किसी के सुख-दुःख में कोई हिस्सेदार नहीं है और न ही सामान्य हिंसा की रक्षा की बात सोचना है। उसी प्रकार हो सकता है, कि माता-पिता के उच्छा के विरुद्ध अन्तर्जातीय विवाह कर लेने के बाद भी लड़के को लोक-निन्दा की डर से माता-पिता घर से अलग न करें, पर दोनों ही पक्ष एक ही घर में अजनबी की भाँति रहे। जीवन असहनीय होते हुए हैं भी एक पत्नी हो सकता है कि धर्म या समाज के डर से पति से विवाह-विक्षेप की माँग न करे, पर उनमें पति-पत्नी के आन्तरिक सम्बन्धों और सहयोग का निरन्तर अभाव रहेगा। ये सभी पारिवारिक विघटन के ही सूचक हैं।

### पारिवारिक विघटन एक प्रक्रिया के रूप में

(Family Disorganization as a Process)

पारिवारिक विघटन एक प्रक्रिया है, नकि कोई स्थिर या अन्तिम अवस्था। पारिवारिक विघटन एक प्रक्रिया इस अर्थ में है कि पारिवारिक विघटन की कुछ न कुछ स्थिति प्रत्येक पारिवारिक जीवन में सदैव ही वर्ती रहती है। कोई भी परिवार ऐसा नहीं होता है जोकि पूर्णतया संगठित या पूर्णतया विगठित हो। परिवार कुछ व्यक्तियों का ही संगठन होता है और यह आशा नहीं की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति के विचार, भावनायें, आदर्श, मत आदि सम्पूर्ण रूप से समान ही होंगे। ऐसी स्थिति कभी नहीं पायी जा सकती है। इसलिये थोड़ा बहुत संघर्ष तो प्रत्येक परिवार में, थोड़ा-बहुत तनाव या मत-विरोध प्रत्येक पति-पत्नी में अवश्य हो उत्पन्न हो जाता है। इस कारण पारिवारिक विघटन “कोई विशेष” अवस्था नहीं है। यह तो पारिवारिक संगठन की ही एक “स्वाभाविक” (normal) प्रक्रिया है। ऐसा नहीं होना है कि पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया किसी विशेष काल या समाज में ही पायी जाती हो और अन्तः काल या समाज या पारिवारिक जीवन में इसका बिलकुल अभाव हो। यह तो प्रत्येक समाज व परिवार में हर समय किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहती है। हाँ, यह हो सकता है कि किसी समाज विशेष या समय विशेष में पारिवारिक विघटन की यह प्रक्रिया अधिक स्पष्ट तथा विनाश-कारी हो।

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक स्वाभाविक पारिवारिक जीवन में परिवार को विघटित करने वाले और परिवार को संगठित करने वाले दोनों ही प्रकार के तत्व वा शक्तियाँ सदैव क्रियाशील रहती हैं। पर जब विघटित करने वाली शक्तियाँ संगठित करने वाले तत्वों को दबा लेती हैं और परिवार के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक बनती हैं तो उस स्थिति को हम पारिवारिक विघटन कहते हैं।

### पारिवारिक विघटन के कारण

(Causes of Family Disorganization)

परिवार का विघटन केवल किसी एक कारण से नहीं होता है बल्कि उसके



अनेकों कारण होने है। पारिवारिक विघटन मनोभाव के संघर्ष के कारण होता है।

पारिवारिक विघटन के निम्नलिखित कारण है—

### सामाजिक मूल्य और पारिवारिक विघटन

(Social Values and Family Disorganisation)

समाज के अपने मूल्य अलग अलग होते हैं। कुछ समाज या समुदाय तलाक की दुरा नहीं मानते। तलाक का विचार तक नहीं किया जाता। हमारे भारत के परिवार स्थायी होते हैं। भारत में परिवार भंग करने का विचार तक नहीं किया जाता है। पति-पत्नी के मनोभाव में यदि एकता नहीं भी होती है तब भी वे सामाजिक दबाव के कारण एक साथ रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में पारिवारिक जीवन का उद्देश्य प्राप्त नहीं होता है। केवल पति-पत्नी की इच्छाओं और अपनी पूर्णता में सामंजस्य होने पर ही सफल पारिवारिक जीवन प्राप्त किया जा सकता है। पति अपनी स्त्री को सुखी रखना चाहता है। पारिवारिक विघटन न होने देने के कारण दोनों का सामंजस्य करना चाहिये। जिस प्रकार का दिखावा सामाजिक विघटन के बीच होता है उसी प्रकार अस्तित्व सनातनी युग का पारिवारिक जीवन नई परिस्थितियों में लड़ हो जाता है। परिवार में विघटन तब नहीं होगा जबकि वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल वह अपने को संगठित कर ले।

मित्रों को चाहिए कि यदि वह परिवार की आर्थिक सहायता कर रही है, तो परिवार में उनकी स्थिति में किसी भी प्रकार का अस्तर नहीं आना चाहिए। आर्थिक प्रत्येक स्त्री घर में रहकर काम करता पसन्द नहीं करती बल्कि वह बाहरी दुनिया में काम करना चाहती है या बाहरी दुनिया में सम्पर्क स्थापित करना चाहती है। इन्हीं सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हो जाने के कारण परिवारों में विघटन उत्पन्न होता है।

### सामाजिक ढाँचा और पारिवारिक विघटन

(Social Structure and Family Disorganisation)

पारिवारिक विघटन तब ही होगा जब सामाजिक ढाँचे में कोई परिवर्तन होगा। विवाह के बाद लड़की-लड़के को एक नया सामाजिक पद ग्रहण करना पड़ता है और पद के बदलने के साथ ही साथ उसके कार्यों में भी परिवर्तन हो जाता है। पद और कार्यों के बदलने पर उन दोनों की जीवन की नई परिस्थितियों से सामना करना पड़ता है यदि इस पद व कार्य को पति-पत्नी के रूप में वह सुचारु रूप से नहीं चला पाते हैं तभी परिवार में विघटन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है क्योंकि परिवार के सदाय जिस प्रकार का व्यवहार अपनी बहु व लड़के से चाहते हैं यदि वैसा ही व्यवहार नहीं मिलता है तभी विचारों में संघर्ष उत्पन्न होता है। पुरुष के कार्यों में विशेष परिवर्तन नहीं आया है वह पहले भी आर्थिक कार्यों को करता था। परन्तु आधुनिक युग में पत्नी के कार्यों में विशेष परिवर्तन हो गया है। आज वह गृहस्थी का कार्य भी देखती है और गृहस्थी के बाहर आर्थिक कार्यों को



भी करती है। आज उसके व्यवहार का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। आज वह शिक्षा ग्रहण करती है, अधिक उत्पादन करती है। सन्तानों को भी जन्म देती है। इन कार्यों के अलावा भी वह पति की संगिनी, सलाहकार तथा बच्चों की आया व नर्स तथा प्रेमी की प्रेमिका और गृहस्थी की गृहस्वामिनी भी है। इन सब पदों को एक साथ निभाना बहुत ही कठिन है।

आधुनिक पत्नियों को अनेक कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) **कार्यों का आधिक्य**—आज स्त्री के सामने इतने अधिक कार्य हैं कि वह समस्त कार्यों को ठीक से नहीं कर पा रही है। आज विभिन्न व्यवसाय व वर्ग के लोग अपनी स्त्री से अनेक कार्यों के करने के लिये कहते हैं। निम्न वर्ग अपनी पत्नी से केवल माँ बनने व रोटी पकाने का कार्य कराना चाहता है। कालेज का प्रोफेसर अपनी पत्नी से उम्मीद यही रखता है कि वह पढ़ी-लिखी हो ताकि उसकी मदद कर सके। इसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्ग अपनी पत्नी से अपने वर्ग से सम्बन्धित कार्यों को करने की आशा करते हैं। यह एक स्त्री के लिये बहुत ही कठिन परिस्थिति है कि वर्ग की इच्छा के अनुसार कार्य कर सके।

(ii) **कार्यों में असन्तोष**—वर्तमान युग में स्त्रियाँ शिक्षा ट्रेनिंग आदि के कार्यों में तो निपुण होती जा रही हैं परन्तु घर-गृहस्थी के कार्य उन्हें अच्छे नहीं लगते। उसका कारण है कि कार्य करने के लिए उनके सामने अनेक क्षेत्र खुले हैं। इस कारण वह गृहणी और माँ के कार्य करने में असन्तोष अनुभव करती हैं।

(iii) **कार्यों में संघर्ष**—आज पति और पत्नी दोनों का कार्य-क्षेत्र एक ही है। संघर्ष उस समय होता है जबकि पत्नी किसी प्रकार का नया कार्य करना चाहती है। पति कभी भी यह नहीं चाहता कि किसी भी क्षेत्र में पत्नी उससे आगे बढ़ जाय चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो या कार्य क्षेत्र। पति यही चाहता है कि पत्नी का कार्य-क्षेत्र केवल चौका और बच्चों की देख-रेख करना है। इसलिये उसे परिवार की बात में राय देने का कोई भी अधिकार नहीं है। उसका कार्य क्षेत्र सीमित है। उसी सीमा के अन्दर ही उसे रहना चाहिये। जब पत्नी ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाती है तभी संघर्ष होता है और पारिवारिक विघटन की नींव पड़ती है।

### पारिवारिक विघटन के सामान्य कारण

#### (General Causes of Family Disorganization)

आधुनिक युग में सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ पर्याप्त रूप में बदल गई हैं और कुछ ऐसे कारक (factors) आज क्रियाशील हैं कि जिनके कारण आज का परिवार विघटित हो रहा है। उन कारणों की विवेचना हम निम्न ढंग से कर सकते हैं:—

#### आर्थिक कारण

#### (Economic Causes)

(१) **औद्योगीकरण (Industrialization)**—उद्योगवाद पारिवारिक जीवन



का विघटक है। औद्योगिक प्रगति के पहले प्रदेश परिवार आत्म-निर्भर हुआ करता था। परिवार के सदस्य साथ-साथ रहते और काम करते तथा सुखी जीवन बिताते थे, एक दूसरे के सुख-दुःख में समान भागीदार बनते थे। पर मशीनों के आविष्कार और नये नये उद्योगों के पतन के साथ-साथ परिवार की वह आत्म-निर्भरता धीरे-धीरे हलकी गयी। और परिवार के कादंशील सदस्य पर छोड़कर रोटी कमान के लिये दूर-दूर नगरों में जाकर बसने लगे। इससे परिवार की वह एकता खो जाती थी और परिवार का विघटन हुआ। जब एक व्यक्ति नौकरी करने के लिये अकेले नगर में जाकर बस जाता है तो उस पर परिवार का कोई नियन्त्रण नहीं होता और न ही बड़े-बड़ों के संरक्षण में संयुक्त परिवार में जो सेवा, त्याग, आत्मसमर्पण, सहायता आदि गुण परिवार के सदस्यों में सरलता से पतलते थे, वह अब नहीं पतर पाते हैं। इससे भी परिवार का विघटन होता है। साथ ही, औद्योगीकरण में युवक-युवनियों को साथ-साथ काम करने का अवसर मिला जिसके फलस्वरूप रोमांस का विस्तार होता है और रोमांटिक विवाह का अन्त रोमांटिक विवाह-विच्छेद हो है। उसी प्रकार औद्योगीकरण ने स्त्रियों को भी नौकरी के अवसर प्रदान करके उन्हें आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनाया। इससे अनेक स्त्रियाँ अपने पारिवारिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो गईं; परिवार की व्यवस्था बिगड़ी, बच्चों का पालन पोषण ठीक से नहीं हो सका तथा परिवार में व्यक्तिवारी आदर्श पनपे। इन सबका स्वाभाविक परिणाम परिवार का विघटन ही है। औद्योगीकरण ने नगरों में मकानों की समस्या को भी उत्पन्न किया जिसके कारण अनेक स्त्री-पुरुषों के लिये नगर में परिवार या घर बसाकर रहना सम्भव नहीं हुआ और वे होटल तथा मेस (mess) में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वभावतः ही नगर के प्रलोभनों जैसे शराब, बुगी संगत, वेस्टा आदि के पंजों में पैंस जाते हैं जिसका अत्यधिक बुरा प्रभाव पारिवारिक जीवन पर पड़ता है और परिवार विघटित होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उद्योगवाद पारिवारिक जीवन का विघटक है अर्थात् पारिवारिक जीवन को विघटित करने वाला है।

(१) स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic emancipation of women) — आज अनेक स्त्रियाँ घर के बाहर नौकरी करने जाती हैं। उनके इस बाह्य के जीवन तथा उसमें सम्बन्धित कर्तव्यों और उनके पारिवारिक कार्यों और कर्तव्यों के बीच प्रायः एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और पारिवारिक जीवन का संतुलन बिगड़ता है। वास्तव में स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जाने से वे प्रायः घर के उत्तरदायित्व से अपने को पूर्णतया मुक्त समझने लगती हैं और न ही घर के संगठन के लिये आवश्यक सहयोग ही प्रदान कर पाती हैं। विशेषकर जब विवाहित स्त्रियाँ दिन भर घर में बाहर रहकर नौकरी करती हैं तो उनका बहुत ही बुरा प्रभाव पति-पत्नी और माना-पुत्र के आन्तरिक व आपसी सम्बन्ध और सहयोग पर पड़ता है और पारिवारिक संगठन व व्यवस्था बिगड़ जाती है। माँ के घर से दूर हो जाना अपने ही परिवार के विघटन का कारण बनता है।



आया, तर्स, नौकर और नौकरानियों के द्वारा चलने वाला परिवार कितना संगठित होगा, इसे समझने की शायद जरूरत नहीं है। प्रोफेसर बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है कि "यदि माँ ताश खेलने या नौकरी करने या अन्य कोई भी काम करने के लिये सारा दिन घर में बाहर रहे तो घर का टूटना और बच्चों का बिगड़ना एक न टाला जा सकने वाला परिणाम होगा।"

(३) गरीबी (Poverty):—निर्धनता पारिवारिक संगठन या स्वस्थ व्यक्तिगत जीवन के लिये एक अभिशाप है। जिस परिवार में निर्धनता के कारण सदस्यों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती और उन्हें सदैव एक आर्थिक तनाव (Tension) की स्थिति में निवास करना पड़ता है, उस परिवार में सुख, शान्ति और संगठन की आशा करना खयाली पुलाव पकाने के समान ही है। वास्तव में निर्धनता के दबाव से उस परिवार के सदस्यों में ऐकमत्य, सहयोगिता तथा सद्भावना पनप ही नहीं पाती है। छोटे-छोटे आर्थिक मामलों को लेकर रोज नये-नये झगड़े व मन मुटाव उस परिवार के जीवन को विपमय बना देंगे। आज खाने को नहीं है, तो कल पहनने के लिये कपड़ों की कमी है और परसों बीमार पड़ने पर एक बूंद दवा भी नसीब नहीं होती। ये सब और कुछ भी हो पारिवारिक संगठन, सुख और शान्ति के लिये घातक अवश्य हैं।

### सामाजिक कारण (Social Causes)

(क) स्त्रियों की शिक्षा और राजनैतिक अधिकार (Education and Political rights for women)—आज प्रत्येक सभ्य समाज में स्त्रियों को अधिक से अधिक शिक्षित बना देने का प्रयत्न हो रहा है। साथ ही उनको भी पुरुषों के समान राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक अधिकार दिये जा रहे हैं। इसके फलस्वरूप जहाँ एक ओर स्त्रियों की स्थिति सुधरी है और उनके व्यक्तित्व का यथोचित विकास सम्भव हुआ है, वहाँ दूसरी ओर पारिवारिक संगठन व जीवन पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है। वास्तव में कुछ स्त्रियाँ यह नहीं जानती हैं कि बाहरी जीवन में इन अधिकारों को प्राप्त कर लेने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे अपने आन्तरिक जीवन या परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों को भूल जायें। इसी कारण ऐसी स्त्रियाँ अपने पति के लिये प्रेमिका के रूप में, बच्चों के लिये माता के रूप में, गृहस्थी के लिये गृहिणी के रूप में और समाज के लिये नारी के रूप में अपना अनुकूलन नहीं कर पाती हैं। अपने अधिकारों के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक जागरूक हो जाने से सहयोग करने तथा परिवार के लिये आवश्यकता पड़ने पर दुःख और कष्ट भेलने की भावना का लोप हो जाता है। इससे विवाह विच्छेद की दर बढ़ती है और परिवार का विघटन होता है।

(ख) नागरीकरण (Urbanization)—औद्योगिकीकरण के साथ-साथ नये नगरों का जन्म तथा पुराने नगरों का विकास होता जाता है। इससे नगरों की जनसंख्या बढ़ती है और मकानों की समस्या गम्भीर होती जाती है। बड़े-बड़े शहरों



में कितने ही लोग होटल, मेम या बॉडिंग में रहते हैं। ऐसे लोग स्वभावतः ही स्वस्थ पारिवारिक जीवन में अलग होते जाते हैं और नगरों के विभिन्न प्रभावों जैसे शराब, जुआ, बेइया आदि के पंजों में फँस जाते हैं। इन सबका प्रभाव पारिवारिक जीवन पर बहुत ही बुरा पड़ता है।

(ग) सामाजिक ढाँचे और मूल्यों में परिवर्तन (Change in social structure and values) :—आज के औद्योगिक युग में सामाजिक मूल्यों व ढाँचे में बहुत तेजी से वृद्धि हो रही है जिनका कि बुरा प्रभाव पारिवारिक संगठन पर पड़ा है। पहले सामाजिक मूल्यों को लीजिए। आज परिवार और विवाह के महत्व के सम्बन्ध में लोगों का मनोभाव बदल गया है। लोग इस सम्बन्ध में अधिक सचेत नहीं हैं कि विवाह और परिवार का सामूहिक या सामाजिक महत्व अत्यधिक है। लोग आज इन्हें अपने सुख और यौन-तृप्ति तक ही सीमित रखते हैं जिसके कारण कुछ भी अनबन होने या अपने स्वार्थ सिद्धि में थोड़ी भी बाधा पहुँचने पर वे विवाह विच्छेद की बात पहले सोचते हैं। इससे परिवार विघटित होता है। आज पुराने जमाने में प्रचलित यह मूल्य कि पुरुष स्त्रियों से सर्व-विषय में श्रेष्ठ है, बदल चुका है। इससे कभी-कभी पति-पत्नी में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अनेक स्त्रियाँ अपने समान अधिकार को प्राप्त करने के धुन में इतनी मस्त हो जाती हैं कि दूसरे के अधिकारों और अपने कर्तव्यों के बारे में बिलकुल ही भूल जाती हैं। इससे भी परिवार विघटित होता है। उसी प्रकार कुछ पतियों के मनोभाव व दृष्टिकोण आज भी १९वीं सदी जैसे बने हुए हैं। वे आज भी यह आशा करते हैं कि पत्नी घर की चार दिवारी के अन्दर बन्द रहकर पति की सेवा करने, बच्चों को पैदा करने और घर-गृहस्थी का सारा बोझ सम्भालने के काम में ही लगी रहेगी। पर हो सकता है कि पत्नी बदली हुई दशा और नये आदर्श व मूल्यों के अनुरूप जीवन बिताना चाहे। बस फिर तो पति-पत्नी में रोज ही गृह-युद्ध छिड़ता रहेगा और अन्त में एक दिन विवाह विच्छेद की नौबत आ जायेगी। इतना ही नहीं सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होने से एक परिवार में विभिन्न पीढ़ियों के व्यक्तियों में संघर्ष होने की सम्भावना होती है। आज भी ऐसे अनेक माता-पिता हैं जोकि अपना अनुकूलन बदली हुई दशाओं के अनुसार नहीं कर पाये हैं। वे यह आशा करते हैं कि विवाह के बाद वधू आकर उनकी खूब सेवा करेगी, पैर दबायेगी, खाना बनाकर खिलायेगी, घर के और सभी कामों को अपने ऊपर लाद लेगी, दूसरों से पर्दा करेगी, उनके सामने अपने पति से न तो मिलेगी और न ही बात करेगी इत्यादि। उसी प्रकार विवाह के बाद भी अपने लड़के से ये माता-पिता यह आशा करते हैं कि उनका लड़का पहले जैसा ही बना रहेगा, सारा समय उनके पास ही बैठा रहेगा, उनके सामने पत्नी के साथ न तो बात करेगा और न ही हंसी मजाक, उनकी आज्ञा के बिना पत्नी को घर से एक पैर भी बाहर नहीं ले जायेगा, सिनेमा भी जाना होगा तो पत्नी के साथ-साथ माता को भी ले जायेगा आदि। परन्तु उस बहू और लड़के के दृष्टिकोण से उपरोक्त कोई भी आशा उचित नहीं है। इसलिये उन आशाओं को वे तोड़ते रहेंगे और रोज नये



संघर्ष का कारण उत्पन्न होता रहेगा ।

उसी प्रकार सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन होने से भी पारिवारिक विघटन होता है। सामाजिक ढाँचे के अन्तर्गत सदस्यों के पद और कार्य भी सम्मिलित हैं। सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन का अर्थ होता है इन पदों और कार्यों में भी परिवर्तन पुरुष अब भी मुख्य रूप से धन को कमाने वाला तथा परिवार की देखरेख करने वाला है। परन्तु पत्नी के कार्यों और पदों (roles and status) में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। यह सच है कि वह अब भी गृहिणी और माँ का पाठ्य अदा करती है, पर इसके अलावा भी बहुत कुछ करती है जैसे, घर से बाहर नौकरी करने जाती है, स्कूल या कालेज में पढ़ती है, कम सत्तान उत्पन्न करती है, सभा-समिति के कार्यों को करती है, राजनीति में दिलचस्पी लेती है। इन कार्यों के अतिरिक्त उससे यह भी आशा की जाती है कि वह संगिनी, सलाहकार, व्यवहारिक नर्म, प्रेमिका और गृहस्वामिनी भी है। इन सभी पदों और कार्यों के अनुरूप अपने को ढालना कठिन होता है और पत्नी के जीवन में अनेक समस्याओं को जन्म देता है। इसी के फल-स्वरूप पारिवारिक विघटन होता है।

(घ) धर्म का महत्व घटना (Declining importance of religion)—आज वैज्ञानिक युग में धर्म का महत्व घट रहा है। पहले विवाह का एक धार्मिक आधार होता था जिसके कारण लोग विवाह-बन्धन को तोड़ने की बात बहुत कम सोचते थे। पर विवाह को केवल एक सामाजिक समझौते के रूप में माना है। इसलिये यह भी सोचा जाता है कि अपनी दुविधाटुवार इस समझौते को तोड़ा या जोड़ा जा सकता है।

(ङ) बुरे प्रभाव डालने वाले मनोरंजन (Unhealthy means of recreation):—पहले परिवार ही मनोरंजन का मुख्य साधन होता था पर अब मनोरंजनों का भी व्यापारीकरण हो गया है और सिनेमा, थियेटर, क्लब आदि से हमें मनोरंजन प्राप्त होता है। परन्तु आज इन सब साधनों को एक-एक व्यापार माना जाता है। इसीलिये इसके व्यापारियों को केवल अपने लाभ की ही चिन्ता रहती है और वे इन साधनों को इस भाँति प्रस्तुत करते हैं कि उसका अत्यधिक बुरा प्रभाव लोगों पर विशेषकर युवक-युवतियों पर पड़ता है। रोमांस को फँसाने में सिनेमा का योगदान सबसे अधिक है। इन सबका प्रभाव पारिवारिक संगठन पर बहुत बुरा पड़ता है।

(च) रोमांचक प्रेम (Romantic love)—पारिवारिक विघटन और विवाह-विक्षेप की दर में अधिक वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण रोमांटिक प्रेम को विवाह का प्रमुख आधार मान लेने की आधुनिक प्रवृत्ति है। आज के युवक-युवतियाँ यह समझते हैं कि रोमांस ही विवाह का प्रथम चरण और वास्तविक नींव है और उसके आधार पर विवाह करना व घर बसाने का तरीका ही आदर्श तरीका है। इस रोमांटिक आदर्श को पतपाने का श्रेय सिनेमाओं को प्रमुख रूप से है। सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है कि सिनेमा में युवक-



युवतियाँ देखने हैं कि सुपान्त हो रहा है, संघर्ष का समय है, नदी का निर्जन तट है, कोई युवक दूर से किसी युवती को तिहार रहा है; फिर एक समय दोनों एक-दूसरे के पास आते हैं और उनमें प्रेम हो जाता है; वे एक-दूसरे के प्रति सच्चा रहने की कसमें खाते हैं और विवाह करने का निश्चय करते हैं; उनके मार्ग में कहीं बाधाएँ आती हैं, वे या तो उन पर विजय प्राप्त करके विवाह-संघन में बंध जाते और सुनियो में मिल उठते हैं या बाधाएँ उन पर विजय पानी हैं और एक-दूसरे में प्रियुट कर एक-दूसरे की याद में मर जाते हैं। उसके बाद सिनेमा का नियम स्थापित हो जाता है पर रोमान का आदर्श व प्रभाव उस सिनेमा को देखने वाले युवा-पुरुषों के दिल में पर बसा जाता है। आज के समाज में रोमांटिक प्रेम करने के अनेक अवसर भी उन्हें मिल जाते हैं। आज युवक-युवनियों के आपस में स्नेह-व्यक्तता पूर्वक मिलने पर कोई टक्काबंद नहीं है, वे साथ-साथ मिल कारखाने, दफ्तर आदि में काम करते हैं, एक साथ कॉलेज या विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं तथा क्लब, सिनेमा, पार्टी आदि में मिलते रहते हैं। इन्हीं सब सुविधाओं के कारण रोमान के बीज अब वैवाहिक जीवन में हर रोज विप्लव उत्पन्न कर रहे हैं। आज के युवा-पुरुषों यह समझते हैं कि रोमांटिक प्रेम ही वैवाहिक जीवन में सब कुछ है। पर वास्तव में वे यह नहीं जानते हैं कि उनकी यह धारणा कितनी गलत है। विवाह जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये सहयोग, विश्वास, मैत्री भाव और प्रेम-भाव आवश्यक है, केवल रोमांचक प्रेम नहीं। सिनेमा या नाटक में अभिनेता और अभिनेत्री के रोमान को देखकर प्रफुल्लित हुआ जा सकता है। दो-दम दिन या सप्ताह गुलछरें उड़ाये जा सकते हैं या उसके आधार पर हवाई किला भी तैयार किया जा सकता है, पर वास्तविक जीवन में अनेक दुःख और सुख, रोग और भोग के बीच सन्तोषमय परिवार नहीं बसाया जा सकता है। क्योंकि वास्तविक जीवन के "नाटक" या "सिनेमा" में सुख और दुःख, विरह और मिलन, फूल और काँटे, स्वस्थता और बीमारी, बसन्त और पतझड़ सभी होते हैं और वास्तविक जीवन के उस नाटक को खेलने के लिये सहयोग, प्रेम, विश्वास, सहानुभूति और त्याग करने वाले साधारण व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, सिनेमा या नाटक के उन नायक-नायिकाओं की नहीं। रोमांटिक प्रेम पर विश्वास करने वाले मवातु-मर्दों को याद रखना चाहिए कि मनमोहिनी राजकुमारी या रूप की रानी और दिलदार राजा नहीं, साधारण नर-नारी ही वैवाहिक जीवन के वास्तविक अंग हूँ करते हैं। जिन प्रेमियों के पास प्रेम करने के सिवाय और कोई काम नहीं है, वे ईर्ष्या करने योग्य नहीं, बरन् दया के पात्र हैं। सर्वश्री बर्गेस और काटरेल (Burgess and Cottrell) के शब्दों में, "प्रेम और अकेला प्रेम, अन्त तक उन्हें अकेला ही छोड़ जाता है। (Love and love alone, leaves them alone at last.)"

प्रोफेसर बेबर (Baber) ने लिखा है कि रोमांटिक विवाह का अन्त रोमांटिक विवाह-विच्छेद में होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दाम्पत्य प्रेम (Conjugal love) और रोमांटिक प्रेम ये दोनों अलग-अलग हैं। रोमांटिक प्रेम पति-पत्नी के सम्बन्ध को भी रंगीन चरमे से देखकर, यह मान लेता है कि वैवाहिक



जीवन की लम्बी यात्रा केवल फूलों की सेज है, यह सोच लेता है कि हर रोज दिवाली और होली के आनन्द उपभोग करना सम्भव है और यह भूल जाता है कि रोमांटिक प्रेम के दौरान में होटल, रेस्टुरेन्ट, पार्टी, पिकनिक, सिनेमा आदि से ही जीवन सम्पूर्ण नहीं होता है। वास्तव में रोमांटिक प्रेम प्रेमी और प्रेमिकाओं की जीवन की यथार्थताओं (realities) से बहुत दूर ले जाता है और वे विवाह से पूर्व एक दूसरे को पूर्णतया न समझते हुए ही अनेक सुनहले सपनों के जाल में इस भाँति उलझ जाते हैं कि सब कुछ मधुर और मनोहर ही दीखता है। पर शादी के बाद जब रोमांस यथार्थ में बदलने लगता है, जब पति के काम पर जाने पर अपने घर में संध्याकाल की लम्बी घड़ियाँ अकेले बितानी पड़ती हैं, बीमारी में कष्ट उठाने पड़ते हैं, सास-ननद और परिवार के अन्य सदस्यों के मन व मिजाज से अनुकूलन करना पड़ता है, उनमें से किसी की मृत्यु होने पर रोना पड़ता है, बच्चों को जन्म देने और पालने-पोपने के लिये कठिनाइयों को झेलना पड़ता है और रोटी-कपड़े व निवास की चिन्ता में अपना समय लगाना पड़ता है तब रोमांस के नशे को उतरने में भी देर नहीं लगती और उन्हें निराश होकर विवाह-विच्छेद के लिये न्यायालयों की शरण लेनी पड़ती है। इसीलिए सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है कि रोमांटिक प्रेम के आधार पर स्थापित विवाह सम्बंध तभी तक बना रहता है जब तक उसमें रोमांचकता है; उसके समाप्त होते ही विवाह सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि रोमांटिक प्रेम की आधुनिक महत्ता ने वैवाहिक सम्बन्ध की स्थिरता को पर्याप्त प्रभावित किया है और जब वैवाहिक सम्बन्ध की स्थिरता नष्ट हो जाती है तो परिवार का विघटन तो आप-से-आप ही होता है।

### दार्शनिक और व्यक्तिगत कारण

(Philosophical and Individual Causes)

(१) जीवन-दर्शन में अन्तर (Difference in philosophy of life):— यदि जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में पति और पत्नी के विचार व आदर्श अलग-अलग हैं तो वह परिवार कभी स्थायी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये यदि पत्नी अपने जीवन-दर्शन के अनुसार सिनेमा जाना, सहेलियों के घर जाकर गप्पे हाँकना, क्लब व पार्टियों में समय व्यतीत करना चाहती है और पति लाइब्रेरी में जाकर समय बिताना, विद्वानों की मंडलियों में बैठना, कला और दर्शनशास्त्र पर नयी पुस्तकें पढ़ना पसन्द करता है, तो पति-पत्नी में प्रायः रोज ही संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। उसी प्रकार धार्मिक विषयों और मनोभावों में अन्तर होने से भी पति-पत्नी सन्तोषप्रद वैवाहिक जीवन बिता नहीं सकते हैं और परिवार का विघटन होता है।

(२) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अन्तर (Differences in cultural background):— यदि पति-पत्नी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अत्यधिक असमानता है तो वे एक दूसरे से अपना अनुकूलन नहीं कर पाते हैं। इससे परिवार का विघटन होता



है। यह मानी हुई बात है कि एक अमेरिकन लड़की का एक नौसौ लड़के से अनुकूलन कष्टकर होगा। उसी प्रकार हिन्दू युवक के लिए मुसलमान लड़की से अनुकूलन करना कठिन होगा यद्यपि उनमें सहयोग, सहनशीलता और प्रेम-भाव प्रबल हो। उसी प्रकार यदि पति-पत्नी की शिक्षा-स्तर में अत्यधिक अन्तर है, तब भी उनका पारस्परिक अनुकूलन ठीक से नहीं हो पाता है। इतना ही नहीं पति और पत्नी के विचारों और मनोभावों में अन्तर होना पारिवारिक विघटन का एक प्रमुख कारण है।

(३) पेशा (Occupation):—कुछ पेशे भी पारिवारिक विघटन के कारण बन जाते हैं। अभिनय का पेशा करने वालों में विवाह विच्छेद सब से अधिक होता है। इसके बाद डाक्टर तथा सफर करने वाले एजेंटों (Travelling agents) में विवाह-विच्छेद की दर पायी जाती है और इनके बाद संगीतकारों, टेलीफोन व टेलीग्राफ आपरेटरो और वकीलों का नम्बर आता है। लेखी का पेशा करने वालों में विवाह-विच्छेद की दर सब से कम है। मक्षेप में जो लोग अपने पेशों की विशेषता के कारण अधिकतर समय घर से बाहर रहते हैं और पति-पत्नी का आपसी व अनिष्ट सम्बन्ध बनाये रखने में असमर्थ हैं, उनका पारिवारिक जीवन भी स्थिर नहीं होता है।

(४) पद (Status):—सामाजिक शक्ति, पद व प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा पति या पत्नी में जागृत हो सकती है। कभी-कभी इसका बुरा प्रभाव पारिवारिक जीवन पर पड़ता है। धन कमाने या राजनैतिक या सामाजिक शक्ति, पद व प्रतिष्ठा प्राप्त करने में पति या पत्नी अपने-अपने अधिक समय लगाते हैं कि उन्हें दूसरे पक्ष की इच्छाओं, भावनाओं व आवश्यकताओं के प्रति ध्यान देने तक का समय नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में पारिवारिक जीवन का समस्त आनन्द व आकर्षण स्वतः ही समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार अगर पत्नी मैजिस्ट्रेट है और पति एक बेकार युवक या सामान्य एक क्लर्क तो भी हर जगह पत्नी को अपने पति का परिचय देने में संकोच होता है जोकि पति के लिए घातक सिद्ध होता है। सुखी पारिवारिक जीवन के लिये इससे बढ़कर कोई बाधा नहीं है कि पति-पत्नी को एक दूसरे पर नाज या गर्व नहीं है और उन्हें एक दूसरे को पति या पत्नी कह कर स्वीकार करने में शर्म का अनुभव हो।

(५) आयु का अन्तर (Disparity in age):—यदि पति और पत्नी की आयु में अधिक अन्तर है तो उनमें कभी भी सफल अनुकूलन नहीं हो सकता क्योंकि एक प्रौढ़ पुरुष के जो मनोभाव, प्रादर्श व रुचि होगी वह मनोभाव या रुचि एक कम आयु की लड़की का कदापि नहीं हो सकती। यदि पत्नी कम आयु की है तो अधिक वयस्क पति उस पत्नी को धोखा देने और दुर्व्यवहार करने का अधिक अवसर पाता है उसी प्रकार पति-पत्नी की आयु में अधिक अन्तर होने से यौन सम्बन्धी अनुकूलन (sexual adjustment) की समस्या भी उत्पन्न हो सकती है।

(६) व्यक्तिगत दोष (Individual defects):—व्यक्तिगत दोष भी परिवार के विघटन का कारण बन सकता है। मदिरा, पान और अन्य मादक द्रव्यों का सेवन करने की आदत या अन्य कोई बुरी आदत होने पर परिवार के आर्थिक



स्थिति को धक्का लगता है और पारिवारिक जीवन कष्टों का घर बन जाता है। साथ ही इस प्रकार के व्यक्तियों से परिवार के अन्य सदस्यों का अनुकूलन नहीं हो पाता है और रोज लड़ाई भगड़ा होता रहता है। उसी प्रकार पति या पत्नी की चरित्रहीनता भी स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए घातक मिड होती है। इसके अतिरिक्त, बीमारी भी पारिवारिक विघटन का एक कारण है। बीमारी से परिवार का खर्चा बढ़ता है, भगड़ा होता है, किङ्किडारन बढ़ता है, और आय भी कम हो जाती है। इनमें से कोई भी अवस्था पारिवारिक विघटन का एक कारण बन सकती है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि पारिवारिक विघटन पारिवारिक तनाव का ही एक उग्र रूप है। इस कारण जो कारक पारिवारिक तनाव को उत्पन्न करते हैं, वही पारिवारिक विघटन के भी कारण हैं। अतः यह आवश्यक है कि पारिवारिक तनाव के कारणों को भी पारिवारिक विघटन की किसी भी विवेचना में अवश्य ही सम्मिलित कर लिया जाये।

### परिवारिक विघटन को रोकने के उपाय

#### (Measures for checking Family Disorganization)

पारिवारिक विघटन को रोकने का एक सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि विवाह गलत ढंग से न हो। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि पति और पत्नी का चुनाव उचित ढंग से हो। यह आवश्यक है कि उनकी आयु तथा सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि में अधिक अन्तर न हो, उनमें चार्गित्रिक दृढ़ता हो, वे यह जानते हों कि जीवन की वास्तविकता के बीच ही उन्हें जीवित रहना है। पति और पत्नी के दिल में एक दूसरे के प्रति विश्वास, श्रद्धा, प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना होनी आवश्यक है। उन्हें यह शिक्षा मिलनी चाहिये कि वे किस प्रकार “मैं मैं” का चक्कर छोड़ कर दो मैं को मिला कर एक “हम” का निर्माण कर सकते हैं। अर्थात् स्थायी पारिवारिक जीवन के लिये व्यक्तिवादी आदर्शों का अन्त हो जाना आवश्यक है। उसी प्रकार रोमांटिक प्रेम के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में उन्हें व्यावहारिक शिक्षा मिलनी चाहिये ताकि वे जीवन की वास्तविकताओं को पहचान सकें और जीवन के सुख और दुःख, बसन्त और पतझड़, रोग और भोग, शोक और हर्ष, सबके बीच हाथ से हाथ मिला कर रहना सीखें। जीवन की वास्तविकताओं को स्वीकार करना ही पारिवारिक विघटन को टालना है।

### परिवार का भविष्य : क्या परिवार टूट रहा है ?

#### (Future of Family : Is Family breaking down ?)

आधुनिक परिवार के कार्यों का अत्यधिक घट जाना, उसकी अस्थिरता, घटता हुआ आकार, रोमांस तथा विवाह-विच्छेद की दरों (rates) का अधिक बढ़ना आदि समस्याओं की गम्भीरता को देखते हुए कुछ विद्वान परिवार के भविष्य के बारे में बहुत ही निराग हो गये हैं और उनका निष्कर्ष यह है कि परिवार टूट रहा है। पर इस प्रकार का कोई भी विचार अवैज्ञानिक है। परिवार सामाजिक जीवन का



मूलाधार है। इस कारण जब तक समाज है तब तक परिवार रहेगा और रहता आया है। यदि समाज ही मिट जाय तब ही परिवार का भी अन्त सम्भव है। अन्यथा नहीं। औद्योगिक क्रांति के बाद हमारी सम्पदा और संस्कृति में, आचार, प्रथा, परम्परा, धर्म, नीति-रिवाज सब कुछ में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार सामाजिक जीवन का प्रत्येक अंग आज तबोतला की ओर तेजी से बढ़ता जा रहा है। व्यक्ति परिवार भी उसी सामाजिक जीवन का एक अंग है। इन कारण उसे भी तबोत अवस्थाओं के साथ अपना अनुकूलन करना ही होगा। परिवार वर भी वही रहा है पर किसी भी अनुकूलन की प्रक्रिया के प्रारम्भिक काल में या दुःसमय में कुछ समय तक कुछ न कुछ गड़बड़ी या विघटन भी अवस्था उत्पन्न हो ही जाती है। परिवार में भी यही हुआ है। जिसे हम पारिवारिक विघटन कहते हैं। वास्तव में वह विघटन नहीं बल्कि आधुनिक तबोत परिस्थितियों में परिवार द्वारा अनुकूलन की प्रक्रिया का ही एक आवश्यक अंग है। श्री फोल्सम (Folsom) ने लिखा है कि 'यह परिवार का विघटन नहीं, न ही पतन है बरन् परिवर्तित संगठन है।' सर्वश्री आगबर्न तथा निमर्का ने यह स्पष्टता स्वीकार किया है कि मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि परिवार नामक संस्था एक बहुत ही अनुकूलनशील संस्था है और इसीलिये मानव इतिहास के सभी उन्मात्-पतन के बीच भी वह अमर है। आदि काल से ही मानव जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। सर्वश्री ब्रैम तथा लॉक ने भी लिखा है कि 'बदलती हुई दशाओं का अनुकूलन करने के इस लक्ष्ये इतिहास और इसके स्नेह, प्रीति व प्रेम देने के कार्य के महत्व को देखते हुए यह भविष्यवाणी करना सुरक्षित है कि परिवार जीवित रहेगा व्यक्तिगत सन्तोष और व्यक्तित्व के विकास में योग देता और लेता रहेगा।'







**चतुर्थ खण्ड**  
**सामुदायिक विघटन**  
**(Community Disorganization)**



## इस खण्ड के अध्याय

- १७. युद्ध और क्रान्ति
- १८. निर्धनता
- १९. बेरोजगारी
- २०. अस्पृश्यता
- २१. जातिवाद



## युद्ध और क्रान्ति (War and Revolution)

मेजर माथुर, विनोद माथुर का सैनिक विभाग ने बहुत नाम है। इतने बहादुर और ईमानदार अफसर बहुत कम देखने को मिलते हैं। दिन-रात एक करके मेहनत से काम करते रहते हैं मेजर माथुर अपने विभाग के लिए, न छुट्टियों का मोह है और न ही घर का। पर बीच-बीच में माँ की याद बहुत आती है, विशेषकर जब बेटे के पास माँ का पत्र आता है। उसी माँ ने आज फिर पत्र भेजा है; लिखा है छुट्टी लेकर घर आने को। विनोद की सगाई पक्की कर ली है माँ ने। अब माँ को एक हाथ बंटाने वाली चाहिये। माँ अब बूढ़ी हो गयी है। अब गृहस्थी का सारा भार उनसे नहीं सँभल रहा है। भगवान का नाम तक लेने को फुर्सत नहीं मिलती है। वह को घर गृहस्थी समझा कर निश्चिन्त हो जायेंगे का भजन करना चाहती है माँ। विनोद आयेगा न, उसका राजा बेटा उसकी बात मानेगा न? यही सब लिखा है माँ ने। अब तो जाना हो पड़ेगा। छुट्टी भी लेनी पड़ेगी। छुट्टी के लिए दरखास्त भेज दी तो स्वीकृति देने वाले अफसर को आवश्यक हुआ। मेजर को बुलवाया। कारण पूछा। उत्तर सुना तो जोर से हँस पड़े, उठकर हाथ मिलाया, विनोद की पीठ पर थपथपी मारते हुए कहा, "विश यू गुड लक माई बॉय" (Wish you good luck, my boy)। छुट्टी मंजूर है। माँ जितने दिन तकन आने दे, मत आना। छुट्टियाँ बढ़ाते रहना।

बेटे ने जब घर आकर माँ को प्रणाम किया तो माँ खुशी से रो पड़ी। शादी भी खुशी-खुशी हो गयी। विनोद को जीवन साथी भी बेजोड़ मिला है। उसकी पत्नी ममता वास्तव में बहुत अच्छी है। सुन्दरी, सुभाषिणी, सरल और हँसमुख। ममता सचमुच ममतामयी है। विनोद फूला नहीं समाया अपने सौभाग्य पर। उसी प्रकार सौभाग्यवती ममता को भी कम गर्व है अपने पति के प्यार भरे व्यक्तित्व पर खुब हँसी खुशी में ही कट गयी छुट्टियाँ। माँ और ममता दोनों ने ही छुट्टियाँ बढ़ाने को कहा। विनोद ने वैसा ही किया। मंजूरी भी प्रा गयी। नये तौर पर खुशी की लहर आयी। पर वह लहर पूरी अँगड़ाई ले भी नहीं पायी थी कि एक दिन एकाएक हेड क्वार्टर से अर्जेंट टेलीग्राम आया फौरन चले आने को (Report duty immediately)। पाकिस्तान ने हमला किया है भारत पर—भारत के अभिन्न अंग काश्मीर पर। विनोद की वीर माता तो केवल उदाम हो गयी, पर ममता रो पड़ी। विनोद को जाने से मना किया। बोली कोई बहाना करके मेडिकल लीव (medical leave) ले लो। विनोद हँस पड़ा। फिर गम्भीर होकर बोला कि सभी लोग अगर इसी तरह



बहाना करके घर बैठे रहेंगे तो देश को दुश्मनों के हाथों से कौन बचायेगा, कौन बचायेगा ममता की भाँति ही अश्वत्थ पत्नी, माँ और बहनों की लाज। विनोद की बातें सुनकर लजा गयी ममता। पूँछा फिर कब आओगे। उत्तर मिला, जब भी तुम बुलाओगी। ममता ने कहा अगले माह १३ तारीख को मेरा जन्म-दिन है, उस दिन आओगे। उत्तर मिला, जरूर आऊँगा। मेरे सब अफसर मुझ से बहुत खुश हैं। दो दिन की भी छुट्टी लेकर जरूर आऊँगा। चलते समय आँसुओं से रूँधे स्वर से ममता ने फिर याद दिलाया, आना जरूर। उत्तर मिला, ओ० के० माई डियर।

विनोद के चले जाने के बाद ममता के पास जैसे अब कोई काम ही नहीं रह गया। बस सारा समय केवल रेडियो चालू करके मोर्चे के समाचार को सुनती थी वह। सुनती थी भारत के वीर सपूतों के बारे में जो एक के बाद दूसरे मोर्चे पर विजय पाते हुए आगे बढ़ते जा रहे थे, सुनती थी घायल सिपाही और अफसरों के बारे में और सुनती थी हताहतों की संख्या। कहीं इनमें विनोद भी एक न हो। पर यह विचार मन में आते ही मन को डाँटती थी ममता। यह सब बुरी बात क्या सोच रही है वह। उसका वीर पति विजयी होकर ही घर लौटेगा। रेडियो भी यही कह रहा है भारतीय जवानों की बहादुरी के विषय में। कह रहा है दुश्मनों को अपार क्षति पहुँचायी जा रही है, भारत को भी जो घन और जन की क्षति हो रही है वह कम नहीं है। कितने ही जवान वीरगति को प्राप्त हुए हैं। यह राष्ट्र की क्षति है, हर माँ, बहन, पत्नी और बच्चे की क्षति है। किसी ने बेटा खोया, किसी ने बाप को गंवाया, तो किसी का सुहाग लुट गया और किसी की राखी राख हो गयी। शत्रु निर्दोष नागरिकों पर बम वर्षा रहा है, हैवान बनकर भगवान पर भी बार कर रहा है, मन्दिर-मस्जिद और गिरजाघर तक को नष्ट कर रहा है। शान्ति-प्रिय देश में अशान्ति की आग जला दी है युद्ध ने। सामाजिक व्यवस्था में असंतुलन है, राजनैतिक जीवन डगमगा रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तनाव सुस्पष्ट है, चीन की चानुरी जारी है, 'जय जवान जय किसान' का नारा एक तरफ देश-भक्ति की आग उभाड़ रहा है। पर दूसरी ओर अनिश्चित भविष्य की आशंकाओं के अन्वकार में समस्त अनुभूति को खींच-खींच कर ले जा रहा है। मंहगायी बढ़ रही है, चीजों की कमी भी है, और उस कमी को और भी बढ़ा रहा है व्यापारी वर्ग के कारनामे—मुनाफाखोरी और काला बाजारी। जब युद्ध के इतने दुष्परिणाम हैं तो बुद्धिजीवी मानव युद्ध से इतना लिपटा क्यों है? ममता सोचती है और उदास हो जाती है।

आज ममता का जन्म-दिन है। दो दिन पहले तक विनोद का पत्र आया है। परिस्थिति को देखते हुए छुट्टी मिलना बहुत मुश्किल है। पर शायद कुछ घण्टों के लिए ममता के जन्म-दिवस पर वह ममता के पास जा सकेगा। जहाज से आयेगा और जहाज से ही लौट जायेगा। ममता जन्म-दिन मनाने की तैयारी करे, पर बहुत सादे और सरल ढंग से। राष्ट्र की विपत्ति के समय खुशियाँ मनाने का योग्य अवसर नहीं है। ममता भी यह जानती है। इसीलिए गिने-गिनाये पाँच को बुलाया है उसने 'बर्थ-डे पार्टी' में। सुबह से ही इत्तजार है विनोद का।



किसी काम में मन नहीं लग रहा है ममता का। सुबह दोपहर में आकर मिल गयी, और दोपहर शाम में ढल गयी। विनोद नहीं आया। आया तार विभाग का डाकिया। सरकारी तार आया है। सरकार ने प्रति दुःख के साथ सूचित किया है कि मेजर माथुर, मेजर विनोद माथुर, लाहौर क्षेत्र में घोर गति को प्राप्त हो गये हैं। लाश का पता अब तक नहीं लग पाया है।

खबर सुनते ही सब मेहमान चौंक उठे। आये थे ममता को बधायी देने, पर अब सात्वता के दो शब्द भी कहना भूल गये। घोर माता चीख कर रो पड़ी। पर ममता पायाण प्रतिमा की भाँति विनोद के फोटो को एक-टुक लड़ी देखती रही। फिर एकाएक खिलखिला कर हँस पड़ी और साथ ही आँसू बह निकले। आँसू और हँसी के उस हृदयस्पर्शी मिलन ने सब को रूला दिया।

दूसरे दिन सब लोगों ने आपस्य चकित होकर रेडियो को कहते सुना कि युद्ध बन्द हो गया है और विनोद के घर वालों से सुना कि ममता पागल हो गई है। विनोद की प्रिया पागल हो गयी है।

युद्ध ने एक को मार कर अमर बनाया और दूसरे को जिन्दा रखकर भी मार डाला।

यह युद्ध की कहानी है। यह अध्याय इसी कहानी की कारस्तानी है।

**युद्ध क्या है ?**

(What is War)

सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Elliott and Merrill) के अनुसार, “युद्ध उन सम्बन्धों का औपचारिक विदारण है जो शान्ति-काल में राष्ट्रों को परस्पर एक दूसरे से बाँधते हैं।”<sup>1</sup> और भी सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब एक समूह या राष्ट्र दूसरे समूह या राष्ट्र पर हिंसात्मक विधियों द्वारा आक्रमण करके उसे जीतकर उस पर अपना अधिकार जमाना चाहता है तो उन दोनों समूहों में युद्ध की स्थिति होती है। यह एक ऐसी स्थिति है जब कि युद्ध में लगे दोनों ही समूह या राष्ट्र एक दूसरे को दुश्मन समझने लगते हैं और चूँकि दुश्मन के साथ सामाजिक सम्बन्ध बनाये रखना सम्भव नहीं होता है; इस कारण राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध आप से आप टूट जाता है और एक दूसरे को हर तरह से हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

**युद्ध के कारण**

(Causes of War)

कुछ राजनीतिज्ञों का कथन है कि राष्ट्र के जीवन में कुछ ऐसी समस्याएँ होती हैं जिनको सुलझाने के लिये ही युद्ध करना पड़ता है। अर्थात् राष्ट्रीय समस्याएँ युद्ध के कारण हैं। परन्तु संसार दो विद्वयुद्धों से गुजरने के बाद इस इस निष्कर्ष पर हो पहुँचा है कि युद्ध से किसी समस्या का सुलझाना सम्भव नहीं हो सकता है।

1. “War is the formal disruption of the relationships that bind nations together in (uneasy) peacetime harmony.” M. A. Elliott and F. E. Merrill, *Social Disorganization*, Harper and Bros., New York, 1950, p. 707.



विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण इस न्यूक्लीय युग (nuclear age) में युद्ध के दुष्परिणाम और भी भयंकर हो सकते हैं। यहाँ तक कि मानव जाति व सभ्यता का विनाश भी सम्भव नहीं है। युद्ध सामान्य जन का पूरा जीवन अस्त-व्यस्त कर देता है, देश की आर्थिक व्यवस्था टूट जाती है और परिवार व अन्य सामाजिक संस्थाओं के नगटन की भारी धक्का पहुँचता है। इसीलिए युद्ध को कोई देश नहीं चाहता है, फिर भी आज भी युद्ध हो रहे हैं और भविष्य में भी युद्ध नहीं होगा इसकी भी कोई निश्चितता नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि युद्ध के अनेक आन्तरिक व बाह्य कारण होते हैं जोकि आन्तरिक तथा बाहरी तौर पर युद्ध के लिये देश या राष्ट्र को प्रेरित करते रहते हैं। इन कारणों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) प्राणिशास्त्रीय कारण (Biological causes) :—प्राणिशास्त्रीय आधार पर युद्ध को समझने का प्रयत्न करने वाले विद्वानों का कथन है कि युद्ध करना मानव की एक मूल-प्रवृत्ति (instinct) है। प्राकृतिक नियम है कि जो सबल है वह निर्बल को अपने अधीन करके उस पर शासन करना चाहता है। इस मूल-प्रवृत्ति के भड़काने में आकर ही मनुष्य युद्ध में प्रवृत्त होता है।

इस प्राणिशास्त्रीय कारण को एक दूसरी तरह से भी प्रस्तुत किया जा सकता है और वह है प्रजातिवाद (raceism)। प्रजातिवाद अपने उग्र रूप में जब व्यक्त होता है तब एक प्रजाति अपने को अन्य प्रजाति या प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ समझने लगती है और उस प्रजाति के सम्बन्ध में, जिसे कि वह अधम समझती है, केवल अनेक आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संकीर्ण विभेदों के आधार पर उसका शोषण ही नहीं करती बल्कि उस प्रजाति पर अनेक अन्याय, अत्याचार और अविचार भी करती रहती है। नाजियों (Nazis) ने 'आर्य' प्रजाति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में जिस कल्पित कथा को प्रचलित किया और लाखों यहूदियों के प्राण लिये उससे तो संसार परिचित ही है। हिटलर कालीन जर्मनी में नाडिक प्रजाति की दैवी विशेषताओं तथा उनके संसार के शेष भाग पर राज्य करने की और उन्हें सभ्यता प्रदान करने के जन्मजात अधिकार-सम्बन्धी अवैज्ञानिक और अर्ध-वैज्ञानिक प्रलापों तथा विश्वयुद्ध के भयंकर परिणामों को अभी संसार भूला नहीं है। उसी प्रकार जापानियों ने भी इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की भ्रान्त धारणा को फैलाकर युद्ध की जिस आग को समस्त पूर्वीय देशों में भड़काया था उसे भी भूल जाना शायद ही किसी के लिये सम्भव हो सके।

परन्तु ये सभी भ्रान्त धारणाएँ अब धीरे-धीरे दूर होती जा रही हैं।

(२) राजनैतिक कारण (Political causes)—युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण विद्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में राजनैतिक सत्ता के लिए लालच है। कुछ राज्य यह चाहते हैं कि उनके राज्य का विस्तार होता रहे और उनके साम्राज्य के आधीन अधिक से अधिक राज्य आ जायें। इस साम्राज्यवादी (Imperialistic) नीति के कारण वे दूसरे राज्य पर आक्रमण करते हैं और युद्ध को भड़काते हैं। कभी-कभी इसी



विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का दूसरा रूप भी प्रगट होता है और वह यह कि एक राज्य दूसरे राज्य के किसी भाग को अपना कहकर भावा करता है और दूसरा पक्ष वह भाग देने से इन्कार करने पर युद्ध छेड़ देता है। इस प्रकार अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के लिए भी एक देश दूसरे देश पर चढ़ाई कर सकता है और करता भी है। सन् १९६२ में भारत पर चीनियों तथा १९६५ में पाकिस्तान का आक्रमण इसी भावना का उदाहरण है।

संकुचित राष्ट्रवाद (Narrow Nationalism) भी युद्ध को जन्म दे सकता है। देश प्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना कभी-कभी इतनी तीव्र या कटु हो जाती है कि एक देश के लोग अपने देश की तुलना में अन्य देशों को अन्यन्त तुच्छ तथा हीन समझने लगते हैं और अपने हितों की रक्षा के लिये दूसरे राष्ट्रों के हितों को कुचलने में भी संकोच नहीं करते हैं। इस उग्र राष्ट्रीयता (Chauvinism) के कारण विभिन्न राष्ट्रों में वैमनस्य तथा घृणा की भावना पनपती है जिसके फल-स्वरूप उनके बीच कभी-कभी युद्ध भी छिड़ जाता है।

(३) आर्थिक कारण (Economic Causes)—कुछ विद्वानों ने आर्थिक परिस्थितियों तथा आर्थिक प्रेरकों को युद्ध का प्रमुख कारण माना है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक सुक्रात का विश्वास था कि जमीन, वस्त्र, मकान, सोना आदि आर्थिक वस्तुओं की अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने की लालसा के कारण ही मानव समाज में युद्ध होते हैं। महमूद गजनवी आदि ने भारतवर्ष पर कई बार आक्रमण किया था जिसका प्रमुख उद्देश्य इस देश के राजाओं को युद्ध में हरा करके लूटमार कर यहाँ की धन सम्पत्ति को अपने देश में ले जाना था। इस सम्बन्ध में चीन का उदाहरण भी दिया जा सकता है। प्रो० शर्मा ने लिखा है कि चीन की जनसंख्या सम्पूर्ण संसार की जनसंख्या का पाँचवा भाग है, जबकि उत्पादन की दृष्टि से वह उतना उन्नत नहीं है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण चीन अपनी बढ़ती हुई अति-रिक्त जनसंख्या के लिये अपने पड़ोसी देशों की अधिक से अधिक भूमि हस्तगत करने का प्रयत्न करता रहा है। द्वितीय महायुद्ध से पहले जापान तथा इंग्लैंड में लम्बे समय से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा चल रही थी। एशिया का बाजार जो दीर्घकाल से इंग्लैंड के हाथों में था, धीरे-धीरे जापान के हाथों में जा रहा था। इसलिये जापान तथा इंग्लैंड में वैमनस्य उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसी प्रकार चीन तथा जापान के बीच युद्ध का भी प्रमुख कारण जापान की बढ़ती हुई आर्थिक लालसा रही थी।

प्रो० शर्मा ने आगे यह भी लिखा है कि कुछ लेखकों का मत है कि आधुनिक युग में अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तथा युद्ध में काम आने वाली अन्य वस्तुओं का उत्पादन जब अपने लाभ के लिये किया जाता है तब भी युद्ध को बढ़ावा मिलता है। क्योंकि इस प्रकार के उत्पादन से विभिन्न राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न होता है। जैसा कि रूस तथा अमेरिका के बीच राजनीतिक तनाव हमें आज भी देखने को मिलता है।

उसी प्रकार प्रौद्योगिकीय उन्नति भी युद्ध बढ़ाने में एक कारक है। इन



प्रौद्योगिकीय की सहायता से जब बड़े पैमाने में उत्पादन कार्य किया जाता है तो उसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की भी आवश्यकता होती है। इसके कारण विभिन्न राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा की भावना बढ़ती है जो राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ाती है जिसका कि अन्तिम परिणाम युद्ध ही होता है।

(४) सामाजिक कारण (Social Causes)—डा० चौवे ने लिखा है कि समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो युद्ध के इच्छुक होते हैं, क्योंकि युद्ध के समय उनकी अत्याचार, अनाचार, निरंकुशता और धन लोलुपता सम्बन्धी अनेक इच्छाओं की पूर्ति होती है। बहुत से लोग युद्ध की ताक में लगे रहते हैं जिससे उनकी इन इच्छाओं की पूर्ति हो। यही कारण है कि युद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर अनेक लोग मालामाल हो जाते हैं और देश में चोर बाजारी, अत्याचार, अनाचार और निरंकुशता का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

उसी प्रकार डा० चौवे ने युद्ध के सामाजिक कारण में देश के कुछ राजनैतिक नेताओं की मनोवृत्ति का भी उल्लेख किया है। जब देश कुछ आन्तरिक संघर्षों से गुजरता रहता है तो कुछ राजनैतिक नेता जनता का ध्यान किसी बाहरी शत्रु पर केन्द्रित करते हैं और जनता को उस शत्रु के विरुद्ध भड़काते हैं। इससे भी युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है। उसी प्रकार जब समाज के अन्दर आन्तरिक गड़बड़ी फैल जाती है तो उस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए भी कोई बाहरी शत्रु देश पर आक्रमण कर सकता है।

(५) मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Causes)—युद्ध के मनो-वैज्ञानिक कारण की पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि युद्ध द्वारा व्यक्ति की घृणा, ड्रेप, भय तथा क्रोध की भावनाओं को तृप्ति का अवसर मिलता है। किसी देश के विभिन्न दलों में एक दूसरे के विरुद्ध ये भावनार्यें पायी जा सकती हैं जिसके फल-स्वरूप युद्ध छिड़ सकता है।

युद्ध के समय देश में एकता की लहर फैल जाती है। अतः कभी-कभी राष्ट्रों में एकता की भावना फैलाने के लिये भी युद्ध की ओर देश के नायक प्रेरित हो जाते हैं।

### युद्ध के दुष्परिणाम (Evil Consequences of War)

युद्ध व्यक्ति, परिवार तथा समूचे राष्ट्र के लिये अनेक दुष्परिणामों को जन्म देता है। आज का युद्ध केवल दो राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रहता है। समान राजनीतिक नीति, दृष्टिकोण, विचार तथा संस्कृति में आस्था रखने वाले सभी राष्ट्र एक तरफ होकर युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं और इस प्रकार विश्व की राजनीतिक शक्ति दो गुटों में बंट जाती है और युद्ध शीघ्र ही एक अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है। इससे केवल दो राष्ट्रों को नहीं, दो गुटों में सम्मिलित होने वाले सभी राष्ट्रों के जन और धन, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था तथा पारिवारिक



जीवन को भीषण धक्का लगता है। उस समय तटस्थ देश भी युद्ध की लपटों से नहीं बच पाते हैं और उन देशों में भी सामाजिक विपत्तियों का जन्म होता है और अन्तर्राष्ट्रीय विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप सभी सामाजिक मूल्य, व्यवस्था, संरचना, संस्कृति व मानव जीवन की सभी रचनात्मक प्रवृत्तियों और प्राप्तियों को गहरी चोट पहुँचती है। फिर मात्र के भ्रण-युग के युद्ध का दुष्परिणाम केवल प्रलय व विनाश ही हो सकता है।

युद्ध सामाजिक परिवर्तन की गति को प्रभावित करता है। जब कोई राष्ट्र अपने अस्तित्व को स्थिर रखने के लिए जी-जान लगाकर लड़ रहा है तो उस समय नागरिकीय, आर्थिक और सामाजिक मामलों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाना भी असम्भव नहीं होता है। पर सामाजिक परिवर्तन जब तेजी से होता है तब सामाजिक विघटन की स्थिति भी सरलता से उत्पन्न हो सकती है। कुछ भी हो युद्ध कालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नये-नये तरीके निकाले जाते हैं, औद्योगिक विकास किया जाता है, यातायात तथा संचार के साधनों को बढ़ाया जाता है। उसी प्रकार नागरिक (Civilian) जनता को युद्ध के कामों में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेना पड़ता है और उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या कई गुना बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप नगरों का विस्तार होता है और शहरों में भीड़-भाड़ के साथ मकानों की कमी और भी अधिक हो जाती है। इन दोनों ही परिस्थितियों में अनेक सामाजिक समस्याओं का उद्भव होता है। नागरीकरण के साथ-साथ अर्थात् जैसे ग्रामीण जनता नगरों में आकर उद्योगों में या सेना में काम करने के लिए गाँव छोड़कर चली आती है वैसे-वैसे संयुक्त परिवार का विघटन तेजी से होता रहता है और अब तक मान्य मूल्य, आदर्श तथा परम्पराओं में तेजी से परिवर्तन होता रहता है। इतना ही नहीं, युद्ध के समय जिन क्षेत्रों में गोलाबारी होती है या होने का अन्देश रहता है उन स्थानों को खाली करने को कहा जाता है। इससे अनेक परिवारों को स्थान परिवर्तन करना पड़ता है। चाहे सेना में काम करने के लिए हो या उद्योगों में भर्ती होने के लिए हो या आक्रमण के भय से ही हो युद्ध के समय सामाजिक गतिशीलता अत्यधिक बढ़ जाती है। संक्षेप में प्रत्येक दिशा में परिवर्तन तेजी से होने लगता है तेजी से बदलता हुआ समाज विघटित समाज भी होता है क्योंकि मनुष्य उतनी तेजी से नयी सामाजिक परिस्थितियों से अपना अनुकूलन नहीं कर पाता है। युद्ध के फल-स्वरूप क्रियाशील सामाजिक परिवर्तन व सामाजिक विघटन की प्रक्रिया को निम्न-लिखित विवेचना के आधार पर और भी स्पष्टतः समझा जा सकेगा।

### युद्ध-सामाजिक विघटन का एक विकराल रूप (War—a Violent Form of Social Disorganization)

यह कहा जाता है कि 'युद्ध सामाजिक विघटन का एक सबसे विकराल या उग्र रूप है' (War is Social Disorganization in its most violent form)<sup>2</sup> इस



कथन का सरल अर्थ यही है कि युद्ध सामाजिक विघटन की ही स्थिति है और यदि सामाजिक विघटन का विकराल रूप देखना है तो उसका दर्शन युद्ध के समय या युद्ध के परिणाम स्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों में ही हो सकता है। उपरोक्त कथन की सत्यता निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी।

### युद्ध की प्रकृति और सामाजिक विघटन

(Nature of War and Social Disorganization)

युद्ध की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि इसके फलस्वरूप सामाजिक विघटन का उत्पन्न होना ही स्वाभाविक है। वास्तविकता तो यह है कि युद्ध सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में इतनी अधिक गड़बड़ी उत्पन्न कर देता है तथा समस्त स्थापित संगठन को इस तरह उलट-पलट देता है कि सामाजिक विघटन की स्थिति आप से आप सामने आ जाती है। सामाजिक विघटन ठोस अर्थ में युद्ध काल में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का ही परिणाम होता है। श्री फॉसिस मैरिल ने लिखा है कि युद्धकालीन सामाजिक परिवर्तन में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—जन-संख्या का स्थान परिवर्तन, सामाजिक गतिशीलता, नये उद्योगों का विकास, श्रम-शक्ति में असाधारण वृद्धि, मूल्य वृद्धि, टूटे परिवारों की संख्या में वृद्धि, मृत्यु, त्याग और तलाक दर में वृद्धि, पारिवारिक तनाव, स्त्रियों को अधिकारों का कमाने के अवसर, अधिक अपराध तथा बाल अपराध, वेश्यावृत्ति में वृद्धि, धर्म की प्रभुता घटना आदि। ये सभी परिवर्तन सामाजिक विघटन के कारण बन सकते हैं। सत्यता तो यह है कि युद्ध स्वयं ही सामाजिक विघटन की स्थिति है। युद्ध का आधार है स्वार्थ की पूर्ति व प्रभुता स्थापित करने की इच्छा। युद्ध आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक या सीमा सम्बन्धी स्वार्थों की पूर्ति के लिये लड़ा जाता है। पर कारण या स्वार्थ कुछ भी हो उन स्वार्थों की पूर्ति के हेतु युद्ध में हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया जाता है और एक पक्ष हर प्रकार से दूसरे को दुर्बल करने का प्रयत्न करता है, योजनाएं बनाता है और दूसरे पक्ष को कुचल देने के लिये उत्पन्न होता है। युद्ध की यह प्रकृति स्वयं ही सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने वाली होती है। यह सामाजिक विघटन किसी एक देश तक ही सीमित नहीं रहता है, बल्कि उसका विस्तार उन सभी देशों तक हो जाता है जो युद्ध में सम्मिलित होते हैं। आधुनिक युद्ध में केवल दो देशों की सेनायें ही नहीं लड़ती हैं वरन् उनके नागरिक, स्त्री और पुरुष, बच्चे और बूढ़े, किसान और क्लर्क, अमीर और गरीब, समिति व संस्थाएं सब प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं। 'एटम' तथा 'हाईड्रोजन' बमों तथा आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों ने आधुनिक युद्ध की प्रकृति को इतना भयानक बना दिया है कि इससे सामाजिक विघटन की स्थिति कितनी विकराल व चरम सीमा तक पहुँच सकती है, उसकी कल्पना मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। युद्ध किसी दो विपक्षी दलों में अस्त्रात्मक या हिंसात्मक संघर्ष है, इसी लिये यह सामाजिक विघटन का कारण है। युद्ध की ध्वंसात्मक प्रकृति ही सामाजिक विघटन का विकराल रूप है।



## युद्ध और सामाजिक संरचना का विकृत होना

### (War and Deterioration of Social Structure)

सामाजिक संगठन इस बात पर निर्भर है कि सामाजिक संरचना विकृत न होने पाये। ऐसा तभी हो सकता है जब समाज के विभिन्न सदस्य तथा संस्थाएं अपने-अपने पदों पर स्थिर रहते हुए अपने-अपने पूर्व निर्धारित कार्यों को करते रहे। परन्तु युद्ध इस संतुलन को नष्ट करके सामाजिक संरचना को विकृत कर देता है। युद्ध में उत्पन्न आपत्ति कालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अनेक महत्वपूर्ण पदों को और उनसे सम्बन्धित कार्यों को ग्राम्य परिवर्तित किया जाये। यदि युद्ध में देश पराजित होता है तो विजिता देश पराजित देश पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है और बहुधा वहाँ के सारे पुराने महत्वपूर्ण अधिकारियों को हटा कर उसकी जगह नये अधिकारियों को नियुक्त करता है और उनके कार्यों को नये तौर पर परिभाषित करता है। जिसके फलस्वरूप समाज की सम्पूर्ण संरचना ही केवल बदल ही नहीं जाती है बल्कि उस परिवर्तन के फलस्वरूप ऐसी नयी परिस्थितियों को उत्पन्न करती है जिसके साथ वहाँ के लोग अपना अनुकूलन करने में असफल होते हैं। ऐसी दशा में समाज का विघटन होना अनिवार्य ही है। इसके अतिरिक्त युद्ध के दौरान में भी सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थिति इतनी अधिक अस्थिरता से भरपूर रहती है कि समाज का कोई भी सदस्य या संस्था अपनी स्थिति तथा कार्य के सम्बन्ध में न तो निश्चित हो पाता है और न ही निश्चित होकर अपने-अपने कार्यों को कर पाता है। ऐसी स्थिति भी सामाजिक विघटन की परिचायक है। इतना ही नहीं, युद्ध के दौरान में होने वाले आक्रमणों के फलस्वरूप हो सकता है कि कुछ महत्वपूर्ण संस्थायें या व्यक्ति नष्ट हों। उस अवस्था में उन संस्थाओं तथा व्यक्तियों के कार्यों को दूसरे संस्थाओं या व्यक्तियों को तत्काल ही हस्तान्तरित कर देना पड़ता है और ऐसा न हो सकने की स्थिति में वे महत्वपूर्ण कार्य कुछ समय के लिए बन्द कर देने पड़ते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में गड़बड़ी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसका कि परिणाम सामाजिक विघटन होता है।

## युद्ध और विघटित अन्तर्राष्ट्रीय जीवन

### (War and Disorganized International Life)

युद्ध, विशेषकर आधुनिक युद्ध दो राष्ट्रों में होता है और उन दो राष्ट्रों के समर्थक भी धीरे-धीरे या एक साथ दो दलों में बंट जाते हैं। वे दोनों दल एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं और एक दूसरे को हर तरह से नुकसान पहुँचाने का प्रयास करते हैं इसका परिणाम यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एक अजीब तनाव या संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और जो कुछ भी निश्चितता व स्थिरता पहले थी वह सब समाप्त हो जाती है। सर्व श्री ईलियट तथा मेरिल (Elliott and Merrill) ने लिखा है कि "प्रजातन्त्र, धर्म तथा विज्ञान, जो कि अपने अपने तरीके से एक सामान्य तथा सार्वभौमिक सूत्र में मनुष्य को संयुक्त करने का प्रयास करते हैं, युद्ध द्वारा ऐसे नष्ट भ्रष्ट होते हैं जैसा कि अन्य किसी भी



मानव दुश्मना द्वारा नहीं।<sup>3</sup> अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विघटित होने का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय बाजार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विचारों का स्वतन्त्रता पूर्वक आदान-प्रदान तथा संचार प्रक्रिया पर पड़ता है जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन अत्यधिक संकुचित हो जाता है तथा विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व का सपना भी अधूरा रह जाता है। इससे भी महत्वपूर्ण बात तो यह है कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में घृणा, ईर्ष्या, द्वेष तथा तनाव का विष इस प्रकार घोल देता है कि उससे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन न केवल विघटित होता है, बल्कि कलुषित भी। प्रथम महायुद्ध ने पश्चात्य राष्ट्रों को इस प्रकार विघटित किया कि सामूहिक रूप में प्रगति करने की समस्त योजनाएँ चूर-चूर हो गई। दूसरे विश्व युद्ध ने तो और भी परिस्थिति को विघटित किया और अब तीसरे विश्वयुद्ध के बादल भी कभी-कभी विश्व के आकाश में मंडराते हुए देखे जाते हैं। यह सब विघटन के सूचक हैं और विघटन के कारण भी।

### युद्ध तथा विघटित मानव सम्बन्ध

(War and Disorganized Human Relation)

प्राचीन काल में युद्धों में केवल दो देशों की सेनाएँ ही आवादी के इलाके से दूर किसी मैदान में लड़ती थीं। इसलिए उन देशों के बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ तथा अन्य असैनिक नागरिकों पर उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता था। परन्तु आधुनिक युद्ध में देश की सम्पूर्ण जनता प्रत्यक्ष रूप से युद्ध द्वारा प्रभावित होती है और युद्ध की सफलता के लिए उनमें से प्रत्येक को सचेत प्रयत्न करने पड़ते हैं। फलतः युद्ध के कारण समाज के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध भी विघटित हो जाता है। मानव के प्रति मानव की सहानुभूति युद्ध काल में जाती रहती है और मानव के हाथ से ही मानव को उत्पीड़न तथा अत्याचार सहना पड़ता है। युद्ध की घोषणा होते ही एक राष्ट्र की जनता दूसरे राष्ट्र की जनता के प्रति एक कटु मनोभाव रखने लगती है। देश के नेता अपने दुश्मन राष्ट्र के विरुद्ध बड़े-बड़े भाषण देते हैं तथा सरकार द्वारा श्वेतपत्र (White papers) प्रकाशित किये जाते हैं साथ ही साथ अनेक प्रकार की अफवाहें भी फैलती रहती हैं। इससे दोनों देशों के बीच तनाव बढ़ता जाता है। इतना ही नहीं युद्ध के कारण देश के अन्दर भी नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों में कुछ न कुछ गड़बड़ी अवश्य ही उत्पन्न हो जाती है। देश के नवयुवक युद्ध क्षेत्र में चले जाते हैं स्त्रियों को पुरुषों के अनेक कार्यों को संभालना पड़ता है जिसके फलस्वरूप स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध व व्यवहार प्रतिमान में अनेक प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। यह सब सामाजिक विघटन के ही सूचक होते हैं।

### युद्ध और आर्थिक विघटन

(War and Economic Disorganization)

युद्ध के फलस्वरूप देश का आर्थिक ढाँचा बिलकुल ही चकनाचूर हो जाता

3. "The forces of democracy, christianity, and science which serve, each in its own way, to unite men in a common and reciprocal bond are devastated by war as by no other human catastrophe." *Ibid.*, p. 707.



है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक युद्ध में केवल देश की जानों की ही नहीं बल्कि माल की भी असीमित व बर्बादी होती है। आधुनिक युद्ध तलवारों का युद्ध नहीं, बल्कि टैंकों, हवाई जहाजों तथा बमों व अन्य हथारों प्रकार के मृत्यु-वान अस्त्र-शस्त्रों का युद्ध है। एक टैंक या जहाज की कीमत लाखों रुपये होती है और इन लाखों रुपयों की कीमत वाली युद्ध सामग्री की बर्बादी पल भर में ही हो जाती है। इससे राष्ट्रीय धन की कितनी क्षति होती है और इस बर्बादी का कितना दुःप्रभाव देश की जनता व संगठन पर पड़ता है इसका अन्दाजा साधारण आदमी नहीं लगा सकता। इसके अतिरिक्त आधुनिक युद्धों में सैनिकों की अस्त्र-शस्त्र के अलावा असह्य अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है। सरकार सबसे पहले उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करती है। इसीलिये अमेरिकी जनता को दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं का मिलना कठिन हो जाता है। वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण पर सरकार का नियन्त्रण होता है। इस नियन्त्रण के फलस्वरूप आम जनता का कष्ट और भी बढ़ जाता है और उसी परिस्थिति में फायदा उठा कर स्वार्थी लोग काला बाजार करने लगते हैं। इस प्रकार युद्ध काल में धन सम्बन्धी अपराधों में वृद्धि हो जाती है जोकि सामाजिक विघटन को ही सूचित करती है। युद्ध सम्बन्धी खर्चों को पूरा करने के लिए सरकार को मुद्रास्फीति की परिस्थिति को उत्पन्न करना पड़ता है। मुद्रा स्फीति (inflation) तथा सरकारी राशनिंग के फलस्वरूप वस्तुओं का मूल्य तेजी से बढ़ता है जिससे कि आम जनता को अपार कष्ट का सामना करना पड़ता है। शत्रु पक्ष द्वारा किये गये बमबारी के फलस्वरूप यह हो सकता है कि देश के कुछ उल्लेखनीय औद्योगिक या उत्पादन संस्थान बिल्कुल ही नष्ट हो जाएँ। ऐसा होने पर उस देश की आर्थिक प्रगति स्वतः ही रुक जाती है और आर्थिक विघटन की एक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि देश युद्ध में पराजित हुआ तो विजयी देश पराजित देश का खूब आर्थिक शोषण करता है। वैसे भी युद्ध के बाद युद्ध सामग्री तथा सैनिकों की आवश्यकता कम हो जाने के कारण उत्पादन कार्यों को यथायक कम कर देना पड़ता है जिसके फलस्वरूप देश में बेरोजगारी, निर्धनता आदि की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो कि सामाजिक विघटन का एक विकराल रूप प्रस्तुत करती हैं।

### युद्ध तथा राजनैतिक विघटन

#### (War and Political Disorganisation)

युद्ध देश के आर्थिक ढाँचे को ही नहीं बल्कि राजनैतिक ढाँचे को भी विघटित कर देता है। युद्ध काल में साधारण राजनैतिक ढाँचा क्रियाशील नहीं रह पाता है और देश का राजनैतिक नेतृत्व विशेषकर उन व्यक्तियों के हाथ में चला जाता है जिनमें कठोरता, प्रवृत्ति, कूटबुद्धि और चतुराई भरी होती है। इसका प्रभाव यह होता है कि राजनैतिक जीवन का स्वस्थ रूप कूटनीति तथा युद्ध प्रेम से भर जाता है। सुविधावादी राजनैतिक नेताओं या मंत्रियों को युद्ध करने, अपने स्वार्थों की सिद्धि करने का अच्छा मौका मिलता है और वे व्यापारियों तथा अन्य व्यक्तियों



को लोहे सीमेन्ट इत्यादि की परमिट और सरकार से रुपया उधार दिलवाते हैं और अपने जान पहचान वालों को नौकरियों में नियुक्त करते हैं और बदले में उन लोगों से अपना स्वार्थ पूरा करवाते हैं। कभी-कभी तो युद्ध के द्वारा किसी विशेष राजनैतिक सस्था या "वाद" के लिए अधिक खतरा उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए हमला-वर देश साम्यवादी हो सकता है और युद्ध के द्वारा व अन्य देश के राजनैतिक ढाँचे को साम्यवाद में बदलने का प्रयत्न कर सकता है। यह स्थिति भी स्वयं सामाजिक विघटन का एक कारण बन सकती है।

### युद्ध तथा पारिवारिक विघटन

(War and Family Disorganization)

युद्ध पारिवारिक जीवन व संगठन को उथल-पुथल कर देता है और उन्हें घसीट कर एक ऐसी स्थिति में लाकर फेंक देता है जहाँ पर परिवार का अंग-अंग कराहता रहता है। युद्ध बच्चों को पिता से अलग करता है, माता को घर से बाहर नौकरी करने के लिए जाने को बाध्य करता है, पति-पत्नी को एक दूसरे से अलग करता है, कितनी ही सुहागवर्तियों के सुहाग को लूटता है, बाप-दादा की गाढ़ी कमाई से बने हुए मकान या आश्रय को धूल में मिटा देता है और परिवार के सदस्यों को पल भर में शरणार्थी बना देता है, उनके जीवन में बर्बादी का विष धोल कर पैशा-चिक मृदुहास के साथ 'विघटन की होली' खेलता रहता है। निम्नलिखित विवरण उसी होली का हाल है।

युद्ध-काल में देश के अधिकतर वयस्क पुरुषों के युद्ध-क्षेत्र में तथा युद्ध के अन्य कामों में व्यस्त हो जाने में परिवार पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अधिकतर पिताओं के सेना में भर्ती हो जाने से परिवार की परम्परागत अन्तःक्रियाओं में परिवर्तन हो जाता है। पिता के कार्यों को माताओं को करना पड़ता है और चूँकि वह ऐसा करने की अभ्यस्त नहीं होती हैं इसलिए पारिवारिक जीवन विघटित हो जाता है।

युद्धकाल में बढ़ती हुई मँहगाई का सामना करने के लिए तथा पुरुषों के युद्ध क्षेत्र में चले जाने के फलस्वरूप रिक्त स्थानों को भरने के लिए स्त्रियों को नौकरी भी करनी पड़ती है। इसलिए घर गृहस्थी का काम वे ठीक से नहीं कर पाती हैं और परिवार में नित्य नई गड़बड़ियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। जिन परिवारों में माता-पिता दोनों ही नौकरी करते हैं वहाँ पारिवारिक व्यवस्था विलकुल ही बिगड़ जाती है और बच्चों को देखभाल भी ठीक से नहीं हो पाती है। यही कारण है कि युद्धकाल में बाल-अपराधों की संख्या बढ़ती है। इतना ही नहीं, स्त्रियों से पुरुषों का काम लेने से उनमें पुरुषोचित व्यवहार-प्रतिमान बहुत ज्यादा स्पष्ट हो जाता है और उनमें उच्छृंखलता बढ़ती है? वे शराब और सिगरेट पीना आरम्भ कर देती हैं, मर्दों जैसी पोशाकें पहनती हैं और भोग-विलास में डूब जाती हैं जिसका कि बहुत बुरा प्रभाव पारिवारिक संगठन पर पड़ता है। युद्ध के समय अनेक अविविहित गड़कियों को भी नौकरी करने का अवसर सरलता से मिल जाता है और उन्हें यह



मोका मिलता है कि वे नव-युवकों के साथ अपना सेल-मिलार बढ़ावें। उन पर पारिवारिक नियन्त्रण भी युद्धकाल में कम ही रहता है क्योंकि हो सकता है कि पिता युद्ध क्षेत्र में हों और माता भी कहीं नौकरी कर रही हो। इससे उनमें यौन अपराध की दरें स्वतः ही बढ़ जाती हैं।

युद्धकाल में टूटे परिवारों (broken homes) की संख्या बढ़ती है। अनेक परिवार तो पिता या पति के युद्ध क्षेत्र में वीरगति को प्राप्त करने के फलस्वरूप स्थायी रूप से टूट जाते हैं; जिससे अनेक स्त्रियों का मुहाग लूट जाता है, अनेक बच्चे आश्रयहीन हो जाते हैं और अनेक युद्ध माला-पिता के बुढ़ापे का लाडो टूट जाती है। युद्धकाल में परिवार का सम्पूर्ण संगठन असंतुलित हो जाता है क्योंकि पिता या पति युद्ध क्षेत्र में होता है, पत्नी या माता घर से बाहर नौकरी करने जाती है, दुश्मन का आक्रमण होता है, कितने ही घर ध्वंस हो जाते हैं, परिवार का कोई सरता है तो किसी की अंगह्राति होती है, युद्ध क्षेत्र से पति या पिता का हाथ कटेगा या पैर कुछ भी निश्चित नहीं रहता है, बमबारी से टूटे घरों के लोगों को रहने के लिये दूसरे घर मिलेंगे या नम्बू। इनके सम्बन्ध में भी कोई कुछ कह नहीं सकता है। ये सभी परिवार के विघटन के उत्तम उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में परिवार इस रूप में भी विघटित होता है कि परिवार की स्थान सम्बन्धी स्थिरता बहुत कम हो जाती है। युद्ध सामग्री के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रमिकों की मांग पूरा करने के लिये गाँव से बड़ी संख्या में लोग नगरों तथा औद्योगिक केंद्रों में आकर बस जाते हैं। उसी प्रकार बमबारी होने के फलस्वरूप या होने से पहले बहुत सी बस्तियों को खाली करवा दिया जाता है जिसके फलस्वरूप एक स्थान पर दीर्घकाल से जमे हुए परिवार अपने स्थान से उखड़ कर नए स्थानों पर बसने को बाध्य होते हैं और परिवार के सदस्यों को नए पढीसियों, स्कूलों, निवास स्थानों आदि के साथ नये सिरे से अनुकूलन करना पड़ता है। मकानों की समस्या गम्भीर हो जाती है, किराया बढ़ता है और गन्दी बस्तियाँ (slums) का जन्म होता है। ये सभी स्थितियाँ परिवार के संगठन को खोखला बना देती हैं।

युद्ध के समय पारिवारिक तनाव (family tension) भी बढ़ जाता है क्योंकि स्त्रियाँ घर से बाहर नौकरी करने जाती हैं, आर्थिक तन्त्र में अपने को स्वतन्त्र समझने लगती हैं और पारिवारिक बेड़ियों को तोड़ने का प्रयत्न करती हैं। कुछ युवतियाँ अपनी स्वतन्त्रता को व्यक्त करने के लिये स्वयं चुनकर विवाह करती हैं और कुछ क्लब व पार्टियों में रंग-रंगेलियाँ मनाती फिरती हैं।

युद्ध काल में विवाह विच्छेद (divorce) की दर भी अत्यधिक बढ़ जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय के कुछ आँकड़ों से इसे सरलता से प्रमाणित किया जा सकता है। सन् १९४० में संयुक्त राज्य अमेरिका में २,५४,००० विवाह-विच्छेद हुए हैं, अर्थात् प्रति १००० जनसंख्या में २ विवाह विच्छेद। सन् १९४५ में यह संख्या बढ़कर ५,०२,००० (अर्थात् प्रति १००० जनसंख्या में ३.६ विवाह विच्छेद) तथा १९४६ में ६,१३,०० (अर्थात् प्रति १००० पर ४.३) हो गया था जोकि १९४७



में घटकर केवल ४,५०,००० (अर्थात् प्रति १००० पर ३.१) हो गया। विवाह-विच्छेद की दरों (rates) में इसी प्रकार की वृद्धि युद्ध में लगे अन्य देशों जैसे फ्रान्स, इंग्लैण्ड आदि में भी हुई थी। परिवारिक विघटन का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है।

वियोग (separation) या बिछोह के कारण भी परिवार कम से कम अस्थायी रूप में विघटित हो जाता है। द्वितीय महायुद्ध के समय करोड़ों परिवार के सदस्य (विवाहित दम्पति) अलग-अलग अवधि के लिये एक दूसरे से विछुड़ गये थे। इस बिछोह का मानसिक परिणाम बहुत बुरा होता है। चिन्ता और अनिश्चितता के बीच दोनों पक्षों का दिन व्यतीत होता है। युद्ध के पश्चात् यह स्थिति अनेक परिवारों के लिये दूर हो जाती है, परन्तु अनेक पति-पत्नी इतनी अवधि के बाद एक दूसरे से अनुकूलन करने में अपने को असफल पाते हैं।

### युद्ध तथा व्यक्तिगत विघटन

#### (War and Personal Disorganization)

युद्ध का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व को विघटित करने पर भी पड़ता है। युद्ध में अनेक व्यक्तियों को अपने शरीर के विभिन्न अंगों से हाथ घोना पड़ता है। इस अंगहानि के कारण व्यक्तियों में हीन-भावना (inferiority complex) पनपती है और वे सामाजिक क्रियाओं में उतना सक्रिय भाग नहीं ले पाते हैं जिसके फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है। इसी अंगहानि के कारण कुछ पति-पत्नी का पारस्परिक अनुकूलन नहीं हो पाता है और वे विवाह-विच्छेद द्वारा अपने सम्बन्धों को तोड़ देते हैं। अंगहानि के कारण उपार्जन की क्षमता घट जाती है और व्यक्ति को निर्भरता का शिकार होना पड़ता है। ऐसा भी देखा गया है कि ऐसी अनेक पत्नी या माता अपने मानसिक सन्तुलन को खो बैठती हैं जिनके पति या एक मात्र पुत्र युद्ध में मारे जाते हैं। युद्ध-विभीषिका या युद्ध के फलस्वरूप होने वाले हृदय विदारक बर्बादियों को देखकर भी अनेक व्यक्ति पागल हो जाते हैं। युद्ध के समय उचित रूप में खाने-पीने को नहीं मिलता है; मिलावट तथा काला-बाजारी होती है जिसके फल-स्वरूप जनता का स्वास्थ्य-स्तर गिरता जाता है और उन्हें कुछ भयंकर बीमारियाँ घेर लेती हैं। युद्ध का प्रभाव विशेष रूप से छोटे बच्चों के पालन-पोषण पर पड़ता है। उनका संतुलित विकास नहीं हो पाता है। प्राप्त आँकड़ों से पता चलता है कि युद्ध-काल में आर्थिक अपराध जैसे काला बाजारी, मिलावट आदि तथा दौन-सम्बन्धी अपराध जैसे वेश्यावृत्ति अधिक बढ़ जाती है। मद्यपान तथा मादक द्रव्यों का प्रयोग भी बढ़ जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इंग्लैण्ड तथा यूरोपीय देशों में बाल अपराधों की संख्या तेजी से बढ़ी। ब्लैक आउट दिन-रात होने वाली बम-वर्षा, राशनिंग आदि के कारण धन सम्बन्धी अपराधों की संख्या में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी दोनों के नौकरी करने के कारण बच्चों पर पारिवारिक नियंत्रण शिथिल हो गये, इसलिये छोटी-छोटी आयु के लड़कों तथा लड़कियों में शराब खोरी,



जुआ, आवारणगी तथा गीन सम्बन्धी अपराधों में भी खूब वृद्धि हुई। नगरों में पन्द्रह या बीस वर्ष के लड़कों के अनेक संगठित गुण्डों के समूह घूमते हुए दिखाई देने लगे। युद्ध-काल में बच्चों तथा युवकों के हाथ में अधिक पैसा आ जाने के कारण भी अनैतिकता और दाल-अपराध में वृद्धि हो जाती है। साथ ही, युद्ध के समय मरने और मारने के विचार व मनोवृत्ति सम्पूर्ण समाज को अपने पंजों में फाँस लेती है। इसीलिए युद्ध काल में बच्चों तथा युवकों में हिंसा तथा निर्दयता की प्रवृत्तियों का तीव्र हो जाना स्वाभाविक ही है जिसका बहुत ही बुरा प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ता है।

युद्ध काल में बम-बर्षा से नुकसान प्राप्त नगरों से लोगों को हटाकर शरणार्थी केंद्रों में रक्खा जाता है। वहाँ पर उन बच्चों की हालत वास्तव में दयनीय होती है जिन्हें अपने माता-पिता से बिछड़ना पड़ा हो। माता-पिता से अलग किये गये बच्चे अपरिचित लोगों के बीच में अपने को अत्यन्त असुरक्षित, अकेला तथा दुःखी अनुभव करने लगते हैं जिसके कारण उनके अन्दर भावात्मक असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। इन केंद्रों में बच्चों की मनोवृत्तियाँ तथा आदतें अत्यन्त विकृत हो जाती हैं। वे अधिकतर चुप रहने लगते हैं और उनमें अनेक खराब आदतें पड़ जाती हैं।

२२ फरवरी, १९६६ में प्रकाशित एक समाचार में कहा गया है कि श्री जगन्नाथ राव (Minister of State for Parliamentary Affairs) के अनुसार हाल में ही हुए भारत-पाकिस्तान के बीच हुए युद्ध में ३ लाख से भी अधिक व्यक्तियों को शरणार्थी (displaced persons) बना दिया है अर्थात् उन्हें अपना घर-बार छोड़कर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी है। इनमें से २,५०,००० व्यक्ति जम्मू-कश्मीर के हैं, ५०,००० से भी अधिक पंजाब के तथा प्रायः ६,००० राजस्थान के। इन आँकड़ों से भी युद्ध के विघटनात्मक परिणामों का परिचय मिलता है।

युद्ध में अनेक व्यक्ति मारे जाते हैं, उनमें बहुत से विवाहित होते हैं। इनके मरने से देश में विधवाओं की संख्या में वृद्धि होती है जोकि स्वयं ही एक विकट सामाजिक समस्या है। इन विधवाओं के व्यक्तित्व के विकास में कुछ न कुछ बाधा अवश्य ही उत्पन्न हो जाती है। युद्ध में पुरुषों को अधिक मारे जाते हैं जिसके फलस्वरूप समाज में पुरुषों की संख्या कम हो जाती है। स्त्री-पुरुषों के अनुपात में इस असंतुलन के कारण कुंवारी लड़कियों की शादी करने के लिये ही बर नहीं मिल पाते हैं। इस अवस्था में विधवाओं का पुनर्विवाह और भी कठिन होता है। वे फिर से घर नहीं बसा पाती हैं और उनमें भावात्मक असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। युद्ध उनके व्यक्तित्व को विघटित करता है।

### युद्ध और प्रमुख सामाजिक संस्थाओं का विघटन

(War and Disorganization of Important Institutions)

युद्ध समाज की प्रमुख संस्थाओं को भी विघटित कर देता है। संस्थाओं का संगठित रहना तो इस बात पर निर्भर करता है कि उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध संतुलित स्तर पर हो और संस्था के कार्यों में कोई बाधा उत्पन्न



नहीं किया जाता हो। पर युद्ध काल में ऐसा होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। जिन स्थानों पर वास्तविक लड़ाई चलती है वहाँ तो शिक्षा-संस्थाएं, धार्मिक संस्थाएं, सरकार, आर्थिक-संस्थाएं आदि कुछ भी स्वाभाविक स्थिति में नहीं रह पाते हैं। सबसे भयंकर विघटन शिक्षा संस्थाओं का होता है। युद्ध क्षेत्र की सभी शिक्षा संस्थाओं को अनिश्चित काल के लिये अपना काम बन्द कर देना पड़ता है और बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की प्रगति बिल्कुल रुक जाती है। द्वितीय महायुद्ध के समय स्कूलों में पढ़ने वाले हजारों बच्चों को लन्दन से बाहर सुरक्षित स्थानों को भेज दिया गया था। अमेरिका में जनसंख्या की गतिशीलता ने बच्चों की पढ़ाई लिखाई को विघटित कर दिया था। कुछ बच्चों को तो स्कूली शिक्षा मिली ही नहीं, और अन्य अनेकों को ऐसे वातावरण व समय में पढ़ना पड़ा जो उनके लिये हितकर नहीं थे। युद्ध काल में अनेक स्कूल व कालेज सैनिक अस्पताल में बदल जाते हैं। देश के जिन भागों में शत्रु का कब्जा हो जाता है वहाँ की शिक्षा संस्थाओं को तो भगवान का भरोसा होता है।

धार्मिक संस्थाओं पर भी युद्ध का विघटनात्मक प्रभाव पड़ता है। युद्ध काल में देश के उल्लेखनीय धार्मिक स्थान, मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर को कुछ भी नुकसान हो सकता है। बम-वर्षा के फलस्वरूप अनेक मन्दिर आदि ध्वंस हो जाते हैं। इतना ही नहीं, युद्ध, घृणा, द्वेष, हिंसा, आक्रमण आदि भावनाओं को समाज के जीवन में इतना धोल देता है कि उनके सामने धार्मिक विश्वास, पवित्रता, दया, व धार्मिक निर्देश-उपदेश सब तुच्छ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि आक्रमणकारी विधर्मी है और यदि उसे युद्ध में विजय प्राप्त हुई तो वह पराजित देश के लोगों पर अपना धर्म जबरदस्ती थोपने का प्रयत्न करता है और लोगों को बाध्य होकर धर्म परिवर्तन करना पड़ता है। इससे भी देश के परम्परागत धर्म में विघटन आरम्भ हो जाता है।

युद्ध राजनैतिक संस्थाओं, विशेषकर सरकार को भी विघटित कर देता है। युद्ध राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद को बढ़ावा देता है जोकि विश्वशान्ति और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों को कुचलता है। राजनैतिक संस्थाओं में राष्ट्रीय तथा आर्थिक विस्तारवादी आकांक्षाओं का समावेश वास्तव में घातक ही सिद्ध होता है। युद्ध में जो राज्य पराजित होता है उसका तो ऐसा विघटन होता है कि सम्पूर्ण अवस्था ही उलट जाती है। विजयी राज्य में भी युद्ध के पश्चात् शक्ति का हस्तान्तरण देश की एक राजनीतिक पार्टी से दूसरे पार्टी को हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाज का कोई भी अंग ऐसा नहीं रह जाता है जोकि युद्ध के विघटनात्मक प्रभावों से अपने को अछूता रख सके। युद्ध सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये एक संकटपूर्ण परिस्थिति होती है जिसमें कि सब कुछ उथल-पुथल हो जाता है, सामूहिक जीवन का ताना-बाना कट जाता है और समाज की प्रगति व कलात्मक और मानवीय भावनाएं युद्ध की आग में जलकर राख हो जाती हैं। युद्ध स्वस्थ और संगठित जीवन के प्रतिकूल है, युद्ध 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के विपरीत है, और युद्ध सम्पूर्ण सामाजिक संरचना, संस्था, व्यक्ति तथा



समूह को असंतुलित कर देने वाला एक अभिघाव है। युद्ध वास्तव में ही सामाजिक विघटन का सबसे विकराल (most violent) रूप है।

## क्रान्ति (Revolution)

साधारणतया क्रान्ति शब्द का प्रयोग राजनैतिक सत्ता में होने वाले किसी आकस्मिक तथा अचानक परिवर्तन के लिए ही किया जाता है। उदाहरणार्थ, रूस के जार की सत्ता समाप्त करके सोवियेतों द्वारा राजसत्ता ग्रहण कर लेने को, मिश्र में राजा फारूक को निर्वासित करके पहले जनरल नजीब तथा बाद में कर्नल नासिर द्वारा राजनैतिक सत्ता अपने हाथ में ले लेने को, जर्मनी में हिटलर द्वारा वहाँ के लोकतन्त्र को समाप्त करके नाजी तानाशाही स्थापित करने को तथा पाकिस्तान में जनरल इस्कन्दर मिर्जा तथा जनरल अय्यूब द्वारा संसद भंग करके सैनिक शक्ति द्वारा राजनैतिक सत्ता ग्रहण कर लेने को हम क्रान्ति के नाम से पुकारते हैं।

### क्रान्ति का अर्थ (Meaning of Revolution)

प्रोफेसर शर्मा के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजनैतिक सत्ता में होने वाले अचानक उलट-पुलट को ही सामान्यरूप से क्रान्ति कहा जाता है। यह क्रान्ति का प्रथम व प्राथमिक अर्थ है। प्रोफेसर शर्मा ने आगे यह भी लिखा है कि कुछ विद्वानों का मत है कि क्रान्ति में शक्ति तथा हिंसा द्वारा राजनैतिक सत्ता के अकस्मात एक समूह से दूसरे समूह को हस्तान्तरित हो जाने के फलस्वरूप समाज की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक आदि परिस्थितियों में भी तीव्र आकस्मिक परिवर्तन हो जाते हैं। क्रान्ति की इस धारणा के अनुसार क्रान्ति का अर्थ केवल राजनैतिक सत्ता का बल-प्रयोग द्वारा अकस्मात हस्तान्तरण हो जाना नहीं वरन् किसी भी प्रकार का आकस्मिक सांस्कृतिक परिवर्तन है। यह आकस्मिक सांस्कृतिक परिवर्तन धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा किसी अन्य प्रकार का भी हो सकता है। क्रान्ति की इस धारणा के अनुसार यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के फलस्वरूप होने वाले धार्मिक परिवर्तनों को तथा भारत में राजा राम मोहन राय की सती-प्रथा के उन्मूलन या विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन को भी क्रान्ति की संज्ञा दी जा सकती है। यह क्रान्ति का दूसरा तथा सामान्य अर्थ है।

क्रान्ति की तीसरी धारणा के अनुसार क्रान्ति का अर्थ सम्पूर्ण सामाजिक, व्यवस्था, आधारभूत सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक वर्गों, शक्तिके वितरण तथा जनता की समस्त मनोवृत्तियों तथा आदतों में तीव्र गति से परिवर्तन होना है। सन् १९६० में यूरोप तथा इंग्लैण्ड में आरम्भ होने वाली औद्योगिक क्रान्ति (Industrial revolution) इस प्रकार की क्रान्ति का ही एक उज्ज्वल उदाहरण है। अधिकतर आधुनिक लेखक क्रान्ति की इतनी व्यापक तथा अस्पष्ट धारणा को स्वीकार नहीं करते हैं।



उद्विकास (evolution) की प्रक्रिया में परिवर्तन धीरे-धीरे तथा निरन्तर एक स्थिति से दूसरी स्थिति को गुजरता हुआ होता है। इसके विपरीत क्रान्ति में यह परिवर्तन एकाएक या अचानक ही होता है। श्री बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है कि सामाजिक क्रान्ति राजनीतिक शक्ति में पूर्ण परिवर्तन कर देती है, अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मूल्यों को उखाड़ फेंकती है, रक्तपात कराती है, मन-मुटाव पैदा करती है, और विस्तृत रूप में सामाजिक पुनर्संगठन की माँग करती है।<sup>4</sup>

प्रो० किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार किसी राज्य में राज्य-शक्ति का नये प्रकारों की शक्ति या सत्ता के हाथ में अचानक हस्तान्तरण क्रान्ति है।<sup>5</sup> इस प्रकार आपके अनुसार क्रान्ति की अवधारणा में राजनैतिक सत्ता में मूल परिवर्तन होना आवश्यक है। यदि क्रान्ति का अर्थ हम कोई आकस्मिक सांस्कृतिक परिवर्तन अथवा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संस्थाओं मनोवृत्तियों, आदतों, आदि में होने वाला परिवर्तन भी मान लें तो भी हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि क्रान्ति में किसी न किसी प्रकार का राजनैतिक परिवर्तन अवश्य निहित रहता है। उदाहरणार्थ, गाँधी जी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप हरिजनों की सामाजिक, आर्थिक और विशेषकर राजनैतिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है उसे हिन्दू परम्परागत समाज-व्यवस्था को देखते हुए क्रान्ति ही कहा जा सकता है, पर इसके मूल में राजनीतिक सत्ता का अंग्रेजों से भारतियों के हाथ हस्तान्तरण ही है। उसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैंड तथा यूरोप में सामन्तवाद सदैव के लिए समाप्त हो गया और पूँजीपतियों के एक नए शक्तिशाली वर्ग का उदय हुआ है, पर इस क्रान्ति के साथ-साथ राजनैतिक सत्ता जो पहले बड़े-बड़े सामन्तों के हाथों में थी, अब उनके हाथ से निकलकर पूँजीपतियों व उद्योगपतियों के हाथ में चली गई है, अतः स्पष्ट है कि क्रान्ति में राजनैतिक सत्ता तथा नियन्त्रण में भी व्यापक तथा महत्वपूर्ण मूल परिवर्तन होना आवश्यक है। प्रो० किम्बल यंग (Kimball Young) के शब्दों में, “क्रान्ति एक ऐसा आकस्मिक सामाजिक परिवर्तन है जो साधारणतया वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलट देने से घटित होता है और जिसके फलस्वरूप सामाजिक तथा कानूनी नियंत्रण के नये स्वरूपों की स्थापना होती है।”<sup>6</sup>

श्री फेयरचाइल्ड (Fairchild) के मतानुसार यदि किसी समाज में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन धीरे-धीरे और बिना विशेष संघर्ष या रक्तपात के प्राप्त होते हैं

4. “Social revolutions create a powerful upheaval uprooting both good and bad values, taking place at the price of ill will and bloodshed, and calling for extensive social reorganization.” Bogardus, *Sociology*, pp. 391-392.

5. Revolution is “an abrupt shift to new forms of power or authority within a nation-state.” Kimball Young, *Social Psychology*, p. 567.

6. “A revolution is, then, a more or less sudden social change, usually accomplished by forcible overthrow of the existing political order and leading to the establishment of new forms of social and legal controls.” Kimball Young, *Ibid.*, p. 569.



तो उसे उद्बिकास (Evolution) ही कहा जायेगा न कि क्रान्ति। क्रान्ति का मूल्य सार अचानक परिवर्तन है, न कि हिंसा।

श्री सोरोकिन (Sorokin) का विचार है कि क्रान्ति के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व किसी समाज के लक्ष्यों और मूल्यों में बहुत अधिक गड़बड़ी, अस्थिरता और अनिश्चितता है। इन्हीं गड़बड़ी, अस्थिरता और अनिश्चितताओं के कारण समाज में आन्तरिक अशांतियाँ बाहर फूट निकलती हैं यही सामाजिक क्रान्ति है जिसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था या सांस्कृतिक व्यवस्था या दोनों ही व्यवस्थाएँ अनिवार्य रूप में अस्थिर हो जाती हैं।

### क्रान्ति के कारण

#### (Causes of Revolution)

युद्ध की भाँति क्रान्ति के भी अनेक कारण हैं। किसी एक कारण से क्रान्ति नहीं होती है फिर भी कुछ विद्वानों ने क्रान्ति के केवल एक ही कारण का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, श्री ली बों (Le Bon) के मतानुसार समाज के निम्नवर्ग के व्यक्तियों में एकाधिक अचेतन तथा पाशविक प्रवृत्तियाँ होती हैं और इन प्रवृत्तियों के दबाव में आकर ही ये निम्न वर्ग के लोग उच्च और अधिक योग्य वर्गों के हाथ से शक्ति छीनने का प्रयत्न करते हैं। श्री फ्राँयड के समर्थकों का विश्वास है कि समाज के सदस्यों में राज्य या सत्ता के दूसरे प्रतीक को नष्ट करने की एक गहरी दबी और अचेतन इच्छा होती है और जब यह इच्छा बाहरी तौर पर प्रगट की जाती है तभी क्रान्ति होती है। श्री सोरोकिन (Sorokin) का मत है कि “क्रान्ति का प्रत्यक्ष कारण सदैव ही समाज के अधिकतर लोगों की प्रधान मूल प्रवृत्तियों का अधिक दमन तथा मूल-प्रवृत्तियों की आवश्यक न्यूनतम सन्तुष्टि का असम्भव होना होता है।”<sup>7</sup>

यद्यपि उपरोक्त कारणों को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, फिर भी इनमें से किसी एक कारण के आधार पर क्रान्ति की सम्पूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है इसलिए क्रान्ति के एकाधिक कारणों की विवेचना आवश्यक है—

(१) सामाजिक-सांस्कृतिक कारक (Socio-cultural Factors) —सामाजिक आविष्कार तथा अन्य कारकों के फलस्वरूप सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन जिस गति से होता रहता है, उस गति से समाज की परम्परागत संस्थाओं में परिवर्तन नहीं हो पाता है क्योंकि सामाजिक संस्थाएँ रूढ़िवादी होती हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बदलती हुई सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ये संस्थाएँ अमफल रहती हैं और लोगों में असन्तोष फैलने लगता है। यह असन्तोष जब अत्यधिक उग्र होकर फूट निकलता है तो समाज में क्रान्ति होती है। दूसरे शब्दों में पुरानी सामाजिक संस्थाओं तथा नवीन परिस्थितियों के बीच अनुकूलन न

7. “The immediate cause of revolution is always the growth of ‘repression’ of the main instincts of the majority of society, and the impossibility of obtaining for these instincts the necessary minimum of satisfaction”—Sorokin



होने के कारण जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है और राजनैतिक आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य क्षेत्रों में भ्रष्टाचार फैल जाता है जिससे औद्योगिक हड़तालें, किसान आन्दोलन, भूखी भीड़ द्वारा अनाज की दुकानें लूटना तथा इसी प्रकार के अन्य संगठित तथा असंगठित विद्रोह तथा उपद्रव आरम्भ हो जाते हैं। ऐसा भी होना है कि प्रभुता-सम्पन्न उच्च वर्ग के लोग अपनी सत्ता को बनाये रखने के माँह में तथा अपने स्वार्थों की रक्षा करने के हेतु भी बदलती हुई परिस्थितियों और जनता की माँगों को समझने तथा उनके अनुसार अपनी नीति को बदलने में असफल रहते हैं या जानबूझकर उन्हें ठुकरा देते हैं। इसके फलस्वरूप निम्न वर्ग के सदस्यों में असन्तोष की भावना दृढ़ होती रहती है और वे शासक वर्ग को चुनौती देने लगते हैं। इस प्रकार की चुनौती देने के लिए समाज में अक्सर एक नये वर्ग का जन्म होता है जोकि प्रभुता-सम्पन्न पुराने वर्ग से टक्कर लेता है। उदाहरणार्थ, फ्रांस की क्रान्ति में एक नवीन मध्यम वर्ग (Middle class) का उदय हुआ जिसने बड़े-बड़े जमींदारों तथा सामन्तों के विरुद्ध विद्रोह किया और उनके हाथ से राजनैतिक सत्ता छीन ली।

कुछ विद्वानों का कथन है कि बड़े-नड़े नगरों की उत्पत्ति तथा विकास भी अप्रत्यक्ष रूप से क्रान्ति का एक कारण बन जाता है। नगरों में जनसंख्या अधिक होती है और उद्योग-धन्य आदि भी विकसित रूप में होते हैं जिसमें कि व्यक्तिगत गुण व विशेषता, धन आदि को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये ही सोचता है और व्यक्तिवाद पनपता है। साथ ही जनसंख्या अधिक होने तथा मकानों की समस्या के कारण नगरों में संयुक्त-परिवार तथा अन्य प्राथमिक समूहों का नियंत्रण व्यक्ति पर न्यूनतम होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति नगर के जन-समूह में एक तिनके की भाँति बहता रहता है। इसी परिस्थिति से फायदा उठाकर प्रचार करने वाले समाचार पत्र, रेडियो आदि तथा संगठित आन्दोलन के द्वारा सामूहिक सुभाव (mass suggestion) नगर निवासियों को क्रान्तिकारी कार्यक्रम के लिये सरलता से प्रेरित कर सकता है।

समाज में नवीन आविष्कारों तथा विदेशी संस्कृतियों से ग्रहण की गई नवीन विचार-धाराओं के फलस्वरूप समाज के सदस्य अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का एक नये ढंग से अर्थ लगा सकते हैं और यह सोच सकते हैं कि अब तक उन्हें जो कुछ मिलता रहा है वह अपर्याप्त था या अब तक उन्हें उनसे वास्तविक अधिकारों से वंचित रक्खा गया है। इससे उनमें असन्तोष फैल सकता है जिसका अन्तिम परिणाम क्रान्ति के रूप में सामने आ सकता है। इसके अतिरिक्त, विदेशी संस्कृतियों से प्राप्त विचारधाराएं पुराने विचार और विश्वासों के विपरीत हो सकते हैं। उस अवस्था में नवीन और पुरातन विचारधाराओं और नई व पुरानी संस्थाओं के बीच संघर्ष होने लगता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप पुरानी संस्थाओं व विचारधाराओं की कमियाँ धीरे-धीरे प्रगट होने लगती हैं और इसीलिये जनता उनके विरुद्ध विद्रोह करके उसे बदलने के लिये प्रयत्नशील हो जाती है।



(२) सामाजिक मनोवैज्ञानिक कारक (Socio-Psychological Factors) —

अनेक लेखकों का मत है कि क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण कारण मौलिक इच्छाओं का दमन है। इसमें सन्देह नहीं कि जब लोगों की आधारभूत इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा उद्देश्यों को दबाया जाता है तो उनमें असंतोष की भावना पनपनी स्वाभाविक ही है जिसका अन्तिम परिणाम क्रान्ति हो सकती है। परन्तु केवल इन आधारभूत इच्छाओं के दमन से ही क्रान्ति का जन्म तब तक नहीं हो सकती है जब तक उन इच्छाओं अभिव्यक्त होने के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियाँ भी प्राप्त न हो जाय। उदाहरण के लिये हजारों वर्षों से पिछड़ी हुई जातियों या हरिजनों पर नाना प्रकार की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनैतिक निर्योग्यताओं (disabilities) को लाद कर उन्हें शिक्षा, सामाजिक प्रतिष्ठा, धन आदि से वंचित रक्खा गया। इन इच्छाओं की पूर्ति तब तक सम्भव नहीं हुई जब तक देश में शिक्षा का प्रसार न हुआ, राष्ट्र नेताओं ने उनको उनकी निर्योग्यताओं तथा निम्न पद के सम्बन्ध में जागरूक नहीं किया और उनके समुदाय में प्रचार आदि के द्वारा उनमें जागृति नहीं लाये। तब कहीं हरिजनों में संगठन बढ़ा और संगठित रूप में उन्होंने समान अधिकार के लिये आवाज उठाई। प्रत्येक समाज अपनी विभिन्न संस्थाओं के द्वारा व्यक्तियों की आधारभूत इच्छाओं तथा उद्देश्यों को नियंत्रित तथा परिस्थितियों के अनुकूल दबाने अथवा परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। पर जब नवीन सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो हो सकता है कि लोग उन इच्छाओं तथा अभिलाषाओं की पूर्ति के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूक हो जायें और पुरानी संस्थाओं की दमन नीति को मानने से इन्कार कर दें। ऐसा करने से उनका प्रत्यक्ष विरोध उन लोगों के साथ होता है जोकि पुरानी संस्थाओं के संचालक या वासक होते हैं। जब प्रभुत्व-सम्पन्न वर्ग जनता की इच्छाओं को दबाने का प्रयत्न करते हैं तो जनता में असंतोष, क्षोभ तथा विद्रोह की भावना फैलने लगती है। उस अवस्था में क्रान्ति का जन्म होता है।

नेतृत्व (Leadership) भी क्रान्ति का एक प्रमुख सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारक है। नेतागण जनता को उनके अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक करते हैं, उनके सम्मुख इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं कि शासक वर्ग उन्हें उनके किन-किन न्यायोचित अधिकारों से वंचित कर रहा है और किन-किन आधारभूत इच्छाओं, व आकांक्षाओं का दमन कर रहा है। नेतागण जनता की तकलीफों को रंग बढ़ाकर उनके सामने प्रस्तुत भी कर सकते हैं और साथ ही उन सम्भावित उपायों को भी सुझा सकते हैं जिनके द्वारा वे अपने अधिकारों की प्राप्ति तथा इच्छाओं व आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकते हैं। वे प्रतिष्ठा-सुझाव के द्वारा जनता के दिमाग में यह बात बैठा सकते हैं कि समस्त अधिकारों की प्राप्ति और समस्त तकलीफों से मुक्ति का एक मात्र उपाय क्रान्ति ही है। नेतागण स्वयं क्रान्ति का संचालन भी कर सकते हैं सर्वश्री वाल्टेयर (Voltaire), रूसो (Rousseau), लेनिन (Lenin) आदि के नेतृत्व के कारण हुई क्रान्ति इसके उदाहरण हैं।



क्रान्ति को जन्म देने में सामाजिक अन्याय बहुत हद तक उत्तरदायी होता है। जब देश के नागरिकों को समानता का व्यवहार नहीं मिलता है, जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के द्वारा पददलित किया जाता है जिसके फलस्वरूप जनता के लिये सुखी जीवन व्यतीत करना असम्भव हो जाता है, अथवा जब सरकार दमन की नीति अपनाती है तो देश में क्रान्ति का जन्म होता है।

जब देश में स्थापित विभिन्न संस्थाओं, जोकि जीवन के लिये आवश्यक सामग्री उत्पन्न करती हैं, अथवा जो जन-जीवन को किसी प्रकार नियंत्रित करती हैं (जैसे सरकार), के द्वारा जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है तो उनके प्रति जनता में अविश्वास और असन्तोष पैदा हो जाता है और क्रान्ति का बीजारोपण होता है। रूस, फ्रान्स तथा भारत के स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास इसका साक्षी है।

(३) आर्थिक कारक (Economic factors)—कुछ आर्थिक कारक भी क्रान्ति का जन्म देते हैं। प्रो० शर्मा ने लिखा है कि इसमें सन्देह नहीं कि अधिकतर क्रान्तियों की आर्थिक समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। देश में धन का अनुचित विभाजन, धनी वर्ग द्वारा निर्धन वर्ग का भीषण आर्थिक शोषण तथा असहनीय निर्धनता, बेरोजगारी आदि के शक्तिशाली कारक के रूप में प्रमाणित हुए हैं। उदाहरणार्थ, फ्रान्स की क्रान्ति में पहले बड़े-बड़े जमींदारों, सरदारों तथा सामन्तों द्वारा किसानों तथा श्रमिकों का शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। रूसी क्रान्ति से पहले भी रूस के साधारण लोग घोर दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहे थे जब कि जार तथा उसके विश्वास-पात्र सामन्त परम विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे।

श्री कार्ल मार्क्स क्रान्ति के आर्थिक कारक पर अत्यधिक बल देते हैं। आपके मतानुसार सदा से ही प्रत्येक समाज में दो विरोधी वर्ग जैसे स्वतन्त्र-व्यक्ति तथा दास कुलीन वर्ग तथा साधारण जनता, सामन्त तथा अर्द्ध-दास किसान, गिल्ड का स्वामी तथा उसमें कार्य करने वाले कारीगर, पूँजीपति और श्रमिक संक्षेप में, शोषक तथा शोषित वर्ग होता है। इनमें से एक वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन केन्द्रित रहते हैं और उसी के बल पर वह दूसरे वर्ग का, जोकि अपना श्रम बेच कर खाता है, खूब आर्थिक शोषण करता रहता है। जब शोषक वर्ग की शोषण-नीति के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग में निर्धनता, भुखमरी और बेरोजगारी अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और सम्पूर्ण अवस्था असहनीय हो जाती है तो श्रमिक या सर्वहारा वर्ग अपनी समस्त जंजीरों को तोड़कर शोषक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह की भावना लेकर उठ खड़ा होता है। यही क्रान्ति की स्थिति है।

पर कुछ विद्वानों का मत है कि केवल निर्धनता और आर्थिक अन्याय (economic injustice) ही क्रान्ति का एकमात्र कारण नहीं हो सकता है जब तक जनता को यह आशा न हो कि उन स्थितियों में सुधार हो सकता है। निर्धनता के



साध-साध एक उज्ज्वल भविष्य की आशा ही निर्घटन तथा पीड़ित जनता को क्रान्ति के लिए प्रेरित कर सकती है। श्री एडवर्ड्स (Edwards) ने स्पष्ट ही लिखा है कि "निराशा नहीं बल्कि आशा को भावना क्रान्ति को चालक शक्ति प्रदान करती है।"

### क्रान्ति के दुष्परिणाम

(Evil Consequences of Revolution)

युद्ध की भाँति क्रान्ति के भी अनेक दुष्परिणाम हैं जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

(१) क्रान्ति सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती है—क्रान्ति की स्थिति में अचानक ही समाज की व्यवस्था को एक धक्का लगता है। यह सामाजिक व्यवस्था को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर देती है, अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के मूल्यों को उखाड़ फेंकती है। इस प्रकार क्रान्ति के समय ऐसी नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके साथ सामाजिक समस्याओं, समूहों और व्यक्तियों का अनुकूलन तत्काल ही सम्भव नहीं होता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक संतुलन नष्ट हो जाता है। क्रान्ति के समय हिंसात्मक साधनों का भी खुले तौर पर प्रयोग किया जाता है और अनेक व्यक्तियों को मौत का शिकार बनाया जाता है। जो मरने नहीं हैं उनमें से अनेक व्यक्ति घायल भी होते हैं, इससे केवल व्यक्तिगत विघटन ही नहीं बल्कि पारिवारिक विघटन भी होता है। उसी प्रकार क्रान्ति के समय राज्य तथा नागरिकों का परम्परागत सहयोग सम्बन्ध समाप्त होकर एक तनावपूर्ण सम्बन्ध पनप जाता है। यह तनाव राज्य की ओर से दमन नीति के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकता है। इससे भी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(२) सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को खतरा—क्रान्ति के समय साम्प्रतिक अधिकार की सुरक्षा नहीं रह जाती है। इस दौरान में ऐसे बहुत से लोग सामने आ जाते हैं जोकि क्रान्ति की परिस्थितियों से पूरा लाभ उठाते हैं और वह इस रूप में कि वे लोगों की चल सम्पत्ति को लूट-पाट के द्वारा इकट्ठा करने में लग जाते हैं। कानूनी व्यवस्था भंग हो जाने तथा पूर्ण अराजकता फैल जाने के कारण बुरे लोगों को लूट-पाट करने का और भी अधिक अवसर मिल जाता है। इस प्रकार क्रान्ति के समय सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध की दरें बढ़ती हैं।

(३) क्रान्ति यौन उच्छृङ्खलता को बढ़ाती है—क्रान्ति के समय न केवल सामाजिक नियम टूट जाते हैं, बल्कि यौन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी समाप्त हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में यौन व्यवभिचार फैलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि क्रान्ति की विघटनात्मक परिस्थितियों से लाभ उठाकर बुरे लोग अपनी कामुकता को तृप्त करने में प्रवृत्त होते हैं। स्त्री, बहन तथा माताओं की इज्जत लूट लेने में भी उन्हें संकोच नहीं होता है और उन्हें वेद्यों की स्थिति तक घसीट लाते हैं। फ्रांस की क्रान्ति के समय पेरिस नगर में वेद्यों की संख्या में



तेजी से वृद्धि हुई। रूस के गृह-युद्ध के समय में भी वेध्यावृत्ति तथा यौन उच्छृङ्खलता बहुत बढ़ गयी थी। इसीलिए क्रान्ति के समय विवाह विच्छेद की दर भी बढ़ जाती है।

(४) क्रान्ति मानव जीवन का नाश करती है :—क्रान्ति का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इस दौरान में अनेक व्यक्तियों को अपने जान से हाथ धोना पड़ता है। जीवन का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। चारों ओर आतंक, रक्तपात तथा हत्याओं का ही राज्य होता है। क्रान्तिकारी वर्ग जिसे पाते हैं उसी को मारते हैं चाहे वह जवान हो या बूढ़ा, स्त्री हो या पुरुष, किशोर हो या बालक। निरपराध जनता को खूब दिल भर कर तरसाया जाता है। क्रान्ति का आधार ही हिंसा और हिंसात्मक साधनों का प्रयोग होता है। इसीलिए क्रान्ति मानव जीवन का नाश करती है।

(५) क्रान्ति धर्म पर भी आघात करती है :—क्रान्ति नवीन परिवर्तन की चाहत में इतना अधिक उतावली हो उठती है कि जो कुछ भी परम्परागत व रूढ़िवादी है उसका वह कठोरता से विरोध करती है। इसीलिए धर्म भी क्रान्ति के आघात से बच नहीं पाता है। वास्तव में क्रान्ति की सफलता के लिए रूढ़िवादी धर्म को नष्ट करना आवश्यक है, यह विश्वास क्रान्तिकारी नेताओं का होता है। इसी लिए वे धर्म पर आघात करते हैं। फ्रांस तथा रूस की क्रान्ति के समय ऐसा ही हुआ था। इस प्रकार क्रान्ति धर्म के लिए घातक होती है।

### क्रान्ति का समाजशास्त्र

#### (The Sociology of Revolution)

“सामाजिक क्रान्ति” के सम्बन्ध में श्री सोरोकिन का गहन अध्ययन आप की पुस्तक दो सोशियोलॉजी ऑफ़ रिवोल्यूशन (The Sociology of Revolution) में मिलता है। श्री सोरोकिन का यह अध्ययन सामाजिक क्रान्तियों से उत्पन्न होने वाले परिणामों तथा परिवर्तनों की एक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है और यह सुझाव देता है कि ऐसी परिस्थितियों में सामाजिक नियन्त्रण की रूपरेखा क्या होनी चाहिए।

श्री सोरोकिन के मतानुसार सामाजिक क्रान्तियाँ न तो एक स्वभाविक प्रक्रिया हैं और न ही उनसे समाज का कोई हित होने की सम्भावना होती है। सामाजिक क्रान्ति वह व्याधिकीय (Pathological) अवस्था है जिसमें एक ओर लोगों के व्यवहार में और दूसरी ओर उनके मस्तिष्क, विचारधारा, विश्वासों तथा मूल्यांकनों में परिवर्तन हो जाता है। इतना ही नहीं क्रान्ति से जनसंख्या की जैविकीय रचना (Biological Composition) तथा जन्म-दर और मृत्यु-दर में भी उल्लेखनीय परिवर्तन होता है। क्रान्ति से अनेक गम्भीर परिणाम होते हैं जिनमें समाज की समाज संरचना (Structure) की विकृत (Deformation) सबसे महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक ढाँचा अत्यधिक अव्यवस्थित हो जाता है।



अतः स्पष्ट है कि सामाजिक क्रान्ति कोई सन्तोषजनक अवस्था नहीं, बल्कि एक व्यावहिकीय अवस्था है और इसके परिणाम समाज के लिए अत्यन्त दुःखद तथा अश्विनकर होते हैं। दूसरे मंचों में सामाजिक क्रान्ति समाज में कुछ ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न करती है, जो सामाजिक संगठन, एकता, प्रगति तथा व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए हानिकारक होते हैं। इस कारण क्रान्ति की स्थिति में हम सम्पूर्ण परिस्थिति का बड़ी सावधानी से सामना करना चाहिये। विशेषतः राज्य का समस्त कार्य अति विवेकपूर्ण रूप से संचालित होना चाहिए।

सामाजिक क्रान्ति का सामाजिक सदस्यों पर पड़ने वाले जिन प्रभावों का वर्णन श्री सोरोकिन ने किया है वह वास्तव में रोचक है। सामाजिक क्रान्ति में जो नवीन सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उनका महत्वपूर्ण प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। सामाजिक क्रान्ति के दौरान में कुछ विशेष प्रकार के व्यक्ति उच्चतम आर्थिक तथा वैधानिक पदों तक पहुँच जाते हैं। अधिक तथा कानूनी दृष्टि से क्रान्ति के समय दो प्रमुख वर्ग स्पष्ट हो जाते हैं। प्रथम वर्ग में वे लोग आते हैं जोकि क्रान्ति में सक्रिय भाग लेते हैं, इस कारण प्रायः पकड़कर अदालत के सामने खड़े किये जाते हैं और उन पर मुकदमा चलाया जाता है। इस प्रकार अदालत में इस वर्ग के लोगों की भीड़ बढ़ती है। दूसरे वर्ग में वे लोग आते हैं जो क्रान्ति में सक्रिय भाग तो नहीं लेते हैं पर क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों में पुरा-पुरा लाभ उठाकर अपना उल्लू सीधा करने में लग जाते हैं। ये लोग बाजार भाव को ऊँचा उठाकर या दूसरे तरीकों से अधिक से अधिक धन कमाने या लूट पाट की चीजों को इकट्ठा करने में जुट जाते हैं। सामान्यतया क्रान्ति के दौरान में कुछ विशिष्ट प्रकार के लोग सबसे आगे आ जाते हैं, जैसे कि उद्योगी तथा विनाशकारी प्रवृत्तियों वाले या लोग वे लोग जिनका कि मानसिक दृष्टिकोण इतना संकीर्ण होता है कि वे क्रान्ति से होने वाले असीमित विनाश के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकने वाले संकटों का अनुमान भी नहीं लगा सकते या वे लोग जो कि असंतुलित मस्तिष्क के या सनकी अथवा हठधर्मी हैं, या वे लोग जो कि अतृप्त वासनाओं, घृणा-भाव या उत्तेजना से भरपूर हैं या वे लोग जिन्हें कि दूसरों के दुःख कष्ट की कोई परवाह नहीं होती है। क्रान्ति के दौरान में ऐसे लोगों का ही बोलबाला होता है जो कि सारे समाज को विषाक्त करते हैं। यह विष समाज के सदस्यों की मनोदशा, विश्वासों, भावनाओं तथा धारणाओं में भी क्रियाशील हो जाता है और समाज का सम्पूर्ण वातावरण अष्ट तथा कलुषित हो जाता है। कुछ भी हो सामाजिक क्रान्ति के दौरान में संकीर्ण मनोवृत्ति वाले, विचारान्ध और विध्वंस में विश्वास करने वाले लोगों की ही तूती बजती है। इसके विपरीत वे लोग जो कि शान्तिप्रिय, उदार विवेकी रचनात्मक विचार वाले तथा दयालु हैं, क्रान्ति के समय सबसे पीछे रह जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण पद प्राप्त हो पाते हैं और साथ ही इन्हें प्रथम वर्ग के अनेक अन्याय, अत्याचार तथा दुर्व्यवहारों को भी सहन करना पड़ता है।

सामाजिक क्रान्ति के दौरान में राज्य के कार्यों (State action) का भुकाव



(trend) किम प्रकार का होता है, उसका भी श्री सोरोकिन ने विश्लेषण तथा निरूपण किया है। क्रान्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में राज्य का कार्य अर्थात् क्रान्तिकारियों के प्रति राज्य का मनोभाव बहुत अधिक कठोर और सुचिन्तित नहीं होता है। इन प्रारम्भिक अवस्थाओं में राज्य क्रान्तिकारियों के कारनामों को अधिक महत्व नहीं प्रदान करता है और न ही उनके दमन के लिए कोई सुनिश्चित योजना बनाता है। इससे क्रान्तिकारियों को एक प्रकार का अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिलता है और साथ ही क्रान्ति को और भी विस्तृत तथा गहन रूप देने का भी अवसर उन्हें मिल जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रारम्भिक अवस्था में सामाजिक संगठन बड़ी तेजी से अनियन्त्रित तानाशाही स्वशासन (Uncontrolled anarchical autonomy) की दिशा की ओर बढ़ता है। तब राज्य क्रान्ति की ओर से पूर्णतया चौकन्ना हो जाता है और दमन नीति को धीरे-धीरे कठोर बनाता जाता है। इसके फलस्वरूप सामाजिक संगठन एक विपरीत दिशा अर्थात् निरंकुश अवस्था की ओर बढ़ता है। यह निरंकुशता क्रान्ति से पहले पाई जाने वाली निरंकुशता से कहीं अधिक कठोर होती है। इस स्तर पर राज्य क्रान्ति को पूर्णतया कुचलने या कम से कम क्रान्तिकारियों को एक अच्छा पाठ पढ़ाने या 'जैसे को तैसा' की नीति को अपनाकर क्रान्तिकारियों से बदला लेने का कठोर तथा नियोजित (planned) प्रयत्न करता है। राज्य की यह कुचलने की नीति या तो क्रान्ति को बिलकुल ही समाप्त कर देती है या उसे और भड़का देती है। दूसरे शब्दों में, राज्य की दमन नीति या तो क्रान्ति को बिलकुल दबा देती है या उस दमन नीति की एक विपरीत प्रतिक्रिया होती है और क्रान्ति की आग और भी तेजी से जलने और फैलने लगती है। क्रान्ति के समाप्त हो जाने पर भी राज्य की दमन नीति कुछ समय तक चालू रहती है, परन्तु प्रायः कठोरता धीरे-धीरे कम होती है और उदारता बढ़ती जाती है।

जिससे समाज में क्रान्ति की स्थिति पनपने न पाये, इसके लिए श्री सोरोकिन ने एक कार्यक्रम (programme) प्रस्तुत किया है। यह कार्यक्रम चार सिद्धान्तों (canons) पर आधारित है—(१) किसी भी सुधार कार्य में मानवीय स्वभाव तथा विकास के आधारभूत सिद्धान्तों का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में कोई भी सुधार कार्यक्रम ऐसा न हो जो मानव स्वभाव तथा भावनाओं के विपरीत हो। (२) परन्तु इससे भी पहले यह आवश्यक है कि ठोस सामाजिक अवस्थाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाये ताकि उस समाज के लोगों तथा उनकी आवश्यकताओं, स्वभाव तथा भावनाओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त हो सके। (३) किसी भी सुधार कार्यक्रम को पहले छोटे पैमाने पर लागू करके उस की परीक्षा कर लेनी चाहिए ताकि यह मालूम हो सके कि इसको बड़े पैमाने पर किस सीमा तक लागू किया जा सकता है, और (४) सम्पूर्ण सुधार कार्यक्रम वैधानिक एवं संवैधानिक नियमों के दायरे के अन्दर ही होना चाहिये।

श्री सोरोकिन का दृढ़ विद्वान्ता है कि संघर्षों तथा युद्धों का अन्त करने के लिए संसार में एक रचनात्मक पदार्थवादी व्यवस्था की स्थापना परमावश्यक है।



केवल आर्थिक या राजनैतिक अनुकूलन अहंवादों या स्वार्थी मनोभाव को समाप्त करके पदार्थवाद को उन्नत नहीं कर सकता है। इस कारण पदार्थवादी आन्दोलन को सम्पूर्ण विश्व में फैलाना होगा। इससे अनेक अंशों में हृदय की वह विशालता तथा विचारों की वह उदारता प्राप्त हो सकती है जिसके प्रभाव में हिंसा-अनुकूल या विश्व-शांति की कल्पना एक निरर्थक सपना ही बना रहेगा।

—: • :—



कक्षा में करुणा चुपचाप उदास बैठी थी। सब छात्रायें एक-एक करके अपनी फीस देकर चली गयीं। कक्षा खाली हो गई, केवल एक कोने में करुणा सिर नीचा किये बैठी रह गई। फीस रजिस्टर से सिर उठाकर करुणा को देखा। आवाज देकर पास बुलाया। पूछा फीस क्यों नहीं लायी करुणा ? कुछ नहीं बोली वह। चुपचाप खड़ी रही। गुस्सा आया उस ढीठ लड़की पर। कस कर डाँटा। हर महीने ऐसा करती है, कभी ठीक समय पर फीस नहीं लाती, अगर आइन्दा ऐसी हरकत की तो नाम काट दिया जायेगा। मेरी डाँट और बड़बड़ाना सुनकर करुणा ने एक बार सिर उठाकर मेरी तरफ देखा और फिर सिर नीचा कर लिया। पर दूसरे पल ही उसकी आँखों से अविरल आँसू टप-टप भरने लगे। मैं भौचक्की सी रह गयी। मन में आया अनजाने में कहीं दिल न दुखाया हो करुणा का। काम बन्द करके उसको वाहों में बाँध कर पास लायी। पूछा क्या बात है ? कुछ न बोली करुणा। फिर पूछा। मैंने कहा टीचर माँ या बड़ी बहन की तरह होती है, उससे कुछ नहीं छिपाना चाहिए, सब सच-सच कह देना चाहिए। करुणा ने रुक-रुक कर रोते हुये जो कुछ कहा वह वास्तव में बहुत ही हृदय विदारक था। करुणा के पिताजी एक साहूकार के मुन्शी हैं। केवल १२० रुपये तनखाह मिलती है। करुणा सात भाई बहन हैं। सबसे बड़ी करुणा है। पिताजी जो कुछ कमाते थे उससे गृहस्थी का खर्चा नहीं चलता था। इसीलिये माता जी को दिन और रात एक करके घर पर सिलाई का काम करना पड़ता था। उससे काफी आमदनी हो जाती थी और घर का खर्चा किसी प्रकार चल जाता था। पर अत्यधिक परिश्रम तथा गृहस्थी का भार एक साथ माँ पर पड़ने के कारण उनका स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता गया। फिर भी काम उनका बन्द न हुआ, पर पिछले चार-पाँच महीनों से माँ ने विस्तर पकड़ लिया है। साँस की बीमारी तथा पेट के अन्दर का एक फोड़ा। दोनों ने मिलकर उन्हें लिटा दिया है विस्तर पर। अब माँ की आमदनी बन्द हो गई है, उस पर बीमारी में भी खर्चा हो रहा है। यह सब खर्चा पिताजी ने उधार लेकर ही किया है। कर्ज काफी चढ़ गया है पिछले पाँच महीनों में। जिन लोगों से कर्ज लिया है, अब ये घर पर तगादा करने आते हैं। बाबूजी घर पर होते हुए भी उनसे मिलने बाहर नहीं निकलते हैं। कोई न कोई बहाना कर देना पड़ता है। पर कभी-कभी वे लोग पिताजी को घर के सामने ही पकड़ते हैं, गाली सुनाते हैं, भगड़ा करते हैं, मारने तक को उतारू हो जाते हैं। बच्चों के सामने पिताजी का सिर नीचा हो जाता है। माँ की दवा बन्द



हो गयी है। पिछले चार दिन से खाना पीना भी बन्द ही कहा जा सकता है। दो दिन केवल चना उबाल कर नमक से खाया है घर के सब लोगों ने। करुणा को पढ़े-लिखे का बहुत दौक है, इसीलिये जबरदस्ती स्कूल चली आती है। विनाजो ने तो साफ कह दिया है कि अब वे फीस नहीं दे सकेंगे। करुणा को शायद स्कूल छोड़ देना पड़ेगा। पर उसके लिए भी करुणा को दुख नहीं है, अगर उसकी माँ अच्छी हो जाये। छोटे छोटे भाई बहन हैं, सबसे छोटी बहन को एक साल की भी नहीं है। अगर माँ को कुछ हो गया तो करुणा अकेली क्या करेगी? कल रात से माँ की तबीयत बहुत खराब है। माँ शायद अब अच्छी नहीं होगी—माँ शायद मर जायेगी। गरीबी मार डालेगी माँ को और उससे साथ ही पूरे घर को। करुणा फिर रोने लगी—अब तो फूट-फूट कर रोने लगी। मैं कुछ न कह सकी। अमहाय बँटी रह गयी दरिद्रता के दानव के इस दयाहीन दारुण दलत का एक मुक साक्षी बन कर।

यही निर्धनता है। निर्धनजन की करुण कहानी है। इस अध्याय में उसी कहानी को दूसरे शब्दों में दोहराया गया है।

निर्धनता न केवल एक आर्थिक समस्या है, परन्तु यह एक सामाजिक अवस्था भी है। दूसरे शब्दों में, निर्धनता आर्थिक समस्या होते हुए भी, इसके फलस्वरूप अनेक सामाजिक समस्यायें भी उत्पन्न हो जाती हैं और स्वाभाविक (Normal) सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना बहुत कुछ टूट सा जाता है। निर्धनता का जो कटु रूप भारत में दिखाई देता है, वैसा शायद संसार के बहुत कम देशों में देखने को मिलेगा। औद्योगिक विकास और औद्योगीकरण ने इस देश की निर्धन जनता को और भी निर्धन बनाया है और धनी लोगों को अधिक धनवान। इस सम्बन्ध में कुछ अध्ययन करने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि निर्धनता किसे कहते हैं।

### निर्धनता का अर्थ और परिभाषा

#### (Meaning and Definition of Poverty)

जीवित रहने के लिए प्रत्येक मनुष्य की कुछ आधारभूत आवश्यकतायें होती हैं। आराम और विलासिता की वस्तुओं को अगर निकाल दिया जाय तो भी जीवन का एक न्यूनतम मान (Minimum Standard) बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को उचित भोजन, पर्याप्त वस्त्र तथा अच्छा मकान मिल सके और इनकी मात्रा इतनी हो कि स्वयं व्यक्ति की तथा उसके आश्रितों की इन वस्तुओं की आवश्यकतायें पूरी हो सकें। जब इन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो पाती और जब व्यक्ति तथा उसके आश्रितों का जीवन-स्तर उस न्यूनतम मान से भी नीचे गिर जाता है तो उस अवस्था को निर्धनता कहते हैं। अतः निर्धनता वह दशा है जबकि व्यक्ति तथा उसके आश्रितों को जीवन का एक न्यूनतम स्तर बनाये रखने के लिए आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं हो पाती है।

सर्व श्री गिल्लिन और गिल्लिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, “निर्धनता



वह दशा है जिसमें एक व्यक्ति, अपर्याप्त आय के कारण या विचारहीन व्यय करने के कारण अपने जीवन-स्तर को इतना ऊँचा नहीं रख पाता है कि उसकी शारीरिक तथा मानसिक कुशलता बनी रह सके और न ही वह व्यक्ति तथा उसके आश्रित उस समाज के, जिसका कि वह सम्बन्ध हैं, द्वारा निर्धारित मानों के अनुरूप लाभ-दायक ढंग से कार्य कर पाते हैं<sup>1</sup>। श्री गोडार्ड के शब्दों में, निर्धनता उन वस्तुओं का अभाव या अपर्याप्त पूर्ति है जो कि एक व्यक्ति तथा उसके आश्रितों को स्वस्थ एवं बनवान बनाये रखने के लिये आवश्यक है।<sup>2</sup> इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना है कि निर्धनता एक आपेक्ष (Relative) धारणा है। प्रत्येक समाज में यह धारणा भिन्न-भिन्न होती है। इसका यह कारण है कि “जीवन का न्यूनतम स्तर” (Minimum Standard of Life) प्रत्येक समाज में अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष और अमेरिका इन दो देशों को लीजिये। भारत का जीवन-स्तर अमेरिका की तुलना में बहुत गिरा हुआ है। इस कारण यहाँ औसत आकार के उन परिवारों को निर्धनता के स्तर पर नहीं लाया जा सकता जिनकी मानसिक आय ५०० रुपये प्रतिमाह है; परन्तु अमेरिका में इसी ५०० रुपये प्रतिमाह की आय वाले किसी परिवार को निर्धन ही कहा जायेगा। उसी प्रकार निर्धनता का सम्बन्ध बाजार भाव से भी है। क्योंकि कितने धन से कितनी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी यह बाजार भाव पर निर्भर करता है। पहले जब अनाज, कपड़ा आदि के मूल्य कम थे, तब ५० रुपये प्रतिमाह की आय वाले परिवार भी निर्धन न थे। इस समय २०० रुपये प्रति माह की आय वाले परिवार भी निर्धनता की दशा में हैं।

### भारत में निर्धनता के कारण (Causes of Poverty in India)

भारत की निर्धनता का कटु रूप इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में जीवन का स्तर संसार भर में अब भी सबसे नीचा है। भारत में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय सन् १९६४-६५ में केवल ३१७ रुपए थी जबकि अमेरिका में १,५०६ रुपये, कनाडा में १,२३६ रुपये और आस्ट्रेलिया में १,०७० रु० थे। उसी प्रकार भारतवर्ष में लोगों की औसत खुराक स्वीकृत पोषण-स्तर से बहुत कम है। अमेरिका के लोग जितनी और शक्ति इस्पात (Steel) का उपयोग करते हैं उसका क्रमशः १/७७ और १/१२२ भाग का उपभोग भारतीय जनता करती है। देश की आवादी का लगभग

1. “Poverty is that condition in which a person, either because of inadequate income or unwise expenditures, does not maintain a scale of living high enough to provide for his physical and mental efficiency and to enable him and his natural dependants to function usefully according to the standards of society of which he is a member.” Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, The Macmillan Co., New York, 1951 p. 758.

2. Poverty is “an insufficient supply to those things which are requisite for an individual to maintain himself and those dependant upon him in health and vigour.” J. G. Godard, *Poverty, its Genesis and Exodus*, p. 5.



आधा हिस्सा उपभोग्य वस्तुओं (Consumer goods) पर प्रतिमास औसतन केवल १२ रुपए खर्च करना है। प्रति व्यक्ति वस्तुओं का उपभोग केवल २१ गज प्रति वर्ष है। कानपुर, बम्बई आदि नगरों में ७० प्रतिशत व्यक्ति एक कमरे वाले मकानों में रहते हैं। देश में प्रायः ७४१ लाख मकानों की कमी है। इन सब आंकड़ों में ही भारतवर्ष में निर्धनता की समस्या का कुछ आभास होता है। भारत में निर्धनता के कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

### (१) सामाजिक कारण

#### (Social Causes)

(अ) जाति-प्रथा (Caste System)—भारतीय जाति-प्रथा आर्थिक प्रगति के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। इस प्रथा ने देश के लोगों को अनेक छोटे-छोटे खण्डों में बाँट दिया है। इससे देश के आर्थिक उत्थान के लिये आवश्यक एकता तथा सहयोग पनप नहीं पाता है। जाति-प्रथा के अन्तर्गत पैतृक पेशों (Hereditary Occupations) का सिद्धान्त लोगों की अन्तर्निहित शक्तियों को एक अत्यन्त सीमित आर्थिक क्षेत्र में बांध देता है, विशेषकर नीची जातियों के करोड़ों व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार देश की आर्थिक प्रगति में हाथ बँटाने का अवसर ही नहीं मिलता है। साथ ही, जाति-प्रथा श्रम और पूँजी की स्वतन्त्र गतिशीलता के मार्ग में बाधा है। उदाहरणार्थ, एक ब्राह्मण श्रमिक या एक ब्राह्मण पूँजीपति न तो चमड़े के उद्योग में काम करना और न ही उसमें अपनी पूँजी लगाना पसन्द करेगा। इससे बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास कुछ सीमा तक रुक जाते हैं। इतना ही नहीं, जाति प्रथा के अन्तर्गत सजातीय विवाह की स्वीकृति तथा अन्तर्जातीय विवाह की मनाही है। एक ही समूह में विवाह होते रहने से पैतृक गुणों का स्तर घटना जाता है जिससे अच्छी सन्तान उत्पन्न नहीं होती है। इससे आर्थिक प्रगति की गति भी धीमी हो जाती है क्योंकि देश में कुशल श्रमिकों की कमी होती है। जाति-प्रथा के कारण भारत के लोग 'श्रम की गरिमा' (Dignity of Labour) को ठीक-ठीक समझ नहीं पाते हैं। इसीलिये उच्च जाति के लोग उन कार्यों को जिन्हें कि नीच जाति के लोग करते हैं, कभी नहीं करना चाहते हैं।

(ब) संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System)—यह प्रणाली बहुत से लोगों को आलसी, निकम्मा और गैर जिम्मेवार बना देती है। जब बैठे-बैठे खाने को मिलता है तो काम करने के विषय में कौन सोचें? ऐसे व्यक्ति देश की आर्थिक उन्नति में कुछ भी हाथ नहीं बँटाते हैं। उधर परिवार में काम करने वालों को सबका पेट पालने के लिये इतना कठोर परिश्रम करना पड़ता है कि उनका स्वास्थ्य शीघ्र ही गिर जाता है और उनकी कुशलता भी घट जाती है। इस प्रकार वे भी देश के आर्थिक विकास में अधिक समय तक अपना सहयोग प्रदान नहीं कर पाते। संयुक्त परिवार के बन्धन में व्यक्ति इस प्रकार बाँध जाता है कि उसे छोड़कर कहीं भी जा नहीं पाता है, इससे श्रमिक की गतिशीलता रुक जाती है। संयुक्त परिवार प्रणाली बाल-विवाह को प्रोत्साहित करती है, जिससे देश की जनसंख्या तेजी से बढ़ती है और



साथ ही देश में निर्धनता की भी वृद्धि होती है।

(स) स्त्रियों की गिरी हुई दशा (Degraded Position of Women)—हमारे देश में स्त्रियों की दशा भी अत्यन्त दयनीय है, इन्हें न तो उचित शिक्षा दी जाती है और न ही अन्य सामाजिक अधिकार। अशिक्षित होने के कारण वे आवश्यकता पड़ने पर घर से बाहर निकल कर उपार्जन नहीं कर पातीं, और न ही अन्य कुमस्कारों से अपने को मुक्त कर पाती हैं। उनका कोई सामाजिक अधिकार न होने के कारण ही कम आयु में बिना उनकी सम्मति के उनका विवाह हो जाता है। बिना किसी योजना के बच्चा पैदा करना और बिना कोई महान् कार्य किये मर जाना ही उनकी भाग्यलिपि होती है। देश की आर्थिक उत्पादक क्रियाओं (Productive activities) में उनका अनुदान (Contribution) बहुत कम होता है।

(द) अशिक्षा (Illiteracy)—अशिक्षा और वर्तमान शिक्षा प्रणाली में दोष भारत में निर्धनता का एक प्रमुख कारण है। इस देश में कुल जनसंख्या का केवल २४ प्रतिशत साक्षर है और गाँवों में, जहाँ भारत की लगभग ८३ प्रतिशत जनता निवास करती है, साक्षरता का प्रतिशत केवल १६ है। टेक्नीकल शिक्षा, ट्रेनिंग के लिए उचित प्रबन्ध तो देश में और भी कम है। यहाँ नये कारखानों में काम करने के लिये कुशल कारीगर नहीं मिल पाते हैं। जब तक विकास के हर क्षेत्र में औद्योगिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की बहुत कमी बनी रहेगी तब तक देश की आर्थिक दशा नहीं सुधर सकती। उधर जो हजारों विद्यार्थी बी० ए० और एम० ए० की उपाधियाँ लेकर भारतीय विश्वविद्यालयों से निकल रहे हैं, वे भी व्यावहारिक जगत में किसी भी काम के नहीं होते।

(य) बीमारी तथा निम्न स्वास्थ्य-स्तर (Diseases and Lower Standard of Health)—भारतवासियों को अनेक भयंकर रोग सदा घेरे रहते हैं। मलेरिया, चेचक, प्लेग, टी० बी०, कैंसर आदि रोगों से लाखों व्यक्ति इस देश में पीड़ित रहते हैं जिसके कारण मलों, कारखानों आदि से उन्हें प्रायः छुट्टी लेनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, कपड़ा-उद्योग में प्रायः १५ प्रतिशत श्रमिक अनुपस्थित रहते हैं। इससे उत्पादन घटता है और श्रमिक रोजगार भी। बीमारी और निम्न स्वास्थ्य-स्तर के कारण यहाँ मृत्यु-दर (Death-rate) २१.६ व्यक्ति प्रति हजार है। और यहाँ लोग औसतन केवल ४१ वर्ष जीवित रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि यहाँ अनुभवी तथा योग्य व्यक्तियों की नितान्त कमी है। व्यक्ति के २० या ३० वर्ष के अनुभव से जब राष्ट्र को लाभ उठाने का समय आता है, उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती है। यही कारण है कि भारतवर्ष में आविष्कारों और सामाजिक परिवर्तन की गति इतनी धीमी रही है।

(र) गन्दी बस्तियाँ (Slums)—गन्दी बस्तियों के सामाजिक-आर्थिक दुष्परिणाम क्या हैं इस विषय में हम पिछले एक अध्याय में विस्तारपूर्वक बता चुके हैं। यहाँ केवल बहुत संक्षेप में इतना कहेंगे कि इन गन्दी बस्तियों में रहने से श्रमिक अनेक प्रकार के भयंकर रोगों के शिकार बन जाते हैं और उनका स्वास्थ्य दिन-प्रति-



दिन गिरता जाना है। स्वास्थ्य गिरने के कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता भी गिर जाती है। कार्यक्षमता घट जाने के कारण उत्पादन और आय दोनों ही कम हो जाती है, और इससे निर्धनता बढ़ती है।

## (२) राजनैतिक कारण (Political Causes)

(क) ब्रिटिश साम्राज्यवाद (British Imperialism)—ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति ने भारतीय आर्थिक व्यवस्था को बिल्कुल खोखला बना दिया था। उन की आर्थिक नीति सदैव ही यह रही कि वे भारत से कच्चे मालों को बहुत ही कम दामों में खरीद कर अपने देश में ले जाकर अपने उद्योग-धन्धों को नूतन विकसित करना और उन उद्योगों में बने मालों को फिर इस भारत में लाकर ऊँचे दामों में बेचना। इस प्रकार की नीति से प्रत्येक प्रकार से अंग्रेजों को सदा लाभ होता रहा। साथ ही एक ओर यहाँ के उद्योग-धन्धे पतन न सके और जो कुछ पतने भी उससे ग्रामीण-उद्योगों का विनाश होता गया। इसके अतिरिक्त भारत पर जो शासन-सम्बन्धी व्यय होता था उसे भी अंग्रेज भारत से ही वसूल करते थे। इन पवों में करोड़ों रुपया यहाँ से इंग्लैंड को चला जाता था। अंग्रेजों ने भारत से ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त कर दिया, परन्तु उनके द्वारा ही स्थापित मुद्द, भयंकर निर्धनता का साम्राज्य आज भी इस देश में अटल है।

(ख) युद्ध (War)—पिछले दो विश्वयुद्धों ने भी भारत की निर्धनता को बढ़ाया है। विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् देश की आर्थिक स्थिति में जो अमंतुलत प्रारम्भ हुआ उनका अन्त आज भी नहीं हुआ है। इस युद्ध के फलस्वरूप जो मुद्रा-स्फीति (Inflation) की स्थिति उत्पन्न हुई थी उस पर आज भी नियन्त्रण नहीं हो पाया है।

## (३) व्यक्तिगत कारण (Individual Causes)

(अ) बीमारी (Sickness)—सामान्य निर्धनता का प्रमुख कारण बीमारी है। बीमारी मनुष्य को दुर्बल और निष्क्रिय बना देती है; वह काम करने के योग्य नहीं रहता और उसकी आय बन्द हो जाती है। साथ ही बीमारी का इलाज करवाने में भी काफी धन बर्बाद हो जाता है।

(ब) मानसिक रोग (Mental Diseases)—सामान्य बीमारियों से कहीं अधिक दुःखदायी मानसिक रोग होते हैं। मानसिक रोग भी मनुष्य को कार्य करने के अयोग्य बना देते हैं और उनकी आय बन्द हो जाती है। साथ ही, मानसिक रोगों की बिक्रित्ता उतनी सरल नहीं होती है जितनी कि शारीरिक रोगों की। अनुमान है कि भारत में कम से कम ८ लाख मानसिक रोगी ऐसे हैं जिन्हें अस्पताल में रखने की आवश्यकता है।

(स) दुर्घटनाएँ (Accidents)—भारतवर्ष में रेलगाड़ी, मोटर, हवाई-याताय



आदि की जितनी दुर्घटनाएँ होती हैं, उतनी सायद और किसी देश में नहीं होती। साथ ही, भारतीय श्रमिकों को मिल और कारखानों में पुरानी, टूटी-फूटी मशीनों पर काम करना पड़ता है और उनके लिये सुरक्षा की व्यवस्था (Safety measures) भी अधिकतर उद्योगों में बहुत कम है। इस कारण मिलों, कारखानों, खानों आदि में बहुत ज्यादा दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। फलतः अनेक व्यक्ति या तो मर जाते हैं या उनके शरीर का कोई न कोई अंग बेकार हो जाता है। इस प्रकार से उत्पन्न स्थायी या अस्थायी असमर्थता भी निर्धनता को बढ़ाती है। दुर्घटनाओं से कमाने वाले की मृत्यु हो जाने पर भी निर्धनता बढ़ती है।

(ब) बुरी आदतें (Bad Habits) — उपर्युक्त व्यक्तिगत कारणों के अतिरिक्त कुछ बुरी आदतें व्यक्ति को निर्धन बना देती हैं। इन बुरी आदतों में वेश्यावृत्ति नशा, जुआ खेलना आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये तीनों बुरी आदतें व्यक्ति के निजी तथा पारिवारिक जीवन के आर्थिक आधार को बिल्कुल खोखला बना देती हैं।

#### (४) आर्थिक कारण (Economic Causes)

(क) खेती की पिछड़ी दशा (Backward Condition of Agriculture) — भारत एक खेतीहर देश है। यहाँ कुल जनसंख्या का प्रायः ७० प्रतिशत अपनी जीविका के लिए अत्यल्प रूप से खेती पर निर्भर है, फिर भी देश में खेती की दशा अत्यन्त दयनीय और पिछड़ी हुई है। जैसा कि पिछले एक अध्याय में उल्लेख किया गया है भारत में प्रति एकड़ चावल की उपज १,०४८ पौंड है, जबकि चीन और जापान में यह उपज क्रमशः २,२४८ पौंड और ३,३२१ पौंड प्रति एकड़ है। उसी प्रकार भारत में प्रति एकड़ गेहूँ की उपज ५६३ पौंड है, जब कि इटली तथा फ्रांस में यह उपज क्रमशः १,१७४ और १,६१० पौंड प्रति एकड़ है। भारत में प्रति एकड़ कपास (ओटी हुई) की उपज केवल ८७ पौंड है, जबकि अमेरिका तथा मिश्र में यह उपज क्रमशः ३१२ और ५६० पौंड है।<sup>३</sup> इन तुलनात्मक आँकड़ों के अध्ययन से पता चलता है कि दूसरे देशों की अपेक्षा भारतीय कृषि कितनी पिछड़ी दशा में है। इससे यह भी पता चलता है कि देश में खाद्यान्न तथा कच्चे मालों की इतनी कमी क्यों है। यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि प्रति एकड़ इतनी कम उपज होने से देश को कितनी अधिक आर्थिक हानि होती है।

(ख) बुनियादी उद्योगों की पिछड़ी दशा (Backward Condition of Key Industries) — केवल खेती ही नहीं, बुनियादी उद्योगों की दशा भी भारतवर्ष में अत्यन्त पिछड़ी हुई है। भारत की सक्रिय जनसंख्या का केवल २५ प्रतिशत बड़े-बड़े कारखानों में काम करता है। इस देश में उद्योगों का विकास केवल पिछले सौ वर्षों में हुआ है। अनेक दिनों तक इनमें विदेशी पूँजी की ही प्रधानता रही।



विश्व युद्धों ने इस देश के उद्योगों को विकसित होने का पर्याप्त अवसर दिया। परन्तु यह विकास प्रधानतः सरकार, कपड़ा, वनस्पति, साबुन आदि उपभोग्य वस्तुओं (Consumer goods) के उत्पादन तक ही सीमित रहा। उत्पादन कार्य में सहायता करने वाली वस्तुओं जैसे, लोहा और इस्पात, वैज्ञानिक औजार, बिजली के भारी यन्त्र, खनिज तेल, वायु-परिवहन, नौका-परिवहन जहाज आदि बनाने के कारखानों की नितान्त कमी आज भी देश में है। इससे एक ओर अन्य उद्योगों का विकास शीघ्रता से नहीं हो पाता है और दूसरी ओर मशीनों को विदेशों से मंगवाने से देश का काफी धन बाहर चला जाता है।

(ग) पूँजी-निर्माण का कम दर तथा अनुत्पादक संचय (Lesser Capital formation and unproductive savings) — भारत में पूँजी का संचय अप्रत्यक्ष कम होता है और ऐसा होना ही स्वाभाविक है। जिस देश में लोगों को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए ही पर्याप्त धन नहीं मिलता वहाँ धन बचाने या संचय करने का प्रवृत्ति ही कहाँ उठता है। ऐसी दशा में देश में पूँजी का कम संचय होना स्वाभाविक है और पूँजी का कम संचय होने से उद्योग-धन्धों का भी धीमी गति से विकास होता है। इससे देश निर्धन बना रहता है। सन् १९५८-५९ में भारतवर्ष में छोटी बचतों का परिणाम केवल ८५ करोड़ रुपये था। सन् १९५८-५९ में देश में कुल निश्चित पूँजी संचय का परिमाण था ६७५ करोड़ रुपये अर्थात् राष्ट्रीय आय का केवल ७.७ प्रतिशत था। इस देश में पूँजी संचय की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ जो धन लोग बचाते भी हैं उसे उत्पादक कार्यों में विनियोग (Invest) नहीं करते बल्कि उसका काफी हिस्सा या तो गाड़कर रख दिया जाता है अथवा सोना-चाँदी के जेवर बनवा लेते हैं। अनुमान है कि इस देश का लगभग १,२०० करोड़ रुपया सोने-चाँदी के जेवरों के रूप में बेकार पड़ा हुआ है।

(घ) योग्य और निपुण साहसिकों की कमी (Paucity of able and efficient entrepreneurs) — भारत में अत्यन्त कुशल इन्जीयरों तथा प्रौद्योगिक विशेषज्ञों (Technical experts) की ही कमी नहीं है, अपितु योग्य और निपुण साहसिकों की भी कमी है जो नये-नये उद्योगों को प्रारम्भ करने तथा कल्पना शक्ति रखने वाले व्यक्ति हों जो जोखिम उठाने की पूरी योग्यता रखते हैं, और जो देश के औद्योगिक विकास को ठीक ढंग से संचालित कर सकें। इसीलिये देश में केवल वे ही बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे स्थापित हो पाये हैं, जिनमें बहुत कम जोखिम है। उद्योग-धन्धों के एक सीमित क्षेत्र में विकसित होने से हमारे देश के आर्थिक विकास में बहुत बाधा पड़ती है और देश निर्धन बना रहता है।

(ङ) समुचित बैंकिंग व साख-सुविधाओं की कमी (Lack of banking and credit facilities) — किसी देश के आर्थिक विकास में बैंकिंग व साख सुविधाओं का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है, ये एक ओर तो जनता की बचतों को एकत्र कर देश में पूँजी-निर्माण में सहायता देते हैं, और दूसरी ओर, उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को साख देकर उनके कार्य में सहायता देते हैं। भारत में समुचित बैंकिंग व साख-



सुविधाओं की कमी है। नगरों में कुछ बैंकिंग सुविधा प्राप्त हैं, परन्तु गाँवों में बैंकों का नाम तक नहीं है। गाँव में जो सहकारी साख-समितियाँ हैं उनकी साख देने की क्षमता तथा सख्या इतनी कम है कि उससे ग्रामीण साख आवश्यकताओं का केवल ३ प्रतिशत पूरा हो पाता है। देश में पर्याप्त व समुचित बैंकिंग व साख-सुविधाओं की कमी के कारण एक ओर तो लोगों की सभी वचतें एकत्र नहीं हो पातीं और देश में पूँजी-निर्माण बहुत कम मात्रा में हो पाता है जिससे देश के आर्थिक विकास में रुकावट पड़ती है और दूसरी ओर घरेलू तथा छोटे-छोटे उद्योग-वन्धे आर्थिक कठिनाइयों के कारण पनप नहीं पाते हैं।

(च) परिवहन व संचार के उन्नत साधनों की कमी (Lack of well-developed means of Transport and Communication)—उद्योग-वन्धों, व्यापार और वाणिज्य में उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि देश में परिवहन तथा संचार के साधन उन्नत दशा में हों। परिवहन के साधन ही श्रमिकों तथा कच्चे मालों को औद्योगिक केन्द्र तक और विभिन्न उद्योगों में बनी हुई वस्तुओं को विक्रय केन्द्रों तक पहुँचाते हैं। इस दृष्टि से हमारा देश अभी काफी पिछड़ा हुआ है। नगरों में इस प्रकार के साधन कुछ उन्नत हैं परन्तु गाँवों में इस प्रकार के साधनों का नितान्त अभाव है। भारत में बहुत कम गाँव ऐसे हैं जो पक्की सड़कों द्वारा नगरों और मण्डियों से मिले हुए हैं। रेलगाड़ी, तार, टेलीफोन आदि की सुविधाएं गाँवों में न के बराबर हैं। इसका एक सामान्य परिणाम यह होता है कि ग्रामवासी अपनी उपजों को ठीक ढंग से बेच नहीं पाते और उन्हें उचित मूल्य नहीं मिलता। इससे भारत की प्रायः ८० प्रतिशत जनता निर्धन बनी रहती है।

(छ) श्रमिकों की निम्न कार्यक्षमता (Lesser efficiency of the workers)—भारत की निर्धनता का एक कारण यह भी है कि यहाँ के श्रमिकों की कार्यक्षमता कम है जिसके कारण उत्पादन कम होता है और श्रमिकों को वेतन भी कम मिलता है। कहा जाता है कि भारतीय श्रमिकों की अपेक्षा अन्य प्रगतिशील देशों के श्रमिक प्रायः तीन गुणा अधिक काम करते हैं। लेकिन यह तथ्य सर्वथा सत्य नहीं है। यदि भारतीय श्रमिक कम कुशल हैं और यदि उत्पादन कम होता है तो उसके लिए श्रमिक उतना उत्तरदायी नहीं है जितनी कि वे दयनीय दशायें जिनमें उनको रहना तथा काम करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकों की अकुशलता, कच्चे माल का घटियापन, आधुनिकतम मशीनों तथा प्रविधियों का उपयोग न किया जाना आदि अन्य कारण हैं जिससे उत्पादन कम होता है। कारण कुछ भी हो, परन्तु इतना निश्चित है कि भारतवर्ष में उत्पादन की मात्रा कम है और इसका प्रभाव राष्ट्रीय आय के परिणाम पर पड़ता है और निर्धनता से देश का पीछा नहीं छूटता।

(ज) प्राकृतिक साधनों का अपर्याप्त उपयोग (Inadequate utilization of natural resources)—यह सच कहा गया है कि “प्रकृति ने भारतवर्ष पर उपहारों (प्राकृतिक साधनों) की वर्षा उदार हाथों से की है, पर मनुष्य उनसे पूरा



लाभ उठाने में सफल नहीं हुआ। यहाँ प्रकृति की उदारता की तुलना में मनुष्य की निर्धनता अति अद्भुत है।<sup>4</sup> इस देश में प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है परन्तु वर्तमान अवस्था यह है कि भारतवासी उन साधनों को उचित ढंग से उपयोग में नहीं ला पा रहे हैं और इस कारण सब कुछ होते हुए भी वे निर्धन बने हुए हैं। भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जायेगी :—

भारत एक उप-महाद्वीप (Sub-continent) है। प्रकृति ने इसे १२,६१,५६७ वर्ग मील का विशाल क्षेत्र प्रदान किया है। भारत का यह क्षेत्रफल ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल का १३ गुना, और जापान के क्षेत्रफल का ८ गुना है। खेती के लिये प्रकृति ने गंगा के मैदान जैसी उपजाऊ भूमि भी प्रदान की है। यह मैदान १५० से २०० मील तक चौड़ा और पूर्व से पश्चिम तक १५०० मील लम्बा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु वाली कई प्रकार की भूमि भी भारतवासियों को प्रकृति से प्राप्त है। इस भूमि पर अनेक प्रकार की फसलें उगाई जा सकती हैं। भारत की वन सम्पत्ति भी काफी है। भारत में वनों का कुल क्षेत्रफल २.६६ लाख वर्ग मील अर्थात् भारत के कुल भू-क्षेत्र का लगभग २२ प्रतिशत है। इन वनों से सागौन (Teak), साल, शीशम और देवदार की उत्तम तथा मूल्यवान इमारती लकड़ी, तथा चीड़, सिल्वर, फर, नीला, पाइन, चन्दस, सीसू, बबूल और आम व शहतूत की उपयोगी लकड़ी मिलती है। विभिन्न प्रकार की लकड़ी और जलाने की लकड़ी, की कुल वार्षिक उत्पत्ति ६०,००० घन फीट (cubic feet) के लगभग है। इसके अतिरिक्त बांस, बेंत, गोंद, चमड़ा रंगने का सामान, कट्या, सुपारी, कुनैन, हींग, रबड़, शहद, मोम, लाख आदि वनों की अन्य उपजें हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि लाख की उपज में भारत का विश्व में व्यावहारिक रूप से एकाधिकार है। भारत खनिज-सम्पत्ति में भी बहुत धनी है। भारत में कच्चा लोहा (Iron ore) उत्तम प्रकार का है और यहाँ इसका विशाल भण्डार (लगभग २,१०० करोड़ टन अर्थात् समस्त संसार का एक-चौथाई भाग) विद्यमान है। भारत में कोयले का अनुमानित भण्डार ११,६४५ करोड़ टन होगा।<sup>5</sup> रूस के पश्चात् भारत संसार में मैंगनीज का सबसे बड़ा उत्पादक है और यहाँ संसार की मैंगनीज उत्पत्ति का लगभग ३० प्रतिशत (१८ करोड़ टन) उत्पन्न किया जाता है। कुल संसार की अभ्रक की उत्पत्ति का ७५ प्रतिशत से भी अधिक भाग भारत में निकाला जाता है। अन्य खनिज पदार्थ भी यहाँ काफी मात्रा में उपलब्ध हैं। भारत में पेट्रोलियम की बहुत कमी है। परन्तु शक्ति के इस साधन की कमी को जल-शक्ति की प्रचुरता ने पूरा कर दिया है। भारत में पूरे वर्ष बहने वाली अनेकों बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, जिनसे बड़ी मात्रा में विद्युत-शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। यह अनुमान है कि देश में कुल मिलाकर ४११ लाख

4. "While nature showered her bounties on India with a liberal hand, man has failed to profit adequately by them. The contrast between the bounty of nature and poverty of man is here very striking."

5. India 1964, p. 3.



किलोवाट जल-विद्युत् उत्पन्न करना सम्भव हो सकता है। मार्च सन् १९६४ तक देश में सभी जल-विद्युत् केन्द्रों की कुछ प्रस्थापित क्षमता (Installed capacity) १५ लाख किलोवाट ही थी, अर्थात् तब तक देश के कुल जल-विद्युत् साधनों का केवल १३ प्रतिशत ही प्रयोग में लाया गया था। पशु-धन में भी भारत संसार के सब देशों से आगे है क्योंकि संसार की कुल पशु संख्या का लगभग एक-चौथाई भाग अकेले भारत में ही है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में प्रकृति अत्यधिक उदार रही है और अपने दोनों हाथों से प्राकृतिक साधनों का दान भारतवासियों को दिया है। परन्तु इस देश में कुशल श्रम तथा टेक्नीकल ज्ञान के अभाव, पूँजी की कमी, योग्य तथा निपुण साहसिकों (Entrepreneurs) की कमी, देश में पर्याप्त व समुचित बैंकिंग तथा साख्त-सुविधाओं की कमी परिवहन तथा संचार के उन्नत साधनों की कमी, जाति-प्रथा तथा संयुक्त-परिवार प्रणाली आदि के कारण उपर्युक्त साधनों का उचित और पूर्ण उपयोग करके देश की राष्ट्रीय आय को अधिकाधिक बढ़ाने में भारतवासी असफल रहे हैं। इसी कारण कहा जाता है कि “भारत निर्धनों द्वारा वासित एक धनी देश है, या भारत एक धनी देश है पर भारतवासी निर्धन हैं।”<sup>6</sup>

### (५) जनसंख्यात्मक कारक (Demographic Factor)

(अ) अति-जनसंख्या (Over-Population)—कहा जाता है कि “अति-जनसंख्या भारत की निर्धनता का मूल कारण है।” यह इसीलिए कहा जाता है कि भारतवर्ष की जनसंख्या अति शीघ्रता से बढ़ रही है। उदाहरणार्थ, सन् १९०१ में भारत की कुल जनसंख्या प्रायः २३.८२ करोड़ थी जोकि सन् १९२१ में बढ़कर २७.८९ करोड़ हो गयी थी। सन् १९४१ में भारत की जनसंख्या प्रायः ३१.८ करोड़ थी जोकि सन् १९६१ में बढ़कर प्रायः ४३.९१ करोड़ हो गयी थी। सन् १९६६ में यह संख्या अनुमानतः ४८ करोड़ है। आर्थिक विकास की वर्तमान स्थिति में भारत इतनी बड़ी जनसंख्या का भली प्रकार भरण-पोषण नहीं कर पा रहा है। अति-जनसंख्या निर्धनता को निम्न प्रकार से प्रोत्साहन देती है :—

एक, जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ यह आवश्यक है उस जनसंख्या के लिये पर्याप्त खाद्यान्न भी देश में उपलब्ध हों। परन्तु भारत में जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही है, कृषि उत्पादन में उस तेजी से वृद्धि नहीं हो पायी है। उदाहरणार्थ, सन् १९६२-६३ में देश में खाद्य का उत्पादन ७७५ लाख टन और खपत ८२१ लाख टन थी, अर्थात् ४६ लाख टन खाद्यान्न की कमी थी। इस कमी को विदेश से अनाज मंगवा कर पूरा करना पड़ता है। अनुमान है कि प्रतिवर्ष २५ से ३० करोड़ रु० का अनाज विदेशों से आयात (Import) किया जाता है। इस प्रकार हमारे मूल्यवान

6. “India is a rich country inhabited by the poor or India is rich, Indians are poor.”



विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) के साधनों का लगभग ५० प्रतिशत तो खाद्यान्न के आयात में ही खर्च हो जाता है और देश के औद्योगिक विकास के लिये मशीनरी आदि पर्याप्त मात्रा में आ नहीं पाती है। दो, अनुमान है कि जनसंख्या के तेजी से बढ़ने से भारत में नये श्रमिक प्रतिवर्ष २० लाख की संख्या में बढ़ते जा रहे हैं। इनको रोजगार देना सरल नहीं है। इससे देश में बेरोजगारी फैलती है। तीन, काम करने योग्य श्रमिकों की संख्या अत्यधिक होने का एक दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि श्रमिकों की मांग (Demand) की तुलना में श्रमिकों की पूर्ति (Supply) बहुत ज्यादा हो जाती है। इससे श्रम का मूल्य अर्थात् श्रमिकों का वेतन घटता जाता है। वेतन घटने से निर्धनता स्वभावतः बढ़ती है। चार, जनसंख्या अत्यधिक बढ़ने से प्रति व्यक्ति आय (Per capita income) बहुत घट जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति को न तो उचित भोजन खाने को मिलता है और न ही रहने के लिये अच्छे मकान। असर्वाप्त तथा असंतुलित भोजन करने और अस्वास्थ्यकर मकानों में रहने से लोगों को नाना प्रकार के भयंकर रोग घेर लेते हैं और उनकी कार्य-क्षमता घटती रहती है। कार्य-क्षमता घटने से आय और भी घटती है। पांच, जनसंख्या का यह आधिक्य और इसमें प्रतिदिन की तेज वृद्धि देश के आर्थिक विकास के मार्ग में बहुत बड़ी अड़चन है। इससे देश को सबसे पहले अधिक-से-अधिक लोगों के पेट भरने या उन्हें भुखमरी से बचाने की चिन्ता करनी पड़ती है। इससे राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग लोगों के लिए जीवित रखने के साधनों का प्रबन्ध करने में खर्च हो जाता है और देश में पूँजी का संचय आवश्यक मात्रा में नहीं हो पाता। पूँजी की कमी के कारण देश में न तो औद्योगिक विकास हो पाता है और न ही कृषि उत्पादन में आवश्यक सुधार करना सम्भव होता है। इसका एक दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि देश में ऐसी वस्तुओं या कृषि-उपजों का उत्पादन भी नहीं हो पाता है जिनका कि विदेशों को निर्यात (Export) हो सके। ये सभी दशाएँ निर्धनता को ग्रामन्वित करती हैं। छः, जनसंख्या अधिक बढ़ने से मनुष्य और जमीन का अनुपात (Land-man ratio) असंतुलित हो जाता है। दूसरे शब्दों में जनसंख्या अधिक बढ़ने से भूमि पर दबाव भी बढ़ता जाता है। (देश की ७० प्रतिशत जनसंख्या अपनी जीविका के लिए खेती पर निर्भर है), जिससे खेत भी बहुत छोटे-छोटे और छिटके हो गये हैं और खेती का आधुनीकरण और विकास बहुत कठिन हो गया है। इसीलिए खेती का कुल उत्पादन देश में बहुत कम है और गाँव के लोग निर्धन बने हुए हैं।

अतः “अति जनसंख्या भारत की निर्धनता का मूल कारण है,” यद्यपि यही एकमात्र कारण नहीं है। निर्धनता के अन्य कारण भी हैं जिनकी विवेचना हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

### निर्धनता दूर करने के उपाय (Remedial Measures)

भारत की निर्धनता को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाता



आवश्यक होगा :—

(१) सर्वप्रथम देश से अशिक्षा को दूर करने का प्रयत्न करना होगा। प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में इस प्रकार का सुधार करना होगा जिससे विद्यार्थी व्यावहारिक जगत में उपयोगी सिद्ध हो सकें। साथ ही, औद्योगिक शिक्षा तथा ट्रेनिंग के लिए भी उचित प्रबन्ध होना चाहिये। उधर गांवों में कृषि-शिक्षा के विस्तार की भी बहुत आवश्यकता है।

(२) सरकार, मालिकों तथा अन्य समाजसेवी संस्थाओं द्वारा इस बात का प्रयत्न करना होगा कि जनता का स्वास्थ्य-स्तर उन्नत हो सके और भयंकर बीमारियों से उनका पीछा छूटे। इसके लिए चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं को बढ़ाना तथा उचित मकानों की व्यवस्था करनी होगी।

(३) भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है। इस कारण इस देश की निर्धनता को दूर करने के लिए सबसे पहले कृषि की दशा को सुधारना होगा। इसके लिए भूमि की दशा को सुधारना, सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध करना, उत्तम बीज, खाद्य और कृषि औजारों को जुटाना, आर्थिक सहायता प्रदान करना, चकबन्दी, सहकारिता आदि को प्रोत्साहन देना आदि आवश्यक उपाय हैं।

(४) निर्धनता को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार की औद्योगिक मशीनों, व पूंजी-वस्तुओं (Capital goods) के उद्योग-धन्धों को भी अधिकाधिक विकसित करने की आवश्यकता है। हवाई जहाज, पानी के जहाज, मोटरकार, लोहा और स्पात, बिजली का सामान, वैज्ञानिक औजार (Scientific instruments), भारी रसायन (Heavy chemicals) आदि से सम्बन्धित उद्योगों और कारखानों को और छोटे तथा कुटीर उद्योगों को अधिकाधिक प्रोत्साहित करना होगा।

(५) प्रचार के द्वारा और अधिक सुविधाएँ उपलब्ध करके लोगों में बचत की आदत को बढ़ाना होगा। साथ ही इस बात का प्रयत्न करना होगा कि लोग अपनी बचतों का अनुत्पादक संचय न करें। इस ओर जनता को शिक्षित करना होगा कि धन को गाड़कर रख देने से या जेवर बनवाने से उसका लाभकारी उपयोग नहीं होता है। उसे उत्पादक कार्यों में विनियोग करने से देश की आर्थिक प्रगति सरल हो जाएगी और बचाने वालों को भी आर्थिक लाभ होगा।

(६) देश के आर्थिक विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश में पर्याप्त व समुचित बैंकिंग तथा साख-सुविधाओं को उपलब्ध किया जाए। इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान गांवों की ओर देना होगा जिससे उन्हें कृषि विकास तथा ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सके।

(७) इसके अतिरिक्त बेकारी वीमा योजना लागू करना, प्राकृतिक साधनों का उचित तथा पर्याप्त उपयोग करना, परिवहन तथा संचार के साधनों में उन्नति करना श्रम-कल्याण कार्यों को अधिकाधिक विस्तृत करना अदि निर्धनता दूर करने के अन्य उपाय हैं।



## निर्धनता दूर करने के लिए सरकारी प्रयत्न (Governmental Measures to eradicate Poverty)

भारत की निर्धनता को दूर करने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य आय और सम्पत्ति की विषमताओं को दूर करना, उद्योगों का विकास करना, रोजगार के अवसरों का अधिक विस्तार करना तथा राष्ट्रीय आय में इतनी वृद्धि करना है जिससे देश के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो अर्थात् निर्धनता दूर हो।

पंचवर्षीय योजनायें निर्धनता दूर करने के लिए सरकारी प्रयत्नों का मूल रूप हैं। यह लक्ष्य रक्खा गया है कि सन् १९५०-५१ की तुलना में १९५७-५८ तक राष्ट्रीय आय और सन् १९७३-७४ तक प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हो जाएगी। अगर पंचवर्षीय योजनायें सफल हुईं तो १९६०-६१ के मूल्य के आधार पर राष्ट्रीय आय दूसरी योजना के अन्त में लगभग १४,५०० करोड़ रु० से बढ़कर तीसरी योजना के अन्त तक लगभग १६,००० करोड़ रु०, चौथी योजना के अन्त तक लगभग २५,००० करोड़ रु० और पांचवी योजना के अन्त तक ३३,००० से ३४,००० करोड़ रु० तक हो जानी चाहिए। जनसंख्या में लगभग २ प्रतिशत की अनुमानित वार्षिक वृद्धि को यदि ध्यान में रखें तो प्रति व्यक्ति आय १९६०-६१ के अन्त में ३३० रु० से बढ़कर १९६६, १९७१ और १९७६ में क्रमशः २८५ रु०, ४५० रु० और ५३० रु० हो जानी चाहिये। इसके लिए सरकार इस बात का प्रयत्न कर रही है कि आर्थिक विकास की ऐसी नीति को अपनाया जाय जिससे अर्थ-व्यवस्था का तेजी से विस्तार हो और वह यथासम्भव कम समय में आत्मनिर्भर और आनन्ददायक हो जाए। इसीलिए तीसरी और उसके बाद आने वाली योजनाओं में जो नीति रखी गई है, उसमें कृषि और उद्योग, आर्थिक और सामाजिक विकास, राष्ट्रीय और प्रादेशिक विकास, और घरेलू बाह्य साधनों की पारस्परिक निर्भरता पर बल दिया गया है।

सरकार ने यह स्वीकार किया है कि देहात में जनशक्ति और स्थानीय साधनों के अधिकधिक उपयोग के आधार पर कृषि का विकास देश की शीघ्र उन्नति और निर्धनता दूर करने की कुंजी है। इसलिए पर्याप्त सिंचाई, उर्वरकों के प्रयोग अच्छे बीज और उपकरणों के इस्तेमाल, किसानों को खेती के सुधरे तरीकों की शिक्षा, भू-धारण नियमों में सुधार और सहकारी ढंग पर कृषि अर्थ-व्यवस्था को विकसित करके अपेक्षाकृत कम समय में उत्पादन का स्तर काफी ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है। साथ ही साथ, पशु पालन, दुग्ध-उत्पादन मांस-मछली का उत्पादन, मुर्गी-पालन आदि तथा ग्रामोद्योगों को भी विकसित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे न केवल देश की प्रायः ८२ प्रतिशत जनसंख्या की आर्थिक स्थिति सुधरेगी बल्कि सारी जनसंख्या के लिए सन्तुलित और पर्याप्त भोजन की व्यवस्था हो सकेगी जो कि निर्धनता के एक प्रमुख कारण को नष्ट कर देगी। इसीलिए कृषि कार्यक्रमों के लिए तीसरी योजना में कुल १,२८१ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। उसी प्रकार इस योजना काल में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर कुल २६४ करोड़ रु० सहकारिता के



विकास के लिये ८० करोड़ रु० तथा ग्रामोद्योगों और लघु उद्योगों के लिये ३६४ करोड़ रु० के व्यय का प्रस्ताव है।

यह स्वीकार किया जाता है कि अपने प्राकृतिक साधनों के कारण भारत में औद्योगिक उन्नति की काफी क्षमता और औद्योगिक उन्नति होने पर देश से निर्धनता के भयंकर रूप को कम किया जा सकता है। अतः अपेक्षाकृत सस्ते में स्पात, बिजली, ईंधन और अन्य मूल पदार्थ पैदा करने तथा आवश्यक मशीनें और अनेक प्रकार का रासायनिक तथा बिजली और इंजीनियरी का सामान तैयार करने की क्षमता को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे मध्यम और छोटे उद्योगों के विकास को बल मिल रहा है और ग्रामीण तथा देहाती क्षेत्रों में रोजगार की वृद्धि हो रही है। कम पूंजी और साध्यमिक वस्तुओं के उद्योग को ध्यान में रखते हुए इस्पात, कोयला, तेल, बिजली और मशीन निर्माण जैसे उद्योगों पर विशेष रूप से बल दिया जा रहा है। सरकारी क्षेत्र में उद्योग और खानों के कार्यक्रम में कुछ मिलाकर करीब १,८८२ करोड़ रु० लगेगा। तीसरी योजना में खर्च के कुल ७,५०० करोड़ रु० में से १,५२० करोड़ रु० इन कार्यक्रमों के लिए रखे गए हैं, १,५० करोड़, २० केन्द्र में और ७० करोड़ रु० राज्यों में।

निर्धनता को मिटाने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि विभिन्न राज्यों में साधारण व तकनीकी शिक्षा तथा प्रशिक्षण की सुविधाओं के विस्तार के द्वारा समूचे राष्ट्र की उत्पादकता का स्तर ऊंचा किया जाय। तीसरी योजना में सामान्य शिक्षा पर कुल मिलाकर ४६७ रु० व्यय होंगे।

जनसंख्या-वृद्धि को अधिक तेजी से न बढ़ने देना निर्धनता को दूर करने का एक मुख्य उपाय है। यह काम परिवार नियोजन के कार्यक्रम को अधिक प्रभावशाली बनाकर ही किया जा सकता है। तीसरी योजना में इस कार्यक्रम पर कुल ५० करोड़ रुपये का व्यय होगा। जनता की आमदनी तभी बढ़ सकती है जबकि आवश्यक परिश्रम करने के लिए उसका स्वास्थ्य स्तर ऊंचा हो। सरकार इस सम्बन्ध में भी जागरूक है और तीसरी योजना में कुल ३४२ करोड़ रु० खर्च किए जायेंगे। आवास और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के लिए १४२ करोड़ रु० रखे गए हैं।

निर्धनता को दूर करने के लिए रोजगार की सुविधा को भी बढ़ाना आवश्यक है। अनुमान है कि तीसरी योजना काल में जो विकास कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं उससे १.४० करोड़ लोगों को (१.०५ करोड़ लोगों को कृषि विभिन्न कार्यों में और ०.३५ करोड़ लोगों को कृषि में) अतिरिक्त रोजगार दिलाया जायेगा। इनसे से निर्माण कार्यों में २३ लाख लोगों को, यातायात और नंचार में १०.२० लाख लोगों को, उद्योग और खनिज में ७.५० लाख लोगों को, छोटे उद्योगों में ६ लाख लोगों को, वन मछलीपालन और सम्बद्ध सेवाओं में ७.२० लाख लोगों को तथा शिक्षा में ५.६० लाख लोगों को अतिरिक्त रोजगार मिल सकेगा।

साथ ही, सरकार सार्वजनिक उद्योगों को अधिकाधिक संगठन करने का प्रयत्न



कर रही है जिससे कि पूँजी का केन्द्रीयकरण केवल कुछ पूँजीपतियों के हाथ में ही न हो जाये और राष्ट्रीय आय का अधिकतम समान वितरण हो ।

सरकार द्वारा किये गए समस्त कार्यक्रमों में बुनियादी धारणा यह है कि समाजवादी ढंग पर देश का विकास किया जायगा । यह विकास प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार होगा और इसमें जनता व्यापक रूप से हिस्सा लेगी ।

— — —



अजय हार कर पार्क में आकर बैठ गया है। घूमते-घूमते थक गया है वह, प्यास भी लगी है। पार्क के दूसरे कोने पर नल दिखाई दे रहा है। पर उठ कर वहाँ तक जाने की भी ताकत नहीं है आज। सब ताकत मानो खत्म हो गई है एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर की ठोकरें खाते-खाते। हर जगह वही एक उत्तर—“जगह खाली नहीं है।” नौकरी उसे नहीं मिल सकती। बी० ए० पास करने के बाद नौकरी मिली थी एक लाला जी की दुकान में हिसाब रखने का काम करने के लिये। बड़े मां-बाप तथा तीन भाई-बहनों का किसी तरह गुजारा हो ही रहा था। पर एक साल बाद ही लाला जी का दूर के रिश्ते का कोई एक भतीजा आ टपका। नौकरी की तलाश में। अजय पर चोरी का इल्जाम लगाया गया, नौकरी से अलग कर दिया गया। तीन महीने पहले की बात है यह। तब से बेरोजगारी की हालत में है अजय। हर तरह से कोशिश कर रहा है। कहीं किसी प्रकार की एक नौकरी मिल जाये। नौकरी बहुत जरूरी है उसके लिये। कर्ज लेकर कब तक चलेगा गृहस्थी का खर्चा। गृहस्थी का प्रायः सभी समान या तो बिक गया है या फिर गिरवी रखना पड़ा है अजय को। उस पर भी भाई-बहनों का स्कूल से नाम कटवा कर घर में बिठाना पड़ा है। फीस देने की क्षमता नहीं है अजय में। इसी बीच होली भी हो गयी पर किसी के लिये एक नया कपड़ा तक बनवा न सका। सबके कपड़े फट गये हैं। मां तो ऐसा कपड़ा पहनती है कि आँखों देखा भी नहीं जाता है। खाना भी जो बनता है उसे खाना कहना भी शायद उचित न होगा। एक-एक पैसे के पीछे घर में झगड़ा होता है। सारा परिवार एक अनिश्चित परिस्थिति में दिन और रात काटता है। एक ही चिन्ता है सब के मन में कि आज का दिन तो कट गया, पर कल क्या होगा? कल शायद खाना भी नहीं मिलेगा, कल शायद कर्ज-दार तगादा देने के बहाने अपमान ही कर के लौटेंगे, कल शायद.....। इसके आगे अजय सोच भी नहीं पाता है। अजय हार गया है।

यह बेरोजगारी है। यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व को दुर्बल बना देने वाली बेरोजगारी, गृहस्थी को धूल में मिला देने वाली बेरोजगारी और जीवन में विष घोल देने वाली बेरोजगारी है। यही इस अध्याय का विषय है।

सामाजिक विषटन की एक और अभिव्यक्ति बेकारी है। यह समस्या दुनिया के प्रायः सभी देशों में किसी न किसी रूप में देखने को मिलती है। वास्तविकता तो यह है कि बेकारी आधुनिक युग की एक प्रमुख समस्या है जोकि औद्योगिकीय



विकास का एक स्वाभाविक परिणाम भी कहा जा सकता है। भारतवर्ष में तो यह समस्या वास्तव में भयंकर है। इस समय भारतवर्ष में बेकारी के सम्बन्ध में उचित आँकड़े प्राप्त नहीं हैं परन्तु जो कुछ भी जानकारी प्राप्त है उससे पता लगता है कि दूसरी योजना के अन्त में प्रायः ६० लाख व्यक्ति बेकार थे। यह भी अनुमान है कि तीसरी योजना के अन्त में ५३ लाख व्यक्ति और बेकार होंगे, अतः स्पष्ट है कि इस देश में बेकारी की समस्या कितनी अधिक भयंकर है। परन्तु इन सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पहले बेकारी का अर्थ समझ लेना उचित होगा।

### बेकारी का अर्थ

#### (Meaning of Unemployment)

बेकारी वह दशा है जिसमें कि एक व्यक्ति काम करने के योग्य होते हुये और इस समय प्रचलित मजदूरी की दर पर काम करने की इच्छा रखते हुये भी काम पाने में असफल है।

श्री काल प्रिब्राम (Kaul Pribram) के अनुसार, “बेकारी श्रम बाजार की वह दशा है जिसमें श्रम शक्ति की पूर्ति कार्य करने के स्थानों की संख्या में अधिक होती है।”

डाक्टर आर० सी सक्सेना (R. C. Saxena) के अनुसार, “एक व्यक्ति जो काम करने के योग्य है और काम करना चाहता है उसे देश में प्रचलित मजदूरी की दर पर काम न मिलने की अवस्था में बेकार कहेंगे।”

अतः स्पष्ट है कि बेकार व्यक्ति वही होगा जोकि काम करने की इच्छा होते हुये तथा काम करने के योग्य होने पर भी रोजगार से वंचित है। जो व्यक्ति शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टिकोण से काम करने के योग्य नहीं उसे अगर काम नहीं मिलता है तो उसे बेकार नहीं कहा जा सकता है। उसी प्रकार साधु, संन्यासी तथा भिखारी यद्यपि काम करने के योग्य होते हैं पर चूंकि वे काम करना नहीं चाहते इसलिये उन्हें बेकार नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार वह व्यक्ति भी बेकार नहीं जोकि देश में प्रचलित मजदूरी की दर ४ रु० प्रतिदिन होते हुए १० रु० से कम लेने को तैयार नहीं। ऐसी स्थिति में इच्छानुसार मजदूरी न मिलने के कारण वह व्यक्ति कार्य नहीं करेगा या उसे रोजगार नहीं मिल सकेगा पर उस व्यक्ति को बेकार नहीं कहेंगे।

### बेकारी के कारण

#### (Causes of Unemployment)

बेकारी या बेरोजगारी के निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया जा सकता है :—

(१) श्रम की मांग व पूर्ति में सन्तुलन :— यह कारण परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह मानी हुई बात है कि एक समय विशेष में एक देश में कार्य करने के स्थानों की संख्या निश्चित होती है और उसी के अनुसार श्रम की मांग भी हुआ करती है अगर श्रमिकों की मांग कम है और



काम करने के इच्छुक योग्य व्यक्तियों की संख्या ज्यादा है तो सभी लोगों को रोजगार नहीं मिल पाता और बेकारी फैलने लगती है।

(२) उपभोग की अपेक्षा बचत में आधिष्य होना :— श्री कीन्स का मत है कि राष्ट्रीय आय का एक निश्चित भाग उपभोग पर व्यय किया जाना चाहिए तथा शेष भाग बचत के रूप में रखा जाना चाहिए। परन्तु जब उपभोग पर किये जाने वाले व्यय की मात्रा घटने लगती है और बचाये जाने वाले अंश की मात्रा बढ़ती है तभी बेकारी फैलती है। इसका कारण यह है कि उपभोग पर कम व्यय करने से उपभोग पदार्थों की माँग घटती है और उसी अनुपात में उन चीजों का उत्पादन करने वाली औद्योगिक संस्थाओं को या तो संकुचित किया जाता है या कुछ औद्योगिक संस्थाओं को बन्द कर दिया जाता है दोनों ही दशा में बेकारी फैलती है।

(३) मन्दी :— मन्दी काल में मूल्य स्तर बहुत नीचे हो जाता है जिससे उत्पादन वर्ग को हानि होती है। इस हानि से बचने के लिए वे उत्पादन कार्य बन्द कर देते हैं या श्रमिकों की छटनी शुरू कर देते हैं। दोनों ही अवस्था में बेकारी को जन्म मिलता है।

(४) विवेकीकरण :— विवेकीकरण (Rationalization) की अवस्था में भी बेकारी पनप सकती है क्योंकि इसमें अधिक कुशल तथा अच्छी मशीनों और प्रविधियों को काम में लाया जाता है, जिससे कि श्रम की बचत होती है और अनेक श्रमिकों को काम से हटाकर बेकार कर दिया जाता है।

(५) जन-संख्या में वृद्धि :— श्री माल्थस के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि से भी बेरोजगारी अवश्य ही फैलती है क्योंकि जिस अनुपात में जनसंख्या में वृद्धि होती है उस अनुपात में रोजगार की सुविधाओं में वृद्धि नहीं की जा सकती।

(६) श्रम संघों की माँग :— श्रमिक संघ प्रायः मजदूरी में वृद्धि करने के लिये मालिकों को विवश करते हैं। मजदूरी बढ़ जाने के से वस्तु की उत्पादन लागत भी बढ़ जाती है और उत्पादक वर्ग को हानि होने लगती है। इस अवस्था से बचने के लिये उत्पादक वर्ग मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग करके श्रमिक की माँग को घटाते हैं। जिससे कि बेकारी पनपती है।

**भारत में बेकारी के कारण**

(Causes of Unemployment in India)

उपरोक्त सामान्य कारणों के अतिरिक्त भारतवर्ष में बेकारी के कुछ विशेष कारण भी हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं:—

(१) जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि—भारतवर्ष में जनसंख्या बहुत ही तेजी के साथ बढ़ रही है। उदाहरण के लिए सन् १९३१-१९६१ के बीच भारत की जनसंख्या में ३६.३ प्रतिशत अर्थात् १०८० लाख की वृद्धि हुई है यह अनुमान है कि १९५१-१९६० में आबादी १२.५ प्रतिशत १९६१-७० में १३.३ प्रतिशत और १९७१-८० में १४ प्रतिशत की गति से बढ़ेगी। १९५१ की जनगणना के अनुसार



भारत की आबादी ४३ करोड़ ६५'३३ लाख है जोकि बढ़कर १९७०-७१ में ४६ करोड़ और १९७५-७६ में ५४ करोड़ हो जाने का अनुमान है। परन्तु इस अनुपात में इस देश में रोजगार की सुविधाओं में वृद्धि नहीं हो पाई है जिसके कारण देश में बेकारी भी इसी तेजी से बढ़ रही है।

(२) दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली:—भारतीय शिक्षा प्रणाली अयोजों की देन है। और जो इस प्रकार की है कि वह शारीरिक श्रम से घृणा कराना सिखाती है। आज के पढ़े लिखे नौजवान अक्सर बनने व बाबू बनने की धुन में रहते हैं पर सबको वह काम देना सम्भव नहीं होता इससे शिक्षित बेकारी बढ़ती है। साथ ही भारत में टैक्निकल शिक्षा की नितान्त कमी है। इसलिए भी आज मशीन युग में ये काम करने के योग्य नहीं बन पाते हैं इससे भी बेकारी फैलती है।

(३) कुटीर उद्योगों का विनाश—भारतीय कुटीर उद्योग एक समय अपने गौरव पद पर आसीन थे और असंख्य व्यक्तियों का पेट पालते थे पर मशीनों के आ जाने और बड़े-बड़े कारखानों के खुल जाने से उनके साथ कुटीर उद्योग प्रतियोगिता नहीं कर पाये और धीरे-धीरे उनका विनाश होने लगा। इसके फलस्वरूप इन उद्योगों में लगे हुए हजारों व्यक्ति बेकार हो गये और देश में उनके लिए काम करने की नयी जगहों को बनाना भी सम्भव नहीं पाया।

(४) खेती की पिछड़ी दशा—भारत एक कृषि प्रधान देश है। इस दृष्टिकोण से कृषि व्यवसाय में ही यहाँ के अधिकतर लोगों का काम देने की व्यवस्था होनी चाहिए परन्तु इस देश में खेती की दशा इतनी पिछड़ी है कि लाचार व्यक्तियों के अलावा इस व्यवसाय से लोग दूर भागते हैं। इसके फलस्वरूप भी देश में बेकारी फैलती है।

(५) उद्योग-धन्धों का पिछड़ापन—भारतवर्ष में उद्योग धन्धे भी ज्यादा पिछड़े हुए हैं, विशेष करके बड़े उद्योगों का तो यहाँ नितान्त अभाव है। इसके कारण भी भारतवर्ष में अधिकतर लोगों को उचित काम नहीं मिल पाता है। फलतः देश में बेकारी फैलती है।

### बेकारी के परिणाम

#### (Consequences of Unemployment)

बेकारी व्यक्ति तथा समुदाय दोनों के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। बेकारी वह अवस्था है जो व्यक्ति के जीवन के आनन्दों को नष्ट करती है तथा समुदाय के आर्थिक जीवन को खोखला करती है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति एच० हूवर (H. Hoover) ने सच ही कहा है कि बेरोजगारी से बढ़कर समाज में और कोई बर्बादी नहीं है। काम के करने के इच्छुक व्यक्ति को रोजगार के न मिलने पर जितना कष्ट होता है उससे बढ़कर विश्व में और कोई कष्ट भी नहीं है। व्यक्ति तथा समुदाय के दृष्टिकोण से बेरोजगारी के निम्नलिखित परिणाम उल्लेखनीय हैं।

१—बेकार व्यक्ति अपने तथा अपने आश्रितों की मौलिक आवश्यकताओं तक की भी पूर्ति नहीं कर पाता है। उसे न तो उचित खाने की मिलता है और न



ही अच्छे मकानों में रहने की सुविधा प्राप्त होती है। इससे न केवल उसके रहन-सहन का स्तर घटता है बल्कि उसका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जाता है और वह अकसर किसी न किसी रोग के पंजे में फँस जाता है इससे उसकी कार्य-कुशलता भी घटती है और भविष्य में भी उसके लिये रोजगार पाने की सम्भावना कम हो जाती है, इससे बेरोजगारी का चक्र चलता रहता है।

२—बेरोजगारी अनेक मानसिक रोगों को भी उत्पन्न कर सकती है। बेरोजगार व्यक्ति आर्थिक कष्टों के बीच परिवार के अन्य सदस्यों के कष्टों को देखता है जिसका बहुत ही बुरा प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। और वह सदैव चिन्तित रहता है और चिन्ता रूपी नागिन उसके जीवन में निरन्तर विष उड़ेलती रहती है जो उसके जीवन को नष्ट कर देती है।

३—बेकारी की अवस्था व्यक्ति के नैतिक स्तर को भी गिरा देती है बेकारी की अवस्था में एक व्यक्ति अपने प्रियजनों को निरन्तर नाना प्रकार के कष्टों को सहते देखता है यहाँ तक कि अपनी आँखों के सामने उनको भूख से तड़पते हुए देखता है। एक सीमा के बाद यह दृश्य उसके लिये असहनीय हो जाता है और इसे सहन करने की अपेक्षा चोरी, डकैती, जालसाजी या वेश्यावृत्ति के रास्ते को अपना लेना उसके लिये सरल होता है।

४—बेकारी भीख मांगने, जुआ खेलने और शराब पीने की सामाजिक समस्या को जन्म देती है। हर तरफ से निराश और असफल व्यक्ति शराब पीकर अपनी समस्त निराशाओं को भूलने का प्रयत्न करता है और अपने को तथा अपने परिवार के लिए अधिकतर बर्बादी को आमन्त्रित करता है। उसी प्रकार बेकार व्यक्ति जुआ खेलकर रहा सहा धन भी उसमें लगाकर उसमें भी हारता है और जीवन के समस्त हाहाकार को लेकर लौटता है। अन्त में उसके लिये एक रास्ता रह जाता है और वह है भीख की भोली फँला देना, जिससे कि देश में भिखमंगों की एक नई समस्या का जन्म होता है।

५—बेकारी की स्थिति में समुदाय को भी घोर हानि पहुँचती है क्योंकि इस अवस्था में माता-पिता बच्चों का लालन-पालन उचित ढंग से नहीं कर पाते हैं। जिससे कि समुदाय की आने वाली पीढ़ी अयोग्य, दुर्बल तथा निकम्मी हो जाती है।

६—बेकारी की अवस्था में पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया भी क्रियाशील हो सकती है। क्योंकि स्त्रियाँ भी घर छोड़कर बाहर काम करने के लिये जाती हैं। जिससे की पारिवारिक व्यवस्था तथा बच्चे का लालन-पालन ठीक ढंग से नहीं हो पाता है।

७—बेकारी की अवस्था में देश की अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है और बेकारी की समस्या ही राज्य के ध्यान को इतना अधिक आकर्षित कर लेती है कि राज्य के अन्य आवश्यक कार्य उचित ढंग से नहीं हो पाते हैं।

८—बेकारी की अवस्था कान्ति को भी जन्म दे सकती है। बेकार व्यक्ति



अभाव से पीड़ित होता है हर दुःख और हर कष्ट को उसे सहना पड़ता है इसके बीच जब वह यह देखता है कि कुछ बड़े आदमी तिजोरियों में लाखों रुपए भरे हुए आराम और विनाश का जीवन बिता रहे हैं तो उसके लिये अपने अभाव और कष्टों को सहन करना सम्भव नहीं होता है और वह उन धनियों के प्रति क्रान्ति कर देता है।

६—बेकारी देश की प्रगति में भी बाधक है क्योंकि बेकार की सेवाओं से समाज लाभ नहीं उठा पाता है और सब मिलकर उसकी प्रगति के लिये काम नहीं कर पाते हैं। यह देश या समुदाय की एक बहुत बड़ी आर्थिक तथा सामाजिक हानि है।

### बेकारी दूर करने के उपाय

#### (Measures for removing Unemployment)

बेकारी को दूर करना कोई सरल काम नहीं है क्योंकि यह समस्या सम्पूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसलिये देश की सम्पूर्ण व्यवस्था में सुधार लाये बिना बेकारी को दूर किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित उपायों को अपनाया जा सकता है—

(१) बेरोजगारी को दूर करने के लिये सरकार को सक्रिय पार्ट प्रदान करना होगा। क्योंकि सरकार द्वारा जब तक न उचित योजनायें न बनाई जायेंगी तब तक बेकारी की समस्या को कदापि मुलभूताना सम्भव न होगा। सरकार को चाहिये कि वह स्वयं सार्वजनिक क्षेत्र में ऐसे अनेक उद्योग-धन्धों को पनपाये जिससे कि रोजगार के अवसरों में वृद्धि हो सके।

(२) बेकारी को दूर करने के लिये विवेकीकरण को भी सीमित रखना होगा। जहाँ पर श्रम-शक्ति अधिक है वहाँ पर मशीनों के प्रयोग को प्रमुखता नहीं देनी चाहिये।

(३) बेकारी को रोकने के लिये जनसंख्या की वृद्धि को रोकना आवश्यक है। देश में जिस अनुपात में रोजगार की सुविधायें बढ़ रही हों। उससे अधिक जन्मदर न बढ़ने देना ही उचित है। इसके लिए परिवार नियोजन को अपनाना आवश्यक है।

(४) बेरोजगारी को दूर करने के लिये शिक्षा प्रणाली में भी सुधार आवश्यक है। उचित शिक्षा मिलने से शारीरिक श्रम को लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे जिससे कि पेट पालने के लिये लोग किसी भी काम को लोग नीचा न समझें। साथ ही साथ टेक्नीकल शिक्षा पर अधिक बल दिया जाना चाहिये ताकि उचित स्थान के लिये योग्य और कुशल श्रमिक मिल सकें।

(५) कुटीर उद्योगों का विकास भी बेरोजगारी को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। जापान, हालैण्ड आदि देशों में कुटीर उद्योगों के आधार पर ही बेकारी को दूर करने का प्रयत्न काफी सीमा तक सफल हुआ है।

(६) कृषि व्यवसायों में सुधार भी भारतीय बेकारी को दूर करने के लिये बहुत ही आवश्यक है। इसके लिये जरूरत इस बात की है कि सिंचाई की समुचित



व्यवस्था हो, अधिक से अधिक बंजर भूमि को खेती योग्य बनाया जाय तथा किसानों को कर्ज देने की व्यवस्था की जाय।

(३) सार्वजनिक निर्माण कार्यों को बढ़ाकर मौसमी बेकारी को प्रति सरलता से दूर किया जा सकता है। ऐसे कार्यों के लागू होने पर किसान उस समय काम पा सकेंगे जिस समय वे बेकार रहते हैं।

(४) रोजगार केन्द्रों की स्थापना बेरोजगारी को दूर करने का एक दूसरा उपाय है क्योंकि इन केन्द्रों के द्वारा श्रमिकों को टेक्नीकल शिक्षा प्रदान करके उनको कुशल बनाने तथा देश में श्रमिकों की मांग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करने का काम सरलता से हो सकता है। अक्सर यह देखा गया है कि देश में रोजगार की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। परन्तु बेकार श्रमिकों को रित्त स्थानों की जानकारी न होने के कारण उन्हें कार्य नहीं मिल पाता है। रोजगार केन्द्र इस समस्या को सुलझा सकेगा।

(५) बेरोजगारी बीमा भी बेकारी के परिणामों के कम करने में सहायक सिद्ध हो सकता है क्योंकि इन बीमों से श्रमिकों को संकट काल में आर्थिक सहायता मिलती रहेगी और उनका जीवन का स्तर इतना नीचा नहीं उतर जायेगा कि वे आगे चलकर किसी काम के न रहें।

### भारत सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न

#### (Efforts made by Indian Government)

भारत सरकार ने बेकारी को दूर करने के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस विषय में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये गये हैं। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में ऐसी अनेक योजनाओं को चालू किया गया था जिससे बेरोजगारी की समस्या के हन होने की आशा थी। उनमें से प्रमुख योजनाएँ निम्नलिखित थीं—छोटे स्तर तथा घरेलू उद्योगों की स्थापना में मदद करना, निजी भवन निर्माण सम्बन्धी कार्यों को प्रोत्साहन देना; सड़क यातायात का विकास करना; सामुदायिक विकास योजना के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार के अवसरों को बढ़ाना, मकान निर्माण की विभिन्न योजनाओं को चालू करना आदि। इन योजनाओं में काम करने के लिये अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होगी और इस प्रकार बेकारी की समस्या सुलभ सकेगी।

दूसरी योजना काल में कुल बेकारी की संख्या १५३ लाख थी। ऐसा अनुमान है कि दूसरी योजना काल में लगभग ६३ लाख श्रमिकों को रोजगार प्राप्त हो सका और शेष बेकार ही रहे।

तीसरी योजना काल में इस सम्बन्ध में और भी गहन प्रयत्न करने की योजना बनाई गई है। दूसरी योजना के अन्त में प्रायः ६० लाख व्यक्ति बेकार थे और तीसरी योजना में श्रमिकों की संख्या में प्रायः १६० लाख की वृद्धि होगी। इनमें से केवल १४० लाख नये लोगों के लिये काम निकाला जा सकेगा। इसमें से २५ लाख लोगों के लिये खेती में और शेष १०५ लाख लोगों के लिए अन्य उद्योगों में काम



प्राप्त किया जा सकेगा। तीसरी योजना में यह सुझाव रखा गया है कि बेकारी की समस्या को तीन प्रकार से हल करना चाहिये (१) योजना के द्वारा के अन्दर ही ऐसा परिवर्तन करना चाहिये कि रोजगार के जो अवसर हैं उनका पहले से भी अधिक व्यापक और विस्तृत रूप में लोगों में वितरण किया जाय। (२) बहुत से ग्राम उद्योगों को हाथ में लेना चाहिये जिनमें गाँव में बिजली लगाने, गाँव के औद्योगिक क्षेत्रों के विकास करने ग्राम उद्योगों की उन्नति तथा जनशक्ति के अधिक अच्छे उपयोग पर बल देना चाहिये। (३) छोटे उद्योगों के द्वारा काम करने के अवसर बनाने के अतिरिक्त ग्रामों में काम के नये कार्यक्रम तैयार करना चाहिये जिनके द्वारा औसतन २६ लाख या अधिक व्यक्तियों को साल में १०० दिन काम दिया जा सके।

तीसरी योजना में कृषि, पशुपालन, दूध या डेरी उद्योग, मछली उद्योग आदि को उन्नत करने के लिए भरसक प्रयत्न किया जायेगा ताकि बेकारी की समस्या सुलभ सके। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को भी पनपाने का भरसक प्रयत्न होगा। यातायात और संचार के साधनों में विस्तार किया जायेगा। मकानों को बनवाने की योजनाओं को अधिक विस्तार पूर्वक लागू किया जायेगा। इन सभी कार्य-क्रमों से बेकारी की समस्या बहुत कुछ सुलभने की आशा की जा सकती है। सक्षेप में सरकारी प्रयत्न सक्रिय रूप में क्रियाशील है परन्तु समस्या की गम्भीरता को देखते हुए इसके तुरन्त ही सुलभ जाने की सम्भावनायें कम हैं।



नानी बड़बड़ा रही है। शहर से तो गाँव ही उनका अच्छा था। वहाँ कम से कम शहर की तरह म्लेच्छपन तो नहीं है कि मेहतर-चमार तक घर के अन्दर चले आते हैं। नानी को तो ऐसा लग रहा है कि शहर में उनकी जाति और धर्म दोनों में से किसी की भी रक्षा नहीं हो पायेगी। जाति गयी तो धर्म भी गया, शहर में जाति की रखवाली नहीं हो सकती है। लड़के ने मकान भी ऐसा लिया है कि पाखाना साफ करने के लिये मेहतर को घर के अन्दर आना पड़ता है, बरामदा और आँगन लाँघ कर मेहतर को जाना पड़ता है। बच्चे खेलते रहते हैं, बर्तन कपड़े सब पड़े रहते हैं। मेहतर या उसकी टोकरी से कुछ छू रहा है या नहीं कोई देखने वाला नहीं है घर में, और सफाई करके मेहतर के चले जाने के बाद भी किसी को इतना भी ख्याल नहीं होता है कि जहाँ-जहाँ से मेहतर गुजरा है उस जगह को और उसके आस-पास की जगह को धो दें और गंगा जल छिड़क दें। यह काम नानी को ही पिछले दो दिन से करना पड़ रहा है। लड़के बच्चे, बहू-बेटी पढ़ लिख कर भी म्लेच्छ बने हैं। यह अगर नानी को सपने में भी पता होता तो नानी शहर कभी न आती। यह बात नानी साफ-साफ कह रही है। यही अस्पृश्यता की भावना इस अध्याय की अध्ययन वस्तु है।

### अस्पृश्य की प्रकृति (Nature of Untouchability)

हिन्दू-समाज अनेक इकाइयों या और भी स्पष्ट रूप में अनेक जातियों से मिलकर बना है। इन इकाइयों में ऊँच-नीच का एक अनोखा संस्तरण है और इसके आखिरी छोर पर जो लोग अवस्थान करते हैं, वे ही 'हरिजन' या 'अनुसूचित जाति' या परम्परागत रूप में 'अन्त्यज', 'अस्पृश्य' या 'अछूत' कहलाते हैं। चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के अनुसार अछूत या अन्त्यज वर्ण-व्यवस्था के बाहर हैं; वे चार वर्णों में किसी के भी अन्तर्गत नहीं आते, वे तो 'पंचम अवर्ण' हैं। इस अर्थ में वे सबसे नीचे और सबसे बाहर थे और शायद इसीलिये वे अन्त्यज थे, अस्पृश्य या अछूत थे। गाँव का सफर करते हुए आज भी अगर आप को गाँव की सामान्य बस्ती से कहीं दूर गन्दे व अस्वास्थ्यकर परिवेश के बीच छोटी-छोटी झोपड़ियों का एक झुंड-सा खड़ा दिखाई दे, तो समझ लीजियेगा कि उन्हीं में वे लोग रहते हैं जिन पर गाँव की सफाई और अन्य तथाकथित गन्दे कार्यों को करने का भार है। पुराने जमाने में वे ही अन्त्यज या अछूत थे और आज हरिजन हैं।



## भारत में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या (Population of Scheduled Castes in India)

१९६१ की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जातियों की कुल संख्या ६,४५,११,३१३ है जिनमें कि ३,२६,६३,७७६ पुरुष तथा ३,१८,४७,५३४ स्त्रियाँ हैं। अर्थात् सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का १४.७१ प्रतिशत अनुसूचित जातियों का है। जनसंख्या के दृष्टिकोण से उत्तरप्रदेश में सर्वाधिक संख्या में, अर्थात् १,५४,१७,२४५ अनुसूचित जातियों के सदस्य निवास करते हैं। इसके बाद इनकी कुल संख्या के आधार पर क्रमशः पश्चिमी बंगाल (६६,५७,७२६), बिहार (६५,३६, ८७५), मद्रास, (६०,७२,५३६), आन्ध्र प्रदेश (४६,७३,६१६), मध्य प्रदेश (४२,५३,०२४), पंजाब (४१,३६,१०६) आदि का स्थान आता है। यदि एक राज्य विशेषों के कुल जनसंख्या के प्रतिशत के आधार पर विवेचना की जाय तो उपरोक्त क्रम कुछ बदल जायेगा। उत्तरप्रदेश की कुल जनसंख्या का २०.६१ प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों के सदस्यों का है। इसके बाद पंजाब में यह प्रतिशत २०.३८ पश्चिमी बंगाल में १६.६०, मद्रास में १८.०३, राजस्थान में १६.६७, उड़ीसा में १५.७५, बिहार में १४.०७, आन्ध्र प्रदेश में १३.८२, मेसूर में १३.२२, मध्यप्रदेश में १३.१४ तथा दिल्ली में १२.८५ है। यदि सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या की विभिन्न राज्यों में निवास करने वाली अनुसूचित जातियों के सदस्यों के साथ तुलना की जाय तो परिणाम कुछ और ही आयेगा। उत्तर प्रदेश की जनसंख्या में भारत की कुल जनसंख्या का ३५.२ प्रतिशत अनुसूचित जातियों के सदस्यों का है। यह प्रतिशत पश्चिमी बंगाल में १.५६, बिहार में १.४६, मद्रास में १.३८, आन्ध्र प्रदेश में १.१३, मध्य प्रदेश में ०.९७, पंजाब में ०.६४, राजस्थान में ०.७७, मेसूर में ०.७१, उड़ीसा में ०.६३ तथा दिल्ली में ०.०८ है।<sup>१</sup>

## अस्पृश्य जातियों की परिभाषा (Definition of Untouchable Castes)

डा० मजूमदार (Majumdar) के शब्दों में, 'अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो अनेक सामाजिक और राजनैतिक नियोग्यताओं की शिकार हैं; इनमें से अनेक निर्दोषतायें उच्च जातियों द्वारा परस्परतात्मक तौर पर निर्धारित और सामाजिक तौर पर लागू की गई हैं।'<sup>२</sup> डा० घुरिये (Ghurye) ने इन जातियों की परिभाषा वैधानिक दृष्टिकोण से की है। आपके अनुसार, 'अनुसूचित जातियाँ वे समूह हैं जिनका कि नाम एक समय विशेष में लागू अनुसूचित जाति (Scheduled Castes Order) के अन्तर्गत आता है।'<sup>३</sup>

1. See 1961 Census of India, Paper I of 1962, pp. lxxvi—lxxvii.

2. "The untouchable castes are those who suffer from various social and political disabilities, many of which are traditionally prescribed and socially enforced by the higher castes." D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Pub. House, Bombay, 1958, p. 326.

3. "I may define the Scheduled Castes, therefore, as those groups which



### अस्पृश्य जातियाँ—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Untouchable Castes—Historical Background)

वैदिक ग्रन्थों में चण्डाल, निषाद आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये लोग समाज के सबसे नीचे स्तर के लोग समझे जाते थे। पर वे अस्पृश्य थे या नहीं, इसका स्पष्ट पता नहीं चलता है। डा० घुरिये (Ghurye) के अनुसार उत्तर वैदिक काल में यज्ञ, धर्म आदि से सम्बन्धित शुद्धता या पवित्रता की धारणा अत्यन्त प्रखर थी परन्तु अस्पृश्यता की धारणा आज जिस रूप में है उस युग में नहीं थी। स्मृति काल में चण्डाल आदि के रहने की व्यवस्था गाँव के बाहर थी। धर्मशास्त्र युग में अस्पृश्यता की भावना सबसे पहले स्पष्ट हुई और एक ब्राह्मण नारी और एक शूद्र पुरुष से उत्पन्न सन्तानों को जिन्हें चण्डाल कहकर सम्बोधित किया गया, सबसे घृण्य समझा गया।<sup>4</sup> मनु के युग में ऐसे अस्पृश्य लोगों को न केवल गाँव से ही निकाल दिया गया, बल्कि उन्हें ऐसे कार्यों और कर्तव्यों को सौंपा गया जिससे यह स्पष्ट हो जाये कि वे मनुष्य जाति के सबसे अधम नमूने हैं।<sup>5</sup> जैन और बौद्ध धर्म से प्रभावित लोगों ने इनकी दयनीय अवस्था से आकर्षित होकर इनकी अवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। परन्तु इस सम्बन्ध में मुसलमानों की राज्य स्थापना न होने तक कोई विशेष उन्नति नहीं हो पाई। नानक, चैतन्य, कबीर आदि के प्रयत्न इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्च जातियों के अत्याचारों से पीड़ित होकर हजारों अस्पृश्यों ने अपने को इस्लाम धर्म में परिवर्तित कर लिया। अंग्रेजों के आने के बाद अस्पृश्य जातियों की नियंत्रितायें धीरे-धीरे कम होती गईं। आज कांग्रेस सरकार इस सम्बन्ध में विशेष प्रयत्नशील है।

### अस्पृश्य जातियों के विभिन्न नाम

#### (Various Names of Untouchable Castes)

अस्पृश्य जातियों को विभिन्न समयों में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। बहुत दिनों तक इनको 'अछूत' कह कर पुकारा जाता था। चूँकि इनकी स्थिति सबसे नीची थी, इस कारण इनको "दलित वर्ग" (Depressed class) के नाम से सम्बोधित किया जाता था, यहाँ तक कि सन् १९३१ के पहले सरकारी तौर पर अस्पृश्य जातियों को "दलित वर्ग" ही कहा जाता था। सन् १९३१ में आनाम की जनगणना के अधीक्षक (Census superintendent) ने "दलित वर्ग" (Depressed class) के स्थान में "बाहरी जाति" (Exterior class) शब्द के प्रयोग का सुझाव रखा<sup>6</sup> क्योंकि अस्पृश्य या दलित वर्गों का कोई स्थान हिन्दुओं की जातीय

are named in the Scheduled Castes Order in force for the the time being." G. S. Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, Popular Book Depot, 1961, p. 213.

4. The Dharmasutra writers declare the Chandalas to be the progeny of the most hated of the reverse of order of mixed unions, that of a Brahmin female with a Sudra male" *Ibid*, p. 216.

5. "In the age of Manu they were not only excluded from the village but were assigned duties and perquisites which clearly show that they were looked upon as vile specimens of humanity," *Ibid.*, p. 219.

6. D. N. Majumdar, *op. cit*, p. 329.



संरचना के अन्दर नहीं था; वे इन संरचना के बाहर के लोग समझे जाते थे। इस सुझाव को सर्व भारतीय प्रयोग के लिए स्वीकार कर लिया गया। इसके फलस्वरूप एक राजनैतिक भगड़े की दृष्टि हुई। १३ नवम्बर सन् १९३१ में लन्दन में होने वाले गोलमेज सम्मेलन (Round Table Conference) में डा० अम्बेडकर (Dr. Ambedkar) ने एक और तो "दलित वर्ग" शब्द का विरोध किया और दूसरी ओर यह सुझाव रखा कि चूंकि उन्हें हिन्दू जातीय संरचना के बाहर मान लिया गया है, इस कारण उन्हें अलग मतदान देने का अधिकार भी देना चाहिए। महात्मा गांधी ने इसका विरोध किया और अछूतों के हितों की रक्षा के लिए आपने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया, "भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए मैं अछूतों के वास्तविक हित को न वेचूंगा"। इस सम्मेलन को और समस्त संसार को यह जान लेना चाहिये कि आज हिन्दू-समाज में सुधारकों का ऐसा समूह मौजूद है जो अस्पृश्यता के इस कलंक को, जो उनका नहीं, बल्कि कट्टर एवं रुढ़िवादी हिन्दुओं का कलंक है, धोने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है।" परन्तु इस पर भी ब्रिटिश सरकार ने अस्पृश्य जातियों को हिन्दुओं से अलग घोषित किया। इसके विरोध में गांधी जी ने आग्रह अग्रथन किया। बम्बई में इस सम्बन्ध में एक परिषद् हुई, जो शीघ्र ही पूना में ले जाई गई। डा० अम्बेडकर शीघ्र ही इस परिषद् में शामिल हो गए। इसमें एक योजना तैयार की गई जिसे अग्रथन के पाँचवें दिन सारे दलों ने स्वीकार कर लिया। दलित जातियों ने पृथक् निर्वाचन का अधिकार त्याग दिया और आम हिन्दू-निर्वाचनों से ही संतोष कर लिया। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को भी झुकना पड़ा और १९३२ में एक समझौता हुआ जो पूना पैक्ट (Poona Pact) के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें दलित जातियों को हिन्दू मान लिया गया। इसके पश्चात् ही गांधी जी इन जातियों को, इनके अग्रमानेजनक नाम से विमुक्त करने के लिए, "हरिजन" कह कर सम्बोधित करने लगे और वे आज भी इसी नाम से परिचित हैं। सन् १९३५ के विधान में इन दलित जातियों को कुछ विशेष सुविधायें प्रदान करने के हेतु एक "अनुसूची" (Schedule) तैयार की गई जिसके आधार पर वैधानिक दृष्टिकोण से इनको "अनुसूचित जाति" या "हरिजन" के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

## अस्पृश्यता की उत्पत्ति

### (Origin of Untouchability)

(१) प्रजातीय व्याख्या (Racial Explanation)—अस्पृश्यता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विभिन्न धारणायें हैं उनमें प्रजातीय व्याख्या एक है। सर्वश्री रिजले (Risley), मजूमदार (Majumdar) और घुरिये (Ghurye) प्रजातीय व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। डा० घुरिये के अनुसार इण्डो-आर्यन लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों को घृणा की दृष्टि से देखा और "दास" के नाम से सम्बोधित करते हुए उन्हें समाज में सबसे नीचा स्थान दिया और अपनी धार्मिक पूजा, संस्कार आदि से उन्हें बिलकुल



अलग रखा। डा० घुरिये (Ghurye) के शब्दों में, “पवित्रता का विचार, चाहे वह व्यवसाय या संस्कार सम्बन्धी हो, जो कि जाति की उत्पत्ति का एक कारण माना जाता है, अस्पृश्यता के विचार और आचरण की आत्मा है।”<sup>7</sup> डा० मजूमदार ने लिखा है कि तथाकथित ‘दलित’ जातियों की नियोग्यताये संस्कार सम्बन्धित नहीं हैं, बल्कि इसका आधार सम्भवतः प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताये हैं।<sup>8</sup> इन भिन्नताओं के कारण पृथक्ता की धारणा धीरे-धीरे इतनी कटु हो गयी कि कुछ लोगों को छूना भी उचित न समझा गया जिसके फलस्वरूप वे “अछूत” कहलाये।

(२) व्यवसायिक व्याख्या (Occupational Explanation)—श्री नेसफील्ड (Nesfield) ने पेशे के आधार पर अस्पृश्यता को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार घृणित या गन्दे पेशे ही अस्पृश्यता की उत्पत्ति के प्रमुख कारण हैं। वे लोग जो ऐसे पेशे करते हैं, जो कि सामाजिक दृष्टिकोण से गन्दे या अपवित्र हैं, उनसे छुआ छूत मानी जाती है। इसका उदाहरण आज भी मिलता है। एक चमार भी धोबी से छुआछूत मानता है क्योंकि धोबी स्त्रियों के मासिक-धर्म (menstruation) से गन्दे कपड़े तक धोता है। इस प्रकार गन्दे पेशों को करने वाले व्यक्ति या समूह गन्दे या अछूत माने गये।

(३) “माना” का सिद्धान्त (Theory of Mana)—श्री हट्टन (Hutton) ने “माना और दूसरे सामाजिक निषेधों के आधार पर अस्पृश्यता को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके मतानुसार ‘माना’ के आधार पर अपरिचित व्यक्ति और घृणित या गन्दे पेशों के करने वालों से अकल्याण होने या नुकसान पहुँचने के डर से लोगों में छुआछूत की धारणा पनपी। नागा जनजाति इसका एक उत्तम उदाहरण है। श्री हट्टन के सिद्धान्त में धार्मिक पहलू भी आ जाता है। मंगल-कलश, पवित्र जानवर, धर्म-गुरु आदि की धारणाये भी अस्पृश्यता की धारणा को पनपाने में काफी सहायक सिद्ध हुई।

(४) परम्परात्मक व्याख्या (Traditional Explanation)—मनु के विधान के अनुसार प्रतिलोम विवाह को ही अस्पृश्यता की उत्पत्ति का कारण मानना चाहिए। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तानों को “वर्ण-संकर” माना गया और चूँकि इन्हें माता-पिता में से किसी का भी कुल नहीं मिला इस कारण उन्हें हिन्दू समाज से अलग रखा गया जिससे अछूत जाति का निर्माण हुआ। मनु ने एक ब्राह्मण लड़की और एक शूद्र लड़के से उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल बतलाया है।

(५) गाँधी जी के विचार (Views of Gandhiji)—महात्मा गाँधी के मतानुसार, “अस्पृश्यता का मूल उद्गम धर्म नहीं है। उच्चता के छोटे अहंकार ने

7. “Idea of purity, whether occupational or ceremonial, which are found to have been a factor in the genesis of caste are the very soul of the idea and practice of untouchability.” G. S. Ghurye *op. cit.*, p. 214.

8. “The disabilities of the so-called ‘depressed’ castes are not ceremonial but probably founded on racial and cultural differences...” D. N. Majumdar. *op. cit.*, p. 327



ही अस्पृश्यता को जन्म दिया है। अपने से दुर्बल को हम सदैव पैरी तले दबाने रहे। इसी मनोवृत्ति से अस्पृश्यता उत्पन्न हुई है।.....अस्पृश्यता के सम्बन्ध में आपकी जो यह धारणा है कि वह स्वयं ईश्वर की बनाई हुई है मैं कारके इसी विवेचन के विरुद्ध तो यहाँ चेनाबरी देने आया हूँ कि अस्पृश्यता और दुर्गिता कोई ईश्वरी रचना नहीं है। अस्पृश्यता तो कागज के तकली फुलों की भाँति मनुष्य की बनाई हुई एक कृत्रिम चीज है।..... अस्पृश्यता को देवता ने नहीं धीतान ने बनाया है ..... अछूतपन जैसा आज हम मानते थे, वह न पूर्व धर्म का फल है, न ईश्वरकृत है। आज का अछूतपन मनुष्य-कृत है, स्वर्ण हिन्दू-कृत है।" अस्पृश्यता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गांधीजी का मत है कि हिन्दु समाज तथा धर्म के क्रमिक विकास में एक समय ऐसा था जब कि गाय की रक्षा करना धर्म का एक अंग हो गया और इसीलिए गाय को "गऊमाता" कह कर माना जाने लगा। समाज की इस अवस्था में कुछ लोग ऐसे भी थे जो कि उस समय भी अधिक सुवन्ध्य न थे और गऊमाँस खाने थे। स्वभावतः ऐसे लोगों से, समाज की अधिकांश जनता जो कि गाय की माता के रूप में पूजती थी, कोई भी सम्पर्क नहीं रखते थे। उस समय सामाजिक नियम बहुत कठोरता से लागू किया जाता था। फलतः गऊमाँस खाने वालों को समाज से निकाल दिया गया। यह सामाजिक 'पाप' पिता से पुत्र को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्तर्गत होता चला गया। इस प्रकार सामाजिक बहिष्कार का वह नियम जो कि प्रारम्भ में अल्प उद्देश्य से हो लागू किया गया था, धीरे-धीरे परम्परागत और कटु होता गया और स्थायीरूप में सामाजिक जीवन में जड़ पकड़कर विष-वृक्ष की भाँति विष-फल ही उत्पन्न करता गया और समाज के एक लाभकारी बड़े अंग को 'अस्पृश्य' बनाये रखा।

उपर्युक्त पाँच व्याख्याओं में आंशिक सत्यता होते हुए भी उन्हें सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अस्पृश्यता जाति-प्रथा का ही एक अंग होने के कारण एक जटिल धारणा है, और इसकी उत्पत्ति किसी एकविनिष्ट कारण ने नहीं बल्कि अनेक कारणों से हुई है। सांस्कृतिक और प्रजातीय भिन्नताएँ, धर्म से सम्बन्धित पवित्रता की धारणा, सामाजिक निषेध, गाँवे और घूमित पेशों के प्रति सामाजिक मनोवृत्ति आदि सभी कारणों ने मिल कर अस्पृश्यता को जन्म दिया है। ठीक ही कहा गया है कि "बहिष्कृत जातियों के स्तर की उत्पत्ति अंशतः प्रजातीय, अंशतः धार्मिक और अंशतः सामाजिक प्रथा का परिणाम है।"<sup>9</sup>

### अस्पृश्य जातियों की निर्व्योक्तताएँ

#### (Disabilities of Untouchable Castes)

डा० मजूमदार (Majumdar) ने स्पष्ट ही लिखा है, 'अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो अनेक सामाजिक और नैतिक निर्व्योक्तताओं की शिकार हैं; इनमें से अनेक निर्व्योक्तताएँ उच्च जातियों द्वारा परम्परात्मक तौर पर निर्धारित और सामाजिक तौर

9. "The origin of the position of exterior castes is partly racial, partly religious and partly a matter of social custom."



पर लागू की गई हैं।<sup>10</sup> भारत के स्वाधीन होने के बाद अस्पृश्यता को वैधानिक रूप में समाप्त कर दिया गया है और अस्पृश्य जातियों को आज अन्य नागरिकों की भाँति समस्त अधिकार दे दिए गए हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् अस्पृश्य जातियों के स्तर में यह महान् परिवर्तन है। यह सब सच है और यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इन जातियों की वैधानिक नियोग्यतायें दूर हो गई हैं, परन्तु जैसा कि श्री पानिकर (Panikkar) का कथन है, यह मान लेना सर्वथा गलत होगा कि अस्पृश्यता समाप्त हो जाने की घोषणा कर देने से ही अस्पृश्यों की सामाजिक नियोग्यतायें भी दूर हो गई हैं।<sup>11</sup> इस सम्बन्ध में किसी भी निष्कर्ष पर आने से पहले इन अस्पृश्य जातियों की समस्त नियोग्यताओं का विस्तृत ज्ञान आवश्यक है। वे निम्न हैं—

### (१) आर्थिक नियोग्यतायें (Economic Disabilities)

इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं कि आर्थिक कारण किसी भी समूह के सुख और प्रगति का सबसे प्रमुख कारण है और इसीलिए कहा जाता है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता के बिना केवल एक कल्पना मात्र है। इस सम्बन्ध में अछूतों की समस्या सबसे गम्भीर है।

(क) पेशों को चुनने की स्वतन्त्रता नहीं (No freedom of choosing occupation)—अपने परम्परात्मक पेशों को छोड़कर अछूतों को यह अधिकार नहीं था कि वे ऊँची जातियों के पेशों को स्वतन्त्रता पूर्वक चुन सकें। अस्पृश्यता की धारणा के कारण अभी हाल तक उन्हें सब तरह के पेशों को करने की छूट न थी। एक भंगी के लिए एक क्लक होना असम्भव था। इस नियोग्यता के कारण अस्पृश्य जातियों की आर्थिक स्थिति आज भी बहुत दयनीय है और वे निर्धनता से सम्बन्धित सभी कष्टों को भेल रहे हैं।

(ख) भूमिहीन श्रमिक (Landless labour)—भारत के अधिकतर भाग में खेती करना ऊँची जातियों का एकाधिकार माना जाता है। इस कारण यह नहीं हो सकता कि अस्पृश्य जाति का भूमि पर अधिकार हो। वे अधिकतर भूमिहीन श्रमिक हैं। यह कहा जाता था कि यह उनका सौभाग्य होगा अगर उन्हें ऊँची जाति के लोग केवल अपने खेत में ही काम करने का अधिकार दे दें। जमींदारी-प्रथा के समाप्त होने से पूर्व इनसे गुलामी की तरह बेगार ली जाती थी। श्री पानिकर ने उचित ही कहा

10. The untouchable castes are those who suffer from various social and political disabilities, many of which are traditionally prescribed and socially enforced by the higher castes." D. N. Majumdar. *op. cit.*, p. 326.

11. "While all this is true, and it is undeniable that legal disabilities have vanished, it would be absurd to hold that the social disabilities of the untouchables have ceased to exist with the proclamation of the abolition of untouchability." K. M. Panikkar, *Hindu Society at Cross Roads*, Asia Pub. House, Bombay, 1956, pp. 27-28.



है कि उस समय जब अस्पृश्यता की धारणा अपने परम्परात्मक रूप में कार्य कर रही थी, अस्पृश्यों की स्थिति गुलामी से भी गई बीती थी। गुलाम सम्प्रदाय में मालिक की वल-सम्पत्ति होने के कारण मालिकों से कुछ व्यक्तिगत सम्बन्ध रखते थे और उनकी आर्थिक सहायता के कारण उनके साथ बर्बरता का व्यवहार अधिक नहीं किया जाता था। पर अस्पृश्य लोगों के मामले में इसका भी अभाव था। यह एक प्रकार का "गुलामी पर सामूहिक अधिकार" (communal slave holding) था। प्रत्येक व्यक्ति का एक-दूसरे गुलाम न होकर प्रत्येक गाँव में उनकी सेवा करने के लिए अनेक अस्पृश्य परिवार होते थे जोकि "सामूहिक गुलामी" का ही द्योतक है।<sup>12</sup>

(ग) सबसे कम वेतन (Least wage):—निःसन्देह अछूत लोग समाज के लिए सबसे आवश्यक और मूल्यवान सेवा करते हैं। गांधी जी के शब्दों में, "डाक्टर यदि डाक्टरी छोड़ दे तो उसके रोगी का सर्वनाश हो जाय। किन्तु यदि चूल्हा-काम बन्द कर दे तो जगत् का ही विनाश हो जाय।" परन्तु इस काम का वाणिज्यिक उन्हें सबसे कम मिलता है, यहाँ तक कि उनको तन डकने को कपड़ा और पेट भरने को अन्न भी नहीं मिल पाता है। वे आधे पेट खाकर, आधे नंगे रहकर जीवन व्यतीत करते रहते हैं और अन्न में पशुओं की भाँति एक घूँट दवा के बिना ही मरते हैं।

(घ) अस-विभाजन में निम्नतम स्थान (Lowest position in division of labour):—अस्पृश्यता की धारणा के कारण मिल, फैक्ट्री आदि में उनको अच्छे पदों पर काम करने का अवसर ही नहीं मिल पाता है। उन्हें केवल वे काम ही मिलते हैं जो कोई नहीं करता है। योग्यता होने पर भी उचित काम न मिलने से उत्पादन का काफी घबका पहुँचता है और उनकी आर्थिक स्थिति गिर जाती है।

### सामाजिक निर्योग्यतायें (Social Disabilities)

सामाजिक क्षेत्र में भी अस्पृश्य जातियों की निर्योग्यतायें अनेक हैं जिनके कारण उनकी समस्या न केवल गम्भीर ही है बल्कि दयनीय भी। ये सामाजिक निर्योग्यतायें निम्न हैं :—

(अ) समाज में निम्नतम स्थिति (Lowest status in society):—अस्पृश्यता की धारणा ने अछूतों को समाज में निम्नतम स्थिति प्रदान की है। इसी कारण ऊँची जातियों के सभी व्यक्ति उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनके स्पर्श से ही केवल बचा नहीं जाता है बल्कि उनके दर्शन और छाया तक भी उन्हें अपवित्र करती हैं। एक मानव का दूसरे मानव के द्वारा ही इतना अपमान उनकी निर्योग्यता का चरम कटु रूप है। इससे बड़ी निर्योग्यता और क्या होगी ?

(ब) शिक्षा सम्बन्धी निर्योग्यतायें (Disabilities relating to education):—अभी हाल तक अछूतों के लड़के और लड़कियों को स्कूल और कॉलेज में भर्ती होने से रोका जाता था। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। इस का फल यह था कि प्रायः सत प्रतिशत अछूत अशिक्षित थे और इसी कारण हर प्रकार



के दुःख-दर्द भी उन्हीं के हिस्से में आते थे ।

(स) अन्य सामाजिक निर्योग्यतायें (Other social disabilities):—अनेक स्थान में अछूत उन सड़कों पर चल नहीं सकते थे जिन पर ऊँची जाति के लोग चलते थे । उनके लिए अलग सड़क थी । उसी प्रकार वे उन कुँग्रों से पानी नहीं भर सकते थे या उन तालाबों को व्यवहार में नहीं ला सकते थे जिन्हें ऊँची जाति के लोग व्यवहार में लाते थे । छात्रावासों में रहने, होटल, जलपान-गृह आदि में घुसने के सम्बन्ध में अनेक निर्योग्यतायें उन पर लाद दी गई थीं । दक्षिण भारत में उनकी स्थिति इन सम्बन्धों में सचमुच ही दयनीय थी । जिस प्रकार अछूतों को बाल बनवाने, साफ कपड़े पहनने, सोने के जेवर आदि व्यवहार करने और गाँव में रहने की आज्ञा नहीं थी, उसी प्रकार ऊँची जातियों के किसी भी व्यक्ति के निकट आने पर सम्मान-पूर्वक खड़े हो जाना उनके लिए अनिवार्य था ।

(द) निवास स्थान सम्बन्धी निर्योग्यता (Disability relating to residence)—अछूतों को प्रायः शहरों में भी उन मुहल्लों में रहने नहीं दिया जाता है जिनमें ऊँची जाति के लोग रहते हैं । उनके लिए अलग बस्तियाँ होती हैं जहाँ वे पशुओं से भी खराब अवस्था में रहते हैं । गाँव में यह निर्योग्यता और भी कटु है । अछूतों को प्रायः गाँव में रहने नहीं दिया जाता है । गाँव से बाहर उनकी बस्ती बनती है ।

(य) अछूतों में भी अछूतों की निर्योग्यतायें (Untouchability among untouchables):—आश्चर्य की बात तो यह है कि अछूतों में आपस में ही छुआछूत की भावना है कि जिसके फलस्वरूप अनेक अछूतों की निर्योग्यतायें और कटु प्रतीत होती हैं । अछूतों का भी अपना एक जातीय संगठन है और हिन्दुओं की भाँति उनमें भी असंख्य उपजातियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न करती है ।<sup>13</sup> एक मोची एक धोबी को या एक धोबी एक मेहतर को कभी नहीं छूता है । इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि दक्षिण भारत में ऐसे भी स्थान हैं जहाँ न केवल ब्राह्मण लोग ही अछूतों के स्पर्श से बचने की कोशिश करते हैं बल्कि अछूत लोग भी ब्राह्मणों के पास जाना या उन्हें देखना अच्छा नहीं समझते हैं ।<sup>14</sup> सामाजिक निर्योग्यता का वास्तव में यह एक अनोखा रूप है ।

### (३) धार्मिक निर्योग्यतायें (Religious Disabilities)

धार्मिक दृष्टिकोण से भी अस्पृश्य जातियों की निर्योग्यतायें अनेक हैं । कुछ

13. "But the strange thing was that the untouchables themselves lived within a caste organization of their own.....Among them no less than among caste Hindus, there was an infinite gradation of sub-castes each claiming superiority over the other." K. M. Panikkar, *Ibid.*, p. 30.

14. "We are told by competent authorities that it is not the Brahmins alone who avoid the Holiyas, but the latter must not approach the former without being sure that his influence has become innocuous so far as himself and his material possessions are concerned." D. N. Majumdar, *op. cit.* p. 288.



साल पहले तक अछूतों को मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। कानून द्वारा आज इन नियोग्यता को दूर कर दिया गया है। फिर भी गाँवों में कहीं-कहीं यह नियोग्यता आज भी पाई जाती है।

इनके अनिश्चित धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने और धार्मिक संस्कारों में भाग लेने के सम्बन्ध में भी नियोग्यताये थीं। अछूत लोग धार्मिक उद्देश्यों को सुन नहीं सकते और न ही इमशान घाटों में अपने मुर्तियों को जलाने थे। बापदा इनके धार्मिक संस्कारों में पुरोहिता नहीं करने हैं।

उपयुक्त नियोग्यताओं में मन्दिर में प्रवेश या देवी-देवताओं के पूजन सम्बन्धी नियोग्यताये ही सबसे प्रमुख हैं क्योंकि धर्म के माध्यम से नैतिक उन्नति ही नहीं होनी वरन् सामाजिक एकता की भावना भी बढ़ती है। इस कारण इन नियोग्यताओं से अछूतों के नैतिक स्तर की ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय एकता को भी काफी धक्का पहुँचा है।

#### (४) राजनैतिक नियोग्यताये (Political Disabilities)

अस्पृश्य जातियों की राजनैतिक नियोग्यताये भी अनेक हैं। साधारण नागरिक के रूप में जो सामान्य अधिकार प्राप्त होने चाहिये वे उनमें से अधिकतर इन अछूतों को नहीं प्राप्त थे। वोट देने का अधिकार न देना, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार न देना, नौकरी में नियुक्ति सम्बन्धी और वेतन सम्बन्धी समान अधिकार न देना इत्यादि राजनैतिक नियोग्यताओं के अन्तर्गत आते हैं। वर्तमान सरकार से पहले इस सम्बन्ध में सरकारी सुरक्षा या कानून न के बराबर था।

उपयुक्त विवेचना से स्पष्ट है कि "तथा-व्यति अछूतों की समस्या मुख्य रूप से सामाजिक और आर्थिक है न कि धार्मिक या राजनैतिक।"<sup>15</sup>

#### नियोग्यताओं का प्रभाव

#### (The Consequences of Disabilities)

##### (१) सामाजिक एकता में बाधा (Hindrance to Social Solidarity)—

उपयुक्त नियोग्यताओं के कारण अनेक अछूतों ने मुसलमान और ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है क्योंकि वे इन धर्मों के समानता के मिश्रण से आकर्षित हुए, व्यवहारिक रूप में समानता हो या न हो, इतना अवश्य था कि ऊँची जातियों का अत्याचार ही अछूतों के धर्म परिवर्तन का एक प्रमुख कारण बन गया।

##### (२) राजनैतिक फूट (Political Disunity)—ऊँची जातियों के द्वारा

लादा हुआ नियोग्यताओं का दूसरा प्रभाव राजनैतिक फूट था। इन नियोग्यताओं के कारण अछूतों के मन में एक यह धारणा ब्रमशः दृढ़ होती रही कि वे हिन्दू समाज के कोई नहीं हैं। उन्होंने अपने को हिन्दू समाज का एक अंग मानने से इनकार कर दिया और प्रायः अपने को हिन्दू कहना तक छोड़ दिया। इसके फलस्वरूप राज-

15. "The problem of the so-called untouchables is mainly social and economic and not religious or political."



नैतिक एकता में भारी धक्का पहुँचा। १३ नवम्बर १९३१ को द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (Round Table Conference) में डा० अम्बेदेकर की इस माँग का कि अछूतों को पृथक् राजनैतिक अधिकार मिलना चाहिए। विरोध करते हुए महात्मा गांधी ने जोरदार शब्दों में कहा था कि “जो लोग अछूतों के राजनैतिक अधिकारों की बात करते हैं, वे भारत को नहीं पहचानते, और हिन्दू समाज आज किस प्रकार बना हुआ है, इसे नहीं जानते। इसलिये मैं अपनी पूरी शक्ति से यह कहूँगा कि इस बात का विरोध करने वाला यदि मैं अकेला भी रहूँ, तो मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर इसका विरोध करूँगा।”

(३) आर्थिक असमानतायें (Economic Inequalities):—आर्थिक नियोग्यताओं के कारण अन्य लोगों की तुलना में अस्पृश्य जातियों की आर्थिक असमानतायें बढ़ती ही गई। इसने समाज के एक बड़े भाग को अपना आर्थिक उत्थान करने से रोका जिसका प्रभाव पूरे समाज की आर्थिक दशा पर पड़ा। आर्थिक मामलों में हरिजनों की उपेक्षा हमारे लिये कितनी हानिप्रद है, इस सम्बन्ध में गांधी जी ने कहा था, ‘पश्चिम के वैज्ञानिक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि समाज से सेवकों की उपेक्षा करने से, उनकी देख-भाल न करने से समाज की भारी आर्थिक हानि होती है।’

(४) स्वास्थ्य का नीचा स्तर (Lower standard of health):—अस्पृश्य की सामाजिक नियोग्यताओं ने उनको शहर या गाँव के ऐसे कोने में बसने को बाध्य किया जहाँ पर स्वास्थ्य सम्बन्धी कोई भी सुविधा प्राप्त नहीं है जिसके फलस्वरूप इतनी बड़ी जनसंख्या का स्वास्थ्य स्तर बहुत ही नीचे हो गया है। यह पूरे समाज की प्रगति के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा है।

(५) अशिक्षा और दरिद्रता (Illitearcy and Poverty):—अस्पृश्य जातियों की शिक्षा सम्बन्धी नियोग्यता के कारण ही भारतवर्ष की इतनी बड़ी जनसंख्या अज्ञानता के अन्धकूप में पड़ी सड़ती रही है। इतना ही नहीं, श्रम-विभाजन की कठिनाई, उच्च वर्ग की शोषण नीति, श्रमिक गतिशीलता में बाधा आदि के कारण अस्पृश्य जाति निर्धनता के निम्न स्तर पर निवास करती रही है।

### सुधार आन्दोलन (Reform Movement)

सुधार आन्दोलन में सहयोग देने वाले कारक (Factors that Encouraged Reform Movement) — अंग्रेजों ने प्रारम्भ में भारतीय समाज के धार्मिक तथा जाति सम्बन्धी विषयों में बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं किया। राष्ट्रीयता की भावना नीचे के वर्गों में बिल्कुल न पनपने पाये इस उद्देश्य से ही उन्होंने अछूतों की दशा को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया। उस पर भी कुछ कारणों ने अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। वे कारक निम्न थे :—

(१) अंग्रेजों के आने के बाद उनके प्रयत्नों से भारतवर्ष में यातायात और



संचार के साधनों में उन्नति हुई। जैसा कि पहले ही बता चुके हैं, इन साधनों में उन्नति अंग्रेजों ने अपनी ही दूर-दूस्ती के लिए की थी पर इनका प्रभाव अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन पर भी पड़ा। रेल, ट्राम, बस आदि में सब जाति के लोग साथ-साथ बैठकर सफर करने थे और न चाहने पर भी उन्हें एक साथ बैठकर खाने पीने करना पड़ता था जिससे धीरे-धीरे अस्पृश्यों के प्रति मानवीयता के भाव पनपने लगे और हरिजन सुधार आन्दोलन के प्रति लोग जागरूक हुए। साथ ही, मातायात व संचार के साधनों में उन्नति होने से देश के नेताओं और सामाजिक सुधारकों का कार्य-क्षेत्र भी बढ गया और वे भी सरलता से विभिन्न स्थानों में जाकर या समाचार पत्र, पत्रिका, पुस्तक आदि के माध्यम से अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को बढावा दे सके। उन्हीं साधनों के द्वारा हमारा सम्पर्क दुनिया के अन्य देशों से हुआ जिसमें कि अस्पृश्यता की भावना की अर्थहीनता स्वतः ही प्रकट होने लगी।

(२) अंग्रेजों के भारतवर्ष में आने के बाद इस देश में नगरों का जो तेजी से विकास हुआ, उसका भी प्रभाव हरिजन सुधार आन्दोलन पर पड़ा। नगरों में जनसंख्या की विभिन्नता और अपरिचितता के कारण जाति-प्रांति का भेद-भाव दूर हुआ क्योंकि नगरों में विभिन्न रूप में विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को एक दूसरे के निकट आने का अवसर मिलता है। मिल, कारखाना, दफ्तर आदि में लोग एक साथ काम करते हैं, बसों, रेलों, ट्रामों तथा रिक्शों आदि में एक दूसरे के साथ बैठते हैं, निनेमाधों, थियेट्रों आदि में साथ-साथ बैठकर मनोरंजन करने हैं तथा होटलों व जनपाल-गृहों में एक साथ बैठकर खाने-पीने भी हैं। इन सबके फलस्वरूप निम्न जातियों में जो आपसी मेल-मिलाप बढ़ा उससे अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को पर्याप्त बढावा मिला।

(३) देश के औद्योगिक विकास के एक स्तर पर कुछ नए समूहों का जन्म हुआ। इनके द्वारा भी सुधार आन्दोलन प्रभावित हुआ। इन नए समूहों में मजदूर संघ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन श्रमिक-संघों के नेतृत्व में मिल, कारखाना आदि में विभिन्न जातियों के मजदूर न केवल एक साथ काम ही करते थे, बल्कि अपनी सामान्य समस्याओं के लिए मिलकर आन्दोलन भी करते थे, जिसके फलस्वरूप विभिन्न जातियों में समानता की भावना पनपने लगी। इससे जातीय नहीं बल्कि वर्गीय हितों की प्रमुखता हो गई या यूँ भी कहा जा सकता है कि सामान्य आर्थिक हितों ने संकीर्ण जातीय हितों को दबा दिया और उसी समानता ने विभिन्न जातियों को एक दूसरे के निकट भी ला दिया। फलतः अस्पृश्यता की भावना धीरे-धीरे कम होने लगी।

(४) अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को प्रोत्साहित करने में आधुनिक शिक्षा का प्रभाव भी महत्वपूर्ण रहा। धर्म-निरपेक्ष आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद विद्यार्थियों के विमर्श में जाति-प्रांति जैसी संकीर्णता बनी रहता कठिन हो गया और छुआ-छूत के बंधन बहुत ढीले पड़ गये। यह देखा जा सकता है कि 'मिलन-मेल' आन्दोलन में ऐसे लोगों ने ही सक्रिय भाग लिया जिन्होंने आधुनिक शिक्षा ग्रहण



की थी।

(५) इस आन्दोलन में शिक्षा के साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति का, जोकि समानता के आधार पर आधारित है, बहुत प्रभाव पड़ा। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि छद्म-छूत के विरोध में जिन संस्थानों जैसे ब्रह्म समाज आदि ने क्रियात्मक आवाज उठायी, वे सभी पाश्चात्य आदर्श व संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे।

(६) अंत में यह कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी अछूतों की अवस्था में सुधार कार्य में काफी मदद की। राष्ट्रीय संग्राम में एक साथ मिलकर काम करना, जेल में साथ-साथ रहना, गांधी जी का हरिजन आन्दोलन चालू करना आदि सभी इस अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को प्रोत्साहित करने वाले कारक थे।

### सुधार आन्दोलन के चार पहलू

(Four Aspects of Reform Movement)

अस्पृश्य जातियों की दशा को सुधारने के लिए जो आन्दोलन हुआ और हो रहा है उसे चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भिक सुधार आन्दोलन (Preliminary Reform Movement)—हरिजन सुधार आन्दोलन का श्रीगणेश दक्षिण भारत में हुआ जहाँ पर कि इनकी दशा वास्तव में बहुत ही दयनीय थी। इस प्रारम्भिक आन्दोलन के प्रथम नेता पूना के श्री ज्योतिबा फूले (Jyotiba Phule) थे।<sup>16</sup> श्री वी० आर० सिन्हे (V. R. Shinde) के अनुसार सन् १८६५ में बंगाली ब्राह्मण शशिपद बंद्योपाध्याय ने बरानगर (बंगाल) में काम करने वाले अस्पृश्य श्रमिकों की अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया था।<sup>17</sup> इनके बाद के प्रयत्नों में श्री सिन्हे के द्वारा स्थापित बम्बई में दलित वर्ग मिशन का नाम उल्लेखनीय है।<sup>18</sup> इसके बाद डाक्टर अम्बेदकर के नेतृत्व में आन्दोलन ने और भी जोर पकड़ा और “अखिल भारतीय दलित संघ” (All India Depressed Union) तथा “अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन” (All India Depressed Class Federation) नामक समितियाँ बनीं। सन् १९२४ में सबसे पहले ट्रावनकोर में अछूतों ने अपने धार्मिक अधिकार को प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया और कुछ सफलता भी प्राप्त की।

सन् १९३१ के गोलमेज सम्मेलन के पश्चात् गांधी जी ने अपना अन्तर्गमन प्रारम्भ किया। बम्बई में इस सम्बन्ध में एक परिषद् का निर्माण किया गया। गांधी जी के उपवास भंग करने के बाद ही परिषद् ने बम्बई में एक सभा की। इसमें एक प्रस्ताव के द्वारा “हरिजन सेवक संघ” (Harijan Sewak Sangh) के नाम से एक विख्यात संस्था की स्थापना की गई। इस परिषद् ने पंडित मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में सर्व सम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि—“यह परिषद् निश्चय

16. G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 231.

17. *Ibid.*, p. 231.

18. *Ibid.*, p. 231.



करती है कि अब भविष्य में हिन्दू-जाति में किसी को जन्म से अस्पृश्यता समझा जायेगा, और जिन्हें अब तक अस्पृश्य समझा जाता रहा है उन्हें अन्य हिन्दुओं की भाँति ही मन्दिरों, कुओं, गल्लियाँ, सड़कों और अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं के उपयोग का अधिकार रहेगा। अबसर मिलते ही हम अधिकार की कानूनी स्वतन्त्रता दे दिया जायेगा और यदि इस प्रकार का रूप उसे स्वराज्य-पालिका में स्थापित होने से पहले ब्रह्म प्राप्ति न हुआ तो स्वराज्य-पालिका में स्थापित होने से पहले का कानून इस सम्बन्ध में होगा। व्यक्तिगत प्रयत्नों में गाँधी जी का प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने भली प्रकार यह अनुभव कर लिया था कि भारत के भावी राष्ट्रीय जीवन में हरिजन कल्याण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी कारण उन्होंने अन्य सब कामों में अपना हाथ बहुत कुछ खींच लिया था और हरिजन सेवा में ही वे अधिक लगे रहते थे। उन्होंने प्रारम्भ में ही यह महसूस किया कि यदि हरिजनों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति सुधारी जा सके, यदि उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो सके, यदि उनमें साफ-सुथरा रहकर अच्छा जीवन व्यतीत करने की क्षमता पैदा हो जाय तो वे निश्चय हमारे साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने लगेंगे। अपने प्रारम्भिक प्रयत्नों में हरिजनों को गाँधी जी यही प्रेरणा देते थे कि वे अपने अन्दर समाई हुई बुराइयों को दूर करें, जीवन को साफ और सुन्दर बनायें। सच कहा जाय तो राष्ट्रपिता गाँधी ने देश को वह आधार दिया जिस पर भावी कार्यक्रमों की रूपरेखा बनी।

(२) हरिजन सेवक संघ आदि के द्वारा आयोजित सुधार आन्दोलन (Reform movement by Harijan Sewak Sangh)—जिन समितियों ने हरिजन सुधार आन्दोलन में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, उनमें 'हरिजन सेवक संघ' का नाम सबसे प्रमुख है। इस संघ की प्रत्येक शाखा में शाखायें हैं। यह संघ प्रचार के द्वारा अस्पृश्यता को दूर करने, समानता की भावना को फैलाने तथा हरिजनों के लिए मन्दिर में प्रवेश आदि के अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। साथ ही अस्पृश्य जातियों की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिये संघ की ओर से व्यवसाय सम्बन्धी ट्रेनिंग देने की व्यवस्था भी है। कुटीर उद्योगों को पनपाने और दवा आदि की सहायता अधिक से अधिक प्रदान करने की ओर भी यह संघ प्रयत्नशील है। इसके अतिरिक्त इस संघ ने हरिजनों के कल्याण के लिए स्कूलों की खोलना, छात्रावासों और पढ़ने की सामग्रियों को गरीब बच्चों को उपलब्ध देना तथा शिक्षक-प्रशिक्षकों की सहायता, कुओं को खोदना आदि कल्याण कार्यों को संगठित किया है। इस संघ के प्रयत्नों से दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों के द्वार हरिजनों के लिए खोल दिये गये और मद्रास सरकार ने इस सम्बन्ध में एक कानून भी पास किया है। यह संस्था अपने प्रचारकों, पोस्टरों, बच्चों, नाटकों, भजन मण्डलियों, कीर्तनों, सभाओं, मेलों तथा अन्य साधनों द्वारा अस्पृश्यता निवारण का प्रयत्न करती है।

अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाली दो अन्य संस्थाएँ 'भारतीय दलित वर्ग संघ' (Bharatiya Depressed Classes League) तथा 'भारत दलित सेवक संघ' (Bharat Dalit Sevak Sangh) हैं। इन संघों में भी अनेक शाखाएँ हैं जो



कि देश के विभिन्न स्थानों में फैली हुई हैं। ये संस्थाएँ अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेती हैं। इनका मुख्य कार्य प्रचारात्मक है। इनके प्रचारकों के प्रयत्नों से हरिजनों को मन्दिरों, धर्मशालाओं तथा होटलों आदि में प्रवेश करने तथा कुओं व नलों से पानी भरने के अधिकार प्राप्त हो गये हैं। अस्पृश्यता की भावना को मिटाने के लिए ये मध्य विभिन्न जातियों के सामुदायिक भोज भी संगठित करते हैं। इन सब कार्यों के लिए सरकार उन्हें आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करती है।

(३) अन्य समितियों द्वारा सुधार कार्य (Reform work by other Associations) — इसके अन्तर्गत हम सवर्ण हिन्दुओं के प्रयत्नों को सम्मिलित कर सकते हैं। इस प्रकार की समितियों या संगठनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, राम-कृष्ण मिशन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन संगठनों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर अस्पृश्यों को सामाजिक क्षेत्र में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है जिसके फलस्वरूप नगरों में इनकी अनेकों प्रमुख सार्वजनिक नियोग्यतायें दूर हो गयी हैं। सरकारी स्कूलों में शिक्षा पाने, मन्दिरों में प्रवेश करने, सार्वजनिक कुओं से पानी भरने आदि के अधिकार हरिजनों को इन संगठनों ने दिलाये हैं।

(४) स्वतन्त्रता के पूर्व सरकारी प्रयत्न (Pre-independence Efforts):— कांग्रेस के साथ अन्य समितियों के द्वारा किये गये सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप सन् १९३० में अंग्रेजी सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में इनके उत्पादन के लिए कुछ कदम उठाये। सार्वजनिक स्कूलों में शिक्षा की व्यवस्था और नौकरी में विशेष सुविधाएँ दी गईं पर ये प्रायः न के बराबर थीं।

सन् १९३५ के विधान में अछूतों की एक अनुसूची (schedule) तैयार की गई जिसका मुख्य उद्देश्य उनको कुछ विशेष सुविधायें प्रदान करके, उनकी अवस्थाओं को सुधारना था। परन्तु इसमें भी अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। सन् १९३६ में जब विभिन्न प्रान्तों में लोकप्रिय कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल स्थापित हुआ तो इस लोकप्रिय सरकार ने विभिन्न योजनायें हरिजनों की अवस्था को सुधारने के लिए बनाई। मद्रास सरकार ने सबसे पहला कदम उठाया और “मालाबार मन्दिर प्रवेश अधिनियम” आदि पास किये गये। सन् १९३६ से सन् १९४० के बीच सरकार ने हरिजनों के स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की। सन् १९३६ में उत्तर प्रदेश सरकार ने पार्लियामेण्टी सेक्रेटरी के दो पदों को हरिजनों के लिए सुरक्षित कर दिया। पुलिस विभाग में हरिजनों की भर्ती की विशेष व्यवस्था की गई। हरिजन विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियाँ भी दी गईं। साथ ही सहकारी समितियाँ भी इनकी आर्थिक सहायता के लिए खोली गईं।

**स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकारी प्रयत्न**

(Post-independence Governmental Efforts)

(क) संवैधानिक रक्षा (Constitutional Safeguards) — स्वतन्त्रता के



पश्चात् हरिजनों के उत्थान के लिए किये गये प्रयत्नों में सर्वप्रथम उनकी शैक्षणिक शिक्षा के लिए संवैधानिक रक्षा है। स्वतन्त्र भारत के संविधान में उनको अनेक नियोग्यताओं को दूर करने के सम्बन्ध में नियम रक्खे गये हैं, जैसे—

**अनुच्छेद १५ (Article 15)—**(१) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। (२) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें किसी के आधार पर कोई नागरिक—(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनगृहों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के; अथवा (ख) पूर्ण या आंशिक रूप में राज्य निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, नालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी नियोग्यता, प्रतिबन्ध या शर्त के अधीन न होगा।

**अनुच्छेद १६ (Article 16)—**राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में समस्त नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपावना होगी और न विभेद किया जायेगा।

**अनुच्छेद १७ (Article 17)—**'अस्पृश्यता' का अन्त किया जाता है और इसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी नियोग्यता को लागू करना अपराध होगा जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा।

**अनुच्छेद २९ (Article 29)—**राज्यनिधि द्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाते वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इसमें से किसी के आधार पर वंचित न किया जायेगा।

**अनुच्छेद ३० (Article 30)—**राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की भरमक कार्य साधन रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा जिससे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करें।

**अनुच्छेद ४६ (Article 46)—**राज्य जनता के दुर्बलतम विभागों की, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय व सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों का शैक्षणिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने और उन पर लादी गई परम्परागत सामाजिक नियोग्यताओं का निराकरण करने के उद्देश्य से आवश्यक मुश्किल तथा संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है संविधान में कहा गया है कि (१) अस्पृश्यता का उन्मूलन किया जाय तथा किसी



और रूप में अस्पृश्यता का आचरण करना निषिद्ध कर दिया जाय (अनु० १७); (२) इन जातियों के शैक्षणिक और आर्थिक हितों की रक्षा की जाय और सामाजिक अन्याय और शोषण से सब रूपों से उन्हें बचाया जाय (अनु० ४६); (३) हिन्दुओं के सार्वजनिक धार्मिक स्थानों के द्वारा समस्त जातियों के हिन्दू धर्मावलम्बियों के लिए उन्मुक्त रखे जायें (अनु० २५); (४) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों, कुओं, ताल-तलाबों, स्नानघाटों और ऐसी सड़कों तथा सार्वजनिक स्थानों का उपभोग करने पर लगे सभी प्रतिबन्धों को हटाया जाय जिनका पूरा या कुछ खर्च सरकार उठाती है, अथवा जो, जन साधारण के लिए बनाई गई हों (अनु० १५); (५) इन जातियों को कोई भी धन्वा या व्यापार अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय (अनु० १६); (६) सरकार द्वारा संचालित अथवा सरकारी कोष से सहायता पाने वाले शिक्षालयों में उनके प्रवेश पर कोई रुकावट न रखी जाय (अनु० २६); (७) सरकारी नौकरियों में इनकी नियुक्ति के हितों का ध्यान रखना सरकार का कर्तव्य है, अतः इनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जायें (अनु० १६ तथा ३३५); (८) संसद तथा राज्यीय विधान मण्डलों में २० वर्ष की अवधि तक इन्हें विशेष प्रतिनिधित्व की सुविधा दी जाय । (अनु० ३३०, ३३२ तथा ३३४); तथा (९) इनके कल्याण तथा हितों की सुरक्षा के प्रयोजन से राज्यों में सलाहकार परिषदों और पृथक् विभागों की स्थापना की जाय तथा केन्द्र में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की जाय (अनु० १६४)।

(ख) अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम १९५५ (The untouchability offences Act 1955)—केन्द्रीय सरकार ने संविधान के अनुच्छेद १५ को विस्तारपूर्वक लागू करने के लिए इस अधिनियम को पास किया और यह कानून के रूप में एक जून सन् १९५५ से लागू हुआ । इस अधिनियम की मुख्य धारारें निम्नवत् हैं—

धारा ३ (Clause 3)—(अ) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी सार्वजनिक पूजा के स्थान में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता होगी; (ब) प्रत्येक व्यक्ति किसी प्रकार से पूजा, प्रार्थना या दूसरे धार्मिक संस्कार करने में स्वतन्त्र होगा; (स) प्रत्येक व्यक्ति को धर्म सम्बन्धी पवित्र नदी, तालाब आदि में नहाने या पानी देने की स्वतन्त्रता होगी; (द) इन नियमों का पालन न करने पर सरकार द्वारा दी गई कोई भी सहायता बन्द की जा सकती है या जमीन छीनी जा सकती है।

धारा ४ (Clause 4)—प्रत्येक व्यक्ति को (क) किसी भी दुकान, जलपान-शुद्ध, होटलों या सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने का और धर्मशालाओं या मुसाफिरखानों के वर्तनों तथा अन्य चीजों को व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता होगी; (ख) किसी भी पेशे, व्यापार या उद्योग को चुनने और करने की स्वतन्त्रता होगी; (ग) किसी भी नदी, कुएँ, नल, घाट, श्मशान या कब्रिस्तान के स्थानों को व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता होगी; (घ) साधारण जनता के लिये बनायी गई धार्मिक संस्थाओं के लाभ और सेवाओं को उपभोग करने का पूर्ण अधिकार होगा; (ङ) किसी भी मुहल्ले में जमीन खरीदने, मकान बनवाने और रहने की स्वतन्त्रता



होगी; (च) किसी भी धर्मशाला, मराय आदि से लाभ उठाने का पूर्ण अधिकार होगा; (छ) किसी भी सामाजिक या धार्मिक संस्कार या प्रथा को अपनाने की स्वतन्त्रता होगी; (ज) किसी भी प्रकार के जेवर या अन्य चीजों को पहनने की स्वतन्त्रता होगी।

धारा ५ (Clause 5)—(अ) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी सार्वजनिक चिकित्सालय, शोधशाला, शिक्षा संस्था या छात्रावास में प्रवेश का अधिकार होगा और वहाँ प्रत्येक के साथ समान व्यवहार किया जाएगा। (ब) अस्पृश्यता के आधार पर कोई भी दुकानदार किसी भी व्यक्ति को कोई भी चीज बेचने या सेवा करने से इंकार नहीं कर सकता है।

धारा ७ (Clause 7)—इस कानून के किसी भी नियम को न मानने या अस्पृश्यता को बढ़ावा देने वालों को दण्ड दिया जायेगा। ये दण्ड ६ माह की कैद या ५०० रु० के जुर्माने या दोनों हो सकते हैं।

### अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन (Campaign against Untouchability)

भारत सरकार सन् १९५४ से अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन के लिए अधिक सहायता देती आ रही है। इस कार्य के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी, दोनों प्रकार की संस्थाओं का उपयोग किया जा रहा है। राज्य सरकारों ने भी अपने जिलाधिकारियों तथा अन्य अधिकारियों को, जिनका सम्पर्क जनता से है, यह आदेश दिया है कि वे इस कुरीति का अन्त करने पर विशेष बल दें। जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित करने तथा उसका सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से प्रायः सभी राज्यों में 'हरिजन दिवस' तथा 'हरिजन सप्ताह' मनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश राज्यों में अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, १९५५ को लागू करने के लिए छोटी-छोटी समितियाँ नियुक्त कर दी गई हैं। इस कार्य के लिए पुस्तक-पुष्पिकाएँ, विज्ञापन और अन्य दृश्य-श्रव्य (Audio-visual) साधनों का उपयोग किया जा रहा है। अस्पृश्यता सम्बन्धी एक फ़िल्म भी बनाई गई है।

अस्पृश्यता-विरोधी कार्य में हरिजन सेवक संघ, भारतीय दलित बर्ग संग, भारत दलित सेवक संघ तथा इलाहाबाद के हरिजन आश्रम जैसे स्वयंसेवी संगठनों का सहयोग तथा सहायता प्राप्त की जा रही है। पहली योजना की अवधि में इन संगठनों को सहायता-अनुदान के रूप में ६१,५०,७४६ रु० दिया गया था, जिसमें से केन्द्रीय सरकार ने १४,७७,२०० रु० दिया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में इस कार्य में गैर-सरकारी संस्थाओं की सहायता करने के लिए केन्द्र तथा राज्यों में कुल मिलाकर लगभग २०८ लाख रु० व्यय करने का लक्ष्य सामने रखा गया था। इसमें से राज्य सरकारों द्वारा १३८ लाख तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा ७० लाख रु० व्यय होता था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में केन्द्रीय सरकार द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाले स्वयंसेवी संगठनों को ६९२७ लाख रु० सहायता-अनुदान के रूप में दिया गया था जिसमें ३६५३ लाख रु० अस्पृश्यता



निवारण के हेतु था। इन संगठनों को तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में १२५ लाख ६० आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था है।

## हरिजन-कल्याण-कार्य (Harijan Welfare Activities)

### कल्याणकारी तथा सलाहकार संस्थाएँ (Welfare and Advisory Bodies)

संविधान के अनुच्छेद ३३८ के अन्तर्गत संविधान में अनुसूचित जातियाँ तथा अनुसूचित जनजातियों को दी गई सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करने तथा इनको कार्यरूप देने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अवगत कराने के लिए राष्ट्रपति ने एक आयुक्त (Commissioner) की नियुक्ति की है। आयुक्त की सहायता के लिए इस समय १० सहायक आयुक्त भी हैं। अनुसूचित जातियों के कल्याण सम्बन्धी मामलों में संसद-सदस्यों तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का सहयोग प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने एक केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड (Central Advisory Board) स्थापित किया है। यह बोर्ड हरिजनों के लिए कल्याण-सम्बन्धी विषयों पर भारत सरकार को सलाह देता है तथा इनके लिए कल्याण सम्बन्धी योजनाएँ बनाने, चालू योजनाओं के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करने तथा उनमें सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देने का भी काम करता है।

### विशेष सुविधाएँ तथा कल्याणकारी योजनाएँ (Special Facilities and Welfare Schemes)

(१) विधान-मण्डलों में प्रतिनिधित्व :—संविधान के अनुसार राज्यों की अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के अनुपात से इन लोगों के लिए लोक-सभा तथा राज्यों की विधान-सभाओं में संविधान लागू होने के बाद से २० वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। लोक-सभा में इनके लिए ७६ स्थान सुरक्षित हैं जिनमें से १८ उत्तर प्रदेश के, ७ मद्रास, ७ बिहार, ६ आन्ध्र प्रदेश, ६ महाराष्ट्र, ६ पश्चिमी बंगाल, ५ मध्य प्रदेश, ५ पंजाब और ३ राजस्थान के अनुसूचित जातियों के सदस्यों के लिए स्थान सुरक्षित हैं। इसी प्रकार अन्य राज्यों में उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित रखा गया है। राज्यों के विधान मण्डलों में इन जातियों के लिए सुरक्षित स्थानों की कुल संख्या ४७० है जिनमें उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जातियों के लिए ८६ स्थान, आन्ध्र प्रदेश में ४३, बिहार में ४०, मध्य प्रदेश में ४३, मद्रास में ३७, महाराष्ट्र में ३३, पंजाब में ३३, राजस्थान में २८ तथा पश्चिमी बंगाल में ४५ स्थान सुरक्षित हैं।

(२) सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व :—२६ जनवरी, सन् १९५० को केन्द्रीय सरकार ने यह निर्णय किया कि जिन पदों पर नियुक्तियाँ खुली प्रतियोगिता द्वारा देशव्यापी आधार पर की जाती हैं, उनमें १२५ प्रतिशत स्थान, तथा जो नियुक्तियाँ अन्य प्रकार से की जाती हैं, उनमें १६७ प्रतिशत स्थान अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित रखे जायें। नौकरियों में इन जातियों को पर्याप्त प्रति-



निधित्व देने के लिए आयु-सीमा (age-limit) में छूट, योग्यताओं के मानदण्ड में रियायत आदि जैसी सुविधायें दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त, स्थान सुरक्षित रखने का सिद्धान्त उन नौकरियों पर भी लागू कर दिया गया है जो केवल पदोन्नति (Promotion) तथा विभागीय उम्मीदवारों की प्रतियोगितामूलक परीक्षा (Departmental Competitive Examinations) द्वारा भरी जाती हैं।

अनुविहित और अर्द्ध स्वायत्तशासी निकायों (Statutory and semi-autonomous bodies) तथा सरकारी लिमिटेड कम्पनियों के बारे में भी यह सिद्धान्त लागू किया जाता है। इन जातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखने के नियम कुछ राज्य सरकारों ने भी बना दिये हैं तथा राज्यों की नौकरियों में इनको अधिक स्थान दिलाने की दिशा में प्रयत्न किया जा रहा है। १ जनवरी सन् १९६१ को अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के ३,१९,९९८ व्यक्ति भारत सरकार की नौकरियों पर नियुक्त थे।

(३) शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें—हरिजनों को शिक्षा की अधिक से अधिक सुविधायें देने के लिये सरकार द्वारा उपाय किये जा रहे हैं। विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाई, छात्रवृत्तियों, पुस्तकों, लेखन-सामग्री आदि की सुविधायें दी जा रही हैं। अनेक स्थानों पर दोपहर को भोजन देने की भी व्यवस्था है। सन् १९४४-४५ में भारत सरकार ने अनुसूचित जातियों के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ (scholarship) देने की एक योजना प्रारम्भ की थी। सन् १९५८-५९ में भारत सरकार ने इन्हें १२५.८६ लाख रु० की छात्रवृत्तियाँ दीं। सन् १९५९-६० से यह काम राज्य सरकारों को सौंप दिया गया है। सन् १९५३-५४ में भारत सरकार ने इन जातियों के अच्छे विद्यार्थियों को विदेशों में अध्ययन के लिये भी छात्रवृत्तियाँ देने की एक योजना प्रारम्भ की।

(४) आर्थिक सुविधाएँ—हरिजनों की आर्थिक उन्नति के लिये प्रथम आवश्यकता उनको तकनीकी तथा पेशा सम्बन्धी शिक्षा देने की है। इसलिये सरकार इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील है। हरिजनों को मेडिकल, इंजिनियरिंग तथा अन्य प्रौद्योगिक शिक्षा संस्थानों में प्रवेश पाने की सुविधाएँ प्रदान करके इनके औद्योगिक तथा पेशा सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। उसी प्रकार हरिजनों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये खेती, कुटीर उद्योग-धन्धे तथा सहकारिता के विकास की ओर भी सरकार विशेष प्रयत्नशील है। साथ ही साथ हरिजनों की बस्तियों में आवश्यक सुधार लाने के लिये राज्य और केन्द्रीय सरकार द्वारा याजनायें बनाई गई हैं। साधारणतया ७५० रु० प्रति परिवार को अनुदान के रूप में दिये जाते हैं। गाँवों में रहने वाले हरिजनों के आर्थिक उत्थान का विशेष ध्यान रखा गया है और सम्पूर्ण गाँव-विकास के लिये जो भी योजनाएँ बनाई जाती हैं, उनमें हरिजनों के हितों को अत्यधिक प्राथमिकता दी जाती है।

(५) पंचवर्षीय योजनायें तथा हरिजन कल्याण :—पंचवर्षीय योजनाओं में भी हरिजन कल्याण कार्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इस दिशा में



प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही प्रयत्न जारी है और अब भी नाना प्रकार के कार्यक्रमों का निरन्तर विस्तार ही हो रहा है। हरिजनों के उत्थान के लिये प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में भी ७०८ करोड़ रु० व्यय किया गया था। यह व्यय विशेष रूप से शिक्षा, आर्थिक, स्वास्थ्य तथा आवास सम्बन्धी सुधार कार्यों में किया गया था। इनमें से शिक्षा को ही प्राथमिकता दी गई थी क्योंकि यह स्वीकार किया गया था कि बिना उचित शिक्षा के उन अनेक सामाजिक बुराइयों को दूर करना सम्भव न होगा, जो कि हरिजनों के अन्ध-विश्वासों व भाग्यवादी होने के कारण पनप गयी हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में अनुसूचित जातियों के लिये ६,००० स्कूल और छात्रावास स्थापित करने तथा ३० लाख विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ आदि देने का लक्ष्य रखा गया था। शिक्षा मन्त्रालय ने भी १,७००० छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की थी। सन् १९५६-५७ में अनुसूचित जातियों के ६,००,००० विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिल रही थी जिनकी संख्या द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक बढ़कर प्रायः ६,००,००० हो गयी थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में दसवीं कक्षा से ऊपर पढ़ने वाले ११०० विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ मिल रही थीं, जिनकी संख्या द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक बढ़कर ४०,००० हो गयी थी। दूसरी योजना में अनुसूचित जातियों के कल्याण-कार्यों के लिये २१.२८ करोड़ रुपये निश्चित किया गया था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित (क) आवास, (ख) पीने के पानी की पूर्ति, (ग) आर्थिक उन्नति तथा (घ) निजी संस्थाओं को आर्थिक सहायता, इन चार योजनाओं पर ६.२५ करोड़ रुपये की व्यवस्था थी। अनुमान है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना काल में अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए २७.६६ करोड़ रुपये व्यय किया गया था। इसके अतिरिक्त, इन लोगों के लिए १,२६,३०० मकान ५.२५ करोड़ रुपये की लागत से बने थे। तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में इन जातियों के उत्थान के लिए ४०.४० करोड़ रुपये की व्यवस्था है। राज्यों की योजनाओं में ३० करोड़ रुपये की व्यवस्था है। इसमें से आधी राशि शिक्षा कार्यक्रमों के लिए और शेष आधी में से लगभग बराबर राशि (१) आर्थिक विकास, (२) स्वास्थ्य, मकान तथा अन्य कार्यक्रमों के लिए है। साथ ही साथ तीसरी योजना काल में इस बात का ध्यान रखा गया है कि समुदायिक विकास योजना, ग्रामीण उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित योजनाओं, भूमिहीन कृषि श्रमिकों के कल्याण के लिए बनाई गई योजनाओं आदि से प्राप्त होने वाले लाभ अधिकाधिक मात्रा में अनुसूचित जातियों को प्राप्त हो सकें। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इन जातियों के कल्याण के लिए कुछ विशेष कार्यक्रम चालू किये जायेंगे। वैसे भी, तीसरी योजना में पूरे समुदाय के विकास के लिए जो कार्यक्रम रखे गये हैं, उन्हीं के साथ पूरक रूप में अनुसूचित जातियों के विकास के लिए कुछ विशेष कार्यक्रम भी सम्मिलित हैं। सामान्यतया अनुसूचित जातियों के विकास कार्यक्रमों के लिए राज्यों की योजनाओं में ही व्यवस्था की जाती है, लेकिन केन्द्र द्वारा बनाई गई निम्नलिखित योजनाओं के लिए स्वराष्ट्र मन्त्रालय (Ministry



of Home Affairs) व्यवस्था करता है:—(क) गन्दगी आदि उठाने के कामों में लगे हुए लोगों की स्थितियों में सुधार करना, जिसमें सिर पर सैला उठाने की प्रथा को खत्म करना भी सम्मिलित है; (ख) भंगियों को मकान के लिए सहायता देना; (ग) अनुसूचित जातियों के ऐसे लोगों के लिए मकानों के लिए जगह की व्यवस्था करना जो गन्दगी उठाने का काम करते हैं; और जो भूमिहीन मजदूर हैं; (घ) मैट्रिक के बाद पढ़ाई के लिए छात्रवृत्ति देना; और (ङ) स्वयंसेवी संस्थाओं को सहायता देना। मकान निर्माण के साधारण कार्यक्रमों में कृषि मजदूरों, जिनमें अधिकांश अनुपात अनुसूचित जातियों का है, को मकानों के लिए भूमि अधिग्रहण (acquisition) और विकास के लिए अलग से व्यवस्था है। स्वयंसेवी संस्थाओं को, जनता को अस्पृश्यता निवारण की शिक्षा देने के लिए सहायता दी जाती है। इसमें यह बात महत्वपूर्ण है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस बात पर बल दिया जायेगा कि स्वयंसेवी संस्थाएँ अपने कार्यों को केवल प्रचार करने तक ही सीमित न रखें, बल्कि प्रचार के अतिरिक्त स्कूल, अस्पताल, मकान, सहायकी समितियाँ, औद्योगिक केन्द्र आदि स्थापित करने या उन्हें चलाने से सम्बन्धित कार्यों को भी करें। इसके लिए उन्हें अधिकाधिक सहायता देना तृतीय पंचवर्षीय योजना का एक प्रमुख उद्देश्य होगा। यह आशा की जाती है कि स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा स्थापित औद्योगिक केन्द्रों से अनुसूचित जातियों का आर्थिक उत्थान अधिक तेजी से सम्भव होगा। तीसरी योजना में इस बात पर बल दिया गया है कि इस योजना काल में अनुसूचित जातियों को टेक्निकल तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण देने पर बल दिया जाये। जिसके कि विभिन्न नौकरियों में जो स्थान उनके लिये सुरक्षित किये गये हैं, उनसे वे पूरा-पूरा फायदा उठा सकें। यह भी सुझाव दिया गया है कि इस योजना के अन्तर्गत कम उम्र के नवयुवकों को चुन लिया जाय और उनके सम्पूर्ण शिक्षण काल में उन्हें निरन्तर टेक्निकल तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था है और वह भी यथासम्भव उन्हें यह आश्वासन दिलाकर कि प्रशिक्षण अवधि के अन्त में उन्हें रोजगार दिलाया जायेगा। वैसे तो अनुसूचित जातियों के आयुक्त (Commissioner) अपनी वार्षिक रिपोर्ट में इन जातियों के कल्याण के लिए लागू कार्यक्रमों की प्रगति तथा सुझावों को प्रस्तुत करते हैं, फिर भी तीसरी पंचवर्षीय योजना में इस बात पर बल दिया गया है कि अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के विकास के लिए जो काम किये जा रहे हैं उनका क्या परिणाम होता है, इसकी जल्दी-जल्दी और पूरी जाँच करने की आवश्यकता है जिससे कि अनुभव के आधार पर नये तरीके अपनाये जायें और वर्तमान अवस्था को दृढ़ बनाया जाये।

**अस्पृश्य जातियों के उत्थान के लिये कुछ सुझाव**

(Some Suggestions for the Uplift of untouchable Castes)

हरिजनों की अवस्थाओं में और भी आवश्यक सुधार करने के लिये कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं जोकि निम्नवत् हैं—

(१) जातिप्रथा के स्वरूप में परिवर्तन—अछूत-प्रथा जाति-प्रथा का अभिशाप



है, परन्तु जाति-प्रथा को समाप्त करना कोई आसान काम नहीं है। इसे कानून द्वारा न तो समाप्त किया जा सकता है और न ही यह उचित होगा। शिक्षा और प्रचार के द्वारा जाति-प्रथा के संरचनात्मक और संस्थात्मक स्वरूपों में जो दोष आ गये हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना होगा। अस्पृश्यता की धारणा उन दोषों में सर्वप्रमुख है।

(२) नये आधार पर ग्रामीण समुदाय के सामाजिक आदर्शों का निर्माण—अछूतों की दशा गाँव में अधिक दयनीय है। सामुदायिक योजना, शिक्षा, प्रौढ़ और सामाजिक शिक्षा के विस्तार के द्वारा ग्रामीण जनता के विचारों और अन्ध-विश्वासों को बदलना सबसे अधिक आवश्यक है। गाँव में रहने वाली अधिकतर अछूत जातियाँ भूमिहीन श्रमिक हैं और उनका उच्च जाति के द्वारा खूब शोषण होता है। अतः आवश्यकता यह है कि हरिजनों के प्रति इस मनोभाव को बदला जाय; इसके लिए भी प्रचार आदि के द्वारा निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है।

(३) गन्दे पेशों को समाप्त करना—अछूतों के पेशों की गन्दगी को मशीनों की सहायता से दूर करने का प्रयत्न होना चाहिये। भंगियों और चमारों के पेशे विशेष रूप से गन्दे हैं। उसी प्रकार टोकरियों में सिर पर मैला ढोने की कुप्रथा समाज का कलंक है। इसलिये इस प्रथा का उन्मूलन हमारा लक्ष्य होना चाहिये। मेहतरों को बन्द गाड़ियाँ, बन्द वाल्टियाँ तथा मैलों को साफ करने के लिये उचित मशीन आदि दी जानी चाहियें।

(४) शारीरिक श्रम के प्रति श्रद्धा—शारीरिक श्रम को ऊँची जातियाँ घृणा की दृष्टि से देखती हैं जिससे अस्पृश्यता या ऊँच-नीच की भावना और भी कटु होती है। इस मनोभाव को जनमत और प्रचार के द्वारा दूर करना चाहिए।

(५) शिक्षा—सामान्य और औद्योगिक—किसी भी सुधार का एक प्रमुख आधार शिक्षा होती है। विशेषकर हरिजनों से सम्बन्धित प्रत्येक आर्थिक और सामाजिक सुधार तब ही हो सकता है जब इनको अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त कर दिया जाय। इनके अन्ध-विश्वासों को दूर करने के लिए, इनको अच्छी नौकरियों में नियुक्त करने के लिए, साथ ही इनकी औद्योगिक कुशलता को बढ़ाने के लिए इनकी सामान्य और औद्योगिक इच्छा दोनों की ही व्यवस्था होनी चाहिए।

(६) उचित निवासस्थान—हरिजनों की बस्तियाँ वास्तव में मनुष्य के रहने योग्य नहीं हुआ करती हैं। इसका बहुत ही बुरा प्रभाव उनके स्वास्थ्य स्तर और नैतिक उन्नति पर पड़ता है। इस कारण उनके निवासस्थान की उचित व्यवस्था अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में सरकारी प्रयत्न सबसे अधिक होने चाहियें, परन्तु इस कार्य में महानगरपालिकाओं, नगरपालिकाओं आदि के भरपूर प्रयत्नों की आवश्यकता है।

(७) उचित वेतन सम्बन्धी कानून—हरिजनों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए यह भी आवश्यक है कि इनको अपनी सेवाओं के लिए उचित वेतन मिले। इस दिशा में भी सरकारी प्रयत्न सबसे प्रमुख है। महानगरपालिकाओं तथा नगर-



पालिकाओं के अधीन जो मेहतर आदि कार्य करते हैं उनके वेतन में भी आवश्यक सुधार की अत्यधिक जरूरत है और यह काम उन्हीं नगरपालिकाओं के द्वारा ही किया जाना चाहिए।

(८) स्वस्थ मनोरंजन—हरिजनों को अन्ध-विश्वासों के पंजे से छुड़ाने के लिए, इनकी नशा-खोरी की आदत को मिटाने के लिए और इनके नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि इनके लिए स्वस्थ मनोरंजन की समुचित व्यवस्था हो। ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक खेल-कूद भजन मण्डली, कीर्तन, सभा प्रदर्शन, मेला आदि के द्वारा मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जा सकती है। यह काम सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत और भी विस्तृत रूप में लागू होना चाहिए। साथ ही साथ शिक्षाप्रद सिनेमा आदि के माध्यम से इनको वैज्ञानिक तरीके से उपलब्ध मनोरंजन के साधनों के सदुपयोग के सम्बन्ध में शिक्षित करने का प्रयत्न करना होगा।

(९) सामाजिक सुरक्षा—हरिजनों के जीवन में आर्थिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकतायें सबसे अधिक हैं इस कारण इनके लिए सामाजिक सुरक्षा का विस्तृत आयोजन होना चाहिए। इस सम्बन्ध में सरकारी प्रयत्न सबसे अधिक होना चाहिए क्योंकि सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाओं को बनाने तथा उन्हें लागू करने के पर्याप्त साधन सरकार को ही अधिक उपलब्ध हैं।

इस सम्बन्ध में दिल्ली में जातिवाद और अस्पृश्यता के निवारण के लिए जो सेमिनार हुआ था उसकी सिफारिशें भी उल्लेखनीय हैं :—(क) हरिजन देश में सबसे अधिक निर्धन हैं। इसलिये सरकारी योजनाओं द्वारा उनकी आर्थिक दशा को सुधारने का सबसे पहले प्रयत्न किया जाय। घरेलू उद्योग-धन्धों के विकास के साथ-साथ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं जाति-प्रथा का बंशानुगत पेशों वाला पहलू न बना रहे। (ख) जहाँ कहीं भी आवश्यक हो वहाँ सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये सामाजिक कानून बनाने चाहिए, पर शिक्षा और प्रचार का कार्यक्रम कानूनों से पहले चलाया जाय या उनके साथ-साथ चलाया जाय। (ग) सरकार की ओर से या किसी सार्वजनिक संस्था की ओर से जहाँ कहीं भी मकान बनाने की व्यवस्था हो वहाँ ऊँची जातियों के साथ-साथ हरिजनों को मकान मिलने चाहियें। (घ) शहरों में जातियों के आधार पर कोई भी छात्रावास नहीं रहना चाहिये और हरिजन विद्यार्थियों को सामान्य छात्रावास में अन्य जातियों के विद्यार्थियों के साथ ही रहने की सुविधा मिलनी चाहिये। (ङ) प्राइमरी स्कूलों में सब जातियों के बच्चों को कुछ समय तक नियमित रूप से कैम्प में एक साथ रखकर तथा अन्य प्रयत्नों से जातीय भेदभाव को जड़ से मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

## निष्कर्ष

### (Conclusion)

समाज एवं हरिजन कल्याण निदेशालय द्वारा प्रसारित एक विज्ञापन में प्रायः



यह कहा जाता है कि प्रत्येक नागरिक को जानना चाहिये, अस्पृश्यता क्या है ? 'अस्पृश्यता मानवता का अपमान एवं सामूहिक मूर्खता का प्रतीक है; अस्पृश्यता दण्डनीय है, अस्पृश्यता समाज के शरीर में विष है और राष्ट्र-शक्ति की शृंखला में एक कमजोर कड़ी है तथा अस्पृश्यता समाज कल्याण के प्रयत्नों का उपहास एवं राष्ट्र-द्रोह है।' गांधीजी भी बार-बार कहा करते थे कि "छुआ-छूत धर्म का अंग नहीं है, बल्कि वह उसमें पैदा हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसको दूर करना हर एक का कर्त्तव्य है।" राष्ट्रपिता गांधी से प्राप्त प्रेरणा व आधार के अनुसार ही सरकार, जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है, हर प्रकार से सचेष्ट है कि शैक्षिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से हरिजनों की दशा सुधरे, उनमें अपने प्रति सम्मान और स्वाभिमान की भावना जागे और समाज में उनका आदर बढ़े। छुआ-छूत बरतना कानूनी तौर पर अपराध है और इसे दूर किया जा रहा है। इस अभिशाप के विरुद्ध ठोस जनमत तैयार करने के लिए प्रचार-कार्यों पर हर साल लाखों रुपये व्यय होते हैं। इस कार्य में गैर-सरकारी संस्थाओं का भी सहयोग लिया जा रहा है। इस दिशा में सफलता भी नहीं मिली है, यह कहना अनुचित होगा, पर यह कहना भी अनुचित न होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में आशानुरूप सफलता प्राप्त न हो सकी है। कानून बना कर वैधानिक रूप से नियोग्यताओं को समाप्त किया जा सकता है, अन्य नागरिकों की भांति समान अधिकार भी दिये जा सकते हैं, छुआ-छूत बरतना कानूनी आधार पर दण्डनीय हो सकता है, फिर भी हजारों वर्षों से रूढ़ियों, प्रथाओं और धर्म के कठोर व निर्दयी "शासक" द्वारा शासित हिन्दुओं के मनोभाव, विचार व दृष्टिकोण को दो, चार या दस वर्ष में बदला नहीं जा सकता है। वास्तव में, जैसा कि डा० मजूमदार (Majumdar) ने लिखा है, "भारत के लिए एक जातिहीन समाज एक सपना ही रहेगा, जैसा कि उन प्रत्येक समाज में रहा है जहाँ कहीं भी प्रजातीय और सांस्कृतिक अल्पसंख्यक लोग हैं। परन्तु हमें आने वाली पीढ़ियों के लिये असहनशीलता और घृणा के उत्तरदान भी छोड़ नहीं जाना चाहिए और इसे, कैसे दूर किया जा सकता है, वह हमें स्वयं ही अच्छी तरह मालूम है।"<sup>19</sup> और मालूम है इसीलिए प्रयत्न भी हो रहे हैं तथा उन प्रयत्नों का फल भी हमारे सामने है। इनकी बदौलत आज हजारों हरिजन छात्रों को पढ़ने-लिखने का अवसर मिला है, उन्हें सभ्य और शिक्षित कहे जाने वाले समाज के निकट पहुँचने का सुयोग मिल रहा है, उन्हें रोजी-रोटी के अधिक मौके मिल रहे हैं। वे यह अनुभव करने लगे हैं कि स्वतन्त्र भारत में अब वे उपेक्षित नहीं हैं, उनकी खोज-खबर रखने और देख-भाल करने के लिए सरकार के लम्बे हाथ दूर-देहातों तक कोने-कोने में पँच रहे हैं और वे अधिक दिन तक उस हालत में न रहने पायेंगे जिसमें कि उनके पिता व पितामह रहते थे। यह आशा या विश्वास किसी खोखले आधार पर आधारित नहीं है। उपलब्ध

19. "A casteless society will remain a dream for India, as it has for every country with racial and cultural minorities, but let us not leave a legacy of intolerance and hatred for the generations to come, which we can remove as we know better." D. N. Majumdar, *op. cit.* p. 332.



सुविधाओं से लाभ उठाकर आज हरिजन स्वयं ही अपने अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक हैं। लोक सभा, विधान सभा, गाँव पंचायत आदि में उनके लिए जो स्थान सुरक्षित हैं, उनसे उन्हें अपनी शक्ति का अनुमान लग गया है। उन्हें प्रत्येक प्रकार की नीकरियों तथा सर्वोच्च स्तर की शक्ति में अंगदान मिलने की बातें भी महत्वपूर्ण हैं। उसी प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओं ने गाँवों में नये विचार फैलाये हैं और हरिजनों के सामने जीवन के ऐसे अनेक नये मार्ग खोल दिये हैं जिनका कि सपना तक देखना उनके बाप-दादों के लिए सम्भव न था। इसका परिणाम भी स्पष्ट है। भारत के गाँवों में भी तथाकथित अछूतों को सामाजिक संरचना में सबसे निम्न स्थान देने वाले जातीय संगठन की नींव हिल उठी है। और हो सकता है कि एक ऐसा दिन भी आये जबकि अछूतपन की भावना ही मिट जाये। इसके पश्चात् जैसा कि श्री पणिकर का मत है “जो हिन्दू सामाजिक ढाँचा बच रहेगा उसका वह रूप कदापि नहीं होगा जिसका विधान मनु ने बनाया था और जिसके गले में शताब्दियों से वर्ण-व्यवस्था पड़ी चली आयी है। हिन्दू मत के उदर में हरिजनों और आदिम जातियों के समा जाने से, चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्तपक्ष की भी इतिश्री हो जायगी। इस भाँति कम-से-कम बुद्ध के समय से हम जिस हिन्दू समाज को देखते आये हैं उसमें उससे कहीं अधिक क्रांतिकारी परिवर्तन होगा जिसका प्रयास बुद्ध ने किया था और उससे कहीं अधिक व्यापक रूपान्तर होगा जिसकी कल्पना शंकराचार्य ने की थी।”<sup>20</sup>

उपरोक्त आदर्श की प्राप्ति अनेक वर्षों के निरन्तर प्रयत्नों के पश्चात् ही सम्भव हो सकेगी। हरिजनों के प्रति जो अन्याय हम लोगों ने शताब्दियों से किया है, उसका प्रायश्चित्त करने का समय आ गया है; आ गया है उनकी सेवाओं का उचित मूल्यांकन करने तथा उनके ऋणों के परिशोध करने का समय। गाँधीजी ने उचित ही कहा है कि हरिजनों का जो ऋण सवर्णों के सिर पर चढ़ा हुआ है, उन्हें साफ-साफ स्वीकार कर लेना और उसे पाई-पाई चुका देना चाहिए। इसलिए डा० राधाकृष्णन् ने भी लिखा है कि “आज जो कुछ किया जा रहा है, वह न्याय का या दान का प्रश्न नहीं है, अपितु प्रायश्चित्त का प्रश्न है। जितना कुछ हमारे सामर्थ्य में है, वह सब भी जब हम कर चुकेंगे, तब भी, इस विषय में जितना हमारा पाप है, उसके एक अल्प अंश का भी प्रायश्चित्त न हो सकेगा।”

अतः हम सबको अधिकाधिक प्रयत्नशील होना है, देश के समस्त पिछड़ेपन को दूर करना है, पवित्र-भूमि भारत के प्रत्येक भाग से अस्पृश्यता की कालिमा को धो-पोंछ डालना है। हमें अपनी राष्ट्रीय एकता, भावात्मक एकता और सामाजिक एकता कायम करनी है। तभी हम उन्नति कर सकेंगे, तभी हमारा राष्ट्र शक्तिशाली और सम्पन्न बन सकेगा और तभी हम चीन जैसे घातक शत्रुओं का डटकर सामना कर सकेंगे। नवयुग का यही सन्देश है।



स्थानीय एक कालेज में एक अध्यापक की नियुक्त के लिए प्रार्थी आये हुये थे। उनमें चार प्रार्थी बनिये जाति के, दो ब्राह्मण व एक कायस्थ जाति के तथा दो मुसलमान थे। इनमें सबसे योग्य एक मुसलमान प्रार्थी था। उसकी योग्यता उस विषय में एम० ए० की डिग्री तथा वह भी द्वितीय श्रेणी में थी तथा उसको दो वर्ष का अध्यापकीय अनुभव था। परन्तु उस मुसलमान प्रार्थी को उस शिक्षा संस्था में अध्यापक का पद न प्राप्त हुआ और एक कायस्थ प्रार्थी को, जिसकी योग्यता केवल एम० ए० तृतीय श्रेणी में थी, उस रिक्त पद पर नियुक्त कर लिया गया क्योंकि उस संस्था में कायस्थों का बहुमत था। अतः अन्य जाति के प्रार्थियों को नियुक्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

एक बार एक बैंक में एक रिक्त स्थान के लिये कई प्रार्थियों ने आवेदन पत्र भेजे परन्तु परीक्षा में बैठने के लिये केवल उन्हीं प्रार्थियों को बुलाया गया जो कि खत्री जाति के थे।

ये सब जातिवाद के ही उदाहरण हैं। यह अध्याय इसी जातिवाद के स्वरूप व प्रकृति का स्पष्टीकरण है।

जाति-प्रथा से सम्बन्धित एक सामाजिक समस्या जातिवाद है जो कि एक अर्थ में विभिन्न जातियों के बीच पाई जाने वाली खाई को और भी चौड़ा करती है तथा एक दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष या प्रतिस्पर्धा आदि के रूप में अभिव्यक्त होती है। अपनी ही जाति के स्वार्थ को सर्वोपरि समझना जातिवाद का सबसे सरल रूप है जो कि इस भावना पर आधारित है कि एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्तव्य है, फिर कहीं अन्य लोगों के प्रति उस प्रकार के कर्तव्य निभाने का प्रश्न उठता है। इसी अर्थ में डा० घुरिये ने कहा है कि जाति-प्रथा द्वारा आबद्ध समाज में सामुदायिक भावना सीमित होती है। इस दृष्टिकोण से जातिवाद एक जाति-विशेष के संकीर्ण मनोभाव हैं, और इसीलिए यह एक समस्या है। जातिवाद का विस्तार आज धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। जाति के नाम पर शिक्षा संस्थायें और अस्पताल खोले जाते हैं, मन्दिरों का निर्माण होता है। विविध नौकरियों में नियुक्ति होती है और यहाँ तक कि चुनाव के समय जाति के नाम पर ही वोट तक माँगे जाते हैं। इस प्रकार जातिवाद की नींव दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती जा रही है।



आधुनिक युग में इस जातिवाद का उद्देश्य भी स्पष्ट है। आज जन्म और जाति दोनों का ही महत्व घट रहा है और सामाजिक प्रतिष्ठा या उच्च स्थिति शिक्षा, धन, सत्ता, सम्मानजनक नौकरी आदि के आधार पर निश्चित हो रही है। अतः अगर वर्तमान परिस्थितियों में एक जाति के लोग अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा ही बना रखने के लिये जाति पर भरोसा करके ही बैठ रहें तो निश्चय ही उनकी स्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती जायेगी। इसलिए आधुनिक समाज इस बात की है कि जातीय संगठन और मनोवृत्तियाँ इस भाँति आयोजित हों कि अपनी ही जाति के सदस्यों के लिये अधिकाधिक सामाजिक, आर्थिक शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें सुलभ हों ताकि उन लोगों को शिक्षा, धन, सत्ता, सम्मानजनक नौकरी प्राप्त होते रहें और आधुनिक समय के नये पैमानों या आधारों के अनुसार भी उस जाति की सामाजिक स्थिति ऊँची बनी रहे। जातिवाद इसी उद्देश्य पर आधारित तथा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आयोजित होता है।

### जातिवाद की परिभाषा और अर्थ

(Definition and Meaning of Casteism)

जातिवाद एक जाति के सदस्यों की वह भावना है जो अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की अवहेलना और प्रायः हनन करने को प्रेरित करती है। किस प्रकार केवल अपनी जाति का ही कल्याण और प्रगति हो यही चिन्ता उन्हें देश या समाज या अन्य जातियों के सामान्य हितों का ध्यान नहीं रखने देती है। मानव भावनाओं का यह संकुचित रूप ही जातिवाद है।

डा० कैलाशनाथ शर्मा के शब्दों में, "जातिवाद या जातिभक्ति एक जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुये केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति (Status) को दृढ़ करने के लिये प्रेरित करती हो।"

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि जातिवाद के दो स्पष्ट पहलू— भावना और कर्म—हैं। पहला तो मनोवैज्ञानिक है और दूसरा व्यावहारिक। मनो-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति अपनी भावनाओं को अपनी ही जाति में केन्द्रित कर देता है और उन्हीं के कल्याण के लिये चिन्ता करता है। यह चिन्ता या इस प्रकार की भावनार्यें संकुचित हैं क्योंकि यह समग्र समाज के सामान्य हितों का ध्यान नहीं रखता है। इस कारण यह सामान्य या जनकल्याण के लिए घातक है। इस दृष्टिकोण से जातिवाद को समाज-विरोधी (anti-social) भी कहा जा सकता है। जातिवाद का दूसरा पहलू क्रियात्मक या व्यावहारिक है। इसका तात्पर्य यह है कि जातिवाद से प्रेरित व्यक्ति अपनी ही जाति के कल्याण के लिए केवल सोचते विचारते ही नहीं हैं, बल्कि उसी के अनुसार कार्य भी करते हैं अर्थात् अपने विचारों व भावनाओं को एक व्यावहारिक रूप भी देते हैं। इसी का परिणाम यह होता है कि एक जाति के लोग कुछ ऐसे भी कार्य करते हैं जिनसे कि उस जाति के सदस्यों का कल्याण हो। जातीय शिक्षा संस्थान आदि खोल कर या अस्पताल बनवा



कर या नौकरी के लिए भर्ती करने के समय पक्षपातपूर्ण व्यवहार करके अपनी जाति के व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के लिये जो भी काम किये जाते हैं वे सभी जातिवाद के क्रियात्मक या व्यावहारिक पहलू के अन्तर्गत ही आते हैं। अतः स्पष्ट है कि जातिवाद में आंतरिक भावनायें भी पर्याप्त नहीं हैं, अपनी जाति के सदस्यों के हितों को ध्यान में रखते हुए उन भावनाओं की वास्तविक क्रियाओं के रूप में बाहरी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। व्यावहारिक रूप में तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आंतरिक भावनायें ही बाहरी क्रियाओं को करने की प्रेरक शक्ति बन जाती हैं।

### जातिवाद के विकास के कारक

(Factors in the growth of Casteism)

आधुनिक समय में जातिवाद के विकास के कुछ स्पष्ट कारक हैं। ये कारक उन परिस्थितियों को जन्म देते हैं जिनसे कि जातिवाद का पनपना सरल या सम्भव होता है। यहाँ हम उन कारकों की विवेचना करेंगे जोकि निम्नवत् हैं—

(१) विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Marriage restrictions)—जाति-प्रथा के अन्तर्गत अपनी ही जाति में विवाह करने का निर्देश है और इसका पालन भी हजारों वर्षों से होता आ रहा है। अन्तर्विवाह (endogamy) सम्बन्धी यह जातीय नियम व्यावहारिक रूप में केवल अपनी ही उपजाति में विवाह करने की अनुमति देता है और एक उपजाति की सदस्य संख्या भी सीमित ही होती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक जाति या उपजाति का एक वैवाहिक समूह बन गया है जिसमें कि प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से किसी न किसी रूप में विवाह-सम्बन्धों द्वारा सम्बन्धित हो गया है। इस प्रकार के नाते-रिश्तेदार एक दूसरे के हितों का अधिक ध्यान रखते हैं और उन्नी के अनुसार काम भी करते हैं। इसी से जातिवाद का विकास होता है।

जाति-प्रथा के अन्तर्गत पाये जाने वाले विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों ने एक दूसरे रूप में भी जातिवाद को पनपाया है। अन्तर्विवाह के नियमों के कारण प्रत्येक जाति या उपजाति में जीवन-साथी चुनने का क्षेत्र अत्यधिक सीमित हो गया है। विशेषकर योग्य वरों को ढूँढ़ निकालना गम्भीर समस्या हो गई है। अतः योग्य जीवन-साथियों की संख्या को बढ़ाने की आवश्यकता प्रत्येक जाति ने अनुभव की। आधुनिक आधारों के अनुसार वही अधिक योग्य है जोकि शिक्षित, धनी, सत्ता-सम्पन्न या अच्छी नौकरी में लगा हुआ है। अतः आवश्यकता इस बात की हुई कि अपनी जाति के सदस्यों को इन्हीं के अनुकूल सुविधायें प्रदान की जायें। अपनी ही जाति के व्यक्ति के लिये इन सुविधाओं को उपलब्ध करवाने के लिये जो पक्षपातपूर्ण प्रयत्न किये गये, वही जातिवाद है।

(२) प्रचार और यातायात के साधनों में वृद्धि (Development of the means of transport and propaganda)—यातायात और प्रचार के साधनों के अभाव से प्राचीन काल में जातिवाद पनप नहीं पाता था। पर आज वह कमी दूर हो गई है और बिखरे हुये एक जाति के सदस्यों में नाता दृढ़तर होता जा रहा है। जहाँ एक ओर यातायात के साधनों में उन्नति होने से एक जाति के सदस्य देश के विभिन्न



भागों में बिखर गये, वहाँ दूसरी ओर उन्हीं साधनों ने उन्हें संगठित करने में सहायता भी दी। आज देश के विभिन्न भागों में और विभिन्न समयों में जातीय सम्मेलन होते हैं और उनमें देश के कोने-कोने से उस जाति के सदस्य भाग लेते आते हैं और अपने सामान्य हितों की रक्षा करने के उपायों की सोचते तथा उसी के अनुसार प्रयत्न करते हैं। साथ ही समाचार-पत्रों एवं जातीय पत्रिकाओं के द्वारा जातिवाद की भावनाओं का प्रचार अब सरल हो गया है।

(३) नागरीकरण (Urbanization)—नागरीकरण से प्रत्येक नगर में विभिन्न जातियों का एक अच्छा-खासा जमघट सम्भव हुआ है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक जाति को यह मौका मिला है कि वह अपने हितों की रक्षा करने के लिये अपने एक विशेष संगठन का निर्माण करे। वास्तव में नगर की परिस्थितियाँ ही इस प्रकार हैं कि उनमें विशेषीकरण की आवश्यकता होती है। इसीलिये यह देखा जाता है कि जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विशिष्ट समिति और संस्थायें नगरों में विद्यमान हैं। श्रमिकों के स्वार्थों की रक्षा के लिये एक विशिष्ट संगठन श्रमिक संघ है, मालिकों के हितों के रक्षार्थ मालिकों का अपना संगठन है। उसी प्रकार वकील संघ, दुकानदार संघ, हलवाई संघ, यहाँ तक कि रिक्शा चालक संघ भी विभिन्न वर्गों के स्वार्थों की रक्षा के लिये नगरों में पनप गये हैं। इस पर्यावरण के बीच जाति ही क्यों पिछड़ी रहे। नगर की यह परिस्थिति प्रत्येक जाति को इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वह भी एक विशिष्ट संगठन के द्वारा अपने स्वार्थों की रक्षा करे और नागरिक समुदाय में अपनी जाति के सदस्यों की प्रतिष्ठा की उन्नति करने के लिये उन्हें हर प्रकार की सुविधायें प्रदान करे। साथ ही साथ नागरिक पर्यावरण में प्रत्येक जाति के सदस्यों के जीवन में अनेक समस्यायें आ खड़ी हुई हैं, जिसके कारण जातीय आधार पर उनकी सुरक्षा और भी आवश्यक हो गई है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए जातिवाद का जन्म स्वाभाविक है।

(४) अपनी जाति की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये (To improve one's Caste status)—आज के संसार ने समानता का द्वार सब के लिये खोल दिया है। पर जाति की प्रतिष्ठा इसी आधार पर स्थिर रह सकती है कि इस सुविधा से लाभ उठाकर एक जाति के अधिक से अधिक व्यक्ति अपनी स्थिति को ऊँचा उठायें। इसके लिए आज नये ढंग से प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने वाले आधार बदल गये हैं। आज यह आवश्यक है कि एक जाति के अधिकाधिक सदस्य शिक्षित हों, धनी हों, अच्छे पदों पर नियुक्त हों या राजनैतिक सत्ता के अधिकारी हों; तब वही उस जाति की स्थिति सामाजिक जीवन में ऊँची उठ सकती है। इसलिए प्रत्येक जाति इस सम्बन्ध में प्रयत्नशील है कि अपने सदस्यों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करे, ताकि उनकी सामाजिक स्थिति ऊँची उठ सके। यही कारण है कि यदि आज किसी विशेष जाति का कोई व्यक्ति ऐसे पद पर पहुँच जाता है कि वह दूसरों को नौकरी दिला सकता है, तो वह यही प्रयत्न करता है कि उसी की जाति के सदस्यों



को नौकरी मिले। इसी प्रकार, विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठित व्यक्ति विभिन्न रूप में अपनी-अपनी जाति के सदस्यों का ख्याल रखते हैं और उन्हें आवश्यक सुविधायें देकर उनकी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते हैं। इन सब प्रयत्नों का वास्तव में अन्तिम उद्देश्य अपनी जाति की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना ही होता है।

(५) औद्योगिक विकास (Industrial Development) — कुछ विद्वानों का यह कथन है कि प्राचीनकाल में जब वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक जीवन में लागू किया गया था तो उसका एक प्रमुख उद्देश्य यह था कि प्रत्येक जाति के लिए उसकी जन्मजात क्षमताओं के अनुसार उसके कार्यों को निर्धारित करके समस्त अवांछनीय प्रतिस्पर्धा का अन्त कर दिया जाय। यह व्यवस्था एक ओर प्रत्येक जाति के सदस्यों को उनके श्रम का फल देने का आश्वासन देती थी और दूसरी ओर उस पर यह प्रतिबन्ध लगाती थी कि वह दूसरी जातियों के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा। उस समय इस योजना के अनुसार कार्य करना सम्भव भी था क्योंकि पेशों की संख्या आज की तुलना में कम थी और जाति-प्रथा के आधार पर श्रम-विभाजन या पेशों का विभाजन काफी हद तक सम्भव था। इसीलिये विभिन्न जातियों के बीच अनावश्यक व अवांछनीय प्रतिस्पर्धा भी नहीं थी। परन्तु आधुनिक औद्योगिक विकास के साथ-साथ असंख्य नये पेशों का जन्म हुआ और उन पेशों में काम करने के लिए सभी को समान अवसर प्रदान किए गए। अर्थात् जातीय आधार पर उन पेशों का न तो विभाजन किया गया और न ही ऐसा करना सम्भव था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक पेशों के दृष्टिकोण से सभी जाति के सदस्य एक स्तर पर आ खड़े हुए और उन पेशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उनमें पर्याप्त प्रतिस्पर्धा बढ़ी। फलतः प्रत्येक जाति के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह इन पेशों में नियुक्ति के सम्बन्ध में अपने सदस्यों को कुछ संरक्षा प्रदान करे क्योंकि अनुभव के आधार पर यह समझा गया कि केवल व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करना ही उचित न होगा, व्यक्तिगत प्रयत्नों की भी आवश्यकता है। अर्थात् एक ओर जाति की ओर से सदस्यों के व्यक्तिगत गुणों के विकास के लिए शिक्षा आदि की सुविधा होनी चाहिए, साथ ही उस जाति के भी जो लोग उच्च पद पर हैं वे व्यक्तिगत रूप से यह भी प्रयत्न करें कि नौकरी में नियुक्ति के सम्बन्ध में भी उनकी अपनी ही जाति के सदस्यों को अधिक अवसर मिले, चाहे उनकी व्यक्तिगत योग्यता कम ही क्यों न हो क्योंकि खुले प्रतिस्पर्धा (open competition) में उनसे भी योग्य व्यक्ति आ सकते हैं और आते हैं। इसलिए कुछ न कुछ जातीय संरक्षा प्रदान करनी ही चाहिए। इसी मनोभाव ने जातिवाद को विकसित किया।

औद्योगिक विकास ने एक दूसरे रूप में भी जातिवाद के पनपने में मदद की है। पहले संयुक्त-परिवार का संगठन ही कुछ इस प्रकार का होता था कि वह अपने सदस्यों के लिए एक सामाजिक बीमा (Social Insurance) संगठन के रूप में कार्य करता था क्योंकि शारीरिक या मानसिक असमर्थता या दुर्घटना होने पर



संयुक्त परिवार अपने प्रत्येक सदस्य की रक्षा करता था। बीमार पड़ने पर सेवा-सुश्रूषा मिलती थी, वृद्धावस्था या असमर्थता या बेकारी या दुर्घटना होने पर आश्रय मिलता था, खाने-पहनने को मिलता था। उसी प्रकार विधवाओं, माता-पिताहीन अनाथ बच्चों आदि को भी संयुक्त-परिवार से बड़ा सहारा मिलता था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पहले सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता की पूर्ति बहुत कुछ पारिवारिक स्तर पर ही हो जाती थी और जातीय आधार पर उस प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने की अधिक आवश्यकता भी अनुभव नहीं की जाती थी। साथ ही उस समय संयुक्त परिवार का संगठन बना रहना भी सम्भव था क्योंकि कृषि स्तर पर परिवार के सदस्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना नहीं पड़ता था और सभी सदस्य एक स्थान पर एक साथ रहकर खेती-बाड़ी का काम करते तथा पारिवारिक आधार पर अपनी आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति कर लेते थे। परन्तु औद्योगीकरण ने इस एकता को तोड़ डाला क्योंकि इसके फलस्वरूप असंख्य नौकरी का क्षेत्र सारे देश में फैल गया और लोगों को नौकरी करने के लिए घर छोड़कर अन्य स्थानों में जाकर बसना पड़ा। साथ ही, औद्योगीकरण ने गाँव के गृह उद्योगों को नष्ट कर दिया और इनमें लगे अनेक कारीगर बेकार हो गये और नौकरी की खोज में गाँव से शहर में आकर बसने लगे। इन सब कारणों से संयुक्त-परिवार का विघटन हुआ और लोगों की अब तक पारिवारिक आधार पर जो सुरक्षा मिलती थी उसका बहुत हद तक अन्त हो गया। अतः इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि औद्योगिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियों में किसी नये रूप में ही अपनी जाति के सदस्यों को सुरक्षा प्रदान की जाय। इस तरह जाति-वाद का विकास हुआ।

(६) जजमानी प्रथा का टूटना (Decline of Jajmani System)—जजमानी प्रथा के टूटने के कारण भी जातिवाद का विकास आज सम्भव हुआ है। इस अर्थ में जजमानी प्रथा जातिवाद पर रोक लगाने वाली एक प्रथा थी। इसका कारण भी स्पष्ट है। जजमानी प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति ग्रामीण समुदाय में रहने वाली सब जातियों के लिए कुछ न कुछ सेवाएँ करती थी और इन सेवाओं की आवश्यकता केवल आर्थिक विषयों में ही नहीं बल्कि सामाजिक संस्कारों एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर भी आवश्यक मानी जाती थी। उदाहरणार्थ, नाई, माली, धोबी या कहार गाँवों में केवल आर्थिक सेवाएँ ही नहीं करते हैं बल्कि संस्कारों एवं धार्मिक कृत्यों में भी इनका महत्वपूर्ण योगदान होता है। उसी प्रकार ब्राह्मण की सेवाएँ भी प्रायः सभी जातियों को आवश्यक होती हैं। इस प्रकार पेशों से सम्बन्धित सेवाओं के द्वारा ही एक जाति का सम्पर्क दूसरी जाति से इस तरह स्थापित हो जाता है कि सभी जातियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाती हैं। इस प्रकार विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक अभिव्यक्ति जजमानी प्रथा है। इस प्रथा के अनुसार प्रत्येक जाति के कुछ अपने जजमान होते हैं जिन्हें कि वे एक विशिष्ट सेवा प्रदान करते हैं जैसे ब्राह्मण पुरोहित का काम करता है, धोबी



कपड़ा धोता है या नाई वाल बनाता है। इस प्रकार इन परिवारों को अपनी सेवायें प्रदान करने का, विभिन्न जातियों को एक पुष्टतनी अधिकार मिल जाता है और प्रत्येक परिवार एक विशेष व्यक्ति से ही पुरोहित, नाई या धोबी की सेवायें ग्रहण करता है। जजमान इस प्रकार की सेवाओं के लिए अनाज या कभी-कभी कुछ नकद देता है। इस प्रकार जजमानों के प्रति सेवा करने वालों का और सेवा करने वालों के प्रति जजमानों का जो नैतिक तथा आर्थिक कर्तव्य-बोध पहले था उसके कारण जातिवाद का विकास नहीं हो पाता था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के बाद इस जजमानी प्रथा को नई आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से काफी धक्का पहुँचा और शहरों में इस प्रकार की प्रणाली पनप ही नहीं पाई। इसके फलस्वरूप विभिन्न जातियों का पारस्परिक सम्बन्ध शिथिल पड़ गया और प्रत्येक जाति ने अन्य जातियों के लिए सोचने के बजाय अपनी ही जाति के हितों की बात सोचना शुरू कर दिया। जातिवाद के विकास में यह परिस्थिति सहायक ही सिद्ध हुई है।

### जातिवाद के परिणाम

#### (Consequences of Casteism)

(क) जातिवाद प्रजातन्त्र के लिए घातक है (Casteism is a danger to democracy):—जातिवाद और प्रजातन्त्र दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। अनेक पेशेवर नेता राजनैतिक क्षेत्र में इस जातिवाद से लाभ उठाते हैं और चुनाव के समय जाति के नाम पर ही वोट माँगते हैं और सफल भी होते हैं इससे प्रायः ऐसे व्यक्ति चुन लिए जाते हैं, जो अपनी जाति के हितों के सम्मुख समाज के सामान्य हितों की बलि दे देते हैं। समानता का नारा लगता है, पर व्यावहारिक रूप से जातिवाद का ही डंका बजता रहता है।

(ख) औद्योगिक कुशलता में बाधा (Hindrance to technical efficiency):—चूँकि सरकारी तथा अन्य प्रकार की नौकरियों में नियुक्ति जाति के आधार पर होती है इस कारण प्रायः ऐसे ही लोगों की भारमर होती है जो अयोग्य और निकम्मे होते हैं। इसका परिमाण यह होता है कि योग्य और कुशल व्यक्तियों को मौका ही नहीं मिलता है। विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के सम्बन्ध में जो अध्ययन हुए हैं, उससे यह पता चलता है कि जातिवाद के कारण सैकड़ों क्षमताशाली और कुशल श्रमिक शहरों में बेकार घूम रहे हैं और नौसिखी अयोग्य और अकुशल श्रमिक बहुत बड़ी संख्या में उद्योगों में लगे हुए हैं।

(ग) नैतिक पतन (Moral degeneration):—जातिवाद से प्रेरित होकर अपनी जाति के सदस्यों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने के लिए अनेक अनुचित और अनैतिक उपायों का सहारा लिया जाता है। इससे जातिवाद के नाम पर नैतिक पतन भी होता है। नैतिकता सभी प्रकार की संकीर्णता के विरोधी है, परन्तु जातिवाद यही सिखलाता है कि अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की या समग्र समाज के कल्याण की अवहेलना, य तक कि हनन भी किया जा सकता है। मानव भावनाओं का यह संकुचित रूप



जातिवाद के रूप में प्रकट होता है तो नैतिक पतन सम्भवतः हो ही जाता है ।

(घ) राष्ट्रीयता के विकास में बाधा (Hindrance to the growth of Nationality) :—जातिवाद स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास में बाधक है । एक तो जातिप्रथा ने स्वयं ही भारतीय समाज को अनेक भागों में बांट दिया है । उस पर जातिवाद के आधार पर इन विभिन्न भागों के बीच जब तनाव या संघर्ष कटु हो जाता है, सामुदायिक भावना का जो संकुचित रूप दिखाई देता है वह वास्तव में भयंकर और अहितकर है । राष्ट्रीयता के विकास के लिए यह आवश्यक है कि स्वस्थ सामुदायिक भावना का विकास हो पर जातिवाद उस स्थिति को उत्पन्न होने ही नहीं देता । यह राष्ट्रीय एकता और प्रगति के लिए कितना घातक है, यह शायद पृथक् रूप से समझने की आवश्यकता नहीं है । जहाँ आज राष्ट्र के नेतागण तथा सरकार जाति-पाँत के भेदभाव को दूर करने में प्रयत्नशील हैं और जहाँ भारतीय संविधान किसी भी नागरिक के विषय में केवल धर्म, मूलवंश जाति, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी भी आधार पर कोई विभेद न करने का विधान देता है, वहाँ जातिवाद अपने संकुचित क्षेत्र के अन्तर्गत कुछ संकुचित आदर्शों को प्रस्तुत करता है और उन आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है । यह अवस्था देश और जनहित के लिये घातक है । जाति राष्ट्र से बड़ी नहीं है और न ही उसका स्थान राष्ट्र से ऊँचा है, इस सत्य को भी जातिवाद के प्रवर्तक क्यों भूल जाते हैं, यह एक गहन मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय है ।

### जातिवाद के निराकरण के उपाय

(Measures for the Eradication of Casteism)

(१) जाति-प्रथा को समाप्त करना— जातिवाद को समाप्त करने के लिए प्रायः यह सुझाव दिया जाता है कि जाति-प्रथा को ही समाप्त कर दिया जाय । भारतीय संविधान में जाति-पाँत के भेद-भाव को मिटाने के आदर्श को सामने रखा गया है । सरकारी तौर पर कुछ कानून भी पास किये गये हैं । इन सबके आधार पर यह विश्वास दिलाया जाता है कि भारत में शीघ्र ही जाति-विहीन समाज बनेगा । परन्तु इस प्रकार की कल्पना वास्तव में व्यावहारिक नहीं है क्योंकि भारतीय समाज में जाति-प्रथा की जड़ इतनी गहरी बँठ चुकी है कि दो-चार कानून पास करके उसे समाप्त नहीं किया जा सकता । वास्तव में इससे भी कुछ व्यावहारिक उपायों को हमें ढूँढ़ निकालना होगा । निम्नलिखित विवेचना से यही बात और भी स्पष्ट होगी ।

(२) 'जाति' शब्द का कम से कम प्रयोग— जैसा कि ऊपर ही कहा जा चुका है जातिवाद का हल कानून बनाकर या दो-चार दिनों के प्रयत्नों से सम्भव नहीं, इसके लिये तो निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता है और इस बीच 'जाति' शब्द का कम से कम प्रयोग होना चाहिये, जिससे अल्प आयु के बच्चों के मन में उसका कोई अवशेष न रह जाय । शिक्षा संस्थाओं और सरकारी कार्यालयों को इस सम्बन्ध में विशेष सचेत होना होगा और किसी भी रूप में जाति शब्द का उल्लेख करवा कर



जाति के महत्व को बढ़ावा नहीं देना चाहिए ।

(३) अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ाना— डाक्टर घुरिये ने जातिवाद की समस्या को हल करने में अन्तर्जातीय विवाह को लोकप्रिय करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है । अन्तर्जातीय विवाह से विभिन्न जाति के दो लड़के और लड़कियों को ही नहीं बल्कि बहुधा उन दोनों के दो परिवारों को भी एक दूसरे के निकट आने का अवसर प्राप्त होता है । इस रूप में जातिप्रथा उपेक्षित होगी और विभिन्न जातियों के बीच जो खाई है वह नष्ट हो जायेगी और जाति-वाद के विरोध में क्रियात्मक आवाज उठने लगेगी । वे व्यक्ति जो जाति के बन्धनों को तोड़ कर विवाह करते हैं, केवल जातिविहीन वातावरण की ही सृष्टि नहीं करेंगे बल्कि एक ऐसी पीढ़ी का भी पोषण करेंगे जो जाति-प्रथा की कट्टर विरोधी होगी । ऐसी अवस्था में जातिवाद के बीज को पनपने का मौका ही नहीं मिल पायेगा । परन्तु इस सम्बन्ध में आवश्यकता इस बात की है कि समाज में उन अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न किया जाय जिनसे कि अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन मिल सके । आज भी ऐसे विवाहों के लिये इस देश में सामाजिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं और जो लोग इस प्रकारके विवाह कर लेते हैं, उन्हें काफी परेशानी उठानी पड़ती है और उनमें से सबसे प्रमुख परेशानी यह है कि ऐसे युवक या युवती को अपने ही परिवार का सहयोग व सहानुभूति प्राप्त नहीं होती बल्कि परिवार के लोग ही इसका घोर विरोध करते हैं और न मानने पर परिवार से पृथक् हो जाना ही एकमात्र उपाय होता है । इस रूप में अन्तर्जातीय विवाह कभी-कभी पारिवारिक विघटन का भी कारण बन जाता है । अगर विघटन न भी हो, तो भी परिवार के अन्य सदस्यों से जो मनमुटाव पैदा हो जाता है या हो जाने की सम्भावना होती है उससे न तो अन्तर्जातीय विवाह के लिए लोगों को प्रोत्साहन मिलता है और न ही विवाह हो जाने के बाद वैवाहिक जीवन पूर्णतया शान्तिपूर्ण हो पाता है । अतः अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा जातिवाद को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक परिस्थितियों व सामाजिक मनोवृत्तियों को पहले बदला जाय । इस दिशा में परिवर्तन शुरू हो गया है और यही कारण है कि अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या आजकल बढ़ रही है और यह आशा की जाती है कि ज्यों-ज्यों इस प्रकार के विवाहों को प्रोत्साहन मिलेगा, त्यों-त्यों उसका कुछ न कुछ प्रभाव जातिवाद की निराकरण प्रक्रिया पर अवश्य पड़ेगा ।

(४) आर्थिक और सांस्कृतिक समानता— विभिन्न जातियों में आर्थिक और सांस्कृतिक असमानता उनमें पारस्परिक द्वेष और प्रतियोगिता को जन्म देती है जिसका कि आधार आगे चलकर जातिवाद ही होता है । इसे समाप्त करने के लिए उनमें आर्थिक और सांस्कृतिक समानता लानी होगी ताकि इस समानता के आधार पर ही वे एक दूसरे के निकट आ सकें । यह कार्य सामाजिक और आर्थिक प्रगति के द्वारा ही किया जा सकता है जिससे कि औद्योगिक दृष्टि से परिपक्व समाज का निर्माण किया जा सके और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके जिसमें सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त हों । इस प्रक्रिया के दौरान में सामाजिक



रिवाजों और संस्थाओं में दूरगामी परिवर्तन करने होंगे और पुरानी परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर एक गतिशील समाज की स्थापना करनी होगी तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी में ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन में भी विज्ञान का दृष्टिकोण और प्रयोग स्वीकार करना होगा। कुछ हद तक, पिछली पीढ़ियों में परिवर्तन का यह दोहरा पहलू भारतीय विचारधारा में विद्यमान रहा है। भले ही उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति न हुई हो। धीरे-धीरे यह अधिक मूर्तरूप धारण करे, यही प्रयत्न होना चाहिए। भारतीय संविधान में मानव जीवन के सभी पक्षों में समानता लाने के बुनियादी उद्देश्यों को “राजनीति के निर्देशक सिद्धान्त” के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। उदाहरणार्थ, इन सिद्धान्तों में से एक में यह उल्लेख है कि “राज्य एक ऐसी समाज-व्यवस्था को यथासम्भव प्रभावशाली रूप में स्थापित और रक्षित करके जनता के कल्याण को बढ़ाने का प्रयत्न करेगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं में व्याप्त होगा।” उसी प्रकार “राज्य खास तौर पर निम्न उद्देश्य प्राप्त करने के लिए अपनी नीति का संचालन करेगा—(क) सभी नागरिकों, पुरुषों और स्त्रियों को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो; (ख) समाज के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण का इस प्रकार विभाजन हो जिससे सभी का सर्वाधिक कल्याण हो……।” इन आदर्शों को और भी व्यावहारिक व मूर्त रूप देने की आवश्यकता है। जब सभी के कल्याण का और सभी के लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय उपलब्ध करवाने का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य अपने ऊपर ले लेगा और उसे व्यावहारिक व वास्तविक रूप में प्रदान भी करेगा, तो जातीय आधार पर केवल जाति के सदस्यों के कल्याण के बारे में सोचने की आवश्यकता भी स्वतः ही कम हो जायेगी। इससे जातिवाद का निराकरण सम्भव होगा।

(५) उचित शिक्षा—जातिवाद को समाप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता उचित शिक्षा की है। शिक्षा संस्थाओं से मनोरंजन के विभिन्न साधनों आदि के माध्यम में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि एक ओर, वक्त्रों के मन में जाति-पाँति का भेद-भाव उत्पन्न ही न हो सके और दूसरी ओर जातिवाद के विरुद्ध स्वस्थ जनमत पनप सके। इसके लिए सामूहिक शिक्षा (mass education) की आवश्यकता है और इस कार्य में सभी संस्थानों व साधनों का सहयोग भी आवश्यक है। इस प्रकार की शिक्षा के द्वारा समाज में नयी मनोवृत्तियों और व्यवहारों को विकसित करने का प्रयत्न करना होगा। तब कहीं जातिवाद को निर्मूल किया जा सकेगा।

(६) नये प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन—कुछ विद्वानों का मत यह है कि जाति-भेद और इससे सम्बन्धित भावनाएँ भारत के सम्पूर्ण वातावरण में छायी हुई हैं और यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति की नस-नस में समायी हुई हैं। इसलिए जातीय भावनाओं को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करना ही उनके लिये स्वाभाविक है। इसकी अभिव्यक्ति को दबाना उचित न होगा। अधिक वैज्ञानिक



तरीका यह होगा कि इस अभिव्यक्ति के क्षेत्र को बदल दिया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि नये प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक समूहों का संगठन किया जाय और इन संगठनों में सभी जाति के लोगों की सदस्यता हो। इस प्रकार के संगठन बन जाने से लोगों को अपनी जातीय भावनाओं को व्यक्त करने का एक आधार प्राप्त होगा परन्तु इस आधार से किसी एक जाति की नहीं बल्कि एकाधिक जातियों के हितों की रक्षा व सामान्य प्रगति सम्भव होगी। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार के समूह कहीं कोई विशिष्ट समूह-स्वार्थ की पूर्ति के लिए संगठित न हो जायें। यह हो सकता है कि एक समान आर्थिक या धार्मिक स्वार्थ रखने वाले व्यक्ति एक साथ मिलकर एक संगठन का निर्माण करें और कालान्तर में वह संगठन इतना शक्ति-शाली हो जाय कि सामान्य स्वार्थों को आघात लगे। वह परिस्थिति जातिवाद का ही एक दूसरा रूप या उससे भी भयंकर रूप हो सकता है। नये प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक विषयों का विकास करते समय इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है।

### जाति-प्रथा का भविष्य

#### (Future of Caste System)

जाति-प्रथा में अनेक गुण और दोष दोनों ही हैं और वर्तमान परिस्थितियों में हमें इसके दोष ही अधिक दिखते हैं। इसी कारण आज समाज सुधारकों और राजनैतिक नेताओं की ओर से जाति-प्रथा को जड़ से उखाड़ फेंकने की बात कही जाती है। कुछ लोग जाति-व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था में बदलने के पक्ष में राय देते हैं। महात्मा गान्धी का सुभाव यह है कि “वर्ण अगर धर्म बन जाय और अधिकार न रहे तो वर्ण वर्ण के बीच भेद न रहे और सब वर्ण बराबर हो जायें।” उनके अनुसार यही आदर्श स्थिति है।

इसमें सन्देह नहीं कि आज हमारा जीवन इतना अधिक जटिल और विस्तृत हो चुका है कि जाति-प्रथा हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल है। साथ ही, समानता की भावना और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रभाव से आज हम यह अनुभव करते हैं कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध और ऊँच नीच या छुआ-छूत आदि की भावना सर्वथा निरर्थक है। उसी प्रकार आज पेशों या आर्थिक जीवन में इतनी विविधतायें पनप गयी हैं कि अगर जाति-प्रथा के नियमों का पालन किया जाय तो आर्थिक जीवन की गाड़ी एक पग भी आगे न चल सकेगी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति-प्रथा को जड़ से उखाड़ फेंक देने से ही इन समस्याओं का हल मिल जायेगा और न ही उखाड़-फेंकना सम्भव है। प्रत्येक समाज में सदस्यों के कार्य और पद (role and status) को निश्चित करने तथा सामाजिक नियन्त्रण के लिए कोई न कोई सामाजिक व्यवस्था होती ही है। इस व्यवस्था में सामाजिक संस्तरण भी स्वाभाविक रूप में ही देखने को मिलता है और इसकी आवश्यकता को भी सामाजिक दृष्टिकोण से कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। वास्तव में सामाजिक संस्तरण की व्यवस्था न तो अव्यावहारिक है और न ही अहितकर। यह परिस्थिति तो तब उत्पन्न होती है जबकि इस प्रकार के संस्तरण के



फजस्वरूप उत्पन्न होने वाले समूह एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं और उच्च स्थिति वाले समूह शोषण और अन्याय की नीति को अपनाते हैं। जाति-प्रथा में भी ऐसा ही हुआ है। असृष्टयता, उच्च जातियों की शोषण नीति, जातिवाद और ऐसे ही अनेक दोष आज जाति-प्रथा के अन्तर्गत पनप गये हैं। इन दोषों को दूर करना होगा और फिर यह सोचना होगा कि इस शक्तिशाली सामाजिक संस्था को हम कैसे और कहाँ तक समाज के लाभ के लिये प्रयोग में ला सकें हैं। केवल कानून बनाकर जाति-प्रथा जैसी दृढ़ संस्था को नष्ट नहीं किया जा सकता, यह भी याद रखना है।

इस अर्थ में जाति का भविष्य उतना अश्वकारपूर्ण नहीं है जितना कि सामान्यतः हम सोचते हैं। साथ ही, वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये यह भी कहा जा सकता है कि चूंकि किसी भी सामाजिक संस्था की स्थिरता या समाप्ति सामाजिक मूल्यों, सामाजिक मनोभावों, भौतिक परिस्थितियों आदि अनेक कारकों पर आधारित होती है और चूंकि आज इन सभी कारकों में इस देश में भी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं, इसलिये इन परिवर्तित अवस्थाओं के प्रभावों से जाति-प्रथा के स्वरूपों में भी कम या अधिक परिवर्तन अवश्य ही होना है। जाति-प्रथा को आज के परिवर्तित युग से अनुकूलन कर लेना ही होगा और जाति-प्रथा का पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है कि जाति-प्रथा सदैव ही परिवर्तित परिस्थितियों से अनुकूलन करने में बहुत कुछ सफल हुई है, यही कारण है कि यह संस्था सैकड़ों साल से इस देश में न केवल बनी ही हुई है, बल्कि असंख्य रूप में यहाँ के निवासियों को प्रभावित भी करती आती है। समस्त परिवर्तित परिस्थितियों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि “जन्म के आधार पर जातीय समूहों की स्थायी सदस्यता आगे भी मानी जायेगी और समाज के भावी संस्तरण पर जाति-प्रणाली के ढाँचे का प्रभाव बना रहेगा।” सर जार्ज वर्डवुड ने कहा है “जब तक हिन्दू इसे अपनाये रहेंगे, भारत भारत ही रहेगा। जिस दिन वे इसे छोड़ देंगे, भारत हिन्दुओं का भारत न रह जायेगा।”

---







**पंचम खण्ड**  
**पुनर्निर्माण तथा सुधार**  
**(Reconstruction and Reform)**



## इस खण्ड के अध्याय

- २२—सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनायें
- २३—श्रम कल्याण
- २४—सामाजिक सुरक्षा
- २५—अपराधी का उपचार
- २६—दण्ड
- २७—मृत्यु-दण्ड
- २८—दण्ड और जेल-सुधार



मकान के बीच वाले कमरे की छत टूट गयी है। बरसात में कमरे में पानी भर जाता है। तीन बरसात बीत गयी हैं इसी तरह। हर बार सोचती हैं छत की मरम्मत करवा लूंगी, पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण काम हो ही नहीं पाता है। हर बरसात में कमरे में पानी भर जाने के कारण कमरे की दीवारों तथा फर्श में सीलन फैल रही है। दीवार कमजोर होती जा रही है और अगर यही हालत दो एक साल और रही तो दीवार सहित कमरा गिर जायेगा और गिरते समय आस-पास के दो एक कमरों को भी साथ लेकर ही गिरेगा। इसलिए अब इस काम को टालना ठीक न होगा। हर महीने कुछ-कुछ रुपया जोड़कर कमरे की मरम्मत कराना ही होगा। बिना योजना बनाये काम नहीं चलेगा क्योंकि एक कमरे की मरम्मत या पुनर्निर्माण का प्रभाव पूरे मकान पर पड़ेगा। इसीलिये अब तो निश्चय कर ही लिया है कि निवास पुनर्निर्माण योजना को सकल बनाना ही है।

यह तो योजना है मेरी या आपकी। पर 'समाज' के मकान की भी एक या एकाधिक 'कमरों' (जैसे स्त्री, बच्चे, श्रमिक, पिछड़ी जातियाँ आदि) में भी गड़बड़ी या पिछड़ापन उत्पन्न हो सकता है और समाज उसके पुनर्निर्माण के लिये योजनायें बना सकता है। यह अध्याय इसी के विषय में है।

**सामाजिक पुनर्निर्माण क्या है ?**

(What is Social Reconstruction) ?

सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त राज्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से बहुत कुछ सम्बन्धित हैं। वर्तमान जटिल समाजों में अनेक विरोधी संस्थाएँ क्रियाशील हैं और उनके कारण सामाजिक ढाँचे में एक असन्तुलन की स्थिति (State of disequilibrium) उत्पन्न हो जाती है। वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन की गति भी बहुत तीव्र है। इस कारण भी असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फल-स्वरूप सामाजिक विघटन की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट हो जाती है और अनेक सामाजिक समस्याएँ स्वस्थ सामाजिक जीवन के पथ पर बाधक बनकर खड़ी हो जाती हैं। इन बाधाओं को दूर करके सामाजिक ढाँचे को फिर से संगठित और व्यवस्थित करना ही सामाजिक पुनर्निर्माण है और इस निर्माण को किन आधारों पर आयोजित किया जाय इस सम्बन्ध में साधारण नियम सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त कहलाते हैं। सामाजिक पुनर्निर्माण का उद्देश्य उपस्थित विघटित अवस्थाओं को सुधार कर एक उच्चतर तथा अधिक सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का विकास करना है, और इसी में



राज्य या समाज की अन्य आधारभूत संस्थाओं के अस्तित्व की सार्थकता है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना है कि सामाजिक पुनर्निर्माण की धारणा स्थिर (static) नहीं बल्कि गतिशील (dynamic) है, क्योंकि सामाजिक ढाँचे में असन्तुलन या सामाजिक समस्याओं का स्वरूप प्रत्येक समय में और प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न है। इसलिये सामाजिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी विचार भी पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक विचारक (thinker) अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण और अनुभवों के आधार पर सामाजिक अवस्थाओं, संस्थाओं या समस्याओं का मूल्यांकन करता है और उसी के अनुसार उन सामाजिक अवस्थाओं के पुनर्निर्माण सम्बन्धी विचार (thoughts) प्रतिपादित करता है। इस प्रकार के व्यक्तिगत विचारों की पुष्टि और विस्तार उस विचारक के अनुयायियों (followers) के द्वारा होता है; तभी वह विचार एक सिद्धान्त या और विस्तृत रूप में एक 'वाद' (ism) बन जाता है। वर्तमान युग में सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

## सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त

### (Theories of Social Reconstruction)

#### (१) उपयोगितावाद

#### (Utilitarianism)

इस 'वाद' के प्रमुख विचारक श्री जर्मी बेन्थम (Jeremy Bentham, 1748-1832) हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अधिनियम और आचारों के सिद्धान्तों की प्रस्तावना' (*Introduction to the principle of Morals and Legislation* 1798) का प्रथम वाक्य है कि "प्रकृति ने मानव जाति को दो सत्ताधारी स्वामियों—दुःख और सुख के शासनाधीन रक्खा है।" मनुष्य के कार्य दुःख-सुख के हिसाब पर आधारित हैं। मनुष्य उस कार्य को करता है जिससे उसे सुख प्राप्त होता है और उन कार्यों से जी चुराता है जिनके करने पर उसे दुःख प्राप्त होता है। किसी भी कार्य या वस्तु की उपयोगिता (utility) इसी बात पर निर्भर है कि उसके द्वारा व्यक्ति को कितना आनन्द, सुख, हर्ष या लाभ होता है या उसके पीड़ा, दुःख, अहित, या हानि का कितना निवारण होता है। धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय और भलाई-बुराई, की परख भी इसी आधार पर होती है। श्री बेन्थम के अनुसार सामाजिक सुधार या पुनर्निर्माण की प्रत्येक योजना का अन्तिम उद्देश्य नागरिकों के लिये अधिकतम उपयोगिता (सुख) को प्राप्त करना या "अधिकतम लोगों का अधिकतम हित" होना चाहिए।

उपरोक्त उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर श्री बेन्थम ने समाज सुधार की अनेक योजनायें प्रस्तुत कीं। इनमें से मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं—कानून सुधार न्याय प्रणाली सुधार, दण्ड व्यवस्था का सुधार, जेल सुधार, आर्थिक सुधार, राज-नैतिक सुधार, शिक्षा सम्बन्धी सुधार और अन्य सुधार। श्री बेन्थम का कथन है कि समाज के पुनर्निर्माण के हेतु यह आवश्यक है कि पुराने और बेकार कानूनों को रद्द कर दिया जाय और ऐसे सरल और सादे कानून बनाए जायें जिन्हें कि आम जनता



सरलता से समझ सके।

श्री बेन्थम न्याय-प्रणाली में भी आवश्यक सुधार के पक्षपाती थे। उनका कहना था कि देश में न्याय बिकता है और बहुत महंगा बिकता है। इसे रोकना होगा। पेशेवर वकीलों के कारण उचित न्याय ही नहीं पाता है। इसमें आवश्यक सुधार होना चाहिए। प्रत्येक अदालत में एक ही जज हो जिससे उनका उत्तरदायित्व स्पष्ट रहे। न्यायाधीशों के ऊपर नियन्त्रण रखने के लिये ज्यूरी व्यवस्था (Jury system) या पंच व्यवस्था का सर्वत्र उपयोग हो। न्याय शीघ्र और सस्ता हो।

श्री बेन्थम का कथन था कि अधिक कठोर दण्ड अपराधी को सुधारता नहीं अपितु विगाड़ता है, इससे लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है। मृत्यु दण्ड अत्यन्त गम्भीर अपराधों में ही दिया जाना चाहिए। दण्ड निर्धारित करते समय अपराधी की परिस्थितियों, उद्देश्य (motive) आदि को ध्यान में रखना चाहिए। दण्ड निष्पक्ष हो। साथ ही जेल व्यवस्था में भी आवश्यक सुधार करना चाहिए। जेल में कैदियों के साथ प्रायः पशुवत व्यवहार किया जाता है, इसे रोकना चाहिए। अपराधियों का उचित वर्गीकरण करना चाहिए और जेल में उन्हें कोई लाभदायक काम सिखाना चाहिए जिससे बाहर आकर वे अपनी रोटी कमा सकें।

श्री बेन्थम के अनुसार व्यापार पर राज्य की ओर से कम-से-कम प्रतिबन्ध होना चाहिए। आर्थिक प्रगति की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यापार नीति ही लाभदायक होगी। राज्य द्वारा निर्वनों की सहायता का उचित प्रवन्ध होना चाहिए।

श्री बेन्थम ने दो शिक्षा योजनायें बनाई थीं—एक गरीब और अनाथ लड़कों के लिए और दूसरी मध्य तथा उच्चवर्गीय बालकों के लिए। प्रथम योजना यह थी कि गरीब और अनाथ बच्चों को सर्वप्रथम अच्छी आदतें सिखाई जायें जिससे उनका चरित्र निर्माण हो, फिर उन्हें कुछ ऐसे व्यावसायिक कार्य सिखाये जाने चाहियें जिनसे वे अपनी रोटी कमा सकें और इसके बाद उनके बौद्धिक विकास के लिए शिक्षा होनी चाहिए। मध्य और उच्च वर्गों के बालकों के लिए केवल बौद्धिक शिक्षा का ही प्रवन्ध होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जन-स्वास्थ्य के प्रति भी राज्य को विशेष ध्यान देना चाहिए।

## (२) साम्यवाद (Communism)

जैसा कि पिछले अध्याय में हम पढ़ चुके हैं, साम्यवाद पूँजीवादी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का घोर विरोधी है। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग का अत्यधिक शोषण होता है। जबकि धन या सम्पत्ति का वास्तविक उत्पादक श्रमिक ही होता है। श्रमिक वर्ग के इस शोषण को समाप्त करने के लिए पूँजीवाद का विनाश आवश्यक है। यह विनाश क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव होगा। समाजवादी समाज की स्थापना पूँजीवाद के रहते हुए कदापि सम्भव नहीं है। परन्तु पूँजीवाद के अन्त के बाद भी तुरन्त साम्यवादी समाज की स्थापना सम्भव न हो सकेगी। उसके लिये आवश्यक तैयारी की आवश्यकता होगी। नये सिरे से समस्त समाज का पुनर्निर्माण



करना होगा। यही संक्रमणकालीन युग (transitional period) होगा। इस युग में सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना निम्नलिखित आधारों पर होगी—(१) पिता से पुत्र को बिना श्रम किए ही पैतृक सम्पत्ति मिलने की परम्परा समाप्त कर दी जायेगी सम्पत्ति को उत्तराधिकार के रूप में कोई नहीं प्राप्त कर सकेगा। (२) देश की समस्त भूमि, कारखाने, यातायात और संदेशवाहन के साधन तथा आर्थिक उत्पादन के सब साधनों पर राज्य का अधिकार होगा, इन पर व्यक्तिगत अधिकार का अन्त हो जाएगा, पूँजीपति और जमींदार नहीं रहेंगे। (३) उत्पादन उपभोग के लिए होगा, लाभ के लिए नहीं। उस अवस्था में उत्पादन में स्वभावतः वृद्धि होगी। पूँजीवाद में उत्पादन सीमित है क्योंकि इसके अन्तर्गत श्रमिक वर्ग का शोषण होने के कारण उसकी कार्य-कुशलता घटती है। उत्पादन पर श्रमिकों का स्वामित्व भी उत्पादन की वृद्धि में सहायक होगा। श्री मैक्सिम गोर्की के शब्दों में, “सोवियत रूस का कारखाना एक समाजवादी शिक्षा केन्द्र है, पूँजीवादी कसाईखाना नहीं।” (४) देश के सभी उत्पादन-स्रोतों को पूर्णतया उपयोग में लाया जाएगा। विज्ञान, विद्या, कला आदि सभी क्षेत्रों में समान रूप से अधिकाधिक प्रगति का प्रयत्न किया जायेगा। सर्वाङ्गीण उन्नति ही इस नये समाज का एकमात्र लक्ष्य होगी। (५) प्रत्येक नागरिक को अनिवार्य रूप से कोई न कोई कार्य करना होगा। “जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं।” प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार काम करना होगा और उसके कार्य के अनुसार उसे वेतन मिलेगा। वेतनों में भारी अन्तर न होगा। (६) व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि होगी। यहाँ यह जानना उपयुक्त होगा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार भिन्न है। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार का अर्थ है, कारखानों और जमीन (जो उत्पादन के साधन हैं) पर एक या कुछ व्यक्तियों का स्वामित्व। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्तर्गत हैं—मकान, मोटर, पुस्तक, साइकल, रेडियो आदि उपयोग की वस्तुएँ। उत्पादन की वृद्धि के फलस्वरूप समाजवादी समाज में स्वभावतः व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि होगी। उत्पादन की वृद्धि के कारण वस्तुओं का मूल्य कम होगा। सभी नागरिक उनका उपभोग कर सकेंगे। परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का कोई व्यक्ति दुरुपयोग नहीं कर सकता। कोई भी सम्पत्ति बिना निजी श्रम के अवैधानिक होगी। इसलिए सर्वश्री बुलगानिन तथा स्ट्रुश्चेव ने भारतीय विश्वविद्यालय की “डाक्टर” की सनद लेना अस्वीकार किया था। कोई भी व्यक्ति उसके द्वारा एकत्रित सम्पत्ति के आधार पर जीवन निर्वाह नहीं कर सकेगा, उसको अनिवार्य रूप से कार्य करना पड़ेगा।<sup>1</sup>

कम्युनिस्ट घोषणापत्र (*Communist Manifesto*) में यह निर्देश है कि “सर्वहारा वर्ग (proletariat) अपने राजनीतिक प्रभुत्व का प्रयोग इस रूप से करेगा ताकि धीरे-धीरे पूँजीपतियों से सभी पूँजी छीन ली जाये और उत्पादन के सभी



साधन राज्य के, अर्थात् शासक वर्ग के रूप में संगठित सर्वहारा वर्ग के, हाथों में केन्द्रित हो जायें, और कुल उत्पादन साधनों को अधिक-से-अधिक तेजी से बढ़ाया जाये।”

उक्त घोषणा पत्र में सर्वहारा वर्ग द्वारा आयोजित भावी समाज की अनुलनीय उत्कृष्टता की ओर संकेत किया गया है। उसमें बताया गया है कि पूँजीवादी समाज का निर्देशक सिद्धान्त यह है कि “जो काम करेगा (अर्थात् श्रमिक) वह किसी भी चीज का स्वामी नहीं बनेगा, और जो स्वामी बनेगा (अर्थात् पूँजीपति) वह कुछ भी काम नहीं करेगा।” सर्वश्री मार्क्स और एंगेल्स ने बताया कि इसके विपरीत साम्यवादी समाज व्यवस्था में श्रमिक वर्ग की समृद्धि और सुविधाओं का सर्वोपरि ध्यान रखा जायेगा।

समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय-धन का कुछ भाग उत्पादन के साधनों के उचित विस्तार, सामान्य प्रशासन सम्बन्धी खर्च, प्राकृतिक संकटों से रक्षा, सामाजिक कल्याण और सुरक्षा आदि के लिये अलग रख दिया जायेगा और शेष भाग श्रमिकों को वेतन के रूप में दिया जायेगा।

साम्यवादी पुनर्निर्माण योजना में आत्मा, परमात्मा आदि का कोई स्थान न होगा। साम्यवाद भौतिकवादी है। इसी कारण साम्यवाद सभी प्रकार के धर्मों का विरोधी है। धर्म केवल निरर्थक ही नहीं, प्रगति के पथ पर रोड़ा भी है। साम्यवाद के अनुसार धर्म प्रबल वर्ग का पोषक और निर्बल वर्ग का शोषक है। गरीबों को वह ईश्वर, कर्मफल, स्वर्ग, नरक, भाग्य इत्यादि में विश्वास करने की प्रेरणा देकर उन्हें अपने संसारी कष्टों के प्रति उदासीन बना देता है और इस प्रकार उन्नति के आगमन में बाधा डालता है<sup>३</sup>। साम्यवादी धर्म को “जनता के लिए अफीम” के समान मानते हैं (Religion is the opium of the people)।

साम्यवादी योजना में शिक्षा, दर्शन, इतिहास या विज्ञान सभी का एक व्यावहारिक लक्ष्य (practical purpose) है। श्री मार्क्स किसी भी क्षेत्र में काल्पनिक घोड़ा दौड़ाने और किसी अज्ञेय चीज के बारे में ख्याली पुलाव पकाने के पक्ष में न थे। समस्त योजनाओं का एक वास्तविक और व्यावहारिक आधार होना चाहिए।

### (३) संघवाद

#### (Syndicalism)

यह ‘वाद’ श्रमिक-संघों को एक नये सामाजिक संगठन का आधार मानता है। इसके अनुसार श्रमिक संघ द्वारा ही एक आदर्श समाज का निर्माण सम्भव है। अराजकतावाद की भांति संघवादी भी राज्य-विहीन समाज के समर्थक हैं। भावी समाज में राज्य का कोई स्थान न होगा। परन्तु इस आदर्श समाज की रूप-रेखा क्या होगी—इस प्रश्न का वे सविस्तार उत्तर नहीं देते हैं। उनका कथन है कि श्रमिक संघ के हाथों में शक्ति आ जाने के पश्चात् इस विषय पर विचार करने के लिये बहुत समय मिलेगा। अभी से इस प्रश्न को उठाने से उन बातों को लेकर श्रमिक वर्ग में



अनावश्यक विवाद तथा मतभेद खड़ा हो जाने का भय है ।

तो भी भावी समाज के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में संघवादियों ने जो-कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि संघवादी समाज में राज्य का कोई स्थान न होगा । उसके स्थान पर प्रत्येक उद्योग, कला या कार्य के लिये एक संघ (syndicate) होगा । यह संघ उस उद्योग या कार्य में लगे हुए श्रमिकों का होगा । इस प्रकार कपड़ा बुनने वालों, खान खोदने वालों, किसानों, मोचियों, डाक्टरों, शिक्षकों आदि सभी प्रकार के श्रमिकों के अपने-अपने पृथक संघ होंगे । प्रत्येक नगर या गाँव में इस प्रकार के विविध व्यवसायों के स्थानीय संघ होंगे । फिर उनसे ऊपर स्थानीय संघों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित क्षेत्रीय संघ और सबसे ऊपर प्रत्येक व्यवसाय का एक-एक राष्ट्रीय संघ होगा । प्रत्येक राष्ट्रीय संघ अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होगा, अर्थात् उसके ऊपर कोई उच्चतर नियन्त्रणकारी संस्था या शक्ति न होगी । प्रत्येक संघ का प्रबन्ध उसमें काम करने वालों के हाथ में रहेगा । जो श्रमजीवी नहीं है वे सर्वथा अधिकार विहीन होंगे । इसीलिए संघवाद को उत्पादक की सत्ता का दर्शन कहा गया है ।<sup>१</sup>

संघवाद के अनुसार प्रशासन के साधारण कर्त्तव्य स्थानीय श्रमिक संघों के अधीन होंगे, परन्तु डाक-व्यवस्था, यातायात, मुद्रा आदि राष्ट्रीय सेवायें श्रमिकों के राष्ट्रीय संघों को सौंपी जायेंगी । स्थानीय संस्थाओं को विशेष सहायता, परामर्श आदि देने के लिये अन्य राष्ट्रीय संघ होंगे और अन्त में एक व्यापक राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन संगठन होगा जिसे कुछ राष्ट्रीय कल्याण, सुरक्षा और सेवा कार्य सौंपे जायेंगे । जैसे, अनाथ बच्चों, अपाहिजों, बूढ़ों तथा रोगियों की देख-भाल, काम करने के लिये कम से-कम तथा अधिक-से-अधिक आयु को निश्चित करना, वेतन सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति का निर्धारण आदि ।

प्रत्येक संघ को पर्याप्त अधिकार प्राप्त होगा । वह अपने किसी भी सदस्य को संघ के नियमों को तोड़ने के लिये उचित नैतिक दंड दे सकेगा । संघवादी समाज में आर्थिक असमानता, शोषण तथा सामाजिक अन्याय न होगा, इस कारण अपराधों की संख्या भी कम हो जायेगी । अतः जेलखानों तथा न्यायालयों की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी । देश की रक्षा के लिये वेतन-भोगी सेना आदि की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि समाज में प्रत्येक संघ के पास अपनी रक्षक-सेना होगी । संक्षेप में, श्री पेलोते के शब्दों में, संघवाद का ध्येय श्रमिक-क्रान्ति है । मनुष्य-जाति को शासन से मुक्त करना और ऐसे समाज का निर्माण करना, जो उत्पादकों का स्वेच्छात्मक एवं स्वतन्त्र संघ हो ।

#### (४) समष्टिवाद या राजकीय समाजवाद (Collectivism or State Socialism)

व्यक्तिवाद के सर्वथा विपरीत समष्टिवाद राज्य को एक लाभप्रद तथा आवश्यक संस्था मानता है और इस कारण राज्य के अधिक-से-अधिक विस्तृत कार्य-क्षेत्र के माध्यम से ही सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना प्रस्तुत करता है । एनसाइ-



क्लोपीडिया ब्रिटैनिका (*Encyclopaedia Britanica*) में दी हुई परिभाषा के अनुसार “समष्टिवाद वह नीति अथवा सिद्धान्त है जो प्रजातन्त्रीय राज्य द्वारा सम्पत्ति-का इस समय की अपेक्षा अधिक अच्छा वितरण और उत्पादन कराने में विश्वास करता है।” इस प्रकार स्पष्ट है कि समष्टिवाद के अनुसार सामाजिक पुनर्निर्माण के दो प्रमुख आधार हैं—प्रथम, प्रजातन्त्रीय राज्य द्वारा सामाजिक जीवन का अधिक-से-अधिक नियमन और द्वितीय, सम्पत्ति का उचित वितरण।

समष्टिवाद के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का पुनर्निर्माण कदापि सम्भव नहीं है। इस कारण पूँजीवाद का अन्त आवश्यक है। पर इस उद्देश्य की पूर्ति हिंसा या क्रान्ति के द्वारा न होकर शान्तिपूर्ण और वैधानिक उपायों द्वारा ही होगी। प्रचार और स्वस्थ जनमत के निर्माण द्वारा सामाजिक जीवन में धीरे-धीरे परिवर्तन लाना होगा और अन्त में वैधानिक उपायों से ही शासन की बागडोर समाजवादी दल के हाथ में आ जायेगी। यह समाजवादी सरकार अपनी सामाजिक पुनर्निर्माण योजना में निम्न तीन उद्देश्यों को अपने सम्मुख रखकर कार्य करेगी—  
(१) उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर दिया जायेगा और देश के समस्त महत्वपूर्ण उद्योगों और सेवाओं पर राज्य का नियन्त्रण या राष्ट्रीय अधिकार स्थापित होगा, (२) राज्य द्वारा आर्थिक व्यवस्था का संचालन व व्यवस्था किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के लाभ के लिए नहीं बल्कि सभी के हित के लिये होगी और (३) समाज की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति के उद्देश्य की प्राप्ति होगी अर्थात् राष्ट्रीय सम्पत्ति का अधिक उचित तथा न्यायसंगत वितरण होगा।

भूमि उद्योगों और कारखानों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर पूँजीवादी व्यवस्था और शोषण का अन्त अपने-आप हो जायेगा। इसके लिये क्रान्ति या हिंसात्मक उपायों को अपनाने की आवश्यकता नहीं है। समाजवादी व्यवस्था की स्थापना एकाएक या जबरदस्ती न करके क्रमशः और धीरे-धीरे करनी ही अधिक उचित होगी। कोई भी परिवर्तन या सुधार तब तक नहीं किया जाना चाहिए जब तक जनमत उसके लिये तैयार न हो। बहुमत की अधिमति (sanction) के बिना कोई भी संगठन या योजना सफल और स्थायी नहीं हो सकती।

राष्ट्रीयकरण करने के उद्देश्य से उद्योगों को तीन श्रेणियों में बांटा जायेगा—  
प्रथम श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो आधारभूत (Key industries) होने के कारण तुरन्त ही राष्ट्रीयकरण के उपयुक्त हैं जैसे, बैंक, लोहे और कोयले के उद्योग, बिजली का उत्पादन, यातायात के प्रधान साधन आदि; दूसरी श्रेणी में वे उद्योग हैं जो वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रीयकरण के उपयुक्त नहीं हैं। पर भविष्य में हो सकते हैं, जैसे कागज, दियासलाई, तेल, साबुन; और तीसरी श्रेणी में वे उद्योग हैं जो बहुत-छोटे पैमाने पर होते हैं, उन्हें व्यक्तिगत आधारों पर ही विकसित होने के लिए छोड़ देना उचित होगा। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करते समय उनके भूतपूर्व व्यक्तिगत मालिकों को हर्जाना या मुआवजा (Compensation) देने की भी



व्यवस्था होगी।<sup>4</sup>

समाजवादी व्यवस्था में राष्ट्रीकृत उद्योगों व व्यवसायों का प्रबन्ध राज्य द्वारा ही किया जायेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि केन्द्रीय सरकार ही सभी उद्योगों का प्रबन्ध करेगी। अखिल, देशीय उद्योगों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहेगा और अन्यो का स्थानीय संस्थाओं जैसे नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के हाथ में। श्रमजीवी लोग एक प्रकार से सरकारी कर्मचारी बन जायेंगे। उनके अधिकार सुरक्षित कर दिये जायेंगे तथा निम्नतम वेतन भी निश्चित कर दिया जायेगा निश्चित निम्नतम वेतन से कम किसी को नहीं दिया जा सकेगा। यह निम्नतम वेतन कम-से-कम इतना होगा कि उसमें मनुष्य साधारणतया अच्छी तरह जीवन-निर्वाह कर सके।

समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति व व्यक्तिगत उद्योग भी रहेंगे। उत्पादन के केवल प्रधान साधनों का ही राष्ट्रीयकरण होगा। लोगों की आय में उनके कार्यानुसार अन्तर भी रहेगा। समृद्ध लोगों पर अधिक कर लगाये जायेंगे। सम्पत्ति पर मृत्यु कर (death tax) लगेगा। इन उपायों से यद्यपि सबकी आय पूर्णतया समान नहीं हो जायेगी पर धनी व निर्धनों के बीच आज जो बहुत अन्तर है वह अपेक्षाकृत कम हो जायेगा।

सभी लोगों को काम देना राज्य का कर्तव्य होगा। यदि राज्य किसी व्यक्ति को काम देने में असमर्थ हो और वह बेकार रह जाय, तो राज्य को उसे भरण-पोषण के लिये आवश्यक सहायता या वृत्ति (doles) देनी पड़ेगी। वृद्धों तथा पंगुओं यद्यवा अन्य किसी को आर्थिक अभाव न हो, इसकी जिम्मेदारी राज्य पर रहेगी।

एक निश्चित आयु (१६ या १८) वर्ष तक सभी बच्चों को शिक्षित किया जायेगा। इस आयु तक उनसे कोई अन्य काम या परिश्रम न लिया जा सकेगा। शिक्षा केवल निःशुल्क ही नहीं रहेगी, बल्कि विद्यार्थियों को पुस्तकें व अन्य आवश्यक सामग्री तथा स्कूल में एक बार भोजन या जलपान भी दिया जायेगा।

राज्य को इन कामों को करने के लिये बहुत अधिक धन की आवश्यकता पड़ेगी। वह कहाँ से आयेगा? आवश्यक धन का कुछ भाग तो राष्ट्रीकृत उद्योगों व व्यवसायों की आमदनी से प्राप्त होगा और शेष करों (taxes) से। कर (tax) इस प्रकार लगाये जायेंगे कि एक निश्चित आमदनी तक तो कुछ भी न देना पड़ेगा या बहुत-कम देना पड़ेगा, पर उसके ऊपर आमदनी के साथ-साथ कर की मात्रा भी बढ़ती जायेगी। आय कर (Income tax) ऐसा लगाया जायेगा कि दो-चार हजार की आय वालों को प्रति रुपया एकाव पाई ही देना पड़े पर लखपतियों को १०-१२ या १५ आने प्रति रुपया तक देना पड़े। इस प्रकार अमीरों की आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग उनसे कर द्वारा ले लिया जायेगा। और इस प्रकार प्राप्त धन का उपयोग सर्वसाधारण के हितार्थ किया जायेगा। इस प्रकार राज्य के प्रयत्नों द्वारा अधिकाधिक आर्थिक समता की स्थापना की जायेगी। सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर



भी अधिक कर लगाया जायेगा। जिससे लोग वाप-दादों की कमाई के बल पर अधिक समय तक घनवान न बने रह सकें।

समाजवादी व्यवस्था विधेय कर राष्ट्रीकृत उद्योगों में उत्पादन की प्रेरक शक्ति का लाभ न होकर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी (Production, not for profit but for use)। राज्य, वस्तुओं के मूल्य सामाजिक आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से निश्चित करेगा। जो वस्तुएँ सर्वसाधारण के जीवन व स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं—जैसे दूध, फल, तरकारी आदि—वे लागत से कम मूल्य पर भी बेची जा सकती हैं<sup>5</sup>।

प्रत्येक श्रमिक को कम से कम कितना वेतन मिलेगा, यह निश्चित करने के अतिरिक्त काम करने के घंटे भी सप्ताह में ४८ घंटे से अधिक नहीं रखे जायेंगे ताकि श्रमिकों को मनोरंजन, आराम-सुधार, सांस्कृतिक कार्य-कलाप आदि के लिये भी यथोचित समय मिल सके। राज्य सामाजिक कल्याण और सुरक्षा के कार्यक्रम को अधिकाधिक विस्तृत करेगा, जैसे—बेकारी को रोकना तथा बेकारी के समय बेकारों की आर्थिक सुरक्षा, राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार, राष्ट्रीय न्यूनतम आय के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न, रोगी तथा अक्षम व्यक्तियों की सहायता, मातृत्व हितलाभ योजनाओं का विकास तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों को प्रोत्साहन संक्षेप में समष्टिवाद प्रजातन्त्रीय राज्य को ही नहीं, कल्याण-राज्य की स्थापना को भी अपना लक्ष्य मानता है।

### (५) श्रेणी-समाजवाद (Guild Socialism)

श्रेणी-समाजवाद समष्टिवाद तथा संघवाद के बीच का मार्ग ग्रहण करके एक नई विचारधारा का विकास करता है। दूसरे शब्दों में, श्रेणी समाजवाद संघवाद में निहित उत्पादकों के विशेष हितों की धारणा तथा समष्टिवाद में निहित सामान्य अथवा सार्वजनिक हितों की राजनैतिक धारणा के बीच समन्वय स्थापित करने का एक प्रयास है। संघवाद की भाँति श्रेणी-समाजवाद भी राज्य-संस्था को अधिक महत्व नहीं देता और श्रमिक-संघों के शासन की स्थापना के पक्ष में है, परन्तु साथ-ही वह संघवाद की प्रत्यक्ष कार्यप्रणाली (Direct action), विध्वंस, क्रान्ति आदि पर अधिक विद्वान नहीं करता, बल्कि समष्टिवाद की भाँति प्रजातन्त्रीय और वैधानिक उपायों को अधिक उचित मानता है। श्रेणी-समाजवादियों का कथन है कि संघवाद आवश्यकता से अधिक क्रान्तिकारी तथा अराजकतावादी है और समष्टिवाद राज्य के हाथों में समस्त शक्ति को केन्द्रित करके श्रमिकों को अपने काम करने की परिस्थितियाँ निर्धारित करने तक का अधिकार भी नहीं देता है। इस कारण इन दोनों “वादों” (Isms) के बीच का मार्ग अपनाना ही उचित होगा। यही श्रेणी-समाजवाद का मार्ग है। अर्थात् श्रेणी-समाजवाद व्यवस्था में संघवादी व्यवस्था की भाँति राज्य का बिल्कुल अन्त न होगा, उसे केवल राजनीतिक विषयों के प्रबन्ध के



लिये बनाये रक्खा जायेगा, परन्तु समष्टिवादी व्यवस्था के अनुरूप राज्य को सभी काम नहीं सौंप दिये जायेंगे। आर्थिक और औद्योगिक कार्य श्रमिक संघों या श्रेणियों द्वारा किया जायेगा। साथ-ही, श्रेणी-समाजवाद का कार्य संघवादियों की भाँति क्रान्तिकारी न होकर वैधानिक व प्रजातन्त्रीय होगा।

श्रेणी-समाजवादियों के अनुसार भावी-समाज के पुनर्निर्माण सम्बन्धी दो विचारधारायें प्रसिद्ध हैं—(१) हॉब्सन की योजना और (२) कोल की योजना। श्री हॉब्सन के अनुसार “भावी श्रेणी-समाजवादी व्यवसाय में प्रत्येक व्यवसाय की एक श्रेणी होगी। वह उत्पादन सम्बन्धी विषयों में पूर्ण स्वतन्त्र होगी। उसकी संगठन जनवादी होगी। श्रेणियों का समन्वय राज्य द्वारा किया जायेगा। इसके अतिरिक्त राज्य नागरिकता का प्रतिनिधित्व भी करेगा। ‘‘‘‘‘उसके द्वारा नागरिक की नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति सम्भव होगी।’’ अस्तु हॉब्स का राज्य एक आध्यात्मिक एवं समाज-सेवा संस्था है। हॉब्सन का राज्य केवल शासन, न्याय और सेवा सम्बन्धी विषयों का नहीं, अपितु उत्पादन एवं वितरण का भी संचालन करेगा। आधुनिक राज्य केवल इस दृष्टि से ही भिन्न होगा कि उसमें श्रमिक स्वतन्त्र श्रेणियों द्वारा उत्पादन करेंगे और वितरण पर जनवादी नियन्त्रण होगा। भविष्य के राज्य का एकमात्र ध्येय समाज-सेवा होगा। फलतः नौकरशाही के दृष्टिकोण में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आवश्यक है, वह समाज सेवा को अपना लक्ष्य मानेगा।

श्री कोल की योजना में भावी समाज में श्रेणी द्वारा उत्पादन का संचालन होगा। सहकारी संस्थायें उपभोग सम्बन्धी विषयों का संचालन करेगी। ‘‘‘‘‘स्थानीय श्रेणी का संगठन प्रत्यक्ष जनवादी ढंग से होगा। एक व्यवसाय की एक श्रेणी होगी। व्यवसाय के सभी श्रमिक श्रेणी के सदस्य होंगे। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता समितियाँ भी होंगे। प्रादेशिक श्रेणियों के सदस्य स्थानीय श्रेणियों द्वारा निर्वाचित होंगे और राष्ट्रीय श्रेणियों के प्रादेशिक श्रेणियों द्वारा। स्थानीय संस्थायें केवल स्थानीय विषयों का संचालन करेंगी; प्रादेशिक और राष्ट्रीय संस्थायें क्रमशः प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय विषयों का। ‘‘‘‘‘कुछ ऐसी सेवायें भी होंगी जो स्थानीय प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में पाई जायेंगी—जैसे शिक्षा। इनका प्रबन्ध सम्बद्ध श्रेणियों के समन्वय से होगा। सारे समाज के उत्पादन एवं वितरण सम्बन्धी नियम तथा नीति का निर्धारण श्रेणियों और समितियों के समन्वय से होगा। समय-समय पर आवश्यकतानुसार इनकी संयुक्त बैठकें होंगी। संघ का कार्य इन संस्थाओं का समन्वय करना है। वेतन, आय, व्यय, मूल्य, कर, बैंक, शान्ति, न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों का संचालन संघ द्वारा होगा। सभी विवादास्पद विषयों में संघ सर्वोच्च न्यायालय का कार्य करेगा।

श्री कोल का यह विश्वास था कि ऐसे आदर्श समाज में आधुनिक समाज की त्रुटियों का निराकरण हो सकेगा। पूँजीवाद का अन्त होगा और साथ-ही अतिरिक्त मूल्य (लाभ) की प्रथा का भी। श्रमिक स्वयं ही श्रेणी द्वारा व्यवसायों का संचालन



करेंगे। उन्हें कार्य रुचिकर लगेगा और उत्पादन बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलेगा। संक्षेप में, पूँजीवादी दासत्व से वे मुक्ति पायेंगे।

### (६) अराजकतावाद (Anarchism)

अराजकतावादियों ने भविष्य के आदर्श समाज की व्याख्या की है। वे इस समाज को साम्यवादी, स्वेच्छावादी और स्थानवादी कहते हैं। श्री जोड (Joad) का कहना है कि “अराजकतावाद मनुष्य को तीन प्रकार से स्वतन्त्र करना चाहता है—नागरिक की हैसियत से राज्य से, उत्पादक की हैसियत से पूँजीवाद से, और मनुष्य की हैसियत से धर्म से। अतः उनकी आदर्श व्यवस्था में न राज्य, न शोषण और न धर्म ही रहेगा। व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र होगा।”

अराजकतावादी व्यवस्था में राज्य की कोई भी आवश्यकता नहीं है—न शांति और न सुव्यवस्था के लिए, न बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा के लिए, न अपराध को रोकने के लिए और न ही शिक्षा-प्रसार व उद्योग-धन्यों को प्रोत्साहित करने के लिए। राज्य केवल निरर्थक ही नहीं, अपितु हानिकारक संस्था भी है। राज्य द्वारा किए गए शोषण और अन्याय के कारण ही मनुष्य भ्रष्ट और दुष्ट हो जाता है। इस कारण व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रगति के रास्ते पर रोड़ा-स्वरूप राज्य का न होना ही उचित है।

राज्य के नष्ट हो जाने पर अराजकतावादी समाज का संगठन स्थानवादी होगा। प्रत्येक व्यवसाय, व्यापार तथा विविध कार्यों के संचालन के लिए उसमें लगे हुए व्यक्तियों की एक ऐच्छिक समिति (Voluntary association) या संघ होगा जिनको कम्यून (Commune) कहा जायेगा। इस प्रकार शिक्षा, उत्पादन, उद्योग, व्यवसाय आदि विभिन्न कार्यों में लगे व्यक्ति अपने-अपने कम्यून स्थापित करेंगे। ये कम्यून ऐच्छिक और पूर्ण स्वतन्त्र होंगे। प्रत्येक कम्यून स्वयं अपने पदाधिकारियों को चुनेगा और निकालेगा, स्वयं अपनी नीति निर्धारित करेगा, तथा स्वेच्छा से अन्य कम्यूनों के साथ सहयोग करेगा। ये सब समुदाय परस्पर गुंथे हुये होंगे जैसे, एक ही विषय के जिले भर के कम्यूनों को मिलाकर उस विषय की जिला समिति बनेगी। इन समितियों से प्रान्तीय समिति बनेगी; प्रान्तीय समितियाँ राष्ट्र की समिति के लिये प्रतिनिधि भेजेंगी और राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समितियों का निर्माण होगा। वर्तमान राज्य द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों को ये समितियाँ आपस में बाँट कर सम्भाल लेंगी। स्वेच्छापूर्ण सहयोग के परिणाम-स्वरूप समाज का जिलों, प्रान्तों तथा राष्ट्रों में स्वाभाविक वर्गीकरण हो जायेगा और इस प्रकार आधुनिक राज्यों के कृत्रिम सीमा-विभाजन का अन्त हो जायेगा। साथ ही, समाज का संगठन बल के आधार पर न होकर नागरिकों की स्वेच्छा, स्वतन्त्र सहयोग और मित्रता की भावना के आधार पर होगा। सुव्यवस्था के अभाव का नाम अराजकता नहीं है, परन्तु राजकीय अन्याय, अनिवार्यता, निरंकुशता तथा



कृत्रिमता का अभाव अराजकता का दूसरा नाम है। अराजकतावादी समाज के इस प्रकार के ऐच्छिक, न्यायपूर्ण तथा स्वाभाविक संगठन के सम्बन्ध में लिखते हुए श्री फोरियर (Fourier) ने कहा है, “कुछ कंकड़ ले लीजिये, उन्हें एक सन्दूक में भर कर भली प्रकार से हिला दीजिए, और वे अपने आप एक ऐसे सुन्दर आकार में सज जायेंगे जैसा आप किसी को उन्हें सामञ्जस्यपूर्वक सजाने के लिए देकर कभी नहीं प्राप्त कर सकते थे<sup>८</sup>।”

अराजकतावादी पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का घोर विरोधी है। इसके अनुसार पूंजीवाद के कारण करोड़ों श्रमिकों को अपार कष्टों का सामना करना पड़ता है, जबकि थोड़े से पूंजीपति ऐश और आराम का जीवन व्यतीत करते हैं। इस कारण पूंजीवाद का अन्त होना आवश्यक है। अराजकतावादी समाज का आर्थिक संगठन पूर्णतया साम्यवादी होगा। भूमि तथा उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का स्वामित्व होगा। प्रिन्स क्रापोटकिन (Prince Kropotkin) ने लिखा है, “अराजकतावादी समाज में सभी पर प्रत्येक व्यक्ति का आधार होगा, वशर्ते कि प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन-क्रिया में अपना उचित योग दे, और प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण उत्पादन में से अपना उचित भाग पाने का अधिकार होगा<sup>९</sup>।” दूसरे शब्दों में, अराजकतावादी समाज का प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा, प्रवृत्ति तथा क्षमता के अनुसार काम करेगा, पर उपभोग की वस्तुयें उसे उसकी आवश्यकतानुसार मिलेंगी। अतः स्पष्ट है कि अराजकतावादी समाज में वितरण का आधार लोगों के काम करने की मात्रा या योग्यता न होकर उनकी आवश्यकता होगी। एक व्यक्ति क्या और कितना काम करता है यह बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात यह है कि उसे कितनी या क्या आवश्यकता है। भोजन, वस्त्र तथा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुयें सभी को आवश्यकतानुसार बिना किसी शर्त के दी जायेंगी, चाहे वे कोई काम करते हों अथवा नहीं। विज्ञान हमें इस योग्य बना देगा कि हम इतनी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन कर सकें कि जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं का निःशुल्क वितरण सम्भव हो जाये। सभी वस्तुओं का वितरण अराजकतावादी समितियों द्वारा होगा। वितरण का आधार इस प्रकार होगा—पहले बच्चों, बूढ़ों और अंगहीनों को उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुयें दी जायेंगी, फिर अन्य लोगों को; पहले जीवनोपयोगी वस्तुयें बाँटी जायेंगी, बाद में आराम की। पर जो-कुछ भी दिया जायेगा वह पानी व हवा की भाँति बिना मूल्य ही सर्वसुलभ होगा।

कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि जब सभी आवश्यक वस्तुयें मुफ्त-ही मिल जायेंगी तो लोग काम करना ही क्यों चाहेंगे? परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं

8. “Take pebbles, put them into a box and shake them, and they will arrange themselves into a mosaic that you could never get by entrusting to anyone the work of arranging them harmoniously.”  
—Fourier

9. “In the anarchist society all belongs to every one and, provided each contributes his full share in production, each has a right to share in all that is produced by everybody.”  
—Prince Kropotkin.



होगा। क्योंकि यह मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। बिना काम किए मनुष्य दो-चार दिन चुपचाप बैठ सकता है पर उसके बाद ही वह स्वयं ऊब जाता है और काम खोजता है। काम करना उसे अच्छा लगता है। उसे बुरी लगती है काम करने की असन्तोषजनक अवस्थायें। परन्तु अराजकतावादी समाज में इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखा जायेगा। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से प्रत्येक कार्य को अत्यन्त सरल, सचिकर और आकर्षक बना दिया जायेगा। लोग वैसे ही स्वेच्छा से काम करने जायेंगे, जैसे वे आज स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक टहलने या खेलने जाया करते हैं। काम करना तो मनुष्य का स्वभाव है, इससे वह कभी जी नहीं चुरायेगा। श्री बर्नार्ड शा ने उचित ही कहा है कि नरक की सर्वोत्तम परिभाषा स्थायी छुट्टी है।

अराजकतावादी व्यवस्था में काम करने की दशायें अत्यन्त सन्तोषजनक होंगी। गन्दा और अधिक परिश्रम साध्य काम मशीनों द्वारा लिया जायेगा। काम करने की आयु २४ वर्ष से ४० या ५० वर्ष तक की होगी। प्रतिदिन काम करने के घंटे चार या पाँच होंगे। वेतन प्रथा पूँजीवादी प्रथा है। इसका अन्त होगा। लोग स्वेच्छा से और समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होकर काम करेंगे।

अराजकतावादी समाज में राज्य की भाँति धर्म का भी कोई स्थान न होगा। धर्म अन्धविश्वास और कुसंस्कारों को बढ़ाता है और मनुष्य की ताकिक शक्ति को दबाकर उसकी प्रगति को रोकता है। प्रिन्स क्रोपोटकिन के अनुसार, “धर्म या तो प्रकृति के रहस्यों को खोलने का एक रखा असफल-सा प्रयास है या एक ऐसी नैतिक प्रणाली है जो जनता की अज्ञानता तथा अन्धविश्वास को और भी दृढ़ बनाकर उनमें वर्तमान राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अन्यायों को सहन करने की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है<sup>10</sup>।” इस कारण अराजकतावादी समाज में धार्मिक विश्वासों के स्थान पर ज्ञान तथा विज्ञान को प्रतिष्ठित किया जायेगा।

अराजकतावादी समाज में अगर कोई सामाजिक कार्य करता है तो उसके लिए एक ही दण्ड होगा और वह यह कि उसका सामाजिक बहिष्कार किया जायेगा। इससे वह स्वयं ही सुधार जायेगा। पर अगर इस पर भी कोई न सुधरे तो उसे सुधार-गृह (Reformatory) में भेज दिया जायेगा।

प्रिन्स क्रोपोटकिन ने कहा है कि “यदि मनुष्य को सीमित घंटे और सीमित काल तक रोचक कार्य करने को दिया जाये, तो उसको ज्ञान, कला, संगीत तथा अन्य योग्यताओं की प्राप्ति के लिये अवसर मिलेगा। अब तक ये सब अवसर केवल शोषक वर्ग को ही उपलब्ध थे। भावी आदर्श समाज में साधारण मनुष्य भी उनका उपयोग कर सकेगा, क्योंकि उसके पास पर्याप्त समय तथा सुविधायें होंगी। ऐसे स्वर्ण-युग में मनुष्य स्वयं सुसंस्कृत हो जायेंगे। संस्कृति, ज्ञान तथा कला शोषकों की नहीं, जन-

10. “Religion is a rude attempt at explaining nature or it is an ethical system which through its appeals to the ignorance and superstition of the masses, cultivates among them a tolerance of the injustices they suffer under the existing political and economic arrangement”.



साधारण की निधि होगी<sup>11</sup> ।”

(७) गांधीवाद

(Gandhism)

गांधी जी के सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना प्रधानतया ग्रामीण पुनर्निर्माण की योजना है। उनके अनुसार शासन, उत्पादन व वितरण सभी की मूल इकाई गांव होनी चाहिये। गांधी जी के कल्पित रामराज्य में राजकीय शक्ति का अधिकतम विकेंद्रीकरण (decentralization) होगा। वास्तव में गांधी जी द्वारा प्रस्तावित राज्य स्वावलम्बी व्यक्तियों और गांवों का संघ है। गांधी जी की सामाजिक पुनर्निर्माण योजना की प्रमुख विशेषतायें उनके ही निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जायेंगी “मेरा ग्राम-स्वराज्य का आदर्श यह है कि प्रत्येक गांव एक पूर्ण गणराज्य हो। अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए वह अपने पड़ोसियों पर निर्भर न रहे, यद्यपि अनेक अन्य बातों में परस्पर निर्भरता अनिवार्य है। इस प्रकार प्रत्येक गांव का पहला काम होगा खाने के लिए अन्न और कपड़ों के लिए रूई की फसलों को उत्पन्न करना। पशुओं के लिए वहाँ चरागाह होने चाहियें और लोगों के खेल-कूद व मनोरंजन के लिए खेल के मैदान। यदि और भूमि हो, तो रुपया कमाने वाली लाभप्रद फसलें उत्पन्न की जायें, परन्तु उनमें गँजा, अफीम, तम्बाकू आदि सम्मिलित न समझे जाने चाहियें। गांव की अपनी नाट्यशाला, सार्वजनिक भवन व पाठशाला भी होनी चाहियें। स्वच्छ जल के लिए जलाशयों का प्रबन्ध भी आवश्यक है, चाहे वे सुरक्षित कुयें हों या तालाब। बेसिक शिक्षा अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जाएगा। आजकल की सी अस्पृश्यतामूलक जाति-भेद न होगी। दंड के स्थान में ग्राम समाज अहिंसामूलक सत्याग्रह व असहयोग से काम लेगा। ग्राम रक्षकों का एक दल रहेगा जो ग्राम निवासियों में से न्दारी-न्दारी चुना जाएगा। गांव का शासन पाँच व्यक्तियों की पंचायत द्वारा संचालित होगा। इन पंचों में निर्धारित निम्नतम योग्यता होनी आवश्यक होगी और इनका प्रतिवर्ष ग्रामवासी सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा चुनाव होगा। सभी आवश्यक अधिकार इन्हीं के हाथ में होंगे। आजकल की तरह दंड-व्यवस्था होगी ही नहीं और पंचायत ही गांव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी सरकार व न्यायपालिका सब कुछ होगी। गांव में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर बना पूर्ण लोकतन्त्र होगा। व्यक्ति स्वयं ही अपनी सरकार का निर्माता होगा। अहिंसा का नियम ही उस पर और उसकी सरकार पर शासन करेगा। वह और उसका गांव सारे संसार की शक्ति को चुनौती दे सकेगा, क्योंकि प्रत्येक ग्रामवासी का सिद्धान्त यह होगा कि वह अपने और अपने गांव की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपना जीवन तक बलिदान कर देने को सदा तैयार रहेगा।”

२२ जून, सन् १९४५ को “हिन्दू” समाचारपत्र में प्रकाशित गांधी जी के एक वक्तव्य में आदर्श रामराज्य का जो वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है :—



“धार्मिक दृष्टिकोण से इसे पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य कहा जा सकता है। राज-नैतिक दृष्टिकोण से यह वह जनतन्त्र है जिसमें सम्पत्ति, वर्ण, जाति, धर्म तथा स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित सारी असमानताओं का लोप हो चुका हो। इसके अन्तर्गत घरती तथा राज्य सभी कुछ जनता का होगा। न्याय जल्दी, पूर्ण तथा सस्ता होगा और इसके फलस्वरूप देश में भजन-पूजन, व्याख्यान तथा समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता होगी और ये सब नैतिक अनुशासन के स्वयं नियोजित (self imposed) नियम के प्रभुत्व के कारण सम्भव होगा। ऐसा राज्य निश्चय ही सत्य तथा अहिंसा पर आधारित होगा और निस्सन्देह समृद्ध, सुखी तथा स्वयं सम्पूर्ण ग्रामों तथा ग्राम-समाजों का समूह होगा।”

डा० पट्टाभि सीतारामैया (Pattabhi Sitaramayya)<sup>12</sup> के अनुसार गांधी जी का स्वराज्य परिणाम कम है प्रणाली अधिक और उसके स्थापित हो जाने पर सरकार का पहला कर्तव्य यह होगा कि वह देश से अन्न का निर्यात (export) तथा देश में वस्त्र का आयात (import) बन्द करे और चरखा-करघा के प्राचीन महत्व को पुनः स्थापित करे। इससे सूत कातने वालों तथा जुलाहों की बेकारी कम हो जायेगी, उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा और उन्हें पेट-भर भोजन प्राप्त हो सकेगा। ग्राम्य-स्वराज्य की पुनः स्थापना होगी और इस प्रकार सारी स्थानीय समस्याएँ वहीं सुलभ जाया करेंगी। गृह-उद्योग तथा हस्तकलाओं की स्मृद्धि होगी और बेकार पड़े भूमि-खण्डों में खेती उत्पन्न होगी। ग्राम्य यातायात का सुधार होगा और स्वास्थ्य की समस्या का उचित समाधान खोजा जाएगा। मुकदमे बाजी की बुराईयाँ दूर होंगी। जन-शिक्षा अविलम्ब आरम्भ होगी और इस दिशा में चलते-फिरते सिनेमा, प्रदर्शनियाँ तथा पुस्तकालय उतने ही महत्वपूर्ण होंगे जितने प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षालय। परीक्षा-प्रणाली का अन्त होगा। आज नगरों की शिक्षा में ग्रामीण विद्यार्थियों के माता-पिता के धन का अपव्यय हो रहा है, इसका जनता के हितार्थ उचित प्रयोग होना चाहिए। प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला तथा एक सहकारी समिति का होना आवश्यक है। साहित्यिक शिक्षा तथा भौतिक ज्ञान के स्थान पर हमें विद्यार्थियों की अन्तर्बुद्धि तथा कल्पना-शक्ति का विकास करना चाहिए। राष्ट्रीय परम्परा, जीवन-दर्शन, धार्मिक विश्वास तथा साम्प्रदायिक एकता की प्राप्ति के लिए समभौता-समितियों की स्थापना आवश्यक है। स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का प्रचार करने के लिए चिकित्सालय तथा उपचार-गृह खुलेंगे तथा भूमि-व्यवस्था में संशोधन करके निर्धन किसानों का भार हल्का किया जाएगा। कर लगाने के सिद्धान्त अधिक न्यायसंगत होंगे तथा सरकार जनता-वीमा को प्रोत्साहन देकर सम्पूर्ण देश को एक सहकारी समिति में परिणित करने का प्रयत्न करेगी। हस्तकलाओं एवं गृह-उद्योगों पर सामूहिक नियन्त्रण होगा तथा काम करने के समय, प्रतियोगिता एवं कार्य-कौशल-सम्बन्धी नियमों का प्रचार किया जाएगा। प्रान्तों में



भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषायें शासन-व्यवस्था तथा शिक्षा का माध्यम बनेंगी, परन्तु देश की राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी होगी। स्वयं जनता की ओर से भ्रातृभाव तथा सहयोग की भावनाओं पर आधारित सुभाव उपस्थित किए जाने पर भाषा के अनुसार प्रान्तों का पुनर्विभाजन भी सम्भव होगा। अस्पृश्यता को समाप्त किया जाएगा तथा मन्दिर-प्रवेश का अधिकार सभी सम्प्रदायों को प्राप्त होगा। वर्तमान हिसामूलक सेना का स्थान एक शान्ति सेना ले लेगी। इस प्रकार अहिंसा प्रधान राज्य की स्थापना सम्भव हो सकेगी। वाणिज्य-जहाजी बड़े (Mercantile marine) पर भारतीय पूंजी का आधिपत्य होगा। प्रधान उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होगा तथा गृह उद्योगों की पुनः स्थापना एवं आधुनिक भारी उद्योगों की स्थापना द्वारा बेकारी की समस्या का निराकरण किया जाएगा। भूमिहीन किसानों को भूमि तथा जनता को कम-से-कम एक निश्चित आय का आश्वासन दिया जायेगा। सरकार स्त्रियों की समस्याओं का समाधान करेगी तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद (Divorce) की व्यवस्था भी की जाएगी। विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दिया जाएगा तथा स्त्रियों को अपने पति तथा पिता की सम्पत्ति में उचित भाग मिलेगा। बालकों का शोषण बन्द होगा तथा अपराधियों के साथ घृणा के स्थान पर दया का व्यवहार किया जाएगा। अपराधों की संख्या घटाने और जनता की नैतिक उन्नति करने के उद्देश्य से नशा-निषेध का कार्यक्रम आरम्भ किया जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, संस्कृति तथा शिक्षकों एवं विद्वानों के आदान-प्रदान को राष्ट्र के लिए हितकर समझकर बढ़ावा दिया जायेगा। यही भारत और भारतवासियों का राम-राज्य होगा।

इस प्रकार गाँधी जी के सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना एक नये युग और नई समाज-व्यवस्था की कल्पना है। यह मुख्य रूप से भारतीय समाज को पुनः संगठित करने की एक योजना है। वैसे भी “गाँधी दर्शन” विशुद्ध भारतीय विषय है। विश्व के लिए यदि भारत का कोई सन्देश है तो वह उनमें निहित है। भारत की उन्नति के विकास का यदि कोई अपना विशिष्ट मार्ग है, तो उसे वहाँ ढूँढा जा सकता है। युद्ध और संघर्ष से त्रस्त विश्व-राजनीति को गाँधी-दर्शन भारत की अभयदान-रूप भेंट है। भारतीय विद्यार्थी अपनी इस अमूल्य निधि को पहचानें व उसका उचित मूल्यांकन करें.....<sup>13</sup>।

### समाज-कल्याण की अवधारणा (Concept of Social Welfare)

‘कल्याण-राज्य’ की अवधारणा के सम्बन्ध में विवेचना कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम ‘समाज-कल्याण’ की अवधारणा के विषय में भी कुछ जान लें, क्योंकि कल्याण-राज्य और समाज-कल्याण का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ है। इसका कारण भी स्पष्ट है। कोई भी राज्य वास्तव में कल्याण-राज्य है



या नहीं; इसकी एक महत्वपूर्ण पहचान यह है कि वह राज्य समाज-कल्याण कार्यक्रमों में कितना सक्रिय भाग ले रहा है। कल्याण-राज्य जनता के सर्वांगीण कल्याण को ही अपना लक्ष्य मानकर काम करती है और उसकी सार्थकता वास्तव में इसी में है कि समाज का कोई भी अंग या समूह इस रूप में पिछड़ा न रह जाये जिससे वह राष्ट्र पर बोझ बनकर रहे और राष्ट्र-निर्माण के कार्य में सक्रिय हिस्सेदार न बन सके। इस परिस्थिति से बचने के लिए राज्य इस बात का प्रयत्न करता है कि व्यक्तियों तथा समूहों के लिए, विशेषकर पिछड़े हुए या सामाजिक निर्योग्यताग्रो (social disabilities) के शिकार बने हुए व्यक्तियों और समूहों के लिए कल्याणकारी सेवाएं अधिकाधिक उपलब्ध हों। यह जरूरी नहीं कि समस्त कल्याणकारी सेवाओं को राज्य स्वयं ही करे। समाज-कल्याण का काम स्वयंसेवी या ऐच्छिक संस्थाओं के द्वारा भी हो सकता है और होता भी है, पर इसके लिए प्रायः राज्य की ओर से इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाती है।

### समाज-कल्याण का अर्थ व परिभाषा

#### (Meaning and Definition of Social Welfare)

कभी भी कोई भी समाज समस्याओं से विमुक्त नहीं रहा है। इनमें से अनेक समस्याएं इस प्रकार की होती हैं जिनसे समाज की प्रगति या तो रुक जाती है या प्रगति की गति धीमी पड़ जाती है। सामाजिक दृष्टिकोण से इन समस्याओं का एक सामूहिक रूप होता है, जिसके कारण उसमें समाज की प्रगति को रोकने या उसे दवाने की शक्ति होती है। इन समस्याओं को दूर करके समाज को एक स्वस्थ रूप प्रदान करने के लिये किये गये प्रयत्नों को ही समाज-कल्याण कहते हैं। समाज-कल्याण के अन्तर्गत उन सामूहिक प्रयत्न या कार्यों का समावेश होता है जिनका उद्देश्य समाज या समाज के सदस्यों का कल्याण करना है ताकि सामाजिक प्रगति के विषय में वे सदस्य भी अपना अपना अनुदान दे सकें। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि समाज में कुछ ऐसे वर्ग या समुदाय होते हैं जिनकी दशा पिछड़ी हुई होती है या वे दुर्बल होते हैं या कुछ विशेष समस्याओं या निर्योग्यताओं (disabilities) से इस प्रकार घिरे रहते हैं कि वे समाज की प्रगति में सक्रिय भाग नहीं ले पाते हैं, जिसके फलस्वरूप सामाजिक प्रगति की गति में बाधा प्राप्त होती है। साथ ही, इन पिछड़े या दुर्बल वर्गों के लिये यह सम्भव नहीं होता कि बिना किसी दूसरे की सहायता के वे अपनी दशा को स्वयं सुधार लें। अतः आवश्यकता इस बात की है होती कि व्यवस्थित ढंग से या व्यवस्थित संस्थाओं के माध्यम से इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्न किये जायें जिससे उन दुर्बल या पिछड़े वर्गों की दशा सुधरे और उन्हें जीवन का एक स्वस्थ एवं सन्तोषजनक स्तर प्राप्त हो, और वे सामाजिक प्रगति के रास्ते में बाधा की सृष्टि करने के बजाय उसमें अपना महत्वपूर्ण पार्ट अदा कर सकें। यही समाज-कल्याण की अवधारणा (concept) है और यही है इसमें अन्तर्निहित दर्शन। उदाहरण के लिये शारीरिक और मानसिक दृष्टि से असमर्थ (handicapped) लोगों को लीजिए, जैसे अन्धे लोग। इन्हें अगर अन्धा कहकर ही त्याग दिया जाय तो अन्धे लोगों का वर्ग समाज पर एक बोझ बनकर



सदैव के लिए रह जाएगा। पर यदि उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण (occupational Training) देने की व्यवस्था की जाय तो वह बोझ न केवल समाज के सिर से उतर जायेगा, बल्कि उन अर्थों का भी राष्ट्रनिर्माण कार्य में अपना अनुदान होगा। अतः स्पष्ट है कि समाज-कल्याण वे संगठित व्यवस्थित प्रयत्न हैं जिनके द्वारा समाज के विभिन्न दुर्बल तथा पिछड़े समूहों का अधिकतम हित सम्भव होता है और जिसके फलस्वरूप समाज के सभी सदस्यों को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं और स्वयं समाज उन्नत एवं बलशाली बनता है।

समाज-कल्याण की परिभाषा करते हुए श्री वाटर ए० फ्राइडलेण्डर (Water A. Friedlander) ने लिखा है, “समाज-कल्याण सामाजिक सेवाओं तथा संस्थाओं की संगठित व्यवस्था है जिसकी कि व्यक्तियों तथा समूहों को जीवन एवं स्वास्थ्य के सन्तोषप्रद मानदण्डों (standards) को प्राप्त करने में सहायता करने के लिए विकसित किया जाता है। इसका उद्देश्य ऐसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक सम्बन्धों को स्थापित करना होता है जिनके द्वारा भी व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का विकास कर सकें और उनके हितों की अभिवृद्धि (promotion) समुदाय की आवश्यकताओं के साथ मेल खाता हुआ होता रहे।”<sup>14</sup>

श्री हैरी एच० कैसिडी (Harry H. Cassidy) द्वारा प्रस्तुत परिभाषा इस प्रकार है—“समाज-कल्याण उन संगठित क्रियाकलापों (activities) की ओर संकेत करता है जिनका कि सम्बन्ध मुख्यतः तथा प्रत्यक्ष रूप में मानव साधनों (human resources) को नष्ट होने से बचाने, उन्हें संरक्षित करने तथा उनकी उन्नति करने से होता है और जिसके (समाज कल्याण के) अन्तर्गत सामाजिक सहायता, सामाजिक बीमा, बाल-कल्याण, सुधार, मानसिक, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, श्रम सुरक्षा तथा आवास (housing) सम्मिलित होता है।”<sup>15</sup>

सर्व श्री विलसन तथा राइलैण्ड (Wilson and Ryland) के विचारानुसार सब लोगों के लिए सब लोगों के द्वारा एक संगठित संस्था (an organised concern of all people for all people) को समाज-कल्याण कहते हैं।

श्रीमति दुर्गाबाई देशमुख के अनुसार “समाज-कल्याण के विशिष्ट कार्य में समाज के दुर्बल विभागों की सहायता और हितों की रक्षा करने के अतिरिक्त शिशु,

14. “Social welfare is the organised system of social services and institutions, designed to aid individuals and groups to attain satisfying standards of life and health. It aims at personal and social relationships which permit individuals the development of their full capacities and promotion of their will-being in harmony with the needs of the community.” Water A. Friedlander, *Introduction to Social Welfare*, p. 7.

15. Social welfare connotes “those organized activities that are primarily and directly concerned with the conservation, the protection and the improvement of human resources and includes social assistance, social insurance, child welfare, corrections, mental hygiene, public health, education, recreation, labour protection and housing.” Harry H. Cassidy, *Social Security and Reconstruction in Canada*, p. 11.



महिला तथा अपाहिजों, मन्दबुद्धि वाले मनुष्यों तथा इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों के लिए की गई सेवाएँ भी सम्मिलित हैं।”<sup>16</sup>

योजना आयोग (Planning Commission, Govt. of India) ने तीसरी पंचवर्षीय योजना में लिखा है कि समाज-कल्याण कार्य-क्रमों में जनता के कई पीड़ित वर्गों के कल्याण के सम्बन्ध में समाज की चिन्ता सूचित होती है और इन कार्यों में राष्ट्रीय विकास के एक महत्वपूर्ण अंग पर जोर दिया जाता है।<sup>17</sup>

संयुक्त राष्ट्रसंघ के समाज-कल्याण विभाग के अनुसार, “समाज कल्याण का क्षेत्र अभी निश्चितता और एकरूपता को प्राप्त नहीं हो पाया है और इसीलिए स्पष्ट परिभाषा भी नहीं दी जाती है।”<sup>18</sup> परन्तु सामान्यता, जैसा कि उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है, समाज-कल्याण के अन्तर्गत उन तमाम कार्यों और प्रयत्नों का समावेश होता है जिसके द्वारा समाज के सदस्यों या विशिष्ट सामाजिक समूहों को, उनकी सामाजिक स्थिति (social status), जाति, धर्म, राजनीतिक विचार और स्वभाव पर ध्यान न देकर उन्हें मानव या मानव-समूह के रूप में स्वीकार करते हुए ऐसे अवसर सुविधा प्रदान करना है जिससे उनकी क्षमताओं का विकास हो, उनके गौरव, शील और आत्मसम्मान में वृद्धि हो और उसके फलस्वरूप समग्र रूप में सामाजिक प्रगति, एकता व संगठन सम्भव हो। समाज-कल्याण कार्यों के द्वारा समाज के सदस्यों में पनपे हुए हीन भाव (inferiority complex) समाप्त हो जाता है, उनमें स्वयं सहायता की भावना को बल और प्रोत्साहन मिलता है जिससे उनमें आत्म-निर्भरता व आत्म-विश्वास की वृद्धि होती है तथा व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को वहन करने के योग्य हो जाता है जोकि न केवल उसके जीवन को ही सुखी और समृद्धि-शाली बनाता है अपितु स्वयं समाज भी प्रगतिशील और बलशाली बनता है।

समाज-कल्याण की प्रकृति ही ऐसी है कि इसमें हुई प्रगति को मापना मुश्किल है। इसका असली माप तो यही है कि समाज के कितने सदस्य राष्ट्र-निर्माण के कार्य-क्रमों में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेते हैं और अपनी सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के प्रति कितने और किस रूप में जागरूक हैं।

### भारत में समाज-कल्याण कार्य (Social welfare work in India)

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के पूर्व कल्याण-कार्यों का मुख्य उत्तरदायित्व न्यायवेदी ऐच्छिक संस्थाओं पर रहा है। परन्तु आज़ादी के पश्चात् सरकार के द्वारा भी इस क्षेत्र में सक्रिय जिम्मेदारी ले ली गई है। अब सरकार की नीति यह है कि पर्याप्त आर्थिक सहायता के द्वारा सरकार ऐच्छिक समाज-कल्याण संस्थाओं की सहायता करेगी ताकि वे अधिक प्रभावपूर्ण तथा गम्भीरता से काम कर सकें और जहाँ आवश्यक

16. Planning Commission, Govt. of India, *Social Welfare in India*, Preface.

17. “Social Welfare activities express the concern of the community for the welfare of its many vulnerable sections and emphasise an essential value in national development.” *Third Five Year Plan* 1961, p. 716.

18. *Training of Social Work*, 1950, p. 6.



अथक समझी सरकार स्वयं अपनी एजेंसियों के द्वारा कल्याण कार्य-क्रम को कार्यान्वित करेगी। इन दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यद्यपि किसी पृथक् समाज-कल्याण मंत्रि-मण्डल की स्थापना की गई है फिर भी यह कार्य कई मंत्रि-मण्डलों को सौंप दिया गया है और शिक्षा मन्त्रि-मण्डल के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र केन्द्रीय समाज-कल्याण मण्डल की नियुक्ति की गई है। अधिकारों का विकेन्द्रीकरण करने के हेतु और कल्याण कार्य-क्रमों को अधिक प्रभावपूर्ण रूप में क्रियान्वित करने के लिए या विभिन्न राज्यों में राज्य समाज-कल्याण मण्डल बनाये गये हैं। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में समाज-कल्याण सम्बन्धी कार्य-क्रम की नीति, क्षेत्र, सुभाव तथा आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण किया जाता है जिसका कि उद्देश्य अधिकाधिक भारतीयों को सक्षम और कर्मठ बनाना है ताकि समाजवादी ढंग की समाज-व्यवस्था की स्थापना सम्भव हो और संविधान के निर्देशात्मक सिद्धान्तों को मूर्त रूप मिल सके। यह स्वीकार किया गया है कि यह काम पंचवर्षीय योजना की सफलता पर निर्भर है।

योजना आयोग के शब्दों में हम कह सकते हैं कि पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा समाजवादी ढंग की समाज-व्यवस्था, एक अर्थ में, संविधान की राज्यनीति सम्बन्धी निर्देशात्मक सिद्धान्तों का मूर्तरूप है।<sup>19</sup> फलतः भारत के केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा जनता की सुख और समृद्धि के लिए अनेक प्रकार के कल्याण-कार्य किये गये हैं जो निम्नवत् हैं —

### (१) मातृत्व और बाल कल्याण (Maternity and Child welfare)—

माताओं और बालकों का उचित संरक्षण राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मातायें किसी भी देश के भावी नागरिकों की जन्मदात्री हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश भारत में माताओं और बालकों दोनों की ही अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। अतः मातृत्व और शिशु-सम्बन्धी योजनाओं को आधारभूत स्वस्थ सेवाओं में ही स्थान दिया गया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में लगभग २,१०० और मातृत्व कल्याण तथा शिशु स्वास्थ्य केन्द्र खोलने के लिये लगभग ३ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। ये केन्द्र प्राथमिक स्वास्थ्य इकाइयों से जोड़ दिये जाएंगे। वर्तमान समय में मातृत्व और शिशु स्वास्थ्य सेवाओं में सबसे अधिक बाधा शिशु-स्वास्थ्य-विद्या के अभाव के कारण पड़ती है। इसलिए योजना में यह विचार किया गया था कि शिशु-स्वास्थ्य-विद्या के कम-से-कम पाँच प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाएं ताकि डाक्टरों चिकित्सा और विशेषतः निवारणात्मक और आरोग्यमूलक शिशु-स्वास्थ्य-विद्या के लिये प्रशिक्षित व्यक्ति तैयार किये जा सकें। योजना आयोग के अनुसार दूसरी योजना के पूरी होने तक (१९६०-६१) देश में केवल ३१ हजार प्रसाविका या दाइयाँ (midwives) थीं, जबकि आवश्यकता ८० हजार दाइयों की है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक देश में प्रायः ४५०० मातृत्व और बाल

19. The directive principles of state policy in the constitution had indicated the approach in broad terms; the socialist pattern of society is a more concretised expression of this approach. *Ibid.*, p. 24.



कल्याण केन्द्र थे जिनमें से प्रत्येक केन्द्र १० हजार से लेकर २५ हजार लोगों की सेवा के लिए है। इनमें से एक-तिहाई केन्द्र नागरिक क्षेत्रों में हैं। अधिकतर राज्यों में मातृत्व एवं बाल-कल्याण ब्यूरो (Maternity and Child Welfare Bureaux) की स्थापना की गयी है। सन् १९६४ में देश में ६०,२३२ प्रसाविका या दाइयाँ थी; तीसरी योजना के पूरे होने (१९६५-६६) तक यह संख्या बढ़कर ८८.५ हजार हो जाने की आशा की जाती है। साथ ही, मातृत्व तथा बाल-कल्याण केन्द्रों में काम करने वालों को प्रशिक्षित करने की भी व्यवस्था होगी। देश के ग्रामीण गाँवों में मातृत्व और बाल-कल्याण योजनाओं को अधिक विस्तृत करने का विचार है। प्रत्येक योजनाकाल में जच्चा-बच्चा और शिशु-स्वास्थ्य-मण्डलों, शिल्प कक्षाओं-स्त्रियों के लिये सामाजिक शिक्षा और बालवाडियों के माध्यम से बच्चों की देखभाल करने की व्यवस्था की गई है। बाल-कल्याण योजनाओं के लिए तीसरी पंचवर्षीय योजना में 'शिक्षा' के अन्तर्गत ३ करोड़ रुपये की व्यवस्था रखी गई है। इस योजना-काल में केन्द्रीय तथा राज्य समाज-कल्याण मण्डलों के द्वारा महिला मण्डलों को सहायता देने की व्यवस्था है जिससे इन महिला मण्डलों को प्रायः १७०० केन्द्रों में महिलाओं से सम्बन्धित कल्याण-कार्यक्रमों को चलाने में सुविधा हो। उसी प्रकार उपरोक्त समाज कल्याण-मण्डल अपने-अपने क्षेत्र में स्त्रियों के लिये सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करेंगे तथा बालिग स्त्रियों के लिए इस प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था करेंगे जिससे स्त्रियों को नौकरी मिलने में आसानी हो। उसी प्रकार तीसरी योजना में शिशु कल्याण कार्यक्रमों पर काफी जोर दिया गया है। प्रत्येक राज्य और संघीय क्षेत्र में चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, समाज-कल्याण तथा अन्य संस्थाओं द्वारा की जाने वाली सेवाओं में पूर्ण समन्वय के आधार पर कम-से-कम एक अग्रगामी शिशु कल्याण योजना (Pilot Project in Child Welfare) आरम्भ करने का लक्ष्य रखा गया है। यह भी प्रस्ताव रखा गया है कि स्कूलन जावे वाले बच्चों के लिये शिक्षा सम्बन्धी योजना और बाल-सेविकाओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम भी आरम्भ किए जायें। इन प्रस्तावों पर अमल किया जा रहा है।

(२) शारीरिक और मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों का कल्याण (Welfare of the Physically and Mentally Handicapped Persons)—उक्त प्रकार के लोगों को अतिरिक्त सुविधायें उपलब्ध कराने के हेतु दूसरी योजना के अधीन शिक्षा मन्त्रालय (Ministry of Education) ने एक राष्ट्रीय सलाहकार समिति (National Advisory Council for the Education of the Handicapped) की स्थापना की है। इस समिति का कार्य केन्द्रीय सरकार को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों की शिक्षा, प्रशिक्षण (training), नौकरी तथा अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक सुविधाओं को जुटाने के सम्बन्ध में, सलाह देना और इस क्षेत्र में काम करने वाली निजी संस्थाओं की सहायता करना है। इस समय देश में अंधों के लिए ९७ स्कूल, बहरों और गूंगों के लिये ६२, लंगड़े लुत्तों के लिये १५ और मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों के लिए ८ स्कूल हैं। इनमें से अधिकतर सरकारी



सहायता प्राप्त निजी संस्थाएँ (private institutions) हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में ऐसी संस्थाओं में अधिक सुविधाएँ जुटाने का प्रयत्न किया गया था। असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के पुनर्वास (rehabilitation) की व्यवस्था स्वास्थ्य मंत्रालय के द्वारा की गई है। देश में अमृतसर का अंधों का स्कूल सबसे पुराना है। अन्धों के लिए राष्ट्रीय केन्द्र (The National Centre for the Blind) की स्थापना देहरादून में की गई है जोकि अंधों के लिये एक संयुक्त सेवा प्रदान करता है। इस केन्द्र में एक राष्ट्रीय पुस्तकालय भी है जो कि इस केन्द्र के अपने ही प्रेस द्वारा प्रकाशित अन्धों के उपयोगी साहित्य से समृद्ध है। यह पुस्तकालय सारे भारत के अन्धों की पुस्तक सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता है। बालिंग बहुरों के लिए हैदराबाद में एक प्रशिक्षण केन्द्र (Training centre) की स्थापना की गई है। असमर्थ (handicapped) लोगों को उचित नौकरी दिलवाने के लिए विशेष रोजगार दफ्तरों (Special employment exchanges) की स्थापना बम्बई, दिल्ली हैदराबाद तथा मद्रास में की गई है। जनवरी, सन् १९५६ में देहरादून में अन्धों के लिये आदर्श स्कूल (Model school) खोला गया है, जिसमें ८ वीं कक्षा तक शिक्षा देने की व्यवस्था है। शीघ्र ही यह स्कूल एक माध्यमिक स्कूल बन जायेगा। अन्धों के शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिये एक शिक्षण केन्द्र जुलाई, सन् १९६३ में बम्बई में स्थापित किया गया है। आशा है कि सन् १९६६ तक देश में अन्धों के लिये १०७ स्कूल; बहुरों के लिये ६५ स्कूल, प्रौढ़ांध प्रशिक्षण के लिये ४ केन्द्र तथा व्यवसायिक थेरेपी के २४ स्कूल स्थापित हो जायेंगे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् कुछ राज्यों ने वृद्धावस्था की पेंशन योजना चालू की है। उनमें उत्तर प्रदेश सरकार ने सबसे पहला कदम सन् १९५७ में उठाया। उसके बाद आसाम, केरल और पंजाब में भी यह योजना चालू की गई है। उत्तर प्रदेश की वृद्धावस्था की पेंशन योजना (Old Age Pension Scheme, 1957) के अन्तर्गत ७० वर्ष या उससे अधिक आयु के निर्धन और निराश्रित व्यक्तियों को पेंशन देने की व्यवस्था है। पेंशन की राशि प्रति मास १५ रु० निश्चित कर दी गई है।

भारत में मानसिक रोगों के ग्रस्त व्यक्तियों का उपचार करने के लिये कुल २० मानसिक अस्पताल (Mental Hospital) हैं। उसी प्रकार इस समय देश में ६ बाल संरक्षण उपचार केन्द्र हैं। भारत सरकार द्वारा बंगलौर में मानसिक चिकित्सा सम्बन्धी उच्च स्नातक शिक्षण और अन्वेषण की अखिल भारतीय संस्था की स्थापना की गई है। भारत के २० मानसिक अस्पतालों में उल्लेखनीय अस्पताल पूना, रांची, मद्रास और बंगलौर में हैं। इन सभी चिकित्सालयों में कुल रोगी-शय्याओं (beds) की संख्या १५,००० के लगभग है। देश के ६ बाल संरक्षण उपचार केन्द्रों (Child guidance clinics) में शिशु व्यवहार समस्याओं का प्रारम्भिक उपचार किया जाता है जिससे उसका मानसिक सन्तुलन बिलकुल बिगड़ने न पाये। इन ६ केन्द्रों में से ५ बृहत् बम्बई में हैं। मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों के कल्याण का भावी कार्य क्रम इस प्रकार होना है—(१) मानसिक चिकित्सालयों का विस्तार एवं सुधार,



(२) सामान्य अस्पतालों में निरोधात्मक मनोचिकित्सा संस्था और विभाग, (३) मानसिक आरोग्यता विषयक शिक्षा, (४) शिशु संरक्षण उपचार केन्द्रों का विस्तार एवं सुधार और (५) नियोगी वर्ग का प्रशिक्षण तथा अन्वेषण । तीसरी पंचवर्षीय योजना में यह कहा गया है कि शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से असमर्थ और अपा-हिजों के विभिन्न वर्गों के लिये आरम्भ की गई सेवाओं का मूल लक्ष्य उन्हें काम करना सिखाकर और नौकरी पाने में सहायता करके उनका पुनरुद्धार करना होना चाहिये । इनकी सेवाओं को नीचे लिखे तरीकों से और भी विकसित करने का प्रयत्न किया जा रहा है—(क) असमर्थ लोगों को उनके घर पर शिक्षा देने का प्रबन्ध करके; (ख) जो लोग चल-फिर नहीं सकते उनके लिए घर अथवा पड़ोस में काम का प्रबन्ध करके; (ग) असमर्थ वृद्धों और अशक्त लोगों के लिए मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था करके; (घ) विशेष सहायता की व्यवस्था करके ।

(३) विस्थापित व्यक्तियों का पुनर्वास (Rehabilitation of Displaced Persons)—विभाजन (Partition) के बाद राष्ट्र के सामने एक प्रमुख समस्या उन ८९ लाख व्यक्तियों के पुनर्वास की थी जो पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान से बेघर होकर भारत आये थे । इनमें से ४७ लाख व्यक्ति पश्चिमी पाकिस्तान से तथा शेष पूर्वी पाकिस्तान से आये थे । सन् १९४७-४८ और १९६०-६१ के बीच इन विस्था-पितों को सहायता देने तथा अन्य कार्रवाइयों पर १२८ करोड़ रुपये व्यय किये गए हैं । इनके अतिरिक्त इनके पुनर्वास पर दूसरी योजना के अन्त तक २३८.७४ करोड़ रुपये खर्च हुए हैं जिसमें से १३२.९९ करोड़ रुपये पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों पर और १०५.७५ करोड़ रुपये पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापितों पर खर्च हुए हैं । पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों के पुनर्वास का काम मुख्यतः पहली योजना के पूर्व और पहली योजना के दौरान में हुआ । इनके पुनर्वास पर खर्च किए उपरोक्त १३२.९९ करोड़ रुपयों को निम्नलिखित योजनाओं में खर्च किया गया है—(क) शहरी क्षेत्रों के लिये कर्ज १५.१३ करोड़ रु०; (ख) ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कर्ज ९.३० करोड़ रु०; (ग) आवास व्यवस्था (housing) के लिए ६२.६६ करोड़ रु०; (ग) उद्योगों के लिये २.६२ करोड़ रु०; (ङ) पुनर्वास वित्त-प्रशासन (Rehabilitation Finance Administration) द्वारा कर्ज आदि देने के लिये १०.२८ करोड़ रु० और (च) शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिये ३.०० करोड़ रु० । पश्चिमी पाकिस्तान के किसान विस्थापितों को भूमि पर बसाने का काम १९५०-५१ में ही बहुत कुछ पूरा हो गया था । पंजाब में ४,७७,००० भूमि के मालिकों (landholders) को भूमि दी गई तथा ३३,००० अतिरिक्त परिवारों को भूमि पर बसाया गया । अस्थायी तौर पर पंजाब के बाहर भी, विशेषकर राजस्थान में, ५८,००० व्यक्तियों को भूमि प्रदान की गई । ग्रामीण पुनर्वास योजना के अन्तर्गत मकान बनवाने के लिये ऋण देने तथा कृषि के विकास के लिए धन देने का कार्य-क्रम सम्मिलित है जिसमें ९.३ करोड़ रुपये व्यय किये गये हैं । जहाँ तक पश्चिमी पाकिस्तान के उन विस्थापितों का सवाल था जो कि शहर में बसना चाहते थे, उनके लिए इतने मकानों



की आवश्यकता थी जिनमें कि २५ लाख व्यक्ति रह सकें। इनमें से प्रायः आधों को बसाया जा सका। कुल १९ पूर्व विकसित कस्बों तथा १३६ उपनगरों (colonies) का निर्माण किया गया है जिनमें इनके निवासियों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य नागरिक सुविधायें उपलब्ध हैं और जहाँ कि कुल १,५५,००० मकान बनवाये गए हैं। व्यापार तथा उद्योगों को चलाने के लिये पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों को जो ऋण दिये गए हैं उसकी रकम १५.१३ करोड़ रु० है। इसके अतिरिक्त, पुनर्वास वित्त-प्रशासन के द्वारा १०.२८ करोड़ रुपये का ऋण दिया गया है। शिक्षा प्राप्त करने की समस्त सुविधायें पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों के बच्चों को दी गईं तथा १,१०,००० व्यक्तियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण दिये गए।

जहाँ तक कि पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापितों के पुनर्वास का प्रश्न था, दूसरी योजना के अन्त तक उन पर १०५.७५ करोड़ रुपया निम्नलिखित योजनाओं पर व्यय किया गया है— (क) शहरी क्षेत्रों के लिये कर्ज ९.०० करोड़ रुपया; (ख) ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कर्ज २८.७५ करोड़ रुपया; (ग) आवास व्यवस्था (housing) के लिए ३७.७६ करोड़ रुपया; (घ) उद्योगों के लिए ४.२६ करोड़ रुपया; (ङ) पुनर्वास वित्त-प्रशासन द्वारा कर्ज देने के लिए ०.९८ करोड़ रुपया; (च) शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए १५.१२ करोड़ रुपया; (छ) चिकित्सा के लिए २.१३ करोड़ रुपया तथा (ज) दण्डकारण्य परियोजना के लिए ७.७५ करोड़ रुपया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक पूर्वी क्षेत्र में पूर्वी पाकिस्तान के प्रायः ५,००,००० विस्थापित परिवारों को बसाया गया। इनमें ४,००,००० परिवारों को जमीन तथा उससे सम्बन्धित पेशों में बसाया गया। द्वितीय योजना काल में प्रायः १,७०,००० परिवारों को और बसाना था। कुछ ७८,००० परिवारों को ग्रामीण क्षेत्रों में बसाया गया। मकान बनवाने के लिए ३८,००० परिवारों को ऋण दिए गए और अनेक उपनगरों को विकसित किया गया। छोटे तथा बड़े उद्योगों में प्रायः १४,००० व्यक्तियों को नौकरी दी गई; २१ मध्यम तथा बड़े उद्योग संस्थानों की स्थापना की गई। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना में क्रमशः २८,००० तथा २२,८०० व्यक्तियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण दिये गए। अनेक नए स्कूल तथा कालिजों की स्थापना पश्चिमी बंगाल में की गई जिससे विस्थापितों के बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधायें मिल सकें। दण्डकारण्य परियोजना का विकास-कार्य दूसरी योजना में आरम्भ किया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य पश्चिमी बंगाल के कैम्पों में बसने वाले पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापित परिवारों का पुनर्वास है। इसके अलावा इस परियोजना से स्थानीय जनता, विशेष तौर पर आदिवासियों को भी लाभ होगा।

जनवरी सन् १९६४ में जो साम्प्रदायिक गड़बड़ियाँ (communal disturbances) पूर्वी पाकिस्तान में हुईं उनके फलस्वरूप जनवरी से मई सन् १९६४ तक पूर्वी पाकिस्तान से प्रायः ३.८७ लाख शरणार्थी भारतवर्ष में और आये हैं और अब भी उनका आना बन्द नहीं हुआ है। इससे नये तौर पर समस्या अब और गम्भीर हो गई है, अतः राज्य सरकारों को भी पुनर्वास की व्यवस्था करनी पड़ी। महाराष्ट्र



रकार ने १०,००० परिवारों, मध्य प्रदेश २५,००० परिवारों, उड़ीसा ३०,००० परिवारों, आन्ध्र प्रदेश २,०००, बिहार, १,००० तथा मद्रास सरकार ने १,००० परिवारों को बसाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। उत्तर प्रदेश, मैसूर या गुजरात की सरकारें भी इस मामले में सहायता कर रही हैं।

अगर उपरोक्त समस्या नये तौर पर फिर सामने न आती तो विस्थापितों के नर्वास का काम प्रायः समाप्त पर था। जहाँ तक पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों का सम्बन्ध है, तीसरी योजना में उनके लिए आवास योजनाओं की बकाया आवश्यकताओं की पूर्ति तथा शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं के लिये सहायता देने की व्यवस्था की गई है। पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापितों के कार्य-क्रम के अन्तर्गत दो विशेष कार्य किए गए हैं—पहला पश्चिमी बंगाल के कैंम्पों और अन्य केंद्रों में बसे हुए २८,६०० परिवारों का पुनर्वास, और दूसरा, पश्चिम बंगाल में बसने वाले २ लाख अंशतः नर्वासित परिवारों का पुनर्वास। पुनर्वास कार्य अब राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण के विशाल कार्य का एक अंग बनता जा रहा है, विशेषकर उन राज्यों और क्षेत्रों में जिनको ज्यादा जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ी हैं। विकासशील अर्थ-व्यवस्था में अन्तर्गत पुनर्वास और विकास के कार्यों के समन्वय द्वारा विस्थापितों को देश के आर्थिक जीवन का अंग बन जाने में सहायता मिलेगी। प्रायः १८ वर्ष पूर्व पुनर्वास की गई चुनौती एकाएक ही अपने विराट रूप में देश के सम्मुख आयी थी और उस समय से अब तक अनेक गम्भीर परिस्थितियों का सामना हमें करना पड़ा है। फिर भी लाखों विस्थापित व्यक्तियों ने धीरे-धीरे इस देश में अपना स्थान लिया है और उनकी प्रमुख समस्याओं को पुनः सुलझाया भी गया है जिसके फलस्वरूप एक नवीन जीवन की नौव अच्छी तरह और वास्तव में पड़ चुकी है।<sup>20</sup>

(४) पिछड़े वर्गों का कल्याण (Welfare of Backward Classes)—“पिछड़े वर्ग”, यह विशेषण सामान्य रूप से निम्नलिखित चार वर्गों के लिए प्रयोग किया जाता है—(१) अनुसूचित जनजातियाँ (Scheduled tribes) जिनकी संख्या प्रायः २ करोड़ ६६ लाख है, (२) अनुसूचित जातियाँ (Scheduled castes) जो संख्या में प्रायः ६ करोड़ ४५ लाख हैं, (३) भूतपूर्व अपराधी-जनजातियाँ (Excriminal tribes) जिनकी संख्या ४० लाख से कुछ अधिक है और (४) अन्य वर्ग जो सामाजिक और शैक्षणिक (educationally) दृष्टि से पिछड़े हुए हैं।<sup>21</sup> इन पिछड़े वर्गों की उन्नति करके उन्हें समाज के अन्य वर्गों के बराबर स्तर तक लाने के कार्य-

20. “Within the expanding national economy greater integration between rehabilitation and development helps the speedy economic assimilation of displaced persons. Almost 15 years ago, the challenge of rehabilitation came with bewildering suddenness and immensity, and there have been critical moments since. Nevertheless, one by one, in the midst of the travail through which millions have lived and despite short comings, the major problems of the displaced persons are being resolved and the foundation of a new life well and truly laid.” *Third Five Year Plan*, 1961, p. 729.

21. *Census of India*, 1961, pp. IX iv—vii.



क्रम पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजना के मुख्य कार्य-क्रमों में से थे। संविधान के ४६ वें अनुच्छेद में यह निर्देशक सिद्धान्त है कि राज्य जनता के दुर्बलतर वर्गों की, विशेषतः अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों की शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषणों से उनकी रक्षा करेगा।

पंचवर्षीय योजनाओं में पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए ऐसे कार्य-क्रम बनाए गये हैं जिनसे विभिन्न क्षेत्रों के विकास कार्य-क्रमों से होने वाले लाभ इन वर्गों को भी मिलें। सामान्यतः समाज के दुर्बल वर्ग विभिन्न क्षेत्रों में से उचित लाभ प्राप्त नहीं कर पाते। उन्हें यह लाभ मिलें, इसके लिए यह प्रयत्न किया जा रहा है कि जहाँ आवश्यक हो वहाँ दुर्बल वर्गों के लोगों को विशेषतः पिछड़ी जातियों के लोगों को विशेष सहायता दी जाये। पिछड़ी जातियों के कल्याण कार्य के लिए तीसरी योजना में लगभग ११४ करोड़ रुपये की व्यवस्था है, जबकि प्रथम तथा द्वितीय योजना में क्रमशः ३०.०४ करोड़ रुपये तथा ७६.४१ करोड़ रुपये व्यय किये गये थे। तीसरे योजनाकाल में प्रायः ११४ करोड़ रुपये में से ४२ करोड़ रुपये शिक्षा कार्य-क्रमों पर ४७ करोड़ रुपया आर्थिक विकास के कार्यक्रमों पर और २५ करोड़ रु० स्वास्थ्य, मकान तथा अन्य कार्य-क्रमों पर खर्च किया जायेगा।

जहाँ तक अनुसूचित जनजातियों का सम्बन्ध है, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जनजातियों की अवस्थाओं में सुधार के लिये अनेक कल्याण-कार्य केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा हो रहे हैं। बिहार, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में जनजातियों की भाषा, रीतिरिवाज और संस्कृति के अध्ययन के लिये जनजातीय अनुसंधान संस्थायें (Tribal Research Institutes) स्थापित की गई हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान में उनके हितों को सुरक्षित रखने तथा उनके उन्नत बनाने के लिये आवश्यक संरक्षण प्रदान किये गये हैं। पहली पंचवर्षीय योजना में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण कार्य के लिये १६.८३ करोड़ रुपया व्यय किया गया था और दूसरी योजना में ४३ करोड़ रुपया। योजना के अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रों के विकास कार्यक्रम को मोटे तौर पर चार भागों में बाँटा गया है—(क) संचार, (ख) शिक्षा और संस्कृति, (ग) आर्थिक सुधार और (घ) स्वास्थ्य, आवास और जल-व्यवस्था। पहली योजना में आसाम और अन्य राज्यों के जनजातीय क्षेत्रों में सड़कों के विकास पर ६ करोड़ रुपया खर्च किया गया था और प्रायः ४००० स्कूल (आश्रम और सेवाश्रम स्कूल), ३१२ बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ (Multipurpose cooperative societies) और १११ कुटीर-उद्योग केन्द्र खोले गये थे। दूसरी योजना के अन्तर्गत राज्यों की योजनाओं में संचार-सड़क आदि के विकास को प्राथमिकता दी गई है। उसके लिए ६५ करोड़ रु० निश्चित किया गया था। राज्यों ने ३६,६०० एकड़ जमीन का विकास करने, ६,५७० एकड़ वन-भूमि को फिर काम लायक बनाने, खेती के उपकरण और सुथरी नस्ल के बैल वितरित करने, प्रायः ४००० लोगों को कला-कौशल सिखाने और ८२५ कुटीर-उद्योग



केन्द्र खोलने की व्यवस्था की थी। जनजातियों में शिक्षा का विस्तार तेजी से किया जायेगा। स्वास्थ्य-सुविधाओं के कार्य-क्रम में ६०० दवाखानों और चारों दिनों चिकित्सा केन्द्रों की स्थापना की व्यवस्था थी और उन क्षेत्रों में पानी पीने को १५ हजार कुएं बनने थे। इनके घरों की दशा बहुत असंतोषजनक है; इसलिये इनके लिए ४५,८०० मकान भी बनने थे। राज्यों ने १८,८०० मकान बनाने के लिये ६० लाख रु० की व्यवस्था की थी। निर्माण कार्यक्रम पूरा करने के लिये ५६ गृह निर्माण समितियाँ बनाई जायेंगी। दूसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा विशेष बहुधन्धी जनजातीय विकास खण्ड (Multipurpose tribal development blocks) चालू करने की योजना बनाई गई थी। इसकी सामान्य प्रकृति हम लोगों के गाँव में लागू सामुदायिक विकास योजना की ही भाँति है। केवल जनजातीय अवस्थाओं के लिए उसे और अधिक अनुकूल बनाने के हेतु कुछ हेर-फेर किया गया है। उस योजनाकाल में २७ लाख रुपया प्रति खण्ड लागत पर ४३ खण्डों को चालू किया गया था। अब यह प्रस्ताव है कि एक १० वर्षीय योजना में ३०० जनजातीय विकास खण्डों को चालू किया जाय। इनमें से प्रत्येक खण्ड पर ३२ लाख रुपया खर्च होगा और इसका क्षेत्र २०० वर्गमील, तथा २ लाख व्यक्ति होंगे (जिनमें कम से कम ६६.३% जनजातियों के लोग होंगे)।

इस सम्बन्ध में योजना आयोग (Planning Commission) का सुभाव यह है कि 'आदिवासियों (जनजातियों) की संस्कृति और परम्पराओं का समुचित ध्यान रखते हुए और उनकी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और आर्थिक समस्याओं को अच्छी तरह समझ-बूझकर कल्याण-कार्यक्रम बनाए जाने चाहियें। इन्हें लागू करने के लिए लोगों का विश्वास और विशेषतः आदिम जाति के बड़े-बूढ़ों का सहयोग और सद्भाव प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इसलिए सब तरह से कल्याण विस्तार-कार्यकर्ता द्वायसम्भव आदिम जातियों के शिक्षित युवकों में से ही चुने जाने चाहियें।'<sup>22</sup> तीसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में जनजातीय क्षेत्रों के भरपूर विकास का लक्ष्य सामने रखा गया है और उसके लिए ६०.४३ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई है। इस योजना में यह प्रस्ताव है कि कार्य-क्रम बनाते समय आर्थिक विकास के कार्य-क्रमों में स्थानान्तरित खेती करने वाले जनजातीय लोगों के आर्थिक पुनर्वास को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। शिक्षा कार्यक्रमों में मिडिल तथा माध्यमिक कक्षाओं तक मुफ्त शिक्षा, छात्रवृद्धि और छात्राओं की व्यवस्था होनी चाहिए। तकनीकी शिक्षा के लिए भी छात्रवृत्ति और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होनी

22. "Welfare programmes for tribal people have to be based on respect and understanding of their culture and traditions and an appreciation of the social, psychological and economic problems with which they are faced..... In their implementation, the confidence of the people and, in particular, the understanding and goodwill of the elders of the tribal communities are of the highest importance. It is, therefore, necessary that welfare extension workers of all kinds should be found as far as possible from amongst the educated youth in tribal communities". —Second Five Year Plan, *op. cit.*, p. 589.



चाहिये। राज्यों की योजना में आदिम जाति क्षेत्रों में कुटीर उद्योग का विकास करने के अनेक कार्यक्रम हैं। हाल के वर्षों में उन क्षेत्रों में जहाँ आदिम जनजाति के लोग रहते हैं, सिंचाई, बिजली और उद्योगों के विकास की बहुत सी योजनायें शुरू की गई हैं। अनुसूचित क्षेत्र और अनुसूचित जनजाति उपयोग (Scheduled Areas and Scheduled Tribes Commission) अपनी आखिरी रिपोर्ट में जो कुछ भी सुझाव व सिफारिशें देगा; उसके आधार पर बाद में जनजाति के विकास कार्यक्रम पर फिर से विचार किया जायगा।

जनजातियों की भाँति संविधान में हरिजनों (अनुसूचित जातियों) के हितों की रक्षा के लिए कई संरक्षण (safeguards) दिये गए हैं, यद्यपि हरिजन-कल्याण का कार्य मुख्यतः राज्य सरकारों के सुपुर्न है। दूसरी योजना में हरिजन हितकारी कार्यों के लिए २१\*२८ करोड़ रुपया निश्चित किया गया था, जबकि प्रथम योजना में केवल ७\*०८ करोड़ रुपये खर्च हुये थे। दूसरी योजना में २१\*२८ करोड़ रुपए के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित (क) आवास, (ख) पीने के पानी की पूर्ति, (ग) आर्थिक उन्नति और (घ) निजी संस्थाओं को आर्थिक सहायता, इन चार योजनाओं पर ६\*२४ करोड़ रुपया खर्च होना था। इन योजनाओं के अन्त तक प्रायः ३३,४०० कुएं खोदने और ५\*२५ करोड़ रुपए की लागत से प्रायः १,२६,३०० मकान हरिजनों के लिए बनवाने थे। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की योजना के अन्तर्गत १\*७७ करोड़ रुपए से ३,६०० मकान बनने थे। राज्य योजनाओं के अन्तर्गत प्रायः ७,००० हरिजन विद्यार्थियों को विशेष कला-कौशल प्रशिक्षण केन्द्रों में प्रशिक्षित करने की व्यवस्था थी। इस योजना में प्रायः ३० लाख हरिजन विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ (scholarships) और निःशुल्क शिक्षा मिली। शिक्षा मंत्रालय ने भी प्रायः १,०७,००० छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की थी।<sup>23</sup> अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १९५५ के पास हो जाने से छुआ-छूत बरतना पुलिस के हस्तक्षेप योग्य अपराध बन गया है। अनुमान है कि दूसरी योजना काल में अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए २७.६६ करोड़ रु० व्यय किया गया है।

तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए ४०\*४० करोड़ रुपये की व्यवस्था है। राज्यों की योजनाओं में ३० करोड़ रुपये की व्यवस्था है। इसमें से आधी राशि शिक्षा कार्यक्रमों के लिये और शेष आधी में से लगभग बराबर राशि (१) आर्थिक विकास और (२) स्वास्थ्य, मकान तथा अन्य कार्यक्रमों के लिये है। साथ ही साथ तीसरी योजना काल में इस बात का ध्यान रखा गया है कि सामुदायिक विकास योजना, ग्रामीण उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित योजनाओं, भूमिहीन कृषि श्रमिकों के कल्याण के लिये बनाई गई योजनाओं आदि से प्राप्त होने वाले लाभ अधिकाधिक मात्रा में अनुसूचित जातियों को प्राप्त हो सकें। सामान्यता अनुसूचित जातियों के विकास कार्यक्रमों के लिये राज्यों की ही योजना में व्यवस्था की जाती है, लेकिन केन्द्र द्वारा चलाई गई निम्नलिखित योजनाओं के



लिये स्वराष्ट्र मंत्रालय व्यवस्था करता है—(क) गन्दगी आदि उठाने के कामों में लगे हुये लोगों की स्थितियों में सुधार करना, जिसमें सिर पर मैला उठाने की प्रथा को खत्म करना भी सम्मिलित है, (ख) भंगियों को मकान के लिए सहायता देना, (ग) अनुसूचित जातियों को ऐसे लोगों के लिये मकानों के लिए जगह की व्यवस्था करना जो गन्दगी उठाने का काम करते हैं और जो भूमिहीन मजदूर हैं; (घ) मैट्रिक के बाद पढ़ाई के लिए छात्रवृत्तियाँ देना, और (ङ) स्वयंसेवी मस्थाओं को सहायता देना। मकान निर्माण के साधारण कार्य-क्रमों में कृषि मजदूरों, जिनमें अधिकांश अनुपात अनुसूचित जातियों का है, के मकानों के लिए भूमि अधिग्रहण (Acquisition) और विकास के लिए अलग से व्यवस्था है। तीसरी योजना में इस बात पर बल दिया गया है कि इस योजनाकाल में अनुसूचित जातियों को टेक्नीकल तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण देने पर बल दिया जाय जिससे कि विभिन्न नौकरियों में जो स्थान उनके लिए सुरक्षित किये गये हैं, उनमें वे पूरा पूरा फायदा उठा सकें।

भूतपूर्व अपराधी जातियों के कल्याण कार्यक्रम के लिये प्रथम और द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में क्रमशः १.१० और २.८६ करोड़ रुपये व्यय किए गये थे। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इनके कल्याण के लिये ४ करोड़ रुपये की व्यवस्था है। दूसरी पंचवर्षीय योजना काल के अन्त तक प्रायः २५ हजार परिवारों को फिर से बसाने का प्रयत्न किया गया है। सन् १९५२ में अपराधी जन-जाति अधिनियम, १९२४ (Criminal Tribes Act, 1924) के रद्द होने पर अपराधी जातियों के प्रति नीति में बुनियादी परिवर्तन हुआ है। पहले इन पर निगरानी रखने और सजा देने की नीति थी लेकिन अब उन्हें सुधारने, पुनरुद्धार करने और शेष समुदाय में मिलाने की नीति अपनाई गई है। परन्तु इस दिशा में जो कुछ भी किया गया है उसमें बहुत सफलता नहीं मिली है। फिर भी इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इन लोगों में से प्रगतिशील तथा समझदार लोगों की सहायता से इनको बसाने का कार्यक्रम पूरा किया जाये।

(५) मजदूरों का कल्याण (Labour Welfare) —राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में ही नहीं, समस्त देश की उन्नति की दृष्टि से भी औद्योगिक श्रमिकों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद श्रमिक वर्ग को आश्वासन दिया गया है कि उनके अधिकारों को, जिनकी सर्वथा अवहेलना होती आई थी, मान्यता अवश्य प्रदान की जायेगी। अनेक श्रमिक अधिनियमों तथा पंचवर्षीय योजनाओं में इन आश्वासनों को मूर्तरूप देने का प्रयास किया गया है। इस सत्य को स्वीकार करते हुए कि श्रमिकों को जिन दिशाओं में काम करना पड़ता है, वे अत्यन्त असन्तोषजनक हैं और उन्हें सुधारना नितान्त आवश्यक है, सन् १९४८ में पूर्णरूप से संशोधित और परिवर्धित एक कारखाना अधिनियम (The Factory Act of 1948) बनाया गया। इसमें काम के घंटे, सवेतन छुट्टी, बाल तथा स्त्री-श्रमिकों की नियुक्ति तथा श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं कल्याण-कार्य सम्बन्धी विस्तृत नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार के आदेश सन् १९५३ के खान अधिनियम



तथा सन् १९५१ के बगीचा श्रमिक अधिनियम में भी हैं। इसके अतिरिक्त सन् १९४८ के कर्मचारी-राज्य बीमा अधिनियम (Employees' State Insurance Act 1948) और सन् १९५२ के कर्मचारी निर्वाह-निधि अधिनियम (Employees' Provident Fund Act 1952) के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा और कल्याण की जो व्यवस्था की गई है, वह भी प्रशंसनीय है। स्त्री-श्रमिकों को गर्भावस्था और प्रसूति की अवस्था में अनिवार्य छुट्टी तथा इस काल में माता तथा बच्चे के लिए भरण-पोषण सम्बन्धी व्यय और आवश्यक डाक्टरों सहायता की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) पास किए हैं। इन समस्त कल्याण कार्यों और अधिनियमों का विस्तृत विवरण इस पुस्तक के तृतीय खण्ड में किया गया है। केन्द्रीय सरकार द्वारा द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में श्रम और श्रम-कल्याण पर १,२०० लाख रुपये खर्च किए गये थे। तृतीय योजना-काल के लिए इस धनराशि को बढ़ाकर ४,४०० लाख रुपया कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त सरकार ने राजकीय औद्योगिक संस्थाओं में श्रम-कल्याण कोष (Labour Welfare Fund) की स्थापना की है। निजी व्यवसायों में भी 'श्रम ट्रस्ट कोष' (Welfare Trust Fund) की स्थापना करने के लिए सरकार प्रयत्नशील है। कोयला खान श्रम कल्याण कोष से इस समय २ केन्द्रीय अस्पताल, मातृत्व तथा बाल-कल्याण केन्द्र सहित १० क्षेत्रीय अस्पताल, ४ चिकित्सालय तथा ४ टी० बी० क्लीनिक चलाये जा रहे हैं। उसी प्रकार अभ्रक खान श्रमिक कल्याण कोष के अन्तर्गत श्रमिकों को औषधि-चिकित्सा, शिक्षा तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधायें प्रदान की जाती हैं। केन्द्रीय सरकार के साथ-साथ राज्य सरकारों ने भी श्रम-कल्याण कार्यों में अधिकाधिक रुचि ली है। यह काम अधिकतर राज्यों में श्रम-कल्याण केन्द्रों (Labour Welfare Centres) के द्वारा होता है जिनमें श्रमिकों के लिए चिकित्सा, शिक्षा, खेल-कूद तथा मनोरंजन, मनोविनोदात्मक एवं सांस्कृतिक सुविधायें उपलब्ध होती हैं। श्रमिकों के लिए मकानों की व्यवस्था करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में २५ करोड़ रुपए रक्खा गया था। दूसरी योजना काल में 'सहायता प्राप्त औद्योगिक निवास योजना' के अन्तर्गत २४.२ करोड़ रु० तथा गन्दी श्रमिक-वस्तियों (Slums) को हटाने और भंगियों के लिए आवास योजना के अन्तर्गत ९.९ करोड़ रुपया खर्च किया था। तीसरी योजना काल में सहायता प्राप्त औद्योगिक निवास योजना के अन्तर्गत २६.८ करोड़ रुपया तथा गन्दी वस्तियों को हटाने के लिए आवास योजना के अन्तर्गत २८.६ करोड़ रु० व्यय किया जायेगा जिनसे क्रमशः ७३,००० तथा १०,००० मकान बनाए जायेंगे। उसी प्रकार वागान श्रमिकों के लिए आवास योजना पर ०.७ करोड़ रुपया खर्च किया जायेगा।<sup>24</sup>

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय-श्रम-संस्था (Central Labour Institute) का भी कार्य-क्षेत्र बढ़ाया गया है और उसमें औद्योगिक-मनोविज्ञान और औद्योगिक-व्यवसायिक शरीर विज्ञान (Industrial Occupational Physiology) का अध्ययन



करने के विभाग खोले गए हैं। एक फिल्म यूनिट भी स्थापित की गई है ताकि श्रमिकों को दृश्य-श्रव्य (audio visual) साधनों से शिक्षित किया जा सके।

दूसरी योजना काल के अन्त तक देश में १६६ औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाएँ (Industrial Training Institutes) थी जिनमें कि प्रायः ४२ हजार व्यक्तियों को प्रशिक्षण मिल सकता था। तीसरी योजना काल में इन संस्थाओं की संख्या बढ़ाकर ३१८ कर दी जायेगी जिनमें कि ५८ हजार अतिरिक्त व्यक्तियों को प्रशिक्षण प्राप्त हो सकेगा। अन्य प्रकार की शिक्षा की सुविधाएँ भी बढ़ाई जायेंगी। तीसरी योजना काल में १०० रोजगार दफ्तरों को और खोला जायेगा ताकि एक जिले में कम से कम एक रोजगार दफ्तर हो। इस समय देश में प्रायः ४०० रोजगार दफ्तर हैं।

### केन्द्रीय समाज-कल्याण मंडल की योजनाएं

(Schemes of the Central Social Welfare Board)

अगस्त १९५३ में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में स्थानीय केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड एक स्वायत्तशासी संस्था है, जिसके द्वारा योजनाओं के अन्तर्गत सरकार द्वारा उपलब्ध किए जाने वाले कोषों में से समाज-कल्याण सम्बन्धी कार्यों को प्रोत्साहन देने तथा नये कार्यक्रम बनाने के लिये समाज-सेवी संगठनों को आर्थिक सहायता दी जाती है। यह बोर्ड नये कल्याण कार्यों की सम्भावना तथा आवश्यकता के सम्बन्ध में भी छानबीन करने के लिये उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त, सब राज्यों में कल्याण बोर्ड भी बना दिए गये हैं, जिनमें प्रमुख रूप से समाज-सेविकाएँ तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं। अपनी स्थापना के समय से दिसम्बर सन् १९६३ तक बोर्ड ने ७०७ लाख रु० का अनुदान (grants) दिया है। सन् १९६१ के अनुदान देने की योजना का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया है तथा विभिन्न राज्य के मण्डलों को एक निश्चित सीमा तक अनुदान मंजूर करने का अधिकार दे दिया गया है।

१५ अगस्त, १९५४ को उपरोक्त कल्याण बोर्ड के आधीन कल्याण-विस्तार परियोजना (Welfare Extension Project) के नाम से ग्राम कल्याण के लिये एक बड़ी योजना आरम्भ की गई। प्रत्येक परियोजना के अन्तर्गत लगभग २०,००० की जनसंख्या तथा २५ से ३० गाँव आते हैं। इन परियोजनाओं के अन्तर्गत बाल-वाडियाँ, प्रसूतिका और शिशु-स्वास्थ्य केन्द्र, महिलाओं के हित के लिए साक्षरता और समाज-शिक्षा केन्द्र, कला-कौशल केन्द्र तथा मनोरंजन केन्द्र खोलने की व्यवस्था की जाती है। अक्टूबर सन् १९६० के अन्त तक इस प्रकार की ४१८ परियोजनाएँ चालू की गई थीं। इसके अन्तर्गत २०२७ केन्द्र हैं जोकि १०,४९९ गाँवों के ७६.४८% लोगों की सेवा कर रहे थे। सन् १९६१-६२ से इन परियोजनाओं को महिला मण्डलों तथा अन्य स्थानीय ऐच्छिक संस्थाओं को सौंप दिया गया है और उन्हें इस काम के लिए आर्थिक सहायता दे दी जाती है।

शहरी क्षेत्रों के लिये भी कल्याण विस्तार परियोजनाएँ आरम्भ की गई हैं जिसके अन्तर्गत बालवाडियाँ, प्रसूतिका और शिशु-स्वास्थ्य केन्द्र, क्लब, औद्योगिक



परामर्श केन्द्र, स्त्रियों के लिये कला-कौशल के केन्द्र आदि कार्य करते हैं। सन् १९६३ के अन्त तक ६८ ऐच्छिक संस्थाओं को इस काम के लिये ३२.५० लाख रु० का अनुदान दिया गया है। बच्चों के लिये छुट्टियों में पहाड़ आदि में 'अवकाश-गृह' (holiday camps) की भी व्यवस्था की गई है। दिसम्बर सन् १९६३ तक इस प्रकार के ५०५ कैम्प लग चुके हैं जिसके लिये १४.७० लाख रु० का अनुदान दिया गया है। नारी-कल्याण कार्यों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से एक नागरिक परिवार-कल्याण योजना आरम्भ की गई है, जिसके अन्तर्गत चुने हुए नागरिक क्षेत्रों में छोटे पैमाने के उद्योग आरम्भ करने के लिये औद्योगिक सहकारी संस्थाओं का संगठन किया जा रहा है। अनुमान है कि इन उद्योगों में एक स्त्री प्रतिदिन १ रुपये से लेकर डेढ़ रु० तक कमा सकती है। दूसरी योजना के अन्त तक इस प्रकार की २१ इकाइयाँ स्थापित की गई थीं जिससे करीब कई हजार परिवारों को लाभ पहुँच रहा था। देश में अब तक प्रायः १०० उत्पादन-एककों (Production units) की स्थापना की जा चुकी है जिनमें ५००० से भी अधिक स्त्रियाँ तथा असमर्थ व्यक्ति नौकरी करते हैं। तीसरी योजनाकाल के अन्त तक इन एककों (units) की संख्या बढ़कर २६५ हो जाने की आशा है जिनमें प्रायः १२,००० स्त्रियों को नौकरी मिल सकेगी। कुछ बड़े औद्योगिक शहरों में प्रायः ५० संस्थाओं द्वारा रात्रि शरणालय या रैन-बसेरे (night shelters) खोले गये हैं और इस काम के लिए उन संस्थाओं को ५ लाख रु० से भी अधिक की सहायता दी गई है। यह काम अब भारत सेवक समाज की देख-रेख में हो रहा है। कुछ प्रौढ़ महिलाओं (२० से ३५ वर्ष तक की आयु वाली महिलाओं) के लिए संक्षिप्त पाठ्य-क्रमों (condensed course for adult women) की व्यवस्था कर व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा रोजगार के लिए जरूरी, कम-से-कम शिक्षा सम्बन्धी, योग्यता प्राप्त करने में समर्थ बनाया जा रहा है। अब तक प्रायः ६०० पाठ्य-क्रमों (courses) का आयोजन किया गया है जिनमें प्रायः ६,००० स्त्रियों को प्रशिक्षित किया गया है। अनुमान है कि तीसरी योजनाकाल में केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल की योजनाओं में, जिनमें स्वयं-सेवी-संगठनों (voluntary organizations) तथा कल्याण विस्तार योजना-कार्यों को दी जाने वाली सहायता सम्मिलित है, कुल १२ करोड़ रुपये खर्च होगा। वैसे सम्पूर्ण समाज कल्याण कार्य-क्रम के लिए कुल मिलकर २५ करोड़ रुपये की व्यवस्था है जिसमें १६ करोड़ केन्द्र में और ९ करोड़ राज्यों में खर्च होगा। केन्द्रीय तथा राज्य समाज कल्याण मण्डल तीसरी योजना काल में ६००० स्वयं-सेवी संगठनों को अनुदान (grants) देंगी तथा कल्याण विस्तार परियोजनाओं (welfare extension projects) के अन्तर्गत प्रायः १७०० केन्द्रों में कल्याण कार्यों को करने के लिए महिला मण्डलों को भी सहायता (assistance) प्रदान की जायेगी।

### निष्कर्ष

### (Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि राज्य की ओर से जनता के कल्याण, सुख और समृद्धि के लिए बहुत-कुछ किया गया है और किया जा रहा है, लेकिन अब भी



बहुत-कुछ करना है क्योंकि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए ये सब कार्य केवल 'कुछ' के ही समान हैं। समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था या कल्याण-राज्य तब तक नहीं स्थापित हो सकता जब तक सरकारी अधिकारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार दूर न होगा, उनमें सेवा भाव न जागृत होगा, जब तक देश में राजनीतिज्ञ पाटोंबाजी का वर्तमान कटु रूप समाप्त न होगा और जब तक जनता स्वयं सक्रिय होकर अनेक योजना को सफल बनाने में हाथ न बढायेगी। जब तक ये सब न होगा तब तक योजनायें बनती रहेंगी और बांध टूटता रहेगा तथा गरीब जनता अज्ञानता, रोग और निराशा के अन्धकार में दम घुटकर मरती रहेगी। इस परिस्थिति से बचना होगा। इस महादेश की रक्षा करनी होगी। संसार को भारत से कुछ मिला है, अभी बहुत कुछ मिलना है—अपने लिए नहीं, समस्त संसार के लिए भारत की, भारत के प्रत्येक नागरिक की, रक्षा करनी होगी। आज देश का शासन-भार जिन पर है उन्हें इस उत्तरदायित्व को न भूलना चाहिए—और न भूलने मात्र से ही समस्त कल्याण योजनाओं में आधी सफलता तो वैसे ही मिल जायेगी। शेष आधी के लिये हम सबको प्रयत्नशील होना होगा; भारत को कल्याण-राज्य या रामराज्य बनाना होगा—राष्ट्रपति महात्मा गांधी के सपने को पूरा करना ही होगा।

---



प्रेमपाल नगर के एक बड़े कारखाने (factory) में नौकर है। बड़ा अच्छा कारखाना है प्रेमपाल का। कारखाने के मालिक बहुत उदार व्यक्ति हैं। कारखाने में काम करने वाले सभी व्यक्तियों को सेठ जी अपने बच्चों की तरह देखते हैं। उनके रहने के लिये बड़े अच्छे क्वार्टर्स (quarters) बनवा दिये हैं, उनके बच्चों के पढ़ने के लिए स्कूल खुलवा दिये हैं, कारखाने में उनके स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखा जाता है, चिकित्सा के लिये अस्पताल है, खाने के लिये कैण्टीन है तथा स्त्री-श्रमिकों के छोटे बच्चों के लिए शिशु-गृह की भी व्यवस्था है। खेल-कूद के समस्त साधनों को जुटाने का भरसक प्रयत्न करते हैं सेठ जी। सेठ जी के प्रयत्न से ही श्रमिकों के क्वार्टर्स के पास ही एक सरकारी श्रम-कल्याण केन्द्र भी खुल गया है। इसमें एक ऐलोपैथिक चिकित्सालय, स्त्रियों व बच्चों का विभाग, सिलाई कक्षा, कमरे और मैदान के खेल, अखाड़ा, वाचनालय एवं पुस्तकालय, मनोविनोदात्मक एवं सांस्कृतिक सुविधाएं जैसे रेडियो, संगीत कक्षा, रंगारंग कार्यक्रम, नाटक आदि की व्यवस्था है। प्रेमपाल खुश हैं, प्रेमपाल जैसे अनेक श्रमिक खुश हैं, और खुश हैं उनके परिवार के लोग। यह सब श्रम-कल्याण कार्यों का ही चमत्कार है। यह चमत्कार कैसे सम्भव होता है, इसी प्रश्न का उत्तर देगा यह अध्याय।

### श्रम-कल्याण का अर्थ, परिभाषा और क्षेत्र

#### (Meaning, Definition and Scope of Labour Welfare)

‘श्रम-कल्याण’ शब्द अत्यन्त व्यापक और अनेकार्थ बोधक है। इसलिए इसको अनेक प्रकार से परिभाषित किया जाता है। प्रारम्भ में श्रम-कल्याण का आशय श्रमिकों को वेतन के अतिरिक्त मालिकों द्वारा स्वतः दी हुई ऐसी सुविधाओं से था, जिनसे कि श्रमिकों की अवस्था में कुछ उन्नति हो। परन्तु आज श्रम-कल्याण का अर्थ इतना संकुचित न रह कर काफी विस्तृत हो गया है। आज श्रम-कल्याण के अन्तर्गत कारखानों के भीतर और बाहर दोनों ही दशाओं में किए गए उन समस्त कार्यों का समावेश है जिसके द्वारा श्रमिकों की बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक तथा आर्थिक उन्नति सम्भव हो। ये कल्याण कार्य देश, परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।

सामाजिक विज्ञानों के विश्वकोष<sup>1</sup> (*Encyclopaedia of Social Sciences*)

1. Labour welfare implies the voluntary efforts of the employers to establish, within the existing industrial system working and sometimes living



में श्रम-कल्याण की परिभाषा इस प्रकार है—“श्रम-कल्याण से तात्पर्य कानून, औद्योगिक प्रथा और बाजार की दशाओं के अन्तर्गत अवश्य होने वाले कार्यों के अतिरिक्त मालिकों द्वारा वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों के काम करने और कभी-कभी जीवन-निर्वाह करने की उन्नत दशाओं को उपलब्ध करने के ऐच्छिक प्रयत्नों से है।”

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (I. L. O.) की रिपोर्ट के अनुसार, “श्रम-कल्याण से ऐसी सेवाओं, सुविधाओं और आरामों को समझना चाहिए जो कारखानों के अन्दर या निकटवर्ती स्थानों में उपलब्ध हो ताकि उन कारखानों में काम करने वाले श्रमिक स्वस्थ और शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में अपना काम कर सकें तथा अपने स्वास्थ्य और नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने वाली सुविधाओं का लाभ उठा सकें।”<sup>2</sup>

भारत सरकार द्वारा नियुक्त श्रम जाँच समिति (Labour Investigation Committee) ने श्रम कल्याण कार्य क्षेत्र को सम्भवतः सबसे उत्तम ढंग से प्रस्तुत किया है। समिति के अनुसार, “श्रम-कल्याण कार्य के अन्तर्गत साधारणतया कानून के अनुसार होने वाले कार्यों अथवा अनुबंध (Contract) के अनुसार मिलने वाले लाभों के अतिरिक्त श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास के लिए किए गए कार्यों का समावेश होना चाहिए, चाहे ये कार्य मालिकों, सरकार अथवा अन्य किसी भी संस्था द्वारा किए जायें। इस प्रकार इस परिभाषा के अन्तर्गत हम मकानों की व्यवस्था, चिकित्सा एवं शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ, पौष्टिक भोजन, विश्राम एवं मनोरंजन की सुविधाएँ, सहकारी समितियाँ, धातु-गृह एवं शिशु-गृह स्वास्थ्यप्रद स्थान, सेवितन छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, बीमारी एवं मातृत्व लाभ योजनाएं, प्रोवीडेंट फण्ड, पेंशन आदि मालिकों द्वारा ऐच्छिक रूप से स्वयं अकेले अथवा श्रमिकों के सहयोग से किए गए कार्यों को सम्मिलित कर सकते हैं।”<sup>3</sup>

conditions of the employees beyond what is required by law, the custom of the industry and the condition of the market. *Encyclopaedia of Social Sciences* Vol. XV, p. 395.

2. “Workers welfare should be understood as meaning such services, facilities and amenities which may be established in, or in the vicinity of undertakings to enable the persons employed in them to perform their work in healthy, congenial surroundings and provided with amenities conducive to good health and high moral.” *Report II of the I. L. O. Asian Regional Conference*, p. 3.

3. “We prefer to include under welfare activities anything done for the intellectual, physical, moral and economic betterment of the workers, whether by employers; by Government or by other agencies, over and above what is laid down by law or what is normally expected as part of the contractual benefits for which the workers may have bargained. Thus under this definition, we may include housing, medical and educational facilities, nutrition facilities, for rest and recreation, co-operative societies, day nurseries and creches, provision of sanitary accommodation, holiday with pay, social insurance



अतः हम कह सकते हैं कि श्रम-कल्याण के अन्तर्गत उन समस्त कार्यों का समावेश होता है या होना चाहिए जोकि श्रमिकों के सर्वांगीण विकास तथा उन्हें कुशल श्रमजीवी और उत्तम नागरिक बनाने के लिए स्वयं श्रमिकों द्वारा या मालिकों, सरकार अथवा अन्य संस्थाओं द्वारा वैधानिक, पारस्परिक सहयोग या ऐच्छिक आधारों पर कारखानों के अन्दर या बाहर किए जाते हैं।

### श्रम-कल्याण के अन्तर्गत किये जाने वाले कार्य (Activities under Labour Welfare)

श्रम-कल्याण के अन्तर्गत किन कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है उसका संक्षिप्त विवरण उपरोक्त श्रम जाँच समिति के कथन में दिया गया है। उक्त समिति ने श्रम-कल्याण कार्य के क्षेत्र को इतना अधिक व्यापक कर दिया है कि श्रम-कल्याण और सामाजिक सुरक्षा (Social Security) में भ्रम उत्पन्न हो सकता है। श्रम-कल्याण और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में कुछ सीमा तक अन्तर या भेद रखना उचित होगा यद्यपि इनके बीच कोई दृढ़ विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती।

डा० ब्राऊटन (Dr. Broughton) ने श्रम-कल्याण कार्यों को दो भागों में बांटा है—(१) कारखाने के अन्दर (Intra-mural) और (२) कारखाने के बाहर (Extra-mural) किये जाने वाले।

#### (१) कारखाने के अन्दर किये जाने वाले कल्याण-कार्य—

(अ) वैज्ञानिक भर्ती—श्रमिकों की भर्ती के तरीके पर भी उनका कल्याण बहुत कुछ निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में मध्यम्यों द्वारा भर्ती की जो पद्धति है उससे श्रमिकों का अनावश्यक शोषण होता है। भर्ती के वैज्ञानिक ढंग का अनुसरण करने से वास्तविक योग्य या कुशल श्रमिकों की भर्ती सम्भव होगी और उन्हें अपनी कुशलता को बढ़ाने का अवसर प्राप्त होगा।

(ब) औद्योगिक प्रशिक्षण—विज्ञान की शीघ्र उन्नति के साथ-साथ नई-नई मशीनें और कार्य करने की पद्धतियों का भी आविष्कार होता जा रहा है। श्रमिकों को इन समस्त नई चीजों से परिचित रखने के लिये और उनकी कार्यक्षमता को गिरने न देने के लिये यह आवश्यक है कि उनके लिये आधुनिकतम प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

(स) स्वच्छता, प्रकाश तथा वायु का प्रबन्ध—कारखानों में आवश्यकता-नुसार समय-समय पर सफाई और पुताई कराते रहना, आँखों को हानि न पहुँचे इस प्रकार रोशनी की व्यवस्था करना, अधिक गर्मी आदि को कम रखना, शुद्ध वायु के आवागमन की व्यवस्था करना, स्नान-शुद्ध, संडास, पीने के पानी आदि का प्रबन्ध करना।

#### (द) दुर्घटनाओं की रोक-थाम—खतरनाक यन्त्रों से बचाव के लिये 'ग्राइ'

measures, undertaken voluntarily by employers alone or jointly with workers, including sickness and maternity benefits schemes, provident funds, gratuities and pensions, etc." *Report of the Labour Investigation, Committee, p. 345.*



लगाने की व्यवस्था, आग बुझाने का प्रबन्ध आदि भी कारखाने के अन्दर होना चाहिए।

(य) अन्य कार्य—औद्योगिक थकावट को दूर करने की व्यवस्था, काम करने के समय बीच में आराम की व्यवस्था, कैंटीन और शिशु-गृह की सुविधाएं आदि भी कारखाने के अन्दर किये जाने वाले कल्याण-कार्य के अन्तर्गत आते हैं।

(२) कारखाने के बाहर किये जाने वाले कल्याण-कार्य।

(क) शिक्षा का प्रबन्ध—अनेक श्रमिक समस्याओं उनकी अशिक्षा या अज्ञानता के कारण उत्पन्न होती हैं। श्रमिक संगठन, सफाई आदि का महत्व नहीं समझते और मालिक उसी से लाभ उठाकर उनका अनुचित शोषण करते हैं। इस कारण रात्रि पाठशाला आदि खोल कर श्रमिकों को शिक्षित करना आवश्यक है।

(ख) उत्तम निवास व्यवस्था—श्रमिकों के लिये उत्तम मकानों की व्यवस्था न होने पर उनका शारीरिक तथा नैतिक पतन होता है, उनकी कार्य-कुशलता घटती है, वेतन कम हो जाता है, उत्पादन घटता है और इस प्रकार श्रमिक, मालिक और राष्ट्र को अनेक आर्थिक हानि होती है।

(ग) चिकित्सा व्यवस्था—श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर उनके स्वास्थ्य का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस कारण उनके स्वास्थ्य की रक्षा के लिये चिकित्सा सम्बन्धी उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(घ) सस्ते एवं उत्तम भोजन की व्यवस्था—श्रमिकों का स्वास्थ्य खराब होने का एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता है।

(ङ) मनोरंजन की सुविधायें—दिन भर के कठोर परिश्रम के पश्चात् प्रायः सभी श्रमिक थक जाते हैं और उचित मनोरंजन की सुविधाएं उपलब्ध न होने पर वे प्रायः शराब या ताड़ी की दुकानों, जुए के झड्डों या वेदयालयों की ओर आकर्षित होते हैं। इससे उनकी आर्थिक, शारीरिक तथा नैतिक बर्बादी होती है। इस कारण श्रम-कल्याण कार्य के अन्तर्गत भजन-कीर्तन, संगीत, कव्वाली, नाटक, सिनेमा, पुस्तकालय, व्यायाम, खेल-कूद आदि का उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

**श्रम-कल्याण कार्य — किसका उत्तरदायित्व ?**

(Welfare Work — Whose Responsibility)

प्रायः इस प्रश्न को लेकर वाद-विवाद होता है कि श्रम-कल्याण कार्यों को करने का उत्तरदायित्व किसका होना चाहिए। मालिकों का कथन है कि श्रम-कल्याण कार्य उनके ऊपर एक अतिरिक्त बोझ है और इससे उन्हें कोई लाभ नहीं होता। पर यह कथन सच नहीं है। श्रम-कल्याण कार्यों द्वारा श्रमिक की कार्य-कुशलता बढ़ती है और कार्य-कुशलता बढ़ने पर उत्पादन बढ़ता है। उत्पादन बढ़ने से मालिकों को लाभ होगा। साथ ही, जब श्रमिक यह अनुभव करेंगे कि मालिक भी उनके सुख-दुःख का ध्यान रखते हैं तो श्रमिक और मालिक वर्गों में जो मित्रतापूर्ण सम्बन्ध पनपेगा उससे देश में औद्योगिक शान्ति बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त मानवता की दृष्टि से भी मालिकों को श्रम-कल्याण के कार्यों को करने का उत्तरदायित्व अपने



ऊपर लेना चाहिए। जो श्रमिक उनके संरक्षण का कार्य कर रहा है, उनके लिये ही अपना खून-पसीना एक कर रहा है, क्या उन श्रमिकों के सुख, सुविधा, कल्याण और सुरक्षा के प्रति मालिकों को पूर्णतया उदासीन रहना चाहिए? इस कारण मालिकों को भर्ती, प्रशिक्षण, स्वच्छता, प्रकाश तथा वायु, दुर्घटना, कैण्टीन, शिशुमूह आदि से सम्बन्धित श्रम-कल्याण कार्यों को करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए।

परन्तु श्रम-कल्याण कार्य के सम्बन्ध में राज्य का उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। अनेक ऐसे कल्याण कार्य हैं जिन्हें अधिनियमों के अन्तर्गत लाकर उनका मान निश्चित कर देना उचित होगा; जैसे काम करने के घण्टे, बालकों तथा स्त्रियों की भर्ती, स्वच्छता, प्रकाश तथा वायु का प्रबन्ध, दुर्घटनाओं की रोक-थाम आदि। यह उत्तरदायित्व राज्य का ही है। साथ ही, कुछ ऐसे भी कल्याण कार्य हैं (जैसे उत्तम निवास व्यवस्था, शिक्षा और चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं आदि) जिन्हें राज्य ही उचित ढंग से कर सकता है क्योंकि उसके पास इन सब कार्यों को करने के लिये आवश्यक साधन हैं।

परन्तु इतना सब होने पर भी श्रम-कल्याण कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक श्रमिक स्वयं इस सम्बन्ध में जागरूक न होंगे और अपने सक्रिय सहयोग द्वारा प्रत्येक कार्यक्रम को सफल बनाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। उनमें आवश्यक जागृति उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व श्रमिक-संघों (Trade Unions) को अपने ऊपर लेना पड़ेगा।

अतः हम कह सकते हैं कि श्रम-कल्याण कार्यों को करने का उत्तरदायित्व न केवल मालिकों का है और न ही अकेले राज्य या श्रमिक-संघों का। अगर इनमें से किसी एक पर ही यह उत्तरदायित्व लाद दिया गया तो श्रम-कल्याण कार्य केवल कागजों पर आदर्श बना रहेगा, श्रमिकों का वास्तविक कल्याण कदापि न होगा। यह उत्तरदायित्व तो संयुक्त रूप से (अलग-अलग भी नहीं) मालिकों, सरकार और श्रमिक-संघों का है।

### भारत में श्रम-कल्याण कार्य का महत्व

#### (Importance of Labour Welfare Work in India)

इस सत्य को आज सभी स्वीकार करते हैं कि “भारतवर्ष में श्रम-कल्याण कार्य का महत्व और आवश्यकता पाश्चात्य देशों की तुलना में अधिक है।”<sup>14</sup> इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) भारतीय श्रमिकों को संगठित करने के लिये—पश्चिमी देशों में श्रमिक-संघों का संगठन अत्यन्त दृढ़ और विकसित है। इस कारण ये श्रमिक-संघ अपने सदस्यों के कल्याण और हित की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने के योग्य हैं। इस प्रकार वहां के श्रमिक प्रायः पूर्णरूप से आत्म-निर्भर हैं और अपने ही संघों

4. “The importance and need of labour welfare work is greater in India than in the west.”



द्वारा किये गये अनेक कल्याण-कार्यों से लाभ उठाते हैं। परन्तु भारत की स्थिति उल्टी है। यहाँ आज भी श्रमिक संगठित नहीं हैं। जो श्रमिक-संघ देश में कार्य कर रहे हैं उनमें राजनैतिक पेशेवर नेताओं की प्रधानता है जिन्हें चुनाव जीतने की अधिक चिन्ता रहती है। इस दयनीय अवस्था से भारतीय श्रमिकों को विमुक्त करने के लिये श्रम-कल्याण कार्य अधिक सहायक मिद्ध हो सकता है। श्रम-कल्याण कार्य से उनकी कुशलता बढ़ेगी, अज्ञानता दूर होगी, आर्थिक दशा सुधरेगी और श्रमिक अपने पैरों पर सिर ऊँचा करके खड़ा होकर श्रमिक-संघों का नेतृत्व अपने हाथों में ले सकेगा। तभी इस देश के श्रमिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते जायेंगे और उनके साथ-साथ देश भी प्रगति करेगा।

(२) श्रमिकों को शिक्षित करने के लिये—भारत-वर्ष के अधिकांश श्रमिक अशिक्षित हैं। इसका कारण वे अपनी स्थिति तथा अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक नहीं हैं। एक ओर एकता और दृढ़ता का अभाव और दूसरी ओर अज्ञानता के कारण भारतीय श्रमिकों की सोदा करने की शक्ति बहुत कम है। वास्तव में भारतीय श्रमिकों की अधिकांश समस्याओं का एक प्रमुख कारण उनकी अज्ञानता और अनभिज्ञता है। शिक्षा केवल औद्योगिक ज्ञान प्राप्त करने में ही सहायता नहीं देती, वरन् अन्य समस्याओं को समझने और सुलझाने की शक्ति प्रदान करती है। हमारे देश में पेशेवर नेता लोग भोले-भाले श्रमिकों को उल्टा-सीधा समझाकर हड़ताल करवा देते हैं जिसमें श्रमिकों को अपार कष्ट और आर्थिक हानि होती है। श्रम-कल्याण कार्य के अन्तर्गत श्रमिकों को जो शिक्षा मिलेगी उससे उनकी पारिवारिक और आर्थिक अनेक समस्याओं का समाधान सरल हो सकेगा। साथ ही, शिक्षित श्रमिक अच्छे नागरिक भी होंगे। एक लोकतंत्र देश के लिए इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है? उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में श्रमिक वर्ग शिक्षित और संगठित हैं, इसी कारण वहाँ श्रमिक-सरकार (Labour Government) भी सम्भव होती है।

(३) देश में औद्योगिक शक्ति स्थापना के लिए—वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें पूँजीपतियों अर्थात् मालिकों और श्रमिकों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है जिससे कि औद्योगिक अशान्ति की समस्या अत्यन्त गम्भीर हो गई है। इस संघर्ष का एक प्रमुख कारण यह है कि मालिकों द्वारा श्रमिकों का आर्थिक शोषण होता है और श्रमिकों का जीवन दुःख, कष्ट, रोष और ऋण का घर होता है। अतः स्थिति यह है कि श्रमिकों के दिल में यह धारणा दृढ़ हो गई है कि मालिक वर्ग उनके घोर शत्रु हैं। उधर मालिक वर्ग भी अपनी प्रतिरक्षा की तैयारी करते हैं। इस तनाव (Tension) के कारण दोनों पक्षों को ही अपार हानि होती है। इस समस्या का उतना प्रभावशाली हल कानून द्वारा न होगा जितना कि हृदय परिवर्तन द्वारा। यह हृदय परिवर्तन श्रम-कल्याण कार्य के द्वारा हो सकता है। आज अगर मालिक वर्ग श्रमिकों के सुख, सुविधा, कल्याण और सुरक्षा का ध्यान रखें तो वे श्रमिक वर्ग की सहानुभूति और सहयोग सरलता से ही प्राप्त



कर सकते हैं। उस स्थिति में दोनों ही एक दूसरे के सुख-दुःख में अपने को भागीदार समझेंगे और देश में औद्योगिक शान्ति होगी।

(४) श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति, अनुपस्थिति और स्वास्थ्य की समस्याओं के समाधान के लिए—भारतीय श्रमिकों में दृढ़ संगठन के अभाव का एक प्रमुख कारण उनकी प्रवासी प्रवृत्ति है। भारतीय श्रमिक गांव से आता है और अवसर मिलते ही पुनः गांव को लौट जाता है। इस कारण यहाँ स्थायी श्रम-शक्ति का सदा ही अभाव रहा है। पर ऐसा क्यों होता है? ऐसा होता इसलिए है कि गांव से आये हुए इन श्रमिकों के लिए शहर एक “शीत-जगत” (Cold World) सा होता है। शहर में न तो उसे रहने को मकान मिलता है, न ही “अपना” कोई। बीमार पड़ जाने पर या दुर्घटना हो जाने पर इनकी सहायता करने वाला तो दूर रहा इनके साथ सहानुभूति दिखाने वाला भी कोई नहीं होता। इन्हें इतनी कम मजदूरी मिलती है कि खाना-पहनना ही ठीक से नहीं हो पाता, तो अन्य चीजों का कोई क्या सोचे? इन समस्त समस्याओं का समाधान श्रम-कल्याण कार्य में बहुत-कुछ निहित है। श्रम-कल्याण कार्यों के फलस्वरूप श्रमिकों के रहने के लिए अच्छे मकान, खाने के लिये सस्ते एवं उत्तम भोजन और बीमार या दुर्घटना की हालत में दवा और सेवा मिल सकेगी। तब वे खुशी से सपरिवार शहर में रहेंगे, रोज काम पर जायेंगे और अपने और देश के लिये खूब परिश्रम कर सकेंगे।

(५) श्रमिकों के नैतिक पतन को रोकने के लिए—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, दिन भर के कठोर परिश्रम के पश्चात् जब कोई स्वस्थ मनोरंजन का साधन श्रमिकों को उपलब्ध नहीं होता है तो वे प्रायः शराब या ताड़ी की दूकानों, जुए के अड्डों या वेश्यालयों की ओर आकर्षित होते हैं। इससे आर्थिक हानि उन्हें जो कुछ होती है वह तो होती ही है, साथ ही उनका नैतिक स्तर भी बहुत गिर जाता है। श्रम-कल्याण कार्य के अन्तर्गत भजन-कीर्तन, संगीत, कव्वाली, नाटक, सिनेमा, पुस्तकालय, व्यायाम, खेल-कूद आदि की जो व्यवस्था होगी उससे इस समस्या का समाधान हो सकता है।

(६) कार्य करने की दशा को उन्नत करने और दुर्घटनाओं को कम करने के लिये—भारत के अधिकांश उद्योगों में काम करने की दशाएँ असन्तोषजनक हैं और अधिकतर मालिक इस सम्बन्ध में उदासीन हैं। साथ ही, खतरनाक यंत्रों से बचने के लिये आड़ लगा देने तथा अन्य प्रकार से सुरक्षा का प्रबन्ध न रहने के कारण भारत में दुर्घटनाएँ भी बहुत होती हैं। श्रम-कल्याण कार्य के द्वारा स्वच्छता, प्रकाश, वायु, स्नान-गृह, संडास, पीने के लिए स्वच्छ पानी आदि का प्रबन्ध होगा और श्रमिक स्वस्थ और शांतिपूर्ण परिस्थितियों में अपना काम कर सकेगा।

(७) योजनाओं की सिद्धि और देश की समृद्धि के लिये—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत को अनेक आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाना है, इसके लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई जा रही हैं। परन्तु प्रत्येक योजना की सफलता कठोर श्रम पर निर्भर है, अतः श्रमिक ही योजनाओं का आधार है। जब तक श्रम-



कल्याण के विस्तृत कार्यक्रम द्वारा भारतीय श्रमिकों को स्वस्थ, सुखी और सम्पन्न न बना दिया जाएगा तब तक देश का कल्याण कदापि सम्भव नहीं। अतः स्पष्ट है कि योजनाओं की सिद्धि और देश की समृद्धि के लिये भी श्रम-कल्याण कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर, श्रम जाँच समिति के शब्दों में, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि “कैण्टीन की व्यवस्था, जहाँ पर श्रमिकों को सस्ती दरों पर स्वच्छ एवं उत्तम भोजनादि प्राप्त हो सकेगा, उनके स्वास्थ्य में सुधार करेगी, मनोरंजन के साधन उनकी कुप्रवृत्तियों को रोकेंगे, चिकित्सा सुविधा और मातृत्व एवं शिशु-कल्याण कार्य श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों के स्वास्थ्य में सुधार करेगे तथा मृत्यु दर में (विशेषतया शिशु-मृत्यु दर में) कमी करेंगे, शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें उनकी मानसिक योग्यता, कार्य-क्षमता एवं आर्थिक उत्पादन में वृद्धि करेंगी।” अतः भारत में निश्चय ही श्रम-कल्याण कार्यों की महत्ता पश्चिमी देशों से कहीं अधिक है।

कल्याण कार्य में व्यय करने पर अन्त में मालिकों को ही लाभ होगा (Expenses on Welfare Work will in the long Run repay the Employers)—‘श्रम-कल्याण’ शब्द की परिभाषा से स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत हम उन कार्यों को सम्मिलित करते हैं जो कि मालिक या अन्य कोई संस्था श्रमिक के सर्वांगीण विकास के लिए करती है। इन कार्यों को दो भागों में बाँटा जाता है—एक तो वे कार्य जो कि कारखानों के अन्दर किये जाते हैं, और दूसरे वे जो कि कारखाने के बाहर किये जाते हैं। कारखाने के अन्दर होने वाले कल्याण-कार्य का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मालिकों पर होता है। अगर मालिक लोग यह कहें कि इस प्रकार के कल्याण-कार्य में जो धन व्यय होता है वह उनके ऊपर एक अतिरिक्त बोझ है और उनके लिए कुछ भी लाभ का नहीं है, तो उनका यह विचार तर्कयुक्त न होगा क्योंकि कल्याण-कार्य में जो कुछ भी धन वे खर्च करेंगे उससे अन्त में उन्हीं को ही लाभ होगा। अन्तर केवल यह होगा कि लाभ प्रत्यक्ष और तत्काल न होगा, परन्तु लाभ उन्हें अवश्य ही होगा। यह लाभ किस प्रकार होगा यह निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट हो जायेगा।

प्रत्येक मालिक अपने उद्योग की अधिकाधिक उन्नति या विकास चाहता है। परन्तु यह विकास तब तक सम्भव नहीं जब तक उद्योग के क्रियाशील आधार श्रमिकों का पूर्ण और आन्तरिक सहयोग मालिकों को प्राप्त नहीं होता। दुर्भाग्य से आज का श्रमिक अपने मालिकों को शोषक के रूप में देखता है और यह सोचता है कि उसके समस्त दुःख और कष्टों का एक मात्र कारण मालिक वर्ग है। इस कारण मालिकों द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक योजना को श्रमिक सन्देह की दृष्टि से देखता है। इसी सन्देह एवं शंका की भावना के फलस्वरूप श्रमिक मालिकों के साथ सहयोग नहीं करते हैं, पग-पग पर उनका विरोध करते हैं, और उचित ढंग से काम नहीं करते या काम से जी चुराते हैं। इससे मालिकों को हानि होती है और उस हानि को पूरा करने के लिए



वे श्रमिकों के वेतन में कमी करते हैं, बोनस नहीं देते या कुछ श्रमिकों को काम से अलग कर देते हैं। इससे औद्योगिक भगड़े खड़े होते हैं, हड़तालें और तालाबन्दियाँ होती हैं। अन्त में उत्पादन बन्द हो जाता है और मालिकों को काफी हानि होती है। यह एक भयंकर परिस्थिति है कि उद्योग के दो प्रमुख साधन—मालिक और श्रमिक—इस प्रकार एक दूसरे को शत्रु समझते रहें और परस्पर भगड़ते रहे। अतः यदि मालिक श्रम-कल्याण कार्यों को अपनायें और श्रमिक के सुख-दुःख का ध्यान रखते हुए उसके कल्याण के लिए आवश्यक सुविधाओं को जुटायेंगे तो श्रमिकों की भावना बदलेगी, श्रमिकों और मालिकों के बीच की खाई पट सकेगी। इसका फल यह होगा कि श्रमिकों में यह भावना उत्पन्न होगी कि उनका भी उद्योग के प्रति कुछ कर्त्तव्य है और वे काम में अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहेंगे और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने के लिए हृदय से कार्य करेंगे। इस प्रकार उत्पादन बढ़ाने से अन्त में लाभ किसको होगा ? मालिकों को ही।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है और वह यह कि श्रम-कल्याण कार्यों से श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ती है और इसका लाभ भी मालिकों को होता है। कल्याण कार्यक्रम के अन्तर्गत मालिक कैंटीन की व्यवस्था करता है और श्रमिकों को स्वच्छ, उत्तम और सस्ता भोजन मिलता है। इससे उनके स्वास्थ्य में सुधार होगा, स्वास्थ्य अच्छा रहने से वे बीमार कम पड़ेंगे और रोज काम पर उपस्थित हो सकेंगे। अनुपस्थितता (Absenteeism) और श्रम परिवर्तन (Labour turn over) में कमी होने से उत्पादन बढ़ेगा और श्रमिकों को अधिक लाभ होगा। उसी प्रकार चिकित्सा की सुविधायें उपलब्ध होने से भी श्रमिकों के स्वास्थ्य में सुधार होगा, शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें उनकी मानसिक योग्यता और कार्य-कुशलता में वृद्धि करेंगी और उत्पादन में वृद्धि होगी जिससे कि अन्त में मालिकों को ही लाभ होगा। उसी प्रकार मनोरंजन के साधन और उत्तम आवास-व्यवस्था, उनकी बुरी आदतों जैसे शराब पीना, जुआ खेलना, वेदयावृत्ति आदि को नष्ट कर देगी, उनके नैतिक पतन को रोकेंगी और भयंकर रोगों से उनकी रक्षा करेगी। परिणामतः उनकी कार्य क्षमता बढ़ेगी और उनके साथ-साथ उत्पादन की किस्म और मात्रा दोनों में ही वृद्धि होगी। इसका लाभ अन्त में मालिकों को ही होगा।

अतः स्पष्ट है कि श्रम-कल्याण कार्य में लगाया गया धन सचमुच में एक विवेकपूर्ण विनियोग (Wise investment) है, व्यर्थ का व्यय नहीं। इसलिये कहा गया है कि “बुद्धिमत्तापूर्वक आयोजित तथा उदारतापूर्वक प्रशासित कल्याण-कार्य अन्त में मालिकों के लिये ही लाभदायक होगा।”<sup>5</sup>

### भारत में श्रम-कल्याण कार्य (Labour Welfare Work in India)

भारत में श्रम-कल्याण कार्यों का श्रीगणेश सन् १९१४-१८ के महायुद्ध से

5. “Welfare works intelligently conceived and generously administered must in the long run repay the employer.”



हुआ। प्रथम महायुद्ध के समय से ही श्रमिकों में जागृति प्रारम्भ हो गई थी और उन्होंने अपने अधिकारों की माँग करना शुरू कर दिया था। इस प्रकार कुछ देशों में औद्योगिक अशान्ति के कारण तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन द्वारा दबाव डाले जाने पर सरकार एवं मालिकों को श्रम-कल्याण कार्यों में कुछ रुचि लेनी ही पड़ी। उस समय से इस दिशा में उत्तरोत्तर प्रगति होती जा रही है। भारत में किये गये श्रम-कल्याण कार्यों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) सरकार द्वारा किए गए कार्य, (२) उद्योगपतियों द्वारा किये गये कार्य और (३) श्रमिक-संघ द्वारा किये गये कार्य।

केन्द्रीय सरकार द्वारा किये गए श्रम-कल्याण कार्य (Welfare Work undertaken by the Central Govt.):—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत सरकार ने श्रम-कल्याण की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया था परन्तु इस युद्ध के बाद कुछ इस प्रकार की परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ उत्पन्न हुईं जिनके फलस्वरूप सरकार को इस सम्बन्ध में ध्यान देना ही पड़ा। कारखाना अधिनियम, १९४८ (Factories Act, 1948), खान अधिनियम, १९५२ तथा वागान अधिनियम, १९५१ में श्रमिकों के द्वितीय केंपटीन, शिशु-गृह, विश्राम-गृह, मनोरंजन, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। ५०० या उससे अधिक श्रमिकों को काम पर लगाने वाले कारखानों में कल्याण अधिकारी की नियुक्ति आवश्यक कर दी गई है। सन् १९४४ में कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों को चिकित्सा, मनोरंजन, शिक्षा और आवास-व्यवस्था की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए 'कोयला खान श्रम-कल्याण कोष' (Coal Mines Labour Welfare Fund) का निर्माण किया गया। इस कोष से इस समय २ केन्द्रीय अस्पताल, मातृत्व तथा बीमा-कल्याण केन्द्र सहित ८ क्षेत्रीय (regional) अस्पताल, ३ चिकित्सालय, १ टी० बी० क्लीनिक तथा १ टी० बी० अस्पताल चलाये जा रहे हैं। इस कोष से मलेरिया उन्मूलन तथा बी० सी० आन्दोलन, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र, महिला कल्याण केन्द्र, बच्चों के लिए स्कूल और पार्क आदि की भी व्यवस्था की गई है। श्रमिकों के लिए मकान भी बनवाये जाते हैं। इस कोष की आमदनी अनुमानित ४ करोड़ रुपया है। सन् १९६४-६५ में सामान्य कल्याण कार्यों तथा आवास योजनाओं पर लगभग ३.५ करोड़ ६० खर्च किया गया है। इस कोष से चलने वाले कल्याण कार्यक्रमों के अन्तर्गत ही ३ केन्द्रीय उपभोक्ता सहकारी स्टोर तथा लगभग ३५० सहकारी स्टोर अथवा समिति स्थापित किये गये हैं।

सन् १९४६ में सरकार ने 'अन्नक खान श्रम-कल्याण कोष' (Mica Mines Labour Welfare Fund) स्थापित करने के लिए आवश्यक अधिनियम पारित किया। इस कोष के द्वारा श्रमिकों को औषधि-चिकित्सा, शिक्षा तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इस कोष के द्वारा कर्म (बिहार), कालीचिड़ (आन्ध्र-प्रदेश), तिसरी (बिहार) तथा गंगापुर (राजस्थान) में चार अस्पताल स्थापित किए गए हैं। कुछ क्षेत्रों में ११ गतिशील चिकित्सालय भी क्रिया-



शील हैं। इसके अतिरिक्त अनेक चिकित्सालयों, मातृत्व एवं बाल-कल्याण केन्द्र, स्कूल आदि भी स्थापित किए गए हैं। सन् १९६३-६४ में अन्नक उत्पादक राज्यों को जो धनराशि श्रम-कल्याण के लिए दी गई है उनमें से आन्ध्र-प्रदेश को ५.६७ लाख रु०, बिहार को १५.७० लाख रु० तथा राजस्थान को ६.२५ लाख रु० दिए गए हैं।

मोटर ट्रान्सपोर्ट के श्रमिकों के कल्याण के लिए मई १९६१ में एक कानून (The Motor Transport Worker's Act, 1961) पास किया गया है जिसके अन्तर्गत कैण्टीन, विश्राम घर, वर्दी, काम के घण्टे, छुट्टी आदि के सम्बन्ध में श्रमिकों को सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था है। आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, दिल्ली, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल ने इस कानून के अन्तर्गत नियम बनाये हैं। उसी प्रकार कच्चा लोहा खान श्रमिक-कल्याण सम्बन्धी कानून (The Iron Ore Mines Labour Welfare Cess Act 1961) सन् १९६१ में पास किया गया है जो कि जम्मू, काश्मीर, गोवा, दमन और दीव को छोड़कर सारे भारत में १ अक्टूबर सन् १९६३ से लागू कर दिया गया है। बागान श्रमिक अधिनियम, १९५१ (Plantations Labour Act, 1951) के आधार पर बागानों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के हेतु प्रयत्न किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने राजकीय औद्योगिक संस्थानों (Central Government Industrial Undertakings) में श्रम-कल्याण कोष (Labour Welfare Fund) की स्थापना की है। रेलवे में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के हेतु अस्पताल और औषधालय, स्कूल, कैण्टीन, उपभोक्ता सहकारी भण्डार आदि चलाये जाते हैं। इसी प्रकार की सुविधायें डाक-तार विभाग के कर्मचारियों को भी दी जा रही हैं। केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग में भी प्रॉवीडेंट फण्ड, पेन्शन तथा चिकित्सा की सुविधायें प्रदान की जाती हैं।

### उत्तर-प्रदेश में श्रम कल्याण (Labour Welfare in U. P.)

उत्तर-प्रदेश में श्रम-कल्याण योजना का प्रारम्भ सन् १९३७-३८ में श्रमिकों के लिए स्वस्थ आनन्द-प्रमोद की व्यवस्था करने के हेतु किया गया था। तब से इस योजना में उल्लेखनीय प्रगति होती जा रही है। श्रम-कल्याण का काम श्रम-कल्याण केन्द्रों की माफत होता है। इन केन्द्रों का वर्गीकरण उनमें प्राप्त सुविधाओं के आधार पर तीन श्रेणियों 'क', 'ख' और 'ग' में किया गया है। 'क' श्रेणी के श्रम-कल्याण केन्द्रों में ऐलोपैथिक चिकित्सालय, स्त्रियों व बच्चों का विभाग, सिलाई कक्षा, कमरे और मैदान के खेल, जिमनेशियम, अखाड़ा, वाचनालय एवं पुस्तकालय, मनो-विनोदात्मक एवं सांस्कृतिक सुविधाएँ जैसे रेडियो, संगीत कक्षा, रंगारंग कार्यक्रम, नाटक आदि की व्यवस्था होती है। 'ख' श्रेणी के श्रम-कल्याण केन्द्रों में 'क' श्रेणी के केन्द्रों जैसी सुविधाएँ होती हैं, किन्तु उनमें ऐलोपैथिक चिकित्सालय के स्थान पर होम्योपैथिक, आयुर्वेदिक या यूनानी चिकित्सालय होता है। 'ग' श्रेणी का श्रम-कल्याण केन्द्र श्रमिकों के क्लब जैसा होता है जिसमें कमरे व मैदान के खेल, वाचनालय



एवं पुस्तकालय तथा मनोरंजन के अन्य साधनों की व्यवस्था होती है। इस श्रेणी के अधिकांश केन्द्रों में अब आयुर्वेदिक अथवा यूनानी चिकित्सालय की भी व्यवस्था कर दी गई है। इस समय उत्तर-प्रदेश में ३० 'क' श्रेणी के, ३७ 'ख' श्रेणी के, ८ 'ग' श्रेणी के तथा ३ मीसमी श्रम-कल्याण केन्द्र हैं। श्रम-कल्याण केन्द्रों में बालकों, रोगियों एवं दूध पिलाने वाली व गर्भवती स्त्रियों को मुफ्त दूध बाँटा जाता है। उसी प्रकार केन्द्रों में सिलाई व कसीदा कक्षाओं में श्रमिकों की पत्नियों, लड़कियों आदि को नाना प्रकार के काम सिखाये जाते हैं। कानपुर के राजकीय श्रम-कल्याण टी० बी० चिकित्सालय में टी० बी० से पीड़ित श्रमिकों तथा उनके लोगों के लिए मुफ्त चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है। चीनी-मिल मजदूरों के कल्याण के लिए "उत्तर-प्रदेश चीनी एवं चालक मद्यसार उद्योग श्रम-कल्याण तथा विकास निधि" (U. P. Sugar and Power Alcohol Industries Labour Welfare and Development Fund) की स्थापना की गई है। इस समय इस निधि में ५५ लाख रु० के लगभग राशि है। यह राशि आवास, सामान्य कल्याण तथा विकास कार्यक्रमों में खर्च की जाती है। उत्तर-प्रदेश की तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत श्रम-कल्याण कार्य तथा प्रशासन पर ६८.०४ लाख रु० व्यय किया जायेगा। साथ ही, पंजीकृत श्रमिक-संघों को श्रम-कल्याण के कार्यक्रमों को क्रियावित करने के लिए २.७५ लाख रु० आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था है।

**मालिकों द्वारा किए गये कल्याण कार्य (Welfare Work undertaken by the Employers)**—भारत में मालिकों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य बहुत ही कम किये गये हैं क्योंकि अभी तक "अधिकांश उद्योगपति इन कार्यों में किये जाने वाले व्यय को एक उचित विनियोग (Investment) समझने की अपेक्षा व्यर्थ का उत्तर-दायित्व समझते हैं।" फिर भी, इस सम्बन्ध में उनकी रुचि बढ़ती जा रही है और कुछ उदार एवं प्रगतिशील मालिकों ने प्रशंसनीय कार्य भी किये हैं। देश की अधिकांश मिलों में चिकित्सालयों, शिशु-गृहों, कैण्टीन आदि की व्यवस्था है। अनेकों मिलों में भीतरी और बाहरी खेलों, सहकारी समितियों, श्रमिकों तथा उनके बच्चों के लिये स्कूल, प्रॉविडेंट फंड योजना आदि की सुविधाएँ श्रमिकों को प्राप्त हैं। श्रम-कल्याण कार्य की दृष्टि से नागपुर के एम्प्रेस मिल्स, देहली क्लाय एण्ड जनरल मिल्स, बिरला कॉटन मिल्स (देहली), जयाजी राव कॉटन मिल्स (ग्वालियर), बकिंगम एण्ड कर्नाटक मिल्स (मद्रास), इत्यादि ने अत्यन्त ही प्रशंसनीय कार्य किये हैं। जूट उद्योगों के मालिकों की समिति "भारतीय जूट मिल्स संघ" ने कल्याण कार्यों को संगठित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रखा है। इस समिति ने विभिन्न स्थानों पर श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये हैं। इन केन्द्रों में भीतरी एवं बाहरी खेल और मनोरंजन की सुविधाएँ प्राप्त हैं। इस उद्योग की सभी इकाइयों में कैण्टीन तथा चिकित्सा की सुविधाएँ प्राप्त हैं। उसी प्रकार बड़े ऊलन मिलों में भी सुसज्जित, चिकित्सालयों, शिशुगृहों, कैण्टीन आदि की सुविधाएँ प्राप्त हैं। चीनी, कागज, सीमेंट, इन्जीनियरिंग, चाय, खान आदि उद्योगों में भी विभिन्न प्रकार के चिकित्सा सम्बन्धी, शिशुगृह, खेल-कूद, कैण्टीन, स्कूल आदि की सुविधाएँ प्राप्त हैं। खान उद्योग में 'कल्याण कोष' का



निर्माण किया गया है। इस कोष के धन से श्रमिकों को निवास, स्वास्थ्य तथा कल्याण की अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। काटरस तथा सिरसौल में दो टी० बी० अस्पताल खोले गये हैं।

**श्रमिक-संघों द्वारा किए गए कल्याण कार्य (Welfare Work undertaken by Trade Unions)**—धनाभाव के कारण श्रमिक-संघों द्वारा किये गये कल्याण कार्य का क्षेत्र बहुत ही सीमित रहा है। फिर भी कुछ संघों ने जैसे 'अहमदाबाद टेक्सटाइल श्रमिक-संघ' 'मजदूर सभा' कानपुर तथा 'मिल मजदूर-संघ, इन्दौर' ने प्रशंसनीय कार्य किये हैं। इस सम्बन्ध में उक्त अहमदाबाद श्रमिक-संघ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह संघ प्रतिवर्ष अपनी आय का ६० प्रतिशत से ७० प्रतिशत तक अर्थात् प्रायः ४०,००० रुपया कल्याण कार्यों पर व्यय करता है। इस कल्याण-कार्य के अन्तर्गत एकाधिक दिन की तथा रात्रि की पाठशालाएँ, श्रमिकों की लड़कियों के लिए बोर्डिंग हाउस, लड़कों के लिए अध्ययन कक्षा, वाचनालय तथा पुस्तकालय, शारीरिक शिक्षा व समाज केन्द्र, व्यायामशालाएँ आदि बनाई गई हैं। बच्चों के लिए स्कूल तथा बाल-केन्द्र भी खोले गये हैं। श्रमिक बस्तियों में चिकित्सालयों की स्थापना की गई है। एक मातृत्व हित-गृह तथा कर्मचारी सहकारी समिति की भी स्थापना की गई है। कानपुर की 'मजदूर सभा' वाचनालय, पुस्तकालय तथा चिकित्सालय श्रमिकों के हितार्थ चलाती है। उत्तर-प्रदेश में भारतीय श्रम-संघ ने अनेक केन्द्र खोले हैं जिनमें नाना प्रकार के श्रम-कल्याण कार्य किये जाते हैं। इन्दौर के 'मिल मजदूर श्रम-संघ' द्वारा जो श्रम-कल्याण केन्द्र चलाये जाते हैं, उनमें तीन विभागों में श्रम-कल्याण कार्यक्रम बँटा हुआ है— बाल मंदिर, कन्या मंदिर तथा महिला मन्दिर। अन्य श्रमिक-संघों ने अपने सदस्यों के लिये पुस्तकालय, चिकित्सालय, विद्यालय, क्लबों, मातृत्व-गृहों, सहकारी समितियों आदि की व्यवस्था की है।

इसके अतिरिक्त कुछ समाज-सेवी संस्थायें भी श्रम-कल्याण कार्य कर रही हैं। इनमें बम्बई सोशल सर्विस लीग, सेवा सदन सोसायटी, बम्बई प्रेंसीडेन्सी वीमन्स काउन्सिल, वाई० एम० सी० ए० आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं ने श्रमिकों तथा उनके बच्चों के लिये स्कूल, पुस्तकालय, मनोरंजन, सहकारी समिति आदि की व्यवस्था की है। कानपुर, अजमेर, मद्रास और कलकत्ता की नगरपालिकाओं ने भी सहकारी समिति, स्कूल, अस्पताल आदि खोले हैं।

### **तीसरी पंचवर्षीय योजना तथा श्रम-कल्याण व सुरक्षा (Third Five Year Plan and Labour Welfare and Security)**

तीसरी योजना में जो श्रम-नीति अपनाई गई है उसके अन्तर्गत श्रमिकों के लिए उचित वेतन की व्यवस्था करना, मालिकों तथा श्रमिकों के पारस्परिक सम्बन्ध को और भी मित्रतापूर्ण बनाना, उनके लिए अधिक सामाजिक कल्याण सेवाओं की व्यवस्था करना तथा चिकित्सा-सम्बन्धी व रोजगार दफ्तरों की सुविधाओं को जुटाना सम्मिलित है।



श्रमिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत ३० लाख श्रमिक परिवारों के लिए चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार, अस्पतालों में ६,००० रोगी शय्याओं को बढ़ाना, शिल्पकलाओं (Crafts) में प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं में ५८,००० सीटों (seats) की और व्यवस्था करना, मिस्त्रीगरी में प्रशिक्षित करने के लिए १४,००० अतिरिक्त सीटों की व्यवस्था करना तथा रात्रि कक्षाओं में १५,००० श्रमिकों को प्रशिक्षित करने की सुविधा को जुटाना उल्लेखनीय है।

श्रम-नीति के निर्धारण में तीन प्रमुख बातों पर विशेष बल दिया गया है—

(क) आर्थिक विकास पर पर्याप्त बल देने की आवश्यकता, (ख) श्रमिकों के लिए अधिकाधिक रोजगार जुटाने की व्यवस्था तथा (ग) उनके जीवन-स्तर को उन्नत दशा में लाना।

इस योजना काल में संयुक्त प्रबन्धक परिषदों (Joint Management Councils) के विस्तार को अधिक से अधिक बढ़ावा दिया जायेगा। अभी शुरुआत कुछ विशिष्ट औद्योगिक केन्द्रों में ही की जायेगी। उद्देश्य यह है कि श्रमिक भी उद्योग-धन्धों में अपने कार्य और कर्तव्य को समझे और उत्तरदायित्व लेना सीखें।

श्रमिक शिक्षा पर योजना में पर्याप्त बल दिया गया है और यह स्वीकार किया गया है कि शिक्षा के विस्तार के बिना श्रमिक-संघों की सफलता, उत्पादक शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा उद्योग-धन्धों के प्रबन्धक-मण्डली में श्रमिकों का सक्रिय योगदान सम्भव न होगा। इन विषयों में श्रमिकों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था तीसरी योजना में की जायेगी और उनके लिए सामान्य तथा टेक्निकल शिक्षा की अधिकाधिक सुविधायें जुटायी जायेंगी।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना इस समय १०० औद्योगिक केन्द्रों में चल रही है जिससे कि १७ लाख श्रमिकों को लाभ पहुँच रहा है। इस कार्यक्रम को तीसरी योजना काल में उन समस्त औद्योगिक केन्द्रों में विस्तारित कर दिया जायेगा जहाँ ५०० या उससे अधिक श्रमिक निवास करते हैं और इस प्रकार इस बीमा योजना से प्रायः ३० लाख श्रमिक लाभ उठा सकेंगे। श्रमिकों के लिए और नये अस्पतालों व दवाखानों का निर्माण होगा तथा ६,००० रोगी शय्याओं (beds) की और व्यवस्था की जायेगी।

श्रमिकों के हितार्थ निर्वाह निधि योजना (Provident Fund Scheme) को भी उन उद्योगों में लागू किया जायेगा जोकि इसके व्यय-भार को सहन कर सकते हैं। निर्वाह निधि संगठन के द्वारा इस सम्बन्ध में छानबीन की जायेगी।

श्रमिकों के लिए उचित निवास स्थान की व्यवस्था करना इस योजना का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिए योजना में पर्याप्त धन की व्यवस्था की जायेगी। सहायता प्राप्त औद्योगिक निवास के लिए योजना में २६.८ करोड़ रु० की व्यवस्था है जिस से कि ७३,००० मकान बनवाये जायेंगे। उसी प्रकार डॉक (dock) श्रमिकों के लिए मकान बनवाने के लिए २० करोड़ रु० रक्खा गया है। साथ ही, गन्दी बस्तियों को हटाने के लिए भी विस्तृत व्यवस्था योजना में है जिस पर योजनाकाल में २८.६ करोड़ रु० व्यय होगा और इन गन्दी बस्तियों के स्थान पर १,००,००० मकान बन



सकेंगे। बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के लिये जो मकान बनेंगे उन पर ०.७ करोड़ रु० व्यय होगा।

सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रमों को भी अधिक विस्तृत ढंग से लागू किया जाएगा। वे लोग जोकि संगठित उद्योगों में काम नहीं करते हैं, जो लोग शारीरिक दृष्टि से असमर्थ हैं, जो कि बूढ़े हैं तथा स्त्रियों और बच्चों—इन चार वर्गों के लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा का विस्तार तृतीय योजना का एक मुख्य उद्देश्य है।

इसके अतिरिक्त श्रमिकों के प्रशिक्षण के लिये तीसरी योजना में विस्तृत व्यवस्था है। साथ ही, इस योजनाकाल में १०० नये रोजगार दफ्तर (Employment Exchanges) खोले जायेंगे ताकि प्रत्येक जिले में कम से कम एक रोजगार दफ्तर हो जाय।

इसके अतिरिक्त जिन श्रमिकों की नोकरी से छटनी (retrenchment) हो जाती है, उनकी सहायता के लिए भी कुछ व्यवस्था तीसरी योजना में हो सकेगी। यह व्यवस्था अंशदान के आधार (Contributory basis) पर होगी, पर इसके लिये सरकार काफ़ी आर्थिक सहायता देगी।

### निष्कर्ष (Conclusion)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्रम-कल्याण कार्यों के प्रति सरकार, मालिकों तथा श्रमिक-संघों की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और किन्हीं-किन्हीं स्थानों में प्रशंसनीय कार्य भी हुए हैं; फिर भी देश के श्रमिकों की दयनीय दशा तथा उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को देखते हुए अब तक होने वाले श्रम-कल्याण कार्य बहुत ही कम हैं। अतः इस कार्य में सरकार को अधिक धन व्यय करना चाहिए और मिल-मालिकों को तो यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। सरकार और मालिक ये ही दो साधन हैं जिनके पास धन की शक्ति पर्याप्त है और इसलिये उनको ही इस कार्य में आगे बढ़ना होगा। श्रमिक-संघों को भी चुप न बैठना चाहिये बल्कि उन्हें भी अपने साधनों के अनुसार कल्याण कार्यों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही, श्रमिक-संघों को चाहिए कि वे सरकार तथा मिल-मालिकों के सभी कार्यक्रमों में सक्रिय सहयोग प्रदान करें।



जोर से आंधी आयी है और उसके साथ वर्षा भी। आंधी-पानी दोनों ने एक-साथ मिलकर माँ-बेटे को चकाचौंध कर दिया है। माँ को क्या पता था कि आंधे रास्ते पर ही यह आफत आ जायेगी। बेटे को लेकर पास के ही गाँव में कुछ काम से आयी थी माँ। दो गाँवों के बीच बस एक बहुत बड़े मैदान का फासला है। उसी को पार करते समय बीच में ही आंधी और पानी ने आक्रमण किया। माँ चिन्तित हो उठी। बच्चा अगर वर्षा के पानी से भीग गया तो उसे सर्दी लग जाएगी। सर्दी लगना ठीक नहीं है। उसी से क्या मालूम कौन-सी आफत आ टपके। माँ का हृदय बच्चे की कल्याण-चिन्ता में व्याकुल हो उठा। माँ ने अपनी बात सोचना बन्द कर दिया। उसे तो बच्चे की ही हिफाजत करनी है। किसी भी तरह, किसी भी कीमत पर। बच्चे की हिफाजत के बारे में माँ सट्टाबाजी नहीं कर सकती है। इसीलिए माँ ने बच्चे को अपने सीने में लगाकर सुरक्षित कर लिया; अपने प्रांचल को पूरा खोलकर बच्चे को अच्छी तरह लपेट लिया। बच्चे को सुरक्षा मिल गयी। माँ की भाँति समाज भी अपने बच्चों (नागरिकों) के लिए आकस्मिक विपत्तियों (जैसे बेकारी, बीमारी या दुर्घटना की अवस्था, वृद्धावस्था आदि) के अवसर पर सुरक्षा की व्यवस्था करता है। इसी को सामाजिक सुरक्षा कहते हैं। यह अध्याय इसी के विषय में है।

### सामाजिक सुरक्षा की धारणा

#### (The Concept of Social Security)

सामाजिक सुरक्षा की धारणा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि समाज के अधिकांश सदस्यों के जीवन में ऐसी अनेक अवस्थायें या आकस्मिक विपत्तियाँ जैसे (बेकारी की अवस्था, बीमारी या दुर्घटना हो जाने की अवस्था, वृद्धावस्था, माताओं की प्रसूतावस्था आदि) आती हैं जबकि वे अकेले इन अवस्थाओं या विपत्तियों का सामना करने का साधन नहीं जुटा पाते हैं और उन्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। इन अवस्थाओं में अगर उनकी सहायता न की जाय तो उनका शारीरिक तथा नैतिक पतन होने की बहुत सम्भावना होगी। साथ ही, समाज के सदस्य के नाते समाज से उन्हें ऐसी अवस्थाओं में सहायता पाने का एक नैतिक अधिकार भी होता है। इस कारण समाज अपने साधनों को संगठित करके अपने सदस्यों के ऊपर आने वाली विपत्तियों से उनकी रक्षा की कोई संस्थात्मक व्यवस्था करवा दे। यही सामाजिक सुरक्षा है।



उक्त धारणा की और भी स्पष्ट व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office) द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका में इस प्रकार की गई है—“मनुष्य अपने जीवन में दो अवस्थाओं—वचपन और बुढ़ापे में दूसरों पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों अवस्थाओं के बीच में भी कभी-कभी ऐसे अवसर आ जा सकते हैं (जैसे बीमारी, दुर्घटना आदि) जबकि वह अपनी रोटी कमाने में असमर्थ हो जाए। मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति (Instinct) उसे वच्चों के पालन-पोषण करने को प्रेरित करती है, परन्तु प्रकृति ने मनुष्य की अन्य संकटों में उसके भरण-पोषण की कोई व्यवस्था नहीं की। सामाजिक सुरक्षा का ध्येय इन सब संकटों में मनुष्य के भरण-पोषण के लिये परावलम्बी हो जाने की अवस्था में उसकी सहायता करना है।”

सन् १९४२ में सेंटियागो, चाइल (Santiago Chile) में सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में एक सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन में सामाजिक सुरक्षा की धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया गया—“प्रत्येक देश को चाहिए कि वह अपनी सक्रिय पीढ़ी की बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक शक्ति को उत्पन्न करे, सुरक्षित रखे और उसका विकास करे; उसे चाहिये कि वह भावी पीढ़ी के लिए मार्ग तैयार करे तथा उस पीढ़ी को सहारा दे जो उत्पादनशील जीवन को त्याग चुकी है। यही सामाजिक सुरक्षा, अर्थात् मानवीय साधनों और मूल्यों की एक वास्तविक और विवेकपूर्ण मित-व्ययता है।”<sup>1</sup>

परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना होगा कि सामाजिक सुरक्षा एक परिवर्तनशील धारणा है और इसका स्वरूप और क्षेत्र समय की गति के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। उसी प्रकार प्रत्येक समाज अपनी क्षमता या उपलब्ध साधनों के अनुसार अपने सदस्यों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करता है।

### सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा (Definition of Social Security)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (I. L. O.) द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त पुस्तिका में सामाजिक सुरक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, “सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो उपयुक्त संगठन द्वारा समाज अपने सदस्यों के जीवन में आने वाले विभिन्न संकटों में प्रदान करता है।”<sup>2</sup> सर विलियम बेवरीज (Sir William Beveridge) के शब्दों में “सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय पाँच दानों जैसे, अभाव,

1. “Each country must create, conserve and build up the intellectual, moral and physical vigour of its active generation, prepare the way for its future generation and support the generation that has been discharged from productive life. This is social security—a genuine and rational economy of human resources and values.” *First Inter-American Conference on Social Security, 1942,*

2. “Social security is the security that society furnishes through appropriate organization against certain risk to which its members are exposed.” *Approaches to Social Security, I. L. O. Publication, 1953, p. 83.*



बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी के ऊपर आक्रमण है।<sup>3</sup> अतः सामाजिक सुरक्षा को हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो समाज अपनी प्रतिनिधि-संस्था, राज्य के द्वारा अपने सदस्यों को उनके जीवन में आने वाली बेकारी, बीमारी, दुर्घटनाओं, औद्योगिक रोग, मातृत्व, बुढ़ापा, परिवार में जीविका कमाने वाले की मृत्यु आदि आकस्मिक विपत्तियों से उनकी रक्षा करने तथा एक वांछनीय आर्थिक, शारीरिक एवं नैतिक स्तर को बनाए के रखने हेतु प्रदान करता है।

**पाँच दानव और सामाजिक सुरक्षा (Five Giants and Social Security)**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सर विलियम बैवरीज (Sir William Beveridge) ने सामाजिक सुरक्षा की धारणा को पाँच दानव—अभाव, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी से सम्बन्धित कर दिया है। अपनी सामाजिक सुरक्षा की योजना (The Beveridge Plan, 1942) को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था कि सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के मार्ग पर ये पाँच दानव सबसे प्रमुख बाधाएँ हैं, अतः सामाजिक सुरक्षा इन्हीं पाँच दानवों पर आक्रमण करने का एक प्रयत्न होना चाहिये। जब व्यक्ति की इतनी कम आय होती है कि वह अपना तथा अपने आश्रितों का पालन-पोषण नहीं कर पाता है तो नाना प्रकार के अभाव आकर उसे घेर लेते हैं, बीमारी उसके स्वास्थ्य को नष्ट करती है और कुशलता को घटाती है, अज्ञानता उसके बौद्धिक तथा प्राविधिक विकास को रोकती है, गन्दगी उसके स्वास्थ्य और आचार के लिए घातक है और बेकारी उसके जीवन की आर्थिक नींव को तोड़ देती है। सामाजिक सुरक्षा इन समस्त परिस्थितियों से व्यक्ति की रक्षा करने के लिए आयोजित एक संगठित व्यवस्था या प्रयत्न है। इस व्यवस्था के द्वारा हम अभाव, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी नामक पाँच दानवों पर आक्रमण करते हैं। सर बैवरीज के शब्दों में, “अभाव के दानव पर आक्रमण करने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नागरिक को उसकी सेवाओं के बदले में कम-से-कम इतनी आय प्राप्त हो कि वह अपना और अपने आश्रितों का भरण-पोषण कर सके।” “बीमारी के दानव पर आक्रमण करने का तात्पर्य यह है कि नागरिकों के स्वास्थ्य के एक वांछनीय स्तर को बनाये रखने की सुविधायें प्रदान करना तथा सभी प्रकार की बीमारियों से रक्षा के उपाय करना।” “अज्ञानता के दानव पर आक्रमण करने का अभिप्राय यह है कि समाज के सदस्यों के बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अधिक से अधिक शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं को उपलब्ध करना।” “गन्दगी के दानव पर आक्रमण करने का अभिप्राय यह है कि शहरों की अनियोजित और अव्यवस्थित दशाओं से जो दोष उत्पन्न होते हैं उनसे नागरिकों की रक्षा करना।” “बेकारी के दानव पर आक्रमण करने का अभिप्राय यह है कि सभी नागरिकों को रोजगार करने का पर्याप्त अवसर प्रदान करना, जिससे उन्हें वांछनीय आय प्राप्त हो सके।”

3. Social Security is an attack on five giants: namely, Want, Disease, Ignorance, Squabbor and Idleness. —Sir William Beveridge



विभिन्न सामाजिक सुरक्षा योजनाओं द्वारा इन दानवों पर विजय पायी जा सकती है।

### सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र

(Scope of Social Security)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सामाजिक सुरक्षा एक परिवर्तनशील धारणा है। इस कारण इसका कोई स्थिर क्षेत्र निर्धारित करना कठिन है। इसका क्षेत्र विभिन्न देशों में अलग-अलग है और यह आशा है कि कल्याण राज्य (Welfare State) की धारणा जितनी दृढ़ होती जायेगी, सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होगा।

सामान्य रूप से सामाजिक सुरक्षा की योजना में निम्नलिखित विपत्तियों से नागरिकों की सुरक्षा का प्रबन्ध होता है—(१) बीमारी के समय में चिकित्सा का प्रबन्ध तथा बीमारी की अवस्था में कुछ आर्थिक सहायता, (२) काम करते हुए चोट लग जाने पर चिकित्सा का प्रबन्ध तथा चोट ठीक न होने तक आर्थिक सहायता की व्यवस्था। साथ ही, काम करने के दौरान में कोई अंग बेकार हो जाने पर मुआवजा तथा मृत्यु हो जाने पर आश्रितों को पेन्शन देने की व्यवस्था, (३) माताओं के लिए बच्चा पैदा होने से पहले और बच्चा पैदा होने के बाद चिकित्सा और आर्थिक सहायता की व्यवस्था, (४) बेकारी की अवस्था में आर्थिक सहायता की व्यवस्था, (५) प्रत्येक बच्चे के उचित पालन-पोषण के लिए परिवार को आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था, (६) काम से अवसर प्राप्त (Retired) व्यक्तियों के लिए पेन्शन की व्यवस्था और (७) अन्तिम संस्कार (Funeral) व्यय की व्यवस्था।

### भारत में सामाजिक सुरक्षा का महत्व या आवश्यकताएँ

(Importance or Need of Social Security in India)

श्रम-कल्याण कार्य की भाँति सामाजिक सुरक्षा योजना की आवश्यकता पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में कहीं अधिक है। जिन कारणों से कल्याण कार्य की आवश्यकता या महत्व भारत में अधिक है प्रायः उन्हीं कारणों से सामाजिक सुरक्षा का महत्व भी इस देश में अधिक है। इन सामान्य कारणों की विस्तारपूर्वक विवेचना हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ केवल सामाजिक सुरक्षा के कुछ विशेष महत्व की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे—

(१) सामाजिक सुरक्षा निर्धन भारतीय जनता का महान् सहारा होगी—यह सर्व प्रमाणित तथ्य है कि हमारे देश में निर्धनता का बड़ा उग्र रूप है। यहाँ अधिकतर श्रमिक इतना कम वेतन पाते हैं कि उनके जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो पाती। इसलिए कुछ बचाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? दूसरी ओर बचपन और वृद्धावस्था के बीच के जीवन में बीमारी, बेकारी, अस्थायी अयोग्यताएँ, परिवार में रोटी कमाते व्यक्ति की अचानक मृत्यु आदि अनेक विपत्तियों के पहाड़ लोगों पर टूटते रहते हैं, इन अवस्थाओं में उन्हें कोई भी सहारा नहीं रहता जो कि पेट भर खाना, उचित वस्त्र और निवास की भी व्यवस्था



अपनी अति अल्प आय से कर नहीं पाते, उनसे यह आशा करना ही व्यर्थ है कि वे इन विपत्तियों का सामना कर सकेंगे।

(२) जनता को भयंकर रोगों के पंजों से छुड़ाया जा सकेगा—भारतीय जनता को विशेषकर औद्योगिक श्रमिक वर्ग को, मलेरिया, हैजा, प्लेग, टी० बी०, इन्फ्लूएन्जा, कालाज्वर आदि भयंकर रोग सदा घेरे रहते हैं। अनुमान है कि हर साल प्रायः १० करोड़ व्यक्ति मलेरिया से पीड़ित रहते हैं। उसी प्रकार लगभग २५ लाख व्यक्ति टी० बी० से पीड़ित हैं और इनमें से लगभग ५० हजार प्रतिवर्ष मर जाते हैं। भारत में कोढ़ से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या कम-से-कम १० लाख है और कैंसर से प्रतिवर्ष मरने वालों की संख्या कम से कम एक लाख है। इतना ही नहीं, भारत की कुल मृत्यु में से ४२ प्रतिशत मृत्यु केवल १० साल के कम आयु के बच्चों की है और भारत की प्रायः २,५०,००० मातायें प्रतिवर्ष इस संसार से चली जाती हैं। इन समस्त दयनीय अवस्थाओं का एक प्रमुख कारण रोगों का अत्यधिक प्रकोप और निवारण तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव है। इससे श्रम-शक्ति का विनाश तो होता ही है, साथ ही जो व्यक्ति उक्त भयंकर रोगों के शिकार होकर भी मृत्यु के द्वार से लौट आते हैं वे भी इतने क्षीण, दुर्बल तथा अकुशलता हो जाते हैं कि वे केवल घरती का बोझ ही बढ़ाते हैं। देश के अधिकांश लोगों को न तो चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध हैं और न ही उनके पास इसके लिये एक पैसा तक बचता है। जो एक बार बीमार पड़कर रोगी हुआ, उसका पीछा न तो रोग ही छोड़ता है और न ही यह घरती माता, वह जीकर भी मृतवत् होता है। उसका स्वास्थ्य गिरता जाता है और उसी के साथ उसकी कार्य-क्षमता भी। परिणामतः वह और उसके परिवार के सदस्यों को अनेक कष्ट और संकट का सामना करना पड़ता है। सामाजिक सुरक्षा की योजना इस दयनीय परिस्थिति को बदल सकती है।

(३) सामाजिक सुरक्षा दुर्घटना की अवस्था में लाभकारी होगी—श्रमिक और उसके परिवार के लिये वे दिन भी अत्यन्त कष्टकर और कटु होते हैं जब किसी दुर्घटना का शिकार होकर श्रमिक का कोई अंग स्थायी या अस्थायी रूप से बेकार हो जाता है या दुर्घटना के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। इन सभी अवस्थाओं में श्रमिक-परिवार की आय एकाएक वन्द हो जाती है और परिवार के सदस्य बेसहारे हो जाते हैं। सामाजिक सुरक्षा की योजना के द्वारा इस अवस्था में श्रमिक-परिवार को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है।

(४) बेकारी में बर्बादी रुक जायेगी—भारतवर्ष में बेकारी की समस्या भी अति गम्भीर है। देश में लाखों लोग बेकार हैं और उस बेकारी की अवस्था में उन्हें दाने-दाने के लिए तरसना पड़ता है, दर-दर ठोकर खानी पड़ती है। इन अवस्थाओं में कुशल श्रमिक भी क्रमशः अकुशल हो जाते हैं, उनकी कार्य-क्षमता घटती है। सामाजिक सुरक्षा योजना के अन्तर्गत बेकारी की अवस्था में लोगों को कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त हो सकेगी और श्रमिक तथा उसके परिवार के लिए यह सम्भव होगा कि वे एक न्यूनतम जीवन-स्तर को बनाये रख सकें।



(५) अनेक सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न न होंगी—अत्यधिक निर्धनता या अधिक दिन तक बेकारी एक ऐसी अवस्था है जो अनेक सामाजिक बुराइयों को उत्पन्न करती है। उदाहरणार्थ, बेकारी की अवस्था में आर्थिक ही नहीं, मानसिक सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। भूख सब कुछ करवा सकती है और इसीलिए अत्यधिक आर्थिक कठिनाई में पड़कर व्यक्ति भीख माँगता है, बालक और स्त्रियों को काम ढूँढ़ना पड़ता है, अनेक स्त्रियों को शरीर बेचकर रुपया कमाना पड़ता है और अनेक व्यक्तियों के लिए तो केवल चोरी करना ही एकमात्र उपाय रह जाता है। सामाजिक सुरक्षा योजना द्वारा निराश्रयता, भिक्षावृत्ति, बाल तथा स्त्री श्रम, वेश्यावृत्ति, अपराध आदि अनेक सामाजिक बुराइयों पर रोक लग जायेगी।

(६) भावी पीढ़ी का लालन-पालन अधिक उत्तम रूप से होगा—भारतवर्ष में बच्चे का लालन-पालन उचित ढंग से नहीं हो पाता है क्योंकि अधिकतर माता-पिता के पास धन का नितान्त अभाव होता है। सामाजिक सुरक्षा योजना के अन्तर्गत अगर परिवार के प्रत्येक बालक के लिए कुछ आर्थिक सहायता माता-पिता को मिल जायेगी तो बच्चों का उचित प्रकार से लालन-पालन किया जा सकेगा।

(७) वृद्ध जनों के प्रति कर्तव्यों का पालन होगा—आज जो वृद्ध हैं पिछले दिनों वे जवान थे और उस अवस्था में अपनी क्षमता के अनुसार वे समाज या राष्ट्र की सेवा कर रहे थे; अपने परिश्रम से राष्ट्र के पुनर्निर्माण कार्य में हाथ बँटा रहे थे पर आज वे वृद्ध वृद्धता के कारण उत्पादक कार्यों में सक्रिय भाग नहीं ले पा रहे हैं, तो क्या उनके प्रति उस समाज का कोई भी कर्तव्य नहीं है जिस समाज के निर्माण-कार्य में उन्होंने अपना खून-पसीना एक किया था, अवश्य ही है। सामाजिक सुरक्षा योजना इस कर्तव्य के पालन में सहायक होगी।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि सामाजिक सुरक्षा योजना द्वारा बेकारी, बीमारी अभाव, अज्ञानता तथा गन्दगी के पाँच दानव से समाज की रक्षा होगी। श्रमिकों का जीवन अधिक सुखी तथा सम्पन्न होगा और वे औद्योगिक केन्द्रों में स्थायी रूप से बस जायेंगे। सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में मालिकों का भी सहयोग और सहायता होगी, इस कारण मालिकों और श्रमिकों के बीच तनाव (Tension) कम हो जायेगा। सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में श्रमिक का भी अंशदान (Contribution) होगा; इस कारण इसके अन्तर्गत समस्त सुविधायें श्रमिकों को दया की भीख के रूप में नहीं, अधिकार स्वरूप प्राप्त होंगी; इससे श्रमिकों में आत्म-सम्मान की भावना जागृत होगी। इसके अतिरिक्त सामाजिक सुरक्षा सबको समान अवसर प्रदान करती है, सामाजिक विषमताओं को घटाती है और आपस के भेद-भाव को दूर करती है। प्रत्येक को अपनी स्थिति को उन्नत करने का अवसर मिलता है और आत्म-निर्भरता बढ़ती है। अभाव से मुक्ति आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा प्रदान करती है।<sup>4</sup>

4. Social security offers equitable opportunities, reduces social inequalities and encourages the free play of inherent and inradicable differences which exist between one individual and another. Over and above the minimum conditions which social security provides, there would still be immense scope



## सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता (Social Security, Social Insurance and Social Assistance)

सामाजिक सुरक्षा एक व्यापक धारणा है और इसके अन्तर्गत दो महत्वपूर्ण संस्थाओं—सामाजिक सहायता (Social Assistance) और सामाजिक बीमा (Social Insurance)—का विकास हुआ है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक बीमा सामाजिक सुरक्षा का एक अंग मात्र है और इसका प्रमुख उद्देश्य 'अभाव' नामक दानव पर आक्रमण करना है। अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक बीमा राज्य, मालिकों तथा श्रमिकों की वह सहकारी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत बेकारी, बीमारी, मातृत्व, दुर्घटना आदि विपत्तियों के समय बीमा कराये हुए श्रमिकों या उनके परिवार को निश्चित अधिकार के रूप में आर्थिक सहायता, चिकित्सा आदि की सुविधाएँ इस उद्देश्य से प्रदान की जाती हैं कि उनके लिये जीवन के एक न्यूनतम स्तर को बनाये रखना सम्भव हो। सर विलियम बेवरीज (Sir William Beveridge) के अनुसार, "सामाजिक बीमा से अभिप्राय चन्दे के बदले में जीवन-निर्वाह-स्तर तक अधिकार के रूप में और बिना साधनों पर विचार किये हित लाभ प्रदान करना है, ताकि व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक उस पर निर्भर हो सके।"<sup>5</sup>

उपरोक्त विवेचना से सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमे में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है और इसके अन्तर्गत रोजगार, चिकित्सा, आय आदि अनेकों सुरक्षाओं का समावेश रहता है, परन्तु सामाजिक बीमा का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं होता है। इसके अन्तर्गत कार्यक्षमता और स्वास्थ्य आदि को बनाये रखने के लिए कुछ हित-लाभ की ही व्यवस्था रहती है। दूसरे शब्दों में सामाजिक सुरक्षा पाँचों दानवों पर आक्रमण है, जबकि सामाजिक बीमा केवल "अभाव" के दानव पर आक्रमण है। सामाजिक सुरक्षा एक सम्पूर्ण व्यवस्था है, जबकि सामाजिक बीमा उस व्यवस्था के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

सामाजिक सहायता वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत राज्य अपने साधनों (Resources) में से उन श्रमिकों को, जो कुछ शर्तों को पूरा करते हैं, हितलाभ कानूनी अधिकार के रूप में देता है। इस प्रकार सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता में अन्तर स्पष्ट हो जाता है—पहला अन्तर तो यह है कि सामाजिक बीमा श्रमिकों, मालिकों और राज्य तीनों की एक सहकारी व्यवस्था है और उनके सम्मिलित कोष से हितलाभ प्रदान किये जाते हैं, जबकि सामाजिक सहायता पूर्णतया

for individual initiative and voluntary efforts to climb the social ladder and to satisfy individual aspirations. Such a system would not undermine self-reliance nor would security mean comfort devoid of inner dynamic force. Freedom from want would serve as a spring board towards freedom for self-expression." Dr. V. Jagannadham, *Social Insurance in India, 1954*, p. 96.

5. "Social insurance is the giving, in return for contribution, benefits upto subsistence level, as of right and without means test, so that, the individuals may build freely upon it."

—Sir William Beveridge



सरकारी व्यवस्था है और राज्य के खजाने से प्रदान की जाती है। दूसरा अन्तर यह है कि सामाजिक बीमे से हितलाभ उन्हीं को मिलता है जो चन्दा देते हैं, सामाजिक सहायता में इस प्रकार का कोई चन्दा नहीं देना पड़ता, वह सरकारी दान होता है। तीसरा अन्तर यह है कि सामाजिक बीमे में हितलाभ पानेवाले के साधनों या हैसियत पर विचार नहीं किया जाता है, जो भी बीमा कोष में चन्दा देने लगते हैं उन्हीं को हितलाभ मिलता है चाहे उसकी आवश्यकता उसे हो या न हो, परन्तु सामाजिक सहायता केवल उसी को दी जाती है जो कुछ शर्तों को पूरा करते हैं और जिन्हें वास्तव में उसकी आवश्यकता है।

### भारत में सामाजिक सुरक्षा (Social Security in India)

सन् १९२३ में “श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम” (Workmen’s Compensation Act) के द्वारा सर्वप्रथम भारतीय श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान की गई थी। इसके पश्चात् सन् १९२६ में बम्बई सरकार ने “मातृत्व हितलाभ अधिनियम” (Maternity Benefit Act) पास किया। अन्य राज्यों ने भी उसका अनुसरण किया। सन् १९४१ में केन्द्रीय सरकार ने खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिए मातृत्व हितलाभ अधिनियम पास किया। सन् १९४० में अनिवार्य चन्दे द्वारा सामाजिक बीमा योजना चलाने का निश्चय किया गया। इसके लिए प्रोफेसर बी० पी० अदरकर की नियुक्ति की गई। प्रोफेसर अदरकर ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४४ में प्रस्तुत की, जिसके आधार पर अन्त में “कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम” (Employees’ State Insurance Act) सन् १९४८ में पास किया गया। उसी वर्ष एक दूसरा अधिनियम “कोयले की खानों का निर्वाह निधि और बोनस योजना अधिनियम” (Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act) पास हुआ। इसके पश्चात् सन् १९५२ में ‘कर्मचारी निर्वाह निधि अधिनियम’ (Employees’ Provident Fund Act) पास हुआ। इन सामाजिक सुरक्षा अधिनियमों के सम्बन्ध में अब हम अध्ययन करेंगे।

### (१) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen’s Compensation Act)

श्रमिकों के लिए इस अधिनियम की अत्यधिक आवश्यकता इस कारण है कि श्रमिक और उनके परिवार के लिये वे दिन अत्यन्त कष्टकर होते हैं जब किसी दुर्घटना का शिकार होकर श्रमिक का कोई अंग स्थायी या अस्थायी रूप से बेकार हो जाता है या दुर्घटना के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। इन अवस्थाओं में श्रमिक और उसके परिवार को सुरक्षा प्रदान करने के लिए ही भारत सरकार ने सन् १९२३ में “श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम” पास किया था जोकि १ जुलाई सन् १९२४ को लागू किया गया। इसके बाद इस अधिनियम में सन् १९२६, १९२६, १९३३, १९३७, १९३८, १९३९, १९४२, १९४६ तथा १९६२ में संशोधन किये गए। सन् १९६२ में



क महत्वपूर्ण संशोधन यह किया गया कि क्षतिपूर्ति पाने के लिए मजदूरी की अधिक-तम सीमा ४०० रुपये मासिक से बढ़ाकर ५०० रुपये मासिक कर दी गई और इसके लिए क्षतिपूर्ति की दरों को भी संशोधित किया गया।

**अधिनियम का क्षेत्र (Scope of the Act) :**—यह अधिनियम जम्मू व कश्मीर को छोड़कर संपूर्ण भारत पर लागू होता है। यह रेलवे कारखाने तथा शानों में काम करने वाले उन समस्त श्रमिकों पर लागू होता है जिन्हें अल्प समय के लिये काम पर नहीं रखा गया है, जिनका मासिक वेतन ५०० रु० से अधिक नहीं है और जो क्लर्क (Clerk) नहीं हैं। राज्य सरकार इस अधिनियम के क्षेत्र को और भी विस्तृत कर सकती है। मद्रास तथा उत्तर-प्रदेश सरकारों ने इसे मशीन चालने वाली गाड़ियों से माल लादने तथा उतारने वाले श्रमिकों पर भी लागू कर दिया है।

**क्षतिपूर्ति का अधिकार (Title to Compensation) :**—काम करने के दौरान में चोट लग जाने से या दुर्घटना हो जाने की स्थिति में श्रमिक को क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार होगा। यदि कोई चोट सात दिन या इससे कम समय में ठीक हो जाती है, या, यदि दुर्घटना श्रमिक की अपनी गलती के कारण [जैसे नशे में होने के कारण या औद्योगिक सुरक्षा निर्देशों (Safety instructions) का पालन न करने के कारण] हुई हो तो मालिक कोई हर्जाना देने को बाध्य नहीं। दुर्घटना के कारण मृत्यु हो जाने पर मालिक को हर हालत में हर्जाना देना होगा। इसके अतिरिक्त कुछ व्यावसायिक रोगों (Occupational diseases) में भी क्षतिपूर्ति की व्यवस्था इस अधिनियम में है। जिन श्रमिकों को कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार है उन पर यह अधिनियम लागू न होगा।

**क्षतिपूर्ति की रकम (Amount of Compensation)**—कितनी क्षतिपूर्ति मिलेगी यह चोट के प्रकार तथा श्रमिक की मासिक मजदूरी पर निर्भर करेगा। इसके लिए चोट को तीन भागों में बांटा गया है—(क) ऐसी चोट जिसके फल-स्वरूप मृत्यु हो जाए, (ख) ऐसी चोट जिससे श्रमिक का कोई अंग स्थायी रूप से बेकार हो जाये और (ग) ऐसी चोट जिससे कोई अंग अस्थायी रूप से बेकार हो जाय। प्रौढ़ श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर उसके मासिक वेतन के अनुसार ५०० रु० लेकर ४,५०० रु० तक हर्जाना दिया जाता है। कोई अंग स्थायी रूप से बेकार हो जाने पर ७०० रु० से लेकर ६,३०० रु० तक हर्जाना दिया जाता है। बाल-श्रमिक के लिए मृत्यु हो जाने पर २०० रु० हर्जाना दिया जाता है। कोई अंग स्थायी रूप से बेकार हो जाने पर बच्चों को भी प्रौढ़ों के समान ही क्षतिपूर्ति मिलेगी। कोई अंग स्थायी रूप से बेकार होने पर अधिक से अधिक क्षतिपूर्ति ३० रु० मिलेगी। मृत्यु हो जाने पर क्षतिपूर्ति की रकम आश्रितों को मिलेगी।

**प्रशासन (Administration)**—प्रशासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व राज्य सरकार द्वारा नियुक्त कमिश्नर पर होगा जिससे कि सभी दुर्घटनाओं की सूचना मालिक को देनी होगी। भगड़े का निपटारा भी वही करेगा। क्षतिपूर्ति देने के लिए



जो धन की आवश्यकता होगी वह मालिक लोग देंगे।

**आलोचना (Criticism)**—यह अधिनियम श्रमिकों के लिए एक बहुत ही सन्तोष की वस्तु है और उनकी एक भारी आवश्यकता की पूर्ति करता है। फिर भी इसमें कुछ दोष हैं (१) इस अधिनियम का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अनेक व्यवसाय जैसे अनियन्त्रित कारखाने, कृषि, घरेलू उद्योग आदि इसके अन्तर्गत नहीं आते हैं। (२) इसमें क्षतिपूर्ति की रकम एक साथ दे दी जाती है जिसे कि अधिकतर श्रमिक या उसके परिवार के लोग शीघ्र ही खर्च कर डालते हैं। यह रकम मासिक पेन्शन के रूप में देने से श्रमिकों को अधिक लाभ होगा। (३) मालिक क्षतिपूर्ति देने से बचने का भरसक प्रयत्न करते हैं। श्रमिकों को यह कह कर धमकाया जाता है कि अगर वे हर्जाना मांगेंगे तो उन्हें काम से निकाल दिया जायेगा। कभी-कभी बहुत ही कम रकम देकर उनसे हर्जाने की पूरी रकम पाने की रसीद लिखवा ली जाती है। (४) अधिकांश श्रमिक अनपढ़ होने के कारण उन्हें यह भी नहीं मालूम रहता है कि उन्हें हर्जाना मिलने का अधिकार है भी या नहीं, और यदि है तो कितना हर्जाना मिलेगा। (५) इस अधिनियम में चिकित्सा सम्बन्धी कोई भी सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था नहीं है। (६) अधिकतर श्रमिक इतने गरीब होते हैं कि मालिक द्वारा हर्जाना से इन्कार करने पर कानूनी कार्यवाही करने तक की उनकी क्षमता नहीं होती है।

**सुझाव (Suggestions)**—उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिये सर्वप्रथम प्रशासन सम्बन्धी दोषों को दूर करना होगा ताकि मालिक क्षतिपूर्ति करने के उत्तरदायित्व से न बच सकें। क्षतिपूर्ति की रकम मासिक पेन्शन के रूप में दी जाय और इसे श्रमिकों को वांटने का काम कमिश्नर के द्वारा हो। साथ ही, क्षतिपूर्ति की रकम देने में देर न की जाय। श्रमिक-संघों को चाहिये कि वे श्रमिकों को अधिनियम के सम्बन्ध में अविकाधिक जानकारी करवायें और मालिक के हर्जाना देने से इन्कार करने पर उचित कानूनी कार्यवाही करने में श्रमिकों की सहायता करें।

## (२) मातृत्व हितलाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act)

भारत में अधिकांश स्त्री-श्रमिक विवाहिता हैं परन्तु निर्धनता, अज्ञानता तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव के कारण बच्चा पैदा होने के समय या बाद में अनेक माताओं की मृत्यु हो जाती है। ऐसा अनुमान है कि पैदा होने वाले प्रत्येक हजार बच्चों पर २५ माताओं की मृत्यु होती है। इस प्रकार प्रतिवर्ष २,५०,७०० माताओं की मृत्यु होती है। इसका कारण यही है कि अधिकतर माताओं को बच्चा होने से पहले और बाद को आराम नहीं मिलता और नही उचित भोजन और चिकित्सा की कोई सुविधा उनके लिए उपलब्ध है। स्त्री-श्रमिकों के लिए बच्चा पैदा होने के पहले और बाद को आराम, उचित भोजन और चिकित्सा की व्यवस्था करने के लिए ही सन् १९२६ में बम्बई सरकार ने सब पहले “मातृत्व हितलाभ अधि-



नियम" पास किया। इसके बाद सन् १९३० में मध्य-प्रदेश, सन् १९३१ में मद्रास, सन् १९३८ में उत्तर-प्रदेश, सन् १९३९ में बंगाल, सन् १९४३ में पंजाब, सन् १९४४ में बिहार, सन् १९४२ में द्रावतकोर-कोचीन तथा सन् १९४३ में उड़ीसा व राजस्थान सरकार ने मातृत्व हितलाभ अधिनियम पास किये। केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४१ में खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिए मातृत्व हितलाभ अधिनियम बनाया। सन् १९४८ के कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत भी मातृत्व हितलाभ देने की व्यवस्था है। मातृत्व हितलाभ के सम्बन्ध में एक-समान मान-दण्ड (uniform standard) लागू करने के लिए मातृत्व हित लाभ अधिनियम, १९६१ (The Maternity Benefit Act, 1961) पारित किया गया है। यह प्रारम्भ में समस्त ऐसे कारखानों, खानों तथा बगानों पर लागू होता है जो कि 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम' न अन्तर्गत नहीं आते हैं। नवम्बर सन् १९६३ से इस कानून को खानों पर लागू कर दिया गया है। खानों को छोड़ कर अन्य संस्थानों (establishments) में इसका प्रशासन राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है। अभी तक केरल, आन्ध्र-प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल की सरकारों ने इस कानून को अन्य संस्थानों में लागू किया है। राज्य सरकारों द्वारा पारित मातृत्व हितलाभ अधिनियमों का क्षेत्र, हितलाभ की दरें, हितलाभ पाने की शर्तें भिन्न-भिन्न प्राप्ति में अलग-अलग हैं जैसा कि निम्नलिखित विश्लेषण से स्पष्ट होगा।

**अधिनियमों का क्षेत्र (Scope of the Acts)**—वर्तमान मध्य-प्रदेश, आसाम, मैसूर, पंजाब, राजस्थान आदि कुछ राज्यों के अधिनियम सभी नियन्त्रित उद्योगों में लागू होते हैं। आसाम और द्रावतकोर-कोचीन के अधिनियम के अन्तर्गत बागानों में काम करने वाली सभी स्त्री-श्रमिक आती हैं। केन्द्रीय मातृत्व अधिनियम खान में काम करने वाले सभी स्त्री-श्रमिकों पर लागू होता है।

**योग्यता काल (Qualifying Period)**—स्त्री-श्रमिकों को कुछ दिन काम करने के पश्चात् ही हितलाभ पाने का अधिकार होता है। यह अवधि प्रत्येक राज्य में अलग-अलग है। उदाहरणार्थ आसाम, द्रावत-कोचीन तथा पश्चिमी बंगाल में १५० दिन काम करने के पश्चात्, बिहार उड़ीसा तथा उत्तर-प्रदेश में ६ महीने, आन्ध्र और मद्रास में २४० दिन, राजस्थान में ७ महीने काम करने के पश्चात् ही कोई स्त्री-श्रमिक हितलाभ प्राप्त कर सकती है। शेष सभी राज्यों में योग्यता काल ९ माह है।

**हितलाभ की अवधि और रकम (Period and Amount of Benefit)**—द्रावतकोर-कोचीन, हैदराबाद और आसाम तथा पश्चिमी बंगाल के बागानों में हितलाभ मिलने की अवधि १२ सप्ताह है; आंध्र, उड़ीसा और मद्रास में ७ सप्ताह और पंजाब में ८४ दिन रखी गई है। शेष सभी राज्यों में यह अवधि बच्चा होने के ४ सप्ताह पहले और ४ सप्ताह बाद तक रखी गई है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में यह अवधि १२ सप्ताह है।

हितलाभ की रकम भी प्रत्येक राज्य में अलग-अलग है। उदाहरणार्थ,



आसाम के बागानों में भोजन, की सुविधा के अतिरिक्त प्रायः १२ आना प्रतिदिन दिया जाता है। बिहार, बम्बई मध्य प्रदेश, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, बंगाल में हितलाभ की रकम = आना प्रतिदिन या प्रतिदिन की औसत मजदूरी के बराबर है; दोनों में जो भी रकम अधिक होगी उसी रकम को दिया जाता है। पंजाब, हैदराबाद, उड़ीसा राजस्थान, मैसूर में केन्द्रीय खान अधिनियम तथा कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत १२ आने प्रतिदिन देने की व्यवस्था है। रुपये तथा विश्राम के अतिरिक्त बोनस और डाक्टरी सहायता के रूप में अन्य हितलाभ भी स्त्री-श्रमिकों को दिये जाते हैं शिशुगृहों की भी व्यवस्था है। उत्तर-प्रदेश के अधिनियम के अन्तर्गत स्त्री-श्रमिक के गर्भपात होने पर ३ सप्ताह सवेतन छुट्टी की व्यवस्था है।

**प्रशासन (Administration)**—सभी राज्यों में प्रशासन सम्बन्धी उत्तर-दायित्व फौट्री इन्स्पेक्टरों पर होता है। खानों में यह काम खानों के मुख्य इन्स्पेक्टर (Chief Inspector of Mines) के द्वारा किया जाता है। हितलाभ देने का खर्चा मालिकों का होता है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में इसका व्यय-भार बीमा कॉर्पोरेशन पर होता है।

**आलोचना और सुझाव (Criticism and Suggestions)**—यह अधिनियम स्त्री श्रमिकों से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण सुरक्षा-अधिनियम है, फिर भी इसमें कुछ आधारभूत दोष होने के कारण इसका वास्तविक लाभ उन्हें नहीं मिल पाता है। (१) मालिकों पर ही हितलाभ देने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व होने के कारण प्रत्येक प्रकार से वे इससे बचना चाहते हैं, जैसे स्त्री-श्रमिक के गर्भवती होने का समाचार पाते ही उसे काम से निकाल देते हैं, केवल विधवाओं और कुमारियों को ही काम पर रखते हैं, कुमारियों के विवाह हो जाने पर उन्हें काम से निकाल देते हैं या इन्हें इस बात की धमकी देते हैं कि अगर वे हितलाभ माँगींगी तो उन्हें काम से निकाल दिया जायेगा। ये सभी प्रशासन सम्बन्धी समस्याएँ हैं और कठोर निरीक्षण द्वारा इन्हें दूर किया जा सकता है। (२) इन अधिनियमों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है तथा योग्यता काल बहुत अधिक और हितलाभ की रकम बहुत कम है। कम से कम हितलाभ की रकम इतनी बढ़ा देनी चाहिये कि उससे कुछ वास्तविक लाभ माताओं को हो। (३) इन अधिनियमों के अन्तर्गत चिकित्सा सुविधाओं को देने की व्याख्या नहीं के बराबर है। प्रत्येक अधिनियम में इस सम्बन्ध में पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। (४) स्त्री-श्रमिकों में अधिकांश अनपढ़ हैं; इस कारण अपने अधिकारों के सम्बन्ध में उन्हें जानकारी भी बहुत कम है। अधिनियम के सम्बन्ध में उनमें अधिक प्रचार की आवश्यकता है।

### (३) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८ (Employees' State Insurance Act, 1948)

यह अधिनियम भारतीय सुरक्षा अधिनियम के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण तथा संयुक्त सामाजिक सुरक्षा की दिशा में प्रथम प्रयास है। इसमें भी अनेक कमियाँ



हैं और इसका क्षेत्र भी बहुत सीमित है, फिर भी इस सत्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि सामाजिक सुरक्षा की भावी योजनाओं के लिए यह एक सराहनीय प्रथम प्रयास है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम प्रोफेसर बी० पी० अदरकर द्वारा सन् १९४४ में प्रस्तुत योजना का ही संशोधित रूप है। सन् १९४५ में भारत सरकार ने प्रो० अदरकर की योजना पर विशेष विचार करने लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (I. L. O.) के दो विशेषज्ञ सर्वश्री एम स्टैक (M. Stack) तथा आर० राव (R. Rao) को आमन्त्रित किया। इन विशेषज्ञों ने योजना के मौलिक सिद्धान्तों से सहमत होते हुए भी इसमें अनेक संशोधन किये। इनकी सिफारिशों के आधार पर ६ नवम्बर सन् १९४६ में एक बिल (Bill) प्रस्तुत किया गया जोकि अप्रैल सन् १९४८ में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के नाम से पास हुआ। सन् १९५१ में इसमें कुछ संशोधन किये गये।

**अधिनियम का क्षेत्र (Scope of the Act)**—यह अधिनियम जम्मू व काश्मीर को छोड़कर सारे भारत में लागू है। मौसमी कारखानों को छोड़कर बिजली से चलने वाले उन सभी कारखानों पर जिसमें २० या अधिक श्रमिक काम करते हैं, यह अधिनियम लागू होता है। राज्य सरकार इसका क्षेत्र और भी बढ़ा सकती है। इस अधिनियम के अन्तर्गत ४०० रुपये से कम मासिक वेतन पाने वाले सभी कर्मचारी जिनमें क्लर्क भी सम्मिलित हैं, आ जाते हैं। भारतीय सेना में काम करने वालों पर यह अधिनियम लागू नहीं होता है।

**प्रशासन (Administration)**—इस अधिनियम के अन्तर्गत योजना के प्रशासन का कार्य एक स्वशासित संस्था “कर्मचारी राज्य बीमा कॉर्पोरेशन” (Employees’ State Insurance Corporation) के अधीन है, जिसमें मालिकों, कर्मचारियों, केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, डाक्टरों तथा संसद के प्रतिनिधियों की कुल संख्या ३९ है। सामान्य प्रशासन और योजना को क्रियान्वित करने के लिये इन्हीं ३९ सदस्यों में से चुनी हुई १३ सदस्यों की एक ‘स्थायी समिति’ (Standing Committee) या कार्यकारिणी है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी संस्था “चिकित्सा लाभ परिषद्” (Medical Benefit Council) भी होती है जोकि इसके चिकित्सा हितलाभ सम्बन्धी विषयों पर कॉर्पोरेशन को परामर्श देती है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर पर क्रमशः क्षेत्रीय बोर्ड तथा स्थानीय समितियाँ होती हैं जो कि प्रतिदिन के प्रशासनीय विषयों की देखभाल करते हैं।

**वित्त-व्यवस्था (Finance)**—इस योजना का खर्च “कर्मचारी राज्य बीमा कोष” (Employees’ State Insurance Fund) से चलता है। इस कोष में मालिकों और श्रमिकों द्वारा दिये गये अंशदान (Contributions), केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा दिये गये अनुदान तथा स्थानीय संस्थाओं व निजी व्यक्तियों द्वारा दिये गए दान या उपहार संचित होते हैं। केन्द्रीय सरकार ने कॉर्पोरेशन को प्रथम पाँच वर्ष तक प्रशासनीय व्यय का दो-तिहाई दिया था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार



ने चिकित्सा पर होने वाले व्यय का तीन-चौथाई देना स्वीकार कर दिया है, शेष एक-तिहाई राज्य सरकारें केन्द्र से ऋण लेकर पूरा करेंगी।

**अंशदान (Contribution)**—बीमा कोष में अंशदान करने के लिये कर्म-चारियों को आठ श्रेणियों में बाँटा गया है। सर्वप्रथम श्रेणी में वे लोग हैं जिन्हें प्रति-दिन एक रुपया से कम वेतन मिलता है। ऐसे श्रमिकों को कोष में कुछ भी अंशदान नहीं करना होगा। शेष सात श्रेणियों के कर्मचारियों को, जिनका वेतन प्रतिदिन १.५० रु० से लेकर ८ रु० या उससे अधिक है, विभिन्न दर से अपना अंशदान करना होता है। यह अंश मालिक उनके वेतन में से काट लेते हैं और उसमें अपना भी अंश मिलाकर बीमा कोष में जमा कर देते हैं। जिन स्थानों में वह योजना चल रही है या कार्यान्वित की जायेगी वहाँ के मालिकों को सम्पूर्ण वेतन-बिल (Pay Bill) का १.२५ प्रतिशत और जहाँ पर इस योजना को अभी तक कार्यान्वित नहीं किया गया है वहाँ के मालिकों को सम्पूर्ण वेतन-बिल का १.७५ प्रतिशत बीमा कोष में जमा करना होता है।

**हितलाभ (Benefits)**—अधिनियम से अन्तर्गत बीमा कराये हुए कर्मचारियों को निम्नलिखित पाँच प्रकार के हितलाभ प्रदान किये गये हैं :—

(१) **चिकित्सा हितलाभ (Medical Benefit)**—उन समस्त कर्मचारियों को जिन्होंने बीमा कराया है, बीमारी की अवस्था में बीमा-दवाखाने में जाकर मुफ्त इलाज कराने का अधिकार होगा। दवाइयाँ तथा चिकित्सा सम्बन्धी अन्य सभी सुविधायें या चीजें मुफ्त दी जायेंगी। यदि बीमा-डाक्टर आवश्यक समझे तो विशेषज्ञों द्वारा जांच या सलाह या एक्स-रे आदि की भी मुफ्त सुविधा होगी। आवश्यकता होने पर बीमा-डाक्टर स्वयं कर्मचारी के घर पर जाकर उसे देखेगा या अस्पताल या अन्य किसी विशेष चिकित्सा-संस्था में रखकर उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध करेगा। इस समय तक चिकित्सा का लाभ केवल बीमा कराने वाले कर्मचारी को ही मिलता है, पर लक्ष्य यह है कि वह सुविधा उसके परिवार के अन्य व्यक्तियों को भी उपलब्ध हो सके।

(२) **बीमारी हितलाभ (Sickness Benefit)**—बीमा करने वाले जिस व्यक्ति ने छः महीने तक बीमा कोष में अपना अंशदान किया है, उसे बीमारी की दशा में ३६५ दिनों में ५६ दिन का बीमारी हितलाभ नकद रूपों में दिया जाता है। इस हितलाभ की रकम प्रतिदिन मिलने वाली औसत मजदूरी के आधे के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में, बीमा कराने वाला व्यक्ति अगर बीमार पड़ता है तो जितने दिन बीमार रहने के कारण छुट्टी पर होगा उतने दिन उसे उसकी मजदूरी की आधी रकम नकद रूपों में दे दी जाती है; परन्तु शर्त यह है कि उसने पिछले कम-से-कम ६ माह से अपना अंशदान जमा किया है और बीमा-डाक्टर उसकी बीमारी और छुट्टी को प्रमाणित करता है। यह हितलाभ ३६५ दिनों में अधिक से अधिक ५६ दिनों तक मिल सकेगा। जून सन् १९५६ से कार्पोरेशन ने यह भी निर्णय किया है कि टी० बी० के मरीज मजदूरों को (यदि उन्होंने इसका इलाज प्रारम्भ होने से पहले कम-से-कम दो



वर्ष काम किया है) १२ आना प्रतिदिन का नकद हितलाभ १८ सप्ताह तक और मिलेगा। यदि उनकी बीमारी हितलाभ का आधी रकम इस १२ आने से अधिक है तो वही अधिक रकम टी० बी० के मरीज मजदूरों को मिलेगी। यह हितलाभ तभी दिया जायगा जब कि बीमार व्यक्ति कार्पोरेशन द्वारा निर्दिष्ट चिकित्सा-संस्था में भर्ती हो जायेगा।

(३) मातृत्व हितलाभ (Maternity Benefit)—बीमा कराये हुए स्त्री-श्रमिक को प्रसव से ६ सप्ताह पहले से लेकर बच्चा पैदा होने के ६ सप्ताह बाद तक १२ आने प्रतिदिन के हिसाब से मातृत्व हितलाभ प्रदान किया जाता है। अभी हाल में (अगस्त सन् १९५८) यह निश्चय किया गया है कि मातृत्व हितलाभ स्त्री-श्रमिक के औसत दैनिक मजदूरी के बराबर दिया जायेगा।

(४) असमर्थता हितलाभ (Disablement Benefit)—बीमा कराये हुए किसी भी श्रमिक को यदि काम करते समय चोट लग जाए और वह अस्थायी या अस्थायी रूप से असमर्थ हो जाय तो उसे असमर्थता हितलाभ मिलेगा। अस्थायी रूप से असमर्थ होने पर प्रथम ७ दिन के बाद ही औसत मजदूरी का आधा, नकद आर्थिक सहायता के रूप में प्राप्त होने लगता है। स्थायी असमर्थता की दशा में उसे आजीवन पेन्शन के रूप में यह हितलाभ दिया जाता है। पेन्शन की रकम अपंगता की सीमा पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, जिस श्रमिक की पाँचों उँगलियाँ कट गई हैं उसे उस श्रमिक से जिसकी केवल एक उँगली कटी है, कहीं अधिक पेन्शन मिलेगी।

(५) आश्रित हितलाभ (Dependants Benefit)—यह हितलाभ उस दशा में मिलता है, जबकि काम करते हुए दुर्घटना होने या चोट लगने से श्रमिक की मृत्यु हो जाती है। यह हितलाभ राशि-मृत-श्रमिक के आश्रितों को निम्नलिखित ढंग से बाँट दी जाती है—(१) उसकी विधवा स्त्री को आजीवन अथवा पुनर्विवाह न करने तक पूर्ण दर (अर्थात् औसत मजदूरी की आधी रकम) का ३/५ भाग पेन्शन के रूप में मिलता है। यदि एक से अधिक विधवा स्त्री हों तो यह धनराशि उनमें समान रूप से बाँट दी जाती है। (२) १५ वर्ष की आयु प्राप्त होने तक मृत-श्रमिक के प्रत्येक वैध (Legitimate) अथवा गोद लिए पुत्र को पूर्ण दर का २/५ भाग हितलाभ दिया जाता है। (३) १५ वर्ष की आयु अथवा विवाह न होने तक प्रत्येक वैध पुत्री को भी पूर्ण दर का २/५ भाग धन प्राप्त होता है। किसी भी पुत्र या पुत्री को यह सुविधा १८ वर्ष की आयु तक प्रदान की जा सकती है यदि वह कार्पोरेशन की दृष्टि से शिक्षा प्राप्त करने का कार्य सन्तोषप्रद कर रहा है। (४) यदि मृत व्यक्ति की कोई स्त्री, पुत्र या पुत्री न हो तो यह हितलाभ उसके माता-पिता या अन्य किसी अभिभावक को आजीवन प्रदान किया जा सकता है।

योजना की प्रगति (Progress of the Scheme)—यह योजना स्वर्गीय प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के द्वारा २४ फरवरी, सन् १९५२ को कानपुर में उद्घाटित की गई थी। उसी दिन यह कानून दिल्ली में भी लागू किया गया था। इसके पश्चात् धीरे-धीरे पंजाब के सात औद्योगिक नगरों तथा नागपुर, वृहत्तर बम्बई,



इन्दौर, ग्वालियर, उज्जैन, रतलाम, कोयम्बटूर, हैदराबाद, सिकन्दराबाद, कलकत्ता, हावड़ा, मद्रास, आगरा, सहारनपुर, अकोला, हिंगनघाट, जोधपुर, बीकानेर, पाली भीलवाड़ा, प्रयाग, वाराणसी, रामपुर आदि स्थानों में इस योजना का विस्तार किया गया है। सन् १९६४ तक इस योजना के अन्तर्गत २२.२९ लाख कर्मचारी आ गये थे। सन् १९५३-६४ तक बीमा कोष में श्रमिकों का अंशदान ६.९२ करोड़ रु० और मालिकों का अंशदान ६.८९ करोड़ रु० था। प्रायः ६.९२ करोड़ रु० की घनराशि अब तक हितलाभ के रूप में श्रमिकों को दी गई है। इस घनराशि में से ३.८१ करोड़ रु० बीमारी हितलाभ, ३४.०१ लाख रु० मातृत्व हितलाभ, १.५७ करोड़ रु० असमर्थ हितलाभ तथा ५०.०३ लाख रु० आश्रित हितलाभ के रूप में दिया गया है। आसाम, बिहार, मैसूर, पंजाब तथा राजस्थान आदि में चिकित्सा हितलाभ श्रमिक के परिवार के सदस्यों को भी प्रदान किया जा रहा है। यह योजना इस समय १७७ औद्योगिक केन्द्रों में चल रही है जिससे कि २२.२९ लाख श्रमिकों को लाभ पहुँच रहा है। इस कार्यक्रम को तीसरी योजना काल में उन समस्त औद्योगिक केन्द्रों में विस्तारित कर दिया जायेगा जहाँ ५०० या अधिक श्रमिक निवास करते हैं। इस प्रकार प्रायः ३० लाख श्रमिक इस योजना से लाभ उठा सकेंगे। श्रमिकों के लिए और नये अस्पतालों और दवाखानों का निर्माण होगा तथा ६,००० रोगी-शय्याओं (beds) की और व्यवस्था उनके लिये होगी।

**आलोचना और सुझाव (Criticism and Suggestions)**—यह अधिनियम भारत में ही नहीं, अपितु सारे दक्षिणी-पूर्वी एशिया में सामाजिक सुरक्षा क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है। फिर भी उसमें कुछ कमियाँ रह गई हैं : (१) इस अधिनियम का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। इसमें गैर-कारखाना, मौसमी कारखाना तथा ४०० रु० मासिक से अधिक पाने वालों को सम्मिलित नहीं किया गया है। इसका सबसे बड़ा कारण धन की कमी तथा प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं। (२) योजना में बीमारी हितलाभ केवल ५६ दिन तक मिलता है, परन्तु ऐसी अनेक बीमारियाँ हैं जो कि अधिक दिनों में अच्छी होती हैं। उस अवस्था में श्रमिक को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस विषय में पुनः विचार होना चाहिए। (३) इस अधिनियम के अन्तर्गत बेकारी हितलाभ की कोई व्यवस्था नहीं है और इसकी आवश्यकता इस देश के श्रमिकों को सबसे अधिक है। अधिनियम में इसे भी सम्मिलित कर लेना चाहिये। (४) क्लर्क वर्ग का कथन है कि उन्हें इस योजना से हानि है क्योंकि अंशदान उन्हें अन्य श्रमिकों के बराबर ही करना पड़ता है परन्तु असमर्थता हितलाभ, आश्रित हितलाभ से उनका कोई सम्पर्क नहीं होता है। परन्तु यह युक्ति कुछ ठोस नहीं जान पड़ती क्योंकि उनके अंशदान से दूसरों को ही लाभ हो रहा है यह आपत्ति अत्यन्त संकीर्ण मनोभाव की परिचायक है। (५) बीमा-दवाखाना और डाक्टरों में भ्रष्टाचार की भी रिपोर्ट मिलती है कि वे न तो रोगियों को ठीक से देखते हैं और न ही उचित दवाइयों की व्यवस्था करते हैं। कीमती दवाइयाँ, इंजेक्शन आदि किस खाते में चला जाता है यह भगवान ही जानता है। इस दोष के प्रति उच्च



अधिकारियों को अधिक ध्यान देना होगा क्योंकि जनता का विश्वास योजना की सफलता के लिए परमावश्यक है। (६) योजना के प्रशासन में केन्द्रीकरण के दोष हैं। समस्त नीति-निर्धारण का सम्पूर्ण अधिकार कार्पोरेशन को न देकर, क्षेत्रीय बोर्डों को भी स्थानीय आवश्यकता के अनुसार नीति-निर्धारण का कुछ अधिकार प्रदान करना चाहिये।

## (४) कोयला खान निर्वाह निधि एवं बोनस योजना

अधिनियम, १९४८

### (Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act, 1948)

**क्षेत्र (Scope)**—यह अधिनियम जम्मू तथा काश्मीर को छोड़कर भारत के समस्त कोयले की खानों में काम करने वाले उन श्रमिकों पर लागू होता है जिनकी मौलिक मजदूरी ३०० रु० मासिक से कम है। इस अधिनियम के अन्तर्गत इस समय प्रायः १,२५० खानों में काम करने वाले ४३० लाख श्रमिकों को लाभ हो रहा है।

**योग्यता काल (Qualifying Period)**—बिहार और पश्चिमी बंगाल को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में योग्यता काल जमीन के नीचे काम करने वाले श्रमिकों के लिए ६० दिन की उपस्थिति तथा जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के लिए ६५ दिन की उपस्थिति निश्चित की गई है। बिहार और पश्चिमी बंगाल में योग्यता काल क्रमशः ५४ और ६६ दिन।

**अंशदान (Contribution)** :—प्रत्येक सदस्य को अपनी मजदूरी के अनुसार विभिन्न धन-राशि कोष में जमा करनी पड़ती है। यह अंशदान उनकी मजदूरी के प्रतिशत के बराबर होता है। यह रकम मालिक सदस्यों के वेतन से काट लेता है और उतनी ही रकम स्वयं भी कोष में अंशदान करता है।

**रकम का वापिस मिलना (Repayment of Amount)** :—कोई भी सदस्य ५० वर्ष की आयु होने और स्थायी रूप से असमर्थ होने पर नौकरी से स्थायी रूप से अवसर ग्रहण (Retire) करते समय अपने निर्वाह निधि की पूरी रकम ले सकता है। ५० वर्ष की आयु होने से पूर्व यदि कोई सदस्य विदेश में स्थायी रूप से जाकर बस जाता है या नौकरी छोड़ देता है तब भी निर्वाह निधि की पूरी रकम उसे मिल जायेगी।

**प्रशासन (Administration)**—इस योजना का प्रशासन सम्बन्धी उत्तर-दायित्व खानों के निर्वाह निधि कमिश्नर का है। धनवाद में इस निर्वाह निधि का एक केन्द्रीय कार्यालय है।

## (५) कर्मचारी निर्वाह निधि अधिनियम, १९५२ (Employees' Provident Fund Act, 1952)

**क्षेत्र (Scope)**—जम्मू और काश्मीर को छोड़कर यह अधिनियम उन सभी



कारखानों में लागू किया जा सकेगा जिनमें ५० या अधिक कर्मचारी काम करते हैं। परन्तु आरम्भ में इस अधिनियम को केवल सीमेंट, सिगरेट, इंजीनियरिंग, लोहा व इस्पात, कागज और वस्त्र उद्योग में लागू किया गया है। वे उद्योग जिन्हें स्थापित हुए तीन वर्ष से कम समय हुआ हो इस अधिनियम के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इस समय लगभग २५,००० संस्थानों में काम करने वाले प्रायः ३६ लाख कर्मचारियों को इससे लाभ मिल रहा है।

**अंशदान (Contribution)**—मालिक और कर्मचारी दोनों ही निर्वाह निधि में समान अंशदान करते हैं। कर्मचारी से उसके बेसिक वेतन और मंहगाई भत्ता (Dearness allowance) का  $\frac{६}{१०}$  प्रतिशत लिया जाता है और उतनी ही रकम मालिक को भी देनी पड़ती है। यदि कर्मचारी चाहे तो  $\frac{८}{१०}$  प्रतिशत तक अंशदान कर सकता है। जिन कर्मचारियों का बेसिक वेतन ३०० रु० मासिक से अधिक नहीं है, वे ही केवल निर्वाह निधि के सदस्य हो सकते हैं तथा एक वर्ष की नौकरी के पश्चात् ही फण्ड कटना प्रारम्भ होता है। इसमें मालिक स्वयं तथा कर्मचारी दोनों का भाग अलग-अलग खाता खोलकर अपने पास जमा करता जाता है और इसमें ब्याज की रकम भी जुड़ती जाती है।

**रकम का वापिस मिलना (Repayment of the Amount)**—५५ वर्ष की आयु होने पर या स्थायी असमर्थता या शारीरिक या मानसिक दोष के कारण नौकरी से अवसर ग्रहण करने के बाद, नौकरी छोड़ने के एक वर्ष बाद, विदेश में जाकर स्थाई रूप से बस जाने के बाद कोई भी कर्मचारी अपने फण्ड की रकम पाने का अधिकारी होगा। पाँच वर्ष की सेवा (Service) के पश्चात् कर्मचारी मालिक द्वारा जमा किए गए अंश का आधा तथा २० वर्ष के पश्चात् पूरा अंश लेने का अधिकारी होगा।

**प्रशासन (Administration)**—इस योजना के लिए एक Central Board of Trustees बनाया गया है। इसमें कर्मचारी, मालिक तथा सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। स्थानीय स्तर पर यह योजना समिति के ट्रस्टी तथा राज्यों में क्षेत्रीय बोर्डों द्वारा कार्यान्वित की जाती है।

**योजना का विस्तार (Extension of the Scheme)**—३१ जुलाई, सन् १९५६ को इस अधिनियम को १३ और उद्योगों में लागू किया गया। ३० सितम्बर, सन् १९५६ को इसको ४ और उद्योगों में लागू किया गया। ३१ दिसम्बर, सन् १९५६ से इसको समाचार-पत्रों के व्यवसाय पर भी लागू कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त जुलाई, सन् १९५७ तक इस अधिनियम को जमीन से तेल निकालने के उद्योगों चाय, कॉफी और रबर के बागानों तथा गैस के उद्योगों में भी लागू कर दिया गया। इस समय इस अभिनियम के अन्तर्गत प्रायः २५,००० संस्थान आ गये हैं जिनमें निर्वाह निधि के सदस्यों की संख्या प्रायः ३६ लाख है। निर्वाह निधि में एकत्रित धन-राशि की मात्रा प्रायः ४५० करोड़ रु० है।



## निष्कर्ष (Conclusion)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की जनता को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने की दिशा में कुछ शुभ प्रयत्न हुए हैं; परन्तु वास्तविक आवश्यकताओं को देखते हुए इसे अभी अति-प्रारम्भिक स्तर कहना ही उचित होगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षम-संगठन (I. L. O.) द्वारा निर्धारित सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी आदर्शों को अपनाने की क्षमता इस देश को अभी अनेक वर्षों तक न होगी, फिर भी हमें धीरे-धीरे उस आदर्श की ओर बढ़ना ही होगा। और इसके लिये यह उचित होगा कि कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत चिकित्सा हितलाभ प्रत्येक स्थान पर कर्मचारियों के परिवार के अन्य सदस्यों के लिये भी उपलब्ध हो। साथ ही, निर्वाह निधि प्रणाली को पेन्शन प्रणाली में बदल देना चाहिए और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियमों के क्षेत्र को इतना विस्तृत कर दिया जाय की उसके अन्तर्गत सभी उद्योगों के कर्मचारी आ जायें। कुछ प्रमुख संगठित उद्योगों में बेकारी बीमा योजना को भी कार्यान्वित करना चाहिए। साथ ही, कृषकों को भी सामाजिक बीमा योजना के अन्तर्गत लाने की आवश्यकता है। ये सभी अति-प्रारम्भिक प्रयत्न होंगे, परन्तु इन्हीं में भविष्य की अनेक आशाएं छिपी होंगी।

---



आज का दिन मंजुला के जीवन का एक महा-शुभ दिन है। रंजन लौट रहा है आज। पाँच वर्ष के बाद माँ का बेटा घर आ रहा है। मंजुला पाँच साल पहली की एक संध्या की बात आज भी सोचती है तो काँप उठती है। उसके बेटे ने बहू की हत्या की थी उसी संध्या को। एकलौता बेटा माँ के ही दुलार से बिगड़ गया था। बुरी संगत में पड़कर शराब पीता था, जुआ खेलता था, देवी जैसी पत्नी पर अमानुषिक अत्याचार करता था। शराब और जुआ में लगाने के लिये जब-जब पैसे की जरूरत होती थी। माँ से छीन-झपट कर ले जाता था। उस दिन मंजुला ने नहीं दिया एक पैसा भी। माँ से निराश होकर शराबी रंजन ने पत्नी के सामने अपनी माँग पेश की। पत्नी ने न केवल देने से इन्कार किया बल्कि दिल खोल कर सुनाया जो कुछ भी मुँह में आया। पति-पत्नी में बातें बढ़ती गयीं। एकाएक रंजन ने पास ही रखी कुल्हाड़ी उठाकर पत्नी पर घातक आक्रमण किया। पलक मारते ही खून की नदी बह निकली। मंजुला दौड़ कर आयी, सब कुछ देखा और रंजन के कमरे से भागने से पहले ही बाहर से कमरे के दरवाजे की कुण्डी लगा दी। खुद जाकर बुला लायी पुलिस को, सौंप दिया अपने एकलौते दुलारे बेटे को न्याय के हवाले। अपराधी को पकड़ने में माँ का सहयोग, रंजन की आयु, नशे की हालत में यह उसका प्रथम अपराध आदि सभी विषयों पर विचार करते हुए न्यायालय ने रंजन को पाँच साल सश्रम कारावास का आदेश देते हुए उसे सुधार गृह में रख कर सुधारने की बात पर अधिक बल दिया था। वैसा ही किया गया था। आज देश के अनेक जेलखानों में अपराधियों को सुधारने के लिए आवश्यक व्यवस्था उपलब्ध है। रंजन को भी ऐसे ही एक जेल में रखा गया था। मंजुला जाती थी बीच-बीच में अपने बेटे से मिलने के लिए। देखती थी बेटे में होने वाले परिवर्तनों को। सुनती थी बेटे के मुँह से उसके सुधारने की कहानी को। सुनती थी कि अपराधी को अब वास्तव में अपराधी न समझकर एक मानव प्राणी भी समझा जाता है। व्यक्ति वह मानव है जो कि दोष और गुण से बना हुआ है। कभी-कभी दोष उभरता है और गुण दब जाते हैं। तभी व्यक्ति अपराध करता है। पर दोष का वह उभरना मानव का वास्तविक परिचय नहीं है। वह तो एक अस्वस्थ अवस्था, बीमारी की हालत है। इसलिए इस बीमारी का इलाज भी हो सकता है—मानव के व्यक्तित्व में गुणों को फिर से उभारा जा सकता है, मानव की मानवता को निखारा जा सकता है। यह सब बातें मंजुला सुनती थी रंजन के मुँह से। रंजन ने भी सुना था सुधार गृह के अधिकारियों



से। सुनते सुनते मंजुला भावावेश में वह जाती थी न जाने किस स्वप्न-लोक में। सपना देखती थी, अपने एकलौते बेटे के सुधरने का—रंजन की शराब पीने की आदत छूट जायगी, जुआ से वह धृणा करेगा, अपनी गाड़ी कमाई पर उसे सर्व होगा, मां के प्रति, देश के प्रति उसके दिल में सम्मान की भावना होगी, वह फलेगा-फूलेगा और देश व परिवार के फलने-फूलने में सहायक होगा। रंजन—आज का अपराधी—रंजन कल का आनन्ददायक देश-रंजन होगा। यही अपराधी का उपचार है और यही है इस अध्याय का अभिप्राय।

## अपराधियों का उपचार व सुधार

### (Treatment and Reformation of Criminals)

आधुनिक युग में यह स्वीकार किया जाता है कि अपराधी भी एक विशेष प्रकार का रोगी होता है और अपराध उस व्यक्ति के असन्तुलित तथा अस्वस्थ व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति (Expression) है। इस कारण अधिकांश अपराधियों को सुधारा जा सकता है, यदि उनका उपचार उचित ढंग से किया जाय। इसी विश्वास के आधार पर आधुनिक युग में दण्ड के सुधारान्मक सिद्धान्त (Reformative theory) का विकास हुआ है। इसके अनुसार आज अपराधी को शारीरिक दण्ड द्वारा पीड़ित करने के स्थान पर उसे सुधारने का प्रयत्न अधिक किया जाता है। पर इसके पहले कि हम इस सम्बन्ध में अधिक कुछ विवेचना करें, यह आवश्यक होगा कि हम 'अपराधियों के सुधार' के वास्तविक अर्थ से अपने को अवगत करा लें।

**अपराधियों का सुधार क्या है ?**

(What is Reformation of Criminals)

कुछ पेशेवर अपराधियों को छोड़कर अधिकतर अपराधी किसी न किसी परिस्थिति का शिकार होता है। कोई अपने मानसिक दोष या रोग के कारण अपने कार्यों के दुष्परिणामों और कानून के अर्थ को समझने की क्षमता नहीं रखते हैं, और इसी कारण वे अपराध कर बैठते हैं। कुछ व्यक्ति अपराधी इसलिए हैं कि वे किसी न कि संवेगात्मक अस्थिरता तथा संघर्ष (Emotional instability and Conflict) के शिकार हैं। उसी प्रकार निर्धनता, बेरोजगारी, नशा, द्रौढ्योत्प्रेरण तथा नागरिकरण की परिस्थितियाँ, युद्ध, चलचित्र आदि भी व्यक्ति को अपराध के पथ पर घसीट सकता है। परन्तु इनमें से कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिससे व्यक्ति को विमुक्त नहीं करवाया जा सकता। मानव की प्रकृति में अनुकूलन करने की अपार क्षमता होती है यदि उस क्षमता को उचित ढंग से उभारा जाय। उसी प्रकार व्यक्ति में यदि कोई आदत पड़ गई है तो उसे भी आवश्यकता अनुसार निरन्तर प्रयास करने पर बदला जा सकता है। चाहे वह आदत कितनी ही दृढ़ क्यों न हो। आज व्यक्ति को एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी ही नहीं, अपितु सामाजिक प्राणी के रूप में अधिक देखा जाता है। इस कारण यदि समाज प्रयत्नशील है तो वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को आदतों तथा मनोभाव को अपने रंग में रंग सकता है, उनमें



आवश्यक परिवर्तन ला सकता है। आज के मानव को अपने ज्ञान तथा वैज्ञानिक विधियों पर अत्यधिक भरोसा है। यह ज्ञान व विधियाँ उसे वह क्षमता प्रदान करती हैं जिसके द्वारा अन्य रोगों की भांति अपराध करने की आदत या मनोभाव का भी उपचार सम्भव है। एक समय था जब कि चेचक, प्लेग, तपेदिक आदि गम्भीर रोग होने पर लोग यह समझते थे कि रोगी की मृत्यु निश्चित है और उस रोगी को निरोग करने में डाक्टर भी अपने को असमर्थ पाते थे। पर अब डाक्टरी शास्त्र में ज्ञान की वृद्धि होने तथा नये-नये उपचार विधि, दवा आदि का आविष्कार हो जाने के फलस्वरूप आज उपरोक्त रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की मृत्यु की बात नहीं अपितु निरोग होने की बात सब लोग सोचते हैं। उसी प्रकार पहले यह सोचा जाता था कि अपराधियों को सही रास्ते पर लाना या उनकी आदतों को परिवर्तित करना असम्भव है। पर आज स्वस्थ कर परिस्थितियों में अपराधी को रखकर, सामान्य शिक्षा, शारीरिक शिक्षा, धार्मिक उपदेश, नागरिकता की शिक्षा, रोजी कमाने की शिक्षा, अच्छे मनोरंजन प्राप्त करने की सुविधा आदि प्रदान करके अपराधियों के सम्मुख नये आदर्श, नये जीवन तथा नयी आदतों को प्रस्तुत किया जाता है। जिससे कि बुरी आदतों, मनोभाव तथा आदर्शों को वे त्याग सकें। यही अपराधियों का सुधार है।

### अपराधियों के उपचार की एक योजना

#### (A Plan for the Treatment of Offenders)

विस्तृत अर्थ में अपराधियों का उपचार सम्पूर्ण सामाजिक पुनर्निर्माण योजना का ही एक अंग है। इसके दो स्पष्ट पक्ष हैं—एक तो वह विस्तृत समाज या समुदाय जिसमें अपराधी निवास करता है और दूसरा कारावास या सुधार गृह जिसमें कि उस अपराधी को अदालत द्वारा दिये गये दण्ड के अनुसार रखा जाता है। अपराधियों के उपचार की किसी भी योजना में इन दोनों ही पक्षों को ध्यान में रखना परमावश्यक है। जहाँ तक विस्तृत समाज या समुदाय का प्रश्न है, अपराधियों के उपचार के लिए यह जरूरी है कि उन सामाजिक अवस्थाओं को सुधारा जाय जिनके कारण एक व्यक्ति अपराध करता है या करने को बाध्य होता है। उन सामाजिक अवस्थाओं में निर्धनता और बेकारी को दूर करने की आवश्यकता पर अनेक विद्वान बल देते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि निर्धनता व बेरोजगारी ही अपराध का एक मात्र कारण नहीं है। इसलिए इन अवस्थाओं को दूर करने के महत्व को कोई भी अस्वीकार न करते हुए अन्य अवस्थाओं के प्रति भी ध्यान देने की बात कहते हैं। जो अपराधी किसी मानसिक दोष या रोग के कारण अपराध कर बैठते हैं उनके उपचार के लिए मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों (psychological Clinics) के खोले जाने की आवश्यकता है। परन्तु केवल मनोवैज्ञानिक चिकित्सालय खोलने से ही काम नहीं चलेगा जब तक नगरों में सस्ते और स्वास्थ्यप्रद मकानों की भी व्यवस्था की जाए, जिससे कि सब लोग सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत कर सकें। उचित निवास स्थान की व्यवस्था होने पर बच्चों के बिगड़ जाने की सम्भावना कम हो



जायेगी और साथ ही नशाखोरी, वेश्यावृत्ति आदि भी बहुत कम हो जायेगी । बहुत से अपराधी जेलखाने से छूट कर भी नशाखोरी, वेश्यावृत्ति, जुआ आदि में फिर से फँस जाते हैं क्योंकि उनके रहने के लिए उचित मकान तथा जीविका-पालन के लिए उचित रोजगार प्राप्त नहीं हो पाता है । अपराधियों के उपचार की किसी भी योजना में इस बात का ध्यान विशेषरूप से रखना चाहिए । उसी प्रकार सबके लिए विशेषतः निम्न आर्थिक अवस्था वाले वर्ग के लिए मस्ते और अच्छे मनोरंजन के साधनों को जुटाना होगा जिसमें कि अपराधी प्रवृत्तियों का विनाश मनोरंजन प्राप्ति की प्रक्रिया के दौरान में हो सके । अपराधियों के उपचार में यह भी आवश्यक है कि अपराधियों के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन करके यह पता लगा लिया जाये कि उनका पारिवारिक जीवन वास्तव में कैसा है । यदि यह पता चले कि उसका पारिवारिक जीवन असुखी है तो उसे सुधारने का प्रयत्न किया जावे या उस व्यक्ति को परिवार से दूर ही रखा जावे । परिवार अगर अनैतिक परिवार या विघटित परिवार है तो उसमें अपराधी को किसी भी अवस्था में न रखना ही उचित होगा । विघटित परिवार या अनैतिक परिवार में रहते हुए अपराधी का सुधारना बिल्कुल ही असम्भव होता है । इतना ही नहीं, अपराधियों के उपचार के लिये यह भी आवश्यक है कि देश-भर में नशा-निषेध (prohibition) लागू किया जाय । अबसर ऐसा देखा गया है कि अपराधी जेल से छूट आने के बाद अपने को एक असहाय अवस्था में पाता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति उसे फिर पूर्णरूप से विश्वास नहीं कर पाता है । ऐसी अवस्था में उसमें निराशा की भावना पनपता है और उसके आवेश में आकर वह शराब आदि पीना आरम्भ कर देता है और फिर से अपराध जायों के प्रति आकृष्ट होता है । यह अवस्था जिसमें उत्पन्न न हो पाये इसके लिये यह आवश्यक है कि देश में नशा-निषेध अवश्य लागू किया जाय । इन सब व्यवस्थाओं के अलावा अपराधियों के उपचार के लिए जिस चीज की सबसे अधिक आवश्यकता है वह है अपराधियों के प्रति समाज को अपना दृष्टिकोण से आमूल परिवर्तन । आज भी हम अपराधी को एक स्वाभाविक दृष्टिकोण से विवेचना नहीं करते हैं । हम यह समझते हैं कि जिस व्यक्ति ने एक बार अपराध किया है वह सदैव ही अपराध करता रहेगा और उसके लिए सुधारना एक प्रकार से असम्भव ही है । इसी से अपराधी के प्रति एक विशेष घृणा-भाव हमारे मन में सदा ही रहती है और इसी घृणा भाव के कारण हम अपराधी के प्रति सहृदयपूर्ण व्यवहार नहीं कर पाते हैं । समाज के लोगों का यह मनोभाव अपराधी को सुधारने नहीं देता है । हो सकता है कि जेल में सजा भुगतने के दौरान उसके मन में अच्छे जीवन बीताने का संकल्प पनपा हो और उसे अपने किये पर पछतावा हो । पर जब वह सजा काट कर समाज में, अपने समूह में लौटकर आता है तो वह यही पाता है कि सब लोग उसे अविश्वास करते हैं, सब लोग उसे घृणा करते हैं, और सब लोग उसका बहिष्कार करना ही पसन्द करते हैं । उसके साथ कोई हमदर्दी करने वाला नहीं है और न ही उसका भावनाओं को समझने का कोई प्रयत्न करता है । ऐसी अवस्था में न केवल वह



निराश और दुःखी ही होता है, बल्कि उसमें बदला लेने की भावना भी प्रबल हो उठती है। वह यह सोचने लगता है कि समाज में जब कोई उसका नहीं है, तो वह भी क्यों किसी का हो, जब समाज उससे घृणा करता है तो वह भी क्यों न समाज को घृणा करने लगे और जब समाज ही उसे अच्छा देखना नहीं चाहता है तो क्यों न वह उसे बुरा बन कर ही दिखाये। ये सभी भावनायें अपराधी को सुधारने से रोकती हैं, और वह फिर से अपराध करता है। इसलिए अपराधी के प्रति हमारा दृष्टिकोण इस प्रकार का होना चाहिए कि उसे सुधारने का अवसर मिले और वह एक अच्छे नागरिक के रूप में अपने को फिर से प्रतिष्ठित कर सके।

यह तो रहा जेल से बाहर अपराधी का उपचार। इसके अलावा जेल के अन्दर भी अपराधी का उपचार कम महत्व का नहीं है। पर इस सम्बन्ध में कुछ लिखने से पूर्व अपराधियों के सुधारने के उपायों में प्रोवेशन (Probation) प्रणाली का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत जज को यह अधिकार होता है कि न्यायालय द्वारा दण्डित अपराधी को जेल न भेजकर समाज में ही कुछ शर्तों पर रहने की आज्ञा प्रदान की जाती है। अपराधियों के उपचार के लिये प्रोवेशन प्रणाली का भी अधिकाधिक विस्तार आवश्यक है। यह जरूरी है कि प्रोवेशन पर जिन लोगों को छोड़ा जाय उनकी देखभाल करने तथा उन्हें अच्छे नागरिक बनने में सहायता करने के लिये योग्य तथा प्रशिक्षित प्रोवेशन अधिकारियों (Probation Officers) की नियुक्ति की जाये। इन अधिकारियों को निरन्तर इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके संरक्षण में रहने वाले अपराधियों को इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक व पारिवारिक परिस्थितियों से सुरक्षा मिलती रहे जो कि अपराध को जन्म देते हैं। अनैतिक या विघटित परिवार व बुरे पड़ोस से अपराधी को दूर रखना, उसके लिये रोजगार की व्यवस्था करना तथा उसके लिये पथ-प्रदर्शक का काम करना प्रोवेशन अधिकारी का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। इस प्रकार अपराधी को वह अवसर तथा प्रोत्साहन प्रदान किया जाना चाहिए जिससे कि वह अपने जीवन को फिर से व्यवस्थित तथा संतुलित कर सके।

जेल के अन्दर भी अपराधियों के उपचार के सम्बन्ध में एक योजना को प्रस्तुत किया जा सकता है। उस योजना का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि जेल को एक अस्पताल की भाँति बनाना होगा जिसमें कि अपराधी नामक “विशेष रोगी” का उचित उपचार ठीक उसी भाँति हो सके जैसे कि अन्य रोगियों का इलाज अस्पतालों में होता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि जिस दिन और जिस समय से अपराधी का आगमन जेल के अन्दर हो, उसी समय से उसका उपचार आरम्भ कर दिया जाये। इसके लिये यह आवश्यक है कि कोई सुयोग्य अधिकारी सहानुभूतिपूर्ण ढंग से अपराधी के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में अधिक से अधिक सूचनायें प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यह काम एक दिन में कभी न किया जाये। साक्षात्कार विधि (Interview method) के द्वारा धीरे-धीरे अपराधी को अपने विषय में सब कुछ कहने को कहा जाय तो अच्छा हो। इस प्रकार प्राप्त सूचनाओं से अपराध के



आधारभूत कारणों का पता लगाया जा सकता है और 'रोग' कितना गम्भीर है इस सम्बन्ध में भी निश्चित अनुमान लगाया जा सकेगा। इसके बाद उस अपराधी विशेष के उपचार के सम्बन्ध में ठीक उसी भाँति व्यवस्था या नुसखा (Prescription) तैयार करना होगा जैसा कि एक डाक्टर अपने रोगी से पूँछताछ के पश्चात्, उसके लिए एक नुसखा लिखता है या चिकित्सा की एक योजना बनाता है। पर जिस प्रकार एक रोगी के लिये तैयार किये गये नुसखे को वह अन्य सभी रोगियों पर बिना सोचे समझे लागू नहीं करता है उसी प्रकार एक अपराधी के उपचार की योग्यता को अन्य सभी अपराधियों पर भी लागू नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अपराधी की अपनी एक 'समस्या' होती है, इसलिये उस समस्या विशेष को हल करने के लिये प्रत्येक अपराधी के प्रति व्यक्तिगत ध्यान (individual attention) देने की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि अपराधी आदतों को एकाएक तोड़ा नहीं जा सकता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि अपराधी को ऐसी परिस्थितियों में रक्खा जाय जिनमें वे आदतें धीरे-धीरे दुर्बल पड़ जायें। अतः जेल के अन्दर का सम्पूर्ण वातावरण सजा देने का नहीं, बल्कि सुधारने का होनी चाहिए। नैतिक शिक्षा और सामान्य शिक्षा की व्यवस्था, सफाई व स्वास्थ्य के विषय में प्रशिक्षण, रोजी कमाने के लिये आवश्यक औद्योगिकीय प्रशिक्षण, खेल-कूद, मनोरंजन, साहित्यिक व सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि की व्यवस्था जेलखाने में होना परमावश्यक है। पंचायत व सहकारिता आदि के विकास के द्वारा अच्छे नागरिक बनने तथा उत्तरदायित्व लेने की भावना को जागृत करने की भी आवश्यकता है। जो काम वे करें, उसके लिये उन्हें वेतन मिले और उस वेतन में से कुछ से उनके भरण-पोषण की व्यवस्था की जाय और शेष बचत बैंक में उनके नाम से ही जमा रक्खी जाय। इससे मेहनत की कमाई खाने तथा बचत करने की आदत पनप सकेगी। अपराधियों के लिये नाटक, चलचित्र, भाषण, वाद-विवाद, संगीत, धार्मिक उत्सवों आदि की भी व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि उनके जीवन के कलात्मक पक्षों का भी सन्तुलित विकास हो सके और उनमें जीवन को सुन्दर बनाने तथा उस सुन्दर जीवन को सुन्दर ढंग से उपभोग करने की प्रवृत्ति जागृत हो सके।

अपराधी को सुधार कर जेल से छोड़ देने मात्र से ही उनका उचित उपचार नहीं होगा जब तक यह भी ध्यान न दिया जाय कि जेल छोड़ने के बाद अपराधी को जीवन में फिर से प्रतिष्ठित होने का अवसर भी मिला या नहीं। इसके लिये यह आवश्यक है कि रोजी कमाने के लिये एक नौकरी प्राप्त करने में उसकी मदद की जाये तथा उसे उन परिस्थितियों से दूर रक्खा जाय जिनके कारण वह अपराधी बन गया था।

अब हम उन संस्थाओं के सम्बन्ध में विवेचना करेंगे जो कि अपराधियों को सुधारने में सहायक होती हैं। उनमें से प्रोबेशन तथा पैरोल, पुलिस व अदालत के विषय में हम इस अध्याय में तथा जेल के सम्बन्ध में अगले एक अध्याय में विवेचना करेंगे।



## प्रोबेशन-प्रणाली (Probation System)

**प्रोबेशन क्या है ?**

(What is Probation)

‘प्रोबेशन’ शब्द लैटिन शब्द ‘*probare*’ से निकला है जिसका अर्थ परीक्षा लेना (to test) अथवा प्रमाणित करना (to prove) है। इससे यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भ में प्रोबेशन का अर्थ अपराधी को दिये जाने वाले उस मौके से था जिसमें कि उसे यह प्रमाणित करना पड़ता था कि उसने अपने आचरण को ठीक कर लिया है। परन्तु आधुनिक प्रयोग के अनुसार प्रोबेशन का अर्थ कहीं अधिक व्यापक है। अब तो प्रोबेशन प्रणाली के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा दण्डित कुछ अपराधियों को सजा भुगतने के लिये जेल न भेजकर उससे एक निश्चित अवधि तक अच्छा आचरण बनाये रखने का आश्वासन लेकर उसे प्रोबेशन अधिकारी की देखभाल में समाज में ही कुछ शर्तों पर रहने व सुधारने का अवसर दिया जाता है और उस अवधि में सजा को स्थगित कर दिया जाता है। परन्तु यदि अपराधी प्रोबेशन की अवधि में ही दुबारा अपराधी क्रियाओं में भाग लेता है तो उसे गिरफ्तार करके अदालत के सम्मुख पेश किया जा सकता है और अदालत स्थगित सजा को फिर से लागू करने के लिये उसे जेल भेज सकती है। अपराधी के उपचार के उद्देश्य से ही ऐसा किया जाता है ताकि अपराधी प्रोबेशन अधिकारी के निर्देश तथा सहायता का पूर्ण उपयोग करके अपने ही परिवार और समाज में रहते हुए एक अच्छा नागरिक बन सके।

श्री सदरलैण्ड के शब्दों में, “प्रोबेशन दण्ड को स्थगित रखने की अवधि में दोषी ठहराये गये अपराधी की वह स्थिति (status) है जिसमें अच्छा व्यवहार करने की शर्त पर उसे छोड़ा जाता है और उस अवधि में राज्य व्यक्तिगत निरीक्षण के द्वारा उसे सदाचरण बनाये रखने में सहायता करने का प्रयत्न करता है।”<sup>1</sup>

प्रोबेशन प्रणाली के जन्म देने का श्रेय श्री जॉन ऑगस्टस (John Augustous) नामक एक मोची को है जिन्होंने सन् १८४१ से बोस्टन में अपराधियों, विशेषकर शराबियों को अपने उत्तरदायित्व पर अदालत से छुड़ाकर मैत्रीपूर्ण निरीक्षण में रखना आरम्भ किया। आपने अनेक शराबियों पर अदालत द्वारा लगाये गये जुर्माने को देकर उन्हें छुड़ाया और फिर अपने सद्भावना पूर्ण व्यवहार, प्रभाव तथा निरीक्षण द्वारा इस बात का प्रयत्न किया कि वे शराब पीना छोड़ दें। जब इस काम में श्री ऑगस्टस को सफलता मिलने लगी तो उसे देखकर अदालत ने दूसरे प्रकार के मामूली अपराधियों को भी सुधारने के लिये उनके संरक्षण में रखना आरम्भ

1. “Probation is the status of a convicted offender during a period of suspension of the sentence in which he is given liberty conditioned on his good behaviour and in which the State by personal supervision attempts to assist him to maintain good behaviour.” E. H. Sutherland, *Principles of Criminology*, J. B. Lippincott Co. New York 1960 p. 422



किया। इस प्रयोग में अधिक सफलता मिलने पर ही प्रोबेशन अधिकारियों की नियुक्ति सरकार की ओर से होने लगी।

### प्रोबेशन का उद्देश्य

(Aims of Probation)

(१) प्रोबेशन के उद्देश्य के सम्बन्ध में परम्परागत धारणा यह है कि यह प्रथम अपराधियों के प्रति सहानुभूति प्रगट करने की एक विधि है और इसीलिये दण्ड को कुछ समय के लिये स्थगित करके अपराधी को यह अवसर दिया जाता है कि वह अपने को सुधार ले।

(२) इस सम्बन्ध में एक दूसरी परम्परागत धारणा यह है कि प्रोबेशन का उद्देश्य चेतावनी देकर अथवा दण्ड का भय देकर अपराधी का सुधार करना है। परन्तु डरा-धमकाकर भी अपराधियों का सुधार किया जा सकता है, इस बात को आधुनिक अपराधशास्त्री या समाज सुधारक नहीं मानते हैं। अतः प्रोबेशन प्रणाली के उद्देश्य के सम्बन्ध में यह धारणा अत्यन्त संकुचित है।

(३) आज यह स्वीकार किया जाता है कि प्रोबेशन का उद्देश्य बिगड़े हुए बच्चों की अनेक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। यह उद्देश्य आदर्शात्मक है और यदि इस आदर्श की पूर्ति हो जाय तो समाज की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति सम्भव हो सके। परन्तु इसको व्यवहारिक रूप देना कठिन है। एक प्रोबेशन अधिकारी से शायद यह आशा करना दुराशा ही होगा कि वह उसके संरक्षण में रहने वाले सौ-सवासी बच्चों की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल होगा।

(४) प्रोबेशन के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक चौथी धारणा यह है कि प्रोबेशन प्रणाली उपचार (therapy) की एक विधि है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रोबेशन प्रणाली अपराधी तथा प्रोबेशन अधिकारी के बीच एक सहानुभूति और सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध को पनपाती है जिसके फलस्वरूप अपराधी में अपना सुधार करने की शक्ति उत्पन्न होती है। प्रत्येक अपराधी का व्यक्तित्व संगठन (personality organization) एक अलग प्रकार का होता है। प्रोबेशन अधिकारी व्यक्तिगत जीवनी अध्ययन विधि के द्वारा उस व्यक्तिगत व्यक्तित्व संगठन को जानने तथा उसकी सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का अध्ययन करने का प्रयत्न करता है जिसके आधार पर अपराधी विशेष को उसकी व्यक्तिगत समस्याओं या कमियों की पृष्ठभूमि में ही सुधारना सम्भव हो सके।

### प्रोबेशन की शर्तें

(Conditions of Probation)

किस अपराधी को प्रोबेशन पर छोड़ा जायेगा और किसको नहीं यह एक स्थान विशेष के कानून के द्वारा निश्चित किया जाता है। फिर भी सामान्य रूप में गम्भीर व हिंसात्मक अपराध और कुछ यौन व आर्थिक अपराध करने वाले व्यक्तियों को प्रोबेशन पर नहीं छोड़ा जाता है। उसी प्रकार जो व्यक्ति पहले भी अनेक बार



अपराध कर चुका है उसे भी प्रोवेशन पर नहीं छोड़ा जाता है। सामान्यतया मामूली ढंग के प्रथम अपराध करने वाले व्यक्ति को ही यह सुविधा प्राप्त होती है। प्रोवेशन पर छोड़ने की कुछ निश्चित शर्तें भी होती हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—(१) प्रोवेशन एक निश्चित अवधि के लिये ही होता है। उस अवधि में अपराधी को सदाचरण बनाये रखना होता है, वरना उसे फिर से पकड़ कर अदालत के सामने पेश किया जाता है और अदालत उसकी जमानत जव्त करके जेल में दण्ड भोगने के लिए भेज देती है। (२) प्रोवेशन पर छोड़ने से पहले अपराधी से एक इकरारनामा (bond) यह भरवाया जाता है कि प्रोवेशन की अवधि में वह सदाचरण या अच्छे व्यवहार को बनाये रखेगा और कानूनी दृष्टिकोण से आपत्तिजनक किसी भी काम में भाग न लेगा। (३) अपराधी से नकद या व्यक्तिगत जमानत भी ली जा सकती है। (४) अपराधी को इस बात के लिये भी बाध्य किया जा सकता है कि वह चुराये हुए या नष्ट किये गये धन अथवा सम्पत्ति को लौटा दे या उसका हर्जाना दे। (५) अपराधी के व्यक्तिगत व्यवहारों या क्रिया-कलापों पर भी नियन्त्रण किया जा सकता है। उदाहरण के लिये उससे यह माँग की जा सकती है कि वह शाम को जल्दी घर वापस आये और बदनाम व्यक्तियों या स्थानों से अपने को दूर रखे। बीच-बीच में डाकटरी जाँच के लिये भी उसे बुलाया जा सकता है। (६) अपराधी को बीच-बीच में प्रोवेशन अधिकारी से भी मिलते रहना पड़ता है और उसकी आजा के बिना वह न तो शहर या गाँव छोड़ सकता है और न ही पता बदल सकता है।

### प्रोवेशन-अधिकारी के कार्य

#### (Functions of Probation Officer)

प्रोवेशन प्रणाली में सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्रोवेशन अधिकारी का ही होता है। वास्तव में प्रोवेशन अधिकारी वह धुरी है जिस पर कि सम्पूर्ण प्रोवेशन प्रणाली घूमती है। यही कारण है कि प्रोवेशन की सफलता या असफलता बहुत कुछ इस अधिकारी की ही योग्यता, निष्ठा, ईमानदारी तथा सद्-प्रयत्नों व अनुभवों पर निर्भर करती है। इसीलिये इस पद पर उन्हीं की नियुक्ति की जाती है जो कि समाज-शास्त्र का विद्यार्थी हो, जिसमें व्यक्ति की सामाजिक व मनोवैज्ञानिक समस्याओं को समझने की योग्यता हो, जिसे अदालत व कानून के विषय में ज्ञान हो तथा जोकि सच्चरित्र, सुसंतुलित व्यक्तित्व व प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति हो। प्रोवेशन अधिकारी को नियुक्त करते समय इन योग्यताओं पर विशेष ध्यान इस कारण दिया जाता है कि उसे प्रोवेशन प्रणाली के अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को करना पड़ता है। इन कार्यों में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(१) इसके पहले कि जज किसी व्यक्ति को प्रोवेशन पर छोड़ दे या छोड़ने का निश्चय करे, प्रोवेशन अधिकारी का यह कार्य है कि वह व्यक्तिगत जीवनी अध्ययन पद्धति द्वारा अपराधी की सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का सही-सही पता लगाकर उसे अपराधी-कार्य की एक पृष्ठभूमि के रूप में जज के सम्मुख प्रस्तुत करे जिसकी सहायता से जज के लिये अपराध के वास्तविक कारण या



कारणों के जानने में तथा अपराधी को प्रोवेशन पर छोड़ना उचित होगा या नहीं, यह निश्चय करने में सहायता मिले। प्रोवेशन अधिकारी का यह कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि यह कार्य वह जितनी सफलतापूर्वक व कुशलता से सम्पादित कर सकेगा उतनी ही सहायता जज को अपराधी के साथ न्याय करने में मिलेगी और उतनी ही सरलता होगी उस अपराधी के वास्तविक उपचार करने में। प्रोवेशन अधिकारी के इस कार्य के परिणामों के आधार पर ही एक अपराधी की वास्तविक समस्याओं को समझा और उन्हें दूर किया जा सकता है।

(२) प्रोवेशन अधिकारी का एक और महत्वपूर्ण कार्य अपराधी के दिमाग में प्रोवेशन की शर्तों तथा उनका पालन करने के महत्व को बैठा देना होता है जिससे कि प्रोवेशन प्रणाली के सफल होने की सम्भावना बढ़ जाये क्योंकि प्रोवेशन की शर्तों को अपराधी जितना अधिक निष्ठापूर्वक पालन करेगा उतनी ही अधिक उसके सुधरने की सम्भावना होगी और प्रोवेशन प्रणाली के मौलिक उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी।

(३) प्रोवेशन अधिकारी का कार्य केवल अपराधी को प्रोवेशन की शर्तों को समझा देना ही नहीं है वरन् उन शर्तों का पालन करने में उसकी मदद भी करनी है। इसके लिए प्रोवेशन अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपराधी से अधिकाधिक घनिष्ट सम्पर्क बनाये रखे तथा उसके जीवन में आने वाली समस्याओं को सुलझाने में उसकी सहायता करे।

(४) प्रोवेशन अधिकारी का एक कार्य यह भी है कि वह यह देखे कि प्रोवेशन में छूटने के बाद अपराधी फिर कहीं उन्हीं परिस्थितियों में रहने के लिये लौट तो नहीं जा रहा है जिन परिस्थितियों ने उसे एक बार अपराधी बना दिया था। अतः प्रोवेशन अधिकारी यदि यह अनुभव करता है कि अपराधी का परिवार या पड़ोस उसके लिए हितकर नहीं है तो प्रोवेशन अधिकारी का यह कार्य है कि वह ऐसे स्थान पर उसके रहने की व्यवस्था कर दे जोकि उसके सुधरने के लिए अनुकूल हो।

(५) पर केवल अनुकूल स्थान पर रहने का प्रबन्ध कर देना ही पर्याप्त नहीं है। अपराधी जहाँ-कहीं भी रहता हो, प्रोवेशन अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह बीच-बीच में उस स्थान पर स्वयं जाकर इस बात का पता लगा ले कि अपराधी ने प्रोवेशन की अवधि में सदाचरण को बनाये रखा है या नहीं। उसी प्रकार बीच-बीच में अपने कार्यालय में भी अपराधी को बुलाकर उसके आचरण और समस्याओं के सम्बन्ध में पता लगाना और आवश्यकतानुसार उसका पथ-प्रदर्शन करना प्रोवेशन अधिकारी का महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है।

(६) प्रोवेशन अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपराधी को सहानुभूति और सद-भावनापूर्ण व्यवहार से जीतने का प्रयत्न करे। उसका प्रयत्न अपराधी को यथार्थ रूप में समझने और उसको सहायता देने का होता है जिससे कि अपराधी समाज की ओर अपने विचारों में परिवर्तन ला सके। प्रोवेशन अधिकारी का यह कार्य है कि वह किसी भी अपराधी पर उपचार बलपूर्वक थोपने का प्रयत्न न करे क्योंकि डरा-धमका कर अथवा अपराधी पर अपना प्रभुत्व और पद-प्रतिष्ठा दिखाकर



सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती है। इसलिए प्रोबेशन अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपराधी को जैसा वह है वैसा ही स्वीकार करते हुए उसे सुधारने के लिए अपनी योग्यता व अनुभवों को प्रयोग में लाये।

(७) प्रोबेशन अधिकारी का एक महत्वपूर्ण कार्य अपराधी को आर्थिक रूप से जीवन में बसा देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रोबेशन अधिकारी आवश्यकता-नुसार अपराधी को रोजगार दिलवाने का प्रयत्न करता है।

(८) प्रोबेशन अधिकारी का यह भी कार्य है कि प्रोबेशन की अवधि में उसके देखरेख में रहने वाले अपराधियों के आचरण के सम्बन्ध में समय-समय पर अदालत को रिपोर्ट पेश करे और यदि अपराधी किसी भी स्तर पर प्रोबेशन की किसी शर्त को तोड़ता है तो उसकी सूचना तुरन्त अदालत को दे।

(९) सामान्य रूप में प्रोबेशन अधिकारी का कार्य अपराधी के मित्र, पथ-पदर्शक तथा संरक्षक व सुधारक के रूप में सदा क्रियाशील रहना है।

### प्रोबेशन का सामाजिक लाभ

#### (Social Benefits of Probation)

जेल व्यवस्था के एकाधिक दोषों से हम सभी परिचित हैं। उन दोषों में सबसे प्रमुख दोष यह है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत अपराधी को समाज से पृथक् होना पड़ता है। यह बात विशेष रूप से उन अपराधियों के विषय में सच कही जा सकती है जिन्हें लम्बी कैद की सजा मिलती है। प्रोबेशन प्रणाली इस दोष को दूर करती है और अपराधी को उसके ही समाज तथा परिवार में रख कर सुधारने का अवसर देती है, अपने घर में रहने में जो मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है वह अपराधी के व्यक्तित्व में आश्चर्यजनक मोड़ ला सकता है। इसीलिए श्री होमर कम्मिंग्स (Homer Cummings) ने लिखा है, “प्रोबेशन अनुशासन और चिकित्सा की एक विधि है। यदि प्रोबेशन पर छोड़े जाने वाले व्यक्तियों का सावधानीपूर्वक चुनाव किया जाये और यदि निरीक्षण का कार्य बुद्धिमत्ता और समझदारी के साथ किया जाये तो हम अपराधियों के पुनर्वासन कार्य में चमत्कार दिखला सकते हैं।”<sup>2</sup> प्रोबेशन प्रणाली के निम्नलिखित सामाजिक लाभों का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि प्रोबेशन प्रणाली जेल व्यवस्था के इस दोष को दूर करती है कि अपराधी को उसके समाज और परिवार से पृथक् नहीं करती है। यह प्रणाली अपराधी को एक सामाजिक इकाई के रूप में देखती है, इस कारण यह विश्वास करती है कि जिस प्रकार व्यक्ति का बिगड़ जाना अनेक सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार उसका सुधारना भी सामाजिक परिस्थितियों में ही सम्भव है। वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों से उखाड़ फेंक कर या पृथक् करके उसे सुधारने की कल्पना कदापि नहीं

2. “Probation is a method of discipline and treatment. If probationers are carefully chosen and the supervisory work is performed with intelligence and understanding, we can work miracles in rehabilitation.” Homer Cummings, *Survey of Release Procedures*, p. 471,



की जा सकती है। श्री सदरलैण्ड (Sutherland) ने लिखा है कि प्रोबेशन नीति के अन्तर्गत अपराधी को उस सामान्य समाज में ही रहने का अवसर मिलता है जोकि चरित्र के विकास के लिये सर्वोत्तम परिस्थिति होती है, साथ ही उस समाज से उसे जीवन की अवस्थायें (conditions of life) के साथ अनुकूलन करने के लिये आवश्यक सहायता मिलती रहती है जिसके फलस्वरूप वह उन अवस्थाओं के साथ संघर्ष कर सकता है जोकि अपराध को जन्म देती हैं।<sup>3</sup>

(२) प्रोबेशन प्रणाली के अन्तर्गत अपराधी पर जो निगरानी रखी जाती है, उसमें सहानुभूति सद्भावना और सुधारवादी प्रयत्न अधिक रहता है और दण्ड देने की भावना कम। प्रोबेशन सेवाओं का मुख्य उद्देश्य अपराधी को सुधरने का केवल एक दूसरा मौका देना ही नहीं है, बल्कि उचित और उपयुक्त सहायता और सुझावों के द्वारा उसके व्यवहार को ठीक दिशा में निर्देशित करना भी है। इससे अपराधी के व्यवहार में जो स्थायी सुधार होने की सम्भावना होती है उससे समाज को और व्यक्ति को प्रगति करने का अवसर मिलता है। समाज की प्रगति चरित्रवान और परिश्रमी नागरिकों पर ही निर्भर है।

(३) अपराधी को सदा से ही समाज पर एक बोझ समझा जाता रहा है। पर अब प्रोबेशन प्रणाली उसे समाज के एक उपयोगी अंग के रूप में प्रस्तुत करती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत अपराधी समाज में रहते हुए सामाजिक उत्पादन कार्य में सक्रिय भाग लेता है, स्वयं धन कमाता है और समाज के आर्थिक विकास में योगदान करता है। इस कारण वह समाज के ऊपर एक भार न बन कर एक उपयोगी इकाई बन जाता है। उसी प्रकार जब वह रोजगार करता है और परिवार में अपने आश्रितों का पालन-पोषण करता है या परिवार की आय को बढ़ाने में सहायक होता है तो भी वह परिवार तथा समाज के लिए उपयोगी ही सिद्ध होता है।

(४) प्रोबेशन प्रणाली जेल व्यवस्था या अन्य सुधार संस्थाओं की तुलना में सस्ती भी होती है। उदाहरण के लिए सन् १९६५ में उत्तर-प्रदेश में ६३५० अपराधियों को प्रोबेशन पर छोड़ा गया। इन अपराधियों पर राज्य सरकार का अनुमानतः ३,५६,००० रुपये खर्च हुआ। यदि इन्हीं अपराधियों को जेल भेजा जाता तो प्रति अपराधी कम से कम ४३० रुपये प्रतिवर्ष की दर से लगभग २६ लाख रुपये खर्च होता। इसी प्रकार प्रोबेशन प्रणाली से एक लाभ यह होता है कि इससे राज्य का पर्याप्त खर्चा बच जाता है जोकि अन्य सार्वजनिक कल्याण-कार्यों में खर्च किया जा सकता है।

(५) प्रोबेशन प्रणाली साधारण प्रकार के अपराधी को घाघ किस्म के

3. "The probation policy enables these offenders to remain in the general society, which is the best situation in which to develop character, and at the same time to receive assistance in adopting themselves to the conditions of life, so that they will not be so impotent in struggling against the conditions which produced the delinquency." E. H. Sutherland, op. cit., p. 440.



अपराधी बनने से रोक कर समाज में ऐसे अपराधियों की संख्या को बढ़ाने नहीं देती है और इनसे समाज की रक्षा करती है। यह इस कारण सम्भव होता है क्योंकि प्रोबेशन प्रणाली अपराधी को जेल के दूषित वातावरण से बचाती है और उसको जेल में रहने वाले घाघ व पेशेवर अपराधियों के सम्पर्क में आने नहीं देती है। इन अपराधियों के सम्पर्क में आने से आकस्मिक अपराधी भी अपराध की उन विधियों को सीख जाते हैं जो कि पहले वह नहीं जानते थे। पर प्रोबेशन प्रणाली में इसकी सम्भावना बिल्कुल ही नहीं रहती है। साथ ही यह देखा गया है कि जेल में रह कर अनेक कैदी मानसिक रोग या अस्वस्थताओं के शिकार हो जाते हैं और उनमें अनेक सामाजिक व मनोवैज्ञानिक हीन धारणायें विकसित हो जाती हैं। प्रोबेशन प्रणाली सरलतापूर्वक अपराधी को इन असामान्य प्रवृत्तियों के खतरे से बचा लेती है।

(६) प्रोबेशन प्रणाली अनेक परिवारों को आर्थिक बर्बादी से बचा लेती है जो कि अपराधी को जेल भेज देने पर नहीं हो पाता है। प्रोबेशन में अपराधी केवल अपना ही नहीं बल्कि अपने आश्रितों का भी भरण-पोषण कर सकता है या कम से कम आर्थिक आय को बढ़ाने में अपना योगदान दे सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण से यह भी कम महत्वपूर्ण लाभ नहीं है।

(७) अपराधी के लिये भी प्रोबेशन के कुछ निश्चित लाभ हैं जैसे—  
 (क) अपराधी अपने परिवार, मित्रों और मालिकों के मस्तिष्क में एक अपराधी के रूप में छाप नहीं छोड़ता है और इसीलिये उसके सामाजिक पद में भी कोई कमी नहीं आती है। (ख) अपराधी को अपने परिवार तथा समाज में रहने का अवसर मिलता है और उस अवसर से उसे जो आन्तरिक सन्तोष प्राप्त होता है वह उसे सुधारने में सहायक होता है। (ग) अपराधी परिवार में ही रहने से परिवार के अन्य सदस्यों को भी बड़ा सन्तोष रहता है और अपराधी उन सदस्यों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी पूरा कर सकता है। (घ) चूँकि प्रोबेशन में रहने वाला अपराधी नौकरी करता और धन कमा सकता है, इस कारण वह इस योग्य होता है कि वह क्षतिपूर्ति कर सके, यदि उसने कोई चीज चोरी की है या किसी चीज को नष्ट किया है। (ङ) प्रोबेशन प्रणाली में अपराधी को सुधारने में समुदाय, विशेषकर परिवार का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। परिवार सहायता, सुझाव, नियंत्रण, भौतिक सहायता, पारिवारिक आदर्श आदि के माध्यम से अपराधी को सुधार सकता है। (च) प्रोबेशन को दण्ड नहीं समझा जाता है, इस कारण अपराधी सामाजिक कलंक से बच जाता है। (छ) प्रोबेशन प्रणाली से पहले बहुत ही साधारण (minor) अपराधियों को चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है। इससे अपराधी प्रवृत्ति को बढ़ावा ही मिलता है। प्रोबेशन प्रणाली में इन छोटे अपराधियों को भी निरीक्षण में रखा जाता है ताकि उनकी अपराधी प्रवृत्ति बिल्कुल न पनप पाये और उनका सुधार सम्भव हो। सामाजिक व व्यक्तिगत दोनों ही दृष्टिकोण से प्रोबेशन का यह भी एक उल्लेखनीय लाभ है।



## प्रोबेशन प्रणाली से हानियाँ

### (Demerits of Probation System)

उपरोक्त लाभ होने पर भी प्रोबेशन प्रणाली से कुछ हानियाँ भी होती हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

(१) अपराधी को बिना दण्ड दिए प्रोबेशन पर छोड़ देने से दण्ड के प्रति अपराधी के मन से डर चला जाता है और वह दुबारा अपराध कर सकता है।

(२) प्रोबेशन प्रणाली के अन्तर्गत अपराधी को अक्सर उसी परिवार और समुदाय के पर्यावरण या परिस्थितियों में लौटा दिया जाता है जहाँ रहकर उसने अपराध करना सीखा था। इससे वह फिर अपराध की ओर बढ़ सकता है या उसका वास्तविक सुधार कठिन हो जाता है।

(३) प्रोबेशन अधिकारी सरकारी नौकर होते हैं और इसीलिये वह अपने कर्तव्यों को भी 'सरकारी ढंग' से ही निभाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे प्रायः अपराधी के व्यक्तिगत जीवन के बारे में व्यौरा सतर्कतापूर्वक इकट्ठा नहीं करते हैं और अधिकतर जजों को अपराधियों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनायें नहीं प्राप्त होती हैं। फलतः उचित व्यक्तियों को प्रोबेशन से लाभ नहीं मिल पाता है।

(४) अक्सर प्रोबेशन अधिकारियों का चुनाव उचित ढंग से नहीं किया जाता है और इस पद पर उन व्यक्तियों की भरमार होती है जिनमें अपराधियों को समझने और उन्हें सुधारने के लिए न तो कोई योग्यता होती है और न ही कोई प्रशिक्षण। इसका परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण प्रोबेशन प्रणाली को ही धक्का लगता है और अपराधियों का वास्तविक सुधार नहीं हो पाता है।

(५) कभी-कभी व्यभिचारपूर्ण राजनैतिक व्यक्तियों का दबाव जज पर पड़ता है और पेशेवर अपराधियों को भी प्रोबेशन पर छोड़ दिया जाता है जो कि समाज के लिये बहुत हानिकारक प्रतीत होता है।

## भारत में प्रोबेशन

### (Probation in India)

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में अंग्रेजी कानून का सूत्रपात हुआ था। इसी दण्ड विधान में सर्वप्रथम प्रोबेशन प्रणाली का उल्लेख देखने को मिलता है। सन् १८६१ में बनाये गए क्रिमिनल प्रोसीडियर कोड (Criminal Procedure Code) के अनुच्छेद (section) ५६२ में इस बात की व्यवस्था की गई थी कि कुछ प्रथम अपराधियों (First offenders) को दण्ड देने के स्थान में उसके चरित्र, आयु, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखते हुये सदाचरण के प्रोबेशन (Probation of good conduct) पर छोड़ा जाय। इस व्यवस्था का क्षेत्र बहुत सीमित था क्योंकि इसके अन्तर्गत केवल उन्हीं को प्रोबेशन पर छोड़ा जाता था जिनका अपराध बहुत ही साधारण हो। सन् १९३२ में इस अनुच्छेद में संशोधन किया गया और इसका क्षेत्र विस्तृत किया गया। संशोधन के बाद यह अनुच्छेद किसी भी स्त्री या पुरुष और



कसी भी आयु के व्यक्ति पर लागू होता था जिन्होंने ऐसे अपराध किए थे जिसका दण्ड सात वर्ष के कारावास से अधिक न हो। साथ ही यह २१ वर्ष के नीचे सभी स्त्रियों और पुरुषों पर भी लागू होता था जो ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराये गये हैं जो मृत्यु अथवा आजीवन कारावास द्वारा दण्डनीय नहीं है और जिसके विरुद्ध कोई पूर्व अपराध प्रमाणित नहीं होता है। अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि ऐसे प्रथम अपराधियों को शान्ति और सदाचरण बनाए रखने का बाँड भरने पर जमानत लेकर या बिना जमानत के, छोड़ सकते थे। ऐसे व्यक्तियों को अदालत द्वारा तय की हुई एक निश्चित अवधि (जोकि तीन वर्ष से अधिक न होगी) तक अव्यवहार करना पड़ता था और ऐसा न करने पर अदालत उसे बुलवा कर मूल दण्ड से दण्डित करती थी।

इसके बाद अनेक दिनों के अनुभवों ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रथम-अपराधी (First offenders) तथा बाल-अपराधियों (Child delinquents) के निरीक्षण और सुधार का यदि विशेष प्रयत्न नहीं किया गया तो भविष्य में वे ही जमीन व पेशेवर अपराधी बन जाते हैं। इसलिए उनको सदाचरण के प्रोवेशन पर छोड़ देना ही पर्याप्त न होगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि प्रोवेशन पर छोड़े गए व्यक्तियों की देख भाल करने तथा उनके व्यवहार पर नियन्त्रण व नजर रखने के लिये कोई सरकारी अधिकारी होना चाहिए। इसलिए सर्वप्रथम बाल-अधिनियम के अन्तर्गत बालकों की देखरेख करने के लिए प्रोवेशन अधिकारी (Probation officer) की नियुक्ति की जाने लगी। पर फिर भी बालिग अपराधियों को इस सेवा से वंचित ही रहना पड़ा। सन् १९३७ में इस कमी को पूरा करने के लिये मद्रास सरकार ने सर्वप्रथम क्रियात्मक कदम उठाया और 'मद्रास प्रोवेशन अधिनियम' पास किया। इसके बाद सन् १९३८ में उत्तरप्रदेश तथा बम्बई राज्यों में भी इसी प्रकार के कानून पास किए गए।

प्रारम्भ में मद्रास में प्रोवेशन अधिनियम के प्रशासन का कार्य मद्रास राज्य के मुक्तबन्दी सहायक समाज (Discharged Prisoners Aid Society) को सौंपा गया था। पर शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि निःशुल्क कर्मचारियों द्वारा प्रोवेशन सेवाएँ सन्तोषजनक ढंग से प्रदान नहीं की जा सकती हैं। अतः मई, १९६४ में प्रोवेशन कार्य के शासन का उत्तरदायित्व इंस्पेक्टर जनरल आफ प्रिजन्स (Inspector General of Prisons) को सौंप दिया गया। इस समय जिला प्रोवेशन अधिकारियों के ऊपर एक मुख्य प्रोवेशन अधिकारी उनके कार्यों की देख-रेख करता है। इस समय ६५ प्रोवेशन अधिकारी वहाँ कार्य कर रहे हैं। जिनमें ६ महिला प्रोवेशन अधिकारी हैं। उत्तर प्रदेश में प्रोवेशन अधिनियम को लागू हुए लगभग २६ वर्ष हो चुके हैं। इस प्रदेश में ५१ जिलों में से ३३ जिलों में प्रोवेशन सेवाएँ उपलब्ध हैं। सन् १९६५ में लगभग ४८०० अपराधियों को प्रोवेशन अधिकारी के संरक्षण में छोड़ा गया। अनुमान किया गया है कि कुल संख्या का ६० प्रतिशत २४ वर्ष से कम आयु के अपराधी होते हैं जिनके अपराध के लिए मृत्यु-दण्ड अथवा आजीवन कारावास नहीं



दिया जा सकता, प्रोबेशन पर छोड़े जाते हैं। परन्तु प्रोबेशन अधिकारियों की कमी तथा अकुशलता के कारण केवल आधे अपराधियों को ही लाभ होता है। उपरोक्त राज्य सरकार द्वारा पास किये गये अधिनियम इस प्रकार हैं।

### मद्रास प्रोबेशन अधिनियम

(Madras Probation of Offenders Act, 1937)

इस अधिनियम के अनुसार यदि अदालत अपराधी की आयु, चरित्र आदि को ध्यान में रखते हुये उचित समझे तो वह उसे डाट-फटकार कर और भविष्य के लिये चेतावनी देकर छोड़ सकती है।

यदि कोई व्यक्ति २१ वर्ष से अधिक आयु का है और उसके अपराध की सजा अधिक से अधिक ७ वर्ष है, अथवा यदि कोई व्यक्ति २१ वर्ष से कम आयु का है और उसके अपराध की सजा आजीवन कारावास अथवा मृत्यु दण्ड नहीं है तो अदालत उसकी आयु और परिस्थितियों का विचार करते हुए उससे अच्छे आचरण को बनाये रखने का वादा करवाकर प्रोबेशन पर छोड़ सकती है। प्रोबेशन पर छोड़ने के लिये अपराधी से आश्वासन या इकरारनामा के रूप में बाँड भरवाये जाते हैं और यदि आवश्यकता समझी जाती है तो जमानत के रूप में नकद या व्यक्तिगत जमानत माँगी जा सकती है।

अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकार स्वयं अथवा अन्य संस्थाओं के द्वारा प्रोबेशन अधिकारी नियुक्त करने की व्यवस्था कर सकती है। अपराधी से मिलते जुलते रहना, यह देखना कि अपराधी अदालत में दिये गये बाँड का पालन कर रहा है अथवा नहीं, तदनुसार समय-समय पर अपराधी के आचरण के सम्बन्ध में अदालत को सूचित करते रहना तथा अपराधी से मित्रता करना और आवश्यकता पड़ने पर उसकी आवश्यक सहायता करना इस अधिनियम के अनुसार प्रोबेशन अधिकारी के मुख्य कार्य हैं। प्रोबेशन में २५ वर्ष की आयु पर पहुँचने पर देख-रेख और नियन्त्रण कार्य समाप्त कर दिया जाता है।

### उत्तर प्रदेश प्रथम अपराधी प्रोबेशन अधिनियम १९३८

(U. P. First Offenders Probation Act, 1938)

इस अधिनियम के अन्तर्गत केवल वे अपराधी ही आते हैं जिन्होंने अपने जीवन में प्रथम बार अपराध किया है। यदि कोई व्यक्ति चोरी, बेईमानी, गबन, बोखेवाजी अथवा किसी ऐसे अपराध का दोषी पाया जाता है जिसकी सजा २ वर्ष के कारावास से अधिक न हो और जिस अपराधी को इससे पहले सजा न हुई हो तो उसकी आयु, चरित्र, शारीरिक व मानसिक स्थिति और उन परिस्थितियों को देखने के बाद जिनमें अपराध हुआ है, यदि अदालत चाहे तो सजा न देकर अपराधी को आवश्यकतानुसार चेतावनी देकर छोड़ सकती है।

जब कोई व्यक्ति ऐसे अपराध के लिये दोषी ठहराया गया है जो मृत्यु दण्ड अथवा आजीवन-कारावास द्वारा दण्डनीय नहीं है और उसके विरुद्ध इससे पहले का कोई अपराध प्रमाणित नहीं हो सका है, तो उसकी आयु, चरित्र, शारीरिक व मान-



सिक स्थिति को और उन परिस्थितियों को देखने के पश्चात् जिसमें अपराध हुआ है, अदालत यह उचित समझती है कि अपराधी को सद् व्यवहार के प्रोवेशन (Probation of good conduct) पर छोड़ा जा सकता है तो अदालत उसको तत्काल दण्ड भोगने के लिए भेजने के स्थान पर यह हिदायत दे सकती है कि अपराधी को, अधिक से अधिक तीन वर्ष के लिए एक बॉण्ड भरवा कर जमानत (sureties) अथवा बिना जमानत लिये, छोड़ दिया जाये। इन तीन वर्षों के दौरान में अदालत किसी भी समय अपराधी को बुलवाकर दण्ड भोगने के लिये भेज सकती है। प्रोवेशन काल में अपराधी को शान्ति और सदाचरण बनाये रखना होता है।

यदि अपराधी की आयु २१ वर्ष से कम है और उसके अपराध की सजा ६ माह से अधिक नहीं है तो अदालत उसे प्रोवेशन पर अनिवार्य रूप से छोड़ देगी। यदि प्रोवेशन पर छोड़ा गया अपराधी २४ वर्ष से कम आयु का है तो अदालत यह निरीक्षण-आज्ञा दे सकती है कि ऐसा अपराधी किसी प्रोवेशन अधिकारी के निरीक्षण में रक्खा जाये। यह देख-रेख अपराधी के २५ वर्ष की आयु तक पहुँचने तक की जायगी। प्रोवेशन की अवधि काल में अपराधी को अदालत में दाखिल किये गये बॉण्ड का पालन अनिवार्य रूप से करना होगा। इस बॉण्ड में एक निश्चित स्थान पर रहने या न रहने, नशाखोरी से दूर रहने, आवारागर्दी न करने व सदाचरण को बनाये रखने आदि से सम्बन्धित शर्तें हो सकती हैं। इन शर्तों का उल्लंघन करने पर अदालत अपराधी पर मूल अपराध की सजा बहाल कर सकती है अथवा बिना प्रोवेशन समाप्त किये ५० रु० तक जुर्माना कर सकती है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रोवेशन अधिकारी की नियुक्ति तथा कार्यों का भी उल्लेख किया गया है। किसी भी व्यक्ति के लिये प्रोवेशन अधिकारी (Probation Officer) के पद पर नियुक्त होने के हेतु यह आवश्यक है कि (क) वह उत्तर प्रदेश का स्थाई निवासी हो अथवा कम से कम १२ वर्ष से यहाँ रह रहा हो; (ख) वह हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाएँ सरलता से लिख और पढ़ सकता हो; (ग) वह किसी स्वीकृत विश्वविद्यालय से आर्ट्स अथवा विज्ञान में डिग्री लिये हो; (घ) उसकी आयु नियुक्ति के समय २५ और ३५ के बीच में हो; (ङ) वह बाहर के कार्य के लिये स्वस्थ हो, (च) उसे सामाजिक कल्याण कार्य (Social welfare work) का व्यावहारिक (practical) अनुभव हो।

इस अधिनियम के अनुसार प्रोवेशन अधिकारी के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं:—  
 (अ) अपराधी से मित्रता स्थापित करना और उससे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना  
 (ब) अपराधी के निवास स्थान पर जाकर उससे समय-समय पर मिलते-जुलते रहना और उसे अपने दफ्तर में मिलने के लिए बुलाना। (स) अपराधी के व्यवहार पर निगाह रखना कि वह अदालत में दाखिल किये गये बॉण्ड की शर्तों का पालन कर रहा है अथवा नहीं। (द) समय-समय पर अदालत को अपराधी के व्यवहार के सम्बन्ध में सूचित करते रहना। (य) आवश्यकता पड़ने पर अपराधी को सलाह-मशवरा देते रहना और उसके व्यवहार को ठीक दिशा में संचालित करने का प्रयास करना। (र)



- (र) यदि आवश्यकता हो तो अपराधी को काम-धन्धा दिलाने में सहायता करना  
(ल) जिला मैजिस्ट्रेट की आज्ञाओं का पालन करना ।

सामान्यतः प्रोबेशन की शर्तें (Terms of Probation) निम्नलिखित होती हैं— (१) अपराधी को एक निश्चित अवधि के लिए ही प्रोबेशन पर रखा जाता है। (२) इस अवधि में उसे जज के निर्देशों तथा कानून का पालन ईमानदारी से करना होता है। (३) यदि ऐसा वह नहीं करता है तो उसे मूल सजा को भुगतना पड़ता है, (४) अपराधी को एक बॉण्ड भरना पड़ता है। (५) बॉण्ड के साथ जमानत (sureties) भी ली जा सकता है। (६) यदि प्रोबेशन अधिकारी के निरीक्षण में रखा गया है तो अपराधी को उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता है। (७) प्रोबेशन काल में उसे प्रोबेशन अधिकारी को अपने रहने के स्थान तथा जीविका-पालन के साधन के सम्बन्ध में सूचना देते रहना पड़ता है। (८) प्रोबेशन अधिकारी की लिखित आज्ञा के बिना वह अपने जिले या एक निश्चित क्षेत्र को छोड़ नहीं सकता है। (९) वह बद् चलन व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता है। (१०) उसे यह आश्वासन देना होता है कि भारतीय गणराज्य (Indian Republic) के द्वारा पारित किसी भी कानून के अन्तर्गत दण्डनीय किसी भी अपराध को वह नहीं करेगा। (११) वह नशाखोरी से दूर रहेगा। (१२) प्रोबेशन काल में जब भी उसे अदालत द्वारा बुलाया जायेगा तब वह हाजिर होकर अपने मूल दण्ड को भोगने के लिये तैयार रहेगा। (१३) वह शान्ति भंग नहीं करेगा या ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा जिससे शान्ति भंग होने की आशा हो। (१४) वह उपरोक्त शर्तों के पालन के लिए आवश्यक प्रोबेशन अधिकारी द्वारा दिये गये समस्त निर्देश व आदेश, चाहे वह लिखित हों या अलिखित पालन करेगा।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सन् १९५८ में यह 'अपराधियों का प्रोबेशन अधिनियम' (Probation of Offenders Act, 1958) पास किया गया है। इस कानून के अन्तर्गत अब बालिग अपराधियों जिनकी आयु १६ वर्ष से अधिक है, को भी प्रोबेशन पर छोड़ा तथा प्रोबेशन अधिकारी के निरीक्षण में रखा जाता है।

### पैरोल (Parole)

प्रोबेशन की भाँति पैरोल भी असंस्थागत उपचार की एक विधि है। जब एक अपराधी अदालत द्वारा दिये गये दण्ड के अनुसार जेल में अपनी सजा का एक भाग भोग चुकता है और उस दौरान में अधिकारियों को अपने अच्छे व्यवहार से प्रभावित करता है तो उस अपराधी को उसकी पूरी सजा समाप्त होने से पूर्व ही अपराधी द्वारा इस आश्वासन पर उसे छोड़ दिया जाता है कि उस बाकी अवधि में वह जेल से निकलकर भी सदाचरण बनाये रखेगा। सम्पूर्ण सजा पूरी होने से पहले ही जेल से अपराधी की इस प्रकार की मुक्ति को ही पैरोल (parole) कहते हैं। पैरोल पर मुक्ति कुछ शर्तों पर ही होती है और इनमें से किसी भी शर्त का उल्लंघन करने पर



अपराधी को फिर से जेल में लौट कर सजा भोगनी पड़ती है।

### पैरोल की परिभाषा

(Definition of Parole)

श्री सदरलैण्ड (Sutherland) के अनुसार, "पैरोल किसी जेलखाना या सुधार संस्था से, जिसमें व्यक्ति ने अपनी अधिकतम सजा का एक भाग काटा हो, अच्छा व्यवहार बनाये रखने और जब तक पूर्ण मुक्ति प्रदान न की जाये, उस संस्था अथवा राज्य द्वारा स्वीकृत अन्य किसी ऐजेन्सी आधीन के और संरक्षण में रहने की शर्त पर मुक्त करने अथवा मुक्ति की स्थिति में रहने की क्रिया है।"<sup>4</sup>

पर पैरोल की सर्वप्रथम परिभाषा फ्रेंच पत्रकार श्री बानविल डी मारसंजी (Bonneville de Marsangy) ने सन् १८४६ में प्रस्तुत की थी। आपके अनुसार, "पैरोल बिल्कुल क्षमा और पूरी अवधि तक सजा भुगतने के बीच की स्थिति है; यह न्यायालय को दिया गया अधिकार है कि वह प्रायश्चित या सजा का काफ़ी समय बीतने पर ऐसे अपराधी को सामयिक (provisional) मुक्ति दे जो सुधरा हुआ मालूम पड़ता है और साथ ही अपराधी को फिर से जेल वापिस भेजने का अधिकार रखें यदि उसके विरुद्ध कोई सच्ची शिकायत हो।"<sup>5</sup>

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर पैरोल में निम्नलिखित आवश्यक तत्त्वों (essential elements) का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) पैरोल के अपराधी को तभी छोड़ा जाता है जबकि वह अपनी अधिकतम सजा का 'कुछ भाग' काट चुका हो। यह कुछ भाग सामान्यतः आधे से अधिक ही होता है।

(२) जेल में सजा काटने के दौरान में अपराधी का व्यवहार अत्यन्त संतोषजनक रहा हो ताकि उससे अधिकारी वर्ग खुश हों।

(३) पैरोल पर अपराधी को तभी मुक्ति मिलती है जब कि वह यह आश्वासन देता है कि वह जेल से निकलकर एक निश्चित अवधि तक अच्छा व्यवहार बनाए रखेगा और उन समस्त शर्तों का पालन करेगा जिस पर कि उसे छोड़ा जा रहा है।

(४) पैरोल की शर्तों की एक निश्चित अवधि होती है। जिसके पश्चात्

4. "Parole is the act of releasing or the status of being released from a penal or reformatory institution in which one has served a part of his maximum sentence, on condition of maintaining of good behaviour and remaining in the custody and under the guidance of the institution or some other agency approved by the state until a final discharge is granted."

E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 566.

5. "Parole is a sort of middle term between an absolute pardon and the execution of the entire sentence; the right conceded to judiciary to release provisionally after a sufficient period of expiratory suffering, a convict who appears to be reformed, reserving the right to return him to prison, if there is against him any well-founded complaint,"

—Bonneville de Marsangy.



वे शर्तें अपराधी पर लागू नहीं होती हैं।

(५) पैरोल की अवधि में यदि अपराधी किसी शर्त का उल्लंघन करता है तो उसे फिर जेल में भेजकर सजा भुगतने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

(६) पैरोल एक कार्यकारिणी मण्डल (executive board) अथवा अन्य संस्था जैसे जेल अथवा सुधार गृह के द्वारा मंजूर किया जाता है।

### पैरोल की शर्तें

#### (Conditions of Parole)

जिन अपराधियों को पैरोल पर छोड़ा जाता है उनको एकाधिक शर्तों का पालन करना पड़ता है। ऐसा न करने पर उन्हें फिर से जेल भेजकर सजा भोगने के लिये बाध्य किया जाता है। पैरोल की सामान्य शर्तें इस प्रकार हैं—

(क) पैरोल की अवधि में अपराधी सदाचरण को बनाये रखेगा और शान्ति भंग नहीं करेगा अथवा ऐसे किसी काम में भाग न लेगा जिससे शान्ति व व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो सके।

(ख) वह कानून का आदर करेगा और उसका उल्लंघन नहीं करेगा।

(ग) वह नशाखोरी से दूर रहेगा।

(घ) पैरोल की अवधि में उसका पता क्या होगा, इसे सही-सही लिखावेगा और बिना पैरोल अफसर की आज्ञा लिए उसे नहीं बदलेगा।

(ङ) वह अगर बेरोजगार है तो किसी न किसी रोजगार में अपने को लगा लेने का प्रयत्न करेगा और बिना आज्ञा के नौकरी को नहीं बदलेगा।

(च) वह आज्ञा लिये बिना अपना विवाह भी नहीं करेगा क्योंकि हो सकता है कि जिस स्त्री से वह विवाह कर रहा है उसे अपने सम्मान हानि के डर से अपराधी यह बात न बताये कि कभी उसने दण्डनीय अपराध किया था और वह सजा प्राप्त अपराधी है। घोखे से किया हुआ इस प्रकार का विवाह दुःखदायक हो सकता है। अतः अनुमति के बिना विवाह करने की मनाही होती है।

(छ) पैरोल में छुटा हुआ अपराधी अपने संग साथियों के चुनाव के सम्बन्ध में विशेष सावधानी बर्तेंगा और इसीलिए बुरे लोगों या पूर्व अपराधियों की संगत से वह बचता रहेगा।

(ज) पैरोल में छुटा हुआ अपराधी इस बात का एक बाण्ड भर कर देगा कि मुक्ति के बाद वह अच्छा व्यवहार करेगा, बाण्ड में दिए गए आश्वासनों का पालन करेगा और पैरोल अधिकारी के निर्देशों का पालन करते हुए उसके संरक्षण को स्वीकार करेगा।

(झ) पैरोल में छुटा अपराधी बिना आज्ञा अपने राज्य से बाहर नहीं जायेगा।

(ञ) जब कभी भी अपराधी को (पैरोल की किसी भी शर्त को तोड़ने पर) जेल अथवा सुधार संस्था में वापिस आने का आदेश दिया जायेगा, वह उपस्थित हो जायेगा और शेष दण्ड काटने को तत्पर रहेगा।



### पैरोल के सामाजिक लाभ (Social Benefits of Parole)

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, पैरोल एक असंस्थागत उपचार की विधि है और जो कुछ भी उपचार करता है वही समाज के लिये लाभप्रद है। पैरोल से भी एकाधिक सामाजिक लाभ है—

(१) जेल का जीवन स्वस्थ सामाजिक जीवन के प्रतिकूल ही है। इसलिए एक व्यक्ति जितना अधिक समय के लिए जेल में रहता है उतना ही समाज के प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ उसमें पनप जाती हैं। पैरोल अपराधी का जेल में रहने का समय कम कर देता है और इस प्रकार जेल के जीवन से उसका पीछा छुड़ाकर उसे सभाज व सामाजिक जीवन से अनुकूलन करने का अवसर देता है। इससे अपराधी को यह मौका मिलता है कि वह जल्दी-जल्दी अपने को समाज में फिर से स्थापित कर ले।

(२) पैरोल उन्हीं अपराधियों को मिलता है जो कि जेल में रहने के दौरान में अच्छा व्यवहार करते हैं। इस प्रकार पैरोल अच्छा व्यवहार करने का पुरस्कार होता है। इससे अपराधियों के मन में इस बात की एक स्पष्ट छाप पड़ जाती है कि अच्छे व्यवहार या सदाचरण का फल भी अच्छा ही होता है। इसीलिए पैरोल में छूटने के बाद भी वे अच्छा व्यवहार करके अच्छा परिणाम प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार पैरोल अपराधी को यह प्रेरणा देता है कि वह स्वयं अपना सुधार करे।

(३) पैरोल अपराधी को समय से पूर्व उसके घर लौटा देता है। इससे कानून के प्रति एक श्रद्धा की भावना अपराधी के मन में पनप सकती है जो कि उसको सुधारने में सहायक ही सिद्ध होती है।

(४) पैरोल अपराधी को उसके परिवार में लौट जाने की आज्ञा देकर उसे इस योग्य बनाता है कि वह रोजी-रोजगार के द्वारा परिवार को आर्थिक बर्बादी से कुछ समय पूर्व ही बचा ले।

(५) पैरोल अपराधी का जेल में रहने का समय कम करके उसे पक्का अपराधी बनने से भी बचा लेता है। जेल में जितना अधिक दिन वह रहता है उतना अधिक पेशेवर अपराधियों के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखने का अवसर मिलता है जिसके फलस्वरूप वह धीरे-धीरे अपराध के सम्बन्ध में प्रशिक्षण लेता रहता है और अन्त तक पक्का अपराधी बनकर ही जेल से निकलता है। पैरोल इस सम्भावना को कम करता है।

(६) पैरोल के अन्तर्गत अपराधी को कुछ निश्चित शर्तों पर छोड़ा जाता है और उन शर्तों के अनुसार उसे अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है। इससे उसके व्यवहार पर स्वतः ही नियन्त्रण हो जाता है और उसे नशाखोरी, जुआ, बुरी संगत आदि से दूर रहना पड़ता है। उसे रोजगार तलाश करना पड़ता है और उसे बनाए भी रखना पड़ता है और अपने पैरोल अधिकारी के निर्देशानुसार जीवन



को संगठित करना पड़ता है। इन सबका समग्र प्रभाव यह होता है कि अपराधी में सामाजिक आदर्तें धीरे-धीरे पनपती रहती हैं और समुदाय के साथ उसका सामंजस्य सरल हो जाता है।

(७) पैरोल में जो डर का तत्व अन्तर्निहित होता है उससे भी अपराधी का सुधार होता है। पैरोल में छूटे हुए अपराधी को सदा यह डर रहता है कि यदि किसी भी रूप से उसने कानून को तोड़ा या पैरोल के नियमों को भंग किया तो उसे फिर से सजा काटने के लिए जेल वापस जाना होगा। इसलिए वह सदाचरण को, कम से कम पैरोल की अवधि में, बनाए रखने का प्रयत्न करता है और उस अवस्था में समुदाय अपराधी के आगे के अपराधों से सुरक्षित रहता है।

(८) पैरोल राज्य और अन्य संस्थाओं के आर्थिक भार को कम करता है। क्योंकि जिस अवधि के लिए अपराधी को पैरोल में छोड़ा जाता है। उस अवधि में अपराधी पर राज्य को प्रायः कुछ भी खर्च करना नहीं पड़ता है।

(९) पैरोल सामाजिक के आर्थिक बोझ को भी हल्का करता है। अपराधी जब जेल में रहता है तो वह समाज पर बोझ बनकर ही रहता है और साथ ही अगर वह अपने परिवार का एक मात्र कमाने वाला है तो उसके जेल जाने के बाद से परिवार के अन्य सदस्य भी समाज पर ही बोझ बन कर रहते हैं, अनाथालय में शरण लेते हैं, भोजन मांगते हैं या जनता से सहायता मांगने के लिए बाध्य होते हैं। इनमें से किसी भी रूप में समाज पर आर्थिक बोझ बढ़ता है। पर पैरोल पर छूट जाने के बाद ही अपराधी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करने योग्य होता है और अपने परिवार के प्रति अपने सामाजिक व आर्थिक उत्तरदायित्व को भी पूरा कर सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण से यह कम महत्वपूर्ण लाभ नहीं है।

### पैरोल से हानियाँ

#### (Demerits of Parole)

केवल लाभ ही नहीं, पैरोल से समाज को कुछ हानियाँ भी होती हैं। पैरोल के लिए अपराधियों को चुनने के लिये पर्याप्त योग्यता व प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। यदि पैरोल अधिकारी में इनकी कमी है तो पैरोल पर रिहा किए गए व्यक्ति मुक्ति के बाद समाज के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते हैं। कुछ राज्यों में तो अपराधी को किसी अधिकारी के निरोक्षण में रखे बिना ही छोड़ दिया जाता है। ऐसा करने पर पैरोल वास्तव में अत्यन्त हानिकारक प्रमाणित होता है। मुक्ति के बाद अपराधी यथेच्छ आचरण करता है। उस अवस्था में पैरोल केवल अपराधी की सजा के समय को कम ही करता है, अपराधी के पुनर्वासन में सहायक नहीं होता है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि अक्सर एक पैरोल अधिकारी के अधीन इतनी अधिक संख्या में अपराधियों को रख दिया जाता है कि वह उन पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दे पाते हैं। इससे पैरोल में अन्तर्निहित उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती है।



### प्रोबेशन तथा पैरोल में अन्तर

(Distinction between Probation and Parole)

प्रोबेशन और पैरोल दोनों ही अपराधियों के उपचार की असंस्थागत विधियाँ हैं और किसी सीमा तक एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। प्रोबेशन की भाँति पैरोल भी दण्ड के शास्त्रीय (classical) सिद्धान्त का खण्डन करता है जिसके अनुसार दण्ड को प्रभावपूर्ण करने के लिए अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड देना ही उचित है। इस विचारधारा के विपरीत प्रोबेशन और पैरोल दोनों ही अपराधी के साथ सहानुभूति और सद्भावनापूर्ण व्यवहार करने के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। उसी प्रकार प्रोबेशन तथा पैरोल दोनों ही अच्छे आचरण के बन्धियों को सुधार के लिए चुनती हैं और समाज में उन्हें भेजकर परिवार व समुदाय में रखकर ही सुधार कार्य को करने के पक्ष में राय देती हैं। परन्तु इन समानताओं के होते हुए भी इन दोनों में कुछ आधारभूत अन्तर हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(अ) पैरोल प्रोबेशन प्रणाली की अपेक्षा अपराधी को दण्डित करने के अपेक्षाकृत अधिक निकट है और पूर्ण रूप से उपचारात्मक विधि नहीं है क्योंकि पैरोल पर रिहा होने से पहले अपराधी को सजा का एक अच्छा सा भाग भोगना पड़ता है। दूसरे शब्दों में जेल में कुछ सजा काटने के बाद ही अपराधी को पैरोल पर जेल से मुक्ति मिल सकती है। इसके विपरीत प्रोबेशन पर छोड़े जाने वाले अपराधियों को एक दिन के लिए भी जेल में सजा नहीं काटनी पड़ती है। प्रोबेशन विधि से उपचार किया जाता है।

(ब) पैरोल पर एक व्यक्ति को तब छोड़ा जाता है जबकि जेल के अन्दर सजा काटने के दौरान में उसका व्यवहार अच्छा हो। इसके विपरीत प्रोबेशन पर रिहाई जेल से बाहर अपराधी की आयु, चरित्र, आचरण, परिस्थिति जिसमें अपराध घटित हुआ है आदि पर निर्भर करता है।

(स) प्रोबेशन सामान्यतः अदालत द्वारा मंजूर किया जाता है, जबकि पैरोल एक प्रशासकीय बोर्ड अथवा अधिकारी द्वारा दिया जाता है।

(द) पैरोल प्राप्त व्यक्ति पूर्णतया मुक्त नहीं माने जाते हैं तथा उनकी सजा समाप्त नहीं की जा सकती है वरन् सुधार का मौका देने के लिए दण्ड को कुछ अवधि के लिए स्थगित कर दिया जाता है। इस दृष्टिकोण से पैरोल प्राप्त व्यक्ति दण्ड और सुधार (उपचार) दोनों का ही भागी होता है जिसमें पैरोल की शर्तें तोड़ने पर लगातार अधिक कठोर दण्ड देने की चेतावनी जुड़ी रहती है। परन्तु प्रोबेशन में दण्ड का विचार नहीं, अपितु सुधार की भावना ही प्रधान होती है।

### उत्तर प्रदेश में पैरोल व्यवस्था

(Parole System in U. P.)

उत्तर प्रदेश में पैरोल व्यवस्था सन् १९३८ के 'प्रिजनेर्स रिलीज ऑन प्रोबेशन अधिनियम' (U. P. Prisoners Release on Probation Act, 1938) से प्रशासित होती है। इस अधिनियम के अनुसार यदि राज्य सरकार इस बात से



सन्तुष्ट है कि अपराधी का आचरण जेल में अथवा सुधार संस्था में अच्छा रहा है और वह छूटने पर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करेगा, तो उसे लाइसेन्स (licence) देकर छोड़ा जा सकता है। इस लाइसेन्स के अन्तर्गत पैरोल पर छोड़े गये व्यक्ति को सरकारी अधिकारी, जो प्रायः प्रोवेशन अधिकारी ही होता है, अथवा किसी मान्यता प्राप्त सुधार संस्थान के संरक्षण में रहना होगा। कोई भी व्यक्ति जो संरक्षण अथवा निगरानी से बचने की चेष्टा करता है अथवा लाइसेन्स की अवधि समाप्त होने पर वापिस नहीं पहुँच पाता है, उसे २ वर्ष तक की अतिरिक्त सजा अथवा २०० रुपये तक जुर्माना किया जा सकता है। राज्य सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि यदि बन्दी आदर्श आचरण का आश्वासन दे तो वह उसकी पूरी सजा अथवा सजा की कुछ अवधि समाप्त कर सकती है। यदि वह अपराधी सरकार को बाँड में दिए गए आश्वासनों का उल्लंघन करता है तो उसे पुनः गिरफ्तार कराया जा सकता है। उत्तर प्रदेश सरकार के रिहाई के टिकट के नियमों (Ticket of Release Rules) के अन्तर्गत अपराधी राज्य सरकार से मुक्ति के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। इन नियमों के अन्तर्गत राजद्रोही, सेना सम्बन्धी अपराधों, जाली नोट अथवा सिक्के बनाने, ठगी, लूट करने अथवा डकैती में सहायता करने वाले व्यक्तियों को पैरोल पर नहीं छोड़ा जा सकता है। साथ ही जिन अपराधियों को ५ वर्ष से कम की सजा दी गयी हो अथवा जिनके छूटने में एक वर्ष से कम समय रह गया हो उन्हें भी इन नियमों के अनुसार मुक्ति की प्रार्थना करने की आज्ञा नहीं है। कोई भी अपराधी जो अपनी सजा के तीन वर्ष काट चुका हो उसे एक व्यक्तिगत बाँड भरके और जमानत दाखिल करके एक माह तक की पैरोल दी जा सकती है। पैरोल पर छोड़े जाने के प्रार्थना पत्रों पर एक बोर्ड आफ रिलीज (Board of Release) विचार करता है।

## अपराध निरोध

### (Prevention of Crime)

जब से अपराध को एक सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाने लगा है, तब से इसको रोकने के उपायों के सम्बन्ध में भी सामाजिक विचारकों तथा अपराध-शास्त्रियों ने अपना-अपना मत व्यक्त किया है। परन्तु यह मत अपराध के प्रति दृष्टिकोण से सदा ही सम्बन्धित रहा है। उदाहरणार्थ, जब अपराध के सम्बन्ध में यह सोचा जाता था कि अपराध की प्रवृत्ति जन्मजात होती है, उस समय अपराध-निरोध के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया जाता था कि अपराधियों का प्रजनन सम्बन्धी ऑपरेशन (Sterilization) होना आवश्यक है जिससे अपराधी माता-पिता अपराधी बच्चों को जन्म न दे सकें। उही प्रकार जब मानसिक दुर्बलता, दोष या रोग को अपराध का सर्वप्रमुख कारण कहा गया तथा अपराध-निरोध के लिए मनोवैज्ञानिक या मानसिक चिकित्सालयों के खोले जाने पर बल दिया जाने लगा। श्री कार्ल मार्क्स आदि भौतिकवादी विचारकों ने भौतिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति न हो



सकने को अपराध का कारण बताया और यह सुझाव दिया कि देश से गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी आदि को अपराध-निरोध के लिए दूर करना परमावश्यक है। परन्तु गरीबी, बेरोजगारी आदि तब तक दूर नहीं किये जा सकते हैं, जब तक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को बिलकुल जड़ से उखाड़ न फेंका जाय। अतः अपराध-निरोध के लिये पूँजीवाद का विनाश प्रथम शर्त है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपराध-निरोध के सम्बन्ध में भी उतने ही सुझाव हैं जितने कि अपराध के विषय पर विचारक। यहाँ हम अपराध-निरोध के सम्बन्ध में कुछ सुझावों (Suggestions) की विवेचना करेंगे।

### कानूनी सुधार

#### (Legal Reforms)

सभी सम्य समाज में अपराध का एक कानूनी पक्ष होता है। अतः अपराध-निरोध में कानून की भी अपनी भूमिका होनी ही चाहिए। कहा जाता है कि अनेक अपराध इसलिए होते हैं क्योंकि कानून को अच्छी तरह लागू नहीं किया जाता है। कानून को ठीक से लागू न करने का तात्पर्य यही है कि अनेक लोगों को उनके अपराध के लिए उचित दण्ड नहीं मिल पाता है। उचित दण्ड न मिलने के कारण अनेक युवकों को अपराध के मार्ग पर चलने में कोई डर का अनुभव नहीं होता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक कानून के मुख्य बातों का प्रचार जनता में अधिक से अधिक किया जाय तथा लोगों में यह जागरूकता उत्पन्न की जाय कि यदि वे कानून का उल्लंघन करेंगे तो उन्हें कानून कदापि क्षमा नहीं करेगा और प्रत्येक गैर कानूनी कार्य के लिए उचित दण्ड भी भोगना पड़ेगा। कानूनी सुधार के अन्तर्गत दूसरी बात यह भी उल्लेखनीय है कि कानून इतना जटिल न हो कि उसे आम जनता बिलकुल ही न समझ सके। कानून जितना सरल और सीधा हो, उतना ही अच्छा है। वास्तव में जटिल कानून में अनेक प्रकार की कमियाँ इस अर्थ में होती हैं, कि उसे वकील-वर्ग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये तोड़-मोड़ कर उसका अर्थ लगाते रहते हैं और अपने अपराधी मुवक्किलों को निरपराध प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये अगर कानून सरल और सीधा होगा तो उसे तोड़-मोड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना सम्भव न होगा।

### पुलिस तथा अपराध-निरोध

#### (Police and Crime Prevention)

अपराध-निरोध में पुलिस के महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। सरकार तो केवल कानून को पास करती है पर उस कानून का लोग पालन कर रहे हैं या नहीं इस बात का पूर्ण उत्तरदायित्व पुलिस-विभाग का ही होता है। पुलिस-विभाग यह देखता है कि कोई कानून का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है, और यदि कर रहा है, तो वह उसे पकड़ कर कोर्ट के सम्मुख उचित दण्ड देने के लिये प्रस्तुत करता है। पुलिस को विभिन्न सूत्रों से या जनता से भी जब कभी किसी भी



प्रकार के अपराधी-कार्य की सूचना मिलती है तो वह फौरन घटना-स्थल पर पहुँच कर घटना की छान बीन करती है। अपराधी भाग गया है तो उसका पता लगाने व उसे गिरफ्तार करने का भी प्रयत्न करती है। इस सब कार्य के लिए पुलिस विभाग को सरकार द्वारा अनेक अधिकार दिए जाते हैं और उसी सत्ता या अधिकार के बल पर ही पुलिस-विभाग अपराधियों का सामना करती है, और उनके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही भी करती है। पुलिस को प्राप्त इस सत्ता के कारण ही अपराधी पुलिस से डरते हैं। यह डर स्वयं ही अपराध-निरोध में महत्वपूर्ण योग देता है। वास्तव में यदि पुलिस विभाग उचित ढंग से तथा ईमानदारी के साथ कार्य करें तो अपराध निरोध का कार्य बहुत सरल हो जाये। पुलिस संगठन के अन्तर्गत प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण मोहल्ले में एक पुलिस-थाना होता है और उसके ऊपर यह उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने उस छोटे से क्षेत्र में इस भाँति क्रियाशील रहे कि कानून का उल्लंघन कम से कम हो। पुलिस के लोग अपने क्षेत्र में गश्त लगाते रहते हैं और आवारागर्दी, शराब खोरी और अन्य गैर कानूनी कार्यों को रोकने का प्रयत्न करते हैं। रात के समय पुलिस द्वारा लगाये जाने वाले गश्त के कारण अपराधियों को चोरी आदि करने का अपेक्षाकृत कम अवसर मिल पाता है और पकड़े जाने का डर भी उन्हें अपराधी-कार्यों से बचने को बाध्य करता है। चूँकि एक पुलिस-थाने का क्षेत्र बहुत ज्यादा विस्तृत नहीं होता है, इस कारण अपने क्षेत्र के विभिन्न लोगों के विषय में जानना तथा उनके कार्य-कलापों पर नजर रखना पुलिस के लिये सरल होता है। इस व्यक्तिगत सम्पर्क का भी प्रभाव अपराध-निरोध पर अनुकूल ही पड़ सकता है, यदि पुलिस अपने कर्तव्य के विषय में सचेत रहे। इनकी सचेतता पर यह भी निर्भर करता है कि एक पुलिस थाना के क्षेत्र में अपराधी को छिपने का अवसर कम से कम प्राप्त होगा और वह जल्दी से जल्दी पकड़ा जायेगा व अदालत के सामने दण्ड लेने के लिये प्रस्तुत किया जायेगा। इससे भी अपराध-निरोध का कार्य हो सकता है। इस दिशा में पुलिस विभाग का एक और महत्वपूर्ण योगदान अपराध व अपराधी के सम्बन्ध में खुफिया तौर पर पता लगाना है। आज अनेक अपराध अत्यधिक संगठित तथा आयोजित रूप में ऊँचे बुद्धि-स्तर वाले व्यक्तियों के द्वारा होते हैं। इन अपराधों के सम्बन्ध में पता लगाना वास्तव में कठिन कार्य होता है। इसी कठिन कार्य को पुलिस का खुफिया विभाग (C. I. D.) करता है और अनेक भयंकर अपराधियों को पकड़ने में मदद करता है। इस विभाग का डर भी अपराधी को नहीं है, ऐसी बात नहीं होता है। इससे भी अपराध कुछ कम होता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि किसी अपराधी या अपराधी-गिरोह के द्वारा अपराध-कार्य का आयोजन पूर्ण होने से पूर्व ही पुलिस का खुफिया-विभाग उसका पता लगा कर योजना का भण्डा-फोड़ कर देता है और समाज को एक भयंकर परिणाम से रक्षा करता है। इतना ही नहीं, पुलिस विभाग अपराध व अपराधी के सम्बन्ध में अपनी जो रिपोर्ट अदालत के सम्मुख पेश करता है उससे भी अदालत को न्याय करने में मदद मिलती है और सभी अपराध करने वालों को एक चेतावनी इस रूप में



मिल जाती है कि अपराधी को उचित दण्ड दिलवाने के लिए पुलिस सदा तत्पर है।

परन्तु अपराध-निरोध के सम्बन्ध में ये सभी कार्य पुलिस तभी कर सकती है जब कि वह अपने कर्तव्यों का पालन समझदारी और ईमानदारी से करे। इस में कुछ सुझाव इस प्रकार दिए जा सकते हैं—(१) पुलिस को चाहिए कि वह अपने-अपने क्षेत्रों के बाल-अपराधियों और कम आयु के आवारा लड़कों का पता लगाये और उन्हें उन परिस्थितियों से दूर रखे जो अपराध को बढ़ाती हैं। पुलिस को इन बच्चों पर इस प्रकार का “दबाव” डालना चाहिए जिससे अपराध के मार्ग पर उनका चलना बन्द हो जाय। परन्तु स्मरण रहे कि ‘दबाव का अर्थ कदापि यह नहीं है कि पुलिस बच्चों के साथ दुर्व्यवहार या अत्याचार करे। उनका व्यवहार सहृदयता पूर्ण ही होना चाहिए। (२) जहाँ तक युवकों या वयस्कों का प्रश्न है, पुलिस को चाहिए कि उनको कानून व कानून को लागू करने वाली संस्थाओं के प्रति एक नयी स्वस्थप्रद मनोवृत्ति विकसित करने में सहायता करे। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि पुलिस के लोग अपने शिष्टाचार और सद्प्रयत्नों द्वारा युवकों और वयस्कों का सहयोग व सहानुभूति प्राप्त कर लें जो कि पुलिस को उनके कार्य में निरन्तर सहायता करते रहेंगे। (३) पुलिस विभाग के छोटे से छोटे से छोटे पद पर भी शिक्षित तथा बुद्धिमान व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिए। पुलिस-विभाग, विशेषकर भारतीय पुलिस विभाग के कर्मचारियों के सम्बन्ध में एक बदनामी यह है कि वे अत्यन्त कटु-वचन बोलने वाले, दुर्व्यवहार करने वाले तथा अभद्र होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जनता की सामान्य सहानुभूति उनसे दूर ही भागती है। फलतः न तो अपराध के सम्बन्ध में शीघ्र पता लग पाता है और न ही घटना का सही-सही व्यौरा क्योंकि सभी लोग पुलिस के अभद्र व्यवहार से अपने को दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। पुलिस विभाग को चाहिए कि अपराध-निरोध में परिवारों का सहयोग भी प्राप्त करे और इस काम के लिए प्रत्येक पुलिस-थाने के अधिकारियों को अपने-अपने क्षेत्र के परिवार के मुखियों से सम्पर्क बनाये रखना चाहिए तथा उन्हें उनके बच्चों या परिवार के अन्य सदस्यों के गैर-कानूनी कार्यों के सम्बन्ध में अवगत कराते तथा चेतावनी देते रहना चाहिए। (४) पुलिस का यह भी कर्तव्य होना चाहिए कि मनोरंजन के संदिग्ध प्रकृति के स्थानों पर कड़ी नजर रखे और आवश्यकता पड़ने पर उचित कार्यवाही के द्वारा उसे समाप्त कर दे। परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि पुलिस विभाग को ‘घूस-विभाग’ न बनाकर जनता का ‘सेवा-विभाग’ बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करने की अत्यधिक आवश्यकता है। ईमानदारी इस विभाग का मूल-मंत्र होना चाहिए। इस विभाग के विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह है कि घूस लेकर अपराधी को छोड़ देना। घूस के बदले में अपराधी के कार्यों के प्रति उदासीन रहना, धन के लालच से अपराधी को पकड़ने के लिए आवश्यक कार्यवाही न करना और धन लेकर ही निरपराध व्यक्तियों को पकड़कर परेशान करना पुलिस कार्यचारियों का रोज का काम है। यदि अपराध-निरोध में इस विभाग को कुछ क्रियात्मक योगदान करना है, तो सर्वप्रथम इस



आरोप से विमुक्त करवाने की आवश्यकता है। घूस लेना अपराध है; जब पुलिस विभाग स्वयं ही अपराध करेगा तो अपराधी को केवल प्रोत्साहन ही मिल सकेगा। इस कारण घूस खोरी का बन्द होना बहुत आवश्यक है।

### अदालत और अपराध-निरोध

(Court and Crime Prevention)

अपराध-निरोध में अदालत भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दे सकती है और देती भी है। अदालत न्याय का दरबार है। सरकार जिन कानूनों को लागू करती है उन्हें तोड़ने वालों को दण्ड देना और क्षति प्राप्त व्यक्ति या समूह के प्रति न्याय करना अदालत का काम होता है। अदालत अपने फैसलों के माध्यम से यह आदर्श जनता के सम्मुख प्रस्तुत करती है कि प्रत्येक गैर-कानूनी कार्य के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था है और न्याय किसी के साथ पक्षपात नहीं करता है। इस आदर्श का बहुत अच्छा प्रभाव जनता पर पड़ता है और अधिकतर लोग अदालत से दूर रहने का ही प्रयत्न करते हैं इतना ही नहीं, अदालत न्याय करने के लिये सभी को अदालत में उपस्थित होने को कह सकती है। अदालत में खड़े होना और वकीलों के जिरह करने को साधारण तथा सम्मानजनक नहीं माना जाता है। इसलिये भी लोग यह प्रयत्न करते रहते हैं कि ऐसा काम ही न किया जाय कि अदालत में जाकर खड़ा होना पड़े। इतना ही नहीं, अदालत पुलिस विभाग को अपराध के सम्बन्ध में छानबीन करके रिपोर्ट पेश करने का आदेश दे सकती है। इसके फलस्वरूप भी पुलिस को अपराध के सम्बन्ध में अधिक जागरूक रहना पड़ता है और अपराध का निरोध सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त अदालत पुलिस की अकुशलताओं की निन्दा कर सकती है और उन्हें अधिक सक्रिय बना सकती है। यह अदालत ही है जो कि अपराधी को प्रोवेशन पर छोड़ती है और उसे प्रोवेशन अधिकारी के संरक्षण में रखती है। प्रोवेशन संस्था के माध्यम से भी अदालत अपराध-निरोध के कार्य को करती रहती है। इतना ही नहीं, अदालत कानून और दण्ड का स्पष्टीकरण करती है और जनता के स्वार्थों व अधिकारों की रक्षा करती है। इसीलिए अपराधी भी अदालत से डरता है और अपराध कार्य से दूर रहता है। इसके अतिरिक्त, अदालत अपराधी को इस बात के लिये भी बाध्य कर सकती है कि वह क्षति-प्राप्त पक्ष की क्षतिपूर्ति करे। इसके लिये वह अपराधी की सम्पत्ति पर कब्जा कर सकती है और उसकी चल व अचल सम्पत्ति को बेच सकती है। अदालत के इस अधिकार का डर भी लोगों के मन में रहता है जिससे अपराधी कार्यों पर रोक लगी रहती है।

अपराध-निरोध के सम्बन्ध में अदालत को और भी सक्रिय व उपयोगी बनाने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं— (१) अदालतों को चाहिए कि मुकदमों का निपटारा जल्दी-जल्दी कर दें। मामलों को अधिक दिन तक घसीटने से अक्सर अपराधी को सम्भालने और अपराध से सम्बन्धित तथ्यों को छिपाने का अवसर मिल जाता है जिसके फलस्वरूप न्याय करना कष्टकर हो जाता है। इसलिये यह अति आवश्यक है कि अपराधी को इस प्रकार का अवसर कम से कम दिया



जाये। (२) साथ ही जिस दौरान में मामला चल रहा हो यदि वह अवधि अधिक हो तो इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि अभियुक्त को अन्य पक्के अपराधियों के साथ न रक्खा जावे क्योंकि अधिक समय तक बुरी संगत में रहने का बुरा प्रभाव अभियुक्त पर पड़ सकता है विशेषकर यदि अभियुक्त एक निरपराध व्यक्ति या प्रथम अपराधी हो। अक्सर यह भी देखा जाता है कि निर्धन अभियुक्त आर्थिक कठिनाइयों के कारण अपने मामले की पैरवी अच्छे वकीलों द्वारा नहीं करवा पाते हैं और बुरे लोगों के कुचक्र या पुलिस विभाग की लापरवाही के शिकार बनकर निरपराध होते हुए भी अपराधी करार दिये जाते हैं। इनकी रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि अदालत की ओर से निर्धन अभियुक्तों के लिए भी अच्छे वकीलों की व्यवस्था की जानी चाहिए। (४) अदालत की न्याय-व्यवस्था शिक्षित अनुभवी तथा कुशल जूरियों पर भी बहुत कुछ निर्भर करती है। अतः यह बहुत जरूरी है कि जूरियों का चुनाव बहुत ही सावधानी से किया जाये। (५) पुलिस विभाग की कमियों के प्रति भी अदालत को सदा जागरूक रहना चाहिये और उनकी कमियों को छिपाने के स्थान पर उनकी मुक्त रूप से निन्दा करनी चाहिए। (६) प्रायः यह कहा जाता है कि यदि अभियुक्त उच्च सामाजिक स्थिति (status) वाला, धनी, उच्च पदस्थ राज-कर्मचारी या राजनैतिक सत्ताधारी है तो अदालत उससे शीघ्र ही प्रभावित हो जाती है और किसी न किसी दबाव में पड़कर उसे अपराधी समझते हुए भी या तो छोड़ देती है या पक्षपातपूर्ण न्याय करती है। अदालत को न्याय करते समय समस्त दबाव व प्रभाव से विमुक्त रहना चाहिए (७) अदालत को मामले के सम्बन्ध में निर्णय लेने के पूर्व प्रोवेंशन अधिकारी, मनोवैज्ञानिक आदि से परामर्श भी कर लेना चाहिये।

### अपराध-निरोध के अन्य उपाय

#### (Other Measures for Crime Preventions)

अपराध-निरोध के उपरोक्त उपायों या सुझावों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कुछ अन्य उपायों को भी प्रस्तुत किया जा सकता है जो निम्न प्रकार हैं—

(१) पूर्व बाल-अपराधियों की खोज (Discovery of predelinquents)—इस सत्य को सभी स्वीकार करते हैं कि आरम्भ में ही उपचार कर देने या रोक लगा देने से बीमारी के बढ़ने का कोई खतरा नहीं रहता है और रोगी को नीरोग करना भी सरल होता है। यही बात अपराध-निरोध के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इसीलिये आधुनिक समय के अपराध-निरोध के प्रत्येक कार्यक्रम में इस बात का सचेत प्रयत्न किया जाता है कि उन बच्चों को खोज निकाला जाय जो कि अपराध की ओर झुकते नजर आ रहे हैं या जिन बच्चों के लिये अपराधी बनने की सम्भावना है। ऐसे बच्चों को अपराध को जन्म देने वाली परिस्थितियों से पृथक् करने का प्रयत्न करना अपराध-निरोध के लिए बहुत आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि एक बच्चा अनैतिक परिवार या टूटे परिवार में पल रहा है तो यदि उसे उस परिस्थिति से हटाने का प्रबन्ध नहीं किया गया तो उसके लिये बिगड़ जाने की



सम्भावना अधिक ही है। उसी प्रकार जो बच्चे स्नेह के अभाव, आर्थिक कठिनाइयों या अनिश्चित भविष्य की चिन्ता के कारण अपने को अवहेलित या अमुरक्षित पाते हैं उनकी भी रक्षा करने की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, जो लड़के स्कूल से भागने के आदी हैं, जो आचारागर्दी करते-फिरते हैं, जो लड़ाई-भगड़ा और हिंसात्मक कार्यों में बहुत भाग लेते हैं तथा जो माता-पिता व अन्य गुरुजनों के नियन्त्रण को अस्वीकार करते हैं और उनका असम्मान करते हैं, ऐसे लड़कों के प्रति भी समुदाय को अत्यधिक सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। ऐसे बच्चों को पहले से ही सुधारने के लिए सक्रिय प्रयत्न करना चाहिये। यह काम जितनी जल्दी हो सके उतना ही अच्छा है क्योंकि कम आयु में सुधारने का काम सरलता से किया जा सकता है। बच्चे को अधिक मार-पीट कर संभालने की बात सदा ही सोचना न चाहिए, पर कभी-कभी इस विधि का प्रयोग किया भी जा सकता है। ऐसे बच्चों के संग-साथियों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है और अगर संगत बुरा है तो उसे छुटाने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहियें। बच्चे को खर्च करने के लिए अधिक पैसा कभी न देना चाहिए। और साथ ही अत्यधिक लाड़ प्यार देकर उसे बर्बादी के रास्ते पर ढकेलना भी न चाहिए।

(२) मार्ग प्रदर्शन संस्थाओं का विकास (Development of guidance clinic)—बच्चे तथा युवक अक्सर इसलिए पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं क्योंकि उन्हें सही मार्ग प्रदर्शन करने वाला कोई संगठन समाज में नहीं है। इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि समाज में मार्ग-प्रदर्शन संस्थाओं को विकसित किया जाय। पूर्व बाल-अपराधियों की खोज में सहायता करना अपराध निरोध के सम्बन्ध में अनुसंधान करना, अपराध-निरोध कार्य क्रम में सक्रिय भाग लेना, बच्चों की रुचियों और आवश्यकताओं के सम्बन्ध में समुदाय को जागृत करना, युवकों को जीवन-मार्ग सही ढंग से चुनने में आवश्यक सहायता प्रदान करना, जीविका उपाजन के सम्बन्ध में सही मार्ग प्रदर्शन करना आदि कार्य मार्ग-प्रदर्शन संस्थाओं का सामान्य कार्य होना चाहिए। इन संस्थाओं में समाजशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही होने चाहियें जोकि बच्चों तथा युवकों के सामाजिक आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं व समस्याओं को खूब समझते हों, और उन्हें हल करने की क्षमता भी उन में हो। इन संस्थाओं को परिवार, स्कूल आदि से घनिष्ट सम्पर्क बनाये रखना चाहिए ताकि बच्चे के व्यक्तित्व के विकास के प्रत्येक स्तर से वे अपने को परिचित रख सकें।

(३) सामुदायिक सहयोग समिति तथा पड़ोस समिति (Community Co-ordination council and neighbourhood councils) की स्थापना—कानून तथा कानून को लागू करने की संस्थाओं के प्रति एक सम्मानसूचक मनोवृत्ति को विकसित करने के लिए सामुदायिक सहयोग समिति तथा पड़ोस समिति की स्थापना पर आजकल अत्यधिक बल दिया जाता है। इन समितियों को इस आदर्श के आधार पर संगठित किया जाता है कि स्थानीय समुदायों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वयं उस समुदाय की शक्तियों और कुशलताओं को संगठित किया जाना चाहिये



सामुदायिक सहयोग समिति में सामान्यतः स्थानीय किशोर न्यायालय, प्रोवेशन विभाग, पुलिस विभाग, स्कूल, धार्मिक संस्थाओं, समाज कल्याण संस्थाओं तथा नागदिक संगठनों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये जाते हैं। समिति का उद्देश्य स्थानीय समुदाय की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार अपराध-निरोध की रूप-रेखा तैयार करना तथा उनको क्रियान्वित करना है। उसी प्रकार पड़ोस समितियों का कार्य अपने पड़ोस में अपराध को जन्म देने वाली परिस्थितियों को कम करना, वहाँ के निवासियों में कानूनी जीवन बिताने की भावना को विकसित करना तथा उनके कार्यों को इस भाँति संचालित करना कि वे एक नागरिक-गर्व (civic pride) का अनुभव कर सकें। सामुदायिक संगठन तथा एक पड़ोस का विकास अपराध-निरोध में अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि इन समितियों में सरकारी हस्तक्षेप जितना कम हो उतना ही अच्छा है क्योंकि सरकारी हस्तक्षेप आम जनता को योजना से दूर हटा देता है और जनता के सक्रिय सहयोग के बिना अपराध-निरोध का कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता है।

(४) परिवार का पुनर्संगठन (Family reorganization)—अपराध-निरोध से सम्बन्धित समस्त सुधार कार्य की सफलता पारिवारिक संगठन तथा परिस्थितियों पर निर्भर करती है क्योंकि परिवार ही प्रथम प्राथमिक समूह है जोकि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योगदान करता है। यही कारण है कि अधिकतर अपराधी दोषयुक्त या टूटे हुए परिवार के सदस्य ही होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि अपराध-निरोध के लिए परिवार का पुनर्संगठन किया जाये। सफल परिवार दो बातों पर निर्भर करते हैं—वर-वधू के चुनाव का संतोषजनक तरीका और स्वयं वर-वधू के व्यक्तित्व में विवाह के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में सचेतता और परिपक्वता। यदि इन दोनों बातों को ध्यान में रखा जाय तो परिवार के टूटने की सम्भावनायें तथा पारिवारिक तनाव कम हो जायेगा। सुखी माता-पिता अपने बच्चों के व्यक्तित्व के सफल विकास में भी योगदान कर सकते हैं। इसीलिए श्री टप्पन (Tappan) का कथन है कि सफल पैतृकता (parenthood) बच्चे के जन्म से पहले ही आरम्भ होती है। इसीलिए अपराध-निरोध के लिये उपयुक्त माता-पिताओं के महत्व को सभी स्वीकार करते हैं। साथ ही, इस बात की भी आवश्यकता है कि जिन क्षेत्रों में तलाक अथवा पारिवारिक विघटन व तनाव अधिक संख्या में पाये जायें और जहाँ यह अनुभव किया जाये कि स्वस्थ पारिवारिक जीवन का प्रभाव है वहाँ पारिवारिक परामर्श क्लिनक्स की स्थापना की जानी चाहिए। इन क्लिनक्स में विशेषज्ञों द्वारा उस क्षेत्र के निवासियों को पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने में पर्याप्त सहायता दी जा सकती है। इस की भी व्यवस्था होनी चाहिए कि माता-पिता को अपने बच्चों की आवश्यकताओं और समस्याओं को समझने के सम्बन्ध में प्रशिक्षित किया जावे। इस प्रकार की सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता उन माता-पिताओं को है जोकि हाल में ही गाँव से



शहर में आकर बस गये हैं और जिनके बच्चे नगरों में रहते हुये अपने उद्योगों की निमन्त्रण में नहीं रख पाते हैं। भारतवर्ष में परिवार-नियोजन के कार्यों के साथ-साथ पारिवारिक परामर्शदात्री संस्थाओं का भी विकास होना चाहिए।

(५) स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था (Provision for healthy recreation):—उचित मनोरंजन की व्यवस्था का अभाव अपराध का एक उल्लेखनीय कारण माना गया है। जब बच्चों तथा नवयुवकों को अपने खाली समय का सदुपयोग करने का अवसर नहीं मिलता है तो वे उसका दुरुयोग ही करते रहते हैं और बुरी संगत या गिरोह में फँसकर अपराध-कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक समुदाय में स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था हो। कुछ देशों में विभिन्न आयु-समूहों के लिए अलग-अलग क्लब स्थापित किये गए हैं। ये क्लब अपने प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए उसके लिए न केवल स्वास्थ्य मनोरंजन की व्यवस्था करती हैं, अपितु उसकी पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने में भी सहायता करता है। ये क्लब पारिवारिक तनावों को दूर करते हैं तथा सदस्यों की व्यक्तिगत कमियों को पूरा करके उनके मन से होन-भाव को निकाल देते हैं। पर इन क्लबों के अतिरिक्त सामुदाय में बच्चों तथा युवकों के लिए खेल-कूद का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए और साथ ही व्यापारिक मनोरंजन के साधनों जैसे सिनेमा, थियेटर, नाइट-क्लब आदि से उन्हें दूर रखने की व्यवस्था होनी चाहिए। अश्लील, यौन इच्छाओं को भड़काने वाले तथा अपराधमूलक चलचित्रों को कम आयु वाले व्यक्तियों के लिये निषिद्ध कर देना चाहिए।

(६) मकानों की स्थिति में सुधार (Improvement in Housing Condition):—सभी समाजशास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि मकानों की बुरी दशा, विशेषकर गन्दी बस्तियाँ (slums) अपराध को जन्म देने से महत्वपूर्ण हैं। इसलिये अपराध निरोध के किसी भी कार्यक्रम में मकानों की दशा सुधारने की भी योजना सम्मिलित होनी चाहिए। मकान इस प्रकार का हो कि लोग इसमें भावनीय जीवन बिता सकें, गोपनीय स्थान उपलब्ध हो और बच्चों को खेलने के लिए सड़के और गलियों का सहारा न लेना पड़े। गन्दी बस्तियों की भीड़-भाड़ में अपराधियों को छिपने का भी जो मौका मिल जाता है, उचित मकानों की व्यवस्था हो जाने और गन्दी बस्तियों की सफाई कर देने से वैसा नहीं हो पाएगा। मकानों की कमी के कारण बहुत से लोग स्वस्थ पारिवारिक जीवन नहीं बिता पाते हैं और देश्या, शराब आदि के चक्कर में पड़कर अपराधी कार्य कर बैठते हैं। उचित मकानों की व्यवस्था हो जाने से इस स्थिति में भी सुधार सम्भव होगा, अच्छे मकानों में रहने से श्रमिकों का स्वास्थ्य स्तर उन्नत होगा और उनमें कार्य कुशलता बढ़ेगी। कुशल श्रमिक अपनी आर्थिक स्थिति को सरलता से सुधार सकता है और इस प्रकार निर्धनता और बेरोजगारी का दानव उन्हें कम परेशान करेगा। निर्धनता व बेरोजगारी को कम करना अपराध-विरोध का एक बहुत प्रभावशाली प्रयत्न होगा। पर यह तभी सम्भव होगा जबकि मकानों की स्थिति में आमूल सुधार किया जाये।



(७) संस्थात्मक पुनर्संगठन (Institutional reorganization):— अनेक विद्वानों ने अपराध-निरोध के लिए संस्थात्मक संरचना (institutional structure) के पुनर्संगठन का सुझाव प्रस्तुत किया है। श्री टैपट के अनुसार मनोवैज्ञानिक उपचार, स्कूलों का सुधार, नैतिक शिक्षा, माता-पिता की शिक्षा, पड़ोस का पुनर्संगठन आदि विधियों के द्वारा अपराध दल में केवल आंशिक (Partial) और अस्थायी कमी लायी जा सकती है। परन्तु एक अपराध विहीन समाज (Crimeless society) की स्थापना तभी हो सकती है जबकि सामाजिक जीवन की आधारभूत संस्थाओं को फिर से संगठित किया जावे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आर्थिक संस्थाओं का पुनर्संगठन इस भांति होना चाहिए कि उनमें अत्यधिक प्रतिस्पर्धा और भौतिक लाभ का अति लालच न हो और उनसे किसी विशेष समूह को ही नहीं बल्कि आम जनता को आर्थिक लाभ मिलता रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि नगरों की गन्दी बस्तियाँ, अत्यधिक लाभ के लिए संघर्ष, एकाधिकार की प्रवृत्ति और विभिन्न प्रकार के आर्थिक शोषण से बचा जाए। इतना ही नहीं, सामाजिक नियंत्रण की संस्थागत व्यवस्थाओं को फिर से संगठित करना होगा। उदाहरणार्थ धर्म को ही लीजिए। धर्म सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख साधन है। आवश्यकता-नुसार धार्मिक नियमों को कुछ हेर-फेर के साथ समाज में इस प्रकार क्रियाशील रखना होगा कि समाज के सदस्यों के व्यवहार में असामंजस्य उत्पन्न न हो। उसी प्रकार सामाजिक पक्षपात से बचने की आवश्यकता है। एक नयी नैतिकता (new morality) का भी विकास करना होगा जिसमें यौन व्यवहार तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कट्टर प्रतिबन्ध नहीं होंगे। अन्त में हमें अपने सामाजिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन करना होगा। यह दृष्टिकोण अपराधी को समाज का ही उत्पादन समझेगा और इसलिए अपराधी को बनाने में समाज को ही उत्तरदायी ठहरायेगा न कि स्वयं व्यक्ति (अपराधी) को।

वास्तव में अपराध का कोई एक कारण नहीं होता है और इसी कारण अपराध का उपचार भी किसी आधार पर नहीं किया जा सकता है। अपराध निरोध की समस्या वास्तव में सामाजिक पुनर्निर्माण की समस्या है।

### उत्तर संरक्षण सेवार्थ (After Care Services)

अपराधियों को सुधारने के लिये उत्तर संरक्षण सेवाओं का संगठन अत्यन्त आवश्यक है। उत्तर संरक्षण से हमारा तात्पर्य उन सेवाओं से है जो अपराधी को जेल अथवा सुधार संस्था से छूटने के बाद समाज में फिर से स्थापित करने में मदद करें। जिस समय अपराधी उपचार संस्था से छूट कर निकलता है तो उस समय उसकी अवस्था ठीक उसी प्रकार के मरीज की तरह होती है जो अधिक समय के बाद बीमारी से उठा हो। जिस प्रकार बीमार को बीमारी के बाद दवाइयों की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार अपराधी को भी जेल से छूटने के बाद



समाज की सहायता व सहानुभूति की भी जरूरत पड़ती है।। यदि बीमार को उचित दवाइयाँ इन्जेक्शन आदि न मिलें तो वह फिर से बीमार पड़ जाता है उसी प्रकार यदि समाज से सहानुभूति और अन्य सुविधायें न मिली तो फिर वह अपराधी व्यवहार की ओर अग्रसर होने लगता है। अपराधी जेल व सुधार गृह से निकलने बाद यह चाहता है कि समाज में सम्मानित जीवन व्यतीत करने के लिए कोई कार्य करे और इज्जत के साथ जीवन बिताये। पर समाज से सहानुभूति की जगह उसे ताना, उलाहना सुनने को मिलते हैं। हर जगह उसे अपराधी की उपाधि मिलती है परिणाम यह होता है कि वह समाज और समाज के सदस्यों से घृणा करने लगता है। समाज के प्रति उसके मन में विद्रोह की भावना प्रज्वलित हो उठती है। वह समाज विद्रोही बन जाता है। उसके मन में यह भाव उठता है कि अगर इस समाज के सदस्य हमें घृणा करते हैं तो हमारा अपराधियों का समाज उसे सम्मान और श्रद्धा देगा। इस प्रकार का विचार आते ही वह फिर अपराध करने लगता है इस प्रकार अपराधियों के सुधारने का कार्य केवल संस्थागत उपचार से ही पूरा नहीं होता, सुधार कार्य तभी सफल होगा जब अपराधी समाज में फिर से सम्मानित जीवन व्यतीत करने लगे। सुधार की अन्तिम सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम उसे समाज में फिर से पुनः संस्थापित कर दें। इन्हीं सुविधाओं को उत्तर संरक्षण सेवायें कहा जाता है। श्री रवीन्द्रनारायण के शब्दों में उत्तर संरक्षण सेवाओं से हमारा तात्पर्य “उन सेवाओं और समाज सेवा केन्द्रों से निष्कासित लोगों को समाज में पुनर्संस्थापित करना है जिससे वे लोग पुनः दुष्कर्म में प्रवृत्त न हों और न समाज या संस्था के ऊपर बोझ स्वरूप बन कर रहें बल्कि उत्तरदायित्वपूर्ण, उद्यमी स्वावलम्बी और गौरवपूर्ण नागरिक का जीवन व्यतीत करें।”

अप्रैल सन् १९५० में अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण संघ (International Union of Child Welfare) के किशोर अपराध सम्बन्धी सलाहकार कमीशन ने उत्तर संरक्षण सेवाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—“उत्तर संरक्षण के अन्तर्गत व्यक्ति को उसकी समस्यायें समझने में सहायता करने, अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करने, और उसकी कठिनाइयों के समाधान के लिए निश्चित कार्य होना चाहिये। वह केवल यदाकदा का और निरंकुश देखरेख अथवा नियन्त्रण की एक कठोर और औपचारिक व्यवस्था नहीं होनी चाहिए। उत्तर संरक्षण-पुनर्संस्थापन का एक अभिन्न भाग है, संस्थागत उपचार और बाहरी संसार के जीवन के लिए बाद की पुनः शिक्षा की निरन्तरता में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए।”

### पश्चिमी देशों में उत्तर संरक्षण सेवाएँ

(After-care Services in the West)

पश्चिमी देशों में जो उत्तर संरक्षण संस्थायें बनीं उनमें उल्लेखनीय नाम फिलेडेलफिया सोसायटी फार एसिस्टिंग डिस्ट्रेस्ड प्रिजनर्स (Philadelphia Society for Assisting Distressed Prisoners) का था। इस संगठन का कार्य नगर की जेलों में कैदियों में कपड़ा और भोजन बाँटना था। सन् १७८७ में फिलेडेलफिया



सोसाइटी फॉर एलीविएटिंग दि सिजरीज ऑफ पब्लिक प्रिजिन्स (Philadelphia Society for Alleviating the Miseries of Public Prisons) की स्थापना की गई। यह संस्था आज भी पेनसिलवेनिया बन्दीगृह समाज (Pennsylvania Prison Society) के नाम से कार्य कर रही है। इसका मुख्य कार्य अपराधियों के दुखी जीवन को सुधारना था। परन्तु कुछ समय बाद इस संस्था ने कैदियों को सहायता देना प्रारम्भ किया। जो लोग दानी थे उन्होंने कैदियों को जेल से मुक्ति दिलाई और दान के रूप में आर्थिक सहायता भी की।

१९वीं शताब्दी के मध्य से यूरोप के देशों में भी उत्तर संरक्षण कार्य आरम्भ हुआ। इनमें कुछ व्यक्तिगत कुछ अर्ध-सार्वजनिक और कुछ अर्ध-सरकारी संगठन हैं। उल्लेखनीय उत्तर संगठनों के नाम निम्नलिखित हैं—बेल्जियम में कौमिटे दे पैट्रौनेज (Comite de Patronage) जो १८६४ में स्थापित हुई, ब्रुसेल्स में आफिस दे रिएडेप्टेशन (Office de Readaptation) जो १९३२ में स्थापित हुई। पोलैण्ड में एसोसिएशन ऑफ पैट्रौनेज (Association of Patronage), इटली में काउन्सिल ऑफ पैट्रौनेज (Council of Patronage) तथा इन्स्टीट्यूट फॉर दि ऐड ऑफ डिस्चार्ज प्रिजनर्स (Institute for the Aid of Discharged Prisoners)।

पच्चीस वर्ष के बाद अमरीका में उत्तर संरक्षण कार्य का व्यवस्थित रूप में विकास हुआ। अब यह कुछ धनी व्यक्तियों के ऊपर आश्रित न रहकर एक सामाजिक उत्तरदायित्व समझा जाने लगा। इसके विकास का एक प्रमुख कारण यह भी है कि यह अधिक से अधिक केस अध्ययन (Case study) पर जोर दिया गया। उत्तर संरक्षण कार्य अब सामाजिक कार्यकर्ताओं का क्षेत्र बनता जा रहा है। पेनसिलवेनिया बन्दीगृह समाज (Pennsylvania Prisons Society) में अधिकतर कार्य करने वाले सामाजिक कार्य में प्रशिक्षित व्यक्ति होते हैं।

### भारत में उत्तर संरक्षण सेवाओं का संगठन

#### (Organization of After care Services in India)

भारत में उत्तर संरक्षण सेवाओं का संगठित स्वरूप बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में देखने को मिलता है। उत्तर संरक्षण समितियाँ (District Probation and after care Associations), मुक्ति बन्दी सहायता समाज (Released Prisoner's Aid Societies) अथवा बाल सहायता समितियों (Children's Aid Societies) की देखरेख में संगठित की गईं।

बम्बई राज्य में भी उत्तर संरक्षण होस्टलों (After care Hostels) का संगठन किया गया। ये एक विशेष प्रकार की संस्थाएँ हैं। इन होस्टलों में सुधारक संस्थाओं से मुक्त किशोर अपराधियों को रखा जाता है। इस प्रकार के होस्टल बम्बई, पूना, शोलापुर, बीजापुर, बेल गांव तथा ब्रोच में और दो अहमदाबाद में स्थापित किये गये। यह संस्थाएँ राज्य सरकार अथवा जिला प्रोबेशन और उत्तर संरक्षण समितियों अथवा मुक्ति बन्दी सहायता समितियों द्वारा संचालित होती हैं। इस संस्था के अतिरिक्त यरवदा औद्योगिक स्कूल का एक भाग भी मुक्त किशोर



बन्दीयों को रखने की व्यवस्था करता है।

मद्रास राज्य में भी कुछ उत्तर संरक्षण होस्टल स्थापित किये गये हैं जिनका संचालन मद्रास बाल सहायक समाज करते हैं। अभी इन होस्टलों की संस्था बहुत ही कम है। मद्रास राज्य लड़कियों के लिये दो क्लब वाल सहायक समाज भी कायम करता है। इन होस्टलों और क्लबों का मुख्य कार्य लावारिस लड़के व लड़कियों की देखभाल करना है जो सुधारक स्कूलों व संस्थाओं से छोड़े गये हैं। इन लावारिस लड़कों को काम दिलाना तथा लड़कियों को हाई स्कूल तक की शिक्षा देना, दाई के कार्य तथा सिलाई-बुनाई में प्रशिक्षित करना भी इसी संस्था का कार्य है। इन किशोर अपराधियों को सजा भुगतने के बाद काम में लगाना एक बहुत बड़ी समस्या है क्योंकि न तो इनमें समुचित शिक्षा का विकास होता है और न ही विभिन्न काम-धन्वों में प्रशिक्षित करने की पर्याप्त सुविधायें ही उपलब्ध हैं। इसका कारण यह है कि सुधारक संस्था या स्कूलों में काम-धन्वे में प्रशिक्षण की समुचित सुविधायें नहीं दी जाती हैं। इस कारण व्यवहारिक जीवन में आकर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन स्कूलों का मुख्य उद्देश्य केवल बच्चों को किसी प्रकार के कार्य में लगाये रखना है।

बम्बई राज्य में जो उत्तर संरक्षण होस्टल है उनमें केवल उन्हीं बच्चों को रक्खा जाता है जिनके घरबार नहीं होते। सुधारक संस्था से निकलने के बाद उनका कहीं भी ठिकाना नहीं होता, ऐसे अपराधियों को इन होस्टलों में रक्खा जाता है। इन होस्टलों को चलाने का कार्य प्रोवेशन अधिकारी को होता है। प्रोवेशन अधिकारी का सबसे कठिन कार्य लावारिस छात्रों को उचित रोजगार दिलाने की व्यवस्था करना होता है। ये किशोर अपराधी होस्टलों में रहने का खर्चा पैसे में नहीं चुकाते, बल्कि दैनिक कार्यों को करके जैसे सफाई, धुलाई आदि से अपने निवास का खर्चा पूरा करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की किशोर अपराध के तुलनात्मक अध्ययन की रिपोर्ट के अनुसार, “यद्यपि बम्बई और मद्रास के उत्तर संरक्षण होस्टल अपर्याप्त और कम कर्मचारियों द्वारा संचालित हैं, इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता इन संस्थाओं का वातावरण सामान्य (Normal) समाज को लौटते हुए किशोरों के लिए मध्यम मार्ग स्टेशनों (Midway stations) के रूप में महत्वपूर्ण और लाभदायक कार्य सम्पन्न करते हैं, और इस प्रकार परिवर्तन को कम आकस्मिक कर देते हैं।

बम्बई और मद्रास की भाँति उत्तर प्रदेश में भी प्रशिक्षित प्रोवेशन अधिकारी की उत्तर संरक्षण सेवार्थें उपलब्ध हैं। सुधार गृह स्कूलों से मुक्त किशोरों की देख-रेख और उन्हें काम दिलाने की व्यवस्था यही संस्थायें करती हैं, उत्तर प्रदेश में उत्तर संरक्षण सेवाओं का संगठन मुक्त बन्दी सहायता समाज (Discharged Prisoners Aid Society) जो राज्य सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त एक समाज कल्याण संस्था है, की देख-रेख में किया गया है। बम्बई और उत्तर प्रदेश में एक विशेष सेवा का आयोजन किया गया है, जिसे फालो अप सेवा (Follow up



Service) कहा जाता है। इन सेवाओं के अन्तर्गत बन्दियों से जेल अथवा सुधार संस्थाओं से छूटने के तीन वर्ष तक उनसे सम्पर्क बनाये रखा जाता है। इसमें फालो अप सेवा के कर्मचारी मुक्त बन्दी के घर जाकर उससे मिलते हैं और जीवन में अनेक प्रकार के सुभाव तथा निर्देश को देते हैं। यह मुलाकातें कुछ निश्चित समय के बाद होती रहती हैं।

भारत के कुछ अन्य राज्य भी हैं जहाँ पर उत्तर संरक्षण की व्यवस्था की गई है। मध्य प्रदेश में मुक्त बन्दियों और विशेषतः किशोरों की देख-रेख का कार्य डिप्टी कमिश्नर के द्वारा किया जाता है। एक किशोर की उत्तर संरक्षण में अवधि तीन वर्ष की होती है। बिहार में उत्तर संरक्षण का कार्य स्थानीय शिक्षा अधिकारी को दिया गया है। इन अधिकारियों को सुधार गृह से छूटे हुए अपराधियों का पूरा मासिक व्योरा सरकार को देना होता है। इसके अतिरिक्त सब डिवीजनल मैजिस्ट्रेट और रोजगार दफ्तर भी इन छूटे हुए कैदियों को नौकरी दिलाने में मदद करते हैं। पश्चिमी बंगाल में मुक्त किशोर अपराधी की देखभाल का कार्यभार स्कूलों के उपनिरीक्षक पर होता है। इनकी अवधि एक वर्ष तक की होती है। अक्सर प्रोवेशन अधिकारी अनुपस्थित रहते हैं, इस कारण से इन राज्यों में उत्तर संरक्षण सेवाओं का संगठन व्यवस्थित नहीं हो सका जितना कि बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में हुआ है।

जेल से छूटे कैदियों और सुधार संस्थाओं से मुक्त किशोर अपराधियों के संरक्षण और उन के जीवन की विविध समस्याओं पर परामर्श देने के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने देश व्यापी उत्तर संरक्षण सेवाओं का आयोजन किया है। उत्तर संरक्षण की एक व्यवस्थित योजना बनाने के लिए दिल्ली स्कूल ऑफ सोशल वर्क के प्रधान आचार्य डा० गोरे की अध्यक्षता में १९५४ में एक परामर्शदात्री समिति बनाई गई। इस समिति ने समस्त देश का भ्रमण करने के उपरान्त उत्तर संरक्षण सेवाओं के संगठन की रूप रेखा तैयार की। इसी रूप-रेखा के आधार पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत में उत्तर संरक्षण सेवा आयोजित की जा रही है। उत्तर संरक्षण के उद्देश्यों में निम्नलिखित पर गोरे समिति ने विशेष जोर दिया है। इस संरक्षण संस्था ने किशोरों को रोजी दिलाने का प्रबन्ध किया तथा मुक्त किशोरों को आर्थिक क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाया। आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनने के लिए लघु तथा कुटीर उद्योग धन्धों के लिए कुछ समय के लिए ऋण दिया गया और साथ ही बाकी परिस्थितियों को देखते रहने का उत्तरदायित्व भी दिया।

इस समय देश में उत्तर संरक्षण सेवाओं की जो योजना है उसके अन्तर्गत देश भर में लगभग ८० उत्तर संरक्षण सदन स्थापित किये गये हैं। इन सदनों में जेल से छूटे हुए कैदी तथा अन्य संस्थाओं से मुक्त व्यक्ति रखे जाते हैं और उन्हें आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जाता है। फिर भी आर्थिक साधनों की कमी, कुशल प्रशिक्षित संचालकों की कमी तथा सामाजिक सहयोग का अभाव इन सदनों की प्रगति और सफलता को बहुत कुछ रोकें हुए हैं। अतः इन



बाधाओं को दूर करने की आवश्यकता है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम फिर उसी निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रत्येक अपराध एक प्रकार का रोग होता है और आधुनिक मानव के लिये कोई भी रोग ऐसा नहीं है जिसका कि इलाज वह नहीं कर सकता है। यही अपराध का सुधारवादी उपचार का सिद्धान्त है। गांधी जी के शब्दों में, “अहिंसक उपाय का प्रयोग करते हुए यह विश्वास तो होना ही चाहिए कि कोई आदमी कितना ही पतित क्यों न हो, यदि कुशलता और सहानुभूति से उसके साथ व्यवहार किया जाय तो उसे भी सुधारा जा सकता है। हमें मनुष्यों में रहने वाले दैवी अंश को प्रभावित करना चाहिए और आशा रखनी चाहिए कि उसका परिणाम अनुकूल ही होगा।”

---



मोहल्ले में चोरी करता हुआ एक आदमी पकड़ा गया है। अनेक लोगों ने घेर लिया है उसे। सबको डर है, चोर कहीं भाग न जाय। इसीलिए उसे कसकर पकड़े हुए हैं एक सज्जन। कौन है यह चोर, कहां से आया, मकान में कैसे घुसा, क्या-क्या सामान चोरी करके भागने वाला था इत्यादि अनेक विषयों का सवाल-जवाब हो रहा है उस चोर को घेर कर। एक समस्या यह भी है कि इसे लेकर अब क्या किया जाय। कोई कह रहा है कि जो कारनामा चोर ने किया है उसके लिये उचित शिक्षा दी जानी चाहिये। खूब मरम्मत करो इस चोर की। मारते-मारते हाथ-पैर तोड़ दो, ताकि भविष्य में फिर कभी ऐसी हरकत करने की वह हिम्मत न करे। सुभाव देने वाले ने जोश में आकर चोर को पीटना भी शुरू कर दिया। उसकी देखा-देखी औरों ने भी उस पर हाथ उठाया। पर बीच में ही भीड़ में से एक धर्मात्मा ने निकल कर चोर की रक्षा की और बोले कि तुम सब अपना हाथ गन्दा करते हो। चोर के बुरे काम के लिये भगवान स्वयं ही उसे सजा देगे। भगवान के न्याय से कोई बच नहीं सकता—बुरे काम का परिणाम बुरा ही होगा। धर्मात्मा के कथन का विरोध एक दूसरे व्यक्ति ने किया। उसके अनुसार चोर को सजा देने का काम भगवान पर छोड़ना मूर्खता है। उसे अपनी करनी खुद ही भरनी है। चोर को तो मैदान में खड़ा करके सबके सामने कठोर से कठोर दण्ड देना चाहिये जिससे कि चोर को यह हमेशा के लिये याद रहे कि चोरी करने का परिणाम कितना भयंकर होता है और फिर कभी ऐसा करने का साहस वह न करे। साथ ही दूसरे लोगों को भी उसकी दुर्दशा देखकर एक सीख मिल जाय कि चोरी करना अनुचित है। पर उसकी इस बात का भी खण्डन एक अन्य सज्जन ने किया। उनका कहना था कि मार-पीट कर या डराकर हम चोर को सही रास्ते पर नहीं ला सकते हैं। उससे हो सकता है कि वह इस समय हाथ-पैर जोड़ कर माफी मांग ले और यह कहे कि भविष्य में वह ऐसा कदापि न करेगा। पर आपसे छुटकारा पाते ही फिर वह वही काम करेगा। इसलिये चोर के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए कि उसे अपने कार्य का परिणाम भोगने के साथ-साथ स्थायी तौर पर सुधरने का भी मौका मिले। यही आज उचित है, यही आज की मानवता है।

चोर के चोरी करने के व्यवहार की प्रतिक्रिया स्वरूप विभिन्न व्यक्तियों के उपरोक्त कथन दण्ड के ही विभिन्न सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति हैं। यह अध्याय इन्हीं के विषय में है।



## दण्ड की पृष्ठभूमि

### (Background of Punishment)

अपराध एक ऐसा व्यवहार है जो कि समाज के कल्याण के लिए हानिकारक सिद्ध होता है और इनकी दरें अत्यधिक बढ़ जाने पर सामाजिक संरचना के टूट जाने या अव्यवस्थित हो जाने की आशंका रहती है। इस कारण इस पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से कानून बनाये जाते हैं। कानूनों के द्वारा एक ओर समाज में शान्ति और सुव्यवस्था को बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है और दूसरी ओर प्रत्येक नागरिक के अधिकारों की रक्षा की जाती है। इसके बिना सामाजिक संरचना को स्थिर रखना असम्भव है। इस कारण कानून को तोड़ने वाले अपराधी कहलाते हैं, और उनके प्रति समाज की प्रतिज्ञा दण्ड के रूप में होती है। दण्ड समाज के उस सदस्य को दिया जाता है जो कानून का उल्लंघन करके अन्य नागरिकों के अधिकारों पर आक्रमण करता है एवं सामाजिक शान्ति और व्यवस्था को भंग करता है।

### दण्ड क्या है ?

#### (What is Punishment ?)

श्री सदरलैंड (Sutherland) के मतानुसार सार्वजनिक न्याय के साधन के रूप में दण्ड की धारणा में दो प्रमुख तत्व होते हैं—(अ) दण्ड एक समूह द्वारा सामूहिक रूप से समूह के ही किसी एक सदस्य को दिया जाता है। इस दृष्टि से युद्ध दण्ड नहीं है क्योंकि युद्ध अपने समूह के सदस्य के विरुद्ध नहीं, विदेशियों के विरुद्ध समूह की प्रतिक्रिया होती है। (ब) दण्ड के अन्तर्गत किसी पूर्वनिश्चित ढंग से अथवा किसी सामाजिक मूल्य द्वारा समर्थित (justified) ढंग से व्यक्ति को कष्ट अथवा याचना दी जाती है।<sup>1</sup> यदि किसी दुर्घटना के कारण किसी व्यक्ति को कष्ट या याचना प्राप्त होती है तो वह दण्ड नहीं है। उसी प्रकार एक शस्त्र-चिकित्सक (surgeon) आपरेशन करते हुए रोगी को जो कष्ट या पीड़ा पहुँचाता है वह भी दण्ड नहीं है। दण्ड पूर्वनिश्चित ढंग से समाज की ओर से अदालत के द्वारा समूह के ही किसी सदस्य को दिया जाता है।

श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) के शब्दों में, “दण्ड नेह यातना है जो अपराधी पर, पर उस समाज के द्वारा या उस समाज के नाम पर जिसका कि वह स्थायी अथवा अस्थायी सदस्य है, एक निश्चित रूप में लागू किया जाता है।”<sup>2</sup> अतः

1. “Two essential ideas are contained in the concept of punishment as an instrument of public justice—(a) It is inflicted by the group in its corporate capacity upon one who is regarded as a member of the same group..... (b) punishment involves pain or suffering produced by design and justified by some value that the suffering is assumed to have.” E. H. Sutherland *Principles of Criminology*, New York, 1955, p. 256.

2. “Such suffering as is inflicted upon the offender in a definite way by, or in the name of, the society of which he is a permanent or temporary member.” E. Westermarck, *The Origin and Development of the moral Ideas*, p. 169.



दण्ड सामाजिक प्रतिकार के रूप में वह कष्ट या यातना है जो एक समूह के ही अपराधी-सदस्य को उसके अपराध के प्रतिफलस्वरूप न्यायालय द्वारा दी जाती है।

**दण्ड का उद्देश्य**

(The Object Punishment)

दण्ड का अन्तिम उद्देश्य समाज की उन अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों से रक्षा करना है जो अपराधी-व्यवहारों द्वारा उत्पन्न हो सकती है। इस अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दण्ड द्वारा अपराधी को इस प्रकार का कष्ट अथवा यातना दी जाती है कि वह भविष्य में अपराधी-क्रियाओं को फिर से न दोहराये और दूसरे लोग भी यह शिक्षा ग्रहण करें कि उनको भी अपराध के मार्ग से दूर रहना है। इस प्रकार दण्ड का तात्कालिक (immediate) उद्देश्य केवल अपराध को रोकना है। परन्तु आज यह स्वीकार किया जाता है कि दण्ड का उद्देश्य केवल अपराध निरोध ही नहीं है, बल्कि अपराध को सुधारना भी है। दूसरे शब्दों में, आज दण्ड के सिद्धान्त में अपराध की अपेक्षा अपराधी का अधिक महत्व है। आज यह माना जाता है कि दण्ड की सार्थकता इसी में है कि इसके द्वारा अपराधी सुधर जाये। अपराधी के सुधरने पर अपराध से सम्बन्धित समस्त समस्याओं का समाधान आप से आप ही हो जायेगा।

**दण्ड के सिद्धान्त**

(Theories of Punishment)

दण्ड के सम्बन्ध में, और दण्ड के उद्देश्य (purpose) और प्रभाव (effect) के सम्बन्ध में भी एक मत नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब दण्ड रहेगा तब तक इसके सम्बन्ध में मतभेद भी अवश्य ही रहेगा। पर दण्ड, चाहे किसी रूप में हो, सदैव ही रहेगा क्योंकि अपराध-विहीन समाज की कल्पना करना भी मूर्खता है और अपराधी के विरुद्ध समाज की प्रतिक्रिया भी सदैव से ही होती चली आ रही है। एक्सनर (Exner) ने उचित ही कहा है कि अतीत काल की ओर जितनी भी दूर हम देख सकते हैं, यही पाते हैं कि मनुष्य सदैव ही दण्ड देता रहा है और इसके पक्ष में अपने तर्क भी सदैव प्रस्तुत करता रहा है। इस सम्बन्ध में एक बात और भी है और वह यह कि विभिन्न समुदायों की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ न तो एक सी हैं और न ही स्थिर। दण्ड के उद्देश्य भी इन परिस्थितियों के साथ-साथ बदलते रहते हैं। इस कारण भी दण्ड के सम्बन्ध में विभिन्न मत होने स्वाभाविक हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय हैं :—

(१) **प्रतिकारात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)**—प्रतिकारात्मक

सिद्धान्त प्रतिशोध या बदले की भावना पर आश्रित है। अति प्राचीन काल से ही 'खून का बदला खून' का सिद्धान्त समाज में लोकप्रिय रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी ने जिस प्रकार का अपराध किया है ठीक उसी प्रकार का दण्ड उसे अवश्य मिलना चाहिए। इस प्रकार अगर किसी ने किसी की आँखें फोड़ी हैं तो



उसकी आँखों को फोड़कर अपराधी को दण्ड देना चाहिए, दाँत तोड़ने वाले का दाँत तोड़ देना चाहिये। अतः इस सिद्धान्त के समर्थकों ने दण्ड को राज्य की ओर से हानि पाये पक्ष का बदला लेने की व्यवस्था माना है। दण्ड समूह द्वारा सामूहिक रूप में व्यक्तिगत बदले का व्यापक प्रतिरूप है। इसके समर्थकों का मत है कि अगर समाज (राज्य) अपराधी द्वारा हानि प्राप्त पक्ष का बदला लेने की व्यवस्था नहीं करेगा तो हानि प्राप्त पक्ष कानून को अपने हाथ में लेकर स्वयं बदला लेने को प्रेरित होगा जिसका परिणाम यह होगा कि समस्त सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जायेगी। इस प्रकार अपराधी व्यवहार से समग्र समाज को हानि पहुँचने की सम्भावना होती है; अतः राज्य को अपराधी से बदला लेना चाहिये।

उक्त सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप प्राचीन समाजों में अति स्पष्ट था जबकि व्यक्ति द्वारा कोई अपराध करना ईश्वरीय व्यवस्था या नियमों का उल्लंघन माना जाता था। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि अपराधी में शैतान का वास होता है और उस शैतान को उचित दण्ड देकर समाज को उनके प्रभाव से विमुक्त करना उस राजा का परम कर्त्तव्य है जो कि पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। पापात्माओं से प्रतिकार लेना समाज या राजा का परम कर्त्तव्य है। सर जेम्स स्टीफेन (Sir James Stephen) के शब्दों में दण्ड विधान और प्रतिकार का उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना कि विवाह और प्रेम का।<sup>3</sup>

समालोचना (Criticism)—आज उक्त सिद्धान्त की कटु आलोचना इस आधार पर की जाती है कि दण्ड देने के मूल उद्देश्य को केवल प्रतिशोध लेने तक सीमित कर देने से दण्ड के वास्तविक अर्थ को अति-संकुचित रूप देना ही होगा। अपराधी से केवल बदला ले लेने से ही समाज को कोई लाभ न होगा। दण्ड का उद्देश्य तो यह है कि उसके द्वारा समाज का कितना उपकार हो रहा है, न कि यह कि उसके द्वारा अपराधी को कितना कष्ट या यातना मिल रही है। श्री डीवी (Dewey) ने उचित ही कहा है कि केवल इतना कहकर कि अभियुक्त (Offender) अपराधी है हम अपने दोषपूर्ण दण्ड-विधान के परिणामों के उत्तरदायित्व से विमुक्त नहीं हो सकते।<sup>4</sup> अपराधी को अपराधी कह देना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु यह भी हमारा कर्त्तव्य है कि हम उस अपराधी को फिर से एक ईमानदार नागरिक बनायें; जो दण्ड-विधान इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करता है वही सर्वोत्तम है।

इस सम्बन्ध में डा० सेथना (Sethna) का मत है कि प्रतिकारात्मक सिद्धान्त वास्तव में नैतिक न्याय की पूर्ति (Fulfilment of moral justice) पर आधारित है, क्योंकि बुरे काम का परिणाम सदैव बुरा ही होता है चाहे उसके लिये उसे कानून के अनुसार दण्ड मिले या न मिले। दण्ड की देवी या प्रतिकार-देवी (Nemesis) के

3. "Criminal procedure is to resentment what marriage is to affection .....," E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 287.

4. "We are not relieved of the responsibility for the consequences of our procedure by the fact that the offender is guilty." John Dewey, *Human Nature and Conduct*, Henry Holt, New York, 1930, pp. 18-19.



द्वारा प्रत्येक अपराधी को उसके बुरे काम के लिए दण्ड अवश्य ही मिलेगा। डा० सेथना का कथन है कि इसी नैतिक आधार पर ही प्रतिकारात्मक सिद्धान्त की वास्तविक व्याख्या होनी चाहिए; यह एक बदले का सिद्धान्त (Theory of revenge) कदापि नहीं है। डा० मेकेन्जी (Mackenzie) ने इसी विचार को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “अपराधी को वास्तव में तभी पश्चात्ताप होता है जब वह दण्ड को अपने अपराध के स्वाभाविक अथवा न्याय-युक्त परिणाम के रूप में देखता है; और इसी स्वीकृति के आधार पर ही, न कि दण्ड के भय से, दूसरे लोगों के हृदय में भी अपराध के प्रति वास्तविक घृणा उत्पन्न हो सकती है।”<sup>67</sup>

(२) प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध या बदला लेना नहीं है; दण्ड देने का वास्तविक उद्देश्य अपराध का प्रतिरोध करना है। अपराधी को जो दण्ड दिया जाता है वह केवल उसके लिए ही नहीं बल्कि अन्य व्यक्तियों के लिए भी एक उत्तम शिक्षा (Lesson) या उदाहरण होता है और दण्ड के डर से वे अपराध से दूर रहते हैं। इस प्रकार दण्ड द्वारा अपराध का प्रतिरोध होता है। श्री ग्रीन (Green) के अनुसार दण्ड देने में राज्य का उद्देश्य न तो अपराधी को केवल यातना देना है और न ही केवल उसको इस कार्य से रोकना बल्कि इसका उद्देश्य जनसाधारण में एक प्रकार का भय उत्पन्न करना और अपराधी तथा उसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों का भविष्य में उसी अपराध के दोहराने से रोकना है।

दण्ड के द्वारा अपराध का प्रतिरोध होता है यह धारणा सुखप्राप्तिवाद (Hedonism) पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति वह कार्य करता है जिसमें उसे कम दुख सहकर अधिक सुख की आशा होती है, और उस कार्य से दूर रहता है जिसमें अधिक दुख मिलने की आशंका होती है। अतः अपराध से लोगों को दूर रखने के लिए छोटे से छोटे अपराध करने पर भी कड़े से कड़े दण्ड देने चाहिये। इसका फल होगा कि अपराधी-व्यवहार से प्राप्त सुख से कहीं अधिक दुख उसे दण्ड से मिलेगा और अपराध से दूर रहेगा।

जब इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड दिया जाता था तब दण्ड केवल कठोर ही नहीं होता था बल्कि अपराधी को सार्वजनिक स्थान पर दण्ड देने की व्यवस्था की जाती थी जिससे अधिक से अधिक लोग उससे शिक्षा ले सकें। ऐसा भी होता था कि दण्ड देने के बाद उसका प्रचार जनसाधारण में किया जाता था, जैसे कटे हुए सिर को बल्लम में बाँध कर उसे सारे शहर में घुमाना। आज भी कुछ अपराधियों के दण्ड को रेडियो द्वारा प्रचार किया जाता है।

समालोचना (Criticism)—आधुनिक युग में उक्त सिद्धान्त की कटु

5. “It is only when an offender sees the punishment of his crime to be the natural or logical outcome of his act that he is likely to be led to any real repentance; and it is only this recognition also that is likely to lead others to any real abhorrence of crime as distinct from mere fear of its consequences.”



आलोचना की जाती है। आज इस मत से कोई भी सहमत नहीं हो सकता कि मनुष्य का सारा व्यवहार दुख और सुख के हिसाब द्वारा निश्चित एवं निर्धारित होता है। अनेक ऐसे अपराध हैं जो कि अधिक संवेग, जोश या क्रोध में भाकर किये जाते हैं, और इन अवस्थाओं में दुख-सुख का हिसाब न तो लगाया जा सकता है और न लगाया ही जाता है। उसी प्रकार मन्द-बुद्धि वाले अपराधी के लिए भी इस प्रकार का हिसाब सम्भव ही नहीं होता।

इस सम्बन्ध में दूसरी आलोचना यह है कि दण्ड की कठोरता अपराध को रोकेंगी यह भी कोई निश्चित नहीं है। कठोर दण्ड देकर कुछ समय तक लोगों को डराया जा सकता है, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे लोग अभ्यस्त हो जायेंगे और अपराध की दरें पूर्ववत् ही रहेंगी। श्री मंस्टरबर्ग (Munsterberg) ने उचित ही कहा है कि “यदि क्रूर दण्ड की कठोरता ने मस्तिष्क को पशुवत् कर दिया है तो डर प्रभावहीन हो जायेगा।” प्रतिदिन कठोर दण्ड के विषय में सुनते-सुनते एक वह स्थिति भी आ सकती है जब जनसाधारण के लिए कठोर दण्ड दाल-रोटी की भाँति अति साधारण चीज हो जायेगी और उनके दिल से पुलिस, जेल, फाँसी आदि का डर भी हट जायेगा। साथ ही, अपराध और दण्ड के विषय में अधिक विस्तृत प्रचार होने पर उस विवरण को पढ़कर या सुन कर “पक्के” अपराधी अपराध के सम्बन्ध में बहुत कुछ नयी बातें सीखकर उससे लाभ उठायेंगे और अधिक सतर्क हो जायेंगे। इसी लिए श्री रॉस (Ross) ने कहा है कि कितने अपराधियों को कठोर दण्ड दिया गया यह बड़ी बात नहीं है; बड़ी बात यह होनी चाहिए कितने अपराधों को वास्तव में रोका गया।

(३) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)—सुधारात्मक सिद्धान्त के दो भिन्न मत—प्रथम, प्राचीन मत और द्वितीय, आधुनिक मत। प्राचीन मत के अनुसार दण्ड कष्टदायक होना चाहिए जिससे दण्डित किए गए व्यक्ति द्वारा अपराध करने से डरने लगे। इस प्रकार दण्ड द्वारा उसे सुधारा जा सकेगा। इन विचारकों का विश्वास है कि किसी को सुधारने के लिए उसे कष्ट या पीड़ा देनी ही होगी (You must inflict pain to get results)। इन विचारकों का कथन है कि पशुओं के सम्बन्ध में यह देखा गया है कि वे दण्ड के द्वारा अधिक शीघ्रता से सीखते हैं।

परन्तु आधुनिकतम अध्ययन से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। कष्ट या पीड़ादायक दण्ड द्वारा मनुष्य शीघ्रता से सीखता या सुधरता है यह प्रमाणित नहीं हुआ है। सीखने की प्रक्रिया (Learning process) में थोड़ा-सा दण्ड आवश्यक हो सकता है, पर कठोर दण्ड देने पर उल्टा ही फल होगा। कठोर दण्ड व्यक्ति या बालक के हृदय और मस्तिष्क को भी कठोर बना देता है और वह कठोर दण्ड का आदी हो जाता है; साथ ही उसके हृदय में विद्रोह की भावना जागृत होती है। इसका फल यह होता है कि वह सुधरता नहीं है और कठोर दण्ड का आदी हो जाने के कारण दण्ड का भय उसे बुरे से बुरे काम करने से भी पीछे नहीं हटा पाता है। इस



कारण कष्ट या पीड़ादायक दण्ड द्वारा अपराधी को सुधारने के सिद्धान्त को आज कोई भी स्वीकार नहीं करता है ।

सुधारात्मक सिद्धान्त का आधुनिक मत यह है कि दण्ड इस प्रकार का हो कि अपराधी पर उसका प्रभाव अति स्वस्थ एवं सुधारात्मक हो जिससे वह अपनी बुरी आदतों को त्याग दे, और यह समझने लगे कि अपराध कभी भी लाभदायक नहीं हो सकता । इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी-आदतों को तोड़ना, अपराधी को ईमानदार और चरित्रवान बनाना, उसे अपने पैरों पर खड़े होने के योग्य बनाना अर्थात् उसे व्यावसायिक प्रशिक्षण (occupational training) देना और इस प्रकार अन्त में अपराधी को सभ्य नागरिक के रूप में समाज में पुनः लौटाना है । इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि अपराधी व्यक्ति को अपराधी न मान कर एक रोगी की भांति समझ कर उसका इलाज करना चाहिए । इसके लिये यह आवश्यक है कि जेलों को सुधारगृहों तथा मानसिक रोग के चिकित्सालयों में बदल दिया जाय । अपराध एक प्रकार की सामाजिक बीमारी है जो कि बुरे वातावरण के कारण उत्पन्न होती है । इस कारण जेलखानों का वातावरण इस प्रकार का होना चाहिए कि उनमें रहने से अपराधी शिक्षित, कुशल, आत्मनिर्भर और सभ्य नागरिक बन सके । परन्तु इस सुधारात्मक कार्यक्रम को तभी प्रारम्भ किया जा सकता है जब जेल-व्यवस्था में भी आमूल सुधार किया जाय । अपराधियों को सुधारने के लिये जेल के भवन स्वच्छ और स्वस्थ होने चाहिए । जेल कर्मचारी और अधिकारीगण बहुत योग्य, मानव मनोविज्ञान के ज्ञाता, सहयोगी तथा सहानुभूतिपूर्ण होने चाहिए । अपराधियों का उचित वर्गीकरण होना चाहिए ताकि प्रथम अपराधी अभ्यस्त या पेशेवर अपराधियों से तथा बाल-अपराधी प्रौढ़-अपराधियों से मिल न सकें । प्रत्येक अपराधी की जीवनी का अध्ययन होना चाहिए ताकि उसके विषय में अपराध के वास्तविक कारण का पता चल सके और उसी के अनुसार उसे सुधारने का कार्यक्रम बनाया जा सके । दूसरे शब्दों में, इस सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक अपराधी की आवश्यकता तथा समस्या पृथक्-पृथक् होती है और उन्हें सुधारने के लिये उन पर पृथक् ध्यान देना आवश्यक है । जेलखानों में कैदियों के लिये सामान्य शिक्षा, उद्योग-धन्धों की शिक्षा, शारीरिक शिक्षा तथा नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए । कैदियों से ऐसा कोई काम न लिया जाय जिससे उनके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचे । जो भी काम उनसे लिया जाय उसके लिए उन्हें उचित वेतन देने की व्यवस्था होनी चाहिये । प्रोबेशन प्रणाली को अधिक विस्तृत रूप में लागू करना चाहिये ।

**समालोचना (Criticism)**—उक्त सिद्धान्त की आलोचना यह कह कर की जाती है कि सुधारात्मक कार्यक्रम को लागू करने का अर्थ यह होगा कि जेल सबके लिए बहुत आकर्षक हो जायेगी क्योंकि वहाँ “दण्ड” का नाम तक न होगा; ऊपर से खाने को अच्छा मिलेगा, चिकित्सा-सुविधा होगी, पढ़ने-लिखने, काम सीखने और मनोरंजन के समस्त साधन उपलब्ध होंगे, वेतन होगा, पंचायत होगी; फिर और



क्या चाहिए ? इसका परिणाम यह होगा कि अपराध की दरें तेजी से बढ़ती जाएंगी । ऐसे अनेक व्यक्ति होंगे जिनके लिए जेल से बाहर भूख से मरने की अपेक्षा अपराध करके जेल जाकर 'चैन की बंसी बजाना' अधिक लोभनीय होगा । परन्तु डा० सेथना (Sethna) का कथन है कि यह सोचना गलत है कि सुधारात्मक कार्यक्रम में "दण्ड" बिल्कुल ही नहीं दिया जायेगा । दण्ड देना केवल मारने-पीटने या शारीरिक यातना देने से ही नहीं होता । जेलखाने में अपराधी को कैद रखना स्वयं ही दण्ड है । अपने परिवार या आत्म-परिजनों से दूर समस्त अधिकार और स्वतन्त्रता को खोने से जो मानसिक यातना कैदियों को होती है वही वास्तव में दण्ड है । अतः हम कह सकते हैं कि सुधारात्मक सिद्धान्त ही सर्वोत्तम सिद्धान्त है । एक व्यक्ति को बिगाड़ना या नष्ट करना सरल है पर उसे बनाना कठिन कार्य है । कठिन कार्य को कठिन कह कर उससे दूर भगाना सम्यता का अपमान करना होगा । सम्य समाज की महानता अपराधी को नष्ट करने में नहीं, बल्कि उसे सुधारने में ही है ।

दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त को उत्तम मानने के कई कारण हैं । उनमें से सर्वप्रथम कारण तो यह ही है कि इसके अन्तर्गत मानवीय सद्गुणों को मान्यता प्रदान की जाती है और यह माना जाता है कि प्रत्येक मनुष्य में ही सद्गुण होते हैं, किन्हीं में उभरे हुए, तो किन्हीं में दबे हुए । सुधारवादी प्रयत्नों द्वारा उन दबे हुए सद्गुणों को उभारा जा सकता है । यह सोचते हुए भी मुझे दुःख होता है कि कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो समस्त सद्गुण-रहित है । यह मानव या मनुष्य जीवन को विचारने, विश्लेषित करने तथा निरूपित करने का अति निम्न दृष्टिकोण है । आज का प्रगतिशील, सम्य व आशावादी समाज इतने निम्न स्तर के दृष्टिकोण को कदापि स्वीकार नहीं करेगा । यही आशा है, और इसी आशा को लेकर ही आज अपराधियों को सुधारने की नई-नई प्रविधियों को संसार अपना रहा है । भारत भी किसी से पीछे नहीं रहेगा । यही चरम और परम आशा है । भारत के भविष्य की एक नींव इसी आशा पर टिकी हुई है ।



आज से पाँच वर्ष पूर्व चौधरी चन्दन सिंह को फांसी हुई थी अपने चचेरे भाई चुन्ना सिंह की हत्या करने के अपराध में। चुन्ना सिंह अपने पिता के इकलौते बेटे थे। विशाल जमीन-जायदाद छोड़कर जिस दिन चाचा जी परलोक सिधारे उसी दिन से चन्दन सिंह की निगाह उस पर लग गयी। चन्दन जानता था कि चुन्ना को अगर किसी प्रकार रास्ते से हटा दिया जाय तो वही उस जमीन-जायदाद का एक मात्र वारिस रह जायेगा। इसलिये चन्दन सिंह मौका ढूँढ़ता रहा पर फूल जैसे शान्त-शिष्ट चुन्ना के चरित्र में कोई ऐसी कमी नजर न आयी जिसके आधार पर चन्दन को चतुराई करने और चुन्ना को चकमा देने का मौका मिलता। बहुत छान-बीन करने के बाद चन्दन को एक सुराग मिला। चुन्ना की बीबी बहुत काली थी। इसलिये सुन्दरी औरतों के प्रति चुन्ना का एक स्वाभाविक आकर्षण था, इसी आकर्षण या दुर्बलता से फायदा उठाया चन्दन ने। एक नाचने वाली को शहर से किराये पर लाकर गाँव में अपने एक दोस्त के घर पर रक्खा उसकी बहन कहकर। फिर धीरे-धीरे उस लड़की से चुन्ना का परिचय करवाया। होली का त्यौहार आया। लड़की ने चुन्ना को घर पर दावत पर बुलाया। बहुत रात तक नाच गाना चलता रहा। चुन्ना ने नाच देखा, गाना सुना और साथ ही भाँग भी खूब पी। होली के अवसर पर भाँग पीना कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। पर चुन्ना के भाँग में ताँबे का सिक्का घिसकर मिलाया गया था। नशे में चूर होकर आधी रात बीते जब चुन्ना घर लौट रहा था तो रास्ते पर ही कुछ लोगों ने उस परघातक आक्रमण किया। चुन्ना के आर्त्तनाद को सुनकर जब तक आस-पास से लोग दौड़ कर आये तब तक आक्रमणकारी भाग चुके थे। पुलिस को घटनास्थल पर पहुँचने में दो घण्टे लग गये। उस समय तक चुन्ना जीवित था। उसने पुलिस को मृत्यु से पूर्व जो कुछ बयान दिया उसमें उसने यही कहा कि वह आक्रमणकारी को पहचान नहीं सका। उसे किसी पर सन्देह नहीं है। पर सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर श्री शुक्ल ने मामले की छान-बीन की। नाचने वाली लड़की से मेल-जोल बढ़ाया। काफी रुपया दबाँद किया और फिर एक दुर्बल मुहूर्त में उससे सब भेद निकाल लिया। चन्दन सिंह अपने साथियों के साथ गिरफ्तार कर लिये गये। अपने को निरपराध प्रमाणित करने के लिये चन्दन ने खूब हाथ-पैर पटकें पर श्री शुक्ल ने उसकी एक न चलने दी। न्याय-प्रिय पुलिस अफसर श्री शुक्ल ने न्याय की माँग की, अपराधी को दण्ड दिलवाया—चरम दण्ड, मृत्यु दण्ड ! यही इस अध्याय का अध्ययन-विषय है।



## मृत्यु दण्ड क्या है ?

(What is Capital Punishment)

मृत्यु-दण्ड का अर्थ समाज या सरकार द्वारा मान्य किसी न्याय-संस्था के आदेशानुसार ऐसे व्यक्ति का प्राण ले लेना या उसकी हत्या करना है जो एक गम्भीर अपराध का दोषी प्रमाणित हो चुका हो। भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) के अनुसार वह व्यक्ति जिसने किसी अन्य व्यक्ति की हत्या कर डाली है या वह व्यक्ति जो कि राजद्रोही है और राज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ता है, अपराधी प्रमाणित होने पर मृत्यु दण्ड से दण्डित किया जायेगा। वह व्यक्ति जो कि आजीवन कारावास का दण्ड भोग रहा है, यदि किसी अन्य व्यक्ति को मार डालता है तो उसके लिये भी मृत्यु-दण्ड अनिवार्य होगा। श्री हेकल ने मृत्यु-दण्ड को एक कृत्रिम चुनाव (artificial selection) की प्रक्रिया माना है। यह 'कृत्रिम' इसलिये है क्योंकि इसमें मृत्यु स्वाभाविक ढंग से नहीं, बल्कि अदालत द्वारा निर्धारित तरीके, दिन तथा समय के अनुसार घटित होती है। वर्तमान समय में न्यायालय के द्वारा ही मृत्यु दण्ड का आदेश दिया जाता है और वह भी पर्याप्त छान-बीन के पश्चात् जब अदालत को इस बात का तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता है कि व्यक्ति ने वास्तव में इतना गम्भीर अपराध किया है कि उसे जिन्दा न छोड़ना ही न्यायोचित होगा। अदालत के आदेशानुसार मृत्यु-दण्ड जेल में या अन्य किसी विशिष्ट संस्था में दिया जाता है।

## मृत्यु-दण्ड की विधियाँ

(Methods of Capital Punishment)

मृत्यु-दण्ड देने के तरीके विभिन्न देशों तथा कालों में भिन्न-भिन्न रहे हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में आग में जलाना, पानी में डुबाना, खौलते तेल में डालना, जीवित गाड़ना, विष देना, जंगली पशुओं से नुचवाना, पहाड़ से ढकेलना, खंजर से गला काटना, रास्ते में घसीट कर मारना आदि मृत्यु-दण्ड देने की कुछ प्रचलित विधियाँ थीं। आधुनिक समय में मृत्यु-दण्ड देने की इन बर्बर विधियों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। अब गले में रस्सी बांध कर फांसी पर लटकाना, गोली मार कर प्राण लेना आदि विधियों का अधिक प्रचलन है। वर्तमान समय में बिजली के करेण्ट वाली कुर्सी पर अपराधी को बैठाकर उसका प्राण लिया जाना अधिक लोकप्रिय विधि माना जाता है।

## मृत्यु-दण्ड की उत्पत्ति

(Origin of Capital Punishment)

मृत्यु-दण्ड का प्रचलन अति प्राचीन काल से है। आरम्भिक अवस्था में तो यह अति भयंकर रूप से प्रचलित था क्योंकि उस समय यह विश्वास किया जाता था कि खतरनाक अपराधियों से समाज की रक्षा का एकमात्र उपाय मृत्यु-दण्ड ही है। परन्तु इस मृत्यु-दण्ड की उत्पत्ति कब और कैसे हुई यह बताना वास्तव में कठिन है। फिर भी इस सम्बन्ध में अधिक लोकप्रिय मतों का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। कतिपय अपराध शास्त्री और समाजशास्त्रियों का मत है कि मृत्यु-दण्ड की



उत्पत्ति देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिये हुई थी। प्राचीन काल के लोगों का विश्वास था कि सभी सामाजिक नियम देवताओं द्वारा बनाए गये थे। इस कारण देवी नियमों को प्रचण्ड रूप से तोड़ने वाले को यदि मृत्यु-दण्ड नहीं दिया गया तो देवता असन्तुष्ट हो जायेंगे जिसका परिणाम यह होगा कि उस समाज पर देवता के कोप से लोगों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ेगा। अतः भगवान की कृपा दृष्टि को बनाये रखने के लिये अपराधी को मृत्यु-दण्ड ही देना वाच्छनीय है।

इस सम्बन्ध में दूसरा मत दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित था। इस विचारधारा के अन्तर्गत व्यक्ति को एक ऐसे नैतिक प्रतिनिधि (moral agent) के रूप में देखा जाने लगा जो अपने कार्य के प्रत्येक पक्ष को चुनने और करने की स्वतन्त्र इच्छा रखता है। समाज की नैतिकता को बनाये रखना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। पर जो व्यक्ति जानबूझ कर समाज के व्यक्तियों को हानि या कष्ट पहुँचाता है उस मृत्यु-दण्ड द्वारा ही दण्डित करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक और मत वंशानुसंक्रमणवादियों का है। इनके अनुसार कुछ व्यक्ति जन्म से ही ऐसी विशेषताओं को लेकर उत्पन्न होते हैं जिनके कारण वे अवश्य ही गम्भीर अपराध कर बैठते हैं। चूँकि इनमें अपराध की प्रवृत्ति जन्मजात होती है, इस कारण उन्हें सुधारा नहीं जा सकता। ऐसे व्यक्तियों से समाज की रक्षा करने के लिये ही मृत्यु-दण्ड की उत्पत्ति हुई है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा मत सामाजिक सन्तोष से सम्बन्धित है। इस विचार के अनुसार यदि किसी व्यक्ति की कोई हत्या करता है तो उसके परिवार के लोग यही चाहते हैं कि हत्यारे को भी मार डाला जाय। हत्यारे को मारने पर ही क्षतिग्रस्त पक्ष को सामाजिक सन्तोष प्राप्त होता है। इस प्रकार का सन्तोष प्रदान करने के लिये ही समाज को मृत्यु-दण्ड को अपनाना पड़ा है जिसमें 'जीवन के बदले में जीवन लेने' का सिद्धान्त निहित है। ऐसा करना समाज के लिये इसलिए आवश्यक हो गया क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो क्षतिग्रस्त पक्ष स्वयं ही बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर हत्यारे को मारने का प्रयत्न करता जिससे समाज में अव्यवस्था व अराजकता फैलती।

कुछ लोगों का मत है कि मृत्यु-दण्ड की उत्पत्ति में एक महत्वपूर्ण विचार यह काम करता है कि अपराध की दर को कम किया जाए। मनुष्य को प्राण सबसे अधिक प्यारे होते हैं और मृत्यु-दण्ड में प्राण ही ले लिया जाता है ताकि दण्ड की कठोरता को देखकर समाज के दूसरे लोग अपराध की ओर प्रवृत्त न हों और समाज में शान्ति व सुव्यवस्था बनी रहे।

### भारत में मृत्यु-दण्ड

#### (Capital Punishment in India)

भारतीय इतिहास का अध्ययन करने से यह बात स्पष्टतः ज्ञात होती है कि इस देश में मृत्यु-दण्ड का प्रचलन अति प्राचीन काल से ही था। वैदिक युग में भी मृत्यु-दण्ड दिया जाता था मनुस्मृति में दो प्रकार के मृत्यु दण्ड का उल्लेख मिलता



है—प्रथम चित्रबुध जिसमें अपराधी को पहले शारीरिक यंत्रणा दी जाती थी और फिर उसी यंत्रणा के साथ उसकी हत्या की जाती थी। जैसे एक अपराधी को रथ के साथ बाँध दिया जाता था और रथ को दौड़ाया जाता था। उस रथ के साथ-साथ अपराधी रास्ते में घिसटता जाता था और इसी प्रकार अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती थी। द्वितीय, सुघ-बुध जिसमें बिना शारीरिक यंत्रणा दिए अपराधी की हत्या की जाती थी। जैसे, अपराधी को विष पिला कर मार डाला जाता था। बौद्ध युग में अहिंसा का जोर था, फिर भी मृत्यु-दण्ड उस समय भी दिया जाता था। सम्राट अशोक के राज्यकाल में भी मृत्यु-दण्ड का प्रचलन देखने को मिलता था। फिर भी सम्राट की ओर से इतनी छूट अवश्य ही थी कि मृत्यु-दण्ड देने की राजाजा जारी होने के तीन दिन तक अपराधी के मित्र, सम्बन्धी आदि उसकी तरफ से मृत्यु-दण्ड को रद्द करने के लिए प्रार्थना कर सकते थे। गुप्त काल में मृत्यु-दण्ड केवल अत्यधिक गम्भीर अपराध के लिये ही दिया जाता था। इसका प्रमुख कारण वैष्णव धर्म की उन्नति थी। बारहवीं शताब्दी में निम्बार्क, जयदेव और रामानुज ने जब वैष्णव भक्ति को जन-आन्दोलन का रूप दिया, उस समय मृत्यु-दण्ड के विरोध में एक जनमत का निर्माण हुआ, यद्यपि शुक्राचार्य न भी यह कहा था कि “किसी जीवित प्राणी की हत्या नहीं करनी चाहिए—यह श्रुति का सत्य है। इसलिये राजा को सावधानी के साथ मृत्यु-दण्ड देने की कोशिश करनी चाहिए और कारावास का दण्ड देकर ही अपराध पर नियंत्रण करना चाहिए।” मुगलों के शासन काल में मृत्यु-दण्ड का प्रचलन अधिक हो गया था। अधिकतर मुगल शासक राज-द्रोहियों को मृत्यु-दण्ड से ही दण्डित करते थे। अकबर के राज्याभिषेक (सन् १५५६) से लेकर औरंगजेब की मृत्यु (सन् १७०७) तक का १५० वर्षों का काल मृत्यु-दण्ड में वृद्धि का काल कहा जाता है यद्यपि भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तकों ने इसका निरन्तर विरोध ही किया। इसके पश्चात् अंग्रेजी शासन काल में भी हत्या तथा राजद्रोह का अपराध करने वालों को मृत्यु-दण्ड ही दिया जाता रहा। यह परिस्थिति आज भी वर्तमान है यद्यपि गान्धी जी ने मृत्यु-दण्ड का समर्थन नहीं किया था। उनके अनुसार, मृत्यु-दण्ड अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध है। प्राण लेने का केवल उसी को अधिकार है जो प्राण दे सकता है। सभी दण्ड अहिंसा के आदर्श के प्रतिकूल हैं।” फिर भी गान्धी जी को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी कि अपराधी को जेलखाने में रोके रक्खा जाये जिससे कि वह दूसरे को नैतिक, सामाजिक या राजनैतिक हानि न पहुँचा सके। पर किसी भी अवस्था से उसे मृत्यु-दण्ड न दिया जावे।

### विदेशों में मृत्यु-दण्ड

#### (Capital Punishment in other Countries)

केवल गान्धी जी ने ही नहीं, अपितु अन्य अनेक शिक्षित, दयालु और विद्वान व्यक्तियों ने मृत्यु-दण्ड का विरोध किया है। इसी के फलस्वरूप अनेक देशों में और संयुक्त राज्य अमेरिका के ६ राज्यों में मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन कर दिया गया। यूरोप के जिन देशों ने मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन किया है उनमें बेल्जियम (सन् १८६३), पुर्तगाल



(सन् १८६७), नैदरलैण्ड (सन् १८७०), स्विट्जरलैण्ड (सन् १८७४), नावें (सन् १९०५), स्वीडन (सन् १९२१), लियुआनिया (सन् १९२२) तथा डेनमार्क (सन् १९३३) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इटली ने सन् १८८६ में मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन किया था, पर बाद में सन् १९२८ में इसे फिर से लागू कर दिया। उसी प्रकार जर्मनी ने १९१८ में इसका उन्मूलन किया, पर हिटलरशाही में इसे पुनः लागू किया गया। पश्चिमी जर्मनी ने सन् १९४९ में मृत्यु-दण्ड को समाप्त किया था पर बाद में इसे फिर से लागू किया गया है। पहले वाली न्यूजीलैण्ड सरकार ने भी सन् १८४१ में मृत्यु-दण्ड को समाप्त कर दिया था पर वर्तमान राष्ट्रीय सरकार ने सन् १९५० में इसे फिर से लागू कर दिया। रूमानिया ने भी सन् १८६५ में मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन किया पर सन् १९३९ में फिर से स्थापित किया गया।

मध्य तथा दक्षिण अमेरिका के अनेक राज्यों में मृत्यु-दण्ड नहीं है। ब्राजील ने सन् १८९१ में इसका उन्मूलन किया, परन्तु सन् १९३८ में केवल अत्यन्त दुष्टता पूर्ण अपराध के लिए मृत्यु-दण्ड देने की व्यवस्था को फिर चालू किया गया। इक्यूएडोर ने सन् १८९५ में मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन किया, कोलम्बिया ने सन् १९१० में, आर्जेन्टाइना ने सन् १९२२ में, कोस्टारिका, पेरू, उरुग्वे और वेनेजुएला ने सन् १९२६ में, मैक्सिको ने सन् १९३७ में और चिली ने सन् १९३० में मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन किया था। चिली में सन् १९३७ में इसे फिर लागू किया गया था।

### मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध में विचार

(Views regarding Capital Punishment)

मृत्यु-दण्ड का विषय एक अन्तहीन वाद-विवाद का विषय है और इसका अन्त शायद कभी नहीं हो सकेगा जब तक लोग दण्ड पर विश्वास करेंगे और यह चाहेंगे कि अपराधी को दण्डित किया जाना चाहिए। इस वाद-विवाद का अन्त इसलिए नहीं होगा क्योंकि प्रथमतः दण्ड के उद्देश्य के सम्बन्ध में एक मत नहीं है और द्वितीयतः दण्ड के परिणामों को आँकने का कोई तरीका नहीं है। यही कारण है कि कुछ लोग मृत्यु-दण्ड का समर्थन करते हैं तो कुछ लोग उसका विरोध। उदाहरणार्थ, श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) के मतानुसार अनेक अपराधी जन्मजात होते हैं और इसीलिए उन्हें किसी भी अवस्था में सुधारने की बात सोचनी ही गलत है। इस प्रकार के सुधार से परे अपराधियों के लिए मृत्यु-दण्ड ही उचित दण्ड है। श्री गेरोफ़ालो (Garofalo) के विचारानुसार समाज की भलाई के लिए नैतिक आधार पर भी मृत्यु-दण्ड का समर्थन करना ठीक होगा। अतः आपके मतानुसार मृत्यु-दण्ड एक प्रकार का नैतिक युद्ध (Moral war) है। श्री बेक्करिया (Beccaria) के अनुसार राज्य की उत्पत्ति एक सामाजिक समझौते (Social Contract) के फलस्वरूप हुई है। समाज के सदस्यों ने शान्ति, सुरक्षा व सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिए राज्य को कुछ अधिकार प्रदान किए थे। पर इस सामाजिक समझौते के समय व्यक्ति के प्राण राज्य को समर्पित (Surrender) नहीं किए थे। अतः राज्य को व्यक्ति के प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है। श्री बेक्करिया ने इसी कारण



प्राण दण्ड को न तो बंध माना और न ही आवश्यक। मृत्यु-दण्ड बंध इसलिए नहीं है क्योंकि यह सामाजिक समझौते के विपरीत है। साथ ही यह अनावश्यक इसलिए है क्योंकि मनुष्य को प्राण जैसी सबसे मूल्यवान वस्तु से वंचित करता है। इतना ही नहीं, कानून के द्वारा मान्य होने पर भी किसी व्यक्ति की हत्या करना हिंसा और बर्बरता का कार्य है। मृत्यु-दण्ड हिंसामूलक कार्य को दबाने के लिए स्वयं ही एक हिंसात्मक कार्य है। इसके अलावा, श्री बैकेरिया के अनुसार, मृत्यु-दण्ड से अपराध का प्रतिरोध भी नहीं होता है। मृत्यु-दण्ड तो कुछ देर का दण्ड है और व्यक्ति को मृत्यु होते ही वह दण्ड भी समाप्त हो जाता है तथा लोग इसे जल्दी ही भूल भी जाते हैं। इसके विपरीत वे सजायें जो निरन्तर बहुत दिनों तक चलती रहती हैं उनका एक अमिट छाप दूसरे लोगों के मस्तिष्क पर पड़ती है और उमसे अपराध का प्रतिरोध भी होता है। इस दृष्टिकोण से भी मृत्यु-दण्ड निरर्थक है।

श्री बेन्थम (Bentham) ने भी मृत्यु-दण्ड का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार मृत्यु-दण्ड उस अवस्था में विशेषकर बुरा है जबकि बर्बर ढंग से व्यक्ति की हत्या की जाती है। यदि जनमत मृत्यु-दण्ड के विपरीत है तो दण्ड कभी न देना चाहिए क्योंकि उस अवस्था में कानून के प्रति लोगों के दिल में जो श्रद्धा-भाव होता है वह कम हो जाता है।

### मृत्यु-दण्ड के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क

(Arguments for and against C. P.)

मृत्यु-दण्ड को बनाए रखा जाय या नहीं, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर अनेक विचारकों तथा अपराधशास्त्रियों ने अपना-अपना मत व्यक्त किया है फिर भी आज तक इस सम्बन्ध में कोई एक मत नहीं है। कुछ विद्वान मृत्यु-दण्ड के पक्ष में राय देते हैं और कुछ इसका विरोध करते हैं। जो लोग मृत्यु-दण्ड का समर्थन करते हैं, उनका कथन है कि मृत्यु-दण्ड एक निश्चित प्रतिरोध है, यह एक सस्ता दण्ड है, यह निश्चित दण्ड है, और इसके उन्मूलन मात्र से ही हत्या की दरें बढ़ जायेंगी क्योंकि लोग बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर कानून को अपने हाथ में ले लेंगे व एक-दूसरे की हत्या करने लगेंगे। इसके विपरीत जो विद्वान मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन का समर्थन करते हैं उनका कहना है कि मृत्यु-दण्ड न तो एक निश्चित प्रतिरोध है और न ही सस्ता दण्ड। मृत्यु-दण्ड प्रभावशाली होता है इसे भी ये विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं। इनका कहना है कि मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन कर देने से बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर लोग अधिक हत्या करें यह आशंका भी निरर्थक है। मृत्यु-दण्ड दैवी नियम के विपरीत है, इससे दण्ड देने में बहुत देर होती है, मृत्यु-दण्ड में न्याय करने में हुई भूल को सुधारा नहीं जा सकता है, यह दण्ड मानव जीवन के मूल्य को कम करता है, इसका बहुत बुरा प्रभाव जेल के अन्य कैदियों तथा अधिकारियों के दिमाग पर पड़ता है तथा इस प्रकार के दण्ड से अपराधी का परिवार भी बर्बाद हो जाता है।

आज दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्तों के विकास के साथ-साथ मृत्यु-दण्ड का



समर्थन करने वाले विद्वानों की भी संख्या उत्तरोत्तर घटती ही जा रही है। निम्न-लिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

(१) मृत्यु दंड प्रतिरोध नहीं करता है  
(Capital Punishment does not deter)

मृत्यु-दण्ड के समर्थकों का मृत्यु-दण्ड के पक्ष में सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है कि मृत्यु-दण्ड अपराधों को, विशेषकर हत्या को कम करता है। लोगों को अपना प्राण सबसे अधिक प्यारा होता है और कोई भी इससे वंचित होना नहीं चाहता है। मृत्यु-दण्ड लोगों को यह स्पष्ट चेतावनी देता है कि गम्भीर अपराध करने वालों को विशेषकर दूसरों की हत्या करने वालों को, अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। जान चली जायेगी इस डर से लोग गम्भीर अपराध बहुत कम करेंगे। इस प्रकार मृत्यु-दण्ड एक निश्चित प्रतिरोध के रूप में समाज के लिए कल्याणकारी है। अतः इसे बनाए रखना ही उचित है।

परन्तु यह तर्क आज निरर्थक प्रमाणित हो चुका है। ब्रिटिश रॉयल कमीशन ने स्वीट्जरलैण्ड, बेल्जियम, हॉलैण्ड, नार्वे, स्वीडन तथा डेनमार्क इन छः देशों का अध्ययन करके अपनी जो रिपोर्टें पेश की हैं, वह यह कि इन देशों में मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन बहुत साल हुए कर दिया है पर उस समय से लेकर अब तक के प्राप्त आंकड़ों से प्रमाण मिलता है कि हत्या करने के अपराध से जेल भेजे गए अपराधी सजा भुगतने के पश्चात् हिंसात्मक अपराध फिर शायद ही करते हैं। इसके विपरीत इस प्रकार के अधिकतर अपराधी जेल से छूटने के बाद उपयोगी नागरिक ही बन जाते हैं।<sup>1</sup>

हत्या करने वाले व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से यह पता चलता है कि अधिकतर हत्याओं का कारण गहरे अर्धचेतन दबाव (Deep seated subconscious compulsions) अथवा क्रोध होते हैं। ये अर्ध-चेतन दबाव या क्रोध अचानक उत्पन्न होकर एक संकट (Crisis) उत्पन्न कर देते हैं और व्यक्ति जोश में आकर हत्या कर बैठता है। यह सच है कि डाकुओं आदि के द्वारा की गई हत्यायें शान्तिपूर्वक व सोच विचार कर की जाती हैं, पर अधिकतर हत्यायें तो जोश में आकर ही घटित होती हैं। ऐसे भी कुछ व्यक्ति होते हैं जिनमें शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक रूप में गम्भीर कमियाँ या विकार होते हैं जिसके फलस्वरूप उनमें दूसरों के जीवन, सुख-दुःख के प्रति कोई श्रद्धाभाव व सहानुभूति की भावना नहीं होती है और उन्हें दूसरे व्यक्तियों के प्राण लेने में संकोच, लज्जा आदि कुछ भी नहीं होती है। इस प्रकार हत्यारों की तीन मुख्य श्रेणी होती हैं (१) क्रोध, जोश उद्वेग में आकर हत्या करने वाले हत्यारे, (२) सोच समझकर, योजना बनाकर

1. "The evidence that we ourselves received in these countries was also to the effect that released murderers who commit further crimes of violence are rare and those who become useful citizens are common."



तथा शान्तिपूर्वक हत्या करने वाले पेशेवर डाकू आदि तथा शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक रूप में गम्भीर कमियाँ या विकारयुक्त हत्यारे। यदि सामान्य तौर पर भी विवेचना किया जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो लोग क्रोध, जोश या उद्वेग में आकर हत्या करते हैं उन पर मृत्यु दण्ड एक प्रतिरोध के रूप में शायद ही काम कर सकता है क्योंकि अत्यधिक क्रोध या जोश की स्थिति से अपने कर्मों के परिणाम के विषय में शायद ही सोचता है या सोच पाता है। हत्या करने से उसे मृत्यु दण्ड मिलेगा, इस कारण उसे हत्या करने से दूर रहना चाहिए यह बात उस समय उसके मन में उदय तक भी नहीं होती है। अतः उन पर मृत्यु-दण्ड का प्रतिरोधात्मक प्रभाव (deterrent effect) लेशमात्र भी नहीं पड़ता है। बहुत कुछ यही बात उन लोगों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है जो कि शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक तौर पर विकारयुक्त हैं। उनकी भावना इतनी दबी हुई होती है कि उनके दिल में न तो व्यक्ति के प्राण के लिए और न ही कानून के लिए कोई अद्वा-भाव होता है। उन्हें अपने कर्मों पर लज्जा या घृणा का भी अनुभव नहीं होता है। इसीलिए मृत्यु-दण्ड का डर इन्हें अपने कार्यों से हटा नहीं सकता। जहाँ तक पेशेवर डाकू आदि का सवाल है, उन पर भी मृत्यु-दण्ड का प्रतिरोधात्मक प्रभाव 'ना' के समान ही पड़ता है क्योंकि इनका कार्य इतना संगठित होता है कि इनको एक तो पकड़ना ही कठिन होता है और पकड़ने पर भी इन्हें दोषी प्रमाणित करने की निश्चितता भी प्रयाप्त कम होती है। इनके पास धन होता है और कानूनी दावपेंच भी इन्हें खूब आता है जिसके कारण इनके छूट जाने की सम्भावना भी कम नहीं होती है। अतः ये पेशेवर डाकू आदि भी मृत्यु-दण्ड से शायद ही भयभीत होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मृत्यु-दण्ड एक निश्चित प्रतिरोध नहीं है, विशेषकर उन हत्यारों के लिए जो कि जोश या क्रोध में आकर अथवा किसी गम्भीर रूप से छुपे हुए बैर (grudge) का निपटारा करने के लिए या बदला लेने के लिए हत्या करते हैं।

यदि समाज में जितनी हत्याएँ होती हैं, उनको करने वाले सभी व्यक्तियों को पकड़ा व मृत्यु-दण्ड दिया जाता तो हो सकता था कि कम-से-कम सभी हत्यारों से समाज की रक्षा होती। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है। पुलिस व जासूस विभागों और अदालतों में पाये जाने वाले दोष तथा भ्रष्टाचारों के कारण आधे से भी कहीं कम हत्यारे पकड़े जाते हैं, और जो पकड़े भी जाते हैं उनमें से भी एक बड़ी संख्या में हत्यारे अदालत द्वारा अन्यायपूर्वक छोड़ दिये जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मृत्यु-दण्ड अनेक व्यक्तियों का प्रतिरोध नहीं कर पाता है क्योंकि हत्या करके भी वे बेदाग छूट जायेंगे यह आशा सदा ही उनके मन में बनी रहेगी और उन्हें हत्या-कार्य करने के लिये प्रेरित करती रहेगी।

मृत्यु-दण्ड एक प्रतिरोध के रूप में तभी कुछ प्रभावशील होता था जब उसे सार्वजनिक रूप में तथा कष्टदायक तरीकों से दिया जाता था। पर आज तो बिजली (current) छुआ कर पलभर में ही मृत्यु-दण्ड दे दिया जाता है जिसके कारण



अपराधी को अब कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता है। इससे भी मृत्यु-दण्ड का प्रति-रोधात्मक प्रभाव घट जाता है। परन्तु सत्य तो यह है कि सार्वजनिक रूप में तथा अत्यन्त क्रूर और निर्दयी ढंग से दिये गये मृत्यु-दण्ड से भी प्रतिरोध नहीं होता है। इंग्लैण्ड में १८वीं शताब्दी में फाँसी की सजा बड़े निर्दयी ढंग से सार्वजनिक स्थानों में दी जाती थी। फिर भी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि उस समय अपराध की दरों में कोई कमी हुई थी।

अमेरिका से प्राप्त आँकड़ों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि मृत्यु-दण्ड एक निश्चित प्रतिरोध नहीं है। अमेरिका के जिन राज्यों में मृत्यु-दण्ड का प्रचलन है वहाँ नर हत्या की दर उन राज्यों से जिन्होंने मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन कर दिया है, दो से तीन गुना ज्यादा है। उसी प्रकार जिन राज्यों ने मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन कर दिया है वहाँ से प्राप्त आँकड़ों से भी प्रमाणित होता है कि मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन से पहले तथा बाद में होने वाली नर हत्या की दरों में कोई खास अन्तर नहीं है।

श्री डैरो (Darrow) ने लिखा है कि जब समाज में मृत्यु-दण्ड का प्रचलन रहता है तो वहाँ के लोग मृत्यु-दण्ड दिये जाने की बात अक्सर सुनते रहते हैं जिसके कारण जीवन लेने की बात उनके लिये तुच्छ प्रतीत होने लगती है और दूसरों को मारना उनके लिये सरल हो जाता है। इससे समाज में हत्या की दर बढ़ती है। किसी भी कार्य के निरन्तर सम्पर्क में रहने और उससे परिचित होने से उस क्रिया से, चाहे वह कितनी ही क्रान्तिकारी क्यों न हो, कम आघात प्राप्त होता है।<sup>2</sup>

**मृत्यु-दण्ड दण्ड की निश्चितता को घटाती है**

(Capital Punishment reduces the certainty of Punishment)

मृत्यु-दण्ड के समर्थकों का कहना है कि कारावास की अपेक्षा मृत्यु-दण्ड अधिक निश्चित (certain) होता है क्योंकि इस दण्ड के द्वारा निश्चित रूप से अपराधी को उसके जीवन से सदा के लिये वंचित किया जाता है। इसके विपरीत जेल में रखकर जो दण्ड दिया जाता है उसमें अपराधी जेल से भाग सकता है, पैरोल या प्रोवेशन पर छूट सकता है या क्षमा माँग कर दण्ड से छुटकारा पा सकता है अर्थात् कारावास एक निश्चित दण्ड नहीं है।

परन्तु वास्तव में यह तर्क निरर्थक है कि मृत्यु-दण्ड निश्चित दण्ड है। सच तो यह है कि मृत्यु-दण्ड दण्ड की निश्चितता को घटाता है। विभिन्न देशों से प्राप्त आँकड़ों से यह पता चलता है कि मृत्यु-दण्ड का आदेश दिये जाने के बाद भी अक्सर क्षमा की प्रार्थना, अपील आदि के आधार पर अनेक व्यक्ति फाँसी के तख्ते से भी लौट आते हैं। सामान्य अनुभव यही कहता है कि जज और जूरी तक अपराधी को मृत्यु-दण्ड देने से हिचकिचाते हैं और गवाही देने वाले गवाही देने के लिये कम

2. "Frequent execution of death penalty dulls the sensibilities towards the taking of life. This makes it easier for men to kill, and increase murders, which in turn increase hangings, which in turn increase murders, and so on, around the vicious circle. ....constant association and familiarity tend to lessen the shock of any act, however revolting."



इच्छुक होते हैं। इस दृष्टिकोण से भी अपराधी को उचित दण्ड नहीं मिल पाता है। इसके विपरीत, अन्य प्रकार के मामलों में जज, जूरी, गवाह सब अपराधी को निश्चित रूप में दण्डित करने के लिये प्रयत्नशील होते हैं। श्री कैलवर्ट (Calvert) ने लिखा है कि सन् १८३० में इंग्लैण्ड के बैंक के मालिकों ने जालसाजी के अपराध के लिये मृत्यु-दण्ड की सजा के उन्मूलन के लिये प्रार्थना-पत्र दिया था क्योंकि उनका कहना था कि मृत्यु-दण्ड की कठोरता के कारण अपराधियों को सजा दिलवाने में वे असफल रहे हैं। इसका कारण यह था कि जज अपराधियों को दोषी ही नहीं ठहराते थे। इसीलिये बैंक के मालिकों ने इस बात की मांग की कि मृत्यु-दण्ड से कम कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाये जिससे अपराधी को निश्चित तौर पर दण्ड मिलता रहे और उनकी सम्पत्ति की ठीक से रक्षा हो सके।<sup>३</sup> उसी प्रकार प्रो० बाई (Bye) के अध्ययन से यह पता चलता है कि जिन राज्यों में मृत्यु-दण्ड का प्रचलन है, उन राज्यों की अपेक्षा जिन राज्यों से मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन हो चुका था, वहाँ हत्या करने के अपराध में पकड़े गये अधिक व्यक्तियों को दोषी ठहराया जा सका।<sup>४</sup>

मृत्यु-दण्ड की अनिश्चितता इस बात से भी स्पष्ट होती है कि अनेक ऐसे व्यक्तियों को भी फाँसी नहीं दी जाती है जिनको अदालत मृत्यु-दण्ड की सजा देती है। सन् १९५९-६४ की अवधि के बीच भारतवर्ष में विभिन्न अदालतों से हत्या के लिए मृत्यु-दण्ड प्राप्त कुल व्यक्तियों में से केवल ७६ प्रतिशत व्यक्तियों को वास्तव में फाँसी दी गयी। यदि यह कहा जाय कि कारावास कोई निश्चित दण्ड नहीं है, तो यह भी कहा जा सकता है कि मृत्यु-दण्ड भी कोई निश्चित दण्ड नहीं है। जब तक उसको सचमुच क्रियान्वित नहीं किया जाय।<sup>५</sup>

### (३) मृत्यु-दण्ड कम खर्चीला नहीं है

(Capital Punishment is not economical)

मृत्यु-दण्ड के पक्ष में इसके समर्थकों का एक तर्क यह भी है कि यह आजीवन कारावास से कम खर्चीला है क्योंकि आजीवन एक कैदी को जेलखाने में रखने तथा उसके खाने-पहन्ने व काम करने की व्यवस्था करने में सरकार का काफी खर्चा हो जाता है, जब कि मृत्यु-दण्ड में सरकार इस प्रकार के खर्च से विमुक्त रहती है। परन्तु यदि केवल खर्च से बचने के लिये ही मृत्यु-दण्ड को उचित माना जाय, तो गैर अपराधी-पागल, मन्द बुद्धि वाले (Feeble minded) व्यक्ति तथा हत्या से कम गम्भीर अपराध करने वाले व्यक्तियों को भी तो मृत्यु-दण्ड देकर खर्च से बचा जा

3. E. R. Calvert, *Capital Punishment in the Twentieth Century*, Putnam's sons, London, 1927, p. 15.

4. R. T. Bye, *Capital Punishment in the United States*, The Committee on Philanthropic Labour of Philadelphia Yearly Meeting of Friends, 1919, pp. 47 f.

5. "While it is clear that imprisonment is not a completely certain penalty, it is clear, also, that the death penalty is not a certain penalty until it is actually executed." E. H. Sutherland, *Principles of Criminology*, New York 1960, p. 296.



सकता है क्योंकि गैर-अपराधी, पागल आदि समाज के लिये निरर्थक व्यक्तियों को एक सुधार गृह या चिकित्सालय में रखने के लिए भी सरकार को काफी खर्च करना पड़ता है। तो फिर इन निरर्थक व्यक्तियों को मार कर क्यों नहीं खर्च से बचा जाता है? परन्तु ऐसा इसीलिए नहीं किया जाता है क्योंकि मानव जीवन की उपयोगिता और उसे रोग-मुक्त करने के महत्व व उत्तरदायित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। यही बात मृत्यु दण्ड के विपक्ष में भी कही जा सकती है। केवल खर्च से बचने के लिए मृत्यु-दण्ड दिया जाय, यह तर्क न तो उचित है और न ही मानवीय।

साथ ही, इसमें भी सन्देह है कि मृत्यु-दण्ड वास्तव में कारावास से सस्ता है। इसका सबसे प्रथम कारण तो यह है कि मृत्यु-दण्ड वाले मामलों की सुनवाई अदालत में अन्य मामलों की अपेक्षा अधिक दिनों तक होती है। इसमें काफी व्यय होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में अक्सर लगभग १००० जूरियों की परीक्षा होती है, तब कहीं जाकर उनमें १२ जूरी चुने जाते हैं और गिरफ्तारी और दण्ड के बीच में एक वर्ष या अधिक समय लग जाता है। भारतवर्ष में यह अवधि औसतन १४ से २० माह तक है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यदि हम केवल एक कैदी को जेल में रखने के खर्च का हिसाब लगायें तो वह अधिक ही आयेगा, पर जहाँ जेलखाने में हजारों कैदी रहते हैं उनमें यदि कुछ कैदी (जिन्हें कि मृत्यु-दण्ड दिया जाता है) और बढ़ जायें तो कुल खर्च में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं होगी। तृतीयतः, कीमती मृत्यु-घर (death houses) अथवा फांसी-घर आदि बनवाने में काफी धन व्यय होता है और साथ ही, जेल में अपराधी पर कड़ी नजर रखने के लिये जो अधिक लोगों की नियुक्ति की जाती है उसमें भी सरकार का खर्च बढ़ता ही है।

वास्तव में आज जब दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त को इतनी अधिक मान्यता दी जाती है, तो खर्च का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि वास्तविक खर्चा कभी भी अधिक नहीं हो सकता है। आज सुधारवादी आदर्श के अन्तर्गत कैदी को जेल-मुक्ति के पश्चात् उसके जीवन में पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से जेल में उसे अनेक प्रकार के उद्योगों में प्रशिक्षित किया जाता है, जिसके फलस्वरूप कुछ समय के पश्चात् ही कैदी नाना प्रकार की चीजों का उत्पादन करने लगता है और जेल विभाग की उन वस्तुओं को बेचने से लाभ ही होता है। वेतन के रूप में कैदी को जो कुछ मिलता है, उससे उसके रहने-खाने का खर्च वसूल किया जाता है। इस प्रकार आज कैदियों को सरकार पर आर्थिक बोझ के रूप में नहीं, आर्थिक-सहायक के रूप में देखा जा सकता है।

#### (४) मृत्युदण्ड में गलती को सुधारा नहीं जा सकता

(The irreparability of error with Death Penalty)

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि पुलिस अधिकारी के अण्टाचार, भ्रूटे गवाह या भ्रूटी पहचान आदि के कारण वास्तविक अपराधी को नहीं, अपितु एक निरपराध व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड से जज दण्डित कर देता है और वह दण्ड क्रियान्वित



हो जाने के बाद वास्तविक भेद का पता चलता है पर उस समय जज या अदालत की गलती को सुधारने का कोई भी रास्ता खुला नहीं होता है और न ही उसे हानि की पूर्ति किसी भी प्रकार से की जा सकती है। सर्वश्री ओ' हारा तथा ओस्टरबर्ग (O' Hara and Osterburg) ने लिखा है कि यद्यपि न्याय व्यवस्था इस प्रकार की गलती से अधिकाधिक बचने के लिये सदा सतर्क रहती है फिर भी गलत पहचान (mistaken identification), अपर्याप्त परिस्थितिक साहाय्य (inadequate circumstantial evidence), बनाये गये गवाह, विशेषज्ञों की भूटी गवाही, वास्तविक गवाहों को दवा देना, भूटी स्वीकारोक्ति, तथा जाँच अधिकारी का अन्य-धिक पक्षपात आदि के कारण कुछ मामलों में निरपराध व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड मिल जाता है।<sup>6</sup>

(५) मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन से अधिक हत्याएं नहीं होंगी।

(Abolition of C. P. Will not promote lynching)

मृत्यु-दण्ड के समर्थकों का कहना है कि अगर मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन कर दिया जायेगा तो लोग बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर कानून को अपने हाथ में ले लेंगे और बिना विधि-विधान के शत्रु पक्ष को दण्डित करने के लिए प्रयत्नशील होंगे। कहा जाता है कि हत्यारे के प्रति क्षतिग्रस्त पक्ष का एक विद्वेष भाव होता है और उस भावना की तृप्ति तभी होती है जबकि एक प्राण लेने के दण्ड-स्वरूप हत्यारे का भी प्राण ले लिया जाता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो क्षतिग्रस्त पक्ष स्वयं ही उसे मृत्यु-दण्ड देने का प्रयत्न करता है। अतः क्षतिग्रस्त पक्ष को मनोवैज्ञानिक तृप्ति देने तथा हत्या की दर को घटाने के लिए मृत्यु-दण्ड आवश्यक है। परन्तु वास्तव में यह तर्क भी निरर्थक ही प्रतीत होता है। जिन राज्यों में मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन हुआ है, उनके अध्ययन से यह स्पष्टतः पता चलता है कि मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन के पश्चात् जनता द्वारा कानून को हाथ में लेने या हत्या अधिक होने की घटनाओं में कोई वृद्धि नहीं हुई है। किन्हीं-किन्हीं राज्यों में तो इस प्रकार की घटनाओं में कमी ही हुई है। वास्तव में कानून को अपने हाथ में लेकर बिना विधि-विधान के दण्ड देना (lynching) उन्हीं राज्यों में अधिक पाये गये जिनमें मृत्यु दण्ड जारी है। इसीलिये श्री सदरलैन्ड ने लिखा है कि 'बिना विधि-विधान के दण्ड देना या हत्या करना तथा मृत्यु-दण्ड एक ही अन्तर्निहित मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति है और जहाँ एक फलता-फूलता है वहाँ दूसरे के विद्यमान होने की भी सम्भावना होती है।'<sup>7</sup>

(६) मृत्यु दण्ड का अन्य लोगों पर बुरा प्रभाव पड़ता है

(C. P. has bad effect on other persons)

मृत्यु-दण्ड का अन्य कैदियों तथा जेल अधिकारियों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव

6. Charles E. O' Hara and J. W. Osterburg, *An Introduction to Criminalistics*, Macmillan, New York, 1949, pp. 680—685.

7. "Lynching and capital punishments are expression of the same underlying attitude and where one flourishes the other is likely to be prevalent." E. H. Sutherland, *op. cit.*, p. 296.



बहुत बुरा पड़ता है। बहुत से कैदियों ने अपनी आत्मकथाओं (autobiographies) में इस बात का स्पष्टतः उल्लेख किया है कि जेल में एक अपराधी को फांसी पर लटकाने से सम्बन्धित जो कुछ भी किया-कलाप किया जाता है उन्हें देखने और सुनने का बहुत ही भयंकर प्रभाव जेल के अन्य कैदियों पर पड़ता है। कुछ कैदी तो वह सब देखकर इतने अधिक व्याकुल तथा क्षुब्ध हो जाते हैं कि वे अपना हाथ-पैर या सिर पटकने लगते हैं तो कुछ कैदी अस्वाभाविक यौन-क्रिया में लिप्त हो जाते हैं। कैदियों पर मृत्यु-दण्ड का मनोवैज्ञानिक प्रभाव इस रूप में भी बहुत खराब होता है कि मृत्यु-दण्ड उन्हें निराशा के अन्धकार में घसीट लाता है और वे चिन्तित रहने लगते हैं। उसी प्रकार, जेल-अधिकारियों पर भी मृत्यु-दण्ड का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, विशेष कर उन अधिकारियों पर जोकि फांसी देने या अन्य प्रकार से मृत्यु-दण्ड देने के समय घटनास्थल पर उपस्थित रहते हैं। आँखों से सम्पूर्ण घटना को देखना और एक व्यक्ति को उसके प्राण से वंचित करना अनेक अधिकारियों के लिये असहनीय प्रतीत होता है। कई अधिकारियों ने तो आत्महत्या तक कर ली है। श्री कैलवर्ट (Calvert) का तो कहना यह है कि मृत्यु-दण्ड के साथ सम्पर्क रखना पड़ेगा इस चिन्ता से योग्य व्यक्ति वार्डन (Warden) के पद पर काम करने को राजी नहीं होता है। इसीलिए कुशल वार्डनों को प्राप्त करना कठिन होता है। मृत्यु-दण्ड के जल्लाद पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव के विषय में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। हत्या के अपराधी को फांसी देकर न्यूयार्क के एक जल्लाद ने सन् १९२९ में आत्महत्या कर ली थी। विक्टोरिया के एक जल्लाद ने एक स्त्री-अपराधिनी को फांसी देने के बजाय स्वयं अपना गला काट लिया था। उसी प्रकार इंग्लैण्ड में २०४ व्यक्तियों को फांसी पर लटकाने के बाद एलिस नामक एक जल्लाद ने अपने स्त्री-पुत्र की हत्या करके अपनी भी हत्या करने का प्रयत्न किया था। इस सम्बन्ध में एक अंग्रेज जेल-वार्डन का कथन उल्लेखनीय है। उसने अपनी डायरी में लिखा है, “फांसी देने के पूर्व अनेकों रात एवं उसके पश्चात् अनेकों रात तक मैं सो नहीं सकता। मृत्यु-दण्ड दिये जाने के पूर्व हर समय मैं उस व्यक्ति को देखता हूँ और उसी के बारे में सोचता हूँ और जो कुछ मुझे उसे फांसी देने के अवसर पर करना है, इस बात का विचार मेरे मन में खटकता रहता है।” अतः जेल कर्मचारियों तथा कैदियों की इन दुःखद भावनाओं व अनुभवों से रक्षा करने के लिये मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन ही उचित है।<sup>8</sup>

### (७) मृत्यु दण्ड तथा चुनाव

#### (Capital Punishment and Selectivity)

मृत्यु-दण्ड को समाप्त करने के पक्ष में एक और तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि अन्य कठोर दण्डों की भांति मृत्यु-दण्ड भी सभी अपराधियों पर समान रूप से तथा न्यायोचित ढंग से लागू नहीं किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिन

8. “For many nights before and after the execution I can not sleep. Before it comes, every time I see the man or think of him, the thought of what I shall have to do at the execution strikes me.” *Quoted from the diary of an English Warden.*



लोगों के पास धन है, वे अपने धन या पद के बल पर अन्य दण्डों की भांति मृत्यु-दण्ड से भी बच जाते हैं और हत्या करके भी अपने को निर्दोष प्रमाणित करने में सफल होते हैं। इसके विपरीत जो निर्धन हैं, वे आर्थिक कठिनाइयों के कारण अच्छे वकीलों की सेवाओं को नहीं ले पाते हैं और मृत्यु-दण्ड से दण्डित होते हैं प्रो० अब्राहम (Abraham) ने लिखा है कि “यदि हम उन लोगों के आँकड़ों का अध्ययन करें जिन्हें मृत्यु-दण्ड दिया जाता है, तो वे इसी सत्य को व्यक्त करते हैं कि उनमें से अधिकांश निर्धन हैं। एक गरीब आदमी न्याय के पंजे से अपने को बचाने के लिये न तो साधन (resources) ही रखता है और न ही सामर्थ्य।” मृत्यु-दण्ड देने में न केवल धन के ही आधार पर पक्षपात होता है, बल्कि प्रजाति के आधार पर भी ऐसा हो सकता है। श्री सदरलैण्ड के अनुसार उत्तरी कैरोलिना के राजकीय जेल (State Prison of North Carolina) में सन् १९०९-१९२८ के बीच की अवधि में मृत्यु-दण्ड से दण्डित जितने अपराधी रक्खे गये थे उनमें से श्वेत प्रजाति के कुल अपराधियों के केवल २५.५ प्रतिशत को, जब कि नीग्रो प्रजाति के कुल अपराधियों के ५४.४ प्रतिशत को वास्तव में मृत्यु-दण्ड दिये गये। यह भी स्पष्टतः पाया गया कि जिन श्वेत अपराधियों को वास्तव में मृत्यु-दण्ड दिया गया उनमें से अधिकतर निराश्रय (helpless) भी थे। अतः इस आधार पर भी मृत्यु-दण्ड उचित नहीं है।

#### (८) मृत्यु-दण्ड अमानुषिक है (Capital Punishment is Inhuman)

मृत्यु-दण्ड के समर्थकों का कथन है कि मृत्यु-दण्ड मनुष्य के जीवन को नष्ट करने के बजाय जीवन की पवित्रता की रक्षा करता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। चूँकि मानव-जीवन पवित्र है, अतः जो उसे नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं उन्हें इसके लिए कुछ चुकाना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, जबकि व्यक्ति दूसरे के पवित्र जीवन का नाश करता है तो उसका स्वयं का जीवन अपवित्र या कलुषित हो जाता है और वह मानवता के स्तर से गिर जाता है। उसे उस कलुषित जीवन से मुक्ति देने का एक मात्र उपाय मृत्यु-दण्ड ही है। इस प्रकार मृत्यु-दण्ड मानवता की ही रक्षा करता है क्योंकि यह दण्ड मानव-जीवन को नष्ट करने वाले व्यक्तियों को समाप्त करता है तथा इस प्रकार अन्य लोगों के मन में मानव-जीवन पर हाथ न लगाने के प्रति एक डर-मिश्रित श्रद्धा-भाव को उत्पन्न करता है।

परन्तु उपरोक्त तर्क बनावटी तथा आत्म-विरोधी प्रतीत होता है। मानव जीवन का नाश करके मानवता की रक्षा कदापि नहीं की जा सकती है। राज्य या समाज व्यक्तियों के जीवन का ही प्रतीक है, न कि जीवन-नाश करने का। राज्य जब स्वयं ही हत्या का विरोध व निन्दा करता है तथा उसे अपराध के रूप में घोषित करता है, तो उसके लिये यह शोभा नहीं देता कि वह खुद भी दूसरों के प्राण का नाश करे या उन्हें मृत्यु-दण्ड से दण्डित करे। यदि प्राण लेने का ही आदर्श राज्य अपने नागरिकों के सम्मुख प्रस्तुत करेगा तो नागरिकों में भी हत्या करने की भावनाएँ पनपेंगी। अतः राज्य को ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जो कि नागरिकों को



अष्ट करे। मानवता की रक्षा या सुखी सामाजिक जीवन इसी बात पर निर्भर करता है कि घृणा तथा अहिंसा को न्यूनतम स्तर तक घटा दिया जाये। वह समाज जो जीवन का सम्मान करता है, उसे तत्परता के साथ जीवन लेना भी नहीं चाहिए।<sup>9</sup>

### (६) मृत्यु-दण्ड समाज के लिए अहितकर है

(C.P. does harm to Society)

मृत्यु-दण्ड के समर्थकों में श्री विक्टर ह्यूगो (Victor Hugo) का मत है कि सामाजिक संगठन को बनाये रखने के लिये मृत्यु दण्ड का होना पहली आवश्यकता है। उनका कथन है मृत्यु-दण्ड के हटते ही सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी और वह इस विकट नींव के बिना टिक न सकेगा। सामाजिक संगठन परिवारों पर निर्भर करता है, पर एक हत्यारा उस परिवार को विघटित कर देता है, विशेषकर उस समय जबकि जिस व्यक्ति की हत्या की गई है वह परिवार का प्रमुख कमाने वाला सदस्य है। परिवार को इस प्रकार विघटित करके जो हत्यारा सामाजिक संगठन को आघात करता है उसके लिए मृत्यु-दण्ड ही सबसे उचित दण्ड है क्योंकि इसी के द्वारा हम ऐसे खतरनाक व्यक्तियों से समाज की रक्षा कर सकते हैं।

परन्तु वास्तव में उपरोक्त तर्क समाज और सामाजिक संगठन को इतना तुच्छ समझने की धृष्टता करता है कि मृत्यु-दण्ड को ही उसकी वास्तविक नींव मान लेता है। सामाजिक संगठन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं व सदस्यों की क्रियाओं की एक सन्तुलित व्यवस्था है और मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन मात्र से ही उस सन्तुलन के बिगड़ जाने की कोई भी आशंका नहीं की जा सकती है। इसके विपरीत सत्य तो यह है कि मृत्यु-दण्ड से समाज का अहित ही होता है। मृत्यु-दण्ड समाज को उसके एक सदस्य की सेवाओं से वंचित करता है। हो सकता है कि वह व्यक्ति जिसे कि मृत्यु-दण्ड दिया जा रहा है, भविष्य में समाज को अपनी ऐसी एक होनहार सन्तान उपहार में दे सकता था जोकि दुनिया को ही बदल कर रख देता। अतः उसको मृत्यु-दण्ड देकर समाज को आगे आने वाले राष्ट्र-निर्माता नागरिकों से क्यों वंचित किया जाये? उसी प्रकार यह भी हो सकता है कि जिसे मृत्यु-दण्ड दिया जा रहा है, स्वयं उसमें ही अनन्त प्रतिभाएँ व असीमित सम्भावनाएँ छिपी हों। उदाहरणार्थ मई सन् १९६० में कैलिफोर्निया में बलात्कार के अभियोग में मृत्यु-दण्ड से दण्डित श्री चैसमैन (Chessman) का नाम उल्लेख किया जा सकता है। इस असाधारण तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध बन्दी ने अपने आठ वर्ष के कारावास-काल में चार अद्वितीय पुस्तकें लिखकर जनता के हृदय में अपना स्थायी स्थान बना लिया और जग को आन्दोलित कर दिया। मृत्यु-दण्ड ने समाज की इस प्रतिभाशाली सन्तान को

9. "Not only a sane solution of the crime problem, but also a generally happy social existence, seems to depend not a little upon the reduction of hatred and violence to a minimum. Moreover, the society which values life should not readily take it." Danold R. Taft, *Criminology*, The Macmillan Co., New York, 1959, p. 374.



सदा के लिए उससे छीन लिया। ऐसे लोगों को मृत्यु-दण्ड देने से मनोवैज्ञानिक रूप से अपराधी का व्यक्तित्व तो सहानुभूति एवं समवेदना का पात्र बन जाता है और उसके प्रति होने वाली घृणा अब उसे मृत्यु-दण्ड देने वाली सरकार के प्रति हो जाती है। कहा जाता है कि कैलिफोर्निया के गवर्नर के पास श्री चेसमैन को मृत्यु-दण्ड न देने के पक्ष में औसतन १०,००० से अधिक टेलिग्राम प्रतिदिन आये। केवल ब्रेजील में दो लाख जनता ने दस्तखत करके श्री चेसमैन की मुक्ति के लिए प्रार्थनापत्र भेजा।

### (१०) मृत्यु-दण्ड पारिवारिक विघटन का कारण बनता है

(C. P. becomes a cause of Family disorganization)

मृत्यु-दण्ड के विरोध में एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि मृत्यु-दण्ड परिवार को विघटित कर देता है। वास्तविकता तो यह है कि अपराधी के अपराध के लिए राज्य उसके परिवार के सदस्यों को ही सजा देता है। मृत्यु-दण्ड में 'मृत्यु' तो अपराधी की होती है, पर 'दण्ड' उसके अभागे परन्तु निरपराध व असहाय पत्नी, बच्चे, बूढ़े माता और पिता के हिस्से में पड़ता है। यह अवस्था विशेष कर उस समय होती है जबकि मृत्यु-दण्ड से दण्डित व्यक्ति ही अपने परिवार का एक मात्र कमाने वाला सदस्य हो और पूरा परिवार उसी पर आश्रित हो। उस अवस्था में कमाने वाले को मृत्यु-दण्ड मिलने के बाद परिवार के सदस्य रोटी के टुकड़े-टुकड़े के लिए तरस जाते हैं, बच्चे चोरी करना सीखते हैं, मां-बहन को विवश होकर वेदया-वृत्ति को अपना पड़ता है और बूढ़े माता-पिता सन्तान के लिए रो-रोकर प्राण गवाँ बैठते हैं। इससे समाज में दुःख एवं अनैतिकता का वातावरण बनता है और सामाजिक जीवन में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है।

### (११) अन्य तर्क

(Other Arguments)

(क) मृत्यु-दण्ड सुधारवादी सिद्धान्त के प्रतिकूल है—आज का युग अपराधियों को मारने का नहीं, अपितु उन्हें सुधारने का युग है। दण्ड के सिद्धान्त में आज का दृष्टिकोण रचनात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। इसलिए आज ऐसे किसी भी दण्ड का समर्थन नहीं किया जा सकता है जोकि मानव जीवन व परिवार को नष्ट करने वाला हो। अब तो यह अनुभव किया जाता है कि मानव ने उन विधियों को भी जान लिया है जिसके द्वारा प्रायः सभी अपराधियों को सुधारा जा सकता है। इसी-लिए मृत्यु-दण्ड का भी विरोध किया जाता है।

(ख) धार्मिक मत मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध है—इस मत के अनुसार “भगवान ने प्राण दिए हैं और केवल भगवान ही किसी के प्राण ले सकते हैं।” मनुष्य या राज्य को यह अधिकार नहीं है। जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है, गाँधी जी ने मृत्यु-दण्ड को अहिंसा के विरुद्ध माना है। उनके अनुसार केवल वही जीवन ले सकता है जो उसे देता है। सभी अपराध बीमारी है और उसका उसी रूप में उपचार होना चाहिये। हत्यारे को अपना सुधार करने के लिए कम से कम एक अवसर अवश्य मिलना चाहिए।



(ग) मृत्यु-दण्ड अपराधी को घृणा करने नहीं अपितु उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करने को प्रेरित करता है। इससे अपराध की सामाजिक गम्भीरता (social seriousness) नष्ट हो जाता है और समाज को हानि पहुँचती है। वास्तव में होता यह है कि मृत्यु-दण्ड देने पर अपराधी का व्यक्तित्व घृणा के बजाय सहानुभूति का पात्र बन जाता है। जो सहानुभूति राज्य या समाज के प्रति होनी चाहिए, वह अपराधी के प्रति होने लगती है जिसके फलस्वरूप अपराध को बुरा कहने की भावना कम होती जाती है। श्री चार्ल्स डिकेन्स ने लिखा है, “मृत्यु-दण्ड के चारों ओर एक अद्भुत आकर्षण होता है, जो कमजोर और बुरे लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता है और उससे सम्बन्ध रखने वाली बातों तथा उससे उत्पन्न होने वाली बुराइयों के प्रति रुचि उत्पन्न कर देता है, और भले आदमों भी इसकी उपेक्षा नहीं कर पाते हैं।” यह सम्पूर्ण स्थिति समाज तथा व्यक्ति दोनों के लिए ही अहितकर होती है।

(घ) श्री एहर्मैन (Ehrmann) के अनुसार मृत्यु-दण्ड न्याय व्यवस्था की स्वाभाविक गति को रोकता है तथा उसमें आवश्यक सुधार होने नहीं देता। मृत्यु-दण्ड में एक व्यक्ति का जीवन लेने का प्रश्न जज के सामने होता है। जज भी एक मानव होता है और उसमें भी दया, माया और अन्य कोमल भावनाएँ होती हैं जिसके कारण वह न्याय करते समय अपने ही अनेक उद्योगों से प्रभावित हो जाता है और किसी न किसी कानूनी आधार पर अपराधी को बचाने का प्रयत्न करते हैं। चूँकि इन कानूनी बातों के आधार पर ही उनके लिए अपराधी को बचाना सम्भव होता है, इसलिए जज लोग इन बातों को कानून में बने रहने की सिफ़ारिश करते हैं।

### निष्कर्ष

#### (Conclusion)

सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि उपलब्ध आँकड़ों तथा अध्ययनों के आधार पर मृत्यु-दण्ड को बनाये रखने के पक्ष में दिये गये तर्क उचित प्रतीत नहीं होते हैं। दण्ड जितना कठोर होगा वह उतना ही प्रभावशाली होगा, इस सिद्धान्त के समर्थक आज वास्तव में बहुत कम हैं। इसीलिए जिन विद्वानों ने सावधानी व गम्भीरता से मृत्यु-दण्ड के विषय का अध्ययन किया है उनमें से बहुत ही कम विद्वान इसका समर्थन करते हैं क्योंकि इसके द्वारा दण्ड के वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों का स्पष्ट मत तो यह है कि “मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन होना चाहिये, इसलिए नहीं कि वह अमानवीय है, अपितु इसलिए कि वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा है।” ऐसे भी कुछ विद्वान हैं जो कि मृत्यु-दण्ड की निरर्थकता के सम्बन्ध में सचेत रहते हुए भी इस बात पर बल देते हैं कि वे व्यक्ति जो कि समाज के लिए निरन्तर खतरा उत्पन्न करते हैं और जिन्हें सुधारने के समस्त प्रयत्न असफल हो चुके हैं, उनके लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था को बनाये रखने में कोई हानि नहीं है। सुवारे न जा सकने वाले ऐसे ही खतरनाक अपराधियों



लिए ही सम्भवतः श्री प्लेटो (Plato) ने बहुत पहले ही लिखा था कि "यदि कोई व्यक्ति निद्रा की अवस्था को छोड़कर अन्य किसी भी समय दूसरों के लिए प्रहानिकारक (harmless) नहीं हो सकता है तो उसके लिए जीने की अपेक्षा मर जाना ही अधिक उचित है।"<sup>10</sup> पण्डित जवाहर लाल नेहरू (Nehru) ने भी कहा कि आप सैद्धांतिक रूप से मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध हैं; परन्तु फिर भी विलकुल ही अवांछनीय व्यक्तियों को नष्ट करने का कोई तरीका होना ही चाहिए।

वास्तव में आज मृत्यु-दण्ड पर उतना नहीं जितना कि अपराधियों को सुधारने तथा उन अवस्थाओं का उन्मूलन करने पर अधिक बल दिया जाता है जो अपराध को जन्म देती हैं। इस समय अपराधशास्त्रियों के लिए मृत्यु-दण्ड उतनी महत्वपूर्ण समस्या नहीं है जितना कि सम्पूर्ण अपराधी-समूह का सुधार (regeneration)। मृत्यु-दण्ड से मरने वाले लोगों की समस्या वास्तव में इतनी बड़ी समस्या नहीं है जितना कि हम सोचते हैं। इससे भी कहीं बड़ी समस्या है उन लोगों की जो भूख, बीमारी, असुरक्षा एवं निरन्तर चिन्ताओं के भार से मृत्यु के शिकार बनते हैं। यदि इन अवस्थाओं में कोई स्थायी सुधार किया जा सके तो निश्चय ही समाज में वे अपराध बहुत कम हो जायेंगे जिनके लिए मृत्यु-दण्ड का विधान है। फलतः मृत्यु-दण्ड की समस्या का समाधान सम्भव होगा। यह आशा की जा सकती है कि जैसे-जैसे संसार प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ेगा वैसे-वैसे घृणा तथा स्वार्थ-भाव के स्थान पर सहानुभूति और 'हम' की भावना का विकास होगा। मृत्यु-दण्ड का आमूल उन्मूलन शायद उसी दिन सम्भव होगा। कुछ भी हो, जैसा कि श्री मैनहैम (Mannheim) ने लिखा है, हमें यह याद रखना चाहिए कि किसी भी हालत में मृत्यु-दण्ड के दिन अब सीमित ही हैं।

10. "If a man cannot be harmless otherwise than in sleep, it is better for him to die than live."  
—Plato.



नटवर शहर के सेंट्रल जेल का कैदी है। यहाँ रहते उसे पाँच साल हो गये हैं। अब भी काफी दिन रहना होगा उसे। पहले-पहल जेल नटवर को बहुत अखरता था। माँ, बीबी-बच्चों की बहुत याद आती थी। दिल करता था जेल की ऊंची दिवारें फाँद कर भाग जाने को। पर अब सब ठीक हो गया है। यहाँ माँ, बीबी-बच्चे तो नहीं हैं, पर कल्लू, मोती, श्याम, सुन्दर, शौकत, अनवर आदि बहुत से कैदी साथी उसके जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं। अब जेल में नटवर का दिल लग गया है और लगे भी क्यों न ? जेल अब वह जेल नहीं है जिसके बारे में वह पहले सुना करता था। सुनता था कि जेल में कैदियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और इसीलिए उनके साथ जानवरों से भी खराब व्यवहार किया जाता था। उस समय अनाचार और अत्याचार का राज्य था जेल। कैदियों को अमानुषिक परिश्रम करना पड़ता था। कोल्हू में वेल की जगह कैदियों को जोत दिया जाता था, उन्हें पत्थर तोड़ना पड़ता था और नारकीय परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करना पड़ता था। थोड़ी-सी भूल के लिये या काम में तनिक भी ढील देने पर कोड़े से उनको इतना पीटा जाता था कि शरीर में घाव बन जाते थे और कैदी बेहोश होकर गिर जाता था। पर होश में आते ही अंग्रेज जेलर के बूट की ठोकर खाते-खाते फिर से उसे अपने काम में जुट जाना पड़ता था। न तो कोई तकनीकी काम सिखाया जाता था और न ही पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध। पर आज जेलखाना एक दूसरी दुनियाँ है। नटवर को याद है जिस दिन वह पहली बार जेल में आया था उसी दिन जेलर साहब से उसकी भेंट करवाई गयी थी। बड़े सज्जन पुरुष हैं वह, उन्होंने उसी प्रथम दिन नटवर से उसके पिछले जीवन के बारे में एक-एक बातें पूँछी थीं। कई दिन तक पूँछताँछ जारी रही। नटवर ने भी सब कुछ स्पष्ट बताया था उन्हें। बहुत हमदर्दी के साथ जेलर साहब ने सब कुछ सुना था, फिर व्यक्तिगत ध्यान (Individual attention) दिया था नटवर के मामले में, उसकी समस्याओं को सुलझाने में। इसीलिए वह यहाँ अब खुश है, सन्तोष है उसे। नटवर जेल के स्कूल में पढ़ता है और जेल के कारखाने में काम सीखता है। खूब मेहनत से काम करता है क्योंकि उस मेहनत के लिये उसे तनखाह मिलती है। उस तनखाह से कुछ कट जाता है नटवर के जेल में खाने-पहनने के खर्च के लिये और बाकी सब जमा हो जाता है उसी के नाम पर सेविंग बैंक के खाते में। नटवर को अपने पर नाज है आज। वह किसी पर बोझ बनकर नहीं जी रहा है। चोरी का नहीं,



मेहनत का खा रहा है वह। साथ ही, भविष्य के लिए, अपने तथा अपने बीबी-बच्चों के लिये बचत भी कर रहा है। पर नटवर तथा उसके साथियों के जेल जीवन में काम ही सब कुछ नहीं है। खेल-कूद तथा मनोरंजन का भी अच्छा-खासा प्रबन्ध है। जेल में कभी सिनेमा तो कभी नाटक देखने को मिलता है उन्हें। जेल के कैदी ही नाटक खेलते हैं, नाच-गाने के प्रोग्राम में शामिल होते हैं। पिछले स्वतन्त्रता दिवस में 'रामराज्य' नाटक खेला गया था। नटवर ने राम का 'रोल' किया था। नाटक खेलते समय नटवर को ऐसा लग रहा था जैसे वह राम की ही भांति निष्कलंक एक परम पुरुष है—अपराध की कोई ग्लानि उसे स्पर्श तक नहीं कर सकती है। वह डाकू नटवर नहीं, साधु नटवर है। नटवर उस रोज के अनुभव से उत्पन्न पवित्र भाव को बनाये रखने का प्रयत्न करता है, जेल के अधिकारी और जेल का वातावरण उसके इस काम में मदद करते हैं। नटवर नाटक का राजा ही नहीं, अपनी जेल की पंचायत का सरपंच भी है। बड़ी जिम्मेदारी है नटवर पर। कैदियों के जेल जीवन से सम्बन्धित अनेक बातों का फैसला नटवर को अपने पंचों की मदद से करना पड़ता है। अधिक पेचीदा मामला ऊपर के अधिकारियों को भेज देता है। नटवर को अनुभव होता है कि वह 'नेता' बन गया है। बड़ा आत्मबल मिलता है उसे। उसने ठान लिया है कि जेल से छूट कर भी अब वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को इमानदारी से ही निभायेगा। नटवर 'नेता' बनेगा— डाकुओं का नहीं, इन्सानों का। पर नेता बन कर भी सब का ध्यान रखेगा, सबके साथ मिल-जुलकर काम करेगा। जेल में उसने यही शिक्षा पायी है। वह जेल की 'सहकारी समिति' के संचालक बोर्ड का भी सदस्य है। सब मिलकर सबके लिये काम करना और उससे न केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना बल्कि उससे लाभ भी कमाना सिखाया है जेल की सहकारी समिति ने। इतना ही नहीं, नटवर की जेल में कैदियों के लिये एक कैन्टीन तथा एक पुस्तकालय व वाचनालय है। कभी-कभी बाहर से विद्वान व्यक्ति आते हैं भाषण देने के लिये, नैतिक शिक्षा प्रदान करने के लिए। नटवर को याद है एक बार एक प्रवक्ता ने भाषण देते हुए कहा था, "आप सब अपराधी नहीं, रोगी व्यक्ति हैं। आज का जेलखाना कैदियों पर अत्याचार करने के लिये एक कारखाना नहीं अपितु आप जैसे रोगियों की चिकित्सा करने के लिए है। हर सच्चा अस्पताल यह चाहता है कि उसमें आये हुए रोगियों में से अधिकाधिक अच्छे होकर अपने घर लौटें। उसी प्रकार आज का प्रत्येक जेलखाना यह चाहता है कि आप जैसे अधिकाधिक रोगी जेल से एक अच्छे नागरिक के रूप में समाज को लौट सकें। पर जिस प्रकार अस्पताल में रोगी का अच्छा होना केवल डाक्टर, नर्स व दवा पर ही नहीं अपितु रोगी के मनोबल पर भी निर्भर करता है, उसी पर यहाँ आपका सुधरना आपके मनोबल तथा सद्भावना पर निर्भर करता है। हम सब लोगों का, जेल अधिकारियों का सद्प्रयत्न आप सबके साथ है।"

यही वर्तमान समय में हुए जेल सुधार की एक रूपरेखा है। यह अग्याय



इसी रूपरेखा को और सजीव करने का एक दिनत्र प्रयत्न है।

**जेल का अर्थ**

(Meaning of Prison)

श्री सेथना (Sethna) के अनुसार, “जेलखाना अपराधियों को रोकने का एक स्थान है।” विस्तृत अर्थ तथा वास्तविक रूप में, जेल वह राजकीय संस्था है जहाँ पर कि अदालत द्वारा अपराधियों को दी गयी कैद की सजा को भोगने तथा सुधारने के लिये उन्हें अदालत द्वारा निर्धारित एक निश्चित अवधि तक रोका जाता है।

सन् १८९४ के अधिनियम के अनुसार, “जेलखाना राज्य-सरकार द्वारा परिभाषित वह स्थान है, जहाँ कैदियों को स्थायी या अस्थायी रूप से रोका जाता है।”

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पहले जेलखाने को कैदियों को रोकने मात्र के लिये एक स्थान समझा जाता था जहाँ कि उन्हें केवल दण्ड ही भोगना पड़ता था। पर अब जेल दण्ड के साथ-साथ कैदियों को सुधारने का भी महत्वपूर्ण कार्य करता है। अपनी उपरोक्त परिभाषा में लेखिका ने इसी बात का स्पष्टीकरण किया है।

**जेल के कार्य**

(The Functions of Prison)

स्पष्ट है कि जेलखानों की स्थापना कुछ सामाजिक उद्देश्यों (objectives) की पूर्ति के लिये कि गई है जो कि संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) परम्परागत विचारधारा के अनुसार जेल का प्रथम उद्देश्य या कार्य अपराधियों को बन्दी करना है। इसीलिये जेल उन समस्त सतर्कताओं को अपनाता है जिससे कैदियों को जेल से भागने का मौका कदापि न मिले। यही कारण है कि जेल की हिफाजत से बहुत कम कैदी भाग पाते हैं।

(२) जेल का एक और काम अपराधियों से समाज की रक्षा करना है। जेल अपराधियों को सामान्य समाज से पृथक् कर देता है जिससे कि एक निश्चित अवधि में वे फिर अपराध-मूलक कार्य कलाप न कर सकें। इस प्रकार उस अवधि में जेल अपराधियों से समाज की रक्षा करता है।

(३) जेल समाज के बदला लेने की भावना को चरितार्थ करता है। अपराधी सामाजिक जीवन को या समाज के सदस्यों के जीवन को दुःखदायी बनाता है, इसलिए समाज भी बदले में यह चाहता है कि जेल में अपराधी का जीवन सुख कर न हो। इस विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि यदि जेल का जीवन कैदियों के लिये सुख कर बना दिया जायेगा, तो अपराध को प्रोत्साहन ही मिलेगा।

(४) जेल का एक महत्वपूर्ण कार्य अपराध-दरों (crime rates) को घटाना है। जेल का जीवन सुखकर नहीं होता है। इसीलिये जेल के जीवन को न तो स्वयं अपराधी और न ही समाज के अन्य सदस्य पसन्द करते हैं, विशेषकर इस



लिये कि जेल कैदियों को सामान्य सामाजिक जीवन से विच्छिन्न तथा वंचित करता है। इसी विच्छिन्न जीवन का डर दिखाकर जेल अपराध-दरों को घटाता है। साथ ही, आज का जेल अपराधियों को सुधार कर भी अपराध-दरों को घटाने में अपना योगदान करते हैं।

(५) अन्त में आधुनिक जेल का एक महत्वपूर्ण कार्य व उद्देश्य अपराधियों को सुधारना है। कहा जाता है कि यह आशा की जाती है कि जेल सुरक्षा की एक व्यवस्था (a system of security) के अन्तर्गत अपराधियों के सुधार या पुनर्वास की व्यवस्था करेगा।

### जेल-प्रणाली में आधुनिक प्रवृत्ति (Modern Trends in Jail system)

जेल-प्रणाली में आधुनिक प्रवृत्ति सुधार की दिशा में अधिक और दण्ड की दिशा में कम है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि जेल को एक दण्ड देने मात्र की संस्था के रूप में विवेचना करना संकुचित मानवता का परिचायक है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि जेल को इतना आकर्षक या दण्डविहीन बना दिया जाय कि अपराधी-क्रिया को प्रोत्साहन मिले। फिर भी जेल में आये हुए अपराधियों को ऐसे पर्यावरण में रक्खा जाये जिससे उनकी बुरी आदतें छूट जायें, जेल से छूटने के बाद वे अपने तथा अपने परिवार के लिये आर्थिक व सामाजिक-नैतिक रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकें और समाज के साथ उनका अनुकूलन सम्भव हो। संक्षेप में, जेल-प्रणाली का उद्देश्य अपराधी को दण्ड देने के साथ-साथ उसे सुधारना भी होना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही जेल-प्रणाली में आधुनिक समय में कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः प्रकट हो रही हैं। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) जेलों का विशेषीकरण (Specialization of Prisons) :—अपराधी के उपचार के सम्बन्ध में जिस प्रगतिशील दृष्टिकोण का विकास हुआ है, उसमें एक उल्लेखनीय दिशा जेलों का विशेषीकरण है। अपराधियों को बिना सोचे समझे एक ही जेलखाने में ठूस देने से लाभ के स्थान पर हानि होने की ही सम्भावना है। उदाहरणार्थ, अगर बाल-अपराधी तथा वयस्क व पेशेवर अपराधी को एक साथ रक्खा जाय तो एक-दूसरे अपराधियों की संगत में बाल-अपराधियों के ब्रिगड जाने की सम्भावना सदा ही रहेगी। उसी प्रकार स्त्री-अपराधियों को पुरुष अपराधियों के साथ रखने का तात्पर्य होगा यौन-अपराधों में वृद्धि। इसीलिये आज अपराध की गम्भीरता, आयु, यौन-भेद (sex), मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाएँ आदि के आधार पर जेलों का वर्गीकरण कर दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रथम अपराधी को पेशेवर अपराधी से दूर रहने के लिये इन दोनों प्रकार के अपराधियों के लिये पृथक्-पृथक् जेल होती है। उसी प्रकार अलग-अलग जेलों की व्यवस्था करके बाल-अपराधी को वयस्क अपराधियों से, स्त्री-अपराधियों को पुरुष अपराधियों से पृथक् रखने की व्यवस्था की जाती है। मन्द-बुद्धि वाले अपराधी, असन्तुलित बुद्धि वाले अपराधी,



शारीरिक रूप से दोषयुक्त अपराधियों के लिये भी कुछ देशों में पृथक्-पृथक् व्यवस्था है।

(२) वर्गीकरण (Classification):—केवल जेलों का विशेषीकरण ही नहीं, अपितु कैदियों का वर्गीकरण भी जेल-प्रणाली में एक आधुनिक प्रवृत्ति है। यहाँ वर्गीकरण का तात्पर्य आयु, यौन-भेद आदि के आधार पर कैदियों का विभाजन नहीं अपितु उनकी व्यक्तिगत आवश्यकता (individual needs) तथा उनके सुधार की सम्भावना (probable reformatibility) के आधार पर विभेदीकरण (differentiation) है। इस प्रकार 'वर्गीकरण' का प्रयोग आज उस सम्पूर्ण प्रक्रिया के लिये किया जाता है। जिसके द्वारा जेल कैदियों को व्यक्तिगत उपचार (individual treatment) के द्वारा सुधारने के उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है।<sup>1</sup> इस प्रक्रिया की चार अन्तः—सम्बन्धित प्रणालियाँ हैं—

(१) कैदियों की एक व्यक्तिगत जीवनी (Case history) तैयार की जाती है और इस कार्य में प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता (Social Workers) आदि की सहायता ली जाती है। इसका उद्देश्य अपराधी की व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा समस्याओं को समझना और उपचार के लिए एक ठोस पृष्ठभूमि तैयार करना। (२) इस जीवन-विवरण को एक वर्गीकरण कमेटी (Classification Committee) के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है जो कि व्यक्तिगत उपचार (Individualized Treatment) की एक योजना तैयार करता है। (३) तृतीय स्तर पर इस योजना को लागू किया जाता है और उसके प्रभावों को आँका जाता है। (४) उपचार योजना (Treatment Programme) में कैदी के बदलते हुए आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया जाता है।

### (३) कैदियों के लिए सामाजिक सम्पर्क (Social Contacts for Prisoners)

आधुनिक जेल-प्रणाली में एक और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति कैदियों को तनहाई या एकान्त में कैद रखने (solitary confinement) की प्रथा का त्याग है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि चूँकि जेलखाने से छूटने के बाद कैदी को फिर समाज में ही लौट जाना और उसके साथ अनुकूलन करना पड़ेगा इसलिये उसे तनाही में रखकर उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों का गला घोटना उचित न होगा। इसके विपरीत कैदियों के लिये इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये जिससे वे समाज के साथ सम्पर्क निरन्तर बनाये रख सकें। इसीलिये आज जेलखाने में उनके लिये मनोरंजन, खेल-कूद, पुस्तकालय व वाचनालय, स्कूल, क्लब आदि का प्रबन्ध किया जाता है, उन्हें अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से मिलने तथा उन्हें पत्र लिखने की सुविधा प्रदान की जाती है। इससे कैदी का सम्बन्ध अन्य कैदियों से तथा बाहरी दुनिया से बना

1. "The term is now used to designate the entire process by which prisons attempt to attain the objective of reformation through individualized treatment." E. H. Sutherland, *Handbook on Classification in Correctional Institutions*, New York, 1947, p. 2.



रहता है जिसका कि उस पर सुधारात्मक प्रभाव पड़ता है। श्री बार्नेस (Barnes) ने लिखा है कि कैदियों को सुधारने का प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब कि उनके स्वतन्त्र जीवन (life of freedom) के लिये प्रशिक्षित किया जाये।

(४) आतंकों में कमी (Reductions of horrors) :—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिक समय में जेल-जीवन के सम्बन्ध में लोगों के मन में वह आतंक नहीं है जो पहले था। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि पहले जेलखानों में कैदियों के साथ जो अमानुषिक व्यवहार करने तथा भयंकर शारीरिक यातनायें देने की परम्परा थी, अब उसका अन्त हो गया है। आज कैदियों के खाने-पीने, रहने, स्वास्थ्य, सफाई, रोशनी आदि में पर्याप्त सुधार हो गये हैं। जेल-जीवन की नीरसता को दूर करने के लिये पार्क, खेल-कूद, मनोरंजन, पुस्तकालय व वाचनालय आदि का भी प्रबन्ध किया जाता है।

(५) अनुशासन तथा नियन्त्रण (Discipline and Control) :—पहले जेल-अनुशासन से तात्पर्य सरकारी नियमों का अक्षरशः पालन समझा जाता था। पर अब इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया है। अब जेल-अनुशासन का अन्तिम उद्देश्य कैदियों को आत्म-निर्भरता (self-reliance), आत्म-नियन्त्रण, (self-control), आत्म-सम्मान (self-respect) तथा आत्म-अनुशासन (self-discipline) की भावना को उत्पन्न करना है। आज यह विश्वास किया जाता है कि जेल-अनुशासन इस प्रकार का होना चाहिये जिससे कि कैदियों के व्यक्तित्व में उन गुणों का विकास सम्भव हो जो कि उन्हें एक अच्छे नागरिक के रूप में प्रतिष्ठित कर सकें और जेल से छूटने के पश्चात् वे समाज के लिये उपयोगी बन सकें। इस बात को आज शायद ही कोई अस्वीकार करता है कि अत्यधिक अनुशासन और नियन्त्रण व्यक्तित्व में विकृतियों को ही जन्म देते हैं। साथ ही, अत्यधिक कठोर नियन्त्रण का एक विरोधी प्रतिक्रिया भी हो सकती है और कैदी सुधारात्मक प्रयत्नों के विरुद्ध विद्रोह की भावना लेकर उठ खड़ा हो सकता है।

(६) कैदियों द्वारा स्वशासन (Self-government by prisoners) :—प्रो० डब्लू० डी० लेन (W. D. Lane) के अनुसार जेलखानों में स्वशासन केवल उस शैक्षिक सिद्धान्त का ही एक मूर्त रूप है कि लोग करने से सीखते हैं (people learn by doing)। इस पद्धति के द्वारा आज जेल में छोटे पैमाने पर एक ऐसे समाज की स्थापना की जाती है जिसमें कैदी अच्छी आदतों का निर्माण करते हैं, अपने को उत्तरदायित्वों (responsibilities) से परिचित करवाता है और धीरे-धीरे उस स्वस्थ मानसिक मनोवृत्ति को हासिल करता है जिसके आधार पर स्वाभाविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है। स्वशासन वह प्रयत्न है जो कि व्यक्तियों को नागरिक जीवन-निर्वाह की कला में प्रशिक्षित करता है। इसीलिए आज जेलखानों में स्वशासन की स्थापना की जाती है जिसमें कि स्वयं कैदी लोग ही अपने जेल-जीवन से सम्बन्धित अनेक मामलों की देख-भाल करते हैं और जेल-नियमों को तोड़ने वालों को सजा देते हैं। परन्तु इस व्यवस्था में दो कमियों का उल्लेख किया जाता है—(अ) चतुर व



वृत्त कैदी स्व-शासन व्यवस्था पर नियन्त्रण करते हैं और उसे अपनी स्वार्थपूर्ति के हेतु नियोजित करते हैं। (ब) जेल-नियमों को तोड़ने वालों के साथ सही बर्ताव करने के सम्बन्ध में उन्हें कोई वैज्ञानिक ज्ञान नहीं होता है। अतः प्रायः वे अत्याचार ही करते हैं।

(७) सम्मान-व्यवस्था (The honour system)—सम्मान व्यवस्था का तात्पर्य यह है कि आज जेलखानों में कैदियों को अच्छे व्यवहार तथा वफादारी के लिये जेल-अधिकारियों की ओर से पुरस्कृत किया जाता है जिससे कि उस व्यक्ति को भविष्य में भी वैसा ही अच्छा व्यवहार करने में उत्साह मिले और उसका व्यवहार दूसरे कैदियों के लिए भी एक आदर्श बन सके।

### जेल-प्रणाली का इतिहास

#### (History of Prison System)

अमेरिका में सबसे पहले जेलखाने की स्थापना पेन्सिलवेनिया राज्य के फिले-डेलफिया नगर में सन् १७९० में हुई। इंग्लैण्ड और अमेरिका की जेलों के विकास और सुधार का श्रेय मुख्य रूप से श्री जॉन हॉवर्ड (John Howard) को है। आरम्भ में जेलों की स्थापना राज्य द्वारा न होकर व्यक्तिगत संस्थाओं अथवा विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा की जाती थी जिनमें अपराधियों को पूर्णतया अमानवीय परिस्थितियों में रखा जाता था। विशेषकर निर्धन कैदियों को सब प्रकार की शारीरिक यातनाओं तथा असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। कैदियों से उनके निर्वाह के लिए फीस लेने का रिवाज था। सन् १७७८ में श्री हॉवर्ड के सह-योग से इंग्लैण्ड के कानून विशेषज्ञ सर विलियम ब्लैकस्टोन और सर विलियम इडन ने एक कानून की रूपरेखा तैयार की जो कि ब्रिटिश संसद द्वारा सन् १७७९ में पेनिटेन्शियरी अधिनियम (Penitentiary Act, 1779) के नाम से पास किया गया। यह अधिनियम श्री हॉवर्ड द्वारा बनाए गए चार सिद्धान्तों पर आधारित था—(१) सुरक्षित और साफ-सुथरी जेल, (२) व्यवस्थित निरीक्षण, (३) कैदियों से फीस लेने की प्रथा का उन्मूलन तथा (४) एक सुधारवादी प्रशासन।

सन् १७९१ में न्यूयार्क में न्यू गेट प्रिजन (New gate prison) तथा सन् १७९८ में न्यूजर्सी में राजकीय जेलखाना (State Penitentiary) की स्थापना की गयी।

परन्तु धीरे-धीरे कुछ समाज-सुधारकों ने यह आन्दोलन चलाया कि कैदियों को तनहाई में रखा जाए और उनसे कठिन परिश्रम लिया जाए। इस आन्दोलन के फलस्वरूप सन् १८१८ में राज्य ने एक अधिनियम द्वारा पेन्सिलवेनिया व्यवस्था (The Pennsylvania system) को चालू किया। यह कैदियों को तनहाई में रखने के सिद्धान्त को सामने रखकर बनाया गया। इसी आदर्श को सामने रखकर पश्चिमी पेनिटेन्शियरी (Western Penitentiary) का निर्माण किया गया। पर सन् १८३३ में इसे भी तोड़ दिया गया। इस अवधि में फिलेडेलफिया में चेरी हिल जेलखाना (Cherry Hill Prison) का निर्माण हो चुका था। इस बन्दीगृह की स्थापना का



मुख्य सिद्धान्त कैदियों को तनहाई में रखना था। पर इस सिद्धान्त को भी लोगों ने गलत बताया और उसी के फलस्वरूप सन् १८२१ में न्यूयार्क में ओबर्न जेलखाने (Auburn Prison) की स्थापना की गयी। इस जेलखाने में अपराधियों को मौन रखना होता था। दिन में इनसे कारखाने में काम लिया जाता था और संध्या समय अलग-अलग 'शैल' में उन्हें बन्द कर दिया जाता था।

इसके पश्चात् एलमीरा सुधारगृह (Elmira Reformatory) नामक संस्था का धीरे-धीरे विकास हुआ। इस सुधारवादी आन्दोलन के प्रवर्तक सर्व श्री एलेक्जेंडर मेकोनोचिल (Alexander Meconochil) और फ्रेड्रिक हिल (Fradic Hill) थे। श्री हिल ने *Prison as Moral Hospital* नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें आपने तीन बातों पर विशेष बल दिया—(१) स्वतन्त्रता (freedom), (२) लचीलापन (flexibility) तथा (३) पुनर्वास (rehabilitation)। स्वतन्त्रता का तात्पर्य जहाँ तक सम्भव हो बन्दियों को स्वतन्त्रता दी जाय। लचीलापन से उनका संकेत वैज्ञानिक आधार पर बन्दियों का वर्गीकरण एवं सन्ध्यादुसार संशोधन से है। अन्त में, पुनर्वास का तात्पर्य बन्दियों को सुधार कर समाज से सामंजस्य करने योग्य बनाना। एलमीरा सुधारगृह इन्हीं सिद्धान्तों का मूर्तरूप था।

### भारतीय जेल प्रणाली का विकास (Development of Indian Jail System)

भारत में सर्वप्रथम सन् १५६७ में जेलों की स्थापना की गयी थी। आरम्भ के ये जेल कैदियों के लिए एक नाटकीय परिस्थिति प्रस्तुत करते थे। कैदियों को व्यर्थ के तथा कष्टदायक व अत्यधिक परिश्रम के कार्यों में लगाए रक्खा जाता था। छोटी-मोटी गलती के लिए भी भोजन बन्द कर देने अथवा शारीरिक यातनायें देने की व्यवस्था थी। एक ही कमरे में कैदियों को जानवरों की भाँति ठूस दिया जाता था। सफाई की व्यवस्था बिल्कुल ही नहीं थी और जेल के अन्दर काफी संख्या में कैदी मर जाते थे।

इन परिस्थितियों के प्रति सर्वप्रथम लार्ड मैकाले (Lord Macaulay) ने सरकार का ध्यान आकर्षित किया। फलतः सन् १८३६ में प्रथम जेल सुधार समिती (All India Jails Reforms Committee) की नियुक्ति की गयी। इस समिति ने सन् १८३८ में निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं—(१) एक केन्द्रीय जेल (Central Jail) का निर्माण जिसमें एक साल से अधिक कैद की सजा पाने वाले कम से कम १००० कैदियों के लिए समस्त प्रकार की व्यवस्था हो। (२) जेल-निरीक्षक (Inspector General of Prisons) की नियुक्ति प्रत्येक राज्य में की जाए। (३) वर्तमान जेल निवास में सुधार किया जाये।

इन सिफारिशों के फलस्वरूप धीरे-धीरे केन्द्रीय जेलों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम केन्द्रीय जेल सन् १८४६ में आगरा में बना। इसके पश्चात् सन् १८४८ में बरेली और नैनी में, सन् १८६४ में बनारस और फतेहगढ़ में, सन् १८६७ में लखनऊ में केन्द्रीय जेलों की स्थापना की गयी। अन्य प्रान्तों में सन् १८५१ के



बाद ही केन्द्रीय जेल बने। उसी प्रकार जेल-निरीक्षक की भी नियुक्ति सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में सन् १८४४ में, फिर सन् १८५२ में पंजाब में, सन् १८५४ में बंगाल, बम्बई और मद्रास में तथा सन् १८६२ में मध्य भारत में हुई।

इसके बाद सन् १८६४ में द्वितीय तथा सन् १८७७ में तृतीय अधिल भारतीय जेल सुधार कमेटी की नियुक्ति हुई जिन्होंने जेल-प्रणाली में अनेक सुधारवादी सिफारिशें प्रस्तुत की।

इसी बीच सन् १८६४ में जेल अधिनियम (Prison Act) पास हुआ। भारतीय जेलों में एकरूपता लाने तथा कोड़े आदि द्वारा शारीरिक यातना देने की प्रथा में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से ही यह कानून पास किया गया था। परन्तु इस दिशा में आधुनिक सुधारवादी सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय जेल-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय सर अलेक्जेंडर कार्ड्यू (Sir Alexander Cardew) की अध्यक्षता में नियुक्त सन् १९१६-२० की 'भारतीय जेल समिति' (Indian Jails Committee) को है। इसकी सिफारिशों के सम्बन्ध में हम आगे विस्तार-पूर्वक विवेचना करेंगे।

इन सिफारिशों के साथ ही साथ भारतीय सरकार कानून, १९१९ (Govt. of Indian Act, 1919) भी क्रियान्वित हुआ। इसके परिणाम स्वरूप जेल विभाग केन्द्रीय सरकार से छूट कर प्रान्तीय सरकारों के अधीन आ गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् सन् १९५६ में भारत में पहले दी जाने वाली काले पानी की सजा जिसमें गम्भीर अपराधी को अण्डमान द्वीप में भेज कर २० वर्ष के लिए निर्वासन (transportation) कर दिया जाता था, समाप्त कर दी गई और उसके स्थान पर आजीवन कारावास (life imprisonment) की सजा दी जाने लगी।

### भारतीय जेल-प्रणाली के दोष (Defects of Indian Jail System)

इस मन्दर्भ में उन दोषों का उल्लेख भी आवश्यक है जो कि भारतीय जेल-प्रणाली में पाये जाते हैं—

(१) दोषपूर्ण प्रशासन (Defective administration)—इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि एक ऐसी संस्था, जिसका कि आधारभूत उद्देश्य कैदियों को सुधारना है, ऐसे लोगों द्वारा प्रशासित हो जो कि प्रशिक्षित विशेषज्ञ हों और उनमें अपराधियों की समस्याओं को समझने तथा उनका उपचार करने की उतनी ही क्षमता हो जैसा कि अस्पतालों में रोगियों का उपचार करने वाले डाक्टर तथा नर्स। परन्तु भारतीय जेलों में प्रशासन का उत्तरदायित्व प्रशिक्षित वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों के हाथ में नहीं बल्कि आई० ए० एस० और पी० सी० एस० अर्थात् सरकारी "अफसरों" के हाथ में ही है। भारतीय जेल के सुपरिण्टेण्डेंट (Superintendent) को कैदियों के मनोविज्ञान तथा आवश्यकताओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से सोच विचार कर सुधारात्मक उपचार की योजना बनाने का ज्ञान उतना नहीं होता है जितना कि दफ्तरी-नियम कानून के अनुसार यंत्रबत काम करने की



आदत का उचित ज्ञान । जेलर मानवीय व्यवहार को समझने तथा उपचार की योजना को लागू करने की कला में जितना कुशल नहीं होते हैं उससे कहीं अधिक योग्य होते हैं डरा-धमका कर कैदियों से काम लेने में । और अशिक्षित जेल-वाइनों के गुणों का विवरण न दिया जाये तो ही अच्छा हो । जेल अधिकारियों के पास दफ्तरी काम का इतना बोझ रहता है कि उनके लिये कैदियों के प्रति व्यक्तिगत ध्यान देना कदापि सम्भव नहीं होता है । इसलिए मुझसे यह कहा जाता है कि जेल अधिकारियों का चुनाव भी उतनी ही सावधानी से किया जाना चाहिए जितना कि एक कालेज या अस्पताल के अध्यक्ष का ।

(२) जेल-अधिकारियों की निरक्षरता (Disabilities of prison officers)—जेल-अधिकारी वर्ग अपने विशेष प्रकार के काम के कारण जेल के सामान्य समाज से पृथक् हो जाते हैं और कैदियों से व्यवहारिक आधार पर घुल-मिल नहीं पाते हैं । परिणाम यह होता है कि कैदियों के साथ उनका एक ही सम्पर्क होता है और वह है प्रभुत्व का । असहाय कैदी वर्ग को इस प्रभुत्व के सामने झुकना पड़ता है और इसीलिए जेल अधिकारियों को वह कभी 'अपना' नहीं मान पाता है और न ही उसके सुधारात्मक प्रयत्नों में अपनत्व का अनुभव करता है । ऐसी परिस्थिति में सुधारवादी योजनायें अधिक सफल भी नहीं हो पाती हैं । इसका एक कारण और है, और वह यह कि जेल-अधिकारी आज भी कैदियों को स्वभाविकतौर पर या रोग-ग्रस्त मानव के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं । उनके लिए अपराधी केवल अपराधी ही है और कुछ भी नहीं । इसीलिए उनके व्यवहार में सामान्य समाज की भांति कैदियों के प्रति धृष्टता व अवहेलना ही अभिव्यक्त होती है ।

(३) कठोरता (Rigidity)—आज भी अधिकतर भारतीय जेल, सुधार के उस पुराने मनोविज्ञान पर विश्वास करते हैं, जो कि इस सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी भी पुराने आदत को कठोरता की नीति को अपनाये बिना तोड़ा नहीं जा सकता है । इसीलिए भारतीय जेल-जीवन आज भी कठोर है और कैदियों को बार-बार इस बात को याद दिलाने का प्रयत्न किया जाता है कि वे जेलखाने में रहते हैं क्योंकि वे अपराधी हैं और इसीलिए उनके साथ किसी भी प्रकार की मुलादमियत (leniency) करना सम्भव नहीं है । इसका बहुत बुरा प्रभाव कैदियों के मानसिक जीवन पर पड़ता है और इसी कठोरता से तंग आकर कुछ अपराधी तो जेल से भाग-निकलने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से कुछ सफल भी हो जाते हैं ।

(४) व्यक्तिगत उपचार का अभाव (Absence of individual treatment) :—अधिकतर भारतीय जेल-व्यवस्था में कैदियों के व्यक्तिगत उपचार का प्रबन्ध नहीं है जो कि आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार जेल-व्यवस्था का सबसे दयनीय दोष है । श्री फेन्नर ब्रोकवे (Fenner Brockway) ने उचित ही लिखा है कि जेल-व्यवस्था की चरम मूर्खता इस बात में है कि वह प्रत्येक प्रकार के अपराधियों को ग्रहण करता है और उनका उपचार भी एक ही तरह से करता है । भारतीय जेल के लिये यह महत्वपूर्ण बात नहीं है कि अपराधी एक चोर है, या एक शराबी, राजनैतिक



अपराधी, जालसाज या हत्यारा है। प्रत्येक विषय में उनके साथ जेल में समान बर्ताव किया जाता है।<sup>2</sup> परन्तु आज इस कमी को अत्यधिक अनुभव किया जा रहा है और इसे दूर करने के लिये भी प्रयत्न जारी है।

(५) कैदियों का पृथक्करण (Isolation of prisoners) :—अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में भारतवर्ष में कैदियों को सामान्य समाज से पृथक् रखने की नीति को कहीं अधिक अपनाया जाता है। कैदियों के लिये भारतीय जेल-व्यवस्था बहुत ही अप्राकृतिक पर्यावरण को प्रस्तुत करती है। कैदियों को उन परिस्थितियों से दूर रखा जाता है जिनमें उन्हें जेल से छूटने के बाद वास्तविक रूप में रहना होगा। यहाँ कैदियों के लिये आत्म-परिजन तथा मित्रों से मिलने तथा उन्हें पत्र लिखने की सुविधाएँ अन्य देशों की तुलना में सीमित ही हैं। पृथक्करण की इस नीति का बहुत बुरा प्रभाव अपराधियों के पुनर्वास पर पड़ता है और जेल से छूटने के बाद उनका सफल अनुकूलन समाज के साथ नहीं हो पाता है।

(६) जेल-श्रम की नीरसता (Monotony of Prison Labour) :—भारतीय जेल में कैदियों को उनकी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार विभिन्न काम करने को नहीं दिया जाता है। साथ ही, जिस काम में उसे एक बार लगा दिया जाता है उसी काम में उसे हमेशा लगा रहना पड़ता है। एक ही काम को निरन्तर करते रहने पर वह उससे शीघ्र ही ऊब जाता है। इतना ही नहीं, एक कैदी को एक विशेष काम या उद्योग में लगाने से पूर्व इस बात का ध्यान बहुत कम रखा जाता है कि जेल से छूटने के पश्चात् वास्तव में वह काम उस कैदी को मिल भी पायेगा या नहीं अथवा उस काम को कैदी जेल से बाहर निकलकर भी करना पसन्द करेगा या नहीं। इस कमी के कारण ही भारतवर्ष में अपराधियों के पुनर्वास की समस्या आज भी गम्भीर ही बनी हुई है।

(७) सामान्य सुविधाओं का अभाव (Lack of general amenities) :—जेल-जीवन को कम अमानुषिक बनाने के लिये आवश्यक सामान्य सुविधाएँ भी भारतीय जेलों में पूर्णतया उपलब्ध नहीं हैं। भोजन, कपड़ा, बिस्तर, आदि की जो व्यवस्था कैदियों के लिये की जाती है वह सन्तोषजनक नहीं है। मनोरंजन, नैतिक व धार्मिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा आदि देने का प्रबन्ध भी अपर्याप्त ही कहा जा सकता है। वही बात चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा पर भी लागू होती है।

(८) जेल अधिकारियों में भ्रष्टाचार (Corruption among Jail officials) :—भारतीय पुलिस-विभाग की भांति जेल-विभाग के अधिकारियों में भी भ्रष्टाचार का खूब बोलबाला है। जो कैदी पैसे वाले होते हैं वे जेल-वार्डन, जेलर आदि को घूस देकर अपने लिये विशेष सुविधाएँ प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार की

2. "The supreme stupidity of the prison system lies in the fact that it takes criminals of every type and treat them in the same way. It matters not whether a man is a thief, a drunkard, a child-assaulter, a political offender, a debtor, a forger, a bigamist, or is guilty of man-slaughter. It all essentials they are death with alike."



घूस जेल अधिकारियों को कैदियों के निकट सम्बन्धियों तथा मित्रों से प्राप्त होता रहती है जिसके फलस्वरूप कैदी विशेष के लिये वह चीजें भी बाजार से खरीद कर उसे पहुँचा दी जाती हैं जिनका प्रयोग जेल में निषिद्ध है। कैदियों से मिलने की "विशेष" सुविधा प्रदान करने के लिये भी उनके नाते-रिस्तेदारों तथा मित्रों से जेल अधिकारी घूस लेते हैं। घूस लेकर कैदी को हल्का काम दिया जाता है, पत्र लिखने की विशेष सुविधा प्रदान की जाती है, गाँजा और अफीम तक उसको पहुँचाया जाता है। परन्तु जेल अधिकारियों में अष्टचार का सबसे कटु व अमानवीय पक्ष यह है कि कैदियों के सुख-सुविधा के लिये जो चीज या धन स्वीकृत होता है उसको वे अधिकारी हड़प जाते हैं। जेल अधीक्षक (Jail superintendent), जेलर आदि अधिक अष्ट होते हैं। जेल के बगीचे से हर दिन सुबह सबसे पहले सर्वोत्तम सम्बी जेल अधीक्षक और जेलर साहब के बंगले पर पहुँचती है फिर कहीं कैदियों के लिये ले आयी जाती है। जेल में बीमार कैदियों के लिये जो दूध आता है उसका विषुद्ध रूप उक्त अधिकारियों के निवास स्थान पर देखने को मिलता है और खूब पानी मिश्रित दूध कैदियों के भाग्य में जुटता है। जेल का डाक्टर कैदियों की दवा क्या करता है यह भगवान ही जानते हैं। उनका काम तो दवा और इन्जेक्शन बेचना और जेल के उच्च अधिकारियों के परिवारों के सदस्यों की सेवा करना होता है। इसके अतिरिक्त, जेल में अनेक चीजों की पूर्ति ठेकेदारों के द्वारा होती है। इन ठेकेदारों को ठेका देते समय तथा नियमित रूप से एक निश्चित धन जेल अधिकारियों को प्राप्त होता है। फलतः जो चीजें ये ठेकेदार जेल में भेजते हैं वह निकृष्ट कोटि की ही होती हैं। इन सबका कितना भयंकर प्रभाव कैदियों के स्वास्थ्य तथा कल्याण पर पड़ता है, इसका अनुमान लगाना भी इन जेल अधिकारियों के लिये शायद कठिन ही है, नहीं तो वे मानव जीवन को लेकर इतना अमानवीय खेल कदापि न खेलते।

### जेल-सुधार के सिद्धान्त

#### (The Principles of Prison Reform)

सन् १८७० में ही सिनसिनाटी (Cincinnati) में डा० वाइन्स (Wines), सर्वश्री थियोडोर ड्विग्ट (Theodore Dwight), रूथरफोर्ड हेज (Rutherford Hayes), एफ० बी० सैनबोर्न (F. B. Sanborn) तथा जीनांस ब्रॉकवे (Zenos R. Brockway) के नेतृत्व में एक कानफ्रेंस (Conference) हुई थी। इसके बाद इन्हीं लोगों ने न्यूयार्क में 'अमेरिकन जेल समिति' (American Prison Association) का निर्माण किया और जेल सुधार के सिद्धान्तों की घोषणा की। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

(१) अपराधी अपराध करता है और उसके द्वारा समाज को या समाज के किसी सदस्य को हानि पहुँचाता है। इसीलिए अपराधी को समाज दण्ड देता है, इस उद्देश्य से कि भविष्य में वह फिर ऐसा करने से अपने को रोके और उसका सुधार हो सके। जेल-सुधार की प्रत्येक योजना में यह सिद्धान्त (अर्थात् अपराधनिरोध तथा अपराधी का सुधार) अन्तर्निहित होना चाहिए।



(२) जेल में अपराधियों का जो कुछ भी उपचार हो उसका केन्द्र अपराध से कहीं अधिक अपराधी होना चाहिए और उस उपचार का महान उद्देश्य अपराधी का नैतिक उत्थान ही होना चाहिए। इस प्रकार का उपचार समाज की रक्षा तथा अपराधियों का पुनर्वास करेगा।

(३) कैदियों का प्रगामी वर्गीकरण (progressive classification) उनके चरित्र तथा अन्य व्यक्तिगत गुणों के आधार पर होना चाहिए।

(४) चूँकि सुधार के साधन के रूप में आशा (hope) प्रभावशाली और डर निरर्थक व हानिकारक होता है, इस कारण जेल-सुधार में बल-प्रयोग की नीति का बहिष्कार ही उत्तम है। उसके स्थान पर कैदियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जावे कि उनमें अपने भविष्य के जीवन के सम्बन्ध में आशा बनी रहे। इसके लिये कैदियों को उनके अच्छे आचरण के लिए पुरस्कृत करने की व्यवस्था (system of reward) को अपनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। एक जेल-व्यवस्था की कुशलता व सफलता के लिये दण्ड से अधिक पुरस्कार की आवश्यकता है।

(५) जेल का पर्यावरण (environment) इस प्रकार का होना चाहिए कि उसमें रहते हुए कैदियों को अपने भाग्य में सुधार करने का अवसर प्राप्त हो सके। उसे आत्म-निर्भरता (self-help) तथा परिश्रम के मूल्य को समझना चाहिए।

(६) जेल-अधिकारी कुशल तथा प्रशिक्षित व्यक्ति हो जिनमें अपराधियों को एक उचित व मानवीय ढंग से समझने, अपनाने तथा सुधारने की योग्यता हो। उनमें सामाजिक सेवा (social service) का ज्ञान होना चाहिए। साथ ही, उनमें दिल व दिमाग दोनों के ही गुण हों। इन्हें प्रशिक्षित करने के लिए विशेष व्यवस्था होनी चाहिए।

(७) जेल में सजा कठोर तथा रुढ़िवादी न हो। उनमें पर्याप्त लोच होने की आवश्यकता है ताकि आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन हो सके।

(८) धर्म सामाजिक नियन्त्रण तथा नैतिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन है इसलिये समस्त जेल-सुधार का एक धार्मिक आधार अवश्य ही होना चाहिए।

(९) पथ-भ्रष्ट व्यक्तियों को सुधारने तथा उन्हें सही रास्ते पर लाने में शिक्षा के महत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सका है। इसलिए कैदियों को शिक्षा देने का प्रबन्ध करना किसी भी जेल-सुधार योजना का एक प्रथम आवश्यक अंग होना चाहिए।

(१०) जेल-सुधार की कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती है, जब तक उस योजना को क्रियान्वित करने में स्वयं कैदियों के सहयोग तथा सह-भावना को प्राप्त न किया जाये। इसलिये जेल-सुधार में इस विषय पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(११) जेल-सुधार योजना में कोई भी बात इस प्रकार की नहीं होनी चाहिए जो कि कैदियों के स्वार्थ के विपरीत हो। सामाजिक स्वार्थ और कैदियों के स्वार्थ में एक सामंजस्य आवश्यक है।



(१२) इस प्रकार के सभी प्रयत्न करना आवश्यक है कि कैदियों के मन में किसी भी प्रकार की हीन-भावना (inferiority complex) का विकास न हो सके। कोशिश तो यही होनी चाहिए कि उनमें आत्म-सम्मान (self-respect) की भावना जागृत हो।

(१३) कैदियों से डरा-धमका कर काम लेने के स्थान पर समझा-बुझाकर उनसे काम निकालना ही अधिक उचित होगा। उद्देश्य यह होना चाहिए कि कैदियों को इमानदार तथा स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने का प्रोत्साहन उन्हें दिया जाये। इसके लिये समझाना-बुझाना (persuasion) तथा नैतिक प्रशिक्षण का सहारा लेना ही अधिक हितकर सिद्ध होगा।

(१४) केवल कैदियों का ही नहीं जेलों का भी वर्गीकरण होना चाहिए।

(१५) छोटे-मोटे अपराध के लिये आर-आर कम समय की सजा (short-term sentences) निरर्थक से भी अधिक बुरा है क्योंकि इस प्रकार की सजा से कारागार को केवल प्रोत्साहन ही मिलता है, उसका सुधार नहीं हो सकता। क्योंकि सुधार के लिये समय और कभी-कभी अधिक समय की आवश्यकता होती है। इसलिये सजा को अवधि आवश्यकतानुसार कम से कम इतनी लम्बी हो कि उस दौरान में जेल अधिकारियों के लिये कैदी को सुधारने का समय मिल सके।

(१६) बच्चों को बयस्क अपराधियों के साथ कभी न रखना जाय। उनके लिये सुधार गृहों या अन्य प्रकार के विशिष्ट स्कूलों या संस्थाओं का प्रबन्ध होना चाहिए।

(१७) जेल से छूटने के बाद कैदियों के पुनर्वास के लिये आवश्यक सहायता करने की क्रमबद्ध तथा विस्तृत योजना का होना भी परमावश्यक है।

इस सम्बन्ध में सन् १९५० में लखनऊ में हुए अखिल भारतीय दण्ड-संस्था सम्बन्धी सम्मेलन (All India Penalogical Conference) में पाम किये गये प्रस्तावों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो कि इस प्रकार हैं—

(क) जेल के समस्त क्रियाकलाप, नियम तथा कानून का निर्देशक सिद्धान्त (guiding principle) कम से कम समय में कैदी का सम्पूर्ण नैतिक, शारीरिक तथा सामाजिक उत्थान (regeneration) करना तथा अन्तिम रूप में समाज में उसका पुनर्वास है।

(ख) सच्चे अर्थ में सुधारवादी होने के लिये जेल की प्रशासन-प्रणाली को कैदियों के विश्वास तथा सद्भावना को प्राप्त करना होगा। यह तभी सम्भव है जब जेल-अधीक्षक सुधार योजना को डरा-धमका कर या बल प्रयोग के द्वारा नहीं बल्कि कैदियों की पसन्द के अनुसार लागू करें।

(ग) चूँकि डर तथा दण्ड की अपेक्षा आशा तथा पुरस्कार वास्तविक प्रेरक या चालक शक्तियाँ (driving forces) हैं, इस कारण जेल अधिकारियों को इन्हीं 'अस्त्रों' के प्रयोग पर अधिक विश्वास करना चाहिए। इन 'अस्त्रों' (weapons) का प्रयोग एक अत्यधिक विचारपूर्वक व कुशल व्यवस्था के माध्यम से होना चाहिए



जिसके अन्तर्गत कैदियों के भविष्य भाग्य को उनके ही हाथों में इस भाँति छोड़ देना चाहिए कि वे अपने भाग्य का निर्माण स्वयं अपने ही सद्प्रयत्नों द्वारा ऐसे ढंग से करें कि उनकी स्थिति तथा चरित्र में निरन्तर प्रगति होती रहे।

(घ) कैदियों को उनका आत्मसम्मान तत्काल ही लौटा नहीं देना चाहिए, अपितु उनमें आत्म-सम्मान की भावना का विकास धीरे-धीरे होने देना चाहिए। हर प्रकार से प्रयत्न यह होना चाहिए कि वे अपने खोये हुए पौरुष (manhood), सामाजिक सम्पर्क तथा उत्तरदायित्वों को पुनः प्राप्त कर सकें।

(ङ) कैदियों को ऐसे किसी भी काम या उद्योग में नहीं लगाना चाहिए जो कि अनुत्पादक (unproductive) हो या जिसे कि वे जेल से निकल कर कभी नहीं करेंगे। इसका प्रमुख कारण यह है कि जेल में कैदियों को काम पर लगाने का मुख्य उद्देश्य उन्हें एक उद्योगी नागरिक (industrious citizen) के रूप में समाज में प्रतिष्ठित करना ही होना चाहिए।

(च) जेल में बेगार प्रथा का तत्काल ही अन्त होना चाहिए। कैदियों को उनके काम के लिये उसी दर से पूरा वेतन मिलना चाहिए जैसा कि जेल से बाहर अन्य श्रमिकों को मिलता है।

(छ) वर्गीकरण तथा व्यक्तिगत उपचार (individualization of treatment) के सिद्धान्त को, आधुनिक अर्थ में क्रियान्वित करने की आवश्यकता है।

(ज) जेल से छूटे हुए कैदियों के पुनर्वास के लिये उत्तर संरक्षण सेवाओं (After care service) की एक क्रमबद्ध तथा विस्तृत योजना का होना भी जरूरी है। इसके अन्तर्गत उन्हें सरकारी नौकरी दिलवाना, चारित्रिक सुधार करने में सहायता देना तथा समाज में अपनी खोई हुई स्थिति को प्राप्त करने में मदद करना आदि कार्यक्रम सम्मिलित होने चाहिए तभी कहीं जेल सुधार की योजना वास्तविक अर्थ में सम्पूर्ण होगी।

### जेल-सुधार के कुछ महत्वपूर्ण पक्ष

(Some Important aspects of Jail Reform)

आधुनिक समय में जेल-प्रणाली में जो सुधार किये जा रहे हैं उसमें निम्न-लिखित पक्षों पर विशेष रूप से बल दिया जाता है :—

(१) जेल एक नैतिक अस्पताल के रूप में (Prison as a moral hospital):—यह विचार आज निरन्तर जड़ पकड़ता जा रहा है कि जेल को एक नैतिक अस्पताल के रूप में कार्य करना चाहिए। सर थॉमस मोर (Sir Thomas More) ने लिखा है कि दण्ड का उद्देश्य बुराईयों का विनाश तथा मनुष्य की रक्षा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होना चाहिए। अतः जेल अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे इस सम्बन्ध में सदा सतर्क रहें कि उनके अधीन रहने वाले कैदियों का, अत्यधिक कठोर या अत्यधिक सहज अवस्थाओं में कभी पतन न हो। कैदियों के शरीर और मन को इस भाँति प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है कि जेल से छूटने के बाद वे समाज के साथ अपना अनुकूलन कर सकें। प्रत्येक जेल का यही नैतिक



उद्देश्य होना चाहिए।

(२) जेल में शिक्षा (Education in Prison):— जेल-शिक्षा, जैसा कि उसे आज समझा जाता है, प्रायः कैदियों के उपचार के समरूप है। न्यूयार्क राज्य सुधारात्मक कानून (New York State Correctional Law) के अनुसार, "विस्तृत अर्थ में जेल-शिक्षा का उद्देश्य कैदियों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर बल देते हुए विविध प्रकार के प्रभावात्मक (impressional) तथा अभिव्यक्तात्मक (expressional) कार्य-कलाप के माध्यम से उनका (कैदियों का) समाजीकरण (socialization) होना चाहिए। इस योजना का उद्देश्य इन कैदियों का जीवन-यापन के सम्बन्ध में एक अधिक स्वस्थ मनोवृत्ति के साथ, अच्छे नागरिकों की भाँति रहने की एक इच्छा के साथ तथा ऐसी कुशलता व ज्ञान के साथ समाज को लौटना होगा जो कि उन्हें तथा उनके आश्रितों को सच्चे श्रम के द्वारा जीवन-निर्वाह का एक यथार्थ अवसर प्रदान करेगा।"<sup>3</sup> इस विस्तृत अर्थ में जेल-शिक्षा की समस्या यथार्थतः सुधार की समस्या है।

जेल में प्रौढ़-शिक्षा (adult education) व्यवस्था को लागू करने पर आज बल दिया जाता है। यह शिक्षा सबके लिये होगी। इस शिक्षा का क्षेत्र केवल प्रारम्भिक स्तर तक ही सीमित न रहकर उच्च कक्षाओं तक विस्तृत किया जा सकता है। जेल विभाग के द्वारा शिक्षा के लिए आवश्यक सभी सामग्री कैदियों को देना चाहिए। शिक्षा इस प्रकार की हो जिससे कैदियों को व्यवहारिक ज्ञान भी प्राप्त हो तथा उनमें जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने की योग्यता पनपे। पुस्तकालय व वाचनालय का होना भी जेल शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। अन्य स्कूलों की भाँति परीक्षा में पास होने पर शिक्षार्थियों को प्रमाण-पत्र (certificate) या डिप्लोमा (diploma) देने की व्यवस्था होनी चाहिए। जेल के स्कूलों में काम करने वाले शिक्षक समाज-कार्य (social work) तथा मनोविज्ञान में प्रशिक्षित होना चाहिए। शिक्षा देने के अतिरिक्त उनका और कोई दफ्तरी या प्रशासकीय कार्य नहीं होना चाहिए। सामान्य शिक्षा के साथ-साथ न केवल तकनीकी शिक्षा बल्कि धार्मिक व नैतिक शिक्षा का भी प्रबन्ध रहना परमावश्यक है। पर इस बात का ध्यान रखना होगा कि धार्मिक शिक्षा पक्षपातपूर्ण न हो अर्थात् किसी विशेष धर्म पर आधारित न हो। कैदियों को उनकी इच्छानुसार किसी भी धर्म को मानने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। साथ ही, तकनीकी या व्यवसायिक शिक्षा (Vocational

3. "The objective of prison education in its broadest sense should be the socialization of the inmates through varied impressional and expressional activities, with emphasis on individual inmate needs. The object of this programme shall be the return of these inmates to society with a more wholesome attitude towards living, with a desire to conduct themselves as good citizens and with the skill and knowledge which will give them a reasonable chance to maintain themselves and their dependants through honest labour." New York Correctional Law, chapter 864, section 136, quoted by Price Chenault, "Education." In Paul W. Tappan Editor, *Contemporary Correction*, McGraw-Hill, New York, 1951, pp. 224-225.



education) इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसके द्वारा कैदी उस पेशे या उद्योग के सम्बन्ध में प्रशिक्षित व कुशल हो जाय जिस पेशे या उद्योग को वह जेल से छूटने के बाद भी अपना सके या अपनाने की सम्भावना हो।

(३) कैदियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क (Personal contacts with prisoners)—कैदियों को सुधारने के लिये यह परमावश्यक है कि जेल अधिकारी उनके साथ निरन्तर घनिष्ट व व्यक्तिगत सम्पर्क को बनाये रखें। इस प्रकार के सम्पर्क से अधिकारियों व कैदियों के बीच की सदियों पुरानी खाई आप से आप पट जायेगी और अधिकारियों को कैदियों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं व समस्याओं को यथार्थ रूप में समझने और उनका निराकरण करने का अवसर प्राप्त होगा। स्मरण रहे कि कैदियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने के दौरान में अधिकारियों के व्यवहार में सहानुभूति का स्पर्श अवश्य ही होना चाहिए। कैदी जेल में सहानुभूति के ही भूखे होते हैं और उसी सहानुभूति के द्वारा उन्हें जीता जा सकता है। और उन्हें जीते बिना सुधार-योजना को क्रियान्वित करने और उसे सफल बनाने के लिए आवश्यक कैदियों का सहयोग और सद्भावना को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः यह बहुत जरूरी है कि जेल अधिकारी सहानुभूतिशील और सुयोग्य व्यक्ति हों।

(४) जेल क्लीनिक (Prison clinics)—प्रत्येक आदर्श जेल में एक अस्पताल तथा एक मनोवैज्ञानिक क्लीनिक का होना बहुत आवश्यक है। इन क्लीनिकों में विशेषज्ञों तथा बाहर काम करने वाले कार्यकर्त्ताओं (field workers) का होना जरूरी है जो कि कैदियों के परिवार तथा अन्य सम्बन्धित संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करके कैदियों के सम्बन्ध में आवश्यक व यथार्थ तथ्यों का संग्रह कर सकें जिनके आधार पर व्यक्तिगत उपचार किया जा सके। जब तक कैदियों के पिछले जीवन (past history) को ठीक से जान न लिया जायेगा तब तक यह मालूम करना भी कठिण होगा कि कैदियों के दिमाग पर प्रभाव डालने वाले अस्वाभाविक प्रभावक कौन-कौन से हैं। एक कैदी के मस्तिष्क को प्रभावित करने वाले इन अस्वाभाविक प्रभावकों का नाश किये बिना उसे सुधारना संभव नहीं है। यह काम मनोवैज्ञानिक क्लीनिक के द्वारा किया जा सकता है। साथ ही, प्रत्येक जेल में कैदियों के स्वास्थ्य की उन्नति व रोगों से उनकी रक्षा एक महत्वपूर्ण विषय होना चाहिए। ड्रिल तथा व्यायाम आदि कैदियों के लिये अनिवार्य होनी चाहिए। जेल में सफाई (sanitation) पर विशेष बल देना आवश्यक है।

(५) पुरस्कार तथा दण्ड देने की व्यवस्था (The system of Rewards and Punishment)—श्री एफ० ए० बार्कर (F. A. Barker) ने लिखा है कि जेल में दण्ड तथा पुरस्कार देने की एक वैज्ञानिक व उचित व्यवस्था होनी चाहिए। दण्ड कैदियों को यह याद दिलाता रहेगा कि दुराचरण (misbehaviour), आलसपन या जानबूझकर आज्ञा-उल्लंघन (wilful disobedience) के अनेक अप्रिय परिणाम हो सकते हैं। यह चीज कैदियों को स्वयं ही सही रास्ते पर बनाये रखेगी। दूसरी



और, पुरस्कार की व्यवस्था सदाचरण की प्रेरणा देगी, कैदियों को दिये गये कार्य को पूरा करने को प्रेरित करेगी और इस प्रकार मेहनत करने की आदतों (habits of industry) में कैदी को प्रशिक्षित करेगी। इस प्रकार जब वह जेल से बाहर जायेगा तो जेल के अन्दर आने के समय की अपेक्षा वह एक स्वतन्त्र जीवन बिताने में अधिक कुशल होगा।<sup>4</sup> इसीलिये आधुनिक जेल में शारीरिक दण्ड या यातना देने तथा कैदियों को तनहाई में रखने (solitary confinement) की परम्परा को समाप्त कर दिया गया है। इसके विपरीत अच्छे आचरण के लिये नाना प्रकार की छूट व सुविधा देने की व्यवस्था चालू की गयी है।

(६) जेल में पंचायत व्यवस्था (Panchayat system in Prison)—कैदियों में आत्म-समान की भावना जागृत करने, सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने के लिये तैयार करने तथा उनमें नेतृत्व का विकास करने के लिये जेल में पंचायत व्यवस्था को क्रियान्वित करने पर आज अत्यधिक बल दिया जाता है। कैदियों के जेल जीवन से सम्बन्धित मामलों की देखरेख करना, खाने-पीने तथा वस्त्रों की उचित व्यवस्था करना, जेल में श्रम तथा उद्योगों को संगठित करना, बुरे व्यवहार के लिये आवश्यक कारवाही करना, पुरस्कार की व्यवस्था करना तथा कैदियों की शिकायतें सुनना जेल पंचायत के प्रमुख कार्य होते हैं। संक्षेप में, पंचायत कैदियों के द्वारा कैदियों के लिये ही कार्य करने की एक व्यवस्था है। इसके लिये यह आवश्यक है कि कैदियों को आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाये और घूर्णन कैदियों के चंगुलों से जेल-पंचायत को विमुक्त रक्खा जाए।

(७) जेल-श्रम (Prison Labour)—अब उस पुराने सिद्धान्त को त्याग दिया गया है जिसके अनुसार जेल में कैदियों से अमानुषिक तथा कठोर परिश्रम निर्दयतापूर्वक करवाया जाता था। आज सिद्धान्त यह है कि जेल-श्रम 'उपयोगी' (useful) हो तथा इस भांति आयोजित हो कि जेल से छुटने के बाद जिस पेशे को कैदी चुनेगा उसी में उसे प्रशिक्षण मिल सके। जेल-श्रम कैदियों में उस योग्यता को भर देगा जिसकी सहायता से जेल से निकलकर वे अपना तथा अपने परिवारों का भरण-पोषण वैध तरीकों से कर सकेंगे ताकि उन्हें फिर से अपराध न करना पड़े। इसके लिये यह आवश्यक है कि जेल-श्रम का संगठन इस भांति हो कि उससे प्रत्येक कैदी की व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति हो सके। किसी भी श्रम या उद्योग को कैदी पर लादना उचित न होगा। जिस काम को करना या जिस उद्योग को सीखना एक कैदी पसन्द नहीं करता है उससे उसे दूर रखना ही उचित होगा। इसके लिये यह जरूरी है कि जेल-उद्योगों में विविधतायें हों अर्थात् वे नाना प्रकार के हों। साथ ही,

4. "The possibility of punishment is a reminder that misbehaviour, laziness or wilful disobedience have many unpleasant consequences; and this in itself keep the prisoners in the right path. On the other hand rewards are incentive to good conduct and the performance of full allotted work, and thereby train a prisoner in habits of industry which send the man out of jail markedly fitter for free life than he was when he came in." —F. A. Barker



केवल सरकारी लाभ के लिये कैदियों के श्रम का शोषण कदापि नहीं करना चाहिए । इतना ही नहीं, किस प्रकार का उद्योग एक कैदी को सिखाया जायेगा यह निश्चित करने से पूर्व कैदी की योग्यता, रुचि तथा दण्ड की अवधि (length of sentence) को ध्यान में रखना आवश्यक है जिससे कि यह न हो कि वह एक उद्योग के विषय में आधा भी सीख न पाये और उसकी सजा की अवधि समाप्त हो जाय । जेल-उद्योग के काम में लाये जाने वाली मशीन, औजार उपकरण आदि उतने ही आधुनिक हो जितने कि जेल बाहर के उद्योगों में प्रयोग में लाये जाते हैं ।

(८) कैदियों के लिए वेतन (Wage for prisoners)—कैदियों को उनकी योग्यता व रुचि के अनुसार काम देना ही पर्याप्त न होगा, बल्कि उस काम के लिये उचित वेतन देने की भी व्यवस्था आवश्यक है । आधुनिक जेलों में इसीलिये काम की मात्रा व प्रकार (quantity and quality of work) के अनुसार कैदियों को वेतन दिया जाता है । अधिक वेतन पाने की इच्छा से प्रेरित होकर कैदी लोग खूब मेहनत से काम करते हैं जिससे कि उत्पादन बढ़ता है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है और कैदी-वर्ग भी राज्य या समाज पर बोझ न बन कर उसका एक उपयोगी अंग बन जाता है । इतना ही नहीं, जो कुछ भी वह वेतन पाता है उससे उसके खाने-पहनने का खर्चा काट लिया जाता है । जब कैदी यह समझ जाता है कि बिना काम किये खाने को भी नहीं मिलेगा (no work no meals) तो वह मेहनत से कभी जी नहीं चुराता है और उसमें मेहनत की कमाई खाने की आदत पड़ जाती है जिसके कारण उसमें आत्म-सम्मान की भावना भी जाग्रत होती है । इसीलिये आज कैदियों को उचित वेतन देने पर बल दिया जाता है । इस वेतन का कुछ हिस्सा काट कर कैदियों के अगल-अलग नाम से सेविंग बैंक में जमा कर दिया जाता है और यह रकम उसे उस समय मिल जाती है जबकि वह जेल से छूटता है । इससे उसका पुनर्वास भी सरल हो जाता है ।

(९) कैदियों का व्यक्तिकरण (Individualization of prisoners)—आधुनिक जेल-सुधार के अन्तर्गत जिस विषय पर आज अत्यधिक बल दिया जा रहा है वह यह है कि प्रत्येक कैदी पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाय और उसी के अनुसार उसका उपचार हो । अपराधी एक रोगी की भाँति है और एक रोगी को निरोग करने के लिये डाक्टर को उस पर व्यक्तिगत ध्यान देना होता है, उसके व्यक्तिगत रोग के कारणों तथा लक्षणों को जानना होता है तथा उसकी शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए उसको दवा देना पड़ता है । एक रोग को अच्छा करने के लिये एक विशेष इन्जेक्शन बहुत उत्तम है, पर यदि उस इन्जेक्शन को सहन करने की क्षमता उस रोगी में नहीं है तो डाक्टर उसे इन्जेक्शन न देकर अन्य दवा मात्र देता है । अर्थात् उसके उपचार के लिये प्रत्येक विषय में डाक्टर रोगी की व्यक्तिगत आवश्यकता, समस्या और विशेषताओं का ध्यान रखता है । यही सिद्धान्त आज अपराधियों के उपचार में भी लागू किया जाता है । जेलों का



विशेषाकरण तथा कैदियों का वर्गीकरण करने की जो आधुनिक व्यवस्था या तरीके आज अपनाए जाते हैं उनका एक मात्र उद्देश्य कैदियों पर व्यक्तिगत ध्यान देना है। इसीलिये आज प्रत्येक जेल में मनोवैज्ञानिक क्लिनिक खोलने पर अत्यधिक बल दिया जाता है। इस योजना की सफलता के लिये यह सम्भव है कि जेल-अधिकारी अत्यधिक कुशल, योग्य, अनुभवी, प्रशिक्षित सहृदय तथा मनुष्य-शील हो।

(१०) कैदियों का यौन जीवन — (The sexual life of prisoners) —

डा० हैवलॉक इल्लिस (Dr. Havelock Ellis) के अनुसार जेल में कैदी को प्रकृति या समान लिंग के व्यक्तियों के साथ सालों रहना पड़ता है और उसी दौरान में यौन-तृप्ति के समस्त स्वाभाविक साधन से वह वंचित रहता है। इस प्रकार विकृत यौन-सम्बन्धी आदतें उसमें पनप जाती हैं जो कि उसके मानसिक व नैतिक विकास में घोर बाधक सिद्ध होती हैं। इस परिस्थिति को सुधारने की भी आवश्यकता है। इसके लिए यह जरूरी है कि जेल-छुट्टी (Prison holiday) की व्यवस्था लागू की जाए ताकि अच्छे आचरण के लिए प्रत्येक तीन माह में कैदी को एक सप्ताह की छुट्टी या छः माह में १४ दिन की छुट्टी मिल सके। इससे जेल में अच्छा आचरण बनाये रखने का प्रयत्न सभी कैदी करेंगे और उनमें विकृत यौन-सम्बन्धी आदतें भी नहीं पनपेंगी।

जेल सुधार के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार

(Views of Gandhiji in regards to Prison Reform)

सन् १९२२ में जबकि गान्धीजी स्वयं जेल में थे, उसी समय उन्होंने जेल-सुधार की एक योजना बनाई थी। उनके जेल-सुधार का आधारभूत सिद्धान्त यह था कि अपराधी को हीन या नीच न समझा जाय बल्कि उसे तो एक दोषपूर्ण या बीमार व्यक्ति के रूप में देखा जाय और उन दोषों को सुधारने का प्रयत्न किया जाए। जेलखाने की सायंकता इसी में है कि उसमें रहते हुए एक साधारण अपराधी एक गम्भीर या पक्का अपराधी न बने बल्कि गम्भीर अपराधी एक न्यायप्रिय नागरिक बन जाय। परन्तु यह तब सम्भव होगा जबकि सम्पूर्ण जेल के पर्यावरण को ही परिवर्तित कर दिया जाय। गान्धी जी के ही शब्दों में, “समस्त अपराधियों को मरीज के रूप में और जेलखानों को ऐसे अस्पतालों के रूप में मानना चाहिए जहाँ इस प्रकार के विशेष मरीजों की चिकित्सा हो सकती है। कोई भी व्यक्ति मजाक करने के लिए अपराध नहीं करता है। यह तो बीमार मस्तिष्क (Diseased mind) का एक चिन्ह है। इसलिए इस विशिष्ट बीमारी के कारण का पता लगाने और उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब जेलखाने अस्पताल के रूप में बदल जायेंगे तो विशाल हवेलियों की आवश्यकता नहीं रहेंगी। कोई भी देश, विशेषकर भारत जैसा निर्धन देश, इतने खर्च को बरदाश्त नहीं कर सकता। साथ ही, जेल कर्मचारियों का दृष्टिकोण या मनोभाव चिकित्सक या नर्सों की भांति होना चाहिए। कैदी को यह अनुभव कराया जाना चाहिए कि जेल कर्मचारी उनके (अपराधियों के) मित्र हैं और वे अपराधियों को उनके मानसिक स्वास्थ्य (mental



health) की पुनः प्राप्ति (regain) में सहायता करने के लिये हैं, न कि उन्हें किसी प्रकार से परेशान (harass) करने के लिए ।”

### भारत में दण्ड और जेल सुधार (Penal and Prison Reform in India)

आधुनिक अर्थ में भारत में दण्ड और जेल-सुधार आन्दोलन का सूत्रपात अंग्रेजी शासन काल में ही हुआ था । अंग्रेज लोग पहले-पहल इस देश में कुछ आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के हेतु ही आए हुए थे । अतः सुधारवादी दृष्टिकोण का उनमें नितान्त अभाव था और इसीलिए दण्ड या जेल-सुधार पर कोई खर्चा उठाने के लिए वे तत्पर नहीं थे । इसीलिए अंग्रेजी शासन काल में भी काफी समय तक भारतीय जेलों की दशा अत्यन्त दयनीय बनी रही है । जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, लार्ड मैकाले (Lord Macaulay) ने सर्वप्रथम सरकार का ध्यान इस ओर आकषित किया और सन् १८३६ में उन्हीं की अध्यक्षता में प्रथम अखिल भारतीय जेल-सुधार कमेटी (All India Jails Reform Committee) नियुक्त हुई । इस समिति ने प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय जेल की स्थापना, जेल निरीक्षक की नियुक्ति तथा जेल निवास में सुधार करने की सिफारिश की ।

इसके २६ वर्ष बाद द्वितीय जेल सुधार कमेटी की नियुक्ति सन् १८६४ में हुई । इस कमेटी ने निम्नलिखित सिफारिशें पेश कीं—(१) बन्दीयों के रहने की दशाओं जैसे भोजन, कपड़ा और विस्तर आदि में सुधार होना चाहिए । (२) केन्द्रीय तथा जिला जेलखानों में चिकित्सा की व्यवस्था तथा एक चिकित्सा अधिकारी की नियुक्ति होनी चाहिए । (४) बन्दीयों का वर्गीकरण हो, बालिग अपराधियों और बाल अपराधियों को पृथक्-पृथक् रखा जाय तथा बाल अपराधियों के लिए शिक्षा की आवश्यक व्यवस्था की जाए । (५) जेलखानों की देखरेख व प्रशासन के लिए मैजिस्ट्रेट के स्थान पर एक जेल अधीक्षक (Superintendent of Prison) की नियुक्ति की जाए । (६) केन्द्रीय जेलखानों में १५ प्रतिशत कैदियों के लिए निर्जन-वास की व्यवस्था हो ।

सन् १८७७ में तृतीय अखिल भारतीय जेल सुधार कमेटी की नियुक्ति हुई इस कमेटी ने कैदियों की दशा को सुधारने के लिए कोई उल्लेखनीय सिफारिश नहीं की । इसकी सिफारिशें जेल के आय-व्यय तथा जेल के लिए आवश्यक सामान मंगवाने के सम्बन्ध में थीं ।

सन् १८८९ में चौथी जेल सुधार कमेटी की नियुक्ति की गई । इसकी मुख्य सिफारिशों में प्रमुख इस प्रकार थीं—(१) जेल प्रशासन सम्बन्धी विस्तारित नियम । (२) जिनकी मुकदमे की सुनवाई हो रही है ऐसे अपराधियों (under-trials) को दण्ड प्राप्त कैदियों (Convicted prisoners) से पृथक् रखा जाय । (३) अपराधियों को आकस्मिक (Casual) तथा आदती अपराधियों (Habitual offenders) में बाँटा जाय तथा उनकी जहाँ तक सम्भव हो एक दूसरे से अलग रखा जाय ।



(४) प्रत्येक जेलखाने में एक चिकित्सा अधिकारी के आधीन एक अस्पताल अवश्य होना चाहिए। इन सिफारिशों को विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने स्वीकार कर लिया था।

सन् १८९२ में एक अखिल भारतीय जेल सम्मेलन (All India Prison Conference) हुई जिसमें जेल प्रशासन सम्बन्धी सम्पूर्ण अवस्था पर विचार किया गया तथा उसमें उन्नति करने के लिए अनेक सुझाव दिए गए और साथ ही जेल प्रशासन सम्बन्धी विस्तारित नियमों को प्रतिपादित किया गया। इसी आधार पर सन् १८९४ में जेल अधिनियम (Prison Act) पास किया गया। जेलखानों के प्रशासन पर आज भी यह अधिनियम अपना दावा रखता है। इसके फलस्वरूप भारतीय जेल व्यवस्था के तीन क्षेत्रों में सुधार इस रूप में हुआ कि (अ) सम्पूर्ण भारत के लिए एक सामान्य अधिनियम बनाकर भारतीय जेल व्यवस्था में एकरूपता लाने का प्रयास किया गया; (ब) बन्दियों के प्रकारों के आधार पर उनका वर्गीकरण करने की ओर कदम उठाया गया तथा (स) दण्ड के स्वरूपों में परिवर्तन किया गया जैसे कोड़े और तनहाई आदि का प्रयोग बहुत कम कर दिया गया।

### भारत में दण्ड व जेल-सुधार आन्दोलन की नींव

(Foundation of Penal and Prison Reform Movement in India)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सन् १८९४ तक भारतीय जेल व्यवस्था में थोड़े-बहुत परिवर्तन होते रहे। परन्तु इस दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने तथा भारतीय दण्ड व जेल-व्यवस्था में आधुनिक सुधारवादी सिद्धान्तों को सम्मिलित करके उसे एक नया मोड़ देने का श्रेय सन् १९१९ में नियुक्त की गयी 'भारतीय जेल कमेटी' (Indian Jails Committee) को है। भारत में दण्ड व जेल-सुधार आन्दोलन की नींव यहीं से पड़ी। इस कमेटी का मूलभूत दृष्टिकोण मानवीय था।

सन् १९१९ तक भारत में हुए जेल सुधारों पर विचार करते हुए इस कमेटी ने कहा कि "प्रशासन, स्वास्थ्य, भोजन, श्रम और इन प्रचार के अन्य क्षेत्रों में भारतीय जेलों ने महत्वपूर्ण उन्नति की है। परन्तु अन्य दिशाओं में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पायी है।" उन दिशाओं में अवस्था अब भी पिछड़ी हुई ही है। इस पिछड़पन में एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि अब तक अपराधियों के सुधार की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। अभी तक हम कैदी को एक व्यक्ति के रूप में देखने में असफल रहे हैं और उसको केवल जेल प्रशासन मशीनरी की एक इकाई ही समझते रहे हैं। सरकार तथा जेल अधिकारियों ने मानवीयकरण (humanizing) करने वाले तथा सभ्य बनाने वाले प्रभावकों पर ध्यान न देकर अभी तक कैदी की भौतिक सुख-सुविधा, उसके भोजन, स्वास्थ्य और श्रम पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। इसके विपरीत नैतिक अथवा बौद्धिक उन्नति की सम्भावनाओं पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय जेल-व्यवस्था के फल या प्रभाव



प्रतिरोधात्मक (deterrent) तो हैं, यह सधारात्मक नहीं।

इसीलिए भारतीय जेल-व्यवस्था की आवश्यकता सुधारात्मक दृष्टिकोण को अपनाता है। अतः इस कमेटी ने सरकार का ध्यान दण्ड व्यवस्था के आधारभूत सुधारवादी सिद्धान्तों की ओर आकर्षित किया। कमेटी की सिफारिश थी कि जेलों में ऐसी परिस्थितियाँ बनायी जायें ताकि अपराधी का सुधार हो सके। कमेटी के अनुसार, “जब तक कैदी जेल में है, उन पर ऐसे प्रभाव डाले जाने चाहियें जो न केवल उन्हें आगे और अपराध करने से रोकें बल्कि जो उनके चरित्र पर सुधारवादी प्रभाव भी डालें। यह जेल सुधार का एक अन्य सिद्धान्त है जो हम समझते हैं स्वीकार किया जाना चाहिये। ..... आधुनिक विचारों में सामान्य प्रवृत्ति इस दृष्टिकोण की ओर है कि केवल कठोरता का अपराधी के सुधार पर न्यूनतम प्रभाव पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रभावकों का मानवीकरण और सुधार किया जावे जो कैदियों को उन पर तथा दूसरों पर पड़ने वाले अपराध के अनिवार्य बुरे परिणामों के सम्बन्ध में अनुभव करायेंगे और उनके चरित्र तथा उद्देश्यों में वास्तविक सुधार लायेंगे।”<sup>5</sup>

उपरोक्त समस्त बातों को ध्यान में रखते हुए उक्त कमेटी ने जेलखानों की दशाओं में निम्नलिखित सुधार की सिफारिशें प्रस्तुत की—(१) जेल के अधिकारी-गण योग्य प्रवीण तथा अच्छा वेतन पाने वाले हों। उनकी नियुक्ति उनकी योग्यताओं को ध्यान में रखते हुए की जावे। (२) कैदियों का वर्गीकरण वैज्ञानिक ढंग से हो और उसी के अनुसार व्यक्तिगत उपचार की व्यवस्था को लागू किया जावे। (३) जेल में कैदियों को सुधारात्मक प्रभावों में रखा जावे। (४) जेल से मुक्ति के बाद कैदियों का उत्तर संरक्षण सेवाएँ (After care Services) तथा पुनर्वास आदि की यथोचित व्यवस्था हो। (५) जेल भेजने और सजा की अवधि कम करने के लिये आवश्यक व्यवस्था हो।

जहाँ तक कि जेल-श्रम का सम्बन्ध है, कमेटी ने यह सिफारिश की है कि (अ) कठोर, मध्यम हल्का काम देने के लिये इसी के अनुरूप कैदियों का वर्गीकरण किया जावे। इस प्रकार का वर्गीकरण करने लिये चिकित्सा-अधिकारी कैदी के शारीरिक अवस्थाओं की जाँच करें और उनकी रिपोर्ट के अनुसार जेल-अधीक्षक काम को बाँट दें; (ब) कोल्हू को कैदियों के द्वारा चलवाने की प्रथा को समाप्त कर दिया जाय;

5. “.....that prisoners while in prison should be brought under such influences as will not only deter them committing further crimes, but will also have a reforming influence on their character is the next principle, which should, we conceive, be accepted. ....The general tendency of modern ideas is towards the view that severity alone has little effect in reclaiming the criminal, and that what is required is rather humanizing and improving the influences which will lead to the prisoner's realizing the essentially evil results of crime on himself and others, and will result in a real reformation of character and purpose.” *Indian Jails Committee Report*, Quoted by Durga Bai Deshmukh, *Social Legislation—Its Role in Social Welfare*, p. 392.



(स) कैदियों से पानी खींचने का काम भी न लिया जाये तथा (द) कैदियों द्वारा किये गये काम के लिये उन्हें वेतन दिया जाए।

पर उसी समय सन् १९१९ का भारतीय सरकार कानून (Govt. of India Act, 1919) लागू होने के बाद जेल-विभाग एक केन्द्रीय विषय (central subject) न रहकर प्रान्तीय सरकार के अधीन आ गया। उसके बाद से विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्र में जेल-सुधार के लिये कदम उठाये। उसी के विषय में अब हम विवेचना करेंगे—

### उत्तर-प्रदेश में जेल सुधार

#### (Jail Reform in U. P.)

भारतीय जेल कमेटी (१९१९) की रिपोर्ट पेश होने के बाद जब जेल-विभाग प्रान्तीय सरकार के अधीन आ गया तो सन् १९२९ में उत्तर प्रदेश सरकार ने एक 'उत्तर प्रदेश जेल जांच समिति' (U. P. Jail Enquiry Committee) को नियुक्त किया। इसके अध्यक्ष सर लुइस स्टुअर्ट (Sir Louis Stuart) थे और सदस्य थे पण्डित जगत नारायण मुल्ला और हाफिज हिदायत हुसैन। इस समिति की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं—

(१) जेलों के एक सहायक महानिरीक्षक (Deputy Inspector General of Prisons) की नियुक्ति होनी चाहिये। (२) प्रत्येक जिला जेल में एक जेल अधीक्षक (Jail superintendent) की नियुक्ति आवश्यक है। (३) जेल के कर्मचारियों को अपराध-शास्त्र, दण्डशास्त्र, बाल-अपराध तथा मनोविज्ञान में शिक्षा देकर सुधार-कार्य (reformation work) में प्रशिक्षित करने की व्यवस्था होनी चाहिये। (४) इस प्रकार के प्रशिक्षण कार्य के लिये जेल ट्रेनिंग स्कूलों की स्थापना होनी चाहिये। (५) केन्द्रीय जेलों का इस प्रकार से वर्गीकरण किया जाय कि अम्यस्त (habitual) तथा अनम्यस्त (non-habitual) अपराधियों को पृथक्-पृथक् रक्खा जा सके। (६) बोस्टल अधिनियम (Borstal Act) पास किया जाये तथा बोस्टल स्कूलों की स्थापना की जाये। (७) विकसित स्तर प्रणाली (Progressive Stage System) पर बल दिया जाये। (८) जेल उद्योगों में आधुनिकीकरण (modernization) करने के उद्देश्य से मशीनों का प्रयोग किया जाय। (९) प्रोबेशन पद्धति का आरम्भ और प्रोबेशन अधिकारियों की नियुक्ति की जाय। (१०) कैदियों के पुनर्वास के लिये प्रत्येक जिले में 'मुक्ति-प्राप्त बन्दी सहायता संघ, (Discharged Prisoners Aid Society) की स्थापना की जाय। (११) भोजन, वस्त्र, विस्तर, जल, प्रकाश एवं चिकित्सा आदि की विशेष सुविधाएँ कैदियों के लिये होनी चाहिये। (१२) जेलखानों के भवनों का निर्माण, विकास एवं विस्तार (१३) कैदियों को उनके श्रम के बदले में वेतन देने की व्यवस्था होनी चाहिये।

यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उपरोक्त कमेटी ने अनेक सुधारवादी सुझावों को प्रस्तुत किया। परन्तु इस सुधारवादी योजना को तब तक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका जब तक सन् १९३७ में लोकप्रिय कांग्रेस सरकार के हाथ



में सत्ता न आई। इस वर्ष प्रथम कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बनने के बाद सन् १९३७-३९ के बीच तीन जेल समितियाँ नियुक्ति की गईं। इसी काल में अनेक नई जेलों की स्थापना हुई और कुछ सुधारवादी कार्यक्रमों को भी लागू किया गया। उत्तरप्रदेश मुक्ति-प्राप्त बन्दी-सहायता संघ (U. P. Discharged Prisoners Aid Society) की स्थापना सन् १९३८ में हुई और प्रत्येक जिले में जिला कमेटियाँ भी बनाई गईं। साथ ही उसी वर्ष उत्तर-प्रदेश प्रथम अपराधियों का प्रोबेशन अधिनियम (The U. P. First Offenders, Probation Act, 1938) भी पास किया गया जिसके अनुसार इस बात की व्यवस्था की गई कि कुछ प्रथम अपराधियों (First offenders) को जेल भेजकर दण्ड के स्थान पर सद्ब्यवहार करने का बाण्ड (Bond) भरवाकर प्रोबेशन पर छोड़ा जाय। इस अधिनियम के विषय में विस्तृत विवेचना हम अध्याय २८ में कर चुके हैं। सन् १९४० में जेल कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने के लिये जेल ट्रेनिंग स्कूल की स्थापना की गई। इस स्कूल में अन्य राज्यों के भी जेल कर्मचारियों को भी शिक्षा दी जाने लगी। साथ ही, उक्त मुक्ति-प्राप्त बन्दी-सहायता संघ को प्रोबेशन अधिनियम (१९३८) को ठीक से संचालित करने तथा जेल से मुक्ति के बाद अपराधियों की देख-रेख (After Care Work) करने का काम सौंपा गया।

सितम्बर, सन् १९३९ में यूरोप में विश्वयुद्ध छिड़ जाने के कारण प्रान्तीय लोकप्रिय सरकारों की सत्ता छिन गयी और जेल सुधार की प्रगति रुक गयी।

फिर सन् १९४६ में द्वितीय कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना और सरकार ने जेल सुधार की ओर ध्यान दिया। सन् १९४६ में ही 'यू० पी० जेल सुधार कमेटी' (U. P Jail Reform Committee) तत्कालीन संसदीय सचिव श्री गोविन्द सहाय की अध्यक्षता में नियुक्त हुई। इस कमेटी ने सन् १९३९ की कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए बाल-अपराधियों के प्रति भिन्न प्रकार का व्यवहार किये जाने पर बल दिया। इस समिति की सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया और उन्हें लागू कर दिया गया।

इस समय उत्तर प्रदेश में बयस्क अपराधियों और बाल अपराधियों के लिये अलग संस्थाएँ हैं। जेल में आकस्मिक और अस्थायी अपराधियों को पृथक्-पृथक् रखा जाता है। कोढ़ और क्षय रोग से पीड़ित कैदियों को दो भिन्न जेलों में रखा जाता है जहाँ इन रोगों के विशेष इलाज की व्यवस्था है। मस्तिष्क से दुर्बल कैदियों को एक अलग जेल में रखा जाता है।

अब कैदियों की श्रेणी सम्बन्धी नियमों में आमूल परिवर्तन कर दिये गये हैं। अब केवल दो श्रेणियाँ—विशेष और साधारण—रह गयी हैं। विशेष श्रेणी में वह कैदी रखे जाते हैं जिनका चारित्र्य अच्छा और व्यवहार सन्तोषजनक होता है। सन् १९४६ की जेल सुधार कमेटी की सिफारिशों के आधार पर कैदियों की एक नई श्रेणी बनाई गई है जिसे "स्टार" श्रेणी कहा जाता है। इस श्रेणी में वे कैदी सम्मिलित किये जाते हैं जो अत्यन्त अच्छे आचरण के पाये जाते हैं। इस 'स्टार' श्रेणी के कैदियों को आदर्श जेल (Model Prison), लखनऊ में भेज दिया जाता है।



कैदियों को डंडा-बेड़ी की सजा दिये जाने की प्रथा अब समाप्त कर दी गयी है। पहले कैदियों से अत्यधिक कठोर तथा पशुओं का काम भी लिया जाता था। पर अब प्रत्येक प्रकार का सम्मानित श्रम निषिद्ध कर दिया गया है। साथ ही, कैदियों से केवल उतना ही काम करवाया जाता है जितना एक स्वस्थ आदमी कर सकता है। काम के घंटों में पर्याप्त रूप से कमी कर दी गयी है और जेल की छुट्टियों को बढ़ा दिया गया है। अनेक जेलों में कैदियों को काम के लिए मजदूरी भी दी जाती है। इलाहाबाद के सरकारी प्रेस (Govt. Press Allahabad) में स्थानीय जेलों के सौ से भी अधिक कैदी काम करते हैं और मजदूरी कमाते हैं।

पहले की अपेक्षा उत्तर प्रदेश की जेलों में अब कैदियों को अधिक अच्छा तथा पोष्टिक भोजन दिया जाता है तथा राष्ट्रीय उत्सवों तथा धार्मिक त्योहारों के अवसर पर विशेष भोजन दिया जाता है। उत्तर प्रदेश के सूचना विभाग की एक पुस्तिका के अनुसार, "कैदियों के लिये कपड़े की व्यवस्था करते समय इस बात का निरन्तर ध्यान रखा जाता है कि उनको उसी प्रकार के कपड़े दिये जायें जैसे साधारणतः बाहर के लोग पहनते हैं। लाल और काली धारी वाली जेल की टोपी, जिससे पहनने वाले पर एक दूरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है, को हटाकर अब गाँधी टोपी पहनने को दी जाती है और इसका भी पहनना अब अनिवार्य नहीं रह गया है। तब कपड़े अब कैदियों को जल्दी-जल्दी दिये जाते हैं और बीमार तथा विशेष श्रेणी के कैदियों को मच्छरदानी भी दी जाती है।" कैदियों को अब जूता पहनने की भी आज्ञा दे दी गयी है। पहले बीड़ी-सिगरेट पीने और तम्बाकू खाने पर कड़ी रोक थी, जिससे बहुत भ्रष्टाचार फैलता था। इसीलिये अब यह रोक हटा दी गई है और निश्चित मात्रा में इन वस्तुओं के उपयोग की आज्ञा दे दी गयी है। कैदियों के स्वास्थ्य और सफाई की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है और उन्हें साफ-सुथरे रहने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। साबुन, तेल, मंजन आदि के प्रयोग पर से भी रोक हटा ली गयी है और कैदी बाहर से ये सामान मंगवा सकते हैं। गर्मी के दिनों में जेल-बैरकों (Barracks) के बाहर सोने की सुविधा सीमित रूप से प्रदान की जाती है। व्यायाम तथा शरीरचर्या की भी व्यवस्था की गई है।

उत्तर प्रदेश के जेल-सुधार कार्य-क्रमों में कैदियों को दी जाने वाली शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएं एक महत्वपूर्ण सुधारात्मक कदम है। सभी सेंट्रल जेलों में बायस्क कैदियों को शिक्षा देने की एक विशेष योजना चालू की गयी है। ५० वर्ष की अवस्था तक के प्रत्येक कैदियों के लिये जिसको ३ या ३ से अधिक माह की सजा मिली है, पढ़ने तथा लिखने की शिक्षा लेना अनिवार्य है, जब तक उसे डाक्टरी आधार पर उक्त कार्य से विमुक्त न कर दिया जाये। उसी प्रकार सुधार गृहों तथा प्रथम व द्वितीय श्रेणी के जिला जेलों में कैदियों को पढ़ाने के लिये अध्यापक नियुक्त किये गये हैं। शेष जेलों में कैदियों में से ही किसी शिक्षित कैदी को अन्य कैदियों को पढ़ाने का काम सौंपा जाता है। कुछ जेलों में दो घंटे के अनिवार्य स्कूल भी स्थापित किये गये हैं। जेल पुस्तकालयों तथा वाचनायों को व्यवस्थित करने के प्रयास



किये गये हैं और एक स्वीकृत सूची से चुनकर पत्र-पत्रिकाएं भी कैदी लोग बाहर से मंगवा सकते हैं। कुछ जेलों में कैदी स्वयं भी पत्रिकायें निकाल रहे हैं। कुछ जेलों में कैदी संगीत व नाटक के कार्य-क्रमों में भी सक्रिय भाग लेते हैं। मनोरंजन, नैतिक शिक्षा आदि का भी प्रबन्ध किया जाता है।

दण्ड और जेल-सुधार की दिशा में हुई सुधारवादी प्रगति के उपरोक्त सामान्य विश्लेषण के पश्चात् अब हम उत्तर प्रदेश की कुछ विशिष्ट व आदर्श प्रकार की जेलों के विषय में उल्लेख करेंगे।

### आदर्श जेल, लखनऊ

(Model Prison Lucknow)

सन् १९४६ की जेल सुधार कमेटी की सिफारिशों के आधार पर सन् १९४९ में लखनऊ की सेंट्रल जेल को एक 'आदर्श जेल' में परिवर्तित कर दिया गया। यह आदर्श जेल देश में जेल प्रशासन के क्षेत्र में किया गया एक अभूतपूर्व प्रयोग है। इस जेल को एक आत्म-निर्भर बस्ती के रूप में विकसित किया गया है ताकि विघटित, हिंसामुक्त तथा उग्र व्यक्तियों को एक सहयोगी परिश्रमी तथा आत्म-निर्भर-शील व्यक्तित्व में बदला जा सके। इसीलिए इस जेल का सम्पूर्ण कार्यक्रम वैज्ञानिक विधियों पर आधारित है और उसे क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व अत्यधिक योग्य, कुशल, प्रशिक्षित, उदार तथा सहानुभूतिशील अधिकारियों द्वारा किया जाता है।

इस जेल में सभी कैदियों को नहीं रखा जाता है। इसमें प्रवेश पाने के लिए कुछ आवश्यक शर्तें हैं—(अ) इस जेल में विभिन्न केन्द्रीय जेलों से 'स्टार' (Star) श्रेणी वाले बन्दियों को ही केवल भेजा जाता है। (ब) इसमें आने वाले कैदी लम्बी अवधि के लिये कारावास का दण्ड पाये हुए अपराधी होने चाहिए। (स) कैदियों की आयु २१ से ४५ के बीच हो और (द) वे स्वस्थ हों।

आदर्श जेल में आने पर कैदी को ६ महीने तक 'अगवानी भवन' या स्वागत केन्द्र (Reception centre) में रखा जाता है। यहाँ कैदी की वैयक्तिक जीवनी पारिवारिक पर्यावरण, सामाजिक सम्बन्ध, आर्थिक पृष्ठभूमि एवं मनसिक अवस्थाओं तथा उसके सम्बन्ध में पुलिस रिपोर्ट, न्यायालय का निर्माण तथा उसी प्रकार की अन्य समस्त उपलब्ध सामग्री का अध्ययन अशिक्षित अधिकारियों के द्वारा किया जाता है। उसको सैद्धान्तिक व व्यवसायिक शिक्षा दी जाती है, नैतिक भाषण सुनाये जाते हैं और साथ ही शारीरिक व्यायाम आदि के साथ-साथ अनेक प्रकार के खेल-कूद और मनोरंजक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। साथ ही, इन सुधारात्मक कार्यक्रमों के प्रति कैदी की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया (individual reaction) क्या होता है इसका, अध्ययन व गहन निरीक्षण किया जाता है। जेल-अधीक्षक, जेलर, शिक्षक, प्रशिक्षणकर्त्ता (Work master) तथा मनोवैज्ञानिक को मिलाकर एक बोर्ड होता है जो की कैदी द्वारा की गई मासिक प्रगति (Monthly Progress पर विचार करता रहता है।



स्वागत केन्द्र में छः महीने तक सफलता पूर्वक प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद संस्थागत वर्गीकरण बोर्ड (Institutional Classification Board) इस बात पर विचार करता है कि कैदी पर विश्वास किया जा सकता है या नहीं और वह अपने पैरों पर खड़े होने को इच्छुक है या नहीं। यदि बोर्ड उस कैदी को उपयुक्त समझता है, तो उसे जेल के आदर्श विभाग (Model Section) जिसे कि 'गंगा भवन' कहा जाता है, में रहने का अवसर दिया जाता है। यहाँ कैदियों को बहुत-कुछ स्वतन्त्र नागरिक के रूप में सामान्य जीवन व्यतीत करने दिया जाता है। यहाँ कैदी अपनी इच्छानुसार उद्योग या कृषि कार्य कर सकता है और उसके लिए उसे वेतन दिया जाता है जो खेती करता है उसे अपनी उपज की बिक्री से प्राप्त राशि का एक अंश जमीन के लगान और अन्य खरीदी गई वस्तुओं की कीमत के रूप में दे देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कैदी अपनी कमाई से भी अपने रहने और (पान-पान) का खर्चा भी राज्य को देते हैं। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य कैदियों को स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाना और उनमें खोये हुए आत्म-सम्मान को पुनः स्थापित करना है।

यहाँ कैदी जो भी धन कमाता है उससे उपरोक्त कटौती काटने के बाद जो कुछ बचता है, उसे वह जेल के कैण्टीन, जिसे वह अन्य कैदियों के साथ मिलकर सहकारी पद्धति पर स्वयं चलाते हैं, से आवश्यक वस्तुओं को खरीदने पर खर्च करते हैं। शेष रुपये को कैदियों के सम्बन्धियों को भेजा जा सकता है अथवा उनके नाम से डाकखाने, बैंक आदि में जमा करा दिया जाता है। परिवार को खर्चा भेजने से न केवल कैदी का अपने परिवार के साथ निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है, बल्कि उसका परिवार आर्थिक बर्बादी से भी बच जाता है। इससे कैदी को जो मानसिक सन्तोष व शान्ति मिलती है वह उसे सुधारने में अत्यधिक सहायक सिद्ध होती है।

आदर्श जेल में कैदियों का उपचार 'विश्वास से ही विश्वास' पनपता है' (trust begets trust) के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। इस कारण भोजन, कपड़ा कैण्टीन, आपस के झगड़ों और समस्याओं का निपटारा आदि विषयों की देखरेख कैदी स्वयं चुनाव के आधार पर बनी एक पंचायत के द्वारा करते हैं। इन विषयों में जेल अधिकारियों द्वारा कुछ भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है, इसके सिवा कि वे निर्देशक और निरीक्षक के रूप में कार्य करें। इस प्रकार कैदियों को सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने और जिम्मेदार व्यक्ति बनने की शिक्षा भी मिलती है।

धीरे-धीरे कैदियों को और अधिक सुविधाएं दी जाती हैं। कैदियों को बिना किसी निगरानी और नियन्त्रण के दिन और रात दोनों में जेल के बाहर काम करने की आज्ञा मिल जाती है। जिन कैदियों का व्यवहार अत्यधिक सन्तोषजनक पाया जाता है, उन्हें नगर की सैर अथवा अन्य आकर्षण की जगह को जाने की आज्ञा भी दे दी जाती है।

नाटक, चलचित्र, भाषण, वादविवाद, संगीत, धार्मिक उत्सवों तथा खेलों की व्यवस्था कैदियों के लिए की जाती है। इन कार्यक्रमों में कैदियों को भी भाग



लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। जेलखाने का एक भाग विशेष रूप से स्त्री कैदियों के लिए बनवाया गया है। जेलखाने में चिकित्सा तथा शरीर-चर्या सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का एक वर्गीकरण व शिक्षा तथा प्रशिक्षण के केन्द्र (Classification-cum-Education and Training centre) स्थापित करने में उत्तर प्रदेश भारत में पहला राज्य है। इस रूप में “लखनऊ का आदर्श जेल उत्तर प्रदेश की दण्ड व जेल-सुधार सम्बन्धी प्रगति का एक दर्शनीय अंग है।”

### सम्पूर्णानन्द शिविर अथवा प्राचीरविहीन जेल (Sampurnananad Camp or Wall-less Prisons)

प्रायः सभी देशों तथा सभी युगों में कैदियों को जेल के बहुत ऊँचे प्राचीरों के घेरे के अन्दर रखने की ही विधि का प्रचलन रहा है। कैदियों को बाहरी दुनिया के सम्पर्क में न लाने के ही पक्ष में स्पष्ट मत व्यक्त किये जाते रहे। जेलखानों में कैदी सजा भोगने आता है। इसलिए उससे कठोर से कठोर काम लिया जाये चाहे वह काम उपयोगी हो या नहीं। कैदियों को सुधारने के लिए नहीं अपितु दण्ड देने के लिए उनसे श्रम या काम करवाया जाता था परन्तु उत्तर-प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य-मन्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्द द्वारा प्रस्तुत ‘प्राचीरविहीन जेल’ की योजना समस्त परम्परागत दृष्टिकोण के विपरीत एक अनूठा व क्रांतिकारी कदम है। डॉ० सम्पूर्णानन्द के अनुसार कैदियों को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने के लिए प्रशिक्षित किया जाये तथा उन्हें ऐसे पर्यावरण तथा जीवन की ऐसी अवस्थाओं में रक्खा जाए जो कि जेल के बाहर के समाज से अधिकाधिक मेल खाता हो और जहाँ पर रहते हुए कैदी को ईमानदारी से परिश्रम करने तथा अपने व राष्ट्र के पुनर्निर्माण में अपना योगदान देने में गर्व का अनुभव होगा। सम्पूर्णानन्द जी ने इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कैदियों को राष्ट्रीय निर्माण के कार्यों में लगाने का प्रस्ताव रक्खा जो कि सम्पूर्णानन्द शिविर के रूप में समाज में खूब जड़ पकड़ चुका है।

इस योजना का आरम्भ नवम्बर, सन् १९५२ में तब हुआ जब उत्तर-प्रदेश के विभिन्न जेलखानों में दीर्घकाल के लिए सजा भुगतने वाले २०० कैदियों को बनारस जिले की चकिया तहसील में ८८ लाख रुपये की लागत के चन्द्रप्रभा बाँध के निर्माण के लिए काम पर लगाया गया। चूँकि इस योजना में मानवीय दृष्टिकोण की प्रधानता थी इसलिये सम्पूर्णानन्द शिविर में काम करने वाले कैदियों को “कैदी” न कहकर ‘मजदूर’ या ‘शिविरवासी’ कहा जाता है। इससे उनमें आत्म-सम्मान की भावना तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता पनपती है।

शिविरवासी होने के लिए कैदियों को कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं, जैसे अच्छा स्वास्थ्य, सद्व्यवहार आदि। शिविर के चारों तरफ कोई दीवार या अन्य कोई बाधा नहीं होती है। यहाँ कैदी खुले तम्बुओं आदि में लगभग न के बराबर



निगरानी में रहते हैं। केवल काम पर जाने और वहाँ से लौटने पर उनकी गिनती कर ली जाती है। चौकीदारों का प्रयोग कम से कम किया जाता है ताकि कैदी निरन्तर यह न अनुभव कर सकें कि उन पर अविश्वास किया जाता है।

कैदियों का शिविर का जीवन एक स्वतन्त्र नागरिक के सामान्य जैसा ही होता है। उन्हें श्रम के बदले में सामान्य मजदूर की भाँति ही मजदूरी दी जाती है जिसमें से उन्हें अपने भोजन, वस्त्र आदि का खर्चा राज्य को देना पड़ता है। शेष धन से वे अपने जीवन की रोज की आवश्यकता की वस्तुओं जैसे बोड़ी-सिग्रेट, साबुन, तेल, गुड़ आदि को खरीद सकते हैं और परिवार को भी भेज सकते हैं। इसके बाद भी अगर कुछ धन बच जाता है तो उसे उन्हीं के नाम से जमा कर दिया जाता है और मुक्ति के समय उन्हें दे दिया जाता है जिससे कि उनका पुनर्वास सरल हो जाये। इस प्रकार इन शिविरों में कैदियों में मेहनत करने की आदत डाली जाती है और उन्हें कर्मशील बनाया जाता है। दूसरी ओर उन्हें बहुत ही कम निगरानी वाले स्वतन्त्र वातावरण में रखकर उनके मरे हुए आत्म सम्मान को जागृत किया जाता है इसी के साथ ही उन्हें वेतन आदि देकर उनमें आर्थिक तौर पर अपने पैरों पर खड़े होने की भावना को उत्पन्न करने तथा पुनर्वास करने व सामान्य जीवन-यापन के योग्य बनाया जाता है।

कैदियों के लिए कैन्टीन की व्यवस्था की जाती है और उनके स्वास्थ्य तथा मनोरंजन का भी ध्यान रखा जाता है। बहुत ही अच्छे प्रकार का व्यवहार करने वाले कैदियों को बाहर दूर तक घूमने जाने की आज्ञा दी जाती है।

शिविर के सदस्यों को सुबह तड़के उठना पड़ता है। शौच आदि से निपटकर उन्हें खुले मैदान में प्रार्थना और फिर व्यायाम के लिए जाना पड़ता है। इसके बाद हल्के नास्ते के बाद कैदियों को काम करने को भेजा जाता है वहाँ से वे ११ बजे दोपहर के भोजन और विश्राम के लिए वापस आते हैं। दोपहर १ बजे उन्हें फिर काम करने जाना होता है जहाँ से वे सूर्यास्त पर वापस आते हैं। संध्या समय भोजन के बाद शिविर-निवासी मनोरंजन के लिए एकत्रित होते हैं जिसमें कहानी किस्सों, नाटकों और संगीत गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त रात्रि शिक्षा की भी व्यवस्था की गई है। इतवार, राष्ट्रीय पर्वों तथा धार्मिक त्योहारों को उत्साह पूर्वक मनाया जाता है। इन अवसरों पर विशेष भोजन व मनोरंजन की व्यवस्था की जाती है।

एक भारतीय ग्रामीण समुदाय की भाँति सम्पूर्णानन्द शिविर के निवासी आपस में मिलजुल कर एक सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं, एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और समग्र रूप में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करते हैं जिसमें कि सुधार सम्भव हो। यह बात सम्पूर्णानन्द शिविरों की निम्नलिखित विशेषताओं से और भी स्पष्ट हो जायेगी :—

(१) इनमें एक समय में लगभग ३००० बन्दी तक रखे जा सकते हैं। इतनी बड़ी संख्या अभी तक खुले शिविरों में कभी भी नहीं रखी गई। (२) शिविर



में प्रवेश के विषय में एक शर्त यह है कि कैदी लम्बी अवधि की सजा भुगतने वाले हो और उनका व्यवहार अच्छा हो। साथ ही, २१ से ५० वर्ष के बीच की आयु वाले कैदी ही इन शिविरों में आने के अधिकारी हैं। यह भी ध्यान रखा जाता है कि वे ही कैदी इन शिविरों में लाये जाएं जिनकी सजा की अवधि कम से कम ६ माह शेष रह गये हो। (३) स्वतन्त्रता का वातावरण इन शिविरों का प्रधान आधार है। केवल काँटेदार तारों से शिविर का घेरा दिया जाता है, बाकी न वहाँ ताले हैं और न हथकड़ियाँ। (४) प्रत्येक शिविर निवासियों के ऊपर रक्षक के रूप में केवल एक व्यक्ति होता है जो हथियार रहित होता है। उसके हथियार स्नेह, विश्वास, सहानुभूति और सहयोग आदि मानसिक वृत्तियाँ होती हैं। (५) शिविर का प्रमुख द्वार ५० फीट चौड़ा होता है जो प्राचीर-रहित ही रहता है। इस द्वार में बन्द करने अथवा आने-जाने वाले पर रोक लगाने का कोई साधन नहीं होता है (६) किसी भी प्रकार के शारीरिक दण्ड अथवा शारीरिक यातनाएं जैसे हथकड़ी, डंडा-वेड़ी (bar-fetters), कोड़े लगाना, एकान्तवास अथवा खराब या कम भोजन (penal diet) देने की आज्ञा नहीं है। (७) शिविर के अन्दर कैदी को घूमने-फिरने की पूरी आजादी है तथा उसमें किसी प्रकार के खण्ड बन्द स्थान अथवा निषिद्ध स्थान और बार्ड नहीं होते हैं। कैदी शिविर में कहीं भी जा सकते हैं और किसी से भी वार्त्तालप कर सकते हैं और अपना आत्म-सम्मान बनाये रख सकते हैं। (८) कैदियों पर विश्वास के आधार पर उन्हें बीस-बीस व्यक्तियों के कार्य-समूह बनाने की आज्ञा है। (९) शिविर में किसी भी समय तलाशी नहीं ली जाती है और निगरानी व गिनती के समस्त प्रचलित जेल-नियमों को त्याग दिया जाता है। केवल सुबह और शाम काम को जाते समय और वहाँ से वापस लौटने पर गिनती की जाती है। इन छूटों के दिये जाने से शिविर निवासियों में आत्म-निर्भरता व आत्म-विश्वास की वृद्धि हुई। (१०) मुक्त-बन्धियों को शिविर के कर्मचारियों की हैसियत से अल्पकालीन सरकारी नौकर के रूप में नियुक्त किया जाता है और यह प्रयोग सफल होता जा रहा है। (११) कैदियों को परिवार के सदस्यों से अधिकाधिक मिलने-जुलने की आज्ञा दी जाती है जिससे कि उनके पारिवारिक सम्बन्धों में घनिष्ठता और दृढ़ता बनी रहे। (१२) शिविर-निवासियों के पारिवारिक सम्बन्धों को और भी मजबूत करने के लिये उनके लिये घर जाने की छुट्टी की व्यवस्था की गयी है और बहुतों ने इसका दुरुपयोग न करते हुए इस सुविधा से लाभ उठाया है। (१३) प्रत्येक कैदी की उसके द्वारा किये गये काम के लिये वेतन देने की व्यवस्था है। नियमित काम और नियमित वेतन कैदियों को सुधारने में सहयोग देते हैं। (१४) कैदी अपने रहने खाने का खर्चा स्वयं देता है जिससे उसमें आत्म-निर्भरता की भावना पनपती है। (१५) कैदियों में परस्पर तथा कैदियों तथा जेल-अधिकारियों के बीच स्वतन्त्र व घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जिससे कि वे एक दूसरे को आन्तरिक रूप से पहचान सकें तथा एक दूसरे के साथ सहयोग कर सकें। (१६) शिविर में अनेक प्रकार के धार्मिक, नैतिक सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं जिससे कि इन कार्यक्रमों का एक सुधारात्मक प्रभाव



कैदियों पर पड़ सके। (१७) कैदियों को आवश्यकता से अधिक दिनों तक रोके रखने को बुरा माना जाता है। इस कारण सजा की अवधि समाप्त होने से पहले छोड़ देने (premature release) तथा दण्ड की अवधि में अधिक छूट देने (enhanced remissions) के सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाता है। कैदियों को अधिक दिनों तक कैद में रखना अनावश्यक है क्योंकि सुधार कार्य २ या ३ वर्ष के अन्दर ही पूरा किया जाना चाहिए। इसीलिये शिविर में एक दिन रहने पर सजा की अवधि में भी एक दिन की छूट मिल जाती है और सजा की अवधि समाप्त होने से पूर्व छोड़ देने का व्यवस्था को भी उदारता पूर्वक अपनाया जाता है। इसका स्वस्थ प्रभाव न केवल कैदियों को सुधारने पर पड़ता है, बल्कि कैदियों पर सरकार का खर्चा भी बहुत कम हो जाता है। (१८) शिविर के कैदियों से चूँकि कठोर परिश्रम करवाया जाता है, इस कारण उनके लिये अतिरिक्त योजना (additional diet) की भी व्यवस्था होती है। रविवार तथा अन्य छुट्टियों के दिन विशेष भोजन दिया जाता है। (१९) जेल पोशाक के स्थान पर कैदियों को सादी व सामान्य पोशाक दी जाती है। (२०) शिविर में एक चिकित्सा-अधिकारी तथा अन्य मेडिकल स्टाफ की देख-रेख में एक अच्छा अस्पताल होता है। एक सफाई निरीक्षक (Sanitary Inspector) भी होता है।

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि सर्व प्रथम सम्पूर्णानन्द शिविर बनारस से ४० मील दूर चन्द्रप्रभा बाँध बनाने के लिये सन् १९५२ में स्थापित किया गया था। इसके उपरान्त करमंसा नदी के तट पर नौगढ़ क्षेत्र में दूसरा शिविर स्थापित किया गया। यहाँ भी एक बाँध का निर्माण किया गया। इसके पश्चात् सन् १९५५ में शाहगढ़ में तृतीय शिविर लगाया गया। इसमें बन्दिनों ने एक ८ मील की नहर का निर्माण किया। इस सब प्रयोगों के बाद स्थिति इतनी सुधारपूर्ण एवं विकासपूर्ण बनी कि बन्दिनों को वाराणसी के सरसैया घाट पर सामान्य मजदूरों के साथ काम करने को भेजा गया। यह परीक्षण भी पूर्णतः सफल रहा। इस सम्बन्ध में डा० सम्पूर्णानन्द ने निम्नलिखित विवरण दिया—“वाराणसी में सरसैया के पास बरुण पर पुल बनाते समय हमने वह काम करने के लिये कैदियों को हिचकते हुए भेजा। यह एक मिला-जुला शिविर था जहाँ कैदियों को साधारण मजदूरों के साथ काम करना था। उन मजदूरों में स्त्रियों की संख्या अधिक थी यद्यपि परिस्थितियों ने इन कैदियों को अपराध करने पर बाध्य किया था किन्तु हमें विश्वास था कि उनमें तथा उनके पूर्वजों में मूलरूप से अन्तर्निहित भारतीय संस्कृति उन्हें किसी भी प्रकार के प्रलोभनों में स्थिर रहने की शक्ति देगी। फिर भी इस प्रयोग में खतरे तो थे ही। प्रसन्नता की बात यह थी कि इस प्रकार की एक भी घटना वहाँ घटित नहीं हुई।”<sup>6</sup>

6. Dr. Sampurnanad, *Inaugura address to the first Prisoners and Ex-Convicts Conference, Lucknow*, published by the Publication Bureau, U. P. Information Department, Lucknow.



इसके बाद नैनीताल जिले के नानक सागर नामक स्थान में भी ऐसा एक शिविर स्थापित किया गया। नवम्बर सन् १९५६ से दिसम्बर १९५८ तक यहां बाँध के निर्माण में शिविर के ७०० कैदियों ने काम किया और मजदूरी के रूप में ८,३४,८०० रुपये कमाये। इस काल में १५० शिविर निवासियों को घर जाने की छुट्टी दी गयी और सभी व्यक्ति निश्चित अवधि के बाद समय पर शिविर में वापस लौट आये। इन दो वर्षों में शिविर निवासियों ने अपनी कमाई में से १,०६,५०० रुपये अपने परिवारों को भेजे। इस अवधि में शिविर से मुक्त होने वाले कैदियों में ६० प्रतिशत से अधिक व्यक्ति किसी व्यापार, नौकरी आदि में सफलतापूर्वक पुनर्वास कर सके।

एक और सम्पूर्णानन्द शिविर मिर्जापुर जिले में घुरमा नामक स्थान पर स्थापित किया गया था। सरकारी प्रतिष्ठान चूर्क सिमेन्ट फैक्ट्री (The Churk Cement Factory) के लिये आवश्यक पत्थर खान से निकालने का काम करने के लिये कैदियों को लगाने के लिये १५ मार्च, सन् १९५६ में एक बहुत कुछ स्थायी शिविर घुरमा में स्थापित किया गया। आरम्भ में इसमें केवल १५० कैदी रखे गये। अप्रैल, १९५६ तक यह संख्या बढ़कर ५०० तथा नवम्बर, सन् १९५७ तक ८०० हो गयी। अप्रैल से नवम्बर तक कैदियों ने ३,६१,००० रुपया कमाया। फैक्ट्री के अधिकारी उनके कार्य से इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उन्होंने जेल अधिकारियों पर इस बात के लिये दवाव डाला कि कैदियों की संख्या बढ़ा दी जाए। अप्रैल १९६१ से शिविर के कैदियों की संख्या १,७०० कर दी गयी है। फैक्ट्री अधिकारियों ने कुछ कैदियों को यांत्रिक शिक्षा के लिये भी चुन लिया है। इस शिक्षा के पूरा हो जाने के बाद यदि वे कैदी चाहेंगे तो उन्हें स्थायी रूप से फैक्ट्री में नौकर रख लिया जायेगा।

इस दशा में एक और सराहनीय प्रयत्न है सम्पूर्णानन्द कृषि एवं औद्योगिक शिविर (Sampurnanand Agricultural-cum-Industrial Camp)। यह जिला नैनीताल के सितारगंज के पास मार्च, सन् १९६० में स्थापित किया गया था। यह शिविर ६ हजार एकड़ जमीन को लेकर बसा हुआ है। इनमें से ३ हजार एकड़ जमीन पर कृषि कार्य चालू कर दिया गया है और इसके लिये ८०० कैदियों को काम पर लगाया गया है। कृषि-कार्य में इन कैदियों ने बहुत ही सराहनीय सफलता प्राप्त की है। कुछ-कृषि से सम्बन्धित उद्योगों को भी स्थापित किया गया है जिससे कि कैदियों को ग्राम-उद्योगों के विषय में प्रशिक्षित किया जा सके।

इस प्रकार प्राचीन विहीन जेल या सम्पूर्णानन्द शिविर उत्तर प्रदेश के ही नहीं सम्पूर्ण भारत के लिये गौरव का विषय है। यह प्रयोग अत्यन्त सफल हुआ है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसको अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति मिली है। जिनेवा में होने वाले 'अपराध निरोध तथा अपराधियों के उपचार पर विश्व कांग्रेस (World Congress on the Prevention of Crime and Treatment of Offenders)' में इस योजना की प्रशंसा हुई है और यह प्रस्ताव पास हुआ कि प्राचीर



से घिरी जेलों के स्थान पर सम्पूर्णनिन्द शिविर जैसी प्राचीरविहीन जेल सब देशों में होनी चाहियें।

### बन्दी नारी निकेतन, लखनऊ

(Bandi Nari Neketan Lucknow)

केवल पुरुष-अपराधियों को सुधारने तथा उनको सामान्य नागरिकों की भांति जीवन व्यतीत करने योग्य बनाने के लिये ही नहीं, अपितु नारी-अपराधियों के लिये भी उस प्रकार के प्रयत्न करने के लिये ही अप्रैल, सन् १९५४ में लखनऊ में एक बन्दी-नारी निकेतन स्थापित किया गया। इसमें अपराधी नारियों को उचित एवं आवश्यक प्रशिक्षण तथा पुनर्वास की पर्याप्त सुविधायें दी जाती हैं। इस निकेतन में एक पृथक् अस्पताल तथा एक शिशु-गृह (Creeche) है जहां अपराधी-नारियों के बच्चों के उचित पालन-पोषण की व्यवस्था की जाती है। इस निकेतन में गृहस्थी के काम-काज, हस्तकला, सिलाई-बुनाई आदि का काम तथा बच्चों के पालन-पोषण सम्बन्धी आवश्यक प्रशिक्षण अपराधी-नारियों को दिया जाता है। शहर की वे महिलाएं, जिन्हें समाज-कल्याण कार्यों में दिलचस्पी है, इस बन्दी-नारी निकेतन की स्त्रियों के कल्याण में अत्यन्त रुचि लेती हैं।

इसके अतिरिक्त सुधारगृह, लखनऊ तथा किशोर सदन, बरेली अल्प वयस्क अपराधियों के सुधार व कल्याण के लिये स्थापित की गई उल्लेखनीय संस्थाएँ हैं। इसके विषय में हमने अध्याय ६ में विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं।

संक्षेप में, यही भारतीय दण्ड व जेल-सुधार की एक रूपरेखा है। अपराधियों को केवल 'अपराधी' कहकर दूर हटा देने, अवहेलना या घृणा करने का दिन अब चला गया है। वर्तमान समय तो मानव को मानवीय आधार पर ही स्वीकार करने का समय है; यह युग तो उत्तरदायित्व लेने और उसे निभाने का युग है, उसने भागने का युग नहीं। जेल-सुधार, अपराधियों के उपचार व पुनर्वास का यही सिद्धान्त है और यही मूल-मन्त्र भी।



परिशिष्ट



## इस खण्ड के अध्याय

३२. सामाजिक व्यापिकी



## सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology)

अगस्त सन् १९४७ की एक मध्य रात्रि को भारत स्वतन्त्र हुआ। अंग्रेज भारत को छोड़कर चले गए। पर जाते-जाते 'उपहार' दे गये असंख्य भारतीयों को अगणित समस्याएँ—आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक। अखण्ड भारत को खण्डित किया, भाई को भाई से जुदा कर दिया और लाखों को देश की ही देखते शरणार्थी बना कर ही छोड़ा। जो कभी सोचा नहीं था, वही हुआ। यह देशी नहीं, विलायती चमत्कार था। इसी चमत्कार ने 'सोने की चिड़िया' भारत को, भिखारी बना दिया। धन-दौलत, सुख-शान्ति, त्याग-तपस्या सब आँखों के सामने से गायब होगा। उसके स्थान पर नंगे-भूखे बच्चे, अज्ञान, निर्धन व बेरोजगार उनके मां-बाप, टूटे परिवार, अपराधियों से भरे जेलखाने, रोग-ग्रस्त नर-नारियों के कराहने की आवाज और भ्रष्टाचार से कलुषित अस्पताल, जीवन से निराश, जीवन से भागने वाले मानव की आत्मबलि, जुआखोरी, नशेबाजी, भिक्षावृत्ति और क्या-क्या न नजर आये? सब कुछ बदल गया, सब कुछ पलट कर ही रख दिया। कमाल कर दिया है विलायती जाहूगर ने। आज देश में बेकारी है, निर्धनता और भिक्षावृत्ति है, बाल-अपराध और अपराध है, विद्रोह है, व्याधि, वेश्यावृत्ति और वर्ग संघर्ष है, कलकत्ते में लाश्-आन्दोलन है, तो पंजाब व दिल्ली में पंजाबी सूबा के विरुद्ध विद्रोह—लूट, मार-काट। युद्ध का धाव आज भी ताजा है भारत के सीने पर—भारत-चीन का युद्ध, भारत-पाक संघर्ष। भारत वीरों का देश है, पर आत्महत्या करके जीवन को त्यागने वाले कायरों की भी कमी नहीं है इस देश में। ये सभी सामाजिक जीवन की व्याधियाँ हैं और वह विज्ञान जो इन व्याधियों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है, सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology) है। इस पुस्तक का यह अन्तिम अध्याय उसी का अध्ययन है।

### सामाजिक व्याधिकी का अर्थ (Meaning of Social Pathology)

सामाजिक व्याधिकी समाजशास्त्र की ही एक शाखा है जो कि सामाजिक जीवन के 'रोगों' व विकारों का अध्ययन करती है। इस शाखा का उद्भव २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ है। वैसे तो समाजशास्त्र के इतिहास की प्रारम्भिक अवस्था में सामाजिक दुर्गुणों को समझने के आधार नैतिकवादी (Moralistic) था। सामाजिक व्यवहारों को नीतिशास्त्र के आधार पर दो मोटे भागों में बाँट दिया जाता है। वे दो भाग थे उचित और अनुचित। कौन-सा कार्य उचित है और कौन-सा अनुचित इसकी एक अस्पष्ट परिभाषा समाज में प्रचलित थी और उसी



अनुसार मानव के व्यवहारों का मूल्यांकन किया जाता था। पर चूँकि अनुचित व्यवहार समाज द्वारा मान्य नहीं था, इस कारण उसके अध्ययन में भी कोई रुचि नहीं ली जाती थी। जो विचारक या समाज-सुधारक थोड़ी बहुत रुचि लेते भी थे वे भी इस प्रकार के 'अनुचित' या समाज-विरोधी व्यवहारों की किसी वैज्ञानिक विधियों को अपनाये बिना ही सामान्य रूप में विवेचना कर लेते थे। उनकी उचित-अनुचित के सम्बन्ध में स्वयं की कुछ धारणायें होती थीं, अथवा वे तत्कालीन समाज-सुधारकों से ऐसे व्यवहारों का मूल्यांकन करने के लिए कुछ मापदण्ड ग्रहण कर लेते थे और उन्हीं के आधार पर निर्धनता, अपराध, व्यभिचार, मद्यपान और ऐसे ही अनेक सामाजिक व व्यक्तिगत दुर्गुणों के कारणों और निवारणों के सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया करते थे। यह स्थिति १९ वीं शताब्दी के अन्त तक रही।

पर २० वीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ समाजशास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि मानव व्यवहार को उचित और अनुचित इन दो भागों में बाँटना सैद्धांतिक ही है। वास्तव में केवल मानव व्यवहार ही नहीं सामाजिक घटनाओं को भी स्वस्थ और अस्वस्थ इन दो बड़े भागों में बाँटा जाता है और जिस प्रकार स्वस्थ सामाजिक घटनाओं (Healthy Social Phenomena) का वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से अध्ययन किया जा सकता है, उसी प्रकार अस्वस्थ सामाजिक घटनाओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। अस्वस्थ सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विज्ञान ही 'सामाजिक व्याधिकी' कहलाया।

पर यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ये अस्वस्थ सामाजिक घटनायें वास्तव में हैं क्या? सामान्य निरीक्षण से पता चलता है कि समाज व उसके सदस्यों के जीवन से सम्बन्धित कुछ विषयों को समाज कल्याण के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माना जाता है जैसे निवास स्थान, जीवन धारण के लिये आवश्यक भोजन, सम्पत्ति, काम करने की दशायें, पारिवारिक संगठन, विवाह, मानव जीवन, यौन-सम्बन्ध आदि से सम्बन्धित रहता है। इन विषयों से सम्बन्धित कुछ आदर्शों को समाज विकसित करता है और इन आदर्शों को बनाये रखने के लिए धर्म, प्रथा, रूढ़ियाँ, कानून आदि के माध्यम ये आचरण के कुछ नियमों को अभिव्यक्त करता है। इन आचरण-नियमों के विरुद्ध जो कुछ भी होता है, वह अस्वस्थ या समाज विरोधी आचरण कहलाते हैं। इस प्रकार का अस्वस्थ आचरण अपराध हो सकता है और बाल-अपराध, यौन-व्यभिचार, आत्महत्या, विवाह-विच्छेद, नशाखोरी, घूस-खोरी या अन्य प्रकार का भ्रष्टाचार भी हो सकता है। उसी प्रकार कुछ सामूहिक अवस्थाओं को भी समाज अस्वस्थ कह कर परिभाषित कर सकता है। इस रूप में कि उन अवस्थाओं के द्वारा जन-कल्याण या सामाजिक प्रगति को ठेस पहुँचती है। ऐसी ही कुछ सामूहिक घटनायें या अवस्थायें हैं बेकारी, निर्धनता, पौष्टिक भोजन का अभाव, जन-स्वास्थ्य का निम्न स्तर, वर्ग संघर्ष, पारिवारिक विघटन, वेश्यावृत्ति, क्रान्ति और युद्ध। जो विज्ञान, इन समस्त व्यक्तिगत तथा सामूहिक अस्वस्थ घटनाओं या अवस्थाओं का अध्ययन करता है, उसे सामाजिक व्याधिकी कहा गया है।



समाज की क्रियाशीलता सामाजिक अन्तःक्रियाओं (Social Interactions) पर निर्भर करती है। यह अन्तःक्रिया व्यक्ति और व्यक्ति में, व्यक्ति और समूह में तथा समूह और समूह में, धर्म, प्रथा, रूढ़ि, परम्परा, आदर्श, कानून, सामाजिक मूल्य आदि के माध्यम में चलता रहता है। सामाजिक संरचना संगठित तथा उचित ढंग में तभी बनी रह सकती है जब कि व्यक्ति व व्यक्ति में व्यक्ति और समूह में तथा समूह और समूह का सामंजस्यपूर्ण व सामाजिक सम्बन्ध स्थापित रहता हो। परन्तु समाज में ये सम्बन्ध पूर्णतया सामंजस्यपूर्ण नहीं होते हैं। प्रत्येक स्वाभाविक समाज में असामंजस्यपूर्ण अवस्थाएँ भी होती ही हैं—किसी समाज में कम तो किसी में बहुत ज्यादा। प्रत्येक गतिशील समाज में असमंजसपूर्ण (Maladjusted) अवस्थाएँ या दुष्टपूर्ण-दुष्टपूर्ण अवस्थाभावी होते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन के लिये असामंजस्यपूर्ण अवस्थाएँ या घटनाएँ (Phenomena) भी उतना ही महत्वपूर्ण होते हैं, जितनी कि सामंजस्यपूर्ण अवस्थाएँ या घटनाएँ। इसका कारण भी स्पष्ट है। सामंजस्यपूर्ण अवस्थाएँ संगठनात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं (Associative Social Processes) के परिणाम होते हैं, जब कि असामंजस्यपूर्ण अवस्थाएँ विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप पनपते हैं। परन्तु ये संगठनात्मक और विघटनात्मक दोनों ही प्रकार की प्रक्रियाएँ चूँकि सामाजिक जीवन के ही दो स्पष्ट, 'स्वाभाविक' व अन्तःसम्बन्धित पक्ष होते हैं, इस कारण एक वैज्ञानिक के रूप में समाजशास्त्री के दोनों में ही रुचि रखनी पड़ती है। क्योंकि एक को निवारण कर दूसरे का यथार्थ विश्लेषण व निरूपण सम्भव नहीं है। सामाजिक व्याधिकी विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं (Dissociative Social Processes) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले असामंजस्यपूर्ण वैयक्तिक (Individual) या सामाजिक अवस्थाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

गतिशील समाज में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत अधिक तेज होती है। इस गति के साथ अनुकूलन करना सब व्यक्ति या संस्थाओं के लिये सम्भव नहीं होता है। इसी से असामंजस्यपूर्ण अवस्थाओं का जन्म होता है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन की गति जब अपेक्षाकृत तेज होती है तो समाज में जो नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वह उन अवस्थाओं पर आघात करती हैं जिनका कि एक व्यक्ति या समूह अब तक अभ्यस्त था। इसीलिए नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है और वे व्यक्ति या समूह जो अनुकूलन करने में असफल होते हैं, विघटनात्मक अवस्थाओं (व्यक्तिगत या सामूहिक) को जन्म देते हैं। चोरी करते हैं, भीख मांगते हैं, वेश्यावृत्ति करते हैं, शराब पीते हैं, परिवार का विघटन करते हैं युद्ध की घोषणा करते हैं, वर्ग संघर्ष को पनपाते हैं या आत्म-हत्या करके अनुकूलन की समस्या से अपने को विमुक्त करते हैं। सामाजिक व्याधिकी इन्हीं समस्याओं या विघटनात्मक अवस्थाओं का विज्ञान है।



## सामाजिक व्याधिकी की परिभाषा

### (Definition of Social Pathology)

सामाजिक व्याधिकी वह विज्ञान है जो कि विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होने वा असामंजसपूर्ण वैयक्तिक वाले सामूहिक अवस्थाओं या संक्षेप में, सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

सर्व श्री गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) का कथन है कि वह विज्ञान जो सामाजिक विघटन का अध्ययन करता है सामाजिक व्याधिकी है।<sup>1</sup>

प्रो० जॉन लीइस गिलिय (John Lewis Gillin) के शब्दों में, “सामाजिक व्याधिकी स्वयं मनुष्य का तथा उसके संस्थाओं का उन आवश्यकताओं के साथ असफल अनुकूलन का अध्ययन है जोकि उसे जीवित रखता है और उसकी प्रकृति द्वारा अनुभव की गयी आवश्यकताओं की उचित ढंग से पूर्ति करता है।”<sup>2</sup>

श्री फेयर चाइल्ड (Fair child) ने अपने शब्द-कोष में सामाजिक व्याधिकी की व्याख्या करते हुए लिखा है— “सामाजिक व्याधिकी की सामाजिक विघटन या सामंजस्य का एक अध्ययन है, जिसमें उन कारकों के अर्थ, व्यापकता, कारणों परिणामों और उपचारों की विवेचना की जाती है जो सामाजिक अनुकूलन को रोकते या कम करते हैं, तथा वृद्धावस्था, अस्वास्थ्य, मानसिक दुर्बलता, पागलपन, अपराध, विवाह विच्छेद वेश्यावृत्ति, पारिवारिक तनाव की वृद्धि करते हैं।”<sup>3</sup>

### सामाजिक व्याधिकी का क्षेत्र तथा अध्ययन विषय

#### (Scope and subject matter of social Pathology)

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्याधिकी वैकारिकीय (Pathhlogical) अवस्थाओं का अध्ययन है। सर्व श्री गिलिन व गिलिन (Gillia and Gillin) के मतानुसार “सामाजिक वैकारिकीय स्थिति से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण सांस्कृतिक संकुल के विभिन्न तत्वों के ऐसे गम्भीर असामंजस्यों से है जो समूह के अस्तित्व को संकट में डाल दें अथवा उसके सदस्यों की आधारभूत इच्छाओं की सन्तुष्टि में गम्भीर बाधक हों, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक एकता नष्ट हो

1. “The discipline which treats of social disintegration is called social pathology.” J. L. Gillin and J. P. Gillin, *Cultural Sociology*, The MacMillan Co., New York, 1959, p. 740.

2. Social Pathology is the study of man's failure to adjust himself and his institutions to the necessities of existence to the end that he may survive and meet fairly well the felt needs of his nature.” John Lewis Gillin *Social Pathology*, cited by Howard W. Odum, *American Sociology*. p. 286.

3. “Social Pathology is a study of social disorganization or maladjustment in which there is discussion of the meaning, extent, causes. results and treatment of the factors that prevent or reduce social adjustment and increase old age, ill health, feeble mindedness, insanity, crime, divorce, prostitution and family tension.” Fair child, *Dictionary of Sociology*.. p. 287



जाती है।<sup>4</sup> इस परिभाषा से सामाजिक व्याधिकी का क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है। वह विज्ञान सम्पूर्ण सांस्कृतिक संकुल के विभिन्न तत्वों में पाए जाने वाले असामंजस्यों का अध्ययन करता है। इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता यह है कि असामंजस्यों के कारण एक तो सामाजिक एकता व संगठन नष्ट हो जाती है और द्वितीयतः समाज के सदस्यों आधारभूत इच्छाओं या आवश्यकताओं की संतुष्टि नहीं हो पाती है। इसलिए ये असामंजस्य सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं। सामाजिक व्याधिकी का क्षेत्र वहाँ तक विस्तृत है जहाँ तक सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं, रीतिरिवाजों और आदर्शों के आधार पर समाज कुछ अवस्थाओं को सामाजिक समस्याओं के रूप में परिभाषित करता है। संक्षेप में, सामाजिक व्याधिकी का क्षेत्र सामाजिक समस्यायें हैं।

स्मरण रहे कि सामाजिक समस्याओं का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं, आदर्श आदि से होता है जो अलग अलग समूहों तथा समाजों में भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। उदाहरण के लिये एक पूँजीवादी समाज में कुछ पूँजीवादी मूल्य तथा आदर्श होते हैं जिसके अनुसार कुछ लोग निर्धन होंगे और निम्न जीवन ही उनका स्थायी साथी होगा, जबकि अल्पसंख्यक अन्य कुछ लोग खूब धनवान होंगे और ऐश-आराम या भोग-विलास के जीवन पर उनका "जन्म सिद्ध अधिकार" होगा। धनवान व निर्धन के बीच लम्बी-चोड़ी खाई या सम्पत्ति का असमान वितरण पूँजीवादी मूल्यों के अनुसार पूँजीवादी समाज में कोई 'विशेष' समस्या नहीं है। इस कारण सामाजिक व्याधिकी ऐसे समाज के अध्ययन में सामाजिक जीवन के इस पक्ष को अपने अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं करेगी। जबकि समाजवादी आदर्शों से नियन्त्रित समाज में वही उसके अध्ययन का एक उल्लेखनीय विषय बन जायेगा क्योंकि उस समाज में धन के असमान वितरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली निर्धनता एक गम्भीर समस्या द्वारा परिभाषित होती है। उसी प्रकार हिन्दुओं में विवाह के रूप में ही समाज के आदर्शों अनुसार बहुपति विवाह सतीत्व के लिए खतरा है जबकि टोडा जनजातीय लोगों में यह कोई समस्या नहीं, स्वाभाविक (normal) घटना है अतः स्पष्ट है कि सामाजिक व्याधिकी का वास्तविक क्षेत्र इस बात पर निर्भर करेगा कि वह एक समय विशष में किस समाज या समूह का अध्ययन कर रहा है और उस समाज या समूह की सामाजिक परिभाषा के अनुसार कौन-कौन सी घटनायें सामाजिक समस्यायें या विघटनात्मक अवस्थायें हैं।

श्री एडविन ई० लेमर्ट (Edwin E. Lemert) ने सामाजिक व्याधिकी के क्षेत्र को निर्धारित करते हुए कहा है कि, 'समाज में व्यक्ति तथा समूहों का नाना प्रकार से विभेद किया जाता है। इनमें से कुछ का परिणाम सामाजिक दण्ड, त्याग

4. "By social pathology we mean such serious maladjustment between the various elements in the total cultural configuration as to endanger the survival of the group, or as seriously to interfere with the satisfaction of the fundamental desires of its members, with the result that social cohesion is destroyed." J. H. Gillin and J. P. Gillin, *op. cit.*, p. 740.



व बहिष्कार होता है। समाज या समुदाय की ये दण्ड व बहिष्कारात्मक प्रतिक्रिया गतिशील कारक हैं जोकि या तो विभेदीकरण और पथभ्रष्टता का कारण बन जाता है या उसे बढ़ाता या घटाता है। इस पथभ्रष्टता और सामाजिक प्रतिक्रिया की प्रक्रिया और साथ ही उसकी संरचना या भौतिक उपजों को समग्र रूप में या विभक्त रूप में अध्ययन किया जा सकता है। पहले में हमारा सम्बन्ध सामाजिक-व्याधिकीय विभेदीकरण (sociopathic differentiation) से होता है और दूसरे में सामाजिक-व्याधिकीय व्यक्तिकरण (sociopathic individuation) से।<sup>5</sup> इस कथन का सरल अर्थ यह है कि सामाजिक व्याधिकी के अध्ययन-क्षेत्र को दो मोटे भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम वे व्याधिकीय अवस्थायें जो व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित होती हैं जैसे अपराध, बाल अपराध, भ्रष्टाचार, जुआखोरी, आत्महत्या भिक्षावृत्ति, वेदयावृत्ति आदि; और द्वितीय वे व्याधिकीय अवस्थायें जो कि सामूहिक जीवन में देखने को मिलती हैं जैसे परिवारिक तनाव व विघटन, युद्ध क्रान्ति, वर्ग-संवर्ष, निर्धनता आदि। इस अर्थ में सामाजिक व्याधिकी व्यक्तिगत व सामुदायिक विघटन का अध्ययन है।

लेखिका के मतानुसार सामाजिक व्याधिकी के अध्ययन विषय (Subject matter) को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सामाजिक सांस्कृतिक विघटन (Socio-cultural disorganization):— इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में क्रियाशील उन विघटनात्मक प्रतिक्रियाओं या कारकों का अध्ययन किया जाता है जिसके कारण सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में असंतुलन (disequilibrium) या असामंजस्य (maladjustment) की स्थितियाँ अथवा अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं। इस विभाग के अन्तर्गत समग्र रूप में सामाजिक विघटन, सांस्कृतिक विघटन तथा सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में सामाजिक असंतुलन का अध्ययन सम्मिलित है।

(२) व्यक्तिगत या वैयक्तिक विघटन (Personal or individual disorganization):— इसके अन्तर्गत उन विघटित घटनाओं (disorganized phenomena) का कारण सहित अध्ययन किया जाता है जोकि मुख्यतः व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित होता है यद्यपि उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है। अपराध अभिजात अपराध, बाल अपराध, वेदयावृत्ति, आत्महत्या, भिक्षावृत्ति, मद्यपान तथा मादक द्रव्य व्यसन, जुआखोरी, बूसखोरी आदि व्यक्तिगत विघटन के ही उदाहरण हैं।

5 "The person and groups are differentiated in various ways, some of which result in social penalties, rejection and segregation. These penalties and segregative reaction of society or community are dynamic factors which increase, decrease and condition the form which the initial differentiation or deviation takes. This process of deviation and societal reaction, together with its structure or substantive products can be studied both from its collective and its distributive aspects. In the first instance, we are concerned with-sociopathic differentiation and in the second, our concern is with sociopathic individuation." Edwin E. Lemert, *Social Pathology*, p. 4.



(३) पारिवारिक विघटन (Family disorganisation)—इस विभाग के अन्तर्गत पारिवारिक तनाव, पारिवारिक विघटन, विवाह विच्छेद आदि विषयों का अध्ययन कार्य-कारण सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये किया जाता है।

(४) सामुदायिक विघटन (Community disorganisation)—इसके अन्तर्गत सामुदायिक जीवन की उन अस्वस्थ अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है जिसका अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव न केवल व्यक्तिगत जीवन पर अपितु सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है और जिसके फलस्वरूप समाज की प्रगति रुक जाती है या बाधा प्राप्त होती है और व्यक्तिगत विघटन के उपरोक्त अभिव्यक्तियों (अपराध वाल अपराध, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या, शराबखोरी आदि) के रूप में प्रकट होती है। इस विभाग के अन्तर्गत युद्ध, क्रान्ति, निर्धनता, बेरोजगारी, सामाजिक अप्रत्याचार, काला-बाजारी, स्वास्थ्य और पौष्टिक भोजन की समस्या, अस्पृश्यता, जातिवाद, प्रजातिवाद पक्षपात, आदि विषयों का अध्ययन सम्मिलित है।

प्रस्तुत पुस्तक सामाजिक व्याधिकी के अध्ययन-विषय का ही स्पष्टीकरण है।

### सामाजिक व्याधिकी और समाजशास्त्र का अध्ययन (Relation between Social Pathology and Sociology)

“समाजशास्त्र सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रक्रियाओं तथा अन्तःसम्बन्धों व अन्तःक्रियाओं का एक सामान्य विज्ञान है।”<sup>6</sup> श्री गिडिंग्स (Giddings) ने लिखा है कि “समाजशास्त्र समस्त रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन और व्याख्या है।”<sup>7</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र व्यक्ति तथा समाज के जीवन से सम्बन्धित ‘सामान्य विषयों’ का वैज्ञानिक अध्ययन करना है। इन सामान्य विषयों में वे समस्त घटनायें सम्मिलित होती हैं जो कि सामाजिक जीवन व संगठन को बनाये रखने में सहायक होती हैं। साथ ही समाजशास्त्र उन घटनाओं, प्रक्रियाओं, कारकों या सामाजिक शक्तियों (social forces) का भी अध्ययन करता है जो कि सामाजिक व वैयक्तिक जीवन के प्रतिकूल हैं और उन्हें विघटित करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्याधिकी समाजशास्त्र की ही एक विशिष्ट (specialized) शाखा है जोकि अपना ध्यान केवल सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन में पाये जाने वाले विघटनात्मक या व्याधिकीय पक्षों पर केन्द्रित करती है। सच तो यह है कि सामाजिक जीवन के स्वस्थ तथा अस्वस्थ पक्ष परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इसीलिए सामाजिक व्याधिकी तथा समाजशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध भी अत्यधिक आन्तरिक है। जो ज्ञान समाजशास्त्र सामान्य सामाजिक जीवन के विषय में एकत्रित करता है, उसका पूर्ण-प्रयोग सामाजिक व्याधिकी अपने अध्ययन-कार्य में करता है। क्योंकि सामाजिक जीवन के विषय में जब तक सामान्य ज्ञान प्राप्त न

6 “Sociology is a general science of social structure, social processes, inter-relations and interactions” R. N. Mukherjee, *Advanced Sociological Theory*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1965, p. 32.

7 “Sociology is the systematic description and explanation of society viewed as a whole.” Giddings, *Introductory Sociology*, p. 9.



होगा तब तक उसके स्वस्थ या अस्वस्थ किसी भी पक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकेगा। आरम्भिक समाजशास्त्रियों ने समाज या मानव जीवन के व्याधिकीय पक्ष को अपने अध्ययन क्षेत्र से निकाल देने के ही पक्ष में थे। उनका कहना था कि सामाजिक असामंजस्यों या समस्याओं का अध्ययन समाजशास्त्रियों द्वारा न होकर समाज-सुधारकों द्वारा होना चाहिए। पर जैसा कि सर्वश्री गिल्लिन और गिल्लिन (Gilllin and Gillin) ने लिखा है, जो विद्वान आज समाज को एक गतिशील (dynamic) न कि स्थिर (static) घटना मानते हुए उसके अध्ययन में रुचि रखते हैं उनका दृढ़ विश्वास है कि सामाजिक व्याधिकी समाजशास्त्र का उतना ही अभिन्न अंग है जितना है कि वैज्ञानिक औपचिशास्त्र (scientific medicine) का औपचयीय व्याधिकी (medical pathology), वनस्पति-विज्ञान (botany) का वनस्पति व्याधिकी (plant pathology) तथा पशु प्राणि शास्त्र (animal biology) का पशु रोग एक अवश्यम्भावी अंग है।<sup>8</sup>

### सामाजिक व्याधिकी की व्यावहारिक उपयोगिता (Practical utility of Social Pathology)

सामाजिक व्याधिकी की व्यावहारिक उपयोगिता निम्नलिखित है—

(१) जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का रोग शरीर को क्षीण-दुर्बल बना देता है, स्फूर्ति और उत्साह को छीन लेता है और मनुष्य अपने आदर्श, उद्देश्य तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित रूप में क्रियाशील नहीं हो पाता है उसी तरह सामाजिक जीवन में व्याधिकीय परिस्थितियाँ सामाजिक जीवन को खोखला बनाकर उसकी क्रियाशीलता को नष्ट कर देती हैं, प्रगति व समृद्धता के पथ पर बाधक बन जाती हैं। इस बाधा को हटाने की आवश्यकता है और यह काम तब तक सम्भव नहीं है जब तक सामाजिक समस्याओं या व्याधिकीय अवस्थाओं के के सम्भव में हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त न हो। यह काम सामाजिक व्याधिकी की सहायता से सरलता से हो सकता है। “यद्यपि सामाजिक व्याधिकी का कार्य समाज सुधार का करना तो नहीं है, किन्तु यह वैज्ञानिक विधि से सामाजिक रोगों के कारणों एवं परिस्थितियों के विश्लेषण तथा निवारण के सम्बन्ध में युक्तिसंगत कार्यक्रम अवश्य प्रस्तुत करती है। सामाजिक व्याधिकी सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके उनके विषय में जो ज्ञान हमें देती है, वह स्वयं ही उन समस्याओं को सुलझाने में सहायक सिद्ध होता है।

(२) सामाजिक व्याधिकी की और व्यवहारिक उपयोगिता यह है कि इससे हमें सामाजिक व्याधि या समस्याओं के मूल कारणों का जो स्पष्ट ज्ञान होता है उसके आधार पर भविष्य-व्याधि से समाज की रक्षा की जा सकती है। जब हमें एक

8. “Increasingly, however, those who are interested in studying society as a dynamic rather than a purely static phenomenon are convinced that social pathology is as much a part of sociology as medical pathology is a part of scientific medicine, as plant pathology is a part of botany, or as the study of animal disease is a part of animal biology.” J. L. Gillin and J. P. Gillin, *op. cit.*, p. 739.



समस्या के मूल कारणों का पता चल जाता है तो हम उन कारणों या विपदाजनक परिस्थितियों को दूर करने का प्रयत्न कर सकते हैं और ऐसा करने से भविष्य में उस समस्या के उद्भव होने की सम्भावना कम हो जाती है। उदाहरणार्थ सामाजिक व्याधिकी से प्राप्त ज्ञान के आधार पर हम न केवल उसका उपचार कर सकते हैं जिन्होंने अपराध किया है, बल्कि उन कारकों को दूर करने के लिये भी आवश्यक कदम उठा सकते हैं जोकि अपराध को जन्म देते हैं। अतः सामाजिक व्याधिकी की सहायता से किसी समस्या के अस्थायी समाधान की अपेक्षा उसके मूल के उच्छेदन करने में अधिक सुविधा होती है।

(३) सामाजिक व्याधिकी का व्यावहारिक पक्ष सामाजिक समस्या के निवारणार्थ सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक कार्य-क्रम प्रस्तुत करता है, जिससे जटिलताओं की वृद्धि की न्यूनतम सम्भावनायें रह जाती हैं, तथा शक्ति और समय के दुरुपयोग के बिना निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। वैज्ञानिक व क्रमबद्ध योजना के बिना सामाजिक समस्याओं को सुलझाना सम्भव नहीं है। इसलिए इस विषय में सामाजिक व्याधिकी की व्यावहारिक उपयोगिता को स्वीकार करना होता है।

(४) सामाजिक व्याधिकी की एक और उपयोगिता यह है कि विज्ञान होने के नाते इसमें भविष्यवाणी करने की शक्ति होती है। इस क्षमता के आधार पर यह हमें भविष्य में उत्पन्न होने वाली सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में सचेत कर सकती है ताकि हम उनका सामना करने के लिये पहले से ही तैयार रहें।

(५) सर्व श्री गिलिन और गिलिन के अनुसार व्याधिकीय स्थिति में सांस्कृतिक प्रतिमान के विभिन्न तत्वों की रचना इस प्रकार की होती है कि वह सदस्यों की आधारभूत इच्छाओं की पूर्ति करने में असमर्थ होता है अथवा बाधक होती है। प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व के लिए उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। सामाजिक व्याधिकी से प्राप्त ज्ञान इन मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के पथ पर आने वाली बाधाओं को दूर करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(६) सामाजिक व्याधिकी विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करने में हमारी सहायता कर सकती है। इसके अध्ययन से हमें हमारे सामाजिक जीवन की न केवल स्वस्थ बल्कि अस्वस्थ, विकृत, या रोगग्रस्त परिस्थितियों के सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है। हम यह जान जाते हैं कि हमारे चारों ओर कौन-कौन सी शक्तियाँ क्रियाशील हैं और उनका क्या वास्तविक प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है तथा उनकी वास्तविक प्रकृति क्या है। व्यवहारिक जीवन में इन सबका अत्यधिक महत्व है क्योंकि इस ज्ञान के आधार पर हम प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियों से भी परिचित हो जाते हैं और वे हमें जल्दी पथभ्रष्ट नहीं कर पाती हैं।

(७) यदि प्रो० गिडिंग्स के शब्दों की सहायता ली जाय तो हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक व्याधिकी हमें 'प्रगति की कीमत' (Cost of progress) बताती है। सामाजिक व्याधिकी हमें यह बताती है कि सामाजिक समस्याएँ या



असामंजस्यपूर्ण परिस्थितियाँ भी आवश्यक हैं यदि समाज में नये आविष्कार हैं, यदि नये विचारों का जन्म होना है। व्याधिकीय परिस्थितियाँ चूँकि समस्या को उत्पन्न करती हैं और चूँकि उन समस्याओं के कारण मानव की मौलिक आवश्यकताओं और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है, इसलिये मानव नये आविष्कारों तथा विचारों को जन्म देकर उन साधनों या उपायों की खोज को बाध्य हो जाता है जिससे समस्याओं का समाधान सम्भव हो सके। समाज व्याधिकी हमें यह भी बताती है कि सामाजिक रोग भी स्वाभाविक हैं। रोग अधिक बढ़ जाते के खतरे से हमें सदा सतर्क रहने की आवश्यकता है। प्रगति मूल्य हमें देना है। सामाजिक व्याधियों के परिणामों को भोग कर, पर यह परिणाम कहीं घातक न हों, यह भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

### निष्कर्ष

#### (Conclusion)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि सामाजिक व्याधिकी समाज के रोगों की 'डाक्टर' है—वह सामाजिक जीवन के विकारों देखती है। विकृतियों का विश्लेषण करती है, विशिष्ट मानव सम्बन्ध तथा विनियमान्विता मानवता की विचित्रताओं को विचारता है और विच्छेद व विद्रोह की विडम्बना का वैज्ञानिक वृत्तान्त प्रस्तुत करती है। यही उसका काम है, और यही उसके अधिकार की सार्थकता। वह बार-बार हमें याद दिलाती है कि मानव जीवन ही नहीं, समाज का जीवन भी अनेक पंकों से भरपूर है, पर उस पंक में फँस जाना बुद्धिवादी मानव के लिये शोभा नहीं देता है। मानव की महानता आज इसी में है कि पंक में पंकज को प्रफुल्लित करे। मानव जीवन की सार्थकता संघर्ष में नहीं, सहयोग अधिक है, संघात में नहीं समर्पण में है, समाप्ति (आत्महत्या) में नहीं समाप्ति है, संन्यास लेने में नहीं सदाचरण करने में है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द जी कहा है कि समस्त विस्तार जीवन है, समस्त संकीर्णता मृत्यु है। समस्त विस्तार (expansion) है, समस्त स्वार्थपरता संकीर्णता है। जो प्रेम करता है, जो जीता है, जो स्वार्थी है, वह मर रहा है।<sup>9</sup> इसी कारण आज लाहौर या काश्गार के मोर्चे से ताश्कन्द (Tashkent) का महत्व अधिक है; इसीलिए मानव हृदय हमेशा हिटलरशाही का नहीं, 'शास्त्री-सन्धि' का सहज समादर होगा। हमें नहीं, शान्ति चाहिए; आत्महत्या नहीं, आत्म-गौरव और आत्म-निर्भरता चाहिए। हमें केवल जीवित रहने का अधिकार नहीं, अच्छे जीवन का वरदान चाहिए। जीकर मरना नहीं, हम मरकर जीना चाहते हैं। यही आज का मन्त्र है, यही पुनः यही पूजा है। हमें आज अपने को इसी पुरस्कार से पुरस्कृत करना है। वह उत्तरदायित्व मेरा है, यह उत्तरदायित्व आप का भी है—यह उत्तरदायित्व हम सब का है।

—: ० :—

"All expansion is life, all contraction is death. All love is expansion, selfishness is contraction.....He who loves lives he who is selfish is dying."

—Swami Vivekananda



# सामाजिक विघटन तथा सुधार (Social Disorganization and Reform)

लेखिका :

श्रीमती सरला दुबे

एम० ए० (समाज-शास्त्र), बी० टी०

ए० पी० आई० कॉलिज, बरेली ।

भूमिका लेखक :

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,

बरेली कॉलिज, बरेली ।

प्रकाशक :

सरस्वती सदन, मसूरी ।